

पश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

डॉ. हरिशंकर उपाध्याय
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

अनुशीलन प्रकाशन
इलाहाबाद

209

पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

लेखक

डॉ० हरिशंकर उपाध्याय
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रकाशक

अनुशीलन प्रकाशन
इलाहाबाद

© डॉ० हरिशंकर उपाध्याय

प्रथम संस्करण 1999

द्वितीय संस्करण 2004

(सवर्था संशोधित और संवर्द्धित संस्करण)

लेखक की लिखित अनुमति के बिना पुस्तक
के किसी भी अंश का किसी भी भाषा में
अनुवाद करना अथवा तोड़-मरोड़ कर
प्रकाशित करना वर्जित है।

प्रकाशक :

अनुशीलन प्रकाशन

13ई/11ए, राजीव नगर,

इलाहाबाद - 211004

दूरभाष : 2645140

लेजर कम्पोजिंग :

दीपा कम्प्यूटर

231/1/1, कमला नगर

स्टेनली रोड, इलाहाबाद

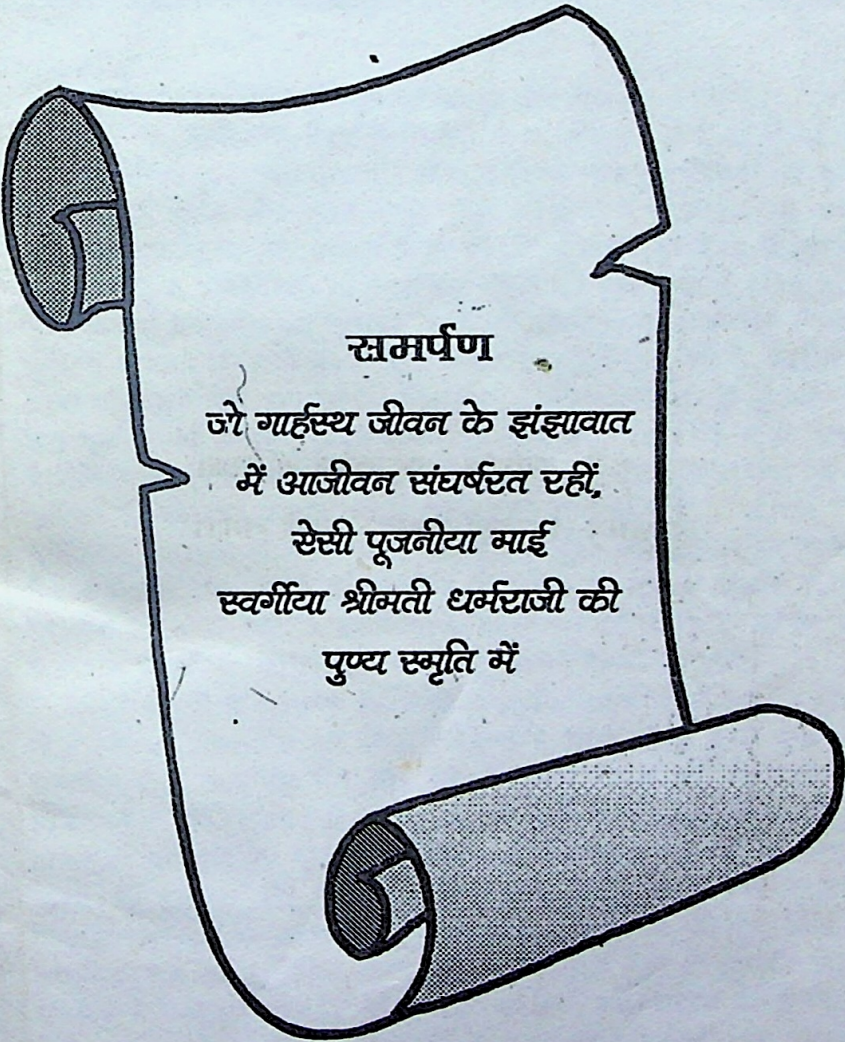
दूरभाष : 2440463

मुद्रक :

एकेडमी प्रेस

दारागंज

इलाहाबाद - 211 006



समर्पण

जो गार्हस्थ जीवन के झंझावात
में आजीवन संघर्षरत रही,
ऐसी पूजनीया माई
स्वर्गीया श्रीमती धर्मराजी की
पुण्य स्मृति में

“या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥”

प्राक्कथन (Preface)

प्रस्तुत ग्रन्थ 'पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास' में पाश्चात्य विचारधारा की प्राचीनता, बौद्धिकता, वैज्ञानिकता और मानव-जीवन के लिए दार्शनिक चिन्तन की उपयोगिता का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से सुकरात-पूर्व दर्शन और सुकरातोत्तर ग्रीक दर्शन, नव्य प्लेटोवाद एवं आधुनिक दर्शन का एक मूल्यात्मक सर्वेक्षण किया गया है। पुस्तक की भूमिका में दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया गया है। इसी क्रम में पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों में अन्तर्निहित विभेदों की संक्षिप्त व्याख्या की गयी है। लेखक ने पाश्चात्य दर्शन के बारे में प्रचलित कुछ भ्रान्त धारणाओं और पूर्वाग्रहों का निराकरण किया है। पाठकों से अनुरोध है कि इस पुस्तक का अध्ययन करते समय 'भूमिका' को अवश्य पढ़ें ताकि पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन के बारे में रूढ़िवादी एवं मिथ्या अवधारणाओं से बचा जा सके। भूमिका को छोड़कर पुस्तक का विभाजन एकादश अध्यायों में किया गया है। यह वर्गीकरण पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। कहीं-कहीं पर पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांतों की संक्षिप्त तुलना प्रासांगिक भारतीय दर्शन के मतों से की गयी है, ताकि भारतीय दर्शन के सापेक्ष रूप में पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सके।

विभिन्न युगों में पाश्चात्य विचारकों ने प्रकृति, मानव-जीवन एवं मूल्य-व्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं को किस परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया है ? पुनश्च जिन तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और मूल्यमीमांसीय समस्याओं को प्राचीन ग्रीक विचारकों ने मौलिक रूप में उठाया, वे समस्याएँ किस प्रकार मध्यकालीन और आधुनिक एवं अर्वाचीन युग के दार्शनिकों को प्रभावित करती रही हैं ? पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास प्राचीन ग्रीक दर्शन, कला और साहित्य से प्रस्फुटित होकर नव्य प्लेटोवाद एवं मध्यकालीन दर्शन से होते हुए किस प्रकार आधुनिक युग के दार्शनिक अनुशीलन में विकसित हुआ ? इत्यादि प्रश्नों के आलोक में प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गयी है। इसका उद्देश्य यह है कि हिन्दी भाषा के माध्यम से पश्चिमी विचारकों के दर्शन का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इस पुस्तक में पाश्चात्य दार्शनिकों के मतों का सम्पूर्ण विवेचन तो नहीं है, परन्तु उसके (पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के) स्वरूप और दृष्टिकोण का स्पष्ट बोध हो जाता है। इसमें प्राचीन ग्रीक दर्शन से लेकर आधुनिक एवं अर्वाचीन दर्शन तक के उद्भव और विकास में सहयोगी सांस्कृतिक मूल्यों, वैज्ञानिक, साहित्यिक,

ऐतिहासिक परिस्थितियों और परिवेश का मूल्यांकन भी किया गया है। इस प्रकार यह पुस्तक पश्चिम की दार्शनिक प्रवृत्तियों एवं दार्शनिक चिन्तन के इतिहास को मानक हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है।

हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए इस पक्ष पर विशेष बल दिया गया है कि भाषा सरल, सुबोध और परिष्कृत होने के साथ-साथ प्रवाहमय भी हो। यही कारण है कि अंग्रेजी भाषा के उद्धरणों का शाब्दिक अनुवाद न करके उनका भावगत रूप ही लिया गया है ताकि भाषा का सौष्ठव बाधित न हो। इस पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द यथासंभव केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के द्वारा प्रकाशित वृहत् पारिभाषिक शब्द संग्रह (मानविकी) से लिये गये हैं। पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में सहायक एवं सन्दर्भ ग्रन्थ सूची तथा अनुक्रमणिका भी दी गयी है।

इस पुस्तक की रचना में दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० डी०एन० द्विवेदी, प्रो० आर०एल० सिंह और स्वर्गीय डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी की महती प्रेरणा रही है। वस्तुतः इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी के परामर्श पर जोड़ा गया। पूज्यनीय त्रिपाठी जी अब नहीं रहे, परन्तु उनके आशीर्वाद ने मुझे पुस्तक के स्वरूप पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त दर्शन विभाग के सहयोगी अध्यापक बंधुओं से समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव मिलते रहे हैं। अतः मैं उन सबके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। श्री श्याम नारायण त्रिपाठी (पी०सी०एस०), श्री राजीव दीक्षित (पी०पी०एस०) और डॉ० ऋषिकान्त पाण्डेय का सानिध्य और जीवनयोपयोगी समस्याओं पर उनसे वार्तालाप ने मुझे दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया। अतः मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ।

पुस्तक-लेखन एक श्रम साध्य व्यापार है। इस कार्य के सम्पन्न होने के लिए अनेक लोगों का सहयोग अपेक्षित होता है। पुस्तक का प्रूफ देखने और अनुक्रमणिका बनाने वाले सहयोगियों में श्री रामसागर और श्री अविनाश तिवारी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुस्तक लिखने में जिन प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों का सहारा लिया गया है, लेखक उनके प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ है। इसके अतिरिक्त लेखक अपनी पत्नी श्रीमती राजेश्वरी के प्रति आभार प्रकट करने के लिए नैतिक रूप से बाध्य है क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक के लेखन में अविस्मरणीय सहयोग और सेवा प्रदान की है।

इस पुस्तक के बारे में पाठकों के सुझाव सादर आमंत्रित हैं। आशा है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन से पाठकगण लाभान्वित होंगे और पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के बारे में प्रचलित भ्रामक धारणाएँ भी दूर होंगी।

विषय-सूची

क्रम संख्या	पृष्ठ
पाश्चात्य दर्शन की भूमिका	xi-xxxviii
(अ) दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता (xi-xxi)	
(ब) पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन (xxi-xxxix)	
(स) संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण (xxxix-xxxviii)	
1. सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन	1-13
2. ग्रीक दर्शन का स्वर्णयुग	14-71
(अ) सुकरात 15-16, सुकरात की दार्शनिक पद्धति 16-18, ज्ञानमीमांसा और नीतिशास्त्र 18-21	
(ब) प्लेटो 22-23, प्लेटो की ज्ञानमीमांसा 23-27, प्रत्यय-सिद्धांत 27-30, प्रत्ययों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ 30-32, प्रत्ययों के सर्वगत लक्षण और पारस्परिक सम्बन्ध 32-34, प्रत्यय और जगत् में संबंध 34-35, शुभ का प्रत्यय 35-37, ईश्वर और शुभ का प्रत्यय 37-40, प्लेटो के प्रत्ययवाद का मूल्यांकन 40-43, आत्मा की अवधारणा 43-48, प्लेटो का नैतिक और राजनीतिक दर्शन (दार्शनिक राजा की अवधारणा) 49-51	
(स) अरस्तू 52-53, अरस्तू की कोटियाँ 53-55, तत्त्वमीमांसीय चिंतन 55-57, कारणता का सिद्धांत 57-58, आकार और जड़ द्रव्य 59-61, प्रयोजनवादी विकासवाद 61-63, ईश्वर 63-65, नैतिक दर्शन 65-68, अरस्तू के दर्शन का मूल्यांकन 68-71	
3. ग्रीक दर्शन की विविध प्रवृत्तियाँ	72-80
सिरेनाइक सम्प्रदाय 72-73, सिनिक सम्प्रदाय 73, मेगारी सम्प्रदाय 73-74, स्टोइक सम्प्रदाय 74, सन्देहवादी सम्प्रदाय 74-75, नव्य प्लेटोवाद का उद्भव और विकास 75-80, फाइलो 76-77, प्लॉटिनस 77-80	
4. दर्शन के अन्धकार का युग	81-102
पैट्रिस्टिक युग 82-90, सन्त आगस्टाइन 82-83, ईश्वर	

की अवधारणा 83-85, ईश्वरवादी ज्ञानमीमांसा 85-87,
आत्मा की अवधारणा 87-88, जगत् का स्वरूप 88-90,
सन्त एन्सेल्म 91-93, शास्त्रीय युग का विकास 93-94,
सन्त थामस एक्विनास 94, ईश्वर-मीमांसा 94-97,
सृष्टिमीमांसा 97-98, आत्मा की अवधारणा 98-100

5. आधुनिक दर्शन का उन्मेष और संक्रमण काल 103-112
संक्रमण कालीन दर्शन 106, निकोलस 106-107, ब्रूनो
107-108, थामस केम्पानेला 108, फ्रान्सिस बेकन
108-111, थामस हॉब्स 111-112

6. आधुनिक दर्शन में बुद्धिवादी प्रवृत्ति 113-176
कृष्ण, आत्मा, (अ) रेने डेकार्ट 114-115, डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति
ईश्वर, मन-शरीर 115-120, डेकार्ट की तत्त्वमीमांसा (द्रव्य, गुण और
हेतुवाद 120-123, मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ
123-126, ईश्वर की अवधारणा 126-133, बाह्य जगत्
का अस्तित्व 133-134, डेकार्ट के दर्शन का मूल्यांकन
134-136

- द्रव्य, गुण (ब) स्पिनोजा 136-137, डेकार्ट और स्पिनोजा 137-138,
और पर्याय, स्पिनोजा की तत्त्वमीमांसा—द्रव्य का स्वरूप 138-140,
सर्वेश्वरवाद 143-145, विकारों का सिद्धान्त 145-148, बन्धन और
मुक्ति (स्वतंत्रता) 148-150, ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम
150-151, स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा 151-153,
स्पिनोजा के दर्शन का मूल्यांकन 153-155

- चिदणु, ईश्वर (स) लाइबनिज 155-157, चिदणुवाद की विशेषतायें
(प्रत्यक्ष का स्वरूप) 157-163, पूर्व स्थापित सामंजस्य
का नियम 163-165, ईश्वर 165-168, बुद्धिवाद में
आत्मा और शरीर का सम्बन्ध 168-175, लाइबनिज
के दर्शन का मूल्यांकन 175-176

7. आधुनिक दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्ति 177-244
ज्ञानसिद्धान्त, (अ) जॉन लॉक 178-179, जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त
संशयवाद, आत्मा का निराकरण 179-182, लॉक की ज्ञानमीमांसा
जन्मजात प्रत्ययों 182-194, मूलगुण एवं उपगुण 185-186, प्रत्यक्ष का
का खण्डन

प्रतिनिधित्ववादी सिद्धान्त 187-189, ज्ञान का स्वरूप 189-190, ज्ञान की वैधता 190-193, ज्ञान की सीमायें 193-194, लौक की तत्त्वमीमांसा 194-196, आत्मा का स्वरूप 196-197, ईश्वर की अवधारणा 197-198, सामान्यों का स्वरूप 198-200, लौक के दर्शन का मूल्यांकन 200-202

(ब) जार्ज बर्कले 202-203, अमूर्त प्रत्ययों का निराकरण 203-207, जड़वाद का खण्डन 207-210, प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद का निराकरण 210-212, बर्कले का प्रत्ययवाद (सत्ता दृश्यता है) 212-217, ईश्वर की अवधारणा 217-219, आत्मा की अवधारणा 219-220, बर्कले के दर्शन का मूल्यांकन 220-223

(स) डेविड ह्यूम 223, ह्यूम की ज्ञानमीमांसा 223-229, कारण-कार्य सम्बन्ध का विश्लेषण 229-231, कारणता और आगमन की समस्या 231-233, द्रव्य का निराकरण 233-234, आत्मा का निराकरण 234-238, ईश्वर का निराकरण 238-239, संशयवाद 239-242, ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन 242-244

8. काण्ट का आलोचनात्मक दर्शन 245-305
 आलोचनावाद 248-253, संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय 253-259, अतीन्द्रिय संवेदन-शक्ति की समीक्षा—
 देश और काल 259-264, अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र 264-265, बुद्धि-विकल्पों का तत्त्वमीमांसीय निगमन 265-269, बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन 269-273, आकार-योजना 273-276, विशुद्ध ज्ञाता (आत्मा) 276-279, व्यवहार और परामर्थ 279-283, अतीन्द्रिय द्वन्द्व-न्याय (प्रज्ञा के संप्रत्यय) 283-287, बुद्धिपरक मनोविज्ञान की आलोचना 287-289, बुद्धि-परक सृष्टिविज्ञान की आलोचना 289-294, बुद्धिपरक ईश्वरमीमांसा की आलोचना 294-302, काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन 302-305

9. जर्मन प्रत्ययवाद और हेगल 306-335

फिक्टे 306-309, शेलिंग 309-312, हेगल 312-313,
 हेगल का दार्शनिक चिन्तन 314-315, निरपेक्ष
 प्रत्ययवाद 315-319, हेगलीय द्वन्द्व-न्याय 320-324,
 प्रकृति का स्वरूप 324-327, आत्मा का प्रत्यय
 327-332, हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का मूल्यांकन 332-335

10. ब्रिटिश प्रत्ययवाद और ब्रैडले 336-377

एफ.एच. ब्रैडले 341-343, मूल गुण और उपगुण का
 निराकरण 343-346, द्रव्य और गुण 346-347,
 सम्बन्ध और गुण 348-351, आत्मा की अवधारणा
 351-355, निरपेक्ष सत् का स्वरूप 355-361, विचार
 और सत् 361-364, सत्य एवं भ्रम 364-366, सत् और
 सत्यता की मात्रायें 367-369, आभास और सत्
 369-372, द्वन्द्व न्याय 372-374, ब्रैडले के दर्शन का
 मूल्यांकन 374-377

11. अमेरिकी अर्थक्रियावाद और विलियम जेम्स 378-430

- (अ) चार्ल्स सेन्डर्स पियर्स 381, विश्वास का स्वरूप
 382-384, ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त 384-385, पियर्स
 की तत्त्वमीमांसा 385-387, पियर्स का अर्थ सिद्धान्त
 387-389
- (ब) विलियम जेम्स का अर्थक्रियावाद 390-393
 अर्थक्रियावाद का मनोवैज्ञानिक आधार 394-396, जेम्स
 का उत्कट अनुभववाद 397-401, सत्यता का
 अर्थक्रियावादी सिद्धांत 402-407, जेम्स के दर्शन का
 मूल्यांकन 407-411
- (स) जान डिवी 412, डिवी का उपकरणवाद 412-417,
 डिवी का प्रकृतिवाद 417-418, डिवी के दर्शन का
 मूल्यांकन 419-421
- (द) एफ.सी.एस. शिलर 422, शिलर का मानववाद
 424-426, अर्थक्रियावाद का मूल्यांकन 426-430

संदर्भ ग्रन्थ सूची 431-434

अनुक्रमणिका 435-441

पाश्चात्य दर्शन की भूमिका

अपने दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करने के लिए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का सम्यक् बोध भी आवश्यक होता है। जो विचारक अन्य संस्कृतियों और जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करते हैं, उनका अपना सांस्कृतिक मूल्य-बोध एकांगी तथा संकीर्ण हो जाता है। पाश्चात्य दर्शन के मूल तत्त्वों को बिना समझे हुए हमारी भारतीयता की पहचान भी अपूर्ण होगी। इसलिए विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धांतों का विवेचन करते समय उनकी संक्षिप्त तुलना प्रासंगिक भारतीय दार्शनिकों के मतों से की गयी है। दार्शनिक अनुशीलन के प्रारम्भ से लेकर अर्वाचीन दर्शन तक ज्ञान, सत् और मूल्य अथवा सत्य-शिव-सुन्दर का विवेचन और मूल्यांकन ही दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र रहा है। केवल बीसवीं शताब्दी का विश्लेषी दर्शन इसका अपवाद है क्योंकि विश्लेषी दार्शनिकों की अभिरुचि परम्परागत दार्शनिक समस्याओं के निरूपण में नहीं थी। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में समसामयिक दर्शन की इस प्रवृत्ति का विवेचन नहीं हो सका है।

आज की बदलती हुई वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिक चिन्तन की परिस्थितियों में स्वयं दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अतः किसी विशिष्ट दार्शनिक परम्परा का विवेचन करने से पूर्व स्वयं दार्शनिक अनुशीलन की सामाजिक प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्नों के विभिन्न पक्षों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

(अ)

दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता (The Social Relevance of Philosophy)

मनुष्य का जीवन और चिन्तन दोनों साथ-साथ प्रारम्भ होता है। जब तक मनुष्य में चिन्तन का विकास प्रारम्भ नहीं होता है तब तक वह सही अर्थों में मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता है। मनुष्य में यह जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि जीवन का क्या लक्ष्य है? मानव-जीवन का क्या अर्थ है? मानवेतर प्राणी न तो यह जानने का प्रयास करते हैं और न यह जानने में समर्थ हैं कि जीवन का क्या लक्ष्य है अथवा जीवन का क्या अर्थ है? इस जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए मानव अपने जीवन के लक्ष्यों एवं जीवन-मूल्यों के प्रति अपना एक

दृष्टिकोण विकसित कर लेता है। जीवन के स्वरूप और लक्ष्य को समझने के लिए जगत् के स्वरूप एवं प्रयोजन को समझना भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि मनुष्य का जीवन और मूल्यों का अनुसंधान इस जगत् में ही संभव होता है। अतः यह जगत् भी स्वाभाविक रूप से मानव-चिंतन का विषय हो जाता है।

यदि जगत् के स्वरूप पर अनुशीलन किया जाय तो यह अत्यन्त विचित्र प्रतीत होता है। हम यह देखते हैं कि एक ओर बसन्त की सुषमा एवं मादकता समस्त प्राणियों को आह्लादित करती है तो दूसरी ओर गरमी की तपन से वे व्याकुल हो जाते हैं। इसी प्रकार ऋतुओं का परिवर्तन, ऊपर तारों से भरा हुआ आकाश, भूकम्प, तूफान, महामारी, ज्वालामुखी-विस्फोट आदि मनुष्य के मन में कौतूहल, भय, आश्चर्य एवं जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं।¹ वैज्ञानिक इन घटनाओं के स्वरूप की व्याख्या कारण-कार्य नियम के आधार पर करते हैं। किन्तु कारण-कार्य की शृंखला का ज्ञान मानव-कौतूहल को शान्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। कारण-कार्य का सिद्धान्त केवल यह निर्दिष्ट करता है कि ये घटनाएँ किसी विशेष नियम के अनुसार घटित होती हैं। किन्तु विज्ञान यह नहीं स्पष्ट कर पाता है कि इस जगत् का क्या प्रयोजन है? ये घटनाएँ इस नियम के अनुसार क्यों घटित होती हैं? यही कारण है कि वैज्ञानिक ज्ञान के विकसित होने पर भी आज 21वीं शताब्दी में भी यह प्राकृतिक जगत् मनुष्य के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यह ब्रह्माण्ड सौन्दर्य से युक्त (Beautious) और उदात्त (Sublime) है। इसके समग्र स्वरूप को समझने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से मनुष्य को एक विशेष प्रकार के चिन्तन के लिए प्रेरित करती है। इसके फलस्वरूप दार्शनिक अनुशीलन का विकास होता है। इस दृष्टि से चिन्तन की दो विधाएँ हो सकती हैं :-

- (1) समस्त विषय के स्वरूप को उसकी समग्रता में एक साथ जानने का प्रयास करना।
- (2) किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके प्रत्येक अंश को पृथक्-पृथक् जानने का प्रयास करना।

इनमें से प्रथम पद्धति ही दार्शनिक चिन्तन का आधार हो सकती है, जबकि दूसरी विधा का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किया जाता है। दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड के स्वरूप का ज्ञान इसकी सम्पूर्णता में करने के लिए चिन्तन की प्रथम विधि का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक पद्धति का बौद्धिक होना अनिवार्य है ताकि राग-द्वेष आदि मनोविकारों से मुक्त होकर तत्त्व के स्वरूप का निष्पक्ष एवं

1. ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है। (Philosophy begins in wonder.) इसी प्रकार हिन्दी के महान कवि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

केशव ! कहि न जात का कहिये।

अति विचित्र रचना अनूप तव समुझि मनहि मन रहिये॥

तटस्थ दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया जा सके।¹ इस प्रकार परम्परागत रूप से दर्शनशास्त्र मनुष्य की अनुभूतियों का तार्किक विश्लेषण और मूल्यांकन करके यह निर्धारित करने का प्रयास करता है कि इस जीवन और जगत् (ब्रह्माण्ड) का मूल आधार कोई तात्त्विक सत्ता है अथवा नहीं? दर्शनशास्त्र की यह अवधारणा मुख्य रूप से पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। यद्यपि भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों की चिन्तन पद्धतियों एवं दृष्टिकोणों में कुछ मौलिक अन्तर है; तथापि दोनों दार्शनिक परम्पराओं में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं उसके तात्त्विक आधार की खोज (तत्त्व-ज्ञान) को अपने-अपने ढंग से दार्शनिक चिन्तन का विषय माना गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दार्शनिक चिन्तन का विषय कहने का तात्पर्य यह है कि प्रायः दार्शनिक विश्व की व्यवस्था के संचालक आधारभूत, अर्थात् मौलिक (Foundational) नियमों की खोज करने का प्रयास करते रहे हैं।

दर्शनशास्त्र के विरुद्ध प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि दार्शनिक प्रश्नों को कभी भी हल नहीं किया जा सकता है। इन प्रश्नों का अन्तिम समाधान प्राप्त करने के लिए हम कब तक प्रतीक्षा करते रहेंगे? किन्तु ऐसे आक्षेप दर्शनशास्त्र के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी अनेक समस्याएँ रही हैं, जिनका उत्तर बहुत बाद में मिला। यहाँ तक कि आज भी वैज्ञानिक ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर खोजने में लगे हुए हैं, जिनका संतोषप्रद उत्तर विज्ञान नहीं दे पा रहा है। यदि इन प्रश्नों को अनुत्तरणीय मान करके वैज्ञानिक उनकी खोज का प्रयास न करें तो विज्ञान की प्रगति ही अवरुद्ध हो जायेगी। गैलीलियो और न्यूटन के अनेक सिद्धांतों में परवर्ती वैज्ञानिकों ने संशोधन एवं परिमार्जन किया। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिक अनुसंधान उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा है। यही बात दार्शनिक अनुसंधान के विषय में लागू होती है। यह अवश्य है कि दार्शनिक प्रश्नों का स्वरूप वैज्ञानिक प्रश्नों से भिन्न होता है। दार्शनिक समस्याएँ अत्यंत गंभीर, व्यापक एवं सार्वभौमिक प्रकृति की होती हैं। इसलिए उनका कोई सर्वमान्य एवं सबके द्वारा स्वीकृत उत्तर प्राप्त करना कठिन होता है। विश्व का स्वरूप और प्रयोजन क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? सत् क्या है? ज्ञान क्या है? ज्ञान, मूल्य और सत् में क्या सम्बन्ध है? ज्ञान और आचरण का आदर्श प्रतिमान क्या हो सकता है? इत्यादि। इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्न अत्यन्त जटिल, व्यापक एवं गहन चिन्तन की माँग करते हैं। ये प्रश्न भले ही कठिन और जटिल हों, परन्तु हम इनके बारे में सोचना बन्द नहीं कर सकते हैं। इन प्रश्नों के अनेक उत्तर दिये गये हैं और अभी अनेक उत्तर

1. आधुनिक युग में डेकार्ट ने स्पष्ट एवं विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सन्देह पद्धति का सहारा लिया। आगे चलकर हुसल ने संवृत्तिशास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत कोष्ठकीकरण एवं स्थगन को सम्मिलित किया ताकि तत्त्व (चेतना) के स्वरूप का ज्ञान निष्पक्ष और तटस्थ होकर प्राप्त किया जा सके। इसका लक्ष्य पूर्वाग्रहों से रहित होकर निष्पक्ष दार्शनिक चिन्तन की विधि से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करता है।

दिये जा सकते हैं। इन प्रश्नों के बारे में विभिन्न दार्शनिकों या दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य की अपनी एक जीवन-पद्धति होती है। उसका ज्ञान, मूल्य एवं सत् के प्रति अपना एक दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टिकोण और जीवन-पद्धति के अनुरूप ही मानव-जीवन के समस्त कार्यक्रम निर्धारित होते हैं। अतः बुद्धिजीवियों के बीच-में विवाद कुशल या अकुशल, सुसंगतिपूर्ण या विसंगतिग्रस्त दार्शनिक चिंतन, विचार- पद्धति, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा आदि के स्वरूप को लेकर हो सकता है। किन्तु कोई भी विचारशील मनुष्य दार्शनिक चिंतन से बच नहीं सकता है। वस्तुतः दार्शनिकों में सहमति अथवा असहमति का प्रश्न उत्पन्न महत्वपूर्ण नहीं होता है जितना कि चिन्तन-पद्धति का सामञ्जस्यपूर्ण होना महत्वपूर्ण है। वर्तमान युग में दार्शनिक अनुशीलन के प्रमुख बिन्दु क्या हो सकते हैं ? आज के बदलते हुए परिवेश में, देश-काल एवं परिस्थिति के अनुरूप दार्शनिक चिंतन की दिशा क्या होनी चाहिए ? इन प्रश्नों पर दार्शनिकों में मतभेद हो सकता है। किन्तु इन प्रश्नों पर मतभेद होते हुए भी दार्शनिक चिन्तन समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अवश्य है कि दार्शनिक प्रश्नों को लेकर दार्शनिकों में विवाद होता रहता है। उनमें प्रायः असहमति पायी जाती है। इस संदर्भ में पश्चिम के एक समालोचक और दार्शनिक पी०ए० शिल्प का यह कथन उल्लेखनीय है—“शायद (इन गहन और व्यापक दार्शनिक प्रश्नों के स्वरूप को लेकर) दार्शनिकों में असहमति होनी ही चाहिए।” किन्तु इस असहमति का कारण न तो दार्शनिकों का अज्ञान है और न उनका गहन चिन्तन में अकुशल एवं असमर्थ होना। इस असहमति का कारण दार्शनिक समस्याओं का बहुआयामी एवं जटिल होना है। इसके अतिरिक्त इन दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर मनुष्य की जीवन-शैली, उनकी सांस्कृतिक संरचना एवं उनके पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से प्रभावित होते हैं।

वस्तुतः दार्शनिक विचारों में भिन्नता के कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों की जीवन-शैली अलग-अलग होती है। इस जीवन-शैली एवं विचार-पद्धति के अनुरूप ही मनुष्य के समस्त कार्यक्रमों का निर्धारण होता है। यही कारण है कि हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मूल्यों का स्वरूप और संरचना दार्शनिक अनुशीलन से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए, ईश्वर के अस्तित्व के बारे में भिन्न-भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों की जीवन-पद्धति एक-दूसरे से अलग होती है। यही बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के संदर्भ में लागू होती है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग सांस्कृतिक पहचान होती है। उसके दार्शनिक चिन्तन का भी अपना एक अलग ढाँचा (मॉडल) होता है। हमारी जीवन-पद्धति,

1. 'Perhaps Philosophers must disagree.' (P.A. Schilpp,) फिलासॉफी आव जी०ई० मूर (Philosophy of G.E. Moore) के प्राक्कथन से उद्धृत।

मूल्यबोध, आचरण, लोक कल्याण के प्रतिमान, अर्थव्यवस्था, राजनीति की प्रणालियाँ आदि हमारी दार्शनिक सोच (विचारधारा) से प्रभावित होती हैं। किसी सैद्धांतिक आधार के बिना मानव-जीवन, पर्यावरण, राजनीति, समाज-नीति एवं आर्थिक नीति अस्त-व्यस्त हो जाती है। इन सब को सुव्यवस्थित, संतुलित एवं परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण बनाने के लिए जिस आधारभूमि एवं सिद्धांत की आवश्यकता होती है, वह दर्शनशास्त्र से प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक प्रश्न कोरे अमूर्त-चिंतन पर आधारित कल्पना नहीं हैं। ये प्रश्न मानव-जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं और जीवन एवं जगत् को सुव्यवस्थित, आह्लादक एवं कल्याणकारी बनाने के सूत्र हैं। इन प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्न में ही अनेक दार्शनिक सिद्धांतों (जैसे—तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, मूल्यमीमांसीय इत्यादि) का प्रतिपादन किया गया है।

दार्शनिक प्रश्नों के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक इन प्रश्नों का कोई एक सुनिश्चित उत्तर नहीं दिया जा सका है। दर्शनशास्त्र अपनी परम्परागत (घिसी-पिटी) पुरानी समस्याओं तक ही सीमित है। ये समस्याएँ भविष्य में भी इसी प्रकार बनी रहेंगी। उनका कोई समुचित समाधान संभव न हो सकेगा। इस प्रकार दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में नवीनता का अभाव है। इन पर विचार करने से क्या लाभ है ?

वस्तुतः यह आक्षेप दर्शनशास्त्र के इतिहास की गलत समझ के कारण किया जाता है। यह कहना सत्य नहीं है कि दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने में कोई सफलता नहीं मिली है। सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ दार्शनिक समस्याओं के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक युग का मानव दार्शनिक प्रश्नों को अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से समझता है। ये प्रश्न भले ही अभी तक हल नहीं हुए हैं, परन्तु आज के उत्तर पहले दिये गये उत्तरों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत, परिमार्जित एवं विकसित हैं। दार्शनिक समस्याओं के विषय में हमारी समझ प्राचीन काल के मनुष्यों की तुलना में अधिक परिपक्व और विकसित हुई है। दार्शनिक समस्याएँ भले ही प्राचीन हों, परन्तु उनके प्रति विभिन्न युगों में दार्शनिकों के दृष्टिकोण नवीन होते हैं। सच तो यह है कि प्राचीन समस्याओं के प्रति नवीन दृष्टि एवं नवीन व्याख्याएँ, ही दार्शनिक चिन्तन को मौलिकता प्रदान करती हैं। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन समाज, साहित्य, धर्म और विज्ञान के घात-प्रतिघात से विकसित होता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में दार्शनिक समस्याओं के नवीन आयाम विकसित होते रहते हैं। जिस प्रकार साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, अर्थात् जिस प्रकार युग के अनुरूप नवीन साहित्यिक दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समय-परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक संस्कृति के मार्गदर्शन के लिए दार्शनिक चिन्तन की भी आवश्यकता होती है। अतः यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक समस्याओं के स्वरूप में

कोई नवीनता नहीं है।

जीवन और जगत् के प्रति हमारा चिन्तन जितना अधिक व्यवस्थित (Systematic) और सामञ्जस्यपूर्ण होगा, वह उतना ही अधिक संतुलित एवं सफल होगा। किसी दार्शनिक की सफलता अपने ज्ञान एवं विचारों को जीवन में आत्मसात् करने में निहित होती है। दार्शनिक भले ही स्वयं कोई आन्दोलन और क्रान्ति-न कर सकें, परन्तु उनके विचार किसी न किसी समाज-सुधारक अथवा राजनीतिज्ञ को माध्यम बनाकर आन्दोलन का रूप धारण कर लेते हैं। कोई भी क्रान्ति अथवा आंदोलन समाज में घटित होने के पूर्व मनुष्य के विचारों में जन्म लेता है। क्रान्तिकारी विचार किसी न किसी दार्शनिक दृष्टि पर आधारित होने पर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं। जैसे—उदाहरण के लिए कार्ल मार्क्स के विचारों ने लेनिन को प्रभावित किया। उसके फलस्वरूप उसने अपने समय के रूसी समाज को व्यवस्थित एवं संगठित करने का महान कार्य सम्पन्न किया। स्वयं मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हेगल एवं फेयरबाक (Feuerbach) के विचारों से प्रभावित हुआ था। इसी प्रकार पश्चिम में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, रूसो इत्यादि एवं भारत में महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, आदि शंकराचार्य, कौटिल्य, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि के दृष्टान्त विद्यमान हैं। इन विचारकों ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से समाज, धर्म और राजनीति को प्रभावित किया।

उत्तर आधुनिकता (Post Modernity) से प्रभावित कुछ विचारकों एवं समालोचकों के अनुसार आधुनिक दार्शनिक चिन्तन ज्ञान, सत् और मूल्य के जिन निरपेक्ष, सार्वभौम और सर्वग्राह्य मानदण्डों की खोज करने का प्रयास कर रहा है, वे संभव ही नहीं हैं क्योंकि सत्ता का कोई निरपेक्ष एवं सार्वभौम ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान के प्रामाण्य (वैधता) के सार्वभौम नियम संभव नहीं हैं। इसी प्रकार कोई निरपेक्ष मूल्य भी नहीं है। अतः दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सार्वभौमिकता, तार्किक सुसंगति और सत्य की खोज करने का प्रयास निरर्थक है। इस दृष्टि से ज्ञान, सत् और मूल्य खण्डित, बहुवचनीय और देश-काल एवं परिस्थिति-सापेक्ष है।

प्रस्तुत संदर्भ में उत्तर आधुनिकतावाद की व्याख्या एवं मूल्यांकन करना विषयान्तर होगा। किन्तु यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि इस विचारधारा से प्रभावित विचारकों को अपने मतों की स्थापना के लिए किसी न किसी मानदण्ड अथवा प्रतिमान को अवश्य अपनाना पड़ेगा। ज्ञान, मूल्य और सत् की कोई आलोचना किसी न किसी मानदण्ड के आधार पर ही की जा सकती है। यदि बिना किसी मानक के दर्शनशास्त्र की आलोचना की जाती है तो उसे सारगर्भित और युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत यदि दार्शनिक समस्याओं का खण्डन करने के लिए कोई मानदण्ड प्रयुक्त किया जाता है तो निश्चित रूप से वह किसी न किसी दार्शनिक विचारधारा पर ही आधारित होगा। अतः किसी विशेष प्रकार की दार्शनिक पद्धति एवं दार्शनिक विचारधारा के निराकरण को

सम्पूर्ण दर्शन का निराकरण नहीं कहा जा सकता है।

कुछ आलोचकों के अनुसार दर्शनशास्त्र अव्यावहारिक होता है। यह दृष्टिकोण साधारण लोगों की सतही सोच पर आधारित है। दार्शनिक चिंतन के प्रति उनकी गलत समझ को दूर करने की आवश्यकता है। किसी दार्शनिक विचारधारा से सहमत होना अथवा असहमत होना एक अलग बात है, परन्तु दर्शनशास्त्र मात्र को निरर्थक, अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी कहना दर्शन के प्रति एक भ्रामक दृष्टिकोण पर आधारित है। क्या व्यावहारिक होने का अर्थ बिना किसी सिद्धांत के अपने संवेगों, भावनाओं एवं वासनाओं के वशीभूत होकर आचरण करना है? क्या व्यावहारिक होने का अर्थ अवसरवादी एवं चापलूस होना है? वास्तव में 'व्यावहारिक होने के नाम पर' अवसरवादिता, कुतर्क, वितण्डा और चापलूसी को गलत प्रोत्साहन देना व्यवहार और दर्शनशास्त्र दोनों की गलत समझ है। मनुष्य के व्यावहारिक होने का निहितार्थ यह है कि जीवन की वास्तविकताओं (Grand Realities) को ध्यान में रखकर उनके अनुरूप व्यक्ति एवं समाज के कल्याण की दिशा निर्धारित की जाय। इसके लिए तार्किक एवं मूल्यपरक दृष्टिकोण को विकसित करने की आवश्यकता है जो बिना किसी दार्शनिक चिंतन प्रणाली के संभव नहीं हो सकता है।

कुछ आलोचकों का यह कहना है कि आज का युग अर्थ-प्रधान है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर के इस युग में मनुष्य की प्रमुख आवश्यकता जीविकोपार्जन के साधन सुलभ कराना है। ऐसी परिस्थिति में दर्शनशास्त्र की क्या उपयोगिता हो सकती है? इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध कराना है? यह सत्य है कि अर्थोपार्जन मानव की जीविका के लिए एक मूलभूत आवश्यकता है। किन्तु यह मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध भले ही प्रत्यक्ष रूप से जीविकोपार्जन न हो, परन्तु इसका प्रयोजन जीविकोपार्जन के लक्ष्य को निर्धारित करना है। दूसरे शब्दों में, जीविकोपार्जन मनुष्य की एक मूलभूत आवश्यकता है, परन्तु यह अपने आप में साध्य नहीं है। यह किसी उच्चतर साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अर्थोपार्जन आदि मानव-जीवन को सुखमय बनाने के लिए साधन-मूल्य हैं। उनका लक्ष्य कतिपय साध्यमूल्यों की प्राप्ति है। मानव-जीवन का परम आदर्श, निः श्रेयस एवं अन्तिम लक्ष्य क्या है? दार्शनिक अनुशीलन इसी का बोध कराता है। यह जीविका भले न प्रदान कर सके, परन्तु जीवन के यथार्थ स्वरूप एवं लक्ष्य का मार्ग-दर्शक है। कोई भी संवेदनशील एवं बुद्धिजीवी मनुष्य केवल खाने के लिए (जीविकोपार्जन हेतु) जीवित नहीं रहना चाहता है, बल्कि जीवन में कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जीवित रहना चाहता है। अतिशय भोगवाद एवं सुखवाद की आलोचना करते हुए जे०एस० मिल ने कहा है कि 'एक असंतुष्ट सुकरात होना एक संतुष्ट शूकर

(Pig) होने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है।¹ असंतुष्ट ज्ञानी एवं दार्शनिक होना एक संतुष्ट मूर्ख होने से अच्छा है। कोई मूर्ख व्यक्ति अपने को अधिक सुखी या धन्य समझता है तो इसका कारण यह है कि वह (मूर्ख) केवल अपने ही दृष्टिकोण को समझता है। इसके विपरीत दार्शनिक दोनों के दृष्टिकोणों (अर्थात् व्यक्ति एवं समष्टि दोनों के दृष्टिकोणों) को जानता है।

इससे स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र ऐसे मूल्यों, आदर्शों एवं निःश्रेयस से सम्बन्धित है जो मनुष्य को सदैव मनुष्य बने रहने के लिए प्रेरित करते हैं। जब तक मनुष्य की चिंतन-पद्धति सन्तुलित, मूल्यपरक और निष्पक्ष नहीं होगी तब तक हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी से प्राप्त संसाधनों का सदुपयोग लोक कल्याण की दिशा में नहीं कर सकते हैं। आधुनिक युग संकट का युग है। विश्व के विभिन्न भागों में व्याप्त हिंसा, तनाव, आतंकवाद, धार्मिक एवं जातीय संघर्ष, नशाखोरी, भ्रष्टाचार एवं अन्य सामाजिक बुराइयाँ केवल विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर से दूर नहीं की जा सकती हैं। इनसे बचने के लिए व्यवस्थित विचार-पद्धति एवं मूल्यपरक शिक्षा के द्वारा मनुष्य की सोच को, जीवन-दृष्टि को बदलने की आवश्यकता है। जब-जब मानव समाज सांस्कृतिक क्षरण की त्रासदी से गुजरता है, तब-तब दार्शनिक अनुशीलन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। वस्तुतः दार्शनिक प्रक्रिया एक सामाजिक प्रक्रिया है। दार्शनिक दृष्टि से रहित समाज एक असभ्य, बर्बर एवं आदिम समाज (Primitive Society) होगा। प्रायः ऐसा समाज दिशाहीन, लक्ष्यहीन एवं अदूरदर्शी मनुष्यों की एक भीड़ के समान होता है। दर्शनशास्त्र समाज की प्रज्ञा चक्षु है और प्रज्ञा समाज की गतिशील आत्मा है। दर्शनशास्त्र का उद्भव एवं विकास समाज में होता है। उस पर सामाजिक मान्यताओं, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होता है। हम दर्शनशास्त्र और समाज की एक-दूसरे से पृथक् रूप में कल्पना नहीं कर सकते हैं, अर्थात् दोनों में अवियोज्य सम्बन्ध है। यह प्रश्न करना कि दर्शनशास्त्र की समाज के लिए क्या प्रासंगिकता है, एक अप्रासंगिक प्रश्न है। दार्शनिक चिन्तन की सामाजिक प्रासंगिकता दर्शनशास्त्र का एक अवियोज्य आयाम है।

यदि कोई दर्शन समाज की सृजनात्मक आत्मा, अर्थात् समाज की जमीनी वास्तविकताओं, मूल्यों एवं संस्कृति की उपेक्षा करता है तो वह अप्रासंगिक हो जाता है। वह समाज के लिए ग्राह्य नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त यदि दार्शनिक चिंतन को अभिव्यक्त करने वाली भाषा मृतप्राय हो जाती है तो दर्शनशास्त्र समाज को प्रभावित नहीं कर पाता है। इसके फलस्वरूप वह समाज के लिए अप्रासंगिक हो जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिक यूरोपीय समाज के लिए लैटिन भाषा में अभिव्यक्त दर्शन और आज के भारतीय समाज के लिए

1. An unsatisfied Socrates is better than a satisfied pig. कार्लाइल ने घोर सुखवाद एवं भोगवाद की आलोचना करते हुए इसे शूकर-दर्शन (Pig-Philosophy) कहा है।

संस्कृत, पाली एवं प्राकृत भाषा में व्यक्त दर्शन अप्रासंगिक हो जायेगा। इसी प्रकार किसी भी विदेशी भाषा में व्यक्त स्वदेशी दर्शन उस देशीय समाज के लिए दुर्बोध हो जाता है। वस्तुतः किसी भी राष्ट्र के दर्शन की अभिव्यक्ति उसकी अपनी भाषा में होना चाहिए। यदि किसी दार्शनिक विचारधारा को व्यक्त करने वाली भाषा समाज के जनमानस के लिए अपरिचित हो तो ऐसा दार्शनिक चिन्तन समाज से दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विचारधारा सामाजिक प्रगति, वैचारिक स्वतंत्रता आदि मूल्यों को बाधित करती है तो वह समाज के लिए न केवल अप्रासंगिक हो जाती है, बल्कि बहुत ही घातक (खतरनाक) हो जाती है। उदाहरण के लिए, शास्त्रीय ईसाई दर्शन (कैथोलिक सम्प्रदाय की कट्टरपंथी विचारधारा) आधुनिक यूरोपीय दर्शन के विकास के पूर्व बहुत घातक सिद्ध हुआ। अनेक वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को कठोर यातनाएँ दी गयीं। इससे सामाजिक प्रगति एवं वैचारिक स्वतंत्रता कुण्ठित हुई। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि किसी दार्शनिक विचारधारा के विकास, सामाजिक प्रासंगिकता और सृजनात्मकता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें होती हैं। इनमें से प्रथम शर्त यह है कि दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति राष्ट्र भाषा और साधारण भाषा में होनी चाहिए। यदि दार्शनिक चिन्तन को अभिव्यक्त करने वाली भाषा सुबोध न हो तो ऐसा दर्शन सरलतापूर्वक ग्राह्य न होने के कारण समाज की मुख्य धारा से कट जाता है। इसके अतिरिक्त किसी दार्शनिक आदर्श को जीवन्त और सृजनशील (Creative) बनाये रखने के लिए दार्शनिक वाद-विवाद के फलस्वरूप 'असहमति के प्रति सद्भाव' का होना आवश्यक है। बौद्धिक सहनशीलता (Intellectual Tolerance) और आत्मलोचन (Self-Criticism) की प्रवृत्ति के अभाव में कोई दर्शनशास्त्र न तो समाज के लिए प्रासंगिक हो सकता है और न चिरस्थायी हो सकता है। वस्तुतः बौद्धिक सहनशीलता एवं आत्मलोचन की प्रवृत्ति से वंचित दार्शनिक विचारधाराएँ फासीवाद एवं नस्लवाद को अनुचित रूप से प्रोत्साहित करती रहती हैं। इससे दर्शनशास्त्र के अपने लक्ष्य से विचलित होने का भय (खतरा) रहता है। अपने से विपरीत (विरोधी) मतों के प्रति सद्भाव, शाश्वत संवाद एवं वाद-विवाद तथा समन्वय¹ की प्रक्रिया से प्रत्येक जीवन्त दार्शनिक सम्प्रदाय अपना पुनर्मूल्यांकन और अपने सिद्धांतों की पुनर्संरचना (Reconstruction) अथवा पुनर्गठन करता रहता है। इसी में उसकी सामाजिक प्रासंगिकता निहित होती है।

कुछ विचारकों के अनुसार दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता दर्शन का न तो साध्य है और न सर्वस्व है क्योंकि विश्व में न तो कोई सार्वभौमिक समाज है और न कोई सार्वभौम दर्शनशास्त्र है।² यह सच है कि विश्व में अनेक समाज एवं अनेक प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ हैं। जो दर्शनशास्त्र किसी विशेष

1. वादे-वादे जायते तत्त्वोध :

2. Whether Indian Philosophy, Prof. Sangam Lal Pandey, Chapter 18 में पृ०सं० 312-313.

देश-काल एवं परिस्थिति में एक समाज के लिए प्रासंगिक है, हो सकता है कि अन्य परिस्थितियों में एवं अन्य समाजों के लिए सार्थक और उपयोगी न हो। किन्तु विश्व में अनेक समाजों एवं संस्कृतियों का होना कोई समस्या नहीं है। प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग दार्शनिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ, विचार एवं मूल्यबोध हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि समाज और दर्शनशास्त्र एक-दूसरे को तर्कतः प्रतिपन्न करते हैं। अतः दर्शनशास्त्र की सामाजिक प्रासंगिकता उसका एक अवियोज्य आयाम है।

आज के बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में दार्शनिकों का यह दायित्व है कि वे अपने विचारों और सिद्धांतों से समाज की चिन्तन-प्रणाली (सोचने के तरीके) को परिमार्जित करें। समाज के व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान खोजने की आवश्यकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के महान विचारक कार्ल मार्क्स ने अपने युग के दार्शनिकों के आचरण पर क्षोभ व्यक्त करते हुए यह चेतावनी दिया—'दार्शनिकों का कार्य है संसार (समाज) को बदलना', अर्थात् शोषण-मुक्त समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना। दार्शनिकों का कार्य केवल अनुशीलन ही नहीं, बल्कि उन्हें समाज को बदलने का प्रयत्न भी करना चाहिए।¹ दर्शनशास्त्र की एक प्रमुख उपलब्धि बुद्धि के परिमार्जन के फलस्वरूप मनुष्य को व्यवस्थित एवं युक्तिसंगत चिंतन के योग्य बनाना है। मनुष्य के जीवन की अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याएँ अव्यवस्थित, अतार्किक, संकुचित एवं स्वार्थपरक दृष्टि के कारण पैदा होती हैं। यदि दर्शन की इस पद्धति का उपयोग पूर्वोक्त समस्याओं को हल करने के लिए अपनाया जाय तो विश्व की अनेक समस्याएँ स्वतः हल हो सकती हैं। साम्प्रदायिक एवं जातीय उन्माद, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अपराध आदि से सम्बन्धित समस्याएँ केवल विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं कम्प्यूटर के द्वारा दूर नहीं की जा सकती हैं। इन कुरीतियों को दूर करने के लिए समाज की मानसिकता (सामाजिक सोच) में परिवर्तन अथवा विचार-प्रणाली में परिमार्जन की महती आवश्यकता है। इसके लिए दर्शनशास्त्र की तार्किक पद्धति एवं मूल्यात्मक दृष्टि (Evaluative Vision) की उपयोगिता और प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर खोजने की जिज्ञासा मनुष्य के लिए स्वाभाविक होती है। मनुष्य की यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वह अपने यथार्थ जीवन और अपनी सीमाओं से प्रायः संतुष्ट नहीं रहता है। उसका मन में अपनी सीमाओं से परे 'जो कुछ है', उसके बारे में जानने की एक 'अदम्य

1. मार्क्स ने पावर्टी आव फिलॉसफी, (The Poverty of Philosophy) अर्थात् दर्शन की कंगाली या दरिद्रता में कोरे काल्पनिक चिन्तन में लीन रहने वाले दार्शनिकों के आचार-विचार पर आपत्ति की है। उसने दार्शनिकों का आह्वान किया कि समाज को बदलने के लिए क्रांतियों को प्रेरित एवं संचालित करें।

इच्छा-शक्ति' (Nisus for Whole) पायी जाती है। कुछ विचारकों ने इसे मनुष्य में पायी जाने वाली 'स्वातिक्रमण' (Self Transcendence) की प्रवृत्ति कहा है। मनुष्य के पास 'जो कुछ है', वह उससे संतुष्ट नहीं होता है। यदि कोई मनुष्य अपने यथार्थ से संतुष्ट हो जाता है तो वह या तो देवत्व को प्राप्त कर लेता है अथवा विचारशून्य पशुओं की श्रेणी (कोटि) में सम्मिलित हो जाता है। किन्तु ये दोनों विकल्प मानव-जीवन एवं संस्कृति की प्रगति के लिए उपयुक्त नहीं हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और दार्शनिक अनुशीलन एक सामाजिक व्यापार है। दर्शनशास्त्र का इतिहास एक प्रकार से सामाजिक संस्कृति के इतिहास की ही मुख्य धारा है। अतः कोई संवेदनशील और जागरूक बुद्धिजीवी दार्शनिक चिंतन की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वस्तुतः दार्शनिक प्रश्नों की उपेक्षा करना अथवा इन प्रश्नों को जटिल और कठिन होने के कारण टाल देना एक प्रकार का बौद्धिक पलायनवाद है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन प्रत्येक सुसंस्कारित समाज का स्वाभाविक व्यापार है। अतः समाज के लिए दर्शनशास्त्र की उपयोगिता और प्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्न बहुत प्रासंगिक नहीं है।¹

(ब)

पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन

पाश्चात्य चिंतन के क्षेत्र में प्रयुक्त अंग्रेजी का 'फिलॉसफी' (Philosophy) शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों से व्युत्पन्न है। इन्हें क्रमशः 'फिलॉस' (Philos) और 'सोफिया' (Sophia) के नाम से जाना जाता है। 'फिलॉस' पद का प्रयोग ग्रीक भाषा में प्रेम अथवा अनुराग (Love) के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार 'सोफिया' का प्रयोग ज्ञान या विवेक (Knowledge or Wisdom) को निर्दिष्ट करने के लिए किया गया है। दर्शनशास्त्र में 'ज्ञान' (Knowledge) शब्द का प्रयोग कभी-कभी 'विवेक' (Wisdom) के अर्थ में भी किया जाता है। किन्तु व्यवहार में 'ज्ञान' (नॉलेज) का प्रयोग साधारण अर्थ (Ordinary Sense) के साथ-साथ वैज्ञानिक संदर्भों में भी किया जाता है। वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन में 'नॉलेज' शब्द का प्रयोग भारतीय प्रमाण मीमांसा में प्रयुक्त 'प्रमा' (Valid or True Cognition), अर्थात् वैध अथवा सत्य ज्ञान के अर्थ में किया गया है। व्यवहार में

-
1. एक व्यक्ति ने किसी शायर (कवि) से यह प्रश्न किया—इश्क (मुहब्बत) से क्या फायदा (लाभ)? शायर ने इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्नकर्ता से यह प्रश्न किया—फायदा (लाभ) से क्या फायदा? इस स्थल पर कहने का निहितार्थ यह है कि जो चीजें एवं मूल्य मानव जीवन एवं संस्कृति के लिए स्वामाविक हैं, जिज्ञासा की शांति के लिए आवश्यक हैं, उनके संदर्भ में उपयोगिता-अनुपयोगिता, लाभ-हानि, प्रासंगिकता एवं अप्रासंगिकता से सम्बन्धित प्रश्न पूछना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

इसका (नॉलेज का) अनुवाद संस्कृत या हिन्दी भाषा में प्रचलित ज्ञान के अर्थ में किया जाता है। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान का वर्गीकरण 'सत्य ज्ञान' के साथ-साथ 'असत्य ज्ञान' के रूप में भी किया है। तकनीकी दृष्टि से 'नॉलेज' का अनुवाद 'प्रमा' के अर्थ में करना अधिक समीचीन माना गया है।¹ पश्चिम में 'फिलॉसफी' का प्रयोग इसी नॉलेज अथवा विवेक के प्रति बौद्धिक प्रेम के अर्थ में किया गया है। विवेक के प्रति बौद्धिक प्रेम एक प्रकार की जिज्ञासा का द्योतक है। प्राचीन ग्रीक विचारकों ने सृष्टि एवं मानव-जीवन के मूल आधारों की खोज के साथ-साथ ग्रहों, नक्षत्रों, तारा-मण्डल, गणित आदि के विषय में जानने की उत्सुकता (Curiosity) व्यक्त किया। उन्होंने ब्रह्माण्ड (Universe) और मानव-जीवन के स्वरूप एवं लक्ष्य से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तरों का अध्ययन फिलॉसफी के अन्तर्गत किया।

किन्तु पश्चिम में फिलॉसफी की कोई निश्चित परिभाषा देना संभव नहीं है क्योंकि प्राचीन काल से लेकर बीसवीं शताब्दी तक वहाँ दार्शनिक चिंतन का स्वरूप और लक्ष्य विभिन्न युगों और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा है। इसके फलस्वरूप वहाँ इसका प्रयोग तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा, विश्लेषण, द्वितीय क्रम की गवेषणा (The Second Order-Inquiry), निकषमीमांसा (Criteriology) आदि के संदर्भ एवं अर्थ में किया जाता रहा है। मध्यकाल में ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिक सिद्धांतों को छोड़कर 'फिलॉसफी' का प्रयोग 'समालोचनात्मक अनुशीलन' के ही अर्थ में किया गया है। किन्तु समालोचनात्मक चिन्तन (Critical Reflection) पर आधारित दार्शनिक ज्ञान स्वयंकल्पित एवं स्वतःप्रेरित अथवा स्वतःस्फूर्त होता है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन किसी के ऊपर बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता है। यह ज्ञान के प्रति बौद्धिक अनुराग और श्रद्धा के बिना संभव नहीं है। अतः पश्चिम में फिलॉसफी को ज्ञान अथवा विवेक के प्रति (बौद्धिक या युक्तिसंगत) प्रेम अथवा श्रद्धा कहा गया है।² इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति विवेक के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम से युक्त होता है, वही सदगुणी भी हो सकता है। इसीलिए सुकरात ने ज्ञान (विवेक) और सदगुण में तादात्म्य (अभेद) स्थापित किया।³

भारतीय चिन्तन परम्परा में प्रयुक्त 'दर्शन' का शाब्दिक अर्थ 'दृष्टि' (Vision) है। यह साधारण अर्थ में प्रयुक्त 'देखना' (Seeing or Looking) क्रिया से भिन्न है। व्यवहार में 'दर्शन करना' और 'देखना' दोनों का प्रयोग अलग-अलग संदर्भों में किया जाता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ तत्त्व का दर्शन, तत्त्व-

1. प्रो० बालकृष्ण मतीलाल, (परसेप्शन, पृ० 22) तथा एस०सी० चटर्जी (न्याय थियरी आव नॉलेज, पृ० 20-21) ने प्रमा को वैध ज्ञान कहा है।
2. श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् (भगवद्गीता)।
3. Knowledge is Virtue. (Socrates)

ज्ञान अथवा तत्त्व का साक्षात्कार है। इस तत्त्व साक्षात्कार का लक्ष्य मानव-जीवन के समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति, अर्थात् समूल नाश है।¹ इस प्रकार भारतीय दर्शन में इसे परा विद्या कहा गया है। दूसरे शब्दों में तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-विद्या, निर्वाण एवं संबोधि, मोक्ष, कैवल्य, अंपर्व आदि के साक्षात्कार या विवेक के लिए 'दर्शनशास्त्र' का प्रयोग किया जाता रहा है। इसके विपरीत भारत में लौकिक जीवन से सम्बन्धित ज्ञान को अपराविद्या के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में दर्शनशास्त्र धर्म (Religion) से स्वतंत्र नहीं है। यहाँ धर्म और दर्शन में अलगाव नहीं है। भारतीय दर्शन उस विवेक की खोज है जिसको जान लेने से जो अज्ञात है, वह सब ज्ञात हो जाता है। इस दृष्टि से दर्शन अशेष ज्ञान या सम्यक् ज्ञान है जिसको जान लेने से किसी वस्तु का ज्ञान शेष नहीं रहता है। उपनिषद् काल से लेकर आज तक भारतीय दर्शन अनेक सम्प्रदायों, विचारधाराओं और मतमतान्तरों में विभक्त रहा है। किन्तु सभी सम्प्रदायों के दार्शनिक अनुशीलन का लक्ष्य समस्त दुःखों से पूर्णतया मुक्त होना रहा है। प्राच्य एवं पाश्चात्य परम्पराओं में दर्शनशास्त्र अपने मौलिक स्वरूप में ईश्वरमीमांसा (Theology) और विज्ञान (Science) दोनों से भिन्न है। ईश्वरमीमांसा अथवा धर्म (Religion) का प्रतिपाद्य विषय भाषा, तर्कबुद्धि एवं सामान्य मानव-अनुभूति से परे है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत तर्क (Logic) और भाषा अपरिहार्य हैं। उन्हें दर्शन का उपकरण कहा जाता है। यहाँ तर्क कि धर्मपरायण दार्शनिक भी धार्मिक तत्त्व की व्याख्या एवं मूल्यांकन के लिए तार्किक तथा भाषिक आकलनों या पैरामीटरों (Parameters of Logic and Language) का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार दर्शन विज्ञान (Science) से भी भिन्न है क्योंकि विज्ञान आनुभविक प्रेक्षण (Empirical Observation) और परीक्षण (Experiment) का सहारा लेकर तथ्यों का विश्लेषण करता है। विज्ञान एक प्रकार का तथ्यात्मक अध्ययन है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र विज्ञानों की पूर्वमान्यताओं का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। दर्शन (Philosophy) के अन्तर्गत मनुष्य के कर्मों के औचित्य, ज्ञान के प्रतिमानों, सौन्दर्य, उदात्त (Sublime), सत्, शुभ आदि के मानदण्डों का मूल्यात्मक अध्ययन किया जाता है। अतः दर्शन को एक मूल्यात्मक (Evaluative) और निकषमीमांसीय विज्ञान (Criteriological Science) कहा जा सकता है। धर्मशास्त्र और विज्ञान के विपरीत दर्शन 'द्वितीय क्रम की गवेषणा' (Second Order Inquiry) है। संभवतः रसल ने दर्शनशास्त्र के इस स्वरूप को ही ध्यान में रखकर कहा है—'दर्शनशास्त्र की स्थिति ईश्वरमीमांसा और विज्ञान के बीच (मध्यवर्ती) की है।' (Philosophy

1. दुःखत्रयाभिधाता जिज्ञासा तदपघातकेहेतौ (सांख्य कारिका 1)

(आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से निवृत्ति के लिए दार्शनिक जिज्ञासा करनी चाहिए। यह दार्शनिक जिज्ञासा कैवल्य की जिज्ञासा है।)

is something intermediate between Theology and Science.....
a No Man's Land)¹, वे विज्ञान और दर्शन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'विज्ञान वह है जिसे आप जानते हैं, जबकि दर्शनशास्त्र वह है जिसे आप नहीं जानते हैं' (अर्थात् जिसे जानने की मनुष्य में जिज्ञासा होती है) (Science is what you know, Philosophy is what you don't know.)² इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों ही परम्पराओं में दर्शनशास्त्र की चरम परिणति ज्ञान (विवेक) की खोज में हुई। किन्तु ज्ञान की खोज करने में दोनों के उद्देश्य अलग-अलग रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन की मूल प्रेरणा मानव जीवन में व्याप्त सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने में रही है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ दार्शनिक चिंतन की दिशा और दार्शनिकों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है। इस स्थल पर दर्शनशास्त्र की कोई एक सुनिश्चित परिभाषा देना न तो संभव है और न आवश्यक है। यहाँ पर हमारा लक्ष्य पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में अन्तर स्पष्ट करना है।

पाश्चात्य दर्शन का विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से सभी विज्ञानों का आधार और स्रोत दर्शनशास्त्र है। सभी विज्ञान दर्शन की संतान हैं क्योंकि आरम्भ में किसी विज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। किन्तु ज्ञान के विकास-क्रम में धीरे-धीरे प्रत्येक विज्ञान अपने मूल आधार दर्शनशास्त्र से पृथक् होने लगा। इस प्रकार विभिन्न विज्ञान दर्शन से स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुए।³ यही कारण है कि भारतीय दर्शन के विपरीत पाश्चात्य दर्शन में प्रत्येक वैज्ञानिक खोज दार्शनिक चिन्तन को गति प्रदान करती रही है। वहाँ प्रत्येक नवीन दार्शनिक विधा ने विज्ञान के लिए प्रेरणा प्रदान किया। भौतिकशास्त्र के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है कि यदि विज्ञानों की पद्धति का सम्यक् अनुसरण किया जाय तो उसका पर्यवसान दर्शनशास्त्र में होता है।⁴ पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित दार्शनिक और वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र से विज्ञान को अलग रखने के पक्ष में नहीं हैं। अपने अन्तिम प्रयोजन की दृष्टि से विज्ञान और

1. History of Western Philosophy, p. 10 (Quoted from My Philosophical Development, p. 204).

2. Logic and Knowledge, p. 281 (Quoted from My Philosophical Development) p. 204.

3. "The Sciences are the children of the old Mother Philosophy comparatively speaking, that the children have mattered to a place of independence and set up their own separate household." First Adventures in philosophy, p. 4.

4. इस संदर्भ में डॉ० हर्बर्ट डींगल (Herbert Dingle) ने 'थू साइन्स टु फिलॉसॉफी' (Through Science to Philosophy) में कहा है—"The Postulates of Science become the problems of Philosophy." डॉ० एस० राधाकृष्णन के द्वारा, 'दि रीजन आफ रिलीजन' (The Region of Religion) पृ० 3 से उद्धृत।

दर्शनशास्त्र एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते हैं। पाश्चात्य दर्शन की अधिकांश विचारधाराएँ यूक्लिड की ज्यामिति, न्यूटन की भौतिकी और डार्विन के विकासवाद से प्रभावित रही हैं। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान और दर्शनशास्त्र की निकटता और सामंजस्य पाश्चात्य दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य परम्परा में प्रारम्भ से ही सत् के विवेचन के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं भौतिक (प्राकृतिक) जगत् की समस्याओं का विवेचन एवं मूल्यांकन होता रहा है। विज्ञान से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य दर्शन जहाँ एक ओर प्रकृतिवादी (Naturalistic) और बौद्धिक दृष्टि से युक्त है, वहीं दूसरी ओर धर्म (Religion) से भी प्रभावित है। पाइथागोरस के युग से ही प्राचीन ग्रीक विचारधारा पर आर्फिक धर्म का प्रभाव रहा है। इसके अतिरिक्त बहुदेववाद एवं अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव भी समाज में व्याप्त रहा है। इस कारण से पाश्चात्य दर्शन प्रकृतिवादी होते हुए भी मूल्यपरक जीवन दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन पर धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, योगशास्त्र और व्याकरण-दर्शन का जितना अधिक प्रभाव पड़ा है, उतना गणित, विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र का प्रभाव नहीं पड़ा है। किन्तु यह अवश्य है कि भारतीय तत्त्वमीमांसकों ने भी दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में मौलिक कल्पना किया है। यद्यपि भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही आध्यात्मवादी रहा है, तथापि वे लौकिक जगत् एवं वैज्ञानिक चिंतन के प्रति उदासीन नहीं हैं। कुछ भारतीय समालोचकों और विद्वानों ने यह दावा किया है कि भारतीय ऋषियों ने लौकिक विज्ञानों की उन्नति के लिए उतना ही ध्यान दिया था, जितना कि ज्ञान की अन्य विधाओं को विकसित करने का प्रयत्न किया।¹ किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने विज्ञान को दर्शनशास्त्र का सहायक माना है। उनके अनुसार दर्शनशास्त्र परा विद्या है। जीवन का परम श्रेय आत्म-ज्ञान अथवा मोक्ष है। दर्शन परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन है। ज्ञान की अन्य शाखाएँ जो व्यावहारिक सत्य की खोज करती हैं, उन्हें अपरा विद्या के नाम से जाना जाता है। वे परमार्थ तक पहुँचने में असमर्थ हैं। इस दृष्टि से संमस्त विज्ञान मानव-जीवन और जगत् के भिन्न-भिन्न अंशों का ज्ञान प्रदान करते हैं। व्यावहारिक विज्ञानों का लक्ष्य मनुष्य के लौकिक जीवन को सुखमय और क्लेश-रहित बनाना है। वे दुःख के किसी विशेष प्रकार को ही दूर कर सकते हैं। वे सभी प्रकार के दुःखों का आत्यन्तिक निरोध (निवारण) करने में असमर्थ हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य दुःखों का पूर्ण विनाश है। अतः भारतीय आचार्यों ने विज्ञानों के पथ-प्रदर्शक के रूप में दर्शनशास्त्र की परिकल्पना की है।

1. इस संदर्भ में डॉ० बी०एन० सील (Dr. B.N. Seal) का 'दि पाजिटिव साइन्स आव एन्शियन्ट हिन्दूज' (The Positive Science of Ancient Hindus) एवं सर पी०सी० राय कृत 'ए हिस्ट्री आव हिन्दू केमेस्ट्री, (A History of Hindu Chemistry) उल्लेखनीय हैं।

यह उल्लेखनीय है कि भारत में सांख्य-योग, न्याय एवं वैशेषिक सम्प्रदाय वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से युक्त हैं, परन्तु बौद्धों और वेदान्तियों की अतिशय आध्यात्मिक एवं वैराग्यवादी प्रवृत्ति के समक्ष उनकी विचारधारा गौण हो गयी। बौद्धों और वेदान्तियों ने प्राकृतिक दृष्टिकोण की उपेक्षा किया। यद्यपि चार्वाकों का दर्शन विशुद्ध रूप से भौतिकवादी, सुखवादी एवं लौकिक है, तथापि उनका उग्र भौतिकवाद एवं भोगवाद बौद्धों और वेदान्तियों के आध्यात्मवाद, वैराग्यवाद और संन्यासवाद के समक्ष टिक न सका।

पाश्चात्य दर्शन में परम्परागत एवं समष्टिगत चिन्तन की अपेक्षा वैज्ञानिक और व्यक्तिगत चिन्तन का अधिक महत्त्व रहा है। वहाँ दार्शनिक प्रवृत्तियाँ प्रायः दार्शनिकों के व्यक्तित्व पर आश्रित रही हैं। वहाँ जितने दार्शनिक हुए हैं वे सभी अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं। वे किसी परम्परा को केवल आस्था के आधार पर नहीं स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भारतीय विचारधारा में दार्शनिक परम्पराओं एवं सम्प्रदायों का विशेष महत्त्व रहा है। भारतीय दर्शन में खण्डन-मण्डन की जो प्रवृत्ति विभिन्न सम्प्रदायों के बीच में रही है वह प्रवृत्ति पाश्चात्य दर्शन में विभिन्न दार्शनिकों के बीच में रही है। उदाहरण के लिए डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनिज बुद्धिवादी होते हुए भी द्रव्य के स्वरूप एवं परिभाषा के बारे में एकमत नहीं हैं। वे एक-दूसरे के मतों का खण्डन करते हैं। इसी प्रकार लॉक के अनुभववाद को अपनाते हुए भी बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक निष्कर्ष अलग-अलग हैं। वस्तुतः पाश्चात्य दार्शनिक अपनी मौलिकता एवं नवीनता को जितना अधिक महत्त्व देते हैं उतना किसी परम्परा की स्थिरता को महत्त्व नहीं देते हैं। इससे स्पष्ट है कि पश्चिम की दार्शनिक विचारधारा में दृष्टि एवं परम्परा की अपेक्षा द्रष्टा और मौलिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

विज्ञान से प्रभावित होने के कारण पाश्चात्य दर्शन विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाकर दार्शनिक समस्याओं पर विचार करता है। सुकरात और प्लेटो के युग में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन-अध्यापन संश्लिष्ट रूप में दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जाता था। किन्तु कालान्तर में, (अरस्तू के समय से ही) उनका विवेचन पृथक्-पृथक् शाखाओं के रूप में होना प्रारम्भ हुआ। बौद्धिक विकास के फलस्वरूप शनैः-शनैः दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान की अनेक शाखाओं एवं विधाओं का विकास हुआ। इसके फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान का दर्शन (Philosophy of Science) इत्यादि का अध्ययन अलग-अलग शास्त्रों के रूप में किया जाने लगा। विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के लिए पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी विश्लेषणात्मक पद्धति का लक्ष्य जटिल समस्याओं का सरलीकरण है। इसका लक्ष्य विचारों में स्पष्टता और सुभिन्नता लाना है। किसी समस्या के सम्यक् बोध के लिए विश्लेषण की इस पद्धति को उपयुक्त माना गया है। इस

प्रकार पाश्चात्य दर्शन बुद्धिवादी और प्रकृतिवादी होने के साथ-साथ विश्लेषणात्मक भी रहा है। उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति पाश्चात्य दर्शन की द्वैतवादी सांस्कृतिक चेतना और उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण संश्लेषणवादी है। इसके अन्तर्गत तत्त्वशास्त्रीय, धार्मिक, नैतिक, प्रमाणमीमांसीय, मनोवैज्ञानिक, तर्कशास्त्रीय आदि विधाओं का समिश्रण हो गया है। इसके फलस्वरूप भारतीय दर्शन में दार्शनिक चिंतन और आस्थापरक धार्मिक मान्यताओं एवं मूल्यों में परस्पर अतिव्यापन (Overlapping) अथवा घपला हो जाता है। वे परस्पर इस प्रकार मिश्रित हो गये हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना कठिन हो जाता है। वास्तव में, दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की तार्किक, भाषिक, प्रमाणमीमांसीय एवं मूल्यमीमांसीय विधाओं को ही सम्मिलित करना समीचीन होगा। भारतीय दर्शन का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। यह भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता एवं समरसता की विशेषता का प्रभाव है। समसामयिक युग में पाश्चात्य दर्शन ने अनेक भारतीय विद्वानों को प्रभावित किया है। इस प्रभाव के फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग भारतीय दर्शन के संदर्भ में भी करने का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक पद्धति से प्रभावित भारतीय विचारकों में प्रो० बालकृष्ण मतीलाल, प्रो० पी०टी० राजू, प्रो० संगमलाल पाण्डेय, प्रो० नन्द किशोर देवराज, प्रो० दयाकृष्ण, प्रो० शिवजीवन भट्टाचार्य आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पश्चिम की विश्लेषणात्मक पद्धति से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने इसका प्रयोग भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के संदर्भ में भी करने का प्रयास किया। वैशेषिकों का दार्शनिक चिन्तन विश्लेषणात्मक है। उनका विश्लेषण वस्तुओं के स्वरूप का विश्लेषण है। उनकी पदार्थमीमांसा एक प्रकार के दार्शनिक विश्लेषण पर आधारित है। इसी प्रकार मीमांसा सम्प्रदाय का दर्शन भाषा-विश्लेषण (Analysis of Language) है। नैयायिकों ने तर्कणा, ज्ञान, प्रमाण आदि का विश्लेषण किया है। किन्तु भारत में विश्लेषण को दर्शन नहीं माना गया है। इस परिप्रेक्ष्य में सांख्य-योग एवं वेदान्त की परम्परा महत्वपूर्ण है। वे दर्शन का प्रयोग दृष्टि (Vision) के अर्थ में करते हैं। यहाँ 'दृष्टि' का अर्थ 'सम्यक् ज्ञान' है। यह 'सम्यक् ज्ञान तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार (Self-Realisation) है।' ² यद्यपि प्राच्य अथवा पाश्चात्य किसी भी परम्परा के 'दर्शनशास्त्र'

1. प्रो० संगम लाल पाण्डेय ने 'भारतीय दर्शन की कहानी' में इस मत की पुष्टि की है, किन्तु वे दर्शन को विश्लेषण के अर्थ में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार दर्शनशास्त्र सम्यक् ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान का शास्त्र है। (देखिये 'भारतीय दर्शन की कहानी', रामनारायण लाल, बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, 1996, प्राक्कथन पृ० सं० 04.)
2. श्रुतिवाक्येभ्यो मनतव्यम् चोपपत्तिभिः ।।
मत्वा च सततं ध्येय एतं दर्शनं हेतवः ।।
उपनिषदों अथवा वेदान्त की परम्परा में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की इस प्रक्रिया को दर्शन का हेतु कहा गया है। यह तत्त्व का दर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार है।

का अभेद 'विश्लेषण' से करना युक्तिसंगत नहीं है, तथापि दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है। वस्तुतः विश्लेषण की विधि का उपयोग पाश्चात्य दर्शन का एक गुण है। विचारों की स्पष्टता के लिए विश्लेषण की इस पद्धति को भारतीय दर्शन के संदर्भ में अपनाना दर्शनशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध आक्षेप

सामान्यतया भारतीय दर्शन से प्रभावित कुछ समालोचकों ने पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध आक्षेप लगाये हैं। इनमें से यह एक अत्यन्त प्रचलित आक्षेप है कि पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी और बहिर्मुखी है। किन्तु सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन को बहिर्मुखी, सतही और भौतिकवादी कहना एक प्रकार का पूर्वाग्रह प्रतीत होता है। यह सत्य है कि पाश्चात्य दर्शन अपने उद्भव और विकास के प्रारम्भिक युग में प्रकृतिवादी, एकतत्त्ववादी (Monistic), बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त रहा है। माइलेशियन सम्प्रदाय के तीनों विचारक थेलीज, एनैक्जिमेन्डर और एनैक्जिमेनीज, ने क्रमशः जल (ह्यूल), एपीरन (Apiron) अथवा असीमित (Boundless) एवं वायु को सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भिक काल से ही बहिर्मुखी प्रवृत्ति के साथ-साथ एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की धारा भी चलती रही है। पाइथागोरस एवं एनैक्जिगोरस के दार्शनिक विचार इसके जीवंत प्रमाण हैं। पाइथागोरस के नैतिक एवं धार्मिक विचार उसकी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रमाणित करते हैं। एनैक्जिगोरस के दर्शन में नाऊस (Nous), अर्थात् चेतन बुद्धि को सृष्टि के संचालन एवं गतिशीलता के लिए आवश्यक माना गया है। उसके अनुसार अचेतन परमाणु किसी चेतन बुद्धि के अभाव में स्वतः गतिशील नहीं हो सकते हैं। यह प्राचीन ग्रीक विचारधारा की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसके अतिरिक्त सुकरात, प्लेटो, स्पिन्ोज़ा, लाइबनिज, बर्कले, काण्ट, हेगल एवं नव्य हेगलवादी दार्शनिक न तो भौतिकवादी हैं और न ही उनकी दार्शनिक मान्यताएँ सतही चिन्तन पर आधारित हैं। उनका दृष्टिकोण प्रत्ययवादी, अध्यात्मवादी एवं अन्तर्मुखी है। अतः यह आक्षेप कि 'पाश्चात्य दर्शन बहिर्मुखी एवं भौतिकवादी है', युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन धर्म और विज्ञान दोनों से प्रभावित है। सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व का पाश्चात्य दर्शन किसी न किसी रूप में धर्म से प्रभावित था। किन्तु आधुनिक युग में कुछ दार्शनिकों ने दर्शन को धर्म से अलग कर लिया। आधुनिक दर्शन की मुख्य पहचान बौद्धिकता और वैज्ञानिक दृष्टि है। इसके अतिरिक्त आधुनिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु ज्ञानमीमांसा (Epistemology) है। डेकार्ट से लेकर हेगल पर्यन्त कोई भी दार्शनिक ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की उपेक्षा न कर सका। काण्ट ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शनशास्त्र केवल

ज्ञानमीमांसा के रूप में ही संभव है। उसके अनुसार तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) के रूप में दर्शनशास्त्र असंभव है। इसके विपरीत हेगल तत्त्वशास्त्र और ज्ञानशास्त्र दोनों को परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध कर देता है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही तत्त्व है। उसे चाहे सत् (Real) कहा जाय, अथवा बौद्धिक (Rational) कहा जाय। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तत्त्वमीमांसक एफ० एच० ब्रैडले विचार और सत् के विवेचन में ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा में स्पष्ट भेद करते हैं। इस प्रकार वहाँ का कोई भी दार्शनिक ज्ञानमीमांसा की उपेक्षा नहीं करता है।

उल्लेखनीय है कि आधुनिक यूरोपीय दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ हैं जो एक-दूसरे से भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न हैं। इंग्लैण्ड की अनुभववादी एवं यथार्थवादी दार्शनिक प्रवृत्ति उसे अन्य यूरोपीय देशों (विशेष रूप से जर्मनी) की बुद्धिवादी, प्रत्ययवादी एवं आध्यात्मवादी परम्परा से पृथक् करती है। नव्य हेगलवाद के अपवाद स्वरूप ब्रैडले और टी० एच० ग्रीन के दर्शन को छोड़कर सम्पूर्ण आंग्ल-दर्शन (British Philosophy) अनुभववादी प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। 1924 ई० में ब्रैडले की मृत्यु के बाद आंग्ल दर्शन पुनः अपनी अनुभववादी एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति को अपना लेता है। इससे स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की दार्शनिक परम्परा अन्य यूरोपीय देशों की दार्शनिक परम्पराओं से भिन्न है।

पाश्चात्य दर्शन के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि वहाँ के दार्शनिकों का चिन्तन एकांगी और खण्डित है। किन्तु यह आक्षेप आलोचकों के अपने सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। पाश्चात्य दर्शन का मूल्यांकन अद्वैतवाद की दृष्टि से करना समीचीन नहीं है क्योंकि यह उसकी सम्यक् समझ में बाधक हो सकती है। वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन का मूल्यांकन करते समय पश्चिम की सांस्कृतिक परम्परा एवं जीवन-दृष्टि (प्राकृतिक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण) को ध्यान में रखना आवश्यक है। यद्यपि प्लेटो, प्लॉटिनस, स्पिनोजा, काण्ट, हेगल, ब्रैडले आदि के कुछ दार्शनिक सिद्धांत वेदान्तियों, बौद्धों एवं अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं से समानता रखते हैं, तथापि पाश्चात्य चिन्तन का ढाँचा वेदान्त अथवा भारतीय दर्शन के मॉडल पर खड़ा करना पाश्चात्य दर्शन की समालोचना के लिए तर्कसंगत नहीं है। पाश्चात्य दर्शन की अपनी एक अलग मूल्य-दृष्टि एवं भारतीय दर्शन से पृथक् पहचान है।

एक आक्षेप यह है कि पाश्चात्य दर्शन अनुभव को खण्डित रूप में ग्रहण करता है। यूरोप में अनुभववाद, बुद्धिवाद एवं प्रातिभवाद (Intuitionism) अथवा रहस्यवाद (Mysticism) की पृथक्-पृथक् धाराएँ हैं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष, अनुमान और अपरोक्षानुभूति या प्रतिभान का उपयोग किया जाता रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन में (चार्वाक दर्शन के अपवाद को छोड़कर) प्रत्यक्षवाद, तर्कबुद्धिवाद और प्रातिभवाद का अलग-अलग विचारधाराओं के रूप में विकास न हो सका। इसका कारण यह है कि यहाँ अनुभव को सर्वांगीण अथवा अखण्ड अनुभूति के रूप में स्वीकार किया

गया। अतः किसी खण्डित अनुभव के आधार पर दार्शनिक सम्प्रदायों की स्थापना न की जा सकी।

उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य परम्परा में रहस्यवाद, प्रातिभवाद या अपरोक्षानुभूति को धर्म (Religion) के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। वहाँ दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत अनुभव और तर्कबुद्धि को प्राथमिक स्थान दिया गया। अपरोक्षानुभूति पर आधारित रहस्यवादी साधना का स्थान दर्शन में नगण्य अथवा गौण है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन में प्रातिभ ज्ञान को प्रधानता दी गयी। वेदान्त और बौद्ध दोनों परम्पराओं में अपरोक्षानुभूति को प्राथमिक महत्त्व दिया गया। उसकी तुलना में प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्कबुद्धि आदि का स्थान गौण माना गया। भारत में आगनात्मक और निगमनात्मक इन दोनों ही प्रणालियों का प्रयोग परस्पर सम्बद्ध रूप में किया गया। वे एक-दूसरे से अवियोज्य हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में दर्शन की सभी शाखाओं एवं विधाओं का विवेचन एक साथ चलता रहा है। इसके विपरीत पश्चिम में दर्शन की सभी शाखाओं का अध्ययन अलग-अलग विधा के रूप में किया जाता रहा है।

पाश्चात्य दर्शन में सोफिस्टों के युग से ही राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का भी विवेचन होता रहा है। इसके अतिरिक्त सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की ग्रीक परम्परा से लेकर अर्वाचीन दार्शनिक चिंतन तक लोकजीवन की समस्याओं और शास्त्रों (विज्ञानों) का विवेचन और मूल्यांकन होता रहा है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन सर्वत्र सूक्ष्म अनुशीलन एवं विवेचन से सम्बन्धित रहा है।

अपने चिन्तन में भारतीय दार्शनिक समाज और राजनीति की समस्याओं को सम्मिलित नहीं करते हैं। यहाँ लोक जीवन की समस्याओं का विवेचन अर्थशास्त्र, वार्ताशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों ने लौकिक विषयों पर उतना अधिक विचार नहीं किया जितना कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने किया। पश्चिमी परम्परा में व्यवहार और परमार्थ के बीच में अधिक अन्तराल अथवा 'अलंघ्य भेद' नहीं है। इस प्रकार वे व्यावहारिक (प्राकृतिक) जगत् की उपेक्षा नहीं करते हैं, बल्कि इसे ही अपने दर्शन का प्रमुख विषय मानते हैं।

इस स्थल पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि पाश्चात्य दर्शन भी अपने चिन्तन की पराकाष्ठा में व्यावहारिक (प्राकृतिक) जगत् से परे, अर्थात् लोकोत्तर (पारमार्थिक) हो जाता है किन्तु पश्चिम के विचारक प्राकृतिक जगत् को मिथ्या एवं अशुभ नहीं मानते हैं। अरस्तू, लाइबनिट्ज, हेगल आदि ने जड़ जगत्, वनस्पति जगत्, पशु जगत्, मानव-जगत् और उससे परे अतीन्द्रिय एवं पारमार्थिक जगत् के विकास का जो मॉडल प्रस्तुत किया है, उसमें प्राकृतिक जगत् तथा लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गयी है। प्रायः सभी पाश्चात्य दार्शनिक इस जगत् को ईश्वर की सर्वोत्तम रचना कहते हैं। वे इस जगत् को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस प्रकार उनका जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण आशावादी है। वे इस जगत् को

सुखमय, आनन्दमय एवं समस्त उपलब्धियों की प्राप्ति का आधार मानते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि पश्चिमी विचारक विकास-यात्रा की समाप्ति केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं मानते हैं। मानव-जगत् के बाद भी विकास-प्रक्रिया का सातत्य उनके आशावादी दृष्टिकोण का द्योतक है। पाश्चात्य दर्शन की यह आशावादी सोच मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के लिए प्रेरणाप्रद और उत्साहवर्धक है।

(स)

संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण

ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन को विभिन्न कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है। किन्तु इनमें चार बृहद् काल खण्ड (युग) प्रमुख हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(1) ईसाई धर्म के विकास से पूर्व का युग (प्राचीन ग्रीक दर्शन)—इस युग का प्रारम्भ माइलेशियन सम्प्रदाय के प्रथम विचारक थेलीज (624 ई०पू० से 550 ई०पू०) के दार्शनिक चिन्तन से प्रारम्भ होता है। इस युग के अन्तिम दार्शनिक नव्य-प्लेटोवादी प्लॉटिनस (204 ई० से 270 ई०) को माना जा सकता है। इस युग को दार्शनिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से पुनः चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है:—

(अ) सोफिस्टों के पूर्व का युग (Pre-Sophistic Period)—इस युग का दार्शनिक चिन्तन प्रकृति के स्वरूप की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। इस युग का दर्शन मुख्य रूप से प्रकृतिवादी (Naturalistic) और एकतत्त्ववादी (Monistic) है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रकृति और उसके बाद मानव-जीवन के स्वरूप एवं प्रयोजन का निरूपण प्रकृति के आलोक में किया गया है। मालेशियन सम्प्रदाय के दार्शनिकों में थेलीज, एनॉक्जिमेन्डर और एनैक्जिमेनीज ने क्रमशः जल (ह्यूल), असीमित द्रव्य (एपिरन) और वायु को मूलतत्त्व और सृष्टि का आधार माना है। पाइथागोरस ने संख्या को, पार्मेनाइडीज ने सत् (Being), हेराक्लाइटस ने संभूति (Becoming), ल्युसिपस और डिमोक्रिटस ने परमाणुओं को सृष्टि के उद्भव के लिए मूल तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया। इससे स्पष्ट है कि इस युग के विचारकों ने सृष्टि की व्याख्या के लिए किसी एक ही तत्त्व का सहारा लिया। इनमें से कोई भी तत्त्व दैवी अथवा अलौकिक (Divine or Supernatural) नहीं है। किन्तु एनेक्जोगोरस ने सृष्टि के कारण के रूप में एक चेतन बुद्धि (नाउस) को स्वीकार किया क्योंकि जड़ (अचेतन) परमाणुओं में स्वतः गति नहीं हो सकती है। इस प्रकार सोफिस्ट-पूर्व युग का ग्रीक दर्शन प्राकृतिक एवं बहिर्मुखी दृष्टि से प्रारम्भ होता है। किन्तु धीरे-धीरे चेतन-बुद्धि, अर्थात् मनुष्य के जीवन एवं प्रयोजन

की ओर उन्मुख होता है। यह एक प्रकार से बहिर्मुखी प्रवृत्ति से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर संक्रमण का द्योतक है।

(ब) सोफिस्टों का युग—इसे मानववादी युग के नाम से जाना जाता है। यह युग अत्यंत क्रान्तिकारी, मानववादी, संशयवादी एवं तत्त्वमीमांसीय चिंतन के प्रति तटस्थ है। इस युग के दार्शनिकों में प्रोटागोरस, जार्जियस एवं उनके अनुयायियों के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार मानव-बुद्धि जगत् की समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं है। सोफिस्ट विचारकों ने मनुष्य को केन्द्र में रख करके ज्ञान और आचरण की समस्याओं का विवेचन किया है। उनके अनुसार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता और शुचिता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग में शिक्षा के व्यवसायीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला। वे शिक्षा, राजनीति, नैतिकता, कला आदि को मानव-केन्द्रित मानते हैं। किन्तु वे ज्ञान, नैतिकता और सत्य के सार्वभौम मानदण्डों को न खोज सकें। इस कारण परवर्ती दार्शनिकों ने सोफिस्टों की कटु आलोचना किया।

(स) सुकरात का युग—इसे रचनात्मक दर्शन का युग कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सुकरात और उसकी परम्परा के दार्शनिकों में प्लेटो और अरस्तू के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग के दार्शनिकों ने पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किया। उन्होंने संशयवाद की आपत्तियों से ज्ञान, सत्य, शुभ, सुन्दर, न्याय आदि के स्वरूप की प्रतिरक्षा करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। इसके अतिरिक्त इस युग में नैतिक जीवन के विज्ञान, सद्गुण, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र (Poetics), तत्त्वमीमांसा आदि की तार्किक व्याख्या और मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया। प्रायः इस युग के दार्शनिकों की चिन्तन-पद्धति बुद्धिवादी है। इस युग में साहित्य, कला और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रचुर उन्नति हुई एवं 'सत्ता' तथा 'मूल्य' में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया।

इस युग के दार्शनिकों का दृष्टिकोण समालोचनात्मक एवं मूल्यात्मक (Evaluative) रहा है। इस युग में सत्य के अनुसंधान के लक्ष्य को ध्यान में रखकर बुद्धि की क्षमताओं एवं कुशलता का निरूपण किया गया। यदि इस युग को 'ग्रीक दर्शन का स्वर्ण युग' कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि इस युग में, अर्थात् प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में ग्रीक विचारधारा का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है।

(द) अरस्तू के बाद का युग (Post Aristotelian Period)—अरस्तू के बाद ग्रीस की अवनति प्रारम्भ हो गयी। वहाँ के नागरिकों का जीवन अशान्तिमय एवं अव्यवस्थित रहा। मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास क्षीण होने लगा। बाह्य जीवन में सुख और शान्ति के अभाव को देखकर लोग अपने आन्तरिक जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करने का प्रयास करने लगे। कुछ दार्शनिकों ने सुकरात के दर्शन की एकांगी व्याख्या करके अपनी-अपनी सुविधानुसार पृथक्-पृथक् सिद्धांतों

का प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया। इनमें से सिरिनाइक सम्प्रदाय, सिनिक सम्प्रदाय, मेगारी, स्टोइक और सन्देहवादी सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त इस युग में नव्य-प्लेटोवाद का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस युग के सिद्धांतों की स्थापना एथेन्स, अलेक्जेंड्रिया (सिकन्दरिया) और रोम में हुई। नव्य-प्लेटोवाद के दर्शन पर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के दर्शन का प्रभाव है। इस युग के दार्शनिक चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं—नैतिक एवं ईश्वरमीमांसीय। जेनो (स्टोइक) और एपीक्यूरोस ने नैतिक आचरण से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया। जैसे—सर्वोच्च श्रेय क्या है ? इस संदर्भ में एपीक्यूरोस और जेनो के मतों में अन्तर है। एपीक्यूरोस ने आनन्द को तथा जेनो ने सद्गुणी जीवन (Virtuous Life) को जीवन का निःश्रेयस माना है। ये दोनों दार्शनिक एवं उनके अनुयायी तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा की समस्याओं में गहरी रुचि रखते हैं। सिकन्दरिया में विकसित ग्रीक दर्शन प्राच्य धर्मों से प्रभावित है। यह अपने पूर्ण विकसित रूप में नव्य प्लेटोवाद में परिणत हो गया। प्लॉटिनस ने सृष्टि की व्याख्या ईश्वर के निष्क्रमण (Emnation) के रूप में की है। प्लॉटिनस ग्रीक विचारधारा के अन्तिम महत्त्वपूर्ण दार्शनिक थे। उसके अनुयायियों ने कुछ समय तक नव्य-प्लेटोवाद की विचारधारा को अकादमी में जीवित बनाये रखा। किन्तु उस समय के शासन ने अकादमी को बन्द करके इस प्रकार के दर्शन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार ग्रीक दर्शन का अन्त हो गया।

(2) ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित मध्य युग का दर्शन—पाश्चात्य दर्शन के विकास का द्वितीय चरण मध्यकालीन दर्शन के नाम से जाना जाता है। यह युग अकादमी के बन्द होने, अर्थात् 600 ई० से 1500 ई० तक माना जाता है। इसका समय पुनर्जागरण काल तक माना जा सकता है। इस युग के दार्शनिकों के चिन्तन पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव है। चर्च की सर्वोच्चता का वर्चस्व शिक्षा, राज्य और समाज पर हावी (प्रभावी) रहा। इस काल में चर्च को पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता मिली। राज्य के द्वारा बनाया गया कोई कानून चर्च की मान्यताओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। यह एक प्रकार से धर्मनिगडित (Theocratic) राजतंत्र का युग है। ईसाई धर्म के विकास की प्रारम्भिक अवस्था पैट्रिस्टिक युग के नाम से जानी जाती है। इस युग में प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद का प्रभाव ईसाई दार्शनिकों के चिन्तन पर उपलक्षित होता है। इस काल के प्रतिनिधि दार्शनिकों में सन्त आगस्टाइन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सन्त आगस्टाइन के समकालीन दार्शनिकों को अरस्तू के दर्शन की बहुत कम जानकारी थी। अरस्तू के विचारों की जानकारी यूरोप को बारहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। अरबी भाषा से, लैटिन में अनूदित विचारों के माध्यम से मध्य युग के यूरोपियन विचारकों को अरस्तू के दर्शन का ज्ञान होने लगा था। ईसाई धर्म के विकास का यह द्वितीय चरण शास्त्रीय युग (Scholastic Period) के नाम

से जाना जाता है। इस काल में ईसाई धर्म के सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या करने का प्रयास किया गया। इस युग में भी कैथोलिक ईसाई धर्म का वर्चस्व कायम रहा। आध्यात्मिक विषयों में चर्च के माध्यम से ईश्वरीय आदेश लागू हो सकते हैं। पोपों और पादरियों ने चर्च का सहारा लेकर अपने पद का दुरुपयोग किया। इस युग के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में सन्त थामस एक्विनास का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। मध्यकाल की दार्शनिक परम्परा में दैवी प्रकाशना (Revelation) और आस्था (Faith) का प्रमुख स्थान है। इस युग में दैवी प्रकाशना की तुलना में तर्कबुद्धि (Reason) का स्थान गौण रहा। इसलिए इसे 'दर्शन के अन्धकार का युग' कहा गया है।

(3) आधुनिक युग—पुनर्जागरण काल की विचारधाराओं से विकसित दार्शनिक चिन्तन मध्यकाल और आधुनिक काल की एक विभाजक रेखा के समान है। आधुनिक युग के विकास में वैज्ञानिक प्रगति और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका महत्वपूर्ण है। यह युग यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का युग है। इस काल के वैज्ञानिक अनुसंधानों से धार्मिक अंधविश्वासों को गहरा आघात पहुँचा। यह पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवीं से आधुनिक युग पर्यन्त दार्शनिक प्रवृत्तियों के विकास से सम्बन्धित है। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की उपलब्धियों ने इस युग के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की विचार-पद्धति और जीवन एवं जगत् के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया।

विज्ञान, दर्शनशास्त्र और कला की प्रगति ने रूढ़िवादी मान्यताओं को हतोत्साहित किया। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहन मिला। विज्ञान और दर्शन दोनों सत्य की खोज के लिए स्वतंत्र बौद्धिक अनुशीलन की दिशा में अग्रसर हुए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बुद्धि को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त हुई। इसके फलस्वरूप दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में चर्च और पोप का वर्चस्व समाप्त होने लगा। आधुनिक दर्शन की प्रमुख विशेषता इसकी बौद्धिकता, वैज्ञानिकता और प्रकृतिवाद है। आधुनिक दर्शन को इस दृष्टि से प्रकृतिवादी कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में प्राकृतिक जगत् के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए किसी अलौकिक या दैवी सत्ता को एक पूर्वमान्यता एवं धर्मग्रन्थों के आधार पर स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि इस युग में अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है, तथापि वे ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तार्किक युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं। वे ईश्वर को किसी दैवी प्रकाशना एवं धर्मग्रन्थ के आधार पर नहीं मानते हैं। वस्तुतः आधुनिक दर्शन विज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है।

कुछ समालोचकों ने यूबरबेग के बाद आधुनिक दर्शन को अधोलिखित तीन लघु खण्डों में विभाजित किया है—

(अ) पुनर्जागरण काल (संक्रमणकाल)—इसका प्रारम्भ 1453 ई० से होता है। इस काल में साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में सुधार हुआ।

(ब) मौलिक विचारों का युग—इसके अन्तर्गत डेकार्ट से लेकर ह्यूम तक के विचारों का उद्भव और विकास हुआ। इस युग का दार्शनिक चिन्तन चर्च एवं धर्म (Religion) से पूर्ण स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ। यद्यपि इस काल के अधिकांश दार्शनिक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, तथापि उनके द्वारा ईश्वर की सत्ता को मानना किसी मताग्रह (Dogma) एवं धार्मिक अंधविश्वास पर आधारित नहीं है। वे अपने-अपने दार्शनिक मतों की स्थापना के लिए तर्क देते हैं। इस प्रकार के दार्शनिक अपने चिन्तन की मौलिकता पर विशेष बल देते हैं।

(स) अर्वाचीन युग—आधुनिक दर्शन के अन्तर्गत अर्वाचीन दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग की प्रमुख विचारधारा काण्ट का आलोचनात्मक दर्शन है। इस युग को काण्ट के विचारों से प्रभावित युग कहा जा सकता है क्योंकि काण्ट के बाद का कोई दार्शनिक, चाहे वह काण्ट का समर्थक हो अथवा काण्ट का विरोधी हो, उसके आलोचनावाद की उपेक्षा न कर सका। यह युग रूढ़िवाद (Dogmatism), अनुभववाद (Empiricism), संशयवाद (Scepticism) एवं विज्ञान तथा यूक्लिड की ज्यामिति से प्रभावित होकर विकसित होता है। इसके अतिरिक्त इस युग की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति हेगल एवं नव्य हेगलवाद के विचारों पर आधारित है। हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद ने जर्मनी के साथ-साथ इंग्लैण्ड, इटली, अमेरिका आदि अनेक देशों के दार्शनिकों को प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप प्रत्ययवाद इस युग की एक प्रमुख विचारधारा के रूप में यूरोपीय देशों में स्थापित हो जाता है। इटली में नव्य प्रत्ययवाद के प्रमुख समर्थक क्रोचे (Croce) तथा जेन्टिले (Gentile) रहे हैं। अमेरिका में जोसिया रायस इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। क्रोचे का दर्शन ऐतिहासिक प्रत्ययवाद और जेन्टिले का मत वास्तविक प्रत्ययवाद (Actual Idealism) के नाम से जाना जाता है। हेगल के दर्शन से प्रभावित होते हुए भी उनका मत हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद से भिन्न है।

किन्तु हेगलीय निरपेक्ष प्रत्ययवाद, सर्वबुद्धिवाद एवं द्वन्द्वन्याय के विरुद्ध दर्शन जगत् में एक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया भी हुई। अमेरिका में अर्थक्रियावाद एवं उत्कट अनुभववाद, प्रयोगवाद, मानववाद एवं व्यक्तिवाद की स्थापना हुई। इसी प्रकार अस्तित्ववाद, अन्तःप्रज्ञावाद (Intuitionism) आदि विचारधाराएँ हेगलीय सर्वबुद्धिवाद के विरुद्ध हैं। वे बुद्धिवाद के विपरीत अनुभूति पक्ष पर अधिक बल देती हैं। शोपेनहावर और नीत्शे से प्रभावित दार्शनिकों ने प्राणवान जीवन्त अनुभव की अपेक्षा बुद्धि को कम महत्त्व दिया। यद्यपि एफ०एच० ब्रेडले और हेनरी बर्गसाँ बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक हैं, तथापि वे अर्वाचीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। इन दोनों दार्शनिकों का बुद्धि के प्रति दृष्टिकोण शोपेनहावर और नीत्शे से प्रभावित प्रतीत होता है। यहाँ तक कि ब्रेडले भी हेगले की बुद्धि विषयक इस अवधारणा को स्वीकार नहीं करता है कि 'बुद्धि सर्वोच्च सत्ता है' अथवा 'सत्ता

1. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, संपादक प्रो० दयाकृष्ण (देखिये पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग, पृ० (XVIII-XX).

और बुद्धि एक हैं।¹ अर्वाचीन दर्शन का महत्त्व इस दृष्टि से है कि यह आधुनिक दर्शन और समकालीन दर्शन के मध्य एक सेतु अथवा कड़ी है। इसके अन्तर्गत आधुनिक दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी तार्किक युक्तियों के साथ-साथ बीसवीं शताब्दी के तार्किक परमाणुवादियों और तार्किक भाववादियों के द्वारा अपनायी गयी वैज्ञानिक दृष्टि का भी समावेश हुआ है। इस युग की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों में आलोचनावाद, जर्मन प्रत्ययवाद और उससे प्रभावित नव्य- हेगलवाद, अमेरिका का अर्थक्रियावाद (Pragmatism), बर्गसों का प्राणवाद आदि उल्लेखनीय हैं। यह एक प्रकार से विचारधाराओं का युग है। यद्यपि ये विचारधाराएँ एक-दूसरे से पृथक् हैं, तथापि उनका उद्भव और विकास एक-दूसरे से घात-प्रतिघात से प्रभावित होकर हुआ है।

(4) समकालीन दर्शन—इसका सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी में विकसित दार्शनिक प्रवृत्तियों से है। समसामयिक दार्शनिक चिन्तन की नींव विज्ञान और गणित पर आधारित है। इस युग के अधिकांश दार्शनिक परम्परागत दर्शन में प्रचलित तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा आदि का खण्डन करते हैं। इस युग की सर्वाधिक प्रसिद्धि तार्किक परमाणुवाद, तार्किक भाववाद, साधारण भाषा दर्शन, विश्लेषी दर्शन, संवृत्तिशास्त्र (Phenomenology) एवं अस्तित्ववाद के कारण है। इस युग के विश्लेषी दार्शनिक इस बिन्दु पर सहमत हैं कि तत्त्वमीमांसीय कथन निरर्थक हैं। चूँकि तत्त्वमीमांसीय संप्रत्ययों को वैज्ञानिक विधि के द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता है, इसलिए तत्त्वमीमांसीय कथन निरर्थक हैं। तत्त्वमीमांसा की समस्याएँ वास्तविक नहीं हैं, बल्कि वे छद्म (Pseudo) समस्याएँ (समस्याभास) हैं। अब दर्शनशास्त्र का कार्य भाषा की समालोचना, विश्लेषण, तार्किक वाक्य-विन्यास का स्पष्टीकरण एवं भाषा के अर्थविज्ञान (Semantics) तक सीमित रह गया। अब दर्शन का लक्ष्य सत्य और ज्ञान, सद्गुणों और नैतिक मूल्यों की खोज नहीं रहा। तार्किक भाववादियों ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शनशास्त्र का विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य अथवा प्रयोजन नहीं है। दर्शन विश्लेषण है अथवा विश्लेषण दर्शन है। दार्शनिकों का उत्तरदायित्व यह है कि वैज्ञानिक सिद्धांतों में सामुञ्जस्य है अथवा नहीं, उन सिद्धांतों को स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया जा सकता है अथवा नहीं? वे इन प्रश्नों पर विचार करें। इस प्रकार वे विज्ञानों की भाषा का तार्किक विश्लेषण एवं व्याख्या करने तक सीमित रह गये। बीसवीं शताब्दी के विश्लेषी दार्शनिक न तो तत्त्वमीमांसक रह गये और न मूल्यमीमांसक रह गये। यहाँ तक कि वे ज्ञानमीमांसक भी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि उनकी अभिरुचि परम्परागत ज्ञानमीमांसा की समस्याओं में नहीं थी। अधिक से अधिक उन्हें वाक्यमीमांसक कहा जा सकता है।

इस युग के अधिकांश दार्शनिकों ने मूल्यों को मानसिक संरचना के रूप में स्वीकार किया। मूल्य संवेगात्मक होते हैं। संवेगों के समान मूल्यों का भी उद्भव और विकास होता है। इस प्रकार मूल्यों को स्थिर एवं शाश्वत रूप से सत् नहीं

कहा जा सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मूल्य मानव-व्यक्तित्व की अभिरूचि और दृष्टिकोण पर आश्रित होते हैं। मूल्यों की समुचित व्याख्या दर्शन की अपेक्षा समाज-मनोविज्ञान के द्वारा की जा सकती है। विज्ञान से प्रभावित बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र को विज्ञान पर आश्रित बना दिया। इसके फलस्वरूप दार्शनिक की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है, किन्तु अस्तित्ववादियों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

यद्यपि अस्तित्ववादियों ने मानव-अस्तित्व और स्वतंत्रता पर, मनुष्य के प्रामाणिक अस्तित्व और स्वानुभूतिपरक सत्य अथवा सत्य की आत्मनिष्ठता पर बल दिया, तथापि वे इस युग के दर्शन का उद्धार न कर सके। उनका दार्शनिक चिन्तन निर्बल है क्योंकि वे तत्त्वमीमांसा, मूल्यमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को सुदृढ़ और व्यवस्थित ढंग से स्थापित न कर सके। यह अवश्य है कि अस्तित्ववादियों ने दार्शनिक अनुशीलन को विज्ञान की चहारदीवारी एवं यांत्रिकता से मुक्त करके उसे मानव-जीवन की मौलिक अनुभूतियों के निकट लाने का प्रयास किया। बीसवीं शताब्दी के एक विचारक एडमण्ड हुसर्ल की संवृत्तिशास्त्रीय विधि दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसके अनुसार दर्शन का लक्ष्य विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक है। इसी कारण दार्शनिक सिद्धांत अत्यन्त व्यापक दृष्टि पर आधारित होते हैं। हुसर्ल ने ग्रीक दर्शन की प्रमुख विशेषता सार्वभौमिकता को अपनी दार्शनिक पद्धति में सम्मिलित करने का प्रयास किया। दर्शन का कार्य केवल विश्लेषण तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यह दर्शन की समग्र समझ के लिए उपयुक्त नहीं है। इस दृष्टि से हुसर्ल डेकार्ट की प्रशंसा करता है। डेकार्ट ने अपनी सन्देह पद्धति में विश्लेषण के साथ-साथ संश्लेषण का भी समावेश किया।

इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुशीलन को केवल तार्किक और भाषित विश्लेषण तक सीमित नहीं किया जा सकता है। यद्यपि विचारों में स्पष्टता के लिए विश्लेषण की विधि का उपयोग करना समीचीन है, तथापि यह न तो दर्शन से अभिन्न है और न इसे अपने आप में दर्शन का साध्य माना जा सकता है। वस्तुतः दर्शनशास्त्र और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों की दृष्टि संज्ञानात्मक (Cognitive) होती है। दार्शनिक पद्धति चिन्तन की एक स्वतंत्र विधा है जो विज्ञान से भिन्न होती है। विज्ञान का दृष्टिकोण तथ्यात्मक, भावात्मक और विवरणात्मक होता है। इसके विपरीत दार्शनिक चिन्तन मूल्यात्मक, समालोचनात्मक और निकषमीमांसीय (Criteriological) होता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न संज्ञानों की सत्यता एवं असत्यता, युक्तियों की वैधता एवं अवैधता, कर्मों के औचित्य एवं अनौचित्य इत्यादि के मूल्यांकन के लिए विभिन्न प्रकार के निकषों (कसौटियों), प्रतिमानों (Paradigms) और मानदण्डों की समीक्षा, विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। किन्तु दर्शन का कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों में अन्तर्संबन्धों की खोज की जाती है।

इस प्रकार दर्शन के लिए विश्लेषण और संश्लेषण दोनों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः दर्शन का लक्ष्य समग्र दृष्टि प्राप्त करना है। इस दृष्टि से प्रज्ञात्मक ज्ञान और मूल्यबोध दर्शन के मुख्य विषय हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान से लाभ उठाना इस युग में दार्शनिकों के लिए भी स्वाभाविक है, परन्तु दर्शन केवल विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने विज्ञान के महत्त्वपूर्ण संप्रत्ययों के आधार पर दार्शनिक सिद्धांतों की रचना करने का प्रयास किया। इस प्रकार के दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए समसामयिक दर्शन में विज्ञान के दर्शनशास्त्र (Philosophy of Science) का विकास हुआ। विज्ञान का दर्शनशास्त्र एक रचनात्मक दर्शन है। इस संदर्भ में जॉन निकोड, कार्ल रायमण्ड पॉपर (K.R. Popper), कार्ल जी० हेम्पेल, नेल्सन, गुडमैन, क्वाइन आदि के दार्शनिक अवदान महत्त्वपूर्ण हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक पाश्चात्य दर्शन की एक विचारधारा विज्ञान, गणित और तर्कशास्त्र से प्रभावित है। किन्तु इस युग की एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो विज्ञान और गणित से भिन्न रूप में मनुष्य के संकल्पों, क्रियाओं, संवेगों और अनुभूतियों पर आधारित दार्शनिक चिन्तन पर बल देती है।

इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन का एक दीर्घकालिक एवं बहुआयामी इतिहास है। पाश्चात्य दर्शन आज सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित हो चुका है। कोई भी संस्कृति इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती है। आज के बदलते हुए विश्व एवं वैश्वीकरण के इस युग में विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं का परस्पर संवाद होना स्वाभाविक हो गया है। आज हमें पाश्चात्य और प्राच्य दार्शनिक विचारधाराओं की उत्कृष्टता के विवाद में न उलझकर उनके लोक कल्याणकारी पक्षों को ग्रहण करने की आवश्यकता है। इन दोनों दार्शनिक प्रवृत्तियों की समानताएँ उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती हैं, जबकि उनके मतभेद एवं अन्तर उन्हें एक-दूसरे का पूरक बनाते हैं।



सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन

सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन यूरोप के बौद्धिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के विकास में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन ग्रीक विचारकों का दृष्टिकोण जीवन और जगत् के प्रति निष्पक्ष, तार्किक और यथार्थवादी है। अपने निष्पक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण वे जगत् की पौराणिक (Mythological) व्याख्या न करके, उसका निरूपण बौद्धिक एवं प्राकृतिक दृष्टिकोण से करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों ने ही सर्वप्रथम मानव के लिए दार्शनिक अनुशीलन की स्वतन्त्रता और बौद्धिक स्वायत्तता का पथ-प्रशस्त (मार्ग-दर्शन) किया। वे जगत् के उद्भव और विकास की सैद्धान्तिक व्याख्या करने के साथ-साथ जीवन के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण भी अपनाते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रीक दर्शन वैचारिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ स्वेच्छानुसार जीवन-यापन की दृष्टि भी प्रदान करता है। इस युग के दार्शनिकों में दार्शनिक जीवन का खुलापन और सहजता पायी जाती है। उनके लिए दर्शन एक जीवन-पद्धति है। उनमें धार्मिक रूढ़िवादिता एवं कट्टरता का अभाव है। इसी कारण जगत् की बौद्धिक और प्रकृतिवादी व्याख्या संभव हो सकी। धर्म-सापेक्ष नैतिकता के अभाव में लोगों के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन में आने वाली रिक्तता की पूर्ति भी व्यावहारिक दर्शन के द्वारा ही हुई। वस्तुतः ग्रीक दर्शन का विकास काव्य और कला की भाँति एक स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में हुआ। यह धर्म के मताग्रहों से बोझिल नीतिशास्त्र और चर्च की शक्ति से नियन्त्रित नहीं है। संभवतः इसीलिए स्टेस कहता है कि होमर की कविताओं, एथेन्स के सर्वोत्कृष्ट नाटकों और पेरिक्लीज की कला की भाँति ग्रीक-मनीषा की यह कृति (विचारधारा) आज भी हमारे समक्ष अमिट नवीनता के साथ विद्यमान है।¹ इससे स्पष्ट है कि ग्रीक दर्शन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था प्रकृतिवादी है। ग्रीक विचारकों की स्वाभाविक अभिरुचि किसी घटना के प्राकृतिक कारणों की खोज करने में थी। वे किसी घटना के कारण के रूप में आध्यात्मिक शक्तियों का सहारा नहीं लेते थे। उनके इस दृष्टिकोण का उस युग के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रचलित आस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा।

ग्रीक दर्शन के प्रारम्भिक दौर में थेलीज (624 ई. पू. — 550 ई. पू.) ने जल को, एनैक्जिमेन्डर (611—547 ई. पू.) ने 'एपिरन' (Apiron), अर्थात् असीमित द्रव्य (Boundless) को और एनैक्जिमेनीज (588-524 ई. पू.) ने वायु को सृष्टि का मूल आधार माना। ये तीनों विचारक आयोनिक सम्प्रदाय या माइलेशियन स्कूल (Miletion School) से सम्बन्धित रहे हैं। माइलेशियन सम्प्रदाय के इन तीनों प्रमुख विचारकों में से एनैक्जिमेन्डर का 'एपिरन' (Apiron) अर्थात् 'असीमित तत्त्व' की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण है। उसके चिन्तन

1. A critical History of Greek Philosophy, W.T. Stace, p. 18.

2/पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

में एक सार्वभौम और वैज्ञानिक दृष्टि विद्यमान है। वह किसी विशिष्ट पदार्थ (जैसे, वायु या जल) को सृष्टि का मूल आधार नहीं मानता है। वस्तुतः उसकी अभिरुचि जगत् के एक सार्वभौम कारण की खोज करने में थी। किन्तु माइलेशियन सम्प्रदाय के बाद आने वाले पाइथागोरस का चिन्तन इस विचारधारा से भिन्न है। गणित-प्रेमी होते हुए भी पाइथागोरस के चिन्तन और व्यावहारिक जीवन पर रहस्यवादी आर्फिक सम्प्रदाय का गहन प्रभाव पड़ा। पाइथागोरस आत्मा के आवागमन सिद्धान्त में विश्वास करता है। किन्तु पाइथागोरस के समय तक पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर की अवधारणा का सम्यक् विकास नहीं हो पाया था। इन विचारकों के लिए उनके द्वारा मान्य जल (थेलीज), एपिरन (एनैक्जिमेन्डर), वायु (एनॉक्जेमेनीज) और संख्या (पाइथागोरस) ही परम सत् या परम तत्त्व हैं।

पाइथागोरस (छठीं शताब्दी ई०पू०) ने 'संख्या' (Number) को सृष्टि की उत्पत्ति का आधार माना है। पाइथागोरस ने कुछ विरोधी तत्त्वों की सूची प्रस्तुत की है जिससे इस जगत् का उद्भव हुआ है। इस दृष्टि से संख्या की मूल इकाइयाँ दो प्रकार की हैं, जिन्हें क्रमशः विषम (Odd) और सम (Even) संख्या कहा जाता है। विषम और सम क्रमशः सीमित और असीमित से सम्बन्धित है। चूँकि विषम संख्या का विभाजन दो से नहीं हो सकता है, इसलिए यह सीमित है। इसके विपरीत सम संख्या का दो से विभाजन करने पर उसके विभाजन का कहीं अन्त नहीं हो सकता है इसलिए यह असीमित होती है। पाइथागोरस के अनुसार सीमित और असीमित, विषम और सम, एक और अनेक, दायाँ-बाँयाँ (Right and Left), पुल्लिंग और स्त्रीलिंग (Masculine and Feminine), स्थिरता और गति (Rest and Motion), सरल एवं वक्र (Straight and Crooked), प्रकाश एवं अन्धकार (Light and Darkness), शुभ और अशुभ (Good and Evil) तथा वर्ग और आयत (Square and Oblong) ऐसे परस्पर विरोधी युग्म हैं जिनसे इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। उल्लेखनीय है कि पाइथागोरस और उसके अनुयायियों ने सर्वप्रथम इस मान्यता का प्रतिपादन किया कि विश्व का केन्द्र पृथ्वी नहीं, बल्कि एक केन्द्रीय अग्नि है। इस केन्द्रीय अग्नि के चारों ओर पृथ्वी और सूर्य दोनों परिभ्रमण करते हैं। किन्तु आगे चलकर प्लेटो और अरस्तू ने इसे अस्वीकार कर दिया। अरस्तू के अनुसार विश्व का केन्द्र सूर्य अथवा कोई अन्य केन्द्रीय अग्नि नामक चीज नहीं है। उसने पृथ्वी को ही विश्व का केन्द्र घोषित किया। पाइथागोरस के मत का प्रचार-प्रसार उसके बाद भी होता रहा। उल्लेखनीय है कि पाइथागोरस ने अपने नाम से एक समाज की स्थापना किया जिसे 'पाइथागोरसीय-समाज' (Pythagorean Society) के नाम से जाना जाता था। पाइथागोरसीय समाज के धार्मिक और नैतिक विचार अत्यन्त कठोर और त्यागपरक थे। वे बाह्य आचरण की पवित्रता के साथ आन्तरिक जीवन की शुद्धता (आत्म-शुद्धि) पर भी बल देते थे। उनका प्रमुख लक्ष्य धार्मिक और नैतिक सुधार था। पाइथागोरस और उसके अनुयायियों पर 'आर्फिक-सम्प्रदाय' (Orphic School) की धार्मिक और नैतिक मान्यताओं का गहरा प्रभाव पड़ा। पाइथागोरस को आत्मा के आवागमन-सिद्धान्त (Theory of Transmigration) का प्रवर्तक माना जाता है। उनके अनुसार शरीर आत्मा का बन्दीगृह है। मानवात्मा एक दैवी सम्पत्ति है। वस्तुतः प्राचीन ग्रीक विचारकों का चिन्तन बहिर्मुखी था। वे जीवन और जगत् के उद्भव और विकास का आधार प्राकृतिक दृष्टि से खोजते थे। किन्तु पाइथागोरस गणित-प्रेमी

होने के साथ-साथ धर्मपरायण एवं नैतिक जीवन के समर्थक हैं। इस प्रकार अन्य संस्कृतियों के समान पाश्चात्य दर्शन में भी एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की झलक पाइथागोरस के दर्शन में मिलती है। पाइथागोरस के अनुयायियों ने इस प्राकृतिक जीवन के साथ-साथ एक दैवी जीवन में भी आस्था व्यक्त किया। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारधारा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था से ही बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही हैं।

इलियाई विचारधारा ग्रीक दर्शन की प्रारम्भिक अवस्था का एक परिष्कृत चिन्तन है। इस सम्प्रदाय के विचारक जेनोफेनीज (576 ई. पू.) ने यूनानी धर्म में प्रचलित बहुदेववाद (Polytheism) का खण्डन किया। यहाँ तक कि उसने इलियड के लेखक होमर और एक अन्य विचारक हेसियोड की इस बात के लिए कटु आलोचना किया क्योंकि इन मनीषियों ने अनेक देवी और देवों के बारे में निराधार कहानियाँ (पौराणिक गल्प) बनाकर उनका मिथ्या प्रचार किया। इससे समाज का धार्मिक दृष्टिकोण दूषित एवं गुमराह हुआ। प्रायः समाज के साधारण लोग यही सोचते हैं कि ईश्वर उनके ही समान हैं। इस संदर्भ में जेनोफेनीज का यह व्यंग्यात्मक कथन प्रसिद्ध है — “यदि बैलों, घोड़ों और शेरों के हाथ मनुष्यों के समान होते और वे उन हाथों से चित्र बना सकते तो ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़े और शेर के रूप में चित्रित करते।” उसने अनेक देवी-देवताओं की सत्ता का खण्डन करके एक ही ‘ईश्वर’ में आस्था व्यक्त किया। इससे स्पष्ट है कि उसने रूढ़िवादी एवं पौराणिक गल्पों पर आधारित धार्मिक मान्यताओं का निराकरण करके तार्किक आधार पर ‘ईश्वर’ की मान्यता को स्वीकार करने पर बल दिया। उसका भी दृष्टिकोण पूर्णतया बौद्धिक चिन्तन पर आधारित है। किन्तु हमें जेनोफेनीज के चिन्तन में कोई व्यवस्थित दर्शन नहीं मिलता है। इलियाई सम्प्रदाय को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में स्थापित करने का श्रेय पार्मेनाइडीज (520 ई. पू.) को है। उनके अनुसार सृष्टि का मूल आधार एक अपरिवर्तनशील, अद्वितीय, अविनाशी और कूटस्थ विशुद्ध सत्ता (Being) है। विश्व में दृश्यमान गति, परिवर्तन आदि एक इन्द्रियजन्य भ्रम है। इसे व्यावहारिक दृष्टि (The way of opinion) कहा जा सकता है। परम सत् (Being) का ज्ञान केवल बुद्धि से ही हो सकता है। ‘विशुद्ध सत्’ का बोध कराने वाला बौद्धिक दृष्टिकोण ही ‘सत्य का मार्ग’ या पारमार्थिक दृष्टि (The way of Truth) है। चूँकि सत् कूटस्थ (निर्विकार), नित्य तथा स्थिर है, इसलिए उससे किसी चीज की उत्पत्ति होने का प्रश्न नहीं उठता है। समस्त उत्पत्ति एवं परिवर्तन एक इन्द्रियजन्य विश्वास मात्र है, वास्तविक नहीं। पार्मेनाइडीज के सत्-सिद्धान्त से प्लेटो भी बहुत प्रभावित हुआ था। अपने ‘पार्मेनाइडीज’ डायलाग (संवाद) में उसने उनके ज्ञान, चरित्र और पवित्र जीवन, पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ तक कि प्लेटो का प्रत्यय-सिद्धान्त पार्मेनाइडीज के सत् सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होता है। पार्मेनाइडीज के द्वारा प्रतिपादित सत् के समान ही प्लेटो के प्रत्यय भी निर्विकार एवं कूटस्थ सत्ता हैं। सत् के समान ही प्लेटो के प्रत्यय भी शाश्वत और देश-काल से परे हैं। पार्मेनाइडीज ने ही सबसे पहले इन्द्रियानुभव और बुद्धि में भेद किया। सत् का बोध बुद्धि के द्वारा ही हो सकता है। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात जगत् परिवर्तनशील, आभास एवं मिथ्या है। उनके अनुसार सत् की उत्पत्ति कभी असत् (Nothing) से नहीं हो सकती है। सत्, उद्भव, विकास और विनाश से परे है। इस सम्प्रदाय के एक अन्य महत्वपूर्ण विचारक मेलिसस (470 ई० पू० — 410 ई० पू०) ने सत् सिद्धान्त का प्रतिपादन

करते हुए 'असत् के अभाव' को सिद्ध करने का प्रयास किया। वे सत् को देश और काल दोनों दृष्टियों से अनन्त मानते हैं। मेलिसस के सत् सिद्धान्त के आलोचक अरस्तू ने इसे भौतिक कहा है। किन्तु कुछ आलोचक (जैसे बर्नेट) इसे चेतन, शाश्वत और अनन्त मानते हैं। यह सांसारिक परिवर्तनों से परे है। इलियाई सम्प्रदाय के अन्तिम महान विचारक जेनो (489 ई० पू०) का नाम भी उल्लेखनीय है। कुछ आलोचकों ने उन्हें द्वन्द्वन्याय-पद्धति का प्रणेता कहा है। उनका दर्शन रचनात्मक होने की अपेक्षा ध्वंसात्मक (निषेधात्मक) है। प्लेटो के पार्मेनाइडीज संवाद में इस ओर संकेत किया गया है कि जेनो का लक्ष्य इलियाई परम्परा के विरोधी पाइथागोरस के दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन करना है। जेनो ने अनेकता, गति एवं देश के विरुद्ध अनेक तर्कों का प्रतिपादन करके उनके खण्डन का प्रयास किया। वस्तुतः गति के विरुद्ध, जेनों के द्वारा दिये गये तर्क 'काल की गणितीय अवधारणा' पर आधारित है। काण्ट के दर्शन में जेनो के द्वारा दिये गये निषेधात्मक तर्कों को 'विप्रतिषेध' (Antinomies) की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः जेनो की इस पद्धति का प्रयोग प्लेटो, अरस्तू, काण्ट इत्यादि दार्शनिक संशोधित, परिमार्जित एवं विकसित रूप में करते रहे हैं।

समकालीन दर्शन में राइल (साधारण भाषा दार्शनिक) ने जेनों के इन तर्कों (विशेष रूप से एक्लीज और कछुआ) की आलोचना किया है। उसके अनुसार ये तर्क छलपूर्ण एवं दुराग्रह हैं। इससे जेनों के तीक्ष्ण तर्कों के महत्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जेनो के तर्कों की चाहे जितनी आलोचना की जाय, फिर भी उनके वाक्-चातुर्य एवं तार्किक कौशल की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उन्होंने एक्लीज और कछुआ, उड़ते हुए बाण इत्यादि पर आधारित तर्कों के द्वारा देश एवं काल के संप्रत्ययों में निहित अन्तर्विरोधों की ओर संकेत किया। अनेकता, गति एवं देश का खण्डन करके जेनो उनके अन्तर्विरोध को दिखाता है। उसका लक्ष्य यह प्रमाणित करना है कि पार्मेनाइडीज का सत् ही एक मात्र सत्ता हो सकता है। किन्तु इलियाई दार्शनिक इस कूटस्थ सत् से जगत् की उत्पत्ति एवं गति की व्याख्या करने में असफल रहे हैं। संभवतः इसीलिए इस मत की आलोचना करते हुए स्टेस कहते हैं—इलियाई दार्शनिक उस सँपेरे (मदारी) या जादूगर के समान हैं जो दर्शकों को साँप, बिच्छू, रुपया, अंगूठी और हाथी दिखाने का प्रयत्न यह बताते हुए करता है कि उसके पास कुछ नहीं है। उनका सत् एक ऐसे धार्मिक ईश्वर के समान है जो अस्तित्वयुक्त होते हुए भी कंगाल एवं दरिद्र (ऐश्वर्य रहित) है।¹ किन्तु इलियाई दार्शनिकों के विरुद्ध की गयी आलोचनाएँ अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। वस्तुतः इस युग में विज्ञान (Sciences) और दर्शन संश्लिष्ट रूप में थे। मानव-चिन्तन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था से सम्बन्धित होने के कारण इस युग के दार्शनिकों को भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के भेद का व्यापक ज्ञान न था। सत् को समस्त गुणों, क्रियाओं, गति एवं परिवर्तन से परे मानने का अर्थ गुणहीनता या ऐश्वर्य हीनता नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में तत्त्व के निरूपण में इस कठिनाई का अनुभव उपनिषद् काल के ऋषियों से लेकर महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, स्पिनोजा एवं ब्रैडले पर्यन्त दार्शनिकों ने अनुभव किया है। शंकराचार्य ने तो छान्दोग्योपनिषद्भाष्य में यहाँ तक कहा है कि दिक्, काल, गुण, गति एवं भेदों से रहित अद्वैत ब्रह्म मन्द बुद्धि वालों को असत् प्रतीत होता है।² इलियाई दर्शन का महत्व इस बात से भी

1. पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 39.

2. "दिक्कालगुणगतिभेदविशून्यं ब्रह्म मन्दबुद्धिनामसदिव प्रतिभाति", छां० उ० नि० भाष्य।

स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त की अनेक मान्यताएँ इलियाई दर्शन के सत्-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। वस्तुतः प्लेटो अरस्तू की अपेक्षा इलियाई दर्शन के प्रति अधिक उदार एवं भावात्मक दृष्टिकोण रखता है।

पार्मेनाइडीज के ही समकालीन हेराक्लाइटस (535-475 ई० पू०) ने इलियाई दर्शन के ठीक विरुद्ध 'संभूति (Becoming) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार परिवर्तन ही सत् है। स्थिरता और अभेद मिथ्या हैं, भ्रामक हैं। जगत् में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उसने मूल अग्नि को ही परम तत्त्व माना और इसे ही समस्त परिवर्तन का मूल आधार घोषित किया। उसके अनुसार अग्नि, प्रकाश, वायु, जल और पृथ्वी में बदलती है। पुनः पृथ्वी स्वयं को जल के रूप में, जल वायु में और वायु अग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह मूल अग्नि ही जीवन एवं बुद्धि का स्रोत है। अग्नि के समान विश्वात्मा भी निरन्तर ज्वलनशील है। परिवर्तन का ज्ञान बुद्धि से होता है। स्थिरता की प्रतीति इन्द्रियजन्य भ्रान्ति है। उसका प्रसिद्ध कथन है — “एक ही नदी में हम गोता लगाते भी हैं और नहीं भी लगाते हैं क्योंकि वह निरन्तर प्रवाहित हो रही है।”¹

इससे स्पष्ट है कि हेराक्लाइटस के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। वह यहाँ तक कहता है कि कोई वस्तु उसी क्षण है भी और नहीं भी है। एक ही काल में वस्तुओं का होना और न होना उनका स्वभाव है। उसके इस मत को ‘संभूति का सिद्धान्त’ (Theory of Becoming) कहा जाता है। उसने संघर्ष, विरोध और समन्वय अर्थात् विरोधी शक्तियों के ‘सामन्वय सिद्धान्त’ का भी प्रतिपादन किया। इसके अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी शक्तियों में समन्वय हो जाता है। विरोध का अर्थ परिवर्तन है। एक भौतिक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में परिवर्तन निषेध के द्वारा होता है। गतिशील जीवन के लिए विरोध का होना आवश्यक है। हेराक्लाइटस ने यह दावा किया कि संघर्ष एवं विरोध प्रकृति तथा विकास के लिए आवश्यक है। हेराक्लाइटस का दर्शन सापेक्षतावादी होने के साथ-साथ बुद्धिवादी है। ‘परिवर्तन-सिद्धान्त’ सापेक्षता का द्योतक है। इस परिवर्तन का बोध बुद्धि के द्वारा होता है। उसका संभूति सिद्धान्त बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद एवं क्षण भंगवाद से तुलनीय है।²

यद्यपि हेराक्लाइटस का दर्शन पूरी तरह व्यवस्थित नहीं है, तथापि उसके संभूति सिद्धान्त का उसके परवर्ती ग्रीक विचारकों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसके सापेक्षतावाद ने सोफिस्ट विचारकों को प्रभावित किया। व्यावहारिक या प्राकृतिक जगत् की व्याख्या करने के लिए प्लेटो ने भी उसके संभूतिवाद का उपयोग किया है। उसके बुद्धिवाद ने कठोरतावादी स्टोइक विचारों को भी प्रभावित किया। आधुनिक युग में नीत्शे, ह्यूम, विलियम जेम्स और हेनरी वर्गसों के दर्शन पर संभूतिवाद, परिवर्तनवाद एवं संघर्ष सिद्धान्त की अमिट छाप दिखायी पड़ती है। महान दार्शनिक हेगल एवं कार्ल मार्क्स भी किसी न किसी रूप में हेराक्लाइटस के ऋणी हैं। वस्तुतः द्वन्द्वात्मक चिन्तन के बीज उसके दर्शन में निहित हैं।

1. [Into the same river we go down and we do not go down, for into the same river no man can enter twice, ever it flows in and flows out.].
2. [यत् सत् तत् क्षणिकम्].

पश्चिमी सिसली के एम्पेडोक्लीज (Empedocles) (495-435 ई० पू०) धर्मपरायण एवं धर्मोपदेशक प्रवृत्ति के विचारक थे। वे एक कुशल वक्ता, राजनीतिज्ञ, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु इन चार महाभूतों को अविनाशी, अपरिवर्तनशील और सत् माना। ये चारों महाभूत ही जगत् की सभी वस्तुओं के मूल कारण हैं। इनके संयोग से सृष्टि और वियोग से नाश होता है। इस संदर्भ में उसके द्वारा प्रतिपादित 'प्रेम और घृणा' अथवा 'सामंजस्य और संघर्ष' (Harmony and Discord) का सिद्धान्त उल्लेखनीय है। उसके अनुसार इन परस्पर विरोधी शक्तियों के कारण ही सृष्टि का संगठन एवं विघटन होता है। एम्पेडोक्लीज के चिन्तन की मौलिकता उनके इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। उसने परिवर्तन (संगठन एवं विघटन) की व्याख्या के लिए 'प्रेम और घृणा' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। प्रेम के कारण विभिन्न महाभूतों के घटक परस्पर संगठित होते हैं। घृणा एवं संघर्ष के कारण वे धीरे-धीरे विघटित होते हैं। प्रत्येक महाभूत या द्रव्य का संघात परिवर्तनशील और इसलिए अस्थायी होता है। वह एकतत्त्ववादी सिद्धान्त का निराकरण करके आकस्मिकता एवं अनिवार्यता को महत्वपूर्ण मानता है। वह सृष्टि और प्रलय के अनन्त क्रम में विश्वास करता है। उसके अनुसार सृष्टि और प्रलय का क्रम चलता रहता है। यहाँ पर उसका सिद्धान्त भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक के विचारों से कुछ समानता रखता है। परन्तु वह नैयायिकों के समान, आत्मा, परमात्मा एवं अदृष्ट जैसी किसी सत्ता का प्रतिपादन नहीं करता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह पाइथागोरस के द्वारा प्रतिपादित आत्मा के आवागमन सिद्धान्त से प्रभावित है। एम्पेडोक्लीज के द्वारा प्रस्तुत जगत् की व्याख्या भौतिकवादी है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन ग्रीक विचारधारा में जीवन एवं सृष्टि के प्रति मूलतः प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इस प्रकृतिवादी दर्शन की पराकाष्ठा ल्यूसिपस और उसके शिष्य डिमोक्रिटस के परमाणुवादी दर्शन में होती है। यद्यपि एम्पेडोक्लीज ने पूर्वोक्त चार मूल भौतिक द्रव्यों को अन्तिम रूप से सत् मान करके परमाणुवादी विचारधारा का पथ प्रशस्त कर दिया था, तथापि उसने अपने महाभूतों (मूल द्रव्यों) को परमाणु रूप नहीं माना था। परमाणुवाद का स्पष्ट विवेचन डिमोक्रिटस ने किया जो संभवतः अबडेरा का निवासी था। किन्तु डिमोक्रिटस के गुरु ल्यूसिपस के बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। कहा जाता है कि उन्होंने अबडेरा में एक स्कूल की स्थापना की थी। डिमोक्रिटस ने भौतिकी, गणित, नीतिशास्त्र, इत्यादि का गहन अध्ययन करने के बाद परमाणुवाद की स्थापना किया। यद्यपि एम्पेडोक्लीज ने भी विश्व की भौतिकवादी और यान्त्रिक व्याख्या प्रस्तुत की थी, तथापि वह उसका पूर्ण विकास न कर सका। उसके द्वारा प्रतिपादित प्रेम और घृणा के सिद्धान्त को परमाणुवादियों ने काल्पनिक और पौराणिक माना। परमाणुवादी डिमोक्रिटस ने एम्पेडोक्लीज की मूल मान्यताओं को ग्रहण करके उसके दर्शन की कमियों को दूर किया। उसके अनुसार परमाणुओं में गुणात्मक भेद नहीं है। किन्तु उनमें परिमाणालक भेद है। ये अतिसूक्ष्म परमाणु अविनाशी एवं अपरिवर्तनशील हैं। ये एक दूसरे से आकृति, रूप, वजन आदि दृष्टियों से भिन्न होते हैं। परमाणुओं में गति स्वतः होती है। गति परमाणुओं की प्रमुख विशेषता है। ये स्वतः गतिशील परमाणु आकाश में असीम संख्याओं में गतिशील हैं। इस प्रकार परमाणुवादी देश (Space) या आकाश की स्थिति को स्वीकार करते हैं। ये परमाणु उत्पत्ति तथा नाश से रहित हैं। ये अतीन्द्रिय एवं नित्य जड़ तत्त्व

हैं। समस्त भौतिक वस्तुएँ या पिण्ड इन परमाणुओं के संघात हैं। प्रश्न उठता है कि ये परमाणु संगठित एवं विघटित क्यों होते हैं? डिमॉक्रिटस के अनुसार परमाणुओं में स्वतः गति होती है। वे यान्त्रिक नियमों के कारण गतिशील हैं। परमाणुओं एवं गति का कोई कारण नहीं होता है। जो परमाणु भारी होते हैं वे नीचे की ओर गिरते हैं। बड़े परमाणु अधिक वेग से गिरते हैं और छोटे परमाणु कम वेग से आकाश (Space) में गिरते हैं, अर्थात् भारी परमाणु हल्के परमाणुओं की अपेक्षा अधिक वेग से गिरते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष के कारण हल्के परमाणु ऊपर की ओर फेंक दिये जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप तीव्र गति उत्पन्न होती है। उसके बाद समान आकार और भार वाले परमाणु संगठित हो जाते हैं। जो परमाणु अधिक भारी होते हैं वे केन्द्र में स्थित होते हैं। इन परमाणुओं से ही वायु उत्पन्न होती है। उसके बाद क्रमशः जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। हल्के परमाणुओं से अन्य नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई है। गीली पृथ्वी से जीव उत्पन्न होते हैं और अग्नि के परमाणु जीवित शरीरों को ताप प्रदान करते हैं। परमाणुवादियों के अनुसार मानवात्मा परमाणुओं से पृथक् तत्त्व नहीं है। आत्मा इन परमाणुओं के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है। आत्मा प्रत्यक्ष और बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा बौद्धिक चिन्तन से अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है। अन्य प्राचीन ग्रीक विचारकों के समान डिमॉक्रिटस भी बुद्धिवादी है क्योंकि उसके अनुसार बुद्धि ही आत्मा की सर्वोत्तम क्रिया है। मनुष्यों के समान देवता भी परमाणुओं के ही संघात हैं। अतः मनुष्यों के समान देवगण भी मरणशील हैं। चूँकि देवात्माओं में बुद्धि की अधिकता है, इसलिए वे मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली हैं। किन्तु ये देवता मानव-जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। अतः देवताओं से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मृत्यु के बाद आत्मा के परमाणु बिखर जाते हैं। इसलिए परमाणुवादी आत्मा के पुनर्जन्म अथवा आवागमन सिद्धान्त को असंभव मानते हैं। उल्लेखनीय है कि परमाणुवादियों की नैतिक मान्यताएं भौतिकवादी सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं हैं। उनके अनुसार आनन्द का सर्वश्रेष्ठ मार्ग आत्मा की शान्ति, समन्वय एवं निर्भयता है जो आत्मिक शक्तियों को जागृत करने से प्राप्त होता है। डिमॉक्रिटस ने एक संयमित जीवन और बौद्धिक चिन्तन को विशेष महत्व दिया है। इस प्रकार वह भौतिकवादी होते हुए भी वासनात्मक सुख का समर्थन नहीं करता है। वह सद्गुणों और बौद्धिक जीवन को ही आनन्द का मार्ग मानता है।

प्राचीन ग्रीक दर्शन में एनेक्जैगोरस (500 ई० पू० — 428 ई० पू०) एक ऐसे विचारक हैं जो सृष्टि के मूलकारण के रूप में एक चेतन शक्ति नाउस (Nous) की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि एनेक्जैगोरस भी परमाणुवादी हैं तथापि वे सभी द्रव्यों को मौलिक मानते हैं। वे सृष्टि की चालक शक्ति को अभौतिक मानते हैं। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने जड़ तत्व में 'स्वचालित गति' को न स्वीकार करके उसके कारण के रूप में चेतनशक्ति की कल्पना किया। उनके अनुसार एम्पेडॉक्लीज के द्वारा बताये गये पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चारों मौलिक तत्त्व नहीं हैं। वस्तुतः ये चारों मौलिक तत्त्वों के संयोग से बने हैं। ये मौलिक तत्त्व अनन्त हैं। इन्हें बीज (Seeds) कहा गया है। इन अचेतन बीजों में अपने आप गति नहीं पैदा हो सकती है। इस गति का संचालक कोई चेतन-शक्ति होना चाहिए। उन्हें इस बात का श्रेय है कि वे सृष्टि की संचालक शक्ति के रूप में नाउस (Nous) की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु वे भी

इस नाउस के स्वरूप का सर्वांगीण विवेचन नहीं करते हैं। बीजों में गति पैदा करने के लिए नाउस की इस परिकल्पना पर अरस्तू का यह कटाक्षपूर्ण कथन उल्लेखनीय है — “एनेक्जेगोरस ने अपने नाउस (Nous) से वैसा ही कार्य लिया जैसे कि एक नाटककार अपने नाटक में एक असाध्य विषम परिस्थिति के आ जाने पर ईश्वरीय हस्तक्षेप से काम लेता है। इस चेतन तत्त्व का कार्य स्वर्ग से उतरकर उस दुःखपूर्ण ग्रन्थि को काट देना था, जिसे हल करने का अन्य कोई साधन न था।” अरस्तू के गुरु प्लेटो ने भी फीडो में सुकरात के माध्यम से कहा है — “मैंने एक व्यक्ति को एनेक्जेगोरस की पुस्तक पढ़कर यह कहते हुए सुना है कि उसके अनुसार इस विश्व की उत्पत्ति और उसके सामंजस्य का कारण चेतन तत्त्व (Nous) है, मुझे यह सुनकर बहुत खुशी हुई है। किन्तु थोड़ी ही देर बाद मेरी आशाओं पर पानी फिर गया, जब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने इस चेतन तत्त्व का कोई उपयोग नहीं किया।”¹

इससे स्पष्ट है कि एनेक्जेगोरस ग्रीक दर्शन के इस आदि युग में ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने दार्शनिकों का ध्यान अन्तर्मुखी चिन्तन की ओर आकर्षित किया। उनके दर्शन में प्रयोजनवाद की झलक मिलती है। एनाक्जेगोरस के परवर्ती ग्रीक विचारकों ने उनके द्वारा निर्दिष्ट चेतन तत्त्व का विकास किया। आगे चलकर प्लेटो और अरस्तू ने उसे परिमार्जित और विकसित रूप से अपनाया। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि पाश्चात्य चिन्तन के प्रारम्भिक युग में उन्होंने सृष्टि की प्रकृतिवादी एवं भौतिकवादी व्याख्या को एक चेतन तत्त्व पर निर्भर बना दिया। वे एक गम्भीर विचारक थे जिसमें ग्रीक दर्शन के एक नूतन युग का उन्मेष झलकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन किसी रूढ़िवादी धार्मिक मान्यता से प्रभावित नहीं है। प्राचीन दार्शनिकों ने सृष्टि की प्रकृतिवादी और यान्त्रिकतावादी व्याख्या प्रस्तुत किया है। वे सृष्टि के मूल आधार के रूप में जल, असीमित द्रव्य, वायु, अग्नि, परमाणु आदि तत्त्वों का सहारा लेते हैं। यह इन दार्शनिकों के बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। रसल के अनुसार, पाइथागोरस एवं सुकरातोत्तर पाश्चात्य दर्शन (प्लेटो की परम्परा) में समाविष्ट धार्मिक मतग्रहों और नैतिक पूर्वाग्रहों के कारण ग्रीक दर्शन अपने निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचलित होने लगा। उसमें कुछ पक्षपात और पूर्वाग्रह समाविष्ट हो गया। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन के विकास का जो सहज और स्वाभाविक प्रवाह (अर्थात् वैज्ञानिक और प्राकृतिक दृष्टिकोण) था, वह बाधित हो गया। इन दार्शनिकों की नैतिक एवं धार्मिक पूर्व-मान्यताओं के कारण ग्रीक दर्शन में दकियानूसीपन एवं पक्षपात आ गया।² किन्तु रसल के इस मत से सहमत होना कठिन है। वस्तुतः दर्शन एक जीवन पद्धति एवं जीवन का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त है। जीवन से सम्बद्ध होने के कारण दर्शन के क्षेत्र से नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। जीवन के संचालक नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का दर्शन में समावेश होने मात्र से न तो कोई दर्शन दकियानूसीपन से ग्रस्त और न पक्षपातपूर्ण हो जाता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि सुकरात और प्लेटो ने इन मूल्यों को बौद्धिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया है। प्लेटो ने सत्ता और मूल्य में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके पाश्चात्य दर्शन को एक नयी दिशा दी। इसके फलस्वरूप ग्रीक दर्शन अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के साथ-साथ अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख

1. फीडो 678, स्टेस द्वारा पूर्वोक्त पुस्तक में उद्धृत,

2. A History of Western Philosophy, New York, Simon and Schuster 1945, p. 63.

हुआ। वास्तव में, दर्शन जीवन के लिए है और लोक कल्याणकारी जीवन मूल्यों से रहित नहीं हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मानव-जीवन के सांस्कृतिक विकास के आरम्भ से ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति बहिर्मुखी है जो बाह्य जगत् में सत्ता की विद्यमानता (उपस्थिति) पर बल देती है। किन्तु इसी के साथ-साथ एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति भी रही है। उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य दर्शन में जल, वायु, असीमित द्रव्य, वायु, अग्नि, परमाणु आदि को मूल तत्त्व मानने के साथ-साथ पाइथागोरस द्वारा प्रतिपादित आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त एनेक्जेगोरस का चेतन प्रत्यय अर्थात् — नाउस (Nous) आदि प्राकृतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ एक आन्तरिक दृष्टिकोण का संकेत करते हैं। वस्तुतः मानव-संस्कृति के विकास के प्रारम्भ से ही बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। पाश्चात्य दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। दूसरे शब्दों में, पाश्चात्य दार्शनिक संस्कृति के उद्भव एवं विकास के प्रारम्भ से ही बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही हैं।

एनेक्जेगोरस के बाद सोफिस्ट दार्शनिकों का उदय होता है। सोफिस्ट विचारक विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृतिवादी व्याख्या के स्थान पर अपने दर्शन को मानव-केन्द्रित बना देते हैं। ग्रीक दर्शन के इतिहास में उन्हें मानव केन्द्रित विचारधारा का मूल प्रवर्तक माना जा सकता है। उनके दर्शन से ग्रीक विचारधारा का द्वितीय युग प्रारम्भ होता है। यह काल यूनान में प्रजातन्त्र के अभ्युदय का युग है। उल्लेखनीय है कि इस युग में कुलीन वर्ग और सामान्य जनता के बीच एक लम्बे संघर्ष के बाद यूनान में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप जनता को प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गति-विधियों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हुआ। यूनान के अनेक छोटे-छोटे प्रजातन्त्रों ने अपने-अपने संविधान बना लिये। प्रजातन्त्र के इस विकास के साथ-साथ धार्मिक मान्यताओं का हास होने लगा।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन ग्रीक विचारकों की अभिरूचि किसी घटना के प्राकृतिक कारणों की खोज में थी। इसके लिए वे किसी दैवी अथवा आध्यात्मिक शक्ति की खोज करने का प्रयास नहीं करते हैं। वस्तुतः इसे भारतीय दर्शन और पाश्चात्य विचारधारा में एक प्रमुख विभाजक रेखा के रूप में लिया जा सकता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' का उद्घोष और ऋत् (विश्व की नैतिक व्यवस्था) का उल्लेख भारतीय दर्शन एवं संस्कृति को एक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करता है। भारतीय ऋषियों ने देवों का निरूपण नैतिक व्यवस्था के संरक्षक (ऋतस्य गोपा) के रूप में किया है। इसके विपरीत ग्रीक विचारकों ने जनता में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं का विरोध किया। डिमॉक्रिटस ने तो यहाँ तक कहा कि देवताओं में आस्था, भूचाल, ज्वालामुखी, धूमकेतु आदि का कारण है। सोफिस्टों के युग में शिक्षित बुद्धिजीवियों का देवी, देवताओं और चमत्कारिक शक्तियों की सत्ता में विश्वास समाप्त होने लगा। कुलीन तन्त्र और धार्मिक मान्यताओं के बहिष्कार के साथ-साथ परम्परागत रीतिरिवाज एवं प्रचलित सामाजिक नैतिकता के प्रति भी अनास्था हो गयी। इस प्रकार इन बदली हुई सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों में प्रायः लोगों ने नैतिक प्रतिबन्धों की उपेक्षा किया। अब विलासिता, लोभ, शिक्षा के व्यवसायीकरण और व्यक्ति की स्वेच्छाचरिता का साम्राज्य स्थापित हो गया। इस बदलते हुए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश में सोफिस्टों ने प्रचलित मान्यताओं की तार्किक व्याख्या करके सत्ता

लोकप्रियता प्राप्त करने का प्रयास किया। प्रोटागोरस (सोफिस्ट सम्प्रदाय के संस्थापक) और उसके अनुयायियों ने इस युग में प्रचलित आचार संहिता को सूत्रों एवं नियमों में रूपायित करके उसे युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयास किया। उल्लेखनीय है कि सोफिस्ट व्यावसायिक (पेशेवर) शिक्षक थे। वे प्रायः यूनान के सभी राज्यों में पैसा लेकर शिक्षा देने के व्यवसाय में लित थे। सोफिस्टों की इस प्रवृत्ति के लिए प्लेटो ने उन्हें 'आध्यात्मिक द्रव्यों का सौदागर' (Shopkeepers with spiritual wares) कह कर उनकी निन्दा की है। सोफिस्ट विचारकों की रूचि दर्शनशास्त्र की गहन समस्याओं में न थी। वे व्यावहारिक जीवन की आवश्यकतानुसार शिक्षा देते थे। प्रोटागोरस, जार्जियस, प्रॉडिकस, हिप्पियास आदि इस परम्परा के विचारक थे। ये लोग राजनीतिशास्त्र, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, इतिहास, गणित भौतिकी या प्राकृतिक विज्ञानों आदि ज्ञान की विविध विधाओं के क्षेत्र में शिक्षा देते थे। उस समय नागरिक जीवन में सबसे अधिक लोकप्रिय राजनीतिक जीवन पद्धति थी। राज्य के उच्च पदों की प्राप्ति के लिए आकर्षक एवं वाक्पटु होना आवश्यक था। सोफिस्टों ने इस आवश्यकता को पूरा करने का प्रयास किया। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने सत्य को भी तिलाञ्जलि दे दी। वे सत्य के वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान करने के प्रति जिज्ञासु न थे। उनका लक्ष्य वाक्-कौशल और शब्द-जाल के द्वारा जनता में अपनी मान्यताओं को स्थापित करना था। वे किसी बात को सिद्ध करने के लिए कुतर्कों का सहारा भी लेते थे। इस प्रकार उनका प्रमुख उद्देश्य येन-केन प्रकारेण अपनी बात सिद्ध करना था। वे कुतर्कों के द्वारा सत्य को झूठ और झूठ को सत्य सिद्ध करने का प्रयास करते थे। इसी कारण उन्हें कुतार्किक (सोफिस्ट) कहा जाने लगा। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र को कुतर्कशास्त्र या सोफिस्ट्री तक कहा गया। ग्रीक विचारधारा के इस आरम्भिक युग में कुछ समय तक वे जनता का ध्यान आकर्षित करते रहे।¹

सोफिस्ट सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में अबडेरा के निवासी प्रोटागोरस का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी विचारधारा का केन्द्र एथेन्स को बनाया। प्रोटागोरस (481-411 ई.पू.) न केवल दार्शनिक थे, बल्कि एक कुशल शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ और विधिशास्त्र के विद्वान थे। उनका एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है' (Homo Mensura)। प्रोटागोरस का यह कथन सम्पूर्ण सोफिस्ट दर्शन का सार तत्त्व है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य के लिए वही सत्य है, जो उसे सत्य प्रतीत होता है। पार्मेनाइडीज, हेराक्लाइटस, डिमॉक्रिटस आदि दार्शनिकों ने बुद्धि एवं इन्द्रिय में भेद करते हुए तत्त्व ज्ञान का आधार बुद्धि को माना था। इन्द्रियों के द्वारा केवल स्थूल जगत् का सतही ज्ञान हो सकता है। किन्तु प्रोटागोरस बुद्धि और इन्द्रियजन्य ज्ञान के इस भेद का निराकरण करता है। सत्य व्यक्ति की संवेदना और अनुभूति तक ही सीमित है। इससे स्पष्ट है कि सोफिस्ट सत्य को आत्मनिष्ठ (Subjective) बना देते हैं। व्यक्ति विशेष की संवेदनाओं एवं प्रतीतियों के अतिरिक्त सत्य कुछ नहीं है। जो व्यक्ति विशेष को सत्य प्रतीत होता है वह उसके लिए सत्य है। इसका निहितार्थ यह है कि जो एक व्यक्ति को सत्य प्रतीत होता है वह उसके लिए सत्य है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरे व्यक्तियों को भी सत्य प्रतीत हो। एक व्यक्ति को सत्य प्रतीत होने वाली बातें अन्य व्यक्तियों को असत्य प्रतीत हो सकती हैं। सोफिस्टों का यह सिद्धान्त व्यक्तिगत या आत्मनिष्ठ सत्य और वस्तुनिष्ठ सत्य के भेद को समाप्त कर देता है। यदि इस मत

को स्वीकार कर लिया जाय तो संशयवाद से नहीं बचा जा सकता है। जो एक व्यक्ति को सत्य प्रतीत होता है वह उसके लिए सत्य है। इसके विपरीत जो दूसरे व्यक्ति को सत्य प्रतीत होता है वह दूसरे व्यक्ति के लिए सत्य है। इससे कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मत को किसी वस्तुनिष्ठ मानदण्ड के आधार पर गलत नहीं सिद्ध कर सकता है। अतः यह मत आत्मघाती संशयवाद की ओर ले जाता है।

यदि सभी मत सत्य हैं तो कोई भी मत असत्य नहीं हो सकता है। अतः सत्य और असत्य में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता है। यदि सभी मत सत्य हैं तो यह मत भी सत्य है कि प्रोटागोरस का मत असत्य है। यदि सभी मत सत्य हैं तो प्रोटागोरस को दूसरों को उपदेश देने या पुस्तक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रोटागोरस का मत भस्मासुर की तरह आत्मघाती है। उसका तात्त्विक आधार स्वयं उसके अपने सूत्र के निहितार्थ से ही ध्वस्त हो जाता है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय कि मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है तो सार्वभौम नैतिकता ही समाप्त हो जाती है। सोफिस्टों के अनुसार, 'सद्गुण (Virtue) व्यक्ति का सुख है।' यहाँ व्यक्ति या मनुष्य से तात्पर्य व्यक्ति विशेष से है। इस सिद्धान्त को मानने से 'सद्गुण' की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है। इससे शुभ और अशुभ, उचित और अनुचित का भेद मिट जाता है। जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुखद है, वही वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए दुःखद हो सकती है। इसमें एक ही वस्तु अच्छी और बुरी या शुभ और अशुभ दोनों प्रतीत हो सकती है। वास्तव में सुख इच्छा तृप्ति का परिणाम है। हमारी इच्छाएँ संवेदनाएँ हैं। इन संवेगों एवं भावनाओं को किसी सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ नैतिक सिद्धान्त का आधार नहीं माना जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि सद्गुण और सुख दोनों को परस्पर अभिन्न नहीं माना जा सकता है। आगे चलकर प्लेटो ने सोफिस्टों के इस सिद्धान्त का खण्डन किया। उसके अनुसार जिस प्रकार सत्य मत (True opinion) को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है उसी प्रकार सुख को सद्गुण नहीं कहा जा सकता है। उचित कार्य भी अनुचित मानदण्ड के आधार पर किया जा सकता है। किसी कार्य के औचित्य या सद्गुण परक होने के लिए केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि 'क्या उचित है' बल्कि यह जानना भी आवश्यक है कि 'यह क्यों उचित है', इसका औचित्य सद्गुण युक्त है या नहीं, अर्थात् यह बौद्धिक ज्ञान पर आश्रित है अथवा नहीं।¹

नैतिकता के क्षेत्र में सोफिस्टों को सुखवादी और उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का आदि प्रवर्तक कहा जा सकता है। प्रोटागोरस व्यावहारिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही सत्य की व्याख्या करते हैं। इस सम्प्रदाय के एक अन्य विचारक प्रॉडिकस ने धर्म की स्वार्थपरक एवं नैतिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके द्वारा की गयी धर्म की नास्तिक व्याख्या के कारण उनको 'लीशियम स्कूल' से बहिष्कृत कर दिया गया। सोफिस्ट सम्प्रदाय के विचारकों में संशयवादी जार्जियस (483 — 375 ई० पू०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे सत्य की व्याख्या व्यक्ति के सापेक्ष रूप में करते हैं। यदि किसी व्यक्ति को पीलिया रोग (Jaundice) हो जाने के कारण सभी वस्तुएं पीली दिखायी पड़ती हैं, तो वस्तुएं उस व्यक्ति विशेष के लिए तो पीली ही हैं, भले ही उनका रंग (स्वरूप) अन्य लोगों के लिए पीला न हो। किसी अन्य व्यक्ति को यह कहने का

अधिकार नहीं है कि वे पीली नहीं हैं। उसने प्रोटागोरस के इस संशयवादी मत 'ज्ञान असंभव है', का समर्थन किया। उसके द्वारा प्रतिपादित अधोलिखित तीन वाक्य प्रसिद्ध हैं:¹

1. किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।
2. यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसे जाना नहीं जा सकता है। दूसरे शब्दों, में वह अज्ञेय है।
3. यदि इसे जान भी लिया जाय तो इसका ज्ञान दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता है।

जार्जियस के दर्शन पर इलियाई सम्प्रदाय के प्रमुख तर्कशास्त्री जेनो के द्वन्द्वन्याय का प्रभाव पड़ा है। जेनो के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हुए जार्जियस प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व को आत्म-विरोधी मानता है। वस्तुओं को न तो सत् और न ही असत् माना जा सकता है। यदि वस्तुएँ सत् हैं तो एक सत् वस्तु से दूसरी सत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि वह असत् है तो असत् से सत् या किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। (कथम् असत्: सञ्जायेत्)²

चूँकि सोफिस्टों के अनुसार सत्य आलनिष्ठ है, इसलिए जो एक मनुष्य के लिए सत्य है वह दूसरे व्यक्ति के लिए असत्य हो सकता है। इस प्रकार सभी लोगों का सत्य पृथक्-पृथक् हो सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य पृथक्-पृथक् हो तो किसी भी अस्तित्वयुक्त वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना असंभव होगा। एक वस्तु के स्वरूप का ज्ञान अलग-अलग लोगों को अलग-अलग रूप में हो सकता है। अतः वस्तु के स्वरूप-ज्ञान में एकरूपता एवं वस्तुनिष्ठता न होने से उसका वैध ज्ञान प्राप्त करना असंभव हो जाता है।

चूँकि सत्य आलनिष्ठ होता है, इसलिए एक व्यक्ति का सत्य विषयक ज्ञान अन्य लोगों के ज्ञान से भिन्न होगा। वस्तुतः सोफिस्ट ज्ञान और संवेदनों को एक मान लेते हैं। एक व्यक्ति की संवेदनात्मक अनुभूतियाँ अन्य लोगों की अनुभूतियों से भिन्न होंगी क्योंकि संवेदनाएँ नितान्त वैयक्तिक होती हैं। यदि इन संवेदनाओं को नितान्त वैयक्तिक मान लिया जाय तो एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता है।

सोफिस्टों के इन सिद्धान्तों का प्रयोग नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी किया गया। वे सापेक्ष नैतिकता के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने अपने समाज में प्रचलित परम्परागत नैतिक सिद्धान्तों का परित्याग करके मानव-केन्द्रित नैतिक दर्शन की स्थापना किया। उनके अनुसार परम्परागत नैतिक मान्यताओं का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। उसको तर्क की कसौटी पर बिना मूल्यांकन किये हुए स्वीकार नहीं करना चाहिए। उनका महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने नैतिक जीवन, मानव के परम शुभ (निःश्रेयस्) एवं मानवतावाद (Humanism) को अपनी विचारधारा का मुख्य केन्द्र बनाया। मनुष्य के बिना नैतिक जीवन का कोई मूल्य नहीं हो सकता है। क्योंकि मनुष्य के कर्मों एवं व्यवहार को ही उचित या अनुचित कहा जा सकता है। वास्तव में सोफिस्ट व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर विशेष बल देते थे। किन्तु प्लेटो और अरस्तू जैसे मूर्धन्य विचारकों की आलोचनाओं के प्रहारों से उनका दर्शन दब

1. ये वाक्य जार्जियस की पुस्तक 'On Nature' में व्यक्त किये गये हैं।
2. Ex Nihilo nihil fit

गया। हमारे समक्ष उनके दर्शन के निषेधात्मक पक्ष अधिक प्रकाशित हुए। वस्तुतः अनेक त्रुटियों के होते हुए भी उन्होंने पश्चिम में मानव-स्वातन्त्र्य एवं नैतिक जीवन का अलख जगाया। उनके द्वारा की गयी वैचारिक क्रान्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप सुकरात का क्रान्तिकारी और युगान्तकारी दर्शन आया। प्लेटो और अरस्तू जैसे महान दार्शनिकों ने सोफिस्ट विचारधारा का निराकरण करके ही अपने दर्शन की स्थापना की। उन्होंने सोफिस्टों का खण्डन भले ही किया हो, किन्तु वे उसकी उपेक्षा न कर सके। यद्यपि दर्शन, ज्ञान, नैतिकता, कला आदि को मानव केन्द्रित घोषित करके सोफिस्टों ने दर्शन को मानव-जीवन के निकट लाने का प्रयास किया, तथापि वे मानव-मन में निहित सार्वभौम तत्त्वों की खोज न कर सके। उन्होंने मनुष्यों में व्याप्त समानताओं की खोज न करके उनके बीच वैयक्तिक भिन्नताओं पर विशेष बल दिया। इस प्रकार सार्वभौम ज्ञान और सार्वभौम नैतिक मानदण्डों के उपेक्षक सोफिस्टों ने सुकरात और प्लेटो जैसे विचारकों के व्यापक और महान दार्शनिक अनुशीलन को प्रेरित किया। अतः यूनानी दर्शन के विकास में सोफिस्टों के दर्शन का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

ग्रीक दर्शन का स्वर्ण युग

ग्रीक दर्शन के स्वर्ण युग का उद्भव और विकास सुकरात के आविर्भाव से प्रारम्भ होता है। यह युग ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के मध्य से लेकर ईसापूर्व 322 (ई० पू० 450-300) में अरस्तू के देहावसान तक माना जा सकता है। इस युग के मूर्धन्य विचारकों में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू आते हैं। किन्तु इन दार्शनिकों के अनुयायियों ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। इनमें से सिरेनाइक, सिनिक, मेगारी सम्प्रदाय आदि उल्लेखनीय हैं। नव्य प्लेटोवाद के अन्त के साथ ही स्वर्णयुग सहित समस्त ग्रीक विचारधारा दर्शन के क्षितिज से ओझल हो जाती है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सुकरात से पूर्व सोफिस्टों ने नैतिकता और ज्ञान के वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौम प्रतिमानों को नष्ट कर दिया था। यद्यपि वे मानवतावादी चिन्तक होने का दावा करते थे, किन्तु सस्ती लोकप्रियता के लोभ में उनका मानवतावाद आत्मनिष्ठतावाद (Subjectivism) में बदल गया। इसका स्वाभाविक परिणाम संशयवाद के रूप में सामने आया। इससे मनुष्य का अपनी बुद्धि पर से विश्वास समाप्त होने लगा। तार्किक दृष्टि से न तो निश्चायक ज्ञान और न नैतिकता के सर्वमान्य मानदण्डों की ही स्थापना हो सकती थी। दर्शन जगत् में सुकरात के आगमन से मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास पुनः स्थापित हुआ। उसने नैतिक जीवन और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों को स्थापित किया। उसके बाद सोफिस्टों के वैचारिक युग का अन्त हो जाता है। वास्तव में सुकरात पाश्चात्य दर्शन के एक क्रान्तिकारी युग का प्रवर्तक और यूनान की सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक संस्कृति का प्रतीक है। इस परम्परा का चरमोत्कर्ष महामानव प्लेटो और ग्रीक शिरोमणि अरस्तू के दार्शनिक अनुशीलन में मिलता है। इस युग में विकसित ग्रीक दर्शन, कला और साहित्य विश्व के सांस्कृतिक विचारों के इतिहास में एक अनुपम आदर्श है। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में प्राचीन ग्रीक दर्शन (सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन) की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी इन दोनों प्रवृत्तियों का अद्भुत समन्वय हुआ है। यद्यपि दृश्यमान प्राकृतिक जगत् अस्थायी, परिवर्तनशील एवं अनित्य है, तथापि यह कतिपय अतीन्द्रिय, स्थिर, अपरिवर्तनशील, शाश्वत (नित्य), और सार्वभौमिक प्रतिमानों पर आश्रित है। प्लेटो एवं अरस्तू प्राकृतिक जगत् को अन्तिम सत्य न मानते हुए भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति जागरूक और संवेदनशील हैं। प्रकृति उनके लिए भोग्य नहीं, बल्कि स्वरूपतः दैवी होने के कारण श्रद्धेय है। इसके अतिरिक्त इस काल में ही दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान की विविध प्रवृत्तियों तथा विधाओं की प्रतिष्ठा हुई, जिनका आने वाले परवर्ती युगों में विकास संभव हुआ। संक्षेप में, यह युग समस्त ग्रीक संस्कृति, कला और दार्शनिक अनुशीलन का सार तत्त्व है। इस युग के महान विचारकों का नाम भारतीय ऋषियों के ही सदृश श्रद्धा के

साथ याद किया जाता है। अतः यदि इसे ग्रीक दर्शन का स्वर्णयुग कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

(अ) सुकरात (470-399 ई० पू०)

मनुष्यों में सर्वाधिक विवेकशील (Wise) सुकरात का जन्म एथेन्स के एक निर्धन परिवार में हुआ था। वे सत्य और सदाचार के प्रतीक थे। किन्तु उनका बाह्य व्यक्तित्व (शारीरिक संरचना) आकर्षक न था। उन्होंने एथेन्स के नागरिकों को निःशुल्क नैतिक शिक्षा देने का प्रयास किया। उनके जीवन का लक्ष्य समाज में व्याप्त अज्ञानजन्य बुराइयों को दूर करके युवा पीढ़ी को सत्य और सदाचार की ओर प्रेरित करना था। सुकरात अपने अन्तःकरण की पवित्र आवाज पर बल देते थे। उन्हें प्रायः अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनायी पड़ती थी। उनका सम्पूर्ण जीवन निर्धनता में व्यतीत हुआ। किन्तु उसने कभी भी पद एवं धन के लिए शिक्षण कार्य नहीं किया। वे एक ऐसे युग में पैदा हुए थे जिसके पूर्व सोफिस्ट पैसा लेकर शिक्षा देते थे। सुकरात सादा जीवन और उच्च विचारके साक्षात् अवतार थे। उनके सरल और सहृदय व्यक्तित्व ने उन्हें एथेन्स के नवयुवकों का प्रिय और श्रेष्ठ शिक्षक बना दिया। देश के समृद्ध और कुलीन नवयुवक सुकरात के सत्संग को बहुत पसन्द करते थे। सुकरात के हृदय में भी इन युवकों के प्रति अगाध स्नेह था। बिल इरेन्ट के अनुसार जब उनके शिष्य उन्हें आमन्त्रित करते थे तो वह उनकी मेजों (रसोई) का सम्मान करता था। किन्तु उसका स्वागत स्वयं उसके घर में नहीं होता था। वास्तव में वह समाज के नैतिक उत्कर्ष से सम्बन्धित कार्यों में इतना व्यस्त रहता था कि वह अपनी पत्नी और बच्चों के लिए कम समय निकाल पाता था। वह अपनी पत्नी और बच्चों की उपेक्षा करता था। वस्तुतः वह घरेलू जीवन-चर्या में कोई रुचि नहीं लेता था। संभवतः उसकी उदारता, सौम्यता, व्यक्तित्व के खुलापन और ज्ञान की गरिमा से युक्त विनम्रता और भद्रता (Socratic modesty) के कारण उसके शिष्यगण उसे बहुत पसन्द करते थे। इस प्रकार सुकरात के दार्शनिक व्यक्तित्व की अमिट छाप उसके नवयुवक शिष्यों के मानस-पटल (दिल और दिमाग) पर अंकित हो गयी। यद्यपि उसे सर्वाधिक बुद्धिमान ग्रीक (The wisest of the Greeks) कहा गया, तथापि सुकरात में इतनी भद्रता और विनम्रता थी कि उसने अपने अज्ञान को व्यक्त करते हुए कहा — “मैं केवल एक ही बात जानता हूँ और वह यह है कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ”¹।

यद्यपि उस युग में बहुदेववाद (Polytheism) का प्रचलन था, फिर भी वह केवल एक ही ईश्वर में विश्वास करता था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मृत्यु के द्वारा उसे पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता है। सुकरात के द्वारा विरचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनके जीवन-वृत्तान्त और विचारों का ज्ञान प्लेटों की रचनाओं से मिलता है। सुकरात के विचार बहुत क्रान्तिकारी थे। उन्होंने सोफिस्टों के द्वारा प्रतिपादित विश्व की यान्त्रिक व्याख्या का खण्डन करके उसकी प्रयोजनमूलक व्याख्या प्रस्तुत किया। उसने विवेक और सत्य के लिए संख्याओं की गणना के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को चुनौती दी। उसके विरुद्ध एथेन्स के युवकों को गुमराह करके राज्य के विरुद्ध उकसाने और राष्ट्रीय देवताओं के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करने का

1. “One thing only I know, and that is that I know nothing.” *Story of Philosophy*. Will Durant, p.6.

अभियोग लगाकर उसे कारागार में डाल दिया गया। उसके एक माह बाद जूरी के बहुमत के निर्णय के आधार पर उन्हें (विष-पान के द्वारा) मृत्युदण्ड का आदेश दिया गया। सुकरात की मृत्यु के अवसर पर उनके प्रिय शिष्य प्लेटो और क्रीटो उपस्थित थे। उस समय प्लेटो की आयु 28 वर्ष की थी। सुकरात के विषपान के अवसर का हृदय-स्पर्शी चित्रण प्लेटो ने अपनी 'एपालोजी' में किया है। सुकरात ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा — "हे एपेन्सवासियों ! मैं तुम लोगों का सम्मान करता हूँ, किन्तु तुम लोगों की आज्ञा मानने की अपेक्षा मैं ईश्वरीय आदेश को स्वीकार करूँगा। सद्गुणी के लिए स्वर्ग में कोई भय नहीं है। अब अलग होने का समय आ गया है। हम अपने-अपने मार्ग का अनुसरण करते हैं। मैं मृत्यु के पथ पर, और तुम जीवन के पथ पर कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, इसे ईश्वर ही जानता है।" इस प्रकार उस युग का सबसे महान दार्शनिक, ज्ञानी और पुण्यात्मा सुकरात जहर का प्याला पी करके इस संसार से अलविदा हो गया।

सुकरात की दार्शनिक पद्धति

सुकरात ने ग्रीक विचारधारा के सर्वथा नवीन और सर्वोत्तम युग को जन्म दिया, जिसे ग्रीक दर्शन का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। सुकरात के आगमन से मनुष्य की बुद्धि में आस्था पुनः जागृत हुई। उसने नैतिकता और ज्ञान के क्षेत्र में सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों को स्थापित किया। यद्यपि उसकी अभिरुचि विज्ञानों की अपेक्षा नैतिक जीवन में अधिक थी, तथापि नैतिकता के क्षेत्र में सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों की स्थापना के लिए ज्ञानमीमांसीय चिन्तन आवश्यक हो जाता है। अतः सुकरात ने ज्ञानमीमांसीय चिन्तन भी किया। उसने बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा की जो आधारशिला रखी उसी के आधार पर प्लेटो और अरस्तू के दार्शनिक चिन्तन का विकास हुआ।

सुकरात ने सोफिस्टों की दोषपूर्ण उक्तियों का खण्डन करके नीतिशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में नवीन मानकों को स्थापित किया। यद्यपि वह सोफिस्टों के समान मानवतावादी था तथापि उसका दृष्टिकोण सोफिस्टों से भिन्न था। सुकरात ने सोफिस्टों के सिद्धान्त "मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है", का निराकरण किया। उसने जीवन की यान्त्रिकतावादी व्याख्या नहीं किया। मानव-जीवन का निर्धारण प्रयोजनवादी दृष्टि से ही किया जा सकता है। उसने नैतिकता और ज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित सोफिस्टों के आत्मनिष्ठतावादी मानदण्डों के स्थान पर उसके लिए वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक मानदण्डों को प्रतिष्ठित किया। प्रायः वह अपने सहयोगियों और शिष्यों को अपने मौलिक विचारों से परिचित कराने के साथ-साथ उन्हें नवीन चिन्तन के लिए भी प्रेरित करता रहता था।

सुकरात की दार्शनिक पद्धति बहु आयामी है। उसमें निगमनात्मक पद्धति का पुट होने के साथ-साथ सन्देह का भी उपयोग किया गया है। किन्तु यह सोफिस्टों के संशयवाद से भिन्न है। सुकरात का सन्देह अस्थायी, कामचलाऊ और तदर्थ था। यह ज्ञान के निश्चित स्वरूप का निर्धारण करने में उपयोगी था। इसके विपरीत सोफिस्टों का संशय स्थायी था क्योंकि यह ज्ञान के सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ मानदण्डों के अभाव के कारण था। सुकरात ने संशय का उपयोग केवल साधन के रूप में किया। वह विश्व की व्याख्या प्रयोजनवादी दृष्टि से करता था। यह सोफिस्टों के द्वारा की गयी यान्त्रिकतावादी व्याख्या से भिन्न है। उल्लेखनीय है कि सुकरात ने अपने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संवादात्मक शैली को अपनाया। उसके

अनुसार सामान्य वार्तालाप (Conversation) के द्वारा सत्य की खोज करना सुविधाजनक होता है।¹ यद्यपि मनुष्यों में वैचारिक मतभेद हो सकता है, तथापि उनमें कतिपय ऐसे सर्वगत लक्षण होते हैं जिन पर सब लोग सहमत हो सकते हैं। परस्पर संवाद के माध्यम से सत्य की खोज करने में सुकराती पद्धति सुविधाजनक होती है। विवादास्पद बिन्दुओं पर वहस करने की प्रश्नोत्तर पद्धति से अभीष्ट निष्कर्ष को प्राप्त करने की सुकराती पद्धति अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई। इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारों का उन्मेष होता है। इससे अस्पष्ट और अविकसित ज्ञान को स्पष्ट और विकसित करने में सहायता मिलती है। सुकरात के अनुसार ज्ञान के लिए सूक्ष्म और परिष्कृत परिभाषाएँ उपयोगी होती हैं। इन परिभाषाओं के द्वारा ही सामान्य ज्ञान का प्रारम्भ होता है। ये परिभाषाएँ संप्रत्ययात्मक होती हैं। प्रश्न उठता है कि संप्रत्ययों की रचना कैसे की जाती है?

सुकरात ने संप्रत्ययों की रचना के लिए वस्तुओं के सर्वगत लक्षण को ग्रहण करके उनके विशिष्ट लक्षणों के परिहार (निराकरण) पर बल दिया। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की सर्वगत (Common) विशेषताओं को ग्रहण करना चाहिए। इसके साथ-साथ उन वस्तुओं के विशिष्ट लक्षणों को पृथक् करना भी संप्रत्ययों की रचना के लिए उपयोगी होता है। ये संप्रत्यय सार्वभौम, निश्चित और बौद्धिक होते हैं। बुद्धिवादी होते हुए भी सुकराती पद्धति में अनुभवों की उपेक्षा नहीं की गयी है। वास्तव में विशेष तथ्यों के प्रेक्षण (निरीक्षण) का सहारा लेकर ही उनमें निहित सामान्य लक्षणों की खोज की जा सकती है। इन सामान्य लक्षणों के आधार पर ही परिभाषाओं की रचना एवं उनकी परीक्षा की जाती है। इससे स्पष्ट है कि सुकरात की पद्धति में निगमन के साथ-साथ आगमन का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु उस युग में दर्शनशास्त्र की ये दोनों विधाएँ अविकसित थीं। वास्तव में अव्यक्त रूप में सहज भाव से सुकरात के चिन्तन में बौद्धिक अनुशीलन और आनुभविक प्रेक्षण की विधाएँ अन्तर्निहित होती थीं। यह उसके सहज और मौलिक चिन्तन के परिणामस्वरूप ही संभव हुआ होगा। यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सुकरात ने दार्शनिक चिन्तन के उस आरम्भिक युग में ही संप्रत्ययों और परिभाषाओं की रचना में निगमन और आगमन विधि का उपयोग किया। आज तर्क पद्धति के विकसित हो जाने पर भी उसकी ये मान्यताएं प्रासंगिक हैं। वस्तुतः किसी पद की परिभाषा के लिए आगमनात्मक निरीक्षण और निगमनात्मक सुसंगति दोनों विधियों का प्रयोग करना उपयोगी होता है। उदाहरण के लिए, 'सब मनुष्य मरणशील हैं', इसके परीक्षण के लिए आगमनात्मक निरीक्षण के साथ-साथ व्याप्ति-ज्ञान भी अपेक्षित होता है। इससे अनुभव और चिन्तन इन दोनों पद्धतियों से इसका सत्यापन किया जा सकता है। उसके बाद सभी संशय समाप्त हो जाते हैं। सुकरात के चिन्तन में यह मान्यता सहज रूप में निहित है कि निगमन और आगमन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु सुकरात की दार्शनिक पद्धति का प्रमुख लक्ष्य नैतिकता के सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों की खोज करना है। नैतिक संप्रत्ययों के ज्ञान के अभाव में तदनुरूप आचरण और जीव्या-पद्धति का अनुगमन करना संभव नहीं हो सकता है। निगमन प्रणाली के अन्तर्गत हम सार्वभौम संप्रत्ययों का प्रयोग विशेष संदर्भों में करते हैं। इससे यह परीक्षण किया जाता है कि वस्तु विशेष (कर्म विशेष) उस संप्रत्यय की परिधि में आती है अथवा नहीं। वस्तुतः ज्ञान सार्वभौम संप्रत्ययों पर आश्रित होता

है। केवल तथ्यों की गणना करके सार्वभौम नियमों अथवा संप्रत्ययों की स्थापना नहीं की जा सकती है। अतः उसकी दार्शनिक पद्धति में निगमन को प्रमुखता प्रदान की गयी है। आगमन का स्थान उसकी सहयोगी अथवा सहकारी पद्धति के रूप में ही माना जा सकता है।

ज्ञानमीमांसा और नीतिशास्त्र

सुकरात के अनुसार नैतिक जीवन ही परम शुभ है। उनके दर्शन का मुख्य उद्देश्य नैतिकता के क्षेत्र में सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों की स्थापना करना है। इसके लिए वे ज्ञानमीमांसीय चिन्तन को भी आवश्यक मानते हैं। सुकरात बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने सोफिस्टों की अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के निराकरण करने का प्रयास किया। सोफिस्टों ने प्रत्यक्ष को ही ज्ञान माना है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना ज्ञान होता है। इस दृष्टि से सत्य और ज्ञान आत्मनिष्ठ हो जाता है। सोफिस्टों ने ज्ञान, सत्य और श्रेय के सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों को नष्ट कर दिया। सुकरात ने सोफिस्टों के मत से असहमति व्यक्त करते हुए यह दावा किया कि समस्त ज्ञान संप्रत्ययात्मक होता है। किन्तु उसने इन्द्रियानुभूति की उपेक्षा नहीं की है। उसका दावा यह है कि प्रत्यक्ष अनुभूति भले ही ज्ञान प्राप्ति में महत्वपूर्ण हो, किन्तु ज्ञान केवल प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं है। ज्ञान बौद्धिक संप्रत्ययों से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान संप्रत्ययात्मक होता है।¹ बुद्धि मनुष्यों में व्याप्त एक सार्वभौम तत्त्व है। इसी कारण से संप्रत्ययात्मक ज्ञान में एकरूपता पायी जाती है। इस प्रकार सुकरात अपनी बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के सार्वभौम आधारों की खोज करने का प्रयास करता है।

सुकरात ज्ञान के आचारमूलक (व्यावहारिक) पक्ष पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार ज्ञान और आचरण में एकरूपता होनी चाहिए। यदि उनमें एकरूपता (सामंजस्य) न हो तो ज्ञान के आधार पर आचरण करना संभव नहीं हो सकता है। ज्ञान की सार्वभौमिकता और वैधता की स्थापना के लिए सुकरात ने परिभाषाओं को विशेष महत्व दिया है। परिभाषाओं के आधार पर ही निश्चयांक ज्ञान की प्राप्ति संभव है। परिभाषाओं का संप्रत्ययों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वस्तुतः परिभाषाएँ संप्रत्ययों के प्रारम्भिक रूप हैं। इनके अभाव में सार्वभौम ज्ञान असंभव है। प्रश्न उठता है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान क्या है? सुकरात ने 'ज्ञान' (Knowledge) शब्द का प्रयोग 'विवेक' (Wisdom) के अर्थ में किया है। इस संदर्भ में उसका यह कथन प्रसिद्ध है — ज्ञान सद्गुण है। (Knowledge is virtue)। जीवन का परम लक्ष्य सद्गुण है। सद्गुणी अथवा नैतिक जीवन ही मनुष्य के लिए परम श्रेय है। चूँकि सुकरात ज्ञान को ही सद्गुण मानता है, इसलिए उसके अनुसार ज्ञानी ही सद्गुणी व्यक्ति हो सकता है। ज्ञान और सद्गुण परस्पर अभिन्न और अवियोज्य हैं। विवेक से युक्त (ज्ञानी) व्यक्ति ही उचित और अनुचित में भेद करके शुभ कर्म कर सकता है। जिस व्यक्ति को औचित्य का ज्ञान न हो वह नैतिक कर्म नहीं कर सकता है।

सुकरात के अनुसार अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप या अशुभ है क्योंकि यही मनुष्य को अनुचित कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है। अनैतिक आचरण का कारण सदैव नैतिक आचरण के संप्रत्यय का अज्ञान होता है। अतः अज्ञान ही मनुष्य को पथ-भ्रष्ट (गुमराह) करता है। यह हमें

1. Knowledge is knowledge through concepts .

अनुचित कर्मों की ओर ले जाता है। यदि मनुष्य को यह ज्ञान अर्थात् भेदग्राही विवेक हो जाए कि अमुक कर्म अनुचित है तो वह व्यक्ति उस कर्म को नहीं कर सकता है। अतः उचित कर्म करने और नैतिक आचरण के लिए शुभत्व (Goodness) का ज्ञान होना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान स्वरूपतः न केवल बौद्धिक है, बल्कि उसके साथ-साथ विवेक युक्त भी है। यह विवेक युक्त ज्ञान ही प्रत्येक उचित कर्म की तार्किक प्रागपेक्षा है। संक्षेप में, सत्कर्म करने के लिए उसका विवेक होना अनिवार्य है। यही मानव-जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त है।

वास्तव में सुकरात ने नैतिक जीवन की समस्याओं का निराकरण करने के लिए बौद्धिक आधार खोजने का प्रयत्न किया। इस संदर्भ में उसने सोफिस्टों के इस मत का — 'जो व्यक्ति की इच्छा को सन्तुष्ट करे वह उसके लिए शुभ है', का खण्डन किया। सुकरात के अनुसार व्यक्ति सभी वस्तुओं का मानदण्ड नहीं हो सकता है। जिस प्रकार सार्वभौम ज्ञान संभव है, उसी प्रकार सार्वभौम नैतिकता भी संभव है। समस्त दुराचरण (कदाचार) और बुराइयों के निराकरण का एक मात्र समाधान विवेक है। राज्य-व्यवस्था के व्यवस्थित संचालन और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था के समुन्नयन के लिए राज्य के शासक को राज्य के कार्यों और उद्देश्यों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। जब तक मनुष्य को सद्गुण के संप्रत्यय का ज्ञान न हो तब तक वह सद्गुणी या सदाचारी नहीं हो सकता है। अतः किसी मनुष्य के आत्म-संयमी, न्यायी, साहसी, धैर्यवान आदि होने के लिए उसे इनके संप्रत्ययों का ज्ञान होना चाहिए। समुचित आचरण (सही कर्म) को संपन्न करने के लिए हमारी सोच अथवा चिन्तन प्रणाली भी सही होनी चाहिए। ज्ञान के अभाव में सद्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि कोई मनुष्य बुराई को जानते हुए उसका आचरण नहीं कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि सुकरात के लिए उचित-अनुचित का विवेक होना ज्ञान का एक सिद्धान्त मात्र नहीं है, बल्कि एक दृढ़ आस्था (श्रद्धा) का भी विषय है। दूसरे शब्दों में यह बौद्धिक होने के साथ-साथ संकल्प का भी विषय है। ज्ञान ही समस्त सत् कर्मों एवं शुभत्व का मूल आधार है। अतः ज्ञान ही सद्गुण है। इस प्रकार केवल एक ही सद्गुण है। (Virtue is one) और वह सद्गुण ज्ञान है।¹

सुकरात विभिन्न सद्गुणों में एकता स्थापित करके यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि करुणा, साहस, न्याय, धैर्य आदि एक ही सद्गुण (विवेक) के विभिन्न रूप या पहलू हैं। उनमें परस्पर विरोध नहीं होता है। ये सभी सद्गुण सामंजस्य पूर्ण हैं। इन पूर्वोक्त सद्गुणों के संप्रत्ययों का बिना ज्ञान हुए उन पर आचरण नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः सद्गुण का ज्ञान शिक्षण के द्वारा संभव है। किसी व्यक्ति के ज्ञान और आचरण में सामंजस्य होना उसके विवेकयुक्त (सद्गुणी) पुरुष होने की पहचान है। इसी प्रकार भारतीय नीतिज्ञों ने ऐसे व्यक्ति को महात्मा और इसके विपरीत जिसके चिन्तन और आचरण में एकरूपता का अभाव हो, (अर्थात् जिसके कर्म और ज्ञान में सामंजस्य का अभाव हो) उस व्यक्ति को दुष्ट कहा है।²

1. यहाँ पर सुकरात ने ज्ञान को स्वयं साध्य एवं परम पवित्र माना है। यह गीता के इस कथन के समान है — न हि ज्ञानेन सद्दृशं पवित्रमिह विद्यते। भगवद्गीता 4/38

2. मनस्येकं वचस्येकं कर्मस्वेकं महात्मेनाम्।
मनस्यन्तु, वचस्यन्तु, कर्मस्वन्तु दुरालानाम्।।

इससे स्पष्ट है कि सुकरात ने विवेक को समस्त सद्गुणों की आधारशिला माना है। इसके अन्तर्गत समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है। सद्गुण और आनन्द को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। कोई मनुष्य उस समय तक आनन्दमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकता है जब तक उसमें सद्गुण न हों। अतः सद्गुण या विवेक ही आनन्द का स्रोत है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान से ही आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। चूँकि ज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है और सद्गुण ज्ञान है, इसलिए सद्गुण की शिक्षा दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, सद्गुणों का अभ्यास किया जा सकता है।

सुकरात ने विवेक को ही औचित्य एवं सत्यत्व की कसौटी माना है। ज्ञान, सत्य, सद्गुण एवं औचित्य के लिए किसी बाह्य कसौटी की आवश्यकता नहीं है। यदि प्रोटागोरस के समान मनुष्य की निजी संवेदनाओं को ज्ञान एवं सत्य की कसौटी माना जाए तो सत्य व्यक्तिनिष्ठ हो जायेगा। चूँकि संवेदना पशुओं को भी होती है, इसलिए पशुओं के अनुभव को भी सत्य और ज्ञान की कसौटी मानना पड़ेगा। यदि सब मत सत्य हों तो कोई भी मत असत्य नहीं हो सकता है। इसके फलस्वरूप सत्य और असत्य में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता है। अतः प्रोटागोरस को यह मान लेना चाहिए कि उसका (प्रोटागोरस) मत असत्य है। प्रोटागोरस को दूसरों को उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रोटागोरस का तात्त्विक आधार आलमघाती है। प्रोटागोरस के द्वारा प्रयुक्त कसौटी (मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है) को स्वीकार करने से सभी निर्णयों और स्वयं उसका मत असंभव सिद्ध हो जाता है। अतः सुकरात ने प्रोटागोरस के इस सिद्धान्त का निराकरण करके ज्ञान एवं सद्गुण के लिए सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों की स्थापना पर बल दिया। सुकरात के अनुसार, प्रत्येक निषेधालक ज्ञान का एक स्वीकारालक आधार होता है। इसका विवेचन ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। असत्य की संभावना और अस्तित्व सत्य की संभावना और अस्तित्व को सिद्ध करता है।¹ सुकरात का यह कथन — “स्वयं को जानो” (Know thyself) का अर्थ है — अपने ज्ञान और बौद्धिक क्षमता की सीमाओं को समझो। अज्ञान का ज्ञान होना ज्ञान की सीमाओं को समझने के लिए आवश्यक है। उसके अनुसार केवल विवेक युक्त मनुष्य ही स्वयं को जान सकता है। इस दृष्टि से आल-ज्ञानी ही आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

सुकरात की अभिरुचि इसमें थी कि मनुष्य का जीवन आचार-व्यवहार में उच्च कोटि का होना चाहिए। उसका दर्शन कोरा उपदेश एवं बौद्धिक मनोविनोद नहीं है। दर्शन जीवन के लिए है। यह एक जीवन पद्धति है। उसने एक सामंजस्यपूर्ण एवं सन्तुलित जीवन चर्या पर विशेष बल दिया। वह वासनाओं के नाश पर नहीं, बल्कि उनके नियमन एवं आल-संयम पर बल देता है। यह विवेक के द्वारा ही संभव है। जिसमें विवेक नहीं है वह व्यक्ति आल-संयमी नहीं हो सकता है। आनन्दमय जीवन-यापन के साथ-साथ सामाजिक कल्याण के लिए भी विवेक एवं आल-संयम की आवश्यकता होती है। सुकरात की इस मान्यता का आशय यह है कि ज्ञानी ही सद्गुण से युक्त हो सकता है। नैतिक आचरण का अनुगमन वही मनुष्य कर सकता है जिसे औचित्य के संप्रत्यय का ज्ञान हो। औचित्य का ज्ञान नैतिक आचरण के अभाव में निरर्थक हो जाता है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या सद्गुणों के ज्ञान मात्र से कोई मनुष्य सद्गुणी हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि नैतिक संप्रत्ययों को जानने वाले लोगों का आचरण अनैतिक होता है। औचित्य को जानते हुए भी प्रायः लोग तदनुरूप आचरण नहीं करते हैं।¹ इस दृष्टि से मनुष्य का आचरण उसके संस्कारों और प्रवृत्तियों पर निर्भर होता है। उसका ज्ञान से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है। किन्तु सुकरात की दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-आचरण और संस्कार दोनों से होता है। ज्ञान केवल तथ्यात्मक या संप्रत्ययात्मक सूचना नहीं है, बल्कि इससे कुछ अधिक है। यह कहना कि “मैं धर्म अथवा सद्गुण (Virtue) को जानता हूँ, किन्तु उसके अनुरूप आचरण नहीं करना चाहता हूँ, सद्गुण की गलत अवधारणा पर आधारित है। इसे सूचनात्मक ज्ञान भले ही कहा जाए, किन्तु यह विवेकपूर्ण ज्ञान (अवधारणा) नहीं है। वस्तुतः अविवेक के कारण ही लोग जान-बूझकर अनुचित आचरण प्रस्तुत करते हैं।

सुकरात ने शुभ (Good) और सद्गुण (Virtue) के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया है। यद्यपि वह स्पष्ट रूप से कहता है कि ज्ञान सद्गुण है और सद्गुण शुभ है, तथापि उसने दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन नहीं किया है। शुभ और सद्गुण में कौन अधिक मौलिक है, इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी है। इसी प्रकार विवेक और आनन्द में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर सुकरात के दर्शन में नहीं मिलता है।

यद्यपि सुकरात की नैतिक शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक है, फिर भी यह न तो सर्वजन सुलभ है और न सरलता से बोधगम्य है। उसकी शिक्षा विवेक युक्त आचरण वाले कुछ पुण्यात्माओं के लिए ही है। उसके उपदेश भले ही उत्साहवर्धक रहे हैं, फिर भी उसमें यह पूर्वाग्रह निहित है कि मानव के समस्त नैतिक कर्म विवेक पूर्वक ही किये जा सकते हैं। इसके विपरीत अनैतिक कर्म अज्ञान जन्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, केवल अविवेकी पुरुष ही अनुचित कर्म कर सकता है, यह अवधारणा पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। वास्तव में सुकरात का कोई स्वरचित ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण उसके दार्शनिक विचारों की जानकारी प्लेटों की कृतियों से ही होती है। वस्तुतः सुकरात जिस युग में पैदा हुए थे उस समय शुभ, सद्गुण, विवेक आदि संप्रत्ययों के शास्त्रीय विवेचन की परम्परा विकसित नहीं थी। किन्तु उनके दर्शन के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी पहलू हैं — प्रथम यह है कि समस्त ज्ञान संप्रत्ययात्मक होता है और द्वितीय पहलू यह है कि ज्ञान सद्गुण है। सुकरात का सबसे बड़ा योगदान ज्ञान और सद्गुण (नीतिशास्त्र) के सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों (Paradigms) का प्रतिपादन करना है। सुकरात की इसी दार्शनिक परम्परा की देन प्लेटो और अरस्तू का दर्शन है। सुकरात का प्रादुर्भाव न केवल एथेन्स के लिए, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के दार्शनिक जगत् के लिए एक महत्वपूर्ण घटना है। यह दर्शन के अभिनव युग का उन्मेष है। प्लेटो का दर्शन सुकरात का ऋणी है। इसे प्लेटो ने सहर्ष स्वीकार किया है। प्लेटो के बाद विकसित प्रायः सभी दार्शनिक सिद्धान्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सुकरात के प्रसिद्ध सिद्धान्त — “ज्ञान संप्रत्ययात्मक होता है” से प्रभावित रहे हैं।

1. महाभारत के अनुसार दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा कि मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, तथापि उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है — जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।

(ब) प्लेटो (428 — 345 ई० पू०)

प्लेटो (अफलातून) का जन्म ई० पू० 428 में एथेन्स के एक सम्पन्न कुलीन परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि प्लेटो के विस्तृत कर्णों एवं स्वस्थ तथा सुदृढ़ शरीर को देखकर उनके गुरु सुकरात ने उन्हें 'प्लेटो' नाम से संबोधित किया। उसके बाद यह नाम विश्व के इस महान दार्शनिक के लिए आरूढ़ हो गया। इनका प्रारम्भिक नाम 'अरिस्तोकलीज' था। एक कुलीन और राजनीतिक परिवार से सम्बन्ध होने के कारण उनकी स्वाभाविक अभिरूचि राजनीति में थी। किन्तु राजनीति के दोषों और दुर्गुणों के कारण चाहते हुए भी प्लेटो ने सक्रिय राजनीति में प्रवेश नहीं किया। उन्होंने अपनी बीस वर्ष की उम्र से लेकर अट्ठाईस वर्ष की आयु तक अपने प्रिय और श्रेष्ठ शिक्षक सुकरात से शिक्षा ग्रहण किया, जिसका उनके जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा। प्लेटो सुकरात के जीवन के अन्तिम समय तक उनके प्रिय शिष्य बने रहे। वे सुकरात के जीवन और चरित्र से बहुत प्रभावित रहे। सुकरात का शिष्य होने में प्लेटो ने स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया। इसे वे अपने ऊपर ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा मानते थे। इस संदर्भ में प्लेटो का यह कथन प्रसिद्ध है — "मैं ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद देता हूँ क्योंकि मैं एक ग्रीक जाति में पैदा हुआ, किसी असभ्य (बर्बर) या कूर जाति में नहीं, क्योंकि मैं एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में पैदा हुआ, गुलाम के रूप में नहीं, क्योंकि मैं एक पुरुष के रूप में पैदा हुआ, स्त्री जाति के रूप में नहीं, परन्तु इन सब से भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि मैं सुकरात के युग में पैदा हुआ।"¹

उल्लेखनीय है कि उस समय की राज्य सरकार के द्वारा नव युवकों को राज्य के विरुद्ध उकसाने और कानून के उल्लंघन का आरोप लगाकर के सुकरात पर अभियोग चलाया गया। इसके फलस्वरूप जूरी के बहुमत के द्वारा सुकरात को मृत्यु-दण्ड (विष-पान) का आदेश दिया गया। सुकरात की मृत्यु प्लेटो के समक्ष ही घटित हुई। यह प्लेटो के जीवन की हृदय-विदारक घटना थी। प्लेटो ने इसका मार्मिक चित्रण अपने 'प्रजातन्त्र' (Republic) में किया है।

सुकरात की मृत्यु के बाद मर्माहत प्लेटो ने 12 वर्ष तक विभिन्न देशों की यात्रा किया। इस दौरान उसने दार्शनिक जीवन-यापन का संकल्प किया। 399 ई० पू० में सुकरात की मृत्यु के बाद प्लेटो ने अपनी यात्रा प्रारम्भ किया। बिलडून्ट के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि प्लेटो ने किन-किन स्थानों की यात्रा की। किन्तु उसने मिस्र (EGYPT), सिसली, इटली इत्यादि देशों की यात्रा करके विवेक अर्जित करने का प्रयास किया। कहा जाता है कि उसने जूडिया (Judea) एवं गंगा नदी के तटवर्ती स्थानों का भी दर्शन किया और हिन्दू मनीषियों की रहस्यवादी साधना से प्रभावित हुआ है। वह चालीस वर्ष की उम्र में पुनः एथेन्स वापस लौटा।² सुकरात की मृत्यु के 17 वर्ष बाद प्लेटो ने सुप्रसिद्ध अकादमी की स्थापना करके ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसमें गणित, विशेष रूप से ज्यामिति की शिक्षा को प्राथमिकता प्रदान की गयी।

1. (I thank God, that I was born Greek, and not barbarian, Freeman and not slave, man and not woman, but above all that I was born in the age of Socrates.) "The Story of Philosophy, Will Durant, p. 12.
2. वही, पृ० 13

प्लेटो का दार्शनिक राजा का आदर्श सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह कहता है कि जब तक दार्शनिक (लोग) राजा न बन जाएँ या विश्व के राजाओं एवं राजकुमारों में दार्शनिक चेतना न जागृत हो उठे एवं राजनीतिक महानता तथा विवेक एक में सम्मिलित न हो जाएँ और जो लोग इनमें से एक (राजनीतिक शक्ति अथवा दार्शनिक विवेक) गुण का परित्याग करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं उनको अलग होने के लिए बाध्य न कर दिया जाय तब तक नगर बुराईयों से रहित नहीं हो सकता और न सम्पूर्ण मानव जाति को शान्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा मैं विश्वास करता हूँ।”¹

वस्तुतः प्लेटो के दर्शन में पाश्चात्य विचारधारा का प्रौढ़ रूप अभिव्यक्त होता है। यहाँ तक कि सुकरात के दार्शनिक चिन्तन की जानकारी भी हमें प्लेटो की रचनाओं से ही मिलती है। सुकरात के द्वारा विरचित कोई कृति उपलब्ध नहीं हैं। प्लेटो ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से की है। इन संवादों (Dialogues) में दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त राजनीति, शिक्षा, नीतिमीमांसा, समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त आदि का भी विवेचन मिलता है। उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथाओं, रूपकों, उपमाओं, नीति कथाओं आदि का प्रयोग किया है। इससे उनके संवादों में वैज्ञानिकता का अभाव पाया जाता है। इन्हें कुछ आलोचक अफलातूनी गल्प (Platonic Myths) कहते हैं। साहित्यिक उत्कृष्टता से युक्त होते हुए भी ये गल्प दुर्बोध प्रतीत होते हैं।

प्लेटो की अनेक रचनाएँ हैं। किन्तु इन रचनाओं में से कुछ विशेष रूप से उपयोगी हैं जो प्लेटो के प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं। दार्शनिक दृष्टि से एपोलॉजी एक प्रमुख रचना है। प्लेटो की सबसे प्रसिद्ध रचना रिपब्लिक है जिसमें न केवल राजनीतिक दर्शन है, बल्कि कला; शिक्षा, दर्शन आदि सभी विधाएं समायोजित हैं। इसके अतिरिक्त थीटेटस में प्लेटो की ज्ञानमीमांसा के निषेधालक पक्षों का निरूपण किया गया है। प्लेटो की अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं में हिप्पियस माइनर, लेकीज, क्रीटो, प्रोटागोरस आदि उसके दार्शनिक चिन्तन की प्रथम अवस्था के संवाद हैं। जार्जियस थीटेटस, सोफिस्ट, स्टेट्समैन, पार्मेनाइडीज आदि उसके दार्शनिक चिन्तन के द्वितीय युग की रचनाएं हैं। तीसरे वर्ग के संवादों में सिम्पोजियान, टिमैयास, फीडो, फिलेबुस और रिपब्लिक प्रमुख रचनाएं हैं।

प्लेटो की ज्ञानमीमांसा (Theory of Knowledge)

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्लेटो को बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा का प्रवर्तक माना जा सकता है। उनकी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है : निषेधालक दृष्टि (Negative point of View) से थीटेटस में प्लेटो ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ज्ञान क्या नहीं है। ज्ञान के स्वरूप एवं विषय को तब तक नहीं जाना जा सकता है, जब तक कि अज्ञान अर्थात् जो ज्ञान नहीं है, का ज्ञान न हो जाए। अतः ज्ञान को जानने से पहले जो ज्ञान नहीं है, उसे जानना आवश्यक है। जब सुकरात ने कहा ‘अपने को

1. “Until Philosophers are kings or kings and princes of the world have the spirit and power of philosophy, cities will never have rest from evils no, nor the human race, as I believe.” [Republic, part IV, p. 203]

जानो' (Know Thyself) तो इसका अर्थ अपने ज्ञान की सीमाओं को जानने से है। अज्ञान, असत्य, भ्रम आदि का ज्ञान क्रमशः ज्ञान, सत्य और प्रामाणिक ज्ञान (प्रमा) की तार्किक प्राप्ति है।¹ प्लेटो के अनुसार यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष (Perception) और मत (Opinion) को ज्ञान माना जाय तो प्रामाणिक तथा दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य जगत् के सतही स्वरूप की प्रतीति भले ही हो, किन्तु इसके द्वारा वस्तुओं के सार तत्त्व का बोध नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष और मत पर आधारित विश्वास सत्य एवं असत्य दोनों हो सकते हैं। यदि वे सत्य भी हो जायें तो उनकी सत्यता भावनाओं और सांयोगिक घटनाओं पर आधारित होती है। प्रत्यक्ष के विषय एवं मत स्थिर और शाश्वत नहीं, बल्कि परिवर्तनशील होते हैं। उनकी सत्यता आपातिक होती है। दार्शनिक दृष्टि से सम्यक् ज्ञान सत्य के प्रति प्रेम के बिना असंभव है। दार्शनिक ज्ञान प्रत्ययों के स्वरूप के चिन्तन में निहित है। सत्य के प्रति अनुराग ही प्रत्यक्ष से बौद्धिक ज्ञान की ओर और विशेष से सार्वभौमिक ज्ञान की ओर ले जाता है। प्रत्ययों या सामान्यों का ज्ञान बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) से प्राप्त होता है। यही सम्यक् ज्ञान है।

क्या ज्ञान प्रत्यक्ष है? यदि सोफिस्टों के समान प्रत्यक्ष को ही ज्ञान मान लिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति की प्रतीतियों को ही सत्य मानना पड़ेगा। किन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की ऐन्द्रिक प्रतीतियाँ एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं। किसी व्यक्ति की निजी प्रतीतियों को प्रामाणिक ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक व्यक्ति की प्रतीति दूसरे व्यक्तियों की प्रतीतियों एवं अनुभूतियों से भिन्न और यहाँ तक कि उसकी विरोधी भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त हमारे प्रत्यक्ष कभी-कभी भ्रान्त भी हो सकते हैं। व्यक्ति की शारीरिक अवस्थाओं एवं मनोदशा के अनुसार एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखायी पड़ती है। सामने रखी हुई मेज दूर से देखने पर छोटी, बगल से देखने पर तिरछी इत्यादि विभिन्न रूपों में प्रतीत होती है। पुनश्च यदि व्यक्ति के निजी अनुभव को ही एकमात्र प्रमाण माना जाय, तो इस दृष्टि से सभी प्रत्यक्षों को सत्य मानना पड़ेगा। इसके फलस्वरूप भ्रान्त प्रत्यक्ष और अभ्रान्त अथवा यथार्थ प्रत्यक्ष (Veridical Perception) में भेद नहीं किया जा सकता है।

यदि प्रत्यक्ष को ज्ञान माना जाय तो विभिन्न स्तर के व्यक्तियों के ज्ञान को समान रूप से प्रामाणिक मानना पड़ेगा। विभिन्न प्रकारों के मतों में किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता है। किन्तु यह हमारे दैनिक जीवन के अनुभव के भी विरुद्ध है। हम देखते हैं कि कुछ लोग अधिक कर्म कौशल से युक्त ज्ञानी होते हैं तो कुछ लोगों का ज्ञान अतिसाधारण तथा सतही होता है। कतिपय लोग अल्पज्ञ होते हैं। प्रत्यक्ष को ज्ञान मान लेने पर विद्वान और मूर्ख, अध्यापक और छात्र, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक आदि में ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से कोई भेद करना असंभव हो जायेगा। अतः सोफिस्टों के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति में निहित है। प्रोटागोरस का यह सिद्धान्त कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है (Homo Mensura), आलघाती है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रतीति को ही प्रामाणिक माने

1. तुलना कीजिए — ज्ञान कहे अज्ञान बिनु, तम बिनु कहे प्रकाश।
निरगुन कहे सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास।। (दोहावली से उद्धृत)

लगे तो सत्य आलमनिष्ठ हो जायेगा। ज्ञान के समस्त वस्तुनिष्ठ मानदण्ड ध्वस्त हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त जो मुझे प्रतीत होता है, वह हमारे लिए सत्य होगा। अतः यदि मुझे यह प्रतीत होता है कि प्रोटागोरस का मत असत्य है तो उन्हें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि उनका मत असत्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपनी प्रतीति को ही प्रमाण मानना आलमव्याघाती है। पुनश्च यदि प्रत्यक्ष को ज्ञान माना जाए तो मनुष्य के समान पशुओं को भी प्रत्यक्ष होता है। यहाँ तक कि कुत्ते की घ्राण-शक्ति और गिद्ध की चाक्षुष-शक्ति मनुष्यों से अधिक होती है। किन्तु कोई उन्हें ज्ञानी नहीं कहता है। वस्तुतः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी शुद्ध संवेदन मात्र नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए भी वर्गीकरण (Classification) और तुलना (Comparision) की आवश्यकता होती है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत कुछ ऐसे तत्त्व सम्मिलित हैं जो प्रत्यक्ष से परे हैं। इसके अतिरिक्त प्लेटो की ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा केवल ज्ञान हो सकता है। यह एक प्रकार का विश्वास मात्र है। वस्तुतः प्रत्यक्ष की सार्थकता केवल बाह्य जगत् के परिवर्तनशील एवं सतही रूप का ही संवेदनात्मक अनुभूतियों से संभव नहीं है। ये अनुभूतियाँ तो पशुओं को भी हो सकती हैं। किन्तु पशु में वर्गीकरण, तुलना और नामकरण की शक्ति नहीं होती है। मानव के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष विना तुलना, वर्गीकरण और नामकरण के अर्थपूर्ण नहीं हो सकता है। स्पष्ट है कि तुलना (Comparison), वर्गीकरण (Classification), नामकरण (Naming) और अमूर्तीकरण की शक्ति बौद्धिक व्यापार हैं। इन बौद्धिक क्रियाओं के अभाव में कोई प्रत्यक्ष सार्थक नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, इन सार्थक प्रत्यक्षों की संरचना में संवेदनाओं के साथ-साथ बौद्धिक तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किन्तु बौद्धिक क्रियाकलापों से युक्त और नियमित संवेदनाओं से प्राप्त ज्ञान भी जगत् के बाह्य या सतही ढाँचे का एक चित्र मात्र है। इसे एक प्रकार के विश्वास की कोटि में रखा जा सकता है, जो कभी सत्य तो कभी असत्य होता है।

क्या ज्ञान मत है? (Is Knowledge opinion)? — प्लेटो के अनुसार जिस प्रकार प्रत्यक्ष को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार मत को भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि सत्य मत अथवा विश्वास अटकलबाजी से भिन्न होता है। अटकलबाजी निराधार, अन्धविश्वासपूर्ण तथा सांयोगिक होती है। जैसे कोई व्यक्ति रविवार को इस आधार पर लाटरी का टिकट खरीदता है कि यह उसके लिए सौभाग्यशाली दिन (Lucky day) होता है। मान लीजिए संयोगवश उसकी लाटरी निकल आती है। यद्यपि यह अटकलबाजी सत्य सिद्ध हो सकती है, तथापि इसे तार्किक विश्वास या सत्य मत की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान बौद्धिक विश्वास एवं सत्य मत से भिन्न होता है। किसी व्यक्ति के लिए अपने विश्वासों को त्यागना, सुधारना, संशोधित और परिवर्धित करना संभव है। किन्तु ज्ञान के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। हमारे विश्वासों एवं मतों में चढ़ाव-उतार अथवा अस्थिरता ज्ञान के स्वरूप को प्रभावित नहीं कर सकती है।

हमारे विश्वास सहज प्रवृत्त्यात्मक एवं आस्थापरक होते हैं। इसके विपरीत ज्ञान सहज प्रवृत्तियों एवं विश्वासों पर आधारित नहीं होता है। ज्ञान समग्र बौद्धिक समझ और तार्किक बोध पर आधारित होता है। कौशलपूर्ण संभाषण, वाक्पटुता एवं भावोत्तेजना आदि के द्वारा विश्वासों को बदला जा सकता है। वास्तव में मानव-विश्वास एवं मत अस्थायी होते हैं। किन्तु

ज्ञान बौद्धिक होता है और उसे तर्कों तथा भावोत्तेजना के द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। ज्ञान किसी विषय के सम्यक् बोध एवं उसकी सत्यता के सकारण समझ पर आधारित होता है, अर्थात् यह किसी विषय के ज्ञान की सत्यता के कारणों का भी ज्ञान है। कोई बात क्यों सत्य है? इसकी सम्यक् समझ ज्ञान की आवश्यक शर्त है। हमारे मतभेद और विवाद विश्वास के किसी निकाय (System of Belief) के बारे में हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान (Knowledge) के सम्बन्ध में नहीं। यहाँ तक कि हमारे अनेक विश्वास या मत व्यक्तिगत सनक और प्रकृति वैशिष्ट्य पर आधारित होते हैं। किन्तु ज्ञान किसी कुतर्क, वाक्जाल और सनक पर आधारित नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान न तो सही मत है और न अटकल है।

प्लेटो के अनुसार निर्देशन एवं मार्गदर्शन के द्वारा लोगों को ज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। किन्तु सत्य मत को प्रेरणा एवं हृदयस्पर्शी वाक्-कौशल के द्वारा बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के विषय अपरिवर्तनशील, शाश्वत एवं विशुद्ध सत् प्रत्यय हैं। इसके विपरीत विश्वास के विषय परिवर्तनशील, अनित्य एवं न विशुद्ध सत् और न असत् होते हैं। वे कभी रहते हैं और कभी-कभी नहीं रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मत अथवा विश्वास ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रित रूप है। विश्वास का विषय प्रतीति होता है। किन्तु यह हमेशा समान रूप से स्थिर एवं कूटस्थ नहीं होता है। कुछ समय के बाद उसकी प्रतीति बाधित हो जाती है। अतः प्लेटो इसे ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न मानता है। वस्तुतः यह ज्ञान और अज्ञान के बीच की अवस्था है।

ज्ञान के निषेधालक पक्षों का निराकरण करने के बाद प्लेटो अपने ज्ञान-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनकी ज्ञानमीमांसा सुकरात के दर्शन की आधारशिला पर ही स्थापित हुई है। किन्तु प्लेटो ने अपने श्रद्धेय गुरु की अनेक मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्धन किया। उसके अनुसार ज्ञान का विषय अनिवार्य और सार्वभौमिक होता है। यह सार्वजनिक प्रतीति एवं एक वस्तुनिष्ठ मानदण्ड पर आधारित होता है। दार्शनिक ज्ञान प्रत्ययों (सामान्यों) अथवा विशुद्ध आकारों (Pure forms) का अन्तर्बोध है जो बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (प्रतिभा) से ही प्राप्त हो सकता है। ऐसा ज्ञान हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और सहज प्रवृत्तियों पर आश्रित विश्वासों से भिन्न और उनसे परे होता है। अतः सम्यक् ज्ञान (Knowledge Proper) न तो प्रत्यक्ष है और न मत है। यह प्रत्ययों का ज्ञान है।

रिपब्लिक में एक संवाद के माध्यम से प्लेटो ने ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह कहता है — ज्ञान का विषय वह है जो (वास्तव में) है और अज्ञान का विषय वह है जो नहीं (असत्) है।" वह पुनः प्रश्न करता है — क्या विश्वास भी कुछ होता है? यह (विश्वास) ज्ञान और अज्ञान दोनों से पृथक् होता है। विश्वास ज्ञान और अज्ञान की सीमाओं के अन्तर्गत आता है। यह दोनों के बीच की वस्तु है। इसका विषय अत्यन्त सत् और अत्यन्त असत् के बीच का है। दूसरे शब्दों में जो न पूर्ण सत् और न पूर्ण असत् हो वह विश्वास का विषय है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार ज्ञान का विषय सत् (सामान्य या प्रत्यय जगत), अज्ञान का विषय असत् और विश्वास का विषय सद्सत् (सत् और असत् दोनों) है। एक ज्ञान और दूसरे ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं हो सकता है। इसके विपरीत विश्वास और मत परस्पर

विरोधी हो सकते हैं। विश्वास 'जो है' (सत्) और 'जो नहीं है' (असत्) अर्थात् ज्ञान और अज्ञान के विषयों से भिन्न कोटि में आता है।

प्लेटो के दार्शनिक चिन्तन पर उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों पाइथागोरस, हेराक्लाइटस, पार्मेनाइडीज और सुकरात का प्रभाव स्पष्ट रूप से उपलक्षित होता है। उनका गणित के प्रति उद्दात्त प्रेम, बौद्धिक रहस्यवाद, आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त, आत्मा की अमरता, इत्यादि उन पर आर्किक परम्परा और पाइथागोरस के प्रभाव का सूचक है। प्लेटो ने पार्मेनाइडीज के इस सिद्धान्त को अपनाया कि सत्ता शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। परिवर्तन एक प्रकार का भ्रम है। वह हेराक्लाइटस के संभूति सिद्धान्त को इस दृष्टि से स्वीकार करता है कि इन्द्रियानुभवगम्य जगत् शाश्वत रूप से परिवर्तनशील है। किन्तु प्लेटो के अनुसार चूँकि सत्ता अपरिवर्तनशील है इसलिए उसका ज्ञान परिवर्तनशील इन्द्रियानुभव से नहीं हो सकता है। यद्यपि सुकरात के प्रति प्लेटो के मन में अगाध श्रद्धा थी, फिर भी उसने सुकरात के सामान्यों के सिद्धान्त, द्वन्द्वन्याय, शुभ का सिद्धान्त और प्रयोजनवाद को संशोधित और परिमार्जित रूप में स्वीकार किया है। प्लेटो की ज्ञानमीमांसा का घनिष्ठ सम्बन्ध उसके प्रत्यय सिद्धान्त से है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय वास्तविक हैं। वे ही मानव-ज्ञान के यथार्थ विषय हैं।

प्रत्यय—सिद्धान्त

प्रत्यय-सिद्धान्त (Theory of Ideas) ही प्लेटो के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। यह प्लेटो का एक मौलिक सिद्धान्त है। इसका सम्बन्ध एक ओर ज्ञानमीमांसा से है तो दूसरी ओर तत्त्वमीमांसा से है क्योंकि प्रत्ययों की वास्तविक सत्ता है। प्रत्ययवाद ज्ञानमीमांसीय होने के साथ-साथ सत्ता के ढाँचे (The structure of reality) से भी सम्बन्धित है। यही कारण है कि प्लेटो के दर्शन में ज्ञानमीमांसा और तत्त्व मीमांसा परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं। प्लेटो का 'आत्मा' भी प्रत्ययों के लोक का निवासी है। उसका प्रत्ययवाद और आत्मवाद परस्पर अवियोज्य हैं। रिपब्लिक में प्लेटो ने 'ज्ञान' और 'मत' में इस दृष्टि से भेद किया है कि ज्ञान के विषय प्रत्यय हैं और मत के विषय प्राकृतिक (दृश्य) वस्तुएं हैं। वह ज्ञान के विषयों अर्थात् प्रत्ययों को स्थिर, अपरिवर्तनशील और वास्तविक सत्ता कहता है। अतः ज्ञान सदैव सत्य, अनिवार्य, असंदिग्ध और स्थिर (अपरिवर्तनशील) होता है। इसके विपरीत विश्वास और मत के विषय संदिग्ध, परिवर्तनशील, संशोधनीय और आपातिक होते हैं। दूसरे शब्दों में, मत की सत्यता आपातिक, अस्थायी और कामचलाऊ (तदर्थ) होती है।

प्लेटो के पूर्ववर्ती पार्मेनाइडीज और हेराक्लाइटस ने दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना किया था। पार्मेनाइडीज ने सत्ता (Being) को अपरिवर्तनशील, नित्य और कूटस्थ (अविकारी) माना है। इसके विपरीत हेराक्लाइटस ने अनात्मवादी बौद्धों के समान संभूति (Becoming) अर्थात् परिवर्तन (Change) को ही वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया। प्लेटो के प्रत्ययवाद और ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत इन दोनों सिद्धान्तों में समन्वय करने का प्रयास किया गया है। किन्तु प्लेटो संभूति की अपेक्षा 'सत्' को अधिक महत्व देता है। प्रत्ययों के स्वरूप का निर्धारण करने में वह पार्मेनाइडीज के 'सत्-सिद्धान्त' (Theory of Being) से प्रभावित है। दार्शनिक दृष्टि से प्रामाणिक ज्ञान केवल नित्य एवं कूटस्थ तत्त्व का ही

हो सकता है। जिसके द्वारा परस्पर विरोधी गुणों की स्थापना की जा सके उसे प्रामाणिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसे केवल 'मत' की संज्ञा दी जा सकती है। प्लेटो दृश्य जगत् की परिवर्तनशीलता, अस्थिरता और विशिष्टता की व्याख्या करने में हेराक्लाइटस के संभूति-सिद्धान्त का सहारा लेता है। इन्द्रियानुभव के द्वारा दृश्य जगत् के बारे में केवल एक 'मत' बन सकता है। इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान की प्राप्ति केवल बुद्धि के द्वारा ही हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रवृत्ति मूलक विश्वास से भिन्न एक बौद्धिक क्रिया है। इन्द्रियानुभव से प्राप्त दृश्य जगत् का ज्ञान दार्शनिक दृष्टि से प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। प्रामाणिक ज्ञान का सम्बन्ध प्रत्ययों या आकारों के ज्ञान से है। इसी प्रकार प्लेटो ने दृश्य जगत् को विश्वास एवं मत का विषय कहा है। उसने अपने सिद्धान्तों की स्थापना करने के लिए अनेक संवादों का प्रयोग किया है। वह 'रिपब्लिक' के पञ्चम प्रकरण में एक संवाद के माध्यम से अपने प्रत्ययवाद की स्थापना करता है। उदाहरण के लिए इन संवादों का संक्षिप्त उल्लेख करना रोचक होगा — वह कहता है, महोदय ! अनेक प्रकार की सुन्दरताओं में ऐसी कौन-सी सुन्दरता है जो कभी कुरूप नहीं प्रतीत होती है तथा 'न्याय' के अनेक उदाहरणों में वह कौन-सा न्याय है जो कभी अन्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। अनेक शुभों में वह कौन-सा शुभ है जो कभी अशुभ नहीं होता है।" इसके उत्तर में कहा गया है — जो भी दृश्यमान वस्तुएँ हैं वे सब किसी न किसी रूप में दोनों प्रतीत होती हैं — सुन्दर और असुन्दर, न्याय और अन्याय, शुभ और अशुभ इत्यादि। दृश्यमान (अनुभवगम्य) वस्तुओं और गुणों को सत् और असत् के बीच की वस्तु के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता है। दृश्यमान जगत् की वस्तुएँ असत् से अधिक अन्धकारमय नहीं हैं और सत् से अधिक प्रकाशमान नहीं हैं। सौन्दर्य, न्याय, शुभत्व आदि का वर्णन करने वाला जनसमुदाय सौन्दर्य, न्याय आदि के इस सापेक्ष और सतही स्वरूप को ही ग्रहण कर पाता है। ये सब सत् और असत् अथवा ज्ञान एवं अज्ञान के बीच की अवस्था से सम्बन्धित हैं। इन्हें विश्वास का विषय कहा जा सकता है। प्लेटो के इस मत की तुलना अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित दृश्य जगत् के मिथ्यात्व से की जा सकती है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार दृश्य जगत् न तो सत् है और न असत् है। जगत् सत् और असत् दोनों के सम्मिश्रण (मिथुनीकरण) से बना है।¹ इसी प्रकार प्लेटो भी जगत् को पूर्ण सत् और पूर्ण असत् के बीच की अवस्था मानता है।

प्रश्न उठता है कि वास्तविक सौन्दर्य क्या है? प्लेटो कहता है कि हम अनेक सुन्दर वस्तुओं को देखते हैं, किन्तु वास्तविक सौन्दर्य को नहीं देखते हैं। सौन्दर्य, न्याय, शुभत्व आदि के इन्द्रियानुभव में आने वाले विविध रूप विश्वास के विषय हैं। सामान्य लोगों को इनका कोई ज्ञान नहीं होता है। वास्तविक सौन्दर्य, न्याय, शुभत्व आदि सामान्य या प्रत्यय हैं। वे स्वरूपतः सामान्य (सार्वभौम) सत्ता हैं। उनका ज्ञान बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) से ही हो सकता है। यही सच्चा दार्शनिक ज्ञान है।

'ग्रेटर हिप्पियास' नामक संवाद में प्लेटो दृश्यमान वस्तुओं के स्वरूप एवं गुणों की सापेक्षता का प्रतिपादन करता है। सुकरात एक छात्र के रूप में हिप्पियस से प्रश्न करता है —

1. सत्यान्ते मिथुनीकृत्य अहमिदम् ममेदम् नैसर्गिकोऽयम् लोकव्यवहारः। देखिये शारीरिक भाष्य में अध्यास का विवेचन।

सुन्दरता क्या है? किस तत्त्व के कारण सभी सुन्दर वस्तुएँ सुन्दर प्रतीत होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हिप्पियस एक सुन्दर कुमारी (नवयौवना सुन्दरी) का उदाहरण देता है। किन्तु सुकरात पुनः कहता है — क्या एक सुन्दर घोड़ी, एक सुन्दर लंगूर एवं अन्य सुन्दर वस्तुएँ सुन्दरता के उदाहरण नहीं हो सकती हैं? ये सब सुन्दरता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु यदि किसी सर्वाधिक सुन्दर लंगूर की तुलना किसी मनुष्य से की जाय तो उस सुन्दर लंगूर को एक मनुष्य की अपेक्षा कम सुन्दर या कुरूप ही कहा जाएगा। इसी प्रकार यदि सुन्दर नवयुवती की तुलना किसी देवी से की जाय तो सर्वाधिक सुन्दर कुमारी (नवयुवती) भी उस दैवी सौन्दर्य से युक्त देवी की अपेक्षा कम सुन्दर (अथवा कुरूप) ही समझी जायेगी। प्लेटो के इस संवाद से स्पष्ट है कि सुन्दरता, न्याय, शुभ आदि की दृश्यमान अभिव्यक्तियाँ सापेक्ष, परिवर्तनशील और तदर्थ हैं। यहाँ तक कि एक ही वस्तु कभी सुन्दर तो अन्य समयों में कुरूप प्रतीत होती है। जो रमणी कुमारी अवस्था में सुन्दर प्रतीत होती है वृद्धावस्था में सौन्दर्य के ढल जाने पर वही स्त्री कुरूप एवं आकर्षण रहित प्रतीत होती है। पूर्वोक्त संवाद में सुकरात के माध्यम से प्लेटो सौन्दर्य, न्याय, शुभत्व आदि पदों की परिभाषा की माँग करता है। यह कैसे संभव है कि एक ही व्यक्ति (जैसे स्त्री) कभी सुन्दर तो कभी कुरूप प्रतीत होती है। हिप्पियस अनेक विकल्पों पर विचार करता है, फिर भी वह इसे परिभाषित नहीं कर पाता है। अन्त में सुकरात के माध्यम से प्लेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचता है — ‘किसी भी वस्तु को सुन्दरता (के प्रत्यय) की उपस्थिति या सहभागिता के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सुन्दर नहीं बना सकती है। सुन्दरता के प्रत्यय के द्वारा ही सभी वस्तुएँ सुन्दर प्रतीत होती हैं। यही सबसे से अधिक उपयुक्त उत्तर प्रतीत होता है।’¹

अपने अनेक संवादों के माध्यम से प्लेटो ने यह स्पष्ट किया है कि जिन वस्तुओं पर परस्पर विरोधी गुण आरोपित किये जा सकते हैं वे विश्वास या मत के विषय हैं। प्रश्न उठता है कि यदि सभी इन्द्रियगम्य वस्तुएँ विश्वास (मत) के विषय हैं तो ज्ञान का विषय क्या है? प्लेटो के अनुसार ज्ञान के विषय प्रत्यय अथवा सामान्य हैं। ये प्रत्यय नित्य आकार एवं वास्तविक सत्ता हैं। प्रश्न उठता है कि प्रत्यय या सामान्य क्या हैं? प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों के स्वरूप से सम्बन्धित समस्याएँ दुरुह और जटिल हैं। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रामाणिक ज्ञान से है। प्लेटो ने सोफिस्टों के द्वारा मान्य ज्ञान की सापेक्षता के सिद्धान्त का निराकरण किया है। उसके अनुसार दर्शन का लक्ष्य वस्तुओं के सामान्य स्वरूप (सार तत्त्व) का ज्ञान प्राप्त करना है। यह तभी संभव है जब ज्ञान में स्थिरता हो। यह स्थिरता इन्द्रियानुभूति के प्रवाह में नहीं हो सकती है। यह स्थिरता बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा ही आविर्भूत हो सकती है। उल्लेखनीय है कि सुकरात ने ज्ञान को संप्रत्ययात्मक और बौद्धिक माना था। सुकरात के अनुसार वस्तुओं के सर्वगत लक्षणों को ग्रहण करके और उनके विशिष्ट लक्षणों का परित्याग करके एक सामान्य संप्रत्यय की रचना की जाती है। सुकरात के सामान्य प्रत्यय मानसिक हैं। किन्तु प्लेटो ने सुकरात की मान्यताओं में संशोधन और परिमार्जन करने का प्रयास किया। प्लेटो के प्रत्ययों का ज्ञान भले ही बौद्धिक

1. Nothing makes a thing beautiful, but the presence of participation of beauty in whatever way or manner obtained I stoutly contend that by the idea of beauty all beautiful things become beautiful. This appears to me the safest answer which I can give to me the safest answer or to another.” Phaedo, 100 d (Quoted from: History of Ancient Philosophy, p. 178).

अन्तर्दृष्टि से होता है, तथापि वे मानसिक अवधारणाएं नहीं हैं। वे वास्तविक सत्ता हैं। प्लेटो उन्हें बौद्धिक अमूर्तीकरण से प्राप्त अमूर्त संप्रत्यय नहीं मानता है। प्लेटो सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रवर्तक है। उसके सामान्य अथवा प्रत्यय वस्तुनिष्ठ सत्ता हैं। अतः प्लेटो को पश्चिम में वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद का जनक कहा जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार विभिन्न सुन्दर वस्तुओं की गणना करके सुन्दरता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। सुन्दरता, न्याय, सदगुण, शुभत्व, सफेदी, लालिमा, मनुष्यत्व आदि के प्रत्यय वास्तविक और वस्तुनिष्ठ होते हैं। वे हमारे मन की कल्पना अथवा बौद्धिक अमूर्तीकरण के परिणाम नहीं हैं। प्लेटो के अनुसार एक ही नाम से निर्दिष्ट की जाने वाली वस्तुओं में कुछ समानताएं (Similarities) पायी जाती हैं। इस सादृश्य का ज्ञान इन आँखों से नहीं हो सकता है। सादृश्य के ज्ञान के लिए तुलना (Comparision), विश्लेषण और मूल्यांकन करने की आवश्यकता होती है। तुलना, विश्लेषण आदि बौद्धिक व्यापार हैं। विभिन्न वस्तुओं को जानने के लिए हमारे मन में उनका एक प्रत्यय होना चाहिए। ताकि उनकी तुलना करके यह निर्धारित किया जा सके कि वे समान वस्तुएं सुन्दर हैं, शुभ हैं, न्यायपूर्ण हैं इत्यादि। यदि सुन्दरता, शुभत्व, न्याय, सफेदी आदि को बाह्य जगत् की वस्तुओं के अनुरूप यथार्थ सत्ता न माना जाए तो ये प्रत्यय मानसिक कल्पना मात्र होंगे। यदि इन काल्पनिक प्रत्ययों को प्रतिमान (मानदण्ड) मान करके बाह्य वस्तुओं की सुन्दरता, उनके शुभत्व, न्यायपूर्ण होने आदि का निरूपण किया जाए तो यह सोफिस्टों के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है', का ही अनुमोदन करना होगा। प्लेटो का दावा है कि समाज और राज्य के द्वारा अनेक न्यायपूर्ण कर्म किये जाते हैं। किन्तु समस्त न्यायोचित कर्मों से पृथक् 'न्याय' का एक प्रत्यय है। सुन्दरता, न्याय, मित्रता आदि के प्रत्यय प्राकृतिक जगत् से परे हैं। प्रत्ययों का अपना एक अलग लोक है जो प्राकृतिक जगत् से भिन्न है। इसे प्रत्ययों का दिव्य जगत् (The Divine world of Ideas) कहा जाता है। प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त नैतिक, सौन्दर्यशास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रत्ययों के साथ-साथ सभी संभावित सामान्य प्रत्ययों पर लागू होता है। यहाँ तक कि कुरूपता, अन्याय, अशुभत्व, असदगुण आदि के भी प्रत्यय सामान्य और वास्तविक होते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं, गुणों, सम्बन्धों, आदि के प्रत्ययों को भी वास्तविक तथा वस्तुनिष्ठ माना गया है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो के अनुसार प्राकृतिक जगत् स्वरूपतः सामान्यों पर आश्रित है।

प्रत्ययों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ

अरस्तू के मतानुसार प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों की सत्ता को इस जगत् से परे एक पृथक् लोक में सिद्ध करने के लिए प्लेटो ने पाँच युक्तियाँ दी हैं जो अधोलिखित हैं —

(1) वैज्ञानिक युक्तियाँ (Argument from Science) — इसके अनुसार इस लोक की वस्तुएं अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अतः वे ज्ञान के विषय नहीं हो सकती हैं। ज्ञान का विषय नित्य और अपरिवर्तनशील होना चाहिए। ये नित्य, अपरिणामी और सामान्य तत्त्व ही प्रत्यय हैं। इस जगत् में दृश्यमान वस्तुएं विशेष हैं। अतः प्रत्ययों की सामान्यता तर्कतः सिद्ध

होती है। यदि ये सामान्य प्रत्यय न हों तो ज्ञान और विज्ञान असंभव हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, ज्ञान की सार्वभौमिकता, नित्यता और स्थिरता प्रत्ययों के कारण है।

(2) अभेद पर आश्रित युक्ति (The argument of the one over the many) — प्राकृतिक जगत् में पायी जाने वाली अनेक विशेष वस्तुएं सामान्य नहीं हो सकती हैं। इस जगत् की सभी वस्तुएं विशेष हैं। सामान्यों की सत्ता इस लोक की विशिष्ट वस्तुओं से भिन्न किसी अन्य लोक में होनी चाहिए।

(3) अभावात्मक युक्ति (The argument from the knowledge of things that are no more) — विशेषों के न होने पर भी किसी वर्ग के सामान्य स्वरूप का चिन्तन किया जा सकता है। यदि किसी वर्ग के अन्तर्गत आने वाली कुछ विशेष वस्तुएं न हों तो भी उनके सामान्य स्वरूप को जाना जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि विशेषों के अभाव में भी सामान्यों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(4) सम्बन्धों पर आश्रित युक्ति (The argument from relation) — प्राकृतिक जगत् की सभी वस्तुएं प्रत्ययों की प्रतिलिपियाँ (Copies) हैं। यद्यपि जगत् की वस्तुएं प्रत्ययों के हू-बहू अनुरूप नहीं हैं, फिर भी वे प्रत्ययों के ही प्रतिबिम्ब हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत् की वस्तुएं प्रत्ययों के समान होती हैं। प्रत्यय वस्तुओं के नित्य आकार हैं। इसीलिए एक वर्ग की वस्तुओं को एक ही नाम (जैसे, सभी मनुष्यों को 'मनुष्य' नाम) से संबोधित किया जाता है। वस्तुओं के इन नित्य साँचों को ही प्लेटो ने प्रत्यय कहा है।

(5) तृतीय पुरुष के दोष पर आधारित युक्ति (The argument from the fallacy of the Third man) — इस युक्ति के अनुसार एक ही नाम से पुकारी जाने वाली विभिन्न वस्तुएं एक वर्ग (Class) के अन्तर्गत आती हैं। ये वस्तुएं अपने 'नाम' की अपेक्षा कम व्यापक होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सभी विशेष वस्तुएं एक 'सामान्य' तत्त्व के साथ समान रूप से सम्बन्धित होती हैं। यह सामान्य तत्त्व ही प्लेटो के प्रत्यय का दूसरा नाम है।

प्लेटो ने प्रत्ययों के स्वरूप पर पाँच दृष्टियों से विचार किया है जो अधोलिखित है —

(1) तात्त्विक दृष्टि से (From Ontological Point of view) — इस दृष्टि से प्रत्यय पूर्ण सत्ता हैं। वस्तुओं का स्वरूप और अस्तित्व प्रत्ययों के कारण हैं। वस्तुओं की सत्ता प्रत्ययों में सहभागिता (Participation) के कारण है। प्लेटो के प्रत्यय इस जगत् की वस्तुओं से भिन्न वास्तविक तत्त्व (सत्ता) के रूप में माने गये हैं।

(2) प्रयोजन की दृष्टि से (From Teleological Point of View) — इस दृष्टि से प्रत्यय वे नित्य साँचे (आकार) हैं, जिनकी सहायता से ईश्वर प्राकृतिक जगत् में स्थित वस्तुओं की रचना करता है। जगत् की वस्तुएं प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यय सांसारिक वस्तुओं की रचना करने वाली प्रवर्तक शक्तियाँ हैं। किन्तु प्रत्यय स्वयं समस्त गतियों एवं परिवर्तनों से रहित हैं।

(3) आकारिक दृष्टि से (From Formal Point of View) — प्रत्यय सामान्य अथवा वस्तुओं के सारतत्त्व हैं। वे ऐसी व्यवस्थापक शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा हम सजातीय वस्तुओं को विजातीय वस्तुओं से पृथक् करते हैं। यद्यपि प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों से सम्बन्धित इन तीनों

पक्षों का उल्लेख मिलता है, फिर भी उसने प्रत्ययों के तार्किक अथवा आकारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है।¹

(4) ज्ञानमीमांसीय दृष्टि (From Epistemological point of view) — इस दृष्टि से प्रत्यय ही ज्ञान के वास्तविक विषय हैं। प्रत्ययों की सहायता से ही भौतिक जगत् का विश्लेषण करने वाले विज्ञानों के द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में अनिवार्य और सार्वभौम नियमों की स्थापना की जाती है। फीडो में कहा गया है कि इन्द्रियानुभव से हमें प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि ऐन्द्रिक विषयों के द्वारा हमें प्रत्ययों का संस्मरण (Reminiscence) होने में सहायता मिलती है। वस्तुतः प्रत्यय ही ज्ञान के यथार्थ आकार हैं। इनका ज्ञान बौद्धिक अर्न्तदृष्टि से होता है।

(5) रहस्यात्मक दृष्टि से (From Mystical Point of View) — प्रत्यय शुभ (Good) की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्लेटो प्रत्ययों की एक व्यवस्थित श्रृंखला का विवेचन करता है। इस श्रृंखला में प्रत्ययों में परस्पर स्तरीय भेद हैं। प्रत्ययों की अभिव्यक्ति के अनेक स्तर हैं। उनमें उच्च स्तर और निम्न स्तर का भेद या तारतम्य है। उच्च स्तरीय प्रत्यय निम्न स्तरीय प्रत्ययों का नियमन करते हैं। इस स्तरीय तारतम्य के अन्तर्गत सर्वोच्च स्तर पर शुभ का प्रत्यय (Idea of Good) है। शुभ का प्रत्यय अन्य प्रत्ययों से भिन्न है क्योंकि अन्य सभी प्रत्यय 'शुभ' की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसे प्रत्ययों का भी प्रत्यय (Idea of Ideas) भी कहा जा सकता है। प्लेटो के दर्शन में शुभ का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है। इसे ईश्वर का पिता² कहा गया है। शुभ को पर (Transcendent) और अन्तर्व्याप्त (Immanent) दोनों माना गया है। अन्य प्रत्ययों की विविधता या अनेकता का शुभ के प्रत्यय में लय हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्लेटो सम्यक् ज्ञान के विषय के रूप में अपने प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करता है। प्लेटो के प्रत्यय सुकरात के संप्रत्ययों (Concepts) से भिन्न हैं। जहाँ सुकरात के प्रत्यय मानसिक हैं, वहाँ प्लेटो के प्रत्यय ऐसी सामान्य सत्ता हैं जो इस लौकिक जगत् से भिन्न एक अलौकिक जगत् या प्रत्यय-लोक (The world of Ideas) में रहते हैं। यद्यपि प्रत्ययों की सत्ता इस लोक में नहीं है, तथापि वे प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं के ही समान वास्तविक हैं। यहाँ तक कि इस लोक की वस्तुएं भी प्रत्ययों की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

प्रत्ययों के सर्वगत लक्षण और पारस्परिक सम्बन्ध

प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों के सिद्धान्त के विवेचन को 'द्वन्द्वन्याय (Dialectic) के नाम से जाना जाता है। द्वन्द्वन्याय का प्लेटो के दर्शन में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यद्यपि प्लेटो गणित (ज्यामिति) का प्रेमी था, किन्तु प्रत्ययों के स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बन्धों के ज्ञान को वह सर्वोत्तम ज्ञान कहता है। यही मानव-जीवन का सर्वोच्च और पवित्र लक्ष्य है। यह विशुद्ध रूप से दार्शनिक ज्ञान है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता है। इसके अध्ययन का क्रम गणित (ज्यामिति) के बाद आता है। संक्षेप में द्वन्द्वन्याय ही दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विषय और मानव-ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसके

1. आउट लाइन्स आफ दि हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलॉसोफी, पृ० 131.

2. The father of Captain.

अन्तर्गत प्रत्ययों की सामान्य विशेषताओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों, वर्गीकरण, प्रयोजन आदि का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है।

प्लेटो के प्रत्यय सामान्य सत्ता हैं। सामान्य वास्तविक सत्ता हैं, मानव के मन की कल्पना नहीं। प्लेटो को सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त का आदि प्रवर्तक कहा जाता है। वह सामान्यों के एक पृथक् लोक में विश्वास करता है। सामान्य इस जगत् की वस्तुओं के आदर्श रूप हैं। इसकी तुलना भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक के 'सामान्य' पदार्थ से की जा सकती है। यद्यपि वैशेषिक भी 'सामान्य' को एक, शाश्वत (नित्य) और अनेक विशेषों में अनुगत (व्याप्त) मानता है, तथापि वैशेषिक 'सामान्यों' के किसी पृथक् लोक की कल्पना नहीं करता है। वैशेषिक की सामान्य विषयक अवधारणा अरस्तू के 'सामान्य-सिद्धान्त' के अधिक निकट है। वे (वैशेषिक) अरस्तू के समान सामान्य और विशेष दोनों को एक ही जगत् के अन्तर्गत सत् मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य और विशेष दोनों का ज्ञान अनुभवगम्य है। सामान्य और विशेष को बुद्ध्यापेक्ष कहा गया है। विचार-सापेक्ष होते हुए भी वैशेषिकों के सामान्य मानसिक विचार नहीं हैं। सामान्यों की वास्तविक सत्ता है। वे वस्तुनिष्ठ हैं।

प्लेटो प्रत्ययों या सामान्यों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करता है। वे अपनी सत्ता के लिए सांसारिक वस्तुओं पर निर्भर नहीं हैं। विपरीततः सांसारिक वस्तुएँ अपनी सत्ता के लिए प्रत्ययों (अपने आदर्श या सामान्य रूपों) पर निर्भर हैं। प्रत्यय स्वकारण हैं। अतः उन्हें द्रव्य (Substance) कहा गया है। प्लेटो के प्रत्यय किसी वस्तु विशेष के प्रतिबिम्ब (संप्रत्यय) नहीं हैं। वे किसी वर्ग की वस्तुओं के आदर्श रूप हैं। वे अनुभवगम्य नहीं, बल्कि बौद्धिक हैं। यद्यपि वे बौद्धिक होने के कारण वैचारिक हैं, तथापि वे किसी व्यक्ति के मानसिक विचार या कल्पना नहीं हैं। इस प्रकार वे अनुभव और व्यक्ति विशेष के चिन्तन पर आश्रित नहीं हैं।

प्लेटो उन्हें देश-काल से परे एवं अदृश्य मानता है। जो देश-काल में स्थित है वह विशिष्ट एवं अनुभवगम्य है। हम देखते हैं कि देश और काल में स्थित सांसारिक वस्तुएँ परिवर्तनशील, क्षरणशील एवं विनाशी होती हैं। उनका उद्भव, विकास और हास होता रहता है। प्लेटो के सामान्य कूटस्थ या निर्विकार (Immutable) हैं। अतः उनका उद्भव और विनाश नहीं हो सकता है। देश और काल से परे होने के कारण वे समस्त गतियों, परिवर्तनों और विकारों से रहित विशुद्ध रूप से अविनाशी सार्वभौम सत्ता हैं।

प्रत्ययों को वस्तुसत् मानने से तर्कतः सिद्ध होता है कि प्रत्यय वस्तुनिष्ठ हैं। यद्यपि प्लेटो के समय में प्रत्ययवाद और वस्तुवाद का विवाद दर्शन जगत् में अधिक उजागर नहीं हुआ था, तथापि प्लेटो ने वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद की स्थापना की है।

प्लेटो के वस्तुनिष्ठ और अविनाशी प्रत्यय ही सांसारिक वस्तुओं, गुणों और सम्बन्धों के सार तत्त्व (Essence) हैं। प्रत्येक प्रत्यय में अपने ढंग की एक पूर्णता अन्तर्निहित है। सभी विशेष मनुष्य एक पूर्ण एवं सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अपूर्ण हैं। सामान्य तथा पूर्ण मनुष्य अन्य सभी मनुष्यों का आदर्शरूप एवं लक्ष्य है।

चूँकि प्लेटो बुद्धिवादी परम्परा के पोषक हैं, इसलिए वे प्रत्ययों के ज्ञान का आधार बुद्धि या प्रतिभा (Rational Insight) को मानते हैं। वे गणित से प्रभावित होने के कारण

कभी-कभी प्रत्ययों को गणितीय संख्याओं से अभिन्न मानते हुए कहे जाते हैं। प्लेटो के द्वारा प्रत्ययों को संख्याओं (Numbers) से अभिन्न मानने के कारण अरस्तू ने अपने शिक्षक (प्लेटो) की कटु आलोचना की है।

उल्लेखनीय है कि प्लेटो ने विभिन्न वस्तुओं के वर्गीकरण के आधार के रूप में अनेक प्रत्ययों को स्वीकार किया है। प्रत्येक प्रत्यय में अपने ढंग की पूर्णता विद्यमान है। किन्तु सभी प्रत्यय परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रत्ययों का पारस्परिक सम्बन्ध प्लेटो के द्वन्द्वन्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके अनुसार प्रत्ययों की एक व्यवस्थित श्रृंखला है। प्रत्ययों की इस श्रृंखला में प्रत्ययों में श्रेणी या अवस्था-भेद पाया जाता है। उनमें निम्न स्तरीय और उच्च स्तरीय अवस्थाओं का भेद है। निम्न स्तरीय प्रत्यय उच्च स्तरीय प्रत्ययों से अनुशासित और नियमित होते हैं। प्रत्ययों के इस अवस्था भेद में सर्वोच्च शिखर पर शुभ का प्रत्यय है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। ये सभी प्रत्यय एक अतीन्द्रिय जगत् में रहते हैं। यह सामान्यों का दैवी लोक है जो इस प्राकृतिक जगत् से नितान्त भिन्न है। प्रत्ययों का दिव्य धाम ही प्राकृतिक जगत् का आधार है। प्रश्न उठता है कि प्रत्ययों और जगत् की वस्तुओं में क्या सम्बन्ध है?

प्रत्यय और जगत् में सम्बन्ध

(1) प्रतिबिम्बवाद (Copy Theory) — इस दृष्टि से प्रत्यय सांसारिक वस्तुओं के अधिष्ठान हैं। प्रत्ययों को मूलबिम्ब (Prototype) कहा जा सकता है। वस्तुएं प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब हैं। जो वस्तुएं प्रत्ययों के जितनी ही अधिक अनुरूप होती हैं, वे उतनी ही अधिक वास्तविक हैं। वास्तव में वे प्रत्ययों की अनुकृतियाँ हैं। जगत् की वस्तुएं प्रत्ययों की बहुत ही अस्पष्ट (Dim), अपर्याप्त और अपूर्ण अनुकृतियाँ हैं। किन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि यदि इसे सत्य मान लिया जाय तो व्यवहार-पूर्ण रूप से तत्त्व-शून्य हो जायेगा। दूसरे शब्दों में, यदि वस्तुओं को प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब माना जाय तो व्यवहार मिथ्या सिद्ध हो जाता है। प्रत्ययों और वस्तुओं में सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए प्लेटो के दर्शन में एक दूसरे सिद्धान्त का भी उल्लेख किया गया है।

(2) सहभागिता सिद्धान्त (Theory of Participation) — इसके अनुसार वस्तुएं प्रत्ययों में भाग लेती हैं। सभी सुन्दर वस्तुएं सुन्दरता के प्रत्यय में भाग लेती हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुएं अपने-अपने वर्ग की वस्तुओं में भाग लेती हैं। इस दृष्टि से प्रत्यय वस्तुओं से परे (Transcendent) हैं। किन्तु वे वस्तुओं से परे होने के साथ-साथ उनमें व्याप्त भी हैं। यहाँ पर व्याप्त होने का निहितार्थ यह है कि वस्तुएं अपने सामान्य रूप में उनमें निहित हैं। प्रत्ययों का अस्तित्व अपने वर्ग की वस्तुओं के उद्भव एवं विनाश से स्वतन्त्र हैं। सभी सुन्दर वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी सुन्दरता का प्रत्यय अस्तित्वयुक्त रहेगा। इसीलिए प्रत्ययों को नित्य कहा जाता है। वे किसी वस्तु के उद्भव, विनाश और विकास से प्रभावित नहीं होती हैं। किन्तु प्रत्ययों और वस्तुओं के सम्बन्ध की व्याख्या इस सिद्धान्त के द्वारा भी नहीं हो सकती है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो प्राकृतिक जगत् और प्रत्यय जगत् का भेद समाप्त हो जाता है। किन्तु प्लेटो दोनों में स्पष्ट भेद करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् की वस्तुएं प्रत्ययों के वास्तविक अंश हैं। इसके फलस्वरूप प्रत्ययों और वस्तुओं का भेद ही समाप्त हो जाता है।

वस्तुतः ये दोनों ही सिद्धान्त इन्द्रियजगत् और प्रत्यय जगत् के सम्बन्ध का निरूपण करने के लिए सुकरात के द्वारा निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं। प्लेटो को ये सिद्धान्त मान्य नहीं रहे होंगे। प्लेटो के अनुसार इस जगत् की वस्तुएं न तो प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब हैं और न उनमें सहभागी या उनके अंश हैं, बल्कि वे प्रत्ययों की अभिव्यक्तियाँ हैं। 'अंश' और 'प्रतिबिम्ब' से प्लेटो का तात्पर्य अभिव्यक्ति से है। पार्मेनाइडीज नामक संवाद में प्लेटो ने इसे स्पष्ट किया है, किन्तु अरस्तू ने संभवतः उनके इस मन्तव्य की उपेक्षा की है। कुछ आलोचकों के अनुसार प्रत्ययों को परास्पर कहने का निहितार्थ यह है कि प्रत्ययों की सत्ता वस्तुओं से स्वतन्त्र है। वस्तुतः प्लेटो ने 'पार्मेनाइडीज' में सुकरात की मान्यताओं में संशोधन किया है। वह इस आनुभविक जगत् को न तो प्रत्ययों का अंश और न प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब मानता है। वह इस जगत् की वस्तुओं को प्रत्ययों की अभिव्यक्ति मानता है।

ये प्रत्यय ऐसे दिव्य लोक में रहते हैं, जहाँ अमर आत्मा उनका साक्षात्कार करता है। वास्तव में प्लेटो ने प्रत्ययों के स्वरूप का निरूपण करने में आलंकारिक भाषा (रूपकों और उपमाओं) का इतना अधिक प्रयोग किया है कि इससे उसके वास्तविक निहितार्थ को समझने में कठिनाई होती है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी प्रत्ययों और सांसारिक वस्तुओं के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करने के लिए 'अभिव्यक्तिवाद' (सांसारिक वस्तुएँ प्रत्ययों की अभिव्यक्तियाँ हैं) ही युक्तिसंगत सिद्धान्त प्रतीत होता है।

शुभ का प्रत्यय (Idea of Good)

प्लेटो के दर्शन में 'शुभ' को सर्वोच्च प्रत्यय कहा गया है। सुकरात ने शुभत्व के संप्रत्यय की ओर संकेत किया था, जिसका विशद् विवेचन प्लेटो के दर्शन में मिलता है। प्रत्ययों की शृंखला में उच्चतर तथा निम्नतर प्रत्ययों का जो श्रेणी विभाजन मिलता है, उस क्रम में 'शुभत्व' ही सर्वोच्च प्रत्यय है। निम्नतर प्रत्ययों से उच्चतर प्रत्ययों के क्रम में बढ़ते हुए हम शुभत्व के सर्वोच्च प्रत्यय को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर प्लेटो का दर्शन रहस्यवादी पुट लिए हुए है। अन्य प्रत्यय शुभ की अभिव्यक्ति के विविध सोपान हैं। प्रत्ययों की अनेकता का शुभत्व में लय हो जाता है। शुभ ही समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है। शुभत्व का निरूपण सिम्प्योसियान में 'परम सौन्दर्य' के रूप में किया गया है। फीद्रस में इसे ही 'निरपेक्ष सत्' कहा गया है। रिपब्लिक में प्लेटो इसे 'शुभ का प्रत्यय' (Idea of Good) कहता है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो के दर्शन में 'शुभ' ही परम सत्ता, परम मूल्य, और परम सुन्दर है। दूसरे शब्दों में, शुभ का प्रत्यय ही सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का आदर्श है। जार्जियस में इसे ही समस्त इच्छाओं, क्रियाओं और कलाओं का अन्तिम लक्ष्य कहा गया है। यही सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का अन्तिम प्रयोजन है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से शुभ समस्त विश्व का कारण है। अस्तित्वमूलक जगत् इसकी छाया मात्र है। यह सत्य और ज्ञान दोनों का कारण है। यद्यपि सत्य और ज्ञान दोनों सुन्दर हैं, तथापि यह दोनों का आधार है। सत्य और ज्ञान शुभ के समान हैं, किन्तु वे शुभ नहीं हैं।

प्लेटो के अनुसार सत्य का सत्यत्व, ज्ञान की गरिमा, सुन्दरता का सौन्दर्य आदि शुभत्व के कारण हैं। यही समस्त ज्ञान के विषयों में ज्ञात होने की शक्ति प्रदान करता है। संक्षेप में, शुभ ही सौन्दर्य, सत्यत्व आदि का आधार है। 'कभी-कभी अनेक रूपकों, उपमाओं आदि के द्वारा

इसका वर्णन करने का प्रयास किया जाता है। इसके फलस्वरूप प्लेटो को अनेक विरोधाभासों से युक्त शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है। भाषा के शब्दों में इसका निरूपण करने की क्षमता नहीं है। अतः प्लेटो इसे अनिर्वचनीय कहता है। उदाहरण के लिए 'शुभ' के वर्णन से सम्बन्धित इस उद्धरण को लिया जा सकता है — "शुभ सत्य से परे है, तथापि यह परम सत्य है। शुभ अनिर्वचनीय प्रत्यय है, तथापि सत्यता, सुन्दरता आदि के द्वारा इसका निर्वचन संभव है। यह सत् होते हुए भी सत् से भिन्न है। यह सभी वस्तुओं में व्याप्त होते हुए भी उनका अप्राप्य (कभी न प्राप्त होने वाला) आदर्श, अर्थात् परम लक्ष्य है।"¹

प्लेटो के द्वारा वर्णित 'शुभत्व' अन्य समस्त वस्तुओं और प्रत्ययों से भिन्न है। इसके लिए प्रयुक्त विशेषण सम्यक् रूप में इस पर लागू नहीं होते हैं। अतः इसके किसी लक्षण के द्वारा इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता है। यह पूर्णतया अनुपम (Unique) और स्वजातिक (Sui-generis) है। इसके संदर्भ में प्रयुक्त समस्त भाषिक वर्णन केवल सामान्यमान के रूप में ही लागू हो सकते हैं। इसके यथार्थ स्वरूप का निरूपण भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि कुछ आलोचक शुभत्व के निरूपण में प्लेटो को रहस्यवादी मान लेते हैं। वस्तुतः परमार्थ या निरपेक्ष तत्त्व के निरूपण में प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी दार्शनिक इस कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं। उपनिषदों में भी परम तत्त्व (ब्रह्म) के निरूपण में परस्पर विरोधी पदावली का प्रयोग मिलता है। इसे तर्कबुद्धि एवं भाषा के पाश में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। किन्तु प्लेटो का शुभ बौद्धिक कोटियों से परे एवं भाषा के द्वारा अनिर्वचनीय होते हुए भी अबौद्धिक नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उत्कृष्ट बौद्धिक निरूपण भी शुभत्व के पूर्ण रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सकते हैं। यह समस्त वैचारिक एवं भाषिक आकलनों (Parametres) से परे हो जाता है इसीलिए आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि शुभ सत्ता के दूसरे छोर या किनारे पर हैं।²

उल्लेखनीय है कि नीरस बौद्धिक चिन्तन शुभत्व के ग्रहण में अपर्याप्त एवं अक्षम होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्ययों को बौद्धिक मानता है। वस्तुतः प्लेटो को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता है। प्लेटो की ज्ञानमीमांसा में प्रयुक्त बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) किसी रहस्यवादी साधना का परिणाम नहीं, बल्कि बौद्धिक अनुशीलन की पराकाष्ठा है। शुभत्व का बोध किन्हीं रहस्यात्मक साधनों के द्वारा नहीं होता है। यह बौद्धिक अन्तर्दृष्टि एवं वैचारिक अनुशीलन की दीर्घकालीन (लम्बी) प्रक्रिया का परिणाम है। प्लेटो ने रिपब्लिक में शुभ के साक्षात्कार का मनोरम वर्णन किया है। इस संदर्भ में कुछ रूपकों का सहारा लिया गया है। इनमें से गुफा का रूपक उल्लेखनीय है। कुछ मनुष्य बाल्यकाल से ही एक गुफा में इस प्रकार रह रहे हैं कि उनके पैर और गर्दन जंजीर से बँधे हुए हैं। वे पीछे मुड़कर नहीं देख सकते हैं। वे केवल सामने ही देख सकते हैं। इनके पीछे और ऊपर की ओर आग जल रही हैं। वे दीवार पर केवल अपनी या अन्य व्यक्तियों की परछाई ही देख सकते हैं। यदि इनमें से किसी एक व्यक्ति का बन्धन खोलकर ऊपर भेजा जाय और प्रकाश की ओर देखने को बाध्य किया जाय तो उसकी आँखें प्रकाश की चमक से कौंधिया जायेंगी। वह उन वस्तुओं को साक्षात् रूप से नहीं देख

1. Plato the man and his work, p.17.

2. वही, पृ० 23.

सकता है जिसकी छाया वह गुफा में देख रहा था। वह तो यही समझेगा कि यह छाया ही वास्तविक सत्ता है जिन्हें वह देखने के लिए अभ्यस्त है। धीरे-धीरे अभ्यास (साधना) के द्वारा ही वह उन वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को देख सकेगा।

प्लेटो के इस रूपक का निहितार्थ यह है कि प्राकृतिक जगत् को देखने के अभ्यस्त साधारण मनुष्य प्रत्ययों के दिव्य लोक का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। गुफा-रूपक के अन्तर्गत बन्दीगृह इस लौकिक जगत् का प्रतीक है। साधारण लोग इस लोक या प्रेय के प्रति आसक्त होते हैं। वे प्राकृतिक जगत् के स्थूल और सतही आकर्षणों में ही लिप्त रहना चाहते हैं क्योंकि वे इसी लोक में रहने के अभ्यस्त हैं। प्रत्ययों के श्रेय-लोक को एक दीर्घकाल की साधना और आत्म-शुद्धि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

शुभत्व के स्वरूप के बारे में प्लेटो के आलोचकों में विवाद है। रिपब्लिक में प्लेटो ने शुभ को प्रत्यय कहा है। यद्यपि फीडो में इसे प्रत्यय नहीं कहा गया है, फिर भी शुभ का निरूपण लगभग इसी रूप में किया गया है। प्रो० बर्नेट ने प्रत्ययों की शृंखला में शुभ को एक सर्वोच्च प्रत्यय कहा है। वास्तव में प्लेटो ने शुभ का निरूपण एक प्रत्यय के ही रूप में किया है, भले ही उसे ईश्वर का आलंकारिक वर्णन कहा जाए। हम देख चुके हैं कि प्रत्ययों की शृंखला में शुभ के प्रत्यय का स्थान सर्वोच्च है। अन्य सभी प्रत्यय इसी परम प्रत्यय के द्वारा व्यवस्थित और नियमित होते हैं।

ईश्वर और शुभ का प्रत्यय

प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ तक कि प्लेटो का 'ईश्वर' या 'स्रष्टा' (Dimurge) प्रत्ययों के अभाव में सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। प्रत्ययों या सामान्यों को प्लेटो सृष्टि का मूल प्रारूप (Prototype) कहता है। सृष्टि की रचना करने के लिए ईश्वर को प्रत्यय और जड़ द्रव्य (Matter) का सहारा लेना पड़ता है। द्रव्य (Matter) सृष्टि का 'उपादान कारण' है। प्रत्यय ऐसे शाश्वत आकार या सॉचे हैं जिनमें ईश्वर द्रव्य को रूपान्तरित करके इस जगत् की रचना करता है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर सृष्टि का केवल 'निमित्त कारण' है। प्रत्ययों को सृष्टि का शाश्वत प्रारूप (Eternal Archetypes) कहा जा सकता है। आगे चलकर अरस्तू ने इसे सृष्टि के स्वरूप या आकारिक कारण (Formal cause) के रूप में विकसित किया। प्लेटो सृष्टि को सप्रयोजन मानता है। जगत् की दृश्य वस्तुएं अपूर्ण हैं। सृष्टि का लक्ष्य अपने पूर्ण और आदर्श स्वरूप को प्राप्त करना है। इसका परम लक्ष्य 'शुभत्व' को प्राप्त करना है। इस प्रकार सृष्टि की प्रक्रिया यान्त्रिक नहीं, बल्कि सोद्देश्य है। किन्तु प्लेटो ने सृष्टि की एक पौराणिक और आलंकारिक व्याख्या प्रस्तुत की है। सृष्टि के रचना क्रम में सबसे पहले विश्वात्मा (World soul) की रचना हुई है। उसके बाद देवों (Gods) का स्थान आता है। इसी क्रम में जीवात्माओं, पृथ्वी तथा अन्य वस्तुओं की रचना हुई है। प्लेटो के अनुसार ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी है। उसके अनुसार पृथ्वी गोलाकार है। इसके चारों ओर अनेक ग्रह एवं नक्षत्र परिक्रमा करते रहते हैं। दैवी आत्माएं सदैव बुद्धि से संचालित होती रहती हैं, इत्यादि। प्लेटो की ये मान्यताएं आज की वैज्ञानिक खोजों के विरुद्ध हैं। वस्तुतः प्लेटो की ये मान्यताएं काल्पनिक और पौराणिक गल्प प्रतीत होती हैं। प्लेटो एक ऐसे युग का प्रतिनिधित्व

करता है जो बहुदेववादी, अर्थात् अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करता था। अपने युग की धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं एवं विश्वासों से प्लेटो का प्रभावित होना स्वाभाविक था। किन्तु उसका महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने इन धार्मिक मान्यताओं की व्याख्या बौद्धिक दृष्टि से किया है। उसने धार्मिक रूढ़ियों की व्याख्या करके उसे बौद्धिक अर्न्तदृष्टि से सामंजस्यपूर्ण करने का प्रयास किया। उसने इन पौराणिक देवों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उन्हें एक सर्वोच्च सत्ता के द्वारा नियमित एवं अनुशासित करने पर बल दिया। किन्तु यह सर्वोच्च सत्ता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में प्लेटो के आलोचकों में बहुत अधिक विवाद है।

परम सत्ता के स्वरूप पर मतभेद का कारण प्लेटो की आलंकारिक भाषा, रूपकों एवं उपमाओं का व्यापक प्रयोग भी है। प्लेटो ने सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में 'स्रष्टा' (ईश्वर) पद का प्रयोग किया है। स्रष्टा (Dimurge) अथवा ईश्वर एक पूर्ण सत्ता है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण सुन्दर, सर्वशक्तिमान एवं परम शुभ है। वह जगत् में व्याप्त शुभत्व का कारण है। उसमें नैतिक पूर्णता का अतिरेक है। किन्तु उसमें नैतिक अपूर्णताओं एवं 'अशुभत्व' का अभाव है। इस सन्दर्भ में एक अत्यन्त प्रचलित समस्या यह है कि यदि ईश्वर पूर्ण शुभ है तो संसार में अशुभ की सत्ता क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि ईश्वर 'अशुभ' का स्रष्टा नहीं है। वस्तुतः ईश्वर तो वैसी ही सृष्टि करता है उसके पास जिस प्रकार की विषय वस्तु (उपादान) होती है। वह इस सृष्टि से अधिक उत्तम सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, यह सृष्टि ही ईश्वर की सर्वोत्तम रचना एवं सर्वाधिक शुभ है। प्लेटो की इस मान्यता का प्रभाव मध्य युग के ईसाई दार्शनिकों सन्त आगस्टाइन, थॉमस एक्विनास से लेकर आधुनिक युग में लाइबनिज एवं एफ. एच. ब्रैडले के दर्शन पर भी पड़ा। इस प्रकार यह सिद्धान्त कि यह सृष्टि ही ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है, प्रायः सम्पूर्ण पाश्चात्य संस्कृति की एक सर्वमान्य विचारधारा के रूप में विकसित हुआ। प्लेटो के अनुसार अशुभ एक आभास है। सृष्टि की वस्तुएं शुभ हैं। किन्तु अपने सीमित दृष्टिकोण के कारण हम इस सृष्टि के प्रयोजन को सम्यक् रूप से समझ नहीं पाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कहीं पर अशुभ है भी तो उसके लिए ईश्वर स्वयं उत्तरदायी नहीं है क्योंकि वह तो सृष्टि का केवल निमित्त कारण है। जैसे शुभ का प्रत्यय है, उसी प्रकार अशुभ का भी एक प्रत्यय है। उल्लेखनीय है कि प्लेटो उत्कृष्ट और उदात्त वस्तुओं के प्रत्ययों के ही समान तुच्छ एवं निम्न स्तरीय प्रत्ययों की सत्ता को भी नित्य मानता है। अतः वे ईश्वर की रचना नहीं हैं। वह 'लॉज' में स्पष्ट रूप से दो प्रकार की आत्माओं, लाभप्रद या शुभ एवं हानिकर या अशुभ की कल्पना करता है।¹

किन्तु प्लेटो अशुभ को शुभ के समक्ष एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है। सृष्टि दो परस्पर विरोधी शक्तियों से कैसे संचालित हो सकती है? यदि ईश्वर के समान स्तर की आसुरी या अशुभ (Evil) सत्ता को माना जाए तो ईश्वरवाद की रक्षा नहीं की जा सकती है। प्लेटो के समक्ष एक प्रश्न यह है कि पूर्ण अर्थात् आत्मकाम ईश्वर सृष्टि क्यों करता है? अर्थात् सृष्टि की रचना का प्रयोजन क्या है?² प्लेटो के अनुसार सृष्टि की रचना का प्रयोजन ईश्वरेच्छा नहीं है, बल्कि ईश्वर का पूर्णतातिरेक है। ईश्वर राग-द्वेष से रहित होने के कारण

1. लॉज 896 इ एवं थोटिडस 176 इ, देखिये दार्शनिक चिन्तन, पृ० 146-147.

2. आत्मकामस्य का स्पृहा, गीता।

अपनी किसी कामना की तुष्टि के लिए सृष्टि की रचना नहीं करता है। ईश्वर पूर्णतातिरेक के कारण सृष्टि रचना करता है। यदि वह सृष्टि की रचना न करता तो उसमें एक न्यूनता (अपूर्णता) आ जाती। ईश्वर एक दैवी प्रेम (Sublime Eros) से आप्लावित है जो उसकी सर्जनात्मक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है।

प्लेटो के दर्शन की एक अन्य अत्यन्त जटिल (उलझी हुई गुथी) समस्या यह है कि शुभ के प्रत्यय (Idea of Good) और ईश्वर में क्या सम्बन्ध है? क्या 'परम शुभ' और 'ईश्वर' दोनों निरपेक्ष सत्ता हैं? यदि दोनों को निरपेक्ष सत्ता माना जाय तो दोनों में से कौन अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है : शुभ का प्रत्यय अथवा ईश्वर? ये प्रश्न आज भी प्लेटो-दर्शन के भाष्यकारों एवं समीक्षकों को उलझन में डाल देते हैं। यदि ईश्वर को शुभ के प्रत्यय का आश्रय माना जाय तो शुभ के प्रत्यय को सर्वोच्च सत्ता एवं परम लक्ष्य नहीं कहा जा सकता है। इससे शुभत्व का निरपेक्षत्व और यथार्थता (तात्त्विकता) समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत यदि यह दावा किया जाय कि 'शुभ' एक निरपेक्ष एवं स्वाश्रित सत्ता है, अर्थात् ईश्वर शुभ पर आश्रित है तो इससे ईश्वर की सर्वमान्य अवधारणा का खण्डन हो जाता है। शुभ के प्रत्यय पर आश्रित ईश्वर सापेक्ष, अपूर्ण और पराश्रित हो जायेगा। ऐसे निर्बल एवं अपूर्ण ईश्वर को ईश्वर कहना ही वदतोव्याघात है। वस्तुतः ईश्वर को शुभ पर आश्रित मान लेने पर ईश्वर का ऐश्वर्य ही नष्ट हो जाता है और ऐश्वर्य से रहित 'ईश्वर' को 'ईश्वर' कहना ही आल-व्याघाती है।

यदि यह कहा जाए कि ईश्वर और परम शुभ दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष तत्त्व हैं तो इससे प्लेटो का दर्शन एक ऐसे घातक द्वैतवाद से ग्रस्त हो जायेगा, जिसका कोई समाधान नहीं हो सकता है। 'ईश्वर' और 'शुभ' को दो स्वतन्त्र सत्ता मान लेने पर दोनों परस्पर असम्बद्ध हो जायेंगे। ऐसे दो निरपेक्ष तत्त्वों की मान्यता एक निष्प्रयोजन, अतार्किक और निरर्थक द्वैतवाद की ओर ले जाती है। ग्रीक दर्शन के एक मूर्धन्य समालोचक प्रो० जेल्स के अनुसार प्लेटो के दर्शन को इस अन्तर्विरोध से बचाने के लिए 'ईश्वर' और 'शुभ' के प्रत्यय को परस्पर अभिन्न और एकार्थक मानना युक्तिसंगत है।¹ प्रो० जेल्स के अनुसार प्लेटो के दर्शन में प्रारम्भिक संवादों और अन्तिम रचनाओं से ईश्वर और शुभ के प्रत्यय की एकार्थकता व्यंजित होती है। इसकी पुष्टि 'फिलेबुस' नामक संवाद से भी होती है। अतः प्लेटो के दर्शन की विसंगतियों को दूर करने का एक मात्र उपाय यह ही हो सकता है कि 'शुभ के प्रत्यय' और ईश्वर को 'एक' ही मान लिया जाय। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्लेटो ने शुभ के रूप में ईश्वर का ही आलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। वस्तुतः ईश्वर अवर्णनीय है। यही कारण है कि वह ईश्वर के वर्णन के लिए अनेक रूपकों और उपमाओं का सहारा लेता है। निरपेक्ष सत्ता का निर्वचन करना विमर्शात्मक बुद्धि और भाषा दोनों के लिए असंभव है। उपनिषद् काल के ऋषियों से लेकर महात्मा बुद्ध, नागार्जुन, शंकराचार्य, स्पिनोजा, काण्ट और ब्रैडले पर्यन्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने परम तत्त्व के निरूपण में इस कठिनाई का अनुभव किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईश्वर कोई व्यक्ति (Individual) नहीं है। वास्तव में प्लेटो ने 'शुभ' (Good) और 'ईश्वर' (Dimurge) इन दोनों पदों का प्रयोग एक ही 'सत्ता' की ओर संकेत

करने के लिए दो दृष्टियों से किया है। इसे समझने के लिए जर्मन गणितज्ञ और तर्कशास्त्री गॉटलोब फ्रेगे के एक उदाहरण का उल्लेख करना सुविधाजनक होगा —

‘भोर का तारा सन्ध्याकाल का तारा है।’¹

इस तर्कवाक्य में ‘भोर का तारा’ और ‘सन्ध्या का तारा’ ये दोनों पद कालिक दृष्टि से भिन्नार्थक होते हुए भी एक ही ग्रह ‘शुक्र’ (Venus) के निर्देशक हैं। इसी प्रकार प्लेटो के द्वारा प्रयुक्त ‘ईश्वर’ (Dimurge) और शुभ का प्रत्यय (Idea of Good) ये दोनों पद शाब्दिक और दृष्टिगत भेद रखते हुए भी एक ही ‘निरपेक्ष सत्ता’ के निर्देशक या द्योतक हैं। जगत् के निमित्त कारण होने की दृष्टि से उसी निरपेक्ष तत्त्व को ईश्वर कहा जाता है। वस्तुतः उस समय यूनान में प्रचलित बहुदेववाद के नियामक तत्त्व के रूप में भी ‘ईश्वर’ पद का प्रयोग प्लेटो के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयोगी एवं आवश्यक था। पुनश्च वह समस्त सृष्टि के अन्तिम प्रयोजन एवं समस्त मूल्य व्यवस्था (Value System) के सर्वोच्च लक्ष्य की दृष्टि से उसी ‘निरपेक्ष सत्ता’ को ‘शुभ के प्रत्यय’ के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो ने इन दोनों (ईश्वर एवं शुभ का प्रत्यय) पदों का प्रयोग एक ‘परम तत्त्व’ को निर्दिष्ट करने के लिए दो भिन्न दृष्टियों से किया है। इसकी तुलना अद्वैत-वेदान्त के ‘ईश्वर’ और ‘ब्रह्म’ के क्रमशः तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण से की जा सकती है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् के कर्ता, धर्ता और संहारक, अर्थात् तटस्थ लक्षण² की दृष्टि से उसी निरपेक्ष तत्त्व को ‘ईश्वर’ कहा जाता है। किन्तु स्वरूप लक्षण अर्थात् सच्चिदानन्द (सत्, चित् और आनन्द) की दृष्टि से वह निरपेक्ष तत्त्व ‘ब्रह्म’ कहलाता है। इस प्रकार ‘ईश्वर’ और ‘ब्रह्म’ भिन्नार्थक एवं दृष्टि भेद के द्योतक हैं। वास्तव में उनका निर्देशक (Referent) एक ही निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) है। इसी प्रकार प्लेटो ने भी एक ही निरपेक्ष सत्ता का निर्देश दो भिन्न दृष्टियों को अभिव्यक्त करने वाले दो भिन्न पदों (ईश्वर और शुभ-प्रत्यय) से किया है। वास्तव में प्लेटो ने ‘ईश्वर’ और ‘शुभ-प्रत्यय’ का प्रयोग करके सत्ता (Reality) और मूल्य (Value) में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य (प्रशंसनीय) प्रयास किया है। उसने भले ही ‘शुभ’ के लिए ‘प्रत्यय’ पद का प्रयोग किया है, तथापि यह अन्य प्रत्ययों से भिन्न एक प्राप्तव्य आदर्श है। ‘शुभ’ समस्त मूल्यों एवं सदगुणों का एकायन (Unification) है। इससे सिद्ध होता है कि प्लेटो के दर्शन में, विशेष रूप से प्रत्यय-सिद्धान्त के अन्तर्गत ज्ञान, मूल्य और सत् अथवा ‘सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् (The Truth, The Good and The Beauty)’ की अनुपम त्रिवेणी का संगम हो जाता है।

प्लेटो के प्रत्ययवाद का मूल्यांकन

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सामान्यों के दिव्य लोक की कल्पना दुर्बोध, अवैज्ञानिक और पौराणिक प्रतीत होती है। इस सिद्धान्त के लिए उसे अपने शिष्य अरस्तू की आलोचना का कोपभाजन होना पड़ा। प्लेटो का दावा है कि दार्शनिक अनुशीलन के विषय प्रत्यक्ष या सामान्य है, जो इस लोक से भिन्न एक अलौकिक जगत् में रहते हैं। वह अपने प्रत्यय सिद्धान्त को वस्तुओं के सामान्य गुणों के आधार पर स्थापित करता है, जैसे अनेक मनुष्यों को देखकर उनके

1. The morning star is the evening star.

2. ‘जन्माद्यस्य यतः’ सूत्र पर शंकराचार्य का शारीरक भाष्य 1/1/2.

सर्वगत लक्षणों को ग्रहण करके और उनके विशिष्ट लक्षणों का परित्याग करके मनुष्यत्व के सामान्य प्रत्यय को निर्धारित किया जाता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है कि विशेष मनुष्य से पृथक् मनुष्यत्व का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यथार्थ जीवन में हमें कहीं भी मनुष्यत्व, गोत्व, अश्वत्व, सफेदी, नीलापन, सौन्दर्य आदि के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्राप्ति नहीं होती है। इनका अनुशीलन या चिन्तन भले ही किया जा सकता है, किन्तु विशेषों से स्वतन्त्र रूप में इन सामान्यों का अनुभव नहीं हो सकता है। मनुष्यत्व का अस्तित्व विशेष मनुष्यों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सभी प्रत्ययों का अस्तित्व उनकी विशेष वस्तुओं में निहित होता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू के सामान्य किसी विशुद्ध अतीन्द्रिय लोक में नहीं है।

प्लेटो के द्वारा प्रतिपादित प्रत्ययों के पृथक् लोक की मान्यता काल्पनिक है। इसे अनुभव एवं तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यद्यपि अरस्तू भी यह स्वीकार करते हैं कि दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य सामान्यों के स्वरूप का निरूपण करना है, तथापि सामान्य से व्यक्ति (विशेषों) की उत्पत्ति दिखाना भी आवश्यक है। विशेषों की उपेक्षा करना दार्शनिक दृष्टि से अनुपयोगी है। दार्शनिक ज्ञान के अन्तर्गत अनिवार्य एवं सामान्यों के साथ-साथ वैज्ञानिक प्रमाण एवं प्रायिक ज्ञान को भी स्वीकार करना आवश्यक है। दर्शन के अन्तर्गत जगत् के सतही स्वरूप का विवेचन करने वाले प्राकृतिक विज्ञानों को भी स्थान दिया गया है। यहाँ पर अरस्तू का प्लेटो से मतभेद है। प्लेटो ज्ञान की अन्य विधाओं को बौद्धिक विमर्श एवं व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मानता है। उसके लिए दर्शन का सम्बन्ध विशुद्ध प्रत्यय एवं सामान्यों का ज्ञान प्राप्त करना है। किन्तु इस बिन्दु पर प्लेटो से असहमति व्यक्त करते हुए अरस्तू दार्शनिक चिन्तन की परिधि में प्राकृतिक विज्ञानों को समाहित करके दर्शन को व्यापक आयाम देने का प्रयास करता है। वह दर्शन को प्रज्ञावान बुद्धिजीवियों से जोड़ने के साथ-साथ उसे साधारण जन-जीवन से जोड़ने का भी प्रयास करता है।

इस प्रकार अरस्तू प्लेटो के आत्मनिष्ठ और अनुभव जगत् से परे प्रत्ययात्मक जगत् की अवधारणा का खण्डन करता है। उसके अनुसार वस्तुओं का सारतत्त्व वस्तुओं से पृथक् लोक में नहीं रह सकता है। वस्तुतः अरस्तू ने प्लेटो के द्वारा मान्य वस्तुओं और प्रत्ययों के निषेध मूलक सम्बन्ध के स्थान पर उनके विध्यात्मक सम्बन्ध पर विशेष बल दिया। वस्तु और प्रत्यय एवं विशेष और सामान्य परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं।

अरस्तू के अनुसार प्लेटो का प्रत्ययवाद तृतीय पुरुष के दोष (The Fallacy of third man) से ग्रस्त है। प्लेटो के अनुसार जहाँ कहीं भी दो वस्तुएँ हैं, उनमें कोई न कोई सर्वगत लक्षण या सामान्य गुण अवश्य पाया जाता है। यदि इसे मान लिया जाय तो इस सामान्य गुण को धारण करने वाला एक आकार (Form) अवश्य विद्यमान होना चाहिए। उदाहरण के लिए मनुष्य के प्रत्यय और मनुष्य में भी कुछ सामान्य तत्त्व उभयनिष्ठ होना चाहिए। अब इस सामान्य तत्त्व की व्याख्या के लिए भी एक प्रत्यय की आवश्यकता होगी। अरस्तू इसे 'तृतीय पुरुष' का प्रत्यय कहता है अर्थात् विशेष मनुष्य और इस सामान्य मनुष्यत्व (प्रत्यय) के बीच में भी कोई

सामान्य तत्त्व होना चाहिए। इस क्रम का कोई अन्त नहीं हो सकता है। अतः प्लेटो का प्रत्ययवाद 'अनवस्था दोष से ग्रस्त' हो जाता है।

अरस्तू की एक अन्य महत्वपूर्ण आपत्ति प्रत्ययों और इस जगत् की वस्तुओं के सम्बन्धों के बारे में है। पूर्वोक्त 'प्रतिबिम्बवाद' (Copy theory) एवं 'सहभागिता सिद्धान्त' (Participation theory) की अरस्तू कटु आलोचना करता है। अरस्तू के अनुसार ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। प्रतिबिम्बवाद वस्तुजगत् और प्रत्यय जगत् को एक दूसरे से नितान्त भिन्न बना देता है क्योंकि प्रत्यय वास्तविक और वस्तुएं अवास्तविक हैं। वस्तुएं तो केवल प्रत्ययों की प्रतिच्छाया मात्र हैं। किन्तु सहभागिता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्ययों का ऐन्द्रिक जगत् में अन्तः प्रवेश होता है और इसलिए वस्तुओं के स्वरूप निर्धारण में प्रत्ययों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अरस्तू के अनुसार ये दोनों स्थितियाँ परस्पर विरोधी होने के कारण आपत्तिजनक हैं। पहली व्याख्या वस्तु जगत् को प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब मानकर उन्हें मिथ्या बना देती है। इसके विपरीत दूसरी व्याख्या प्रत्ययों और वस्तुओं के भेद को समाप्त कर देती है। चूँकि वस्तुओं में प्रत्यय सहभागी हैं इसलिए वस्तुओं में प्रत्ययों की अभिव्यक्ति होती है। अतः वस्तुओं और प्रत्ययों दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं रह जाता है।

यदि प्रत्यय निर्विकार एवं अपरिवर्तनशील हैं तो उनके द्वारा परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इस लोक की वस्तुएं अपरिवर्तनशील प्रत्ययों के समान स्थिर क्यों नहीं होती है? यदि प्रत्यय गत्यात्मक (Dynamic) नहीं हैं तो उनके द्वारा गत्यात्मक या परिवर्तनशील जगत् की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर प्लेटो के दर्शन में नहीं मिलता है। यदि उत्तर देने का प्रयास किया भी गया है तो रूपकों और उपमाओं का सहारा लेकर केवल आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है।

प्रो० स्टेस के अनुसार प्लेटो ने स्वयं यह अनुभव किया कि उसके निर्विकार प्रत्यय इस लैकिक जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। अतः सृष्टि की व्याख्या के लिए उसने ईश्वर, द्रव्य और प्रत्यय का आश्रय लिया। केवल कूटस्थ प्रत्ययों के द्वारा जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती है। प्लेटो एक विकृत ईश्वरवाद को जन्म देता है। वह प्रत्यय-जगत् और ऐन्द्रिक जगत् के द्वैत का समाधान नहीं कर पाता है। स्टेस के अनुसार प्लेटो का दर्शन ऐसे निरपेक्ष तत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर पाता है जो दृश्यमान जगत् की व्याख्या करने में सक्षम हो। प्लेटो ने जगत् की व्याख्या के लिए जिन रूपकों का सहारा लिया है वे असंगत हैं। 'जिस प्रकार समस्त संसार के लिए सूर्य है उसी प्रकार अन्य प्रत्ययों के लिए शुभ का प्रत्यय है।' यह रूपक या उपमा तर्कसंगत नहीं है। सूर्य से तो हम समस्त जगत् की उत्पत्ति समझ सकते हैं, किन्तु शुभ के प्रत्यय से अन्य प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं समझ सकते हैं। स्टेस के अनुसार प्रत्ययवाद का आदि प्रवर्तक होने का गौरव प्लेटो को अवश्य प्राप्त है। किन्तु सामान्यों (प्रत्ययों) को वस्तु सत् एवं एक दिव्य लोक का निवासी मानना प्लेटो के दर्शन की एक प्राथमिक भूल है।¹

संसार में विद्यमान असंख्य वस्तुओं की व्याख्या करने के लिए प्लेटो ने अनेक प्रत्ययों की कल्पना कर लिया। किन्तु प्रत्ययों की कल्पना से वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इससे समस्या और उलझ जाती है क्योंकि हमारे सामने दोहरी संख्या की व्याख्या का

प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्लेटो पर व्यंग्य करते हुए अरस्तू उनकी उपमा एक ऐसे व्यक्ति से देता है जो एक छोटी संख्या की गणना न कर सकने पर उससे बड़ी संख्या की कल्पना यह सोचकर करता है कि शायद वह अब उन वस्तुओं की गणना करने में सफल हो जाए।¹ ईश्वर और शुभ के प्रत्यय को अभिन्न मान लेने पर भी प्लेटो का द्वैतवाद बना रहता है। प्रत्यय और द्रव्य दो स्वतन्त्र सत्ता हैं। इससे प्लेटो का दर्शन द्वैतवाद के विरुद्ध उठायी गयी समस्त आपत्तियों से ग्रस्त हो जाता है।

इन आपत्तियों के बावजूद प्लेटो का दर्शन के क्षेत्र में व्यापक प्रभाव है। वस्तुतः उनके दर्शन की आधारशिला ही द्वैत पर आधारित है, इसलिए उनका द्वैतवादी होना स्वाभाविक है। उन्होंने इन्द्रियानुभव और बुद्धि के बीच द्वैत स्थापित करके कोई गलती नहीं की है। उन्होंने सॉफिस्टों के द्वारा प्रवर्तित अनुभववाद पर आधारित व्यक्तिनिष्ठतावाद (Subjectivism) का खण्डन करके बुद्धि के वर्चस्व को स्थापित किया। प्लेटो ने सत्ता एवं ज्ञान को इन्द्रियगम्य के स्थान पर बौद्धिक सिद्ध करके और प्रत्ययों को वस्तुनिष्ठता एवं वास्तविकता प्रदान करके प्राचीन ग्रीक दर्शन को एक नयी दिशा प्रदान की। उसका दर्शन बहुआयामी है। प्लेटो का दर्शन के साथ-साथ साहित्य एवं भाषा पर भी समान अधिकार है। वे बुद्धिवादी विचारधारा के आदि प्रवर्तक हैं जिसका प्रभाव आज तक दर्शन जगत् में विद्यमान है। उनकी यह मान्यता कि 'समस्त ज्ञान अनुस्मरण मात्र है', बुद्धिवादी विचारधारा का आधार है। आधुनिक बुद्धिवादियों में देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनीज पर प्लेटो का प्रभाव उपलक्षित होता है। आधुनिक बुद्धिवादियों के द्वारा प्रतिपादित जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धान्त ज्ञान को आत्मा में जन्म से ही विद्यमान मानता है। यद्यपि लॉक ने इस सिद्धान्त को चुनौती दी तथापि उसका अनुभववाद बिना प्लेटो की बुद्धिवादी परम्परा का निराकरण किए आगे नहीं बढ़ सका। पुनश्च प्लेटो की मौलिक मान्यता से विचलित होने के कारण लॉक का अनुभववाद ह्यूम के आलगाती संशयवाद में रूपान्तरित हो जाता है। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक इमानुएल काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों और संवेदनों के द्वैत को स्वीकार करके प्लेटो के द्वैतवाद की पुनः पुष्टि कर दी।

बर्कले प्लेटो के समान प्रत्ययों को वास्तविकता प्रदान करने का प्रयास करता है। किन्तु जहाँ प्लेटो के प्रत्यय दिव्य लोक के वासी हैं, वहीं बर्कले प्रत्ययों को इस जगत् में वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है। इसलिए कुछ आलोचकों ने बर्कले को 'प्लेटो का मानस पुत्र' कहा है। हेगल भी निरपेक्ष प्रत्यय को ही एक मात्र वास्तविक सत्ता मान लेता है। किन्तु वह जगत् में व्याप्त गति की व्याख्या करने में प्लेटो की विफलता के कारण अपने प्रत्यय को स्थिर तथा कूटस्थ नहीं मानता है। हेगल का प्रत्यय गत्यात्मक है। प्रायः प्लेटो दर्शन के उन सभी सिद्धान्तों के आदि प्रवर्तक हैं जिनका विकास उनके बाद के दार्शनिकों ने किया। यहाँ तक कि मध्यकाल के धर्मपरायण दार्शनिक भी वाइविल की मान्यताओं पर आधारित विचारधाराओं को प्लेटो अथवा अरस्तू द्वारा समर्थित मानते हैं। अतः प्लेटो के बारे में ए.एन. ह्राइटेड का यह कथन कि — 'समस्त दार्शनिक परम्परा प्लेटो के दर्शन पर धारावाहिक टिप्पणी मात्र है, युक्तिसंगत प्रतीत होता है।'

आत्मा की अवधारणा

आत्मा का अस्तित्व और स्वरूप मानव के सांस्कृतिक एवं वैचारिक जीवन के प्रारम्भ से ही दार्शनिकों के लिए गंभीर अनुशीलन का विषय रहा है। पाश्चात्य विचारकों के लिए

आत्म-ज्ञान की समस्या सुकरात-पूर्व दर्शन एवं प्लेटो से लेकर काण्ट पर्यन्त अन्य सभी दार्शनिक समस्याओं के चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु रही है। चूँकि आत्मा को ज्ञान का आदि सिद्धान्त माना गया है, इसलिए यह स्वभावतः अन्य दार्शनिक समस्याओं जैसे ज्ञान का स्वरूप, संकल्प-स्वातन्त्र्य इत्यादि से भी संबंधित हो जाती है। विभिन्न दार्शनिकों ने आत्मा, ज्ञाता, द्रष्टा, विषयी, मन, व्यक्ति इत्यादि रूपों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रायः दार्शनिकों में जितना अधिक मतभेद आत्मा के स्वरूप को लेकर है, उतना मतभेद उसके अस्तित्व के बारे में नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मा की अमरता और आवागमन-सिद्धान्त भी पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए विवादास्पद रहा है।

सुकरात-पूर्व ग्रीक दर्शन में आत्मा के बारे में दो मत प्रचलित थे। इनमें से आयोनिक सम्प्रदाय के अनुसार आत्मा वायु का एक अंश है। मृत्यु के बाद आत्मा वायु में विलीन हो जाता है। इसके विपरीत आर्क्किक सम्प्रदाय आवागमन-सिद्धान्त में विश्वास करता है। उसके अनुसार शारीरिक बन्धन का कारण दुष्कर्म है।¹ नैतिक साधना के द्वारा आत्मा को शरीर रूपी कारागार के बन्धनों से मुक्ति मिल सकती है। पाइथागोरस और हेराक्लाइटस भी आवागमन सिद्धान्त के अनुयायी हैं। पाइथागोरस आवागमन के क्रम को नित्य नहीं मानता है। आत्म-शुद्धीकरण के द्वारा भवचक्र से मुक्ति मिल सकती है। हेराक्लाइटस आत्मा को लोगोस (Logos) या विश्वात्मा का एक अंश मानता है। उसके दर्शन में लोगोस विश्व की व्यवस्था का तथा मानवात्मा मनुष्य के आचार-विचार का नियामक है।² अवनत मार्ग की प्रक्रिया में आत्मा सदाचार से च्युत हो जाता है। लौकिक जीवन के प्रति आसक्त आत्मा अपनी जीवाग्नि (Logos) को खो देता है। इसके विपरीत विवेकमय जीवनचर्या से आत्मा विश्वात्मा में विलीन हो जाता है।³ किन्तु प्रश्न उठता है कि यदि मानवात्मा लोगोस में विलीन हो जाता है तो उसका लोगोस से पृथक् अस्तित्व कैसे संभव है? हेराक्लाइटस आत्मा और शरीर की उपमा क्रमशः मकड़ी और उसके जाले से देता है। इस रूपक के द्वारा आत्मा और शरीर को एक-दूसरे से भिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। किन्तु यह उसके दर्शन की एक पूर्वमान्यता प्रतीत होती है। वह तार्किक दृष्टि से आत्मा की अमरता विश्वात्मा (लोगोस) से पृथक् रूप में नहीं सिद्ध कर पाता है।

सुकरात के अनुसार आत्मा जीवन का सार तत्त्व है। उसने आत्मा की अमरता के पक्ष में कोई तार्किक प्रमाण नहीं दिया है। किन्तु फीडो से ज्ञात होता है कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। उसके अनुसार आत्मा शरीर का उपयोग एक उपकरण के रूप में करता है। 'फीडो' में आत्मा की अमरता में सुकरात के विश्वास का आधार आस्था है। प्लेटो के दर्शन में आत्मा को जीवन का सिद्धान्त माना गया है। वह मनुष्यों के साथ-साथ वनस्पतियों और सभी प्राणियों में आत्मा को व्याप्त मानता है। यद्यपि मानवेतर प्राणियों में चिन्तन का अभाव है, तथापि वे प्राणवान और गतिशील हैं। आत्मा समस्त गति एवं जीवन का स्रोत है। आत्मा

1. गीता के अनुसार भी बन्धन का कारण पुण्य का क्षीण होना है — तुलनीय — “ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति”। (गीता 9/2).
2. लोगोस की तुलना ऋग्वेद के ‘ऋत-संप्रत्यय’ से की जा सकती है जो विश्व की नैतिक व्यवस्था का द्योतक है। ऋत सहज तात्त्विक व्यवस्था है। प्लेटो ने फीडो में कहा है कि सुकरात ‘आगाथैन काई दे आन’ (सत् और कर्तव्य) को विश्व व्यवस्था का नियामक मानते थे।
3. अर्ली ग्रीक फिलॉसफी, जान बर्नेट, (द्वितीय संस्करण) आदम एण्ड चार्ल्स क्लैक, लन्दन, 1948, पृ० 151-551.

स्वरूपतः क्रियाशील है, न कि विचारशील¹ उसके अनुसार विचार करना भी क्रियाशीलता का ही एक रूप है। यहाँ पर प्लेटो आत्मा की नैतिकतावादी व्याख्या न करके एक प्रकृतिवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। क्रियाशील होने के साथ-साथ आत्मा प्रेम (Eros) से युक्त है। किन्तु यह लौकिक एवं वासनाजन्य प्रेम नहीं, बल्कि परम शुभ के प्रति दिव्य अनुराग है। यह आदर्श क्रिया एवं आदर्श प्रेम है।

प्लेटो विश्वात्मा के साथ-साथ मानवात्मा को भी स्वीकार करता है। उसके अनुसार मानवात्मा के दो भाग हैं — बौद्धिक भाग और अबौद्धिक भाग। आत्मा के बौद्धिक भाग से सम्बन्धित विवेक मनुष्यों की प्रमुख विशेषता है। आत्मा के अबौद्धिक भाग का सम्बन्ध प्रेम, क्षुधा और तृष्णा से है। प्लेटो ने अबौद्धिक भाग को पुनः दो उपविभागों में विभक्त किया है, जिन्हें क्रमशः 'कुलीन' और 'अकुलीन' कहा गया है। विवेक के द्वारा वासनाओं के अनुशासित होने पर मानव अपना स्वामी होता है। इसके विपरीत वासनाओं द्वारा अनुशासित होने पर वह दास कहलाता है। आत्मा के तीनों पक्षों को क्रमशः संज्ञान, संकल्प और वेदना कहा जाता है, जो क्रमशः विवेक, साहस और कर्म से सम्बन्धित हैं। आत्मा के इन तीनों पक्षों के सामंजस्य से न्याय की उत्पत्ति होती है। इन तीनों पक्षों के अनुरूप ही राज्य के संरक्षक, सैनिक और पृथक् जन की अवधारणा की गयी है। इन तीनों वर्गों के पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य से राज्य में शान्ति और सद्भाव पर आधारित सुशासन संभव है। इसी प्रकार वह जीवन सर्वश्रेष्ठ होता है, जिसमें मानवात्मा के ये तीनों पक्ष सामंजस्यपूर्ण होते हैं।² प्लेटो का यह सिद्धान्त भारतीय सामाजिक व्यवस्था से तुलनीय है। वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी मूलतः सभी वर्णों के परस्पर सहयोग एवं समन्वय पर आधारित है। संभवतः इसी मत को ध्यान में रखकर कुछ आलोचकों ने इन विचारों के लिए प्लेटो को वैदिक विचारधारा का ऋणी माना है।³ आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो अनेक रूपकों और उपमाओं का सहारा लेता है। इस सन्दर्भ में फीड्रस⁴ का रथ रूपक उल्लेखनीय है। सफेद (कुलीन) और काले (अकुलीन) दो घोड़े शरीर रूपी रथ को खींचते हैं। उन्हें प्रज्ञा रूपी सारथी के अनुशासन में कार्य करना पड़ता है। इनमें से एक घोड़ा उत्तम और दूसरा विपरीत स्वभाव वाला है। इसलिए प्रज्ञा द्वारा इन घोड़ों का नियमन श्रम-साध्य व्यापार है। प्लेटो द्वारा प्रस्तुत यह रूपक कठोपनिषद् के रथ-रूपक के सदृश है।⁵

1. प्लेटो का यह सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्तियों के आत्मा-सिद्धान्त से तुलनीय है। प्लेटो के विपरीत अद्वैत वेदान्ती आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। मूलतः कर्तृत्व व भोक्तृत्व अविद्याजन्य हैं। किन्तु प्लेटो आत्मा को समस्त गति एवं क्रिया का स्रोत मानता है। रिपब्लिक में 'हे तू आगाथू इदेआ' को ज्ञान का सर्वोच्च विषय माना गया है।
2. फीड्रस, 246 — ए।
3. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पी० एच० प्रभु, पापुलर प्रकाशन बम्बई छठवाँ संस्करण 1979, पृ० 75 पर उद्धृत पाठ-टिप्पणी में ई. जे. अरविक (E. J. Urwick) के अनुसार, "Plato borrowed the ideas he has expressed in his dialogues from India's Vedic thought." देखिये 'दि मेसेज आव प्लेटो' अध्याय दो (परिशिष्ट)।
4. फीड्रस, 246 ए।
5. आत्मानं रथिन् विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। 3।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। 4।।
(कठोपनिषद् 1/3-4)।

शारीरिक साहचर्य के कारण आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप कलुषित हो जाता है। आत्मा स्वरूपतः दैवी और अमर है। फीडो के अनुसार “शरीर क्षीण हो जाते हैं, वस्त्र धीरे-धीरे विशीर्ण हो जाते हैं, भौतिक वस्तुएं हास को प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु आत्मा शाश्वतरूप से गतिशील रहता है।¹ आत्मा शरीर से स्वतन्त्र रूप में चिन्तन कर सकता है। शारीरिक क्रियाओं को जीवन्त बनाने के साथ-साथ उसके नष्ट हो जाने पर आत्मा अपने स्वाभाविक लोक (प्रत्ययों के दिव्य लोक) की ओर प्रस्थान कर जाता है।² इससे स्पष्ट है कि प्लेटो आत्मा की अमरता और आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास करता है। उसके अनुसार दर्शन का लक्ष्य उस विवेक की खोज है, जिससे आत्मा शारीरिक बन्धनों से मुक्त होकर अमरता और आनन्द स्वरूप विवेक का निर्बन्ध लाभ प्राप्त कर सके। उसने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियां दी हैं। इनमें से दो युक्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(1) ज्ञानमीमांसीय युक्ति — प्लेटो के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के हेतु कुछ अनिवार्य एवं सार्वभौम संप्रत्यय होते हैं। ये संप्रत्यय आनुभविक नहीं हैं। प्लेटो ने ‘मीनो’ में एक ऐसे दास छात्र का उल्लेख किया है जो गणितीय ज्ञान से अपरिचित होने पर भी कौशलपूर्ण तर्क पद्धति से वर्ग और उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्लेटो इसे अनुभवजन्य न मानकर, स्मृतिजन्य ज्ञान मानता है। उसके अनुसार समस्त ज्ञान अनुस्मरण मात्र है। शारीरिक साहचर्य एवं ऐन्द्रिक जगत् से सम्बन्धित होने के कारण आत्मा का विवेक क्षीण हो जाता है। उसे केवल धुंधला स्मरण रहता है। स्मरण कराने की यह प्रक्रिया, अर्थात् आत्मा में अन्तर्निहित सदगुणों (विवेक) का विकास ही शिक्षण है। चूँकि हमारा अधिकांश ज्ञान अनुस्मरण मात्र है, इसलिए आत्मा को ज्ञान की प्रथम (पहली बार) प्राप्ति प्रत्यय-लोक में अदैहिक अवस्था में हुआ होगा।³

प्लेटो का यह सिद्धान्त पाश्चात्य दर्शन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इसका प्रभाव आधुनिक दर्शन पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आगे चलकर बुद्धिवादी डेकार्ट ने कुछ प्रत्ययों को स्वतः सिद्ध सत्य और आज्ञानिक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया, किन्तु अनुभववादियों ने आज्ञानिक प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन किया। काण्ट के दर्शन में यह सिद्धान्त बुद्धि-विकल्पों के रूप में पुनर्जीवित हो उठता है। उसके अनुसार हमारे प्रत्यक्ष में प्रागनुभविक तत्त्व निहित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह युक्ति बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा का आधार है।

किन्तु प्लेटो जन्म से पूर्व आत्मा के अस्तित्व को किसी निर्णायक साक्ष्य के आधार पर नहीं सिद्ध करता है। ज्ञानमीमांसीय युक्ति जन्म से पूर्व आत्मा के अस्तित्व की पूर्वमान्यता पर आधारित है। यदि समस्त ज्ञान अनुस्मरण मात्र है, तो आत्मा के द्वारा अर्जित प्रारम्भिक ज्ञान नवीन होना चाहिए। किन्तु प्लेटो नवीन ज्ञान की संभावना का निषेध करता है। प्लेटो की

1. फीडो 87.

2. तुलनीय — ‘स्वर्गलोक के न भयं किंचिनास्ति तत्र त्वं न जरयाविभेति। उभेतीर्त्वाऽशनयापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोकः।

(कठ० उ० 1/1/12).

3. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, डब्ल्यू० टी० स्टेस, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 1920, पृ० 213

मान्यताएं आधुनिक मनोविज्ञान एवं शरीर रचना विज्ञान की दृष्टि से भी स्वीकार नहीं की जा सकती हैं। इन विज्ञानों के अनुसार ज्ञानार्जन-प्रक्रिया मानव-मस्तिष्क की संरचना पर आधारित है।¹

(2) तत्त्वमीमांसीय युक्ति — इस युक्ति के दो रूप उल्लेखनीय हैं — (अ) फीडो ने कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु अपने विरोधी तत्त्व से उत्पन्न होती है। जीवन और मृत्यु परस्पर विरोधी हैं। यदि मृत्यु से पुनः जीवन की उत्पत्ति न हो तो अन्त में मृत विश्व ही शेष बचेगा। इसके परिणामस्वरूप जीवन का अन्त हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि जीवन का उद्भव मृत्यु से होना चाहिए। इसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा को पुनर्जन्म के लिए किसी दैवीलोक में प्रतीक्षा करना चाहिए।²

अरस्तू ने भी गति एवं परिवर्तन की व्याख्या के लिए प्लेटो के 'विरोधी से विरोधी' की उत्पत्ति के सिद्धान्त का आश्रय लिया है। किन्तु इस युक्ति का तार्किक परिणाम यह है कि आत्मा (जीवन) की उत्पत्ति जीवन-रहित तत्त्व (शरीर) से हो सकती है। शरीर स्वरूपतः पार्थिव एवं जीवन-रहित है। इसलिए शरीर से भी आत्मा की उत्पत्ति हो सकती है। स्पष्ट है कि यह प्लेटो का निहितार्थ कदापि नहीं हो सकता है। वस्तुतः उसका निहितार्थ यह है कि आत्मा के अभाव में शरीर जीवन्त नहीं हो सकता है। चूँकि आत्मा जीवन का अपरिहार्य स्रोत है, इसलिए उसकी मृत्यु असंभव है। प्लेटो ने सिम्प्लियास में उठायी गयी कुछ आपत्तियों का निराकरण रिपब्लिक में किया है। उसके अनुसार उष्णता के अभाव में कोई वस्तु शीतल तो हो सकती है, किन्तु उष्णता को शीतलता से अभिन्न कहना वदतोव्याघात है। उसी प्रकार कोई जीवित प्राणी मर तो सकता है, किन्तु जीवन को मृत्यु से अभिन्न कहना आत्म-व्याघात है। चूँकि आत्मा जीवन का स्रोत है, इसलिए वह मरणशील नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अमर है।

(ब) तत्त्वमीमांसीय युक्ति को एक-दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है- सभी सावयव पदार्थ नाशवान हैं। शरीर सावयव है। अतः शरीर नाशवान है। इसके विपरीत आत्मा एक निरवयव, सरल तथा समस्त वस्तुओं को जीवन्त बनाने वाला द्रव्य है। इसलिए आत्मा अमर है। थैटेटस में दो प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया गया है — (1) इन्द्रियग्राह्य सावयव वस्तुएं, जो परिवर्तनशील हैं; (2) बुद्धिग्राह्य निरवयव, सरल, कूटस्थ एवं नित्य प्रत्यय। चूँकि आत्मा भी सरल और निरवयव द्रव्य है, इसलिए आत्मा अमर है। प्लेटो की इस युक्ति का उपयोग मध्ययुगीन दार्शनिक थामस एक्विनास एवं अन्य धर्मशास्त्रियों ने भी किया। यह युक्ति प्रत्यक्ष और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के द्वैत पर आधारित है। प्लेटो के अनुसार प्रत्ययों तथा आत्मा का बोध अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) से ही संभव है।

किन्तु जो दार्शनिक इस निरवयव, सरल तथा आध्यात्मिक द्रव्य की सत्ता को नहीं मानते हैं, उनके लिए इस युक्ति का कोई महत्व नहीं है। उल्लेखनीय है कि प्लेटो आत्मा को प्रत्यय नहीं मानता है। यदि आत्मा प्रत्ययों के समान देश-काल से परे, सरल, कूटस्थ, नित्य एवं दैवी है, तो वह बुद्धि ग्राह्य भले ही हो, परन्तु उसे अनिवार्यतः अमर नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः प्लेटो द्वारा प्रतिपादित आत्मा के दिव्य लोक की अवधारणा दुर्बोध, पौराणिक (काल्पनिक) और

1. फण्डामेंटल्स ऑफ फिलॉसफी, एरिल ई० हैरिस, एलेन एण्ड अनविन : लंदन, 1989, पृ० 60।

2. "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" (गीता 2/27)।

अवैज्ञानिक प्रतीत होती है। इस सिद्धान्त के लिए उसे अपने शिष्य अरस्तू की आलोचना का शिकार होना पड़ा।

अरस्तू के अनुसार आत्मा आकार (Form) और शरीर द्रव्य (Matter) है। दोनों परस्पर अवियोज्य हैं। चूँकि शरीर रूपी द्रव्य के अभाव में आत्मा रूपी आकार संभव नहीं है, इसलिए अशरीरी आत्मा का अस्तित्व असंगत है। यद्यपि अरस्तू ने आत्मा में उच्चतर और निम्नतर स्तरों का भेद किया है, तथापि उसका निहितार्थ यह नहीं है कि आत्मा के कई भाग हैं। आत्मा की सभी क्षमताएं एक ही चेतन-क्रिया के विभिन्न पहलुओं की द्योतक हैं। अरस्तू व्यंग्यात्मक शैली में प्लेटो के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहता है — “आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करना वैसे ही हास्यास्पद है, जैसे कि यह कथन कि बांसुरी-वादन की कला का लोहार की निहाई में प्रवेश हो जाता है।¹ अरस्तू के अनुसार आत्मा शरीर का आकार होने के कारण शरीर से अवियोज्य है। उसने जिस प्रकार पाइथागोरस और आर्किक संप्रदाय से प्रभावित प्लेटो के सिद्धान्त की खिल्ली उड़ायी, उससे प्रतीत होता है कि वह आत्मा के पुनर्जन्म (आवागमन सिद्धान्त) में विश्वास नहीं करता है।

किन्तु अरस्तू बुद्धि का विश्लेषण निष्क्रिय और सक्रिय इन दो रूपों में करता है। सक्रिय बुद्धि अमर है, जिसे ‘दैवी स्फुल्लिंग’ (Divine Spark) कहा गया है। ‘सक्रिय बुद्धि’ निष्क्रिय बुद्धि सहित समस्त शारीरिक क्षमताओं के नष्ट हो जाने पर भी सत् रहती है। अनादि दैवी बुद्धि ईश्वर (आकारों का आकार) से उत्पन्न होती है। मृत्यु के बाद शरीर के निष्क्रिय हो जाने पर यह ईश्वर में विलीन हो जाती है। चूँकि मृत्यु के बाद सक्रिय बुद्धि के अतिरिक्त अन्य सभी संकायों का नाश हो जाता है। इसलिए स्मृति भी नष्ट हो जाती है। स्मृति के अभाव में किसी व्यक्तिगत जीवन की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। स्टेस के अनुसार, ईश्वर से उत्पन्न सक्रिय बुद्धि अमर है। मानव-बुद्धि इसी विश्व-बुद्धि का वास्तविक रूप (Actualisation) है। उल्लेखनीय है कि अरस्तू का ईश्वर भी कोई व्यक्ति नहीं है। वह समस्त गति एवं सक्रियता का सूत्रधार होते हुए भी स्वतः अप्रवर्तित (Unmoved Mover) है।² यद्यपि अरस्तू प्रचलित धार्मिक आस्था पर सीधा प्रहार नहीं करता है, तथापि ईश्वर या विश्व-बुद्धि में लीन होने वाली सक्रिय बुद्धि की अमरता सिद्ध नहीं होती है। अरस्तू बुद्धि को शाश्वत कहता है। किन्तु शाश्वतता से सर्वकालिकता की सिद्धि नहीं की जा सकती है क्योंकि वह सक्रिय बुद्धि को कालातीत कहता है। दूसरे शब्दों में, विश्वात्मा तथा सक्रिय मानव-बुद्धि दोनों कालातीत हैं। इसे भी ‘अमरता’ का ही एक रूप कहा जा सकता है। किन्तु, यह ‘अमरता’ के सामान्य प्रचलित अर्थ से भिन्न है। प्लेटो और अरस्तू के द्वारा उठाई गई समस्या के तार्किक और वैज्ञानिक पहलुओं पर आधुनिक दर्शन में भी विचार किया गया है। यदि सृष्टि ईश्वर द्वारा विरचित एक मशीन है, तो भी यह मशीन मानव द्वारा ज्ञेय है। प्रश्न उठता है कि इसे जानने वाला ज्ञाता क्या है? आधुनिक युग में डेकार्त, स्पिनोजा, लाइबनीज, लॉक, बर्कले, काण्ट आदि दार्शनिक ज्ञाता आत्मा के स्वरूप पर गंभीर अनुशीलन करते हैं। इसकी व्याख्या आधुनिक दार्शनिकों के संदर्भ में आगे की जायेगी।

1. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, पृ० 301.

2. इसकी तुलना सांख्य के ‘पुरुष’ से की जा सकती है, जो प्रकृति के समस्त परिणाम व विकास का आधार होते हुए भी विकास की प्रक्रिया से परे हैं।

प्लेटो का नैतिक और राजनीतिक दर्शन

प्लेटो का नैतिक दर्शन भी उसकी तत्त्वमीमांसा पर आधारित है। यह विश्व बौद्धिक व्यवस्था से युक्त है। यद्यपि भौतिक वस्तुएं परिवर्तनशील हैं, तथापि ये मूलतः अपरिवर्तनशील प्रत्ययों की अभिव्यक्तियाँ हैं। यद्यपि जीवन का लक्ष्य शारीरिक बन्धनों से मुक्त होना है, तथापि आत्मा के तीनों भागों के अनुरूप विवेक, साहस, आत्म-संयम तथा तीनों के सामंजस्य से उत्पन्न न्याय को प्रमुख सद्गुण माना गया है। सभी सद्गुण प्रत्ययात्मक होने के कारण बुद्धि-ग्राह्य है। ये सभी सद्गुण शुभ (Good) हैं। इससे सिद्ध होता है कि विभिन्न सद्गुणों के प्रत्ययों में शुभ की अभिव्यक्ति हुई है। ये चारों सद्गुण व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए कल्याणकारी हैं। विवेक 'बुद्धि' का सद्गुण है जो मानव-जीवन का मार्ग दर्शन करता है। यह सत् और असत् के बीच भेद करके सन्मार्ग का निर्देश करता है। साहस का सम्बन्ध दृढ़ संकल्प से है जो विषम परिस्थितियों में संघर्ष से विचलित नहीं होने देता है। इससे व्यक्ति अपना सन्तुलन बनाये रखता है। इच्छा का सद्गुण आत्म-संयम है। यद्यपि इच्छा करना मनुष्य की एक स्वाभाविक क्रिया है, तथापि उन्हें नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। मनुष्य के लिए अपनी सभी इच्छाओं के अनुसार कार्य करना न तो संभव है और न आवश्यक है। इसलिए उन्हें संयमित एवं अनुशासित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आत्मा के तीनों — बौद्धिक, कुलीन और अकुलीन, अंगों के समान मानव स्वभाव के तीन अंग हैं — विवेक, संकल्प और संवेग। इन तीनों सद्गुणों के सामंजस्य से ही न्याय की उत्पत्ति होती है। यदि व्यक्ति के ये तीनों पक्ष समन्वित होते हैं तो वह न्यायपूर्ण जीवन-यापन करता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य तीनों सद्गुणों के समानुपातिक रूप में समन्वित होने से ही न्याय की उत्पत्ति होती है। विवेकपूर्ण तरीके से साहस एवं संयम के साथ जीवन निर्वाह करने वाला व्यक्ति ही न्यायी हो सकता है।

दार्शनिक राजा की अवधारणा — प्लेटो के अनुसार राज्य भी व्यक्ति का ही एक विराट् रूप है। वह रिपब्लिक में कहता है कि राज्य मानव-मन में से ही प्रस्फुटित होते हैं। जो लोग इस (राज्य) में रहते हैं उन्हीं के मन (Mind) से राज्य फलित होता है। व्यक्ति की आत्मा के तीनों सद्गुणों के समान ही राज्य में नागरिकों के भी तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में वे विवेकशील नागरिक आते हैं जिन्हें प्लेटो शासक कहता है। राज्य के शासन का संचालन विवेकी नागरिकों के हाथ में होना चाहिए। शासक को निःस्वार्थ भाव से राज्य के हितों की रक्षा करनी चाहिए। द्वितीय वर्ग में सैनिक वर्ग आता है जिसका प्रमुख सद्गुण साहस है। साहसी नागरिक ही भयावह स्थिति में भयभीत न होकर राज्य की रक्षा करते हैं और अपना सन्तुलन बनाये रखते हैं। तीसरे वर्ग में उत्पादक या व्यापारी वर्ग आते हैं जिनके लिए आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार के झंझावातों एवं कष्टों को सहन करते हुए आत्म-संयम पूर्वक राज्य की अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाये रखना इस वर्ग के द्वारा ही संभव है। जब ये तीनों वर्ग अपने-अपने क्षेत्र में निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं और इस प्रकार पारस्परिक सामंजस्य को बनाये रखते हैं तो ऐसा राज्य-न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था का संवाहक होता है। अपने स्वाभाविक कर्तव्यों का पालन करना और दूसरों के क्षेत्र में बाधक न होना या हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। न्याय व्यक्ति और राज्य दोनों का सर्वोत्तम सद्गुण है। प्लेटो के अनुसार राज्य में सम्यक् न्याय

की स्थापना तभी हो सकती है जब शासन-व्यवस्था विवेकशील, कर्तव्यनिष्ठ और निःस्वार्थी व्यक्तियों को सौंप दी जाए। इसे ही प्लेटो दार्शनिक राजा की संज्ञा से विभूषित करते हैं। उसका यह कथन प्रसिद्ध है — हमारे नगर (राज्य) में दुःखों की समाप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक दार्शनिक राजा (शासक) न होंगे और राजाओं एवं राजकुमारों में दार्शनिक भाव एवं दृष्टि न होगी।”

प्लेटो के अनुसार राजनीति नैतिकता का ही दूसरा नाम है। वे दोनों एक दूसरे से अवियोज्य (अपृथक्) हैं। जब तक राजनीति और नैतिकता में अलगाव रहेगा तब तक राज्य में सुख और शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है। अतः राजा या शासक वर्ग का सदगुणी एवं विवेकशील होना एक आदर्श राज्य व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। वस्तुतः परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति ही समस्त बुराइयों एवं भ्रष्टाचार का मूलकारण है। अतः राजा को इन दोनों से वचना चाहिए। शासक वर्ग को शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपनी संपत्ति और परिवार से रहित होना चाहिए। उन्होंने सुक्रात के दर्शन की एकांगी व्याख्या करने वाले सिनिक एवं सिरैनाइक मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने सिनिकों के वैराग्यवाद और सिरैनाइकों के सुखवाद या भोगवाद का परित्याग करके एक संतुलित और सामंजस्यपूर्ण जीवन को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना।

प्लेटो के श्रद्धेय सुक्रात ने भी सोफिस्टों के सुखवादी नीतिशास्त्र का खण्डन करके सदगुण को सर्वोच्च शुभ के रूप में स्थापित किया था। किन्तु सुक्रात ने केवल ज्ञान (विवेक) को ही एक मात्र सदगुण माना था। इसके विपरीत प्लेटो ने किसी एक सदगुण को एकान्तिक रूप से नहीं स्वीकार किया। उनके लिए सर्वोच्च श्रेय ही सम्पूर्ण दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। विवेक, साहस, आत्म-संयम और न्याय इन चारों सदगुणों का आधार 'शुभत्व' (Goodness) है। उसने सदगुणों के दो स्तरों का उल्लेख किया है क्योंकि कोई मनुष्य सर्वोच्च शुभत्व के स्तर पर तत्काल एक ही छल्लों में नहीं पहुँच सकता है। सदगुण की पहली अवस्था में परम्परागत सदगुण आता है। परम्परागत सदगुण अविकसित या अल्पविकसित बुद्धिवाले व्यक्तियों के मार्ग दर्शन के लिए हैं। द्वितीय वर्ग में दार्शनिक सदगुण (Philosophical Virtue) आता है। दार्शनिक सदगुण विवेक बुद्धि पर आधारित होता है। जो व्यक्ति इसके अनुसार आचरण करता है उसे इस बात का विवेक रहता है कि वह अमुक कर्म क्यों कर रहा है। इसके विपरीत प्रचलित (परम्पराजन्य) सदगुण सामाजिक रीति-रिवाज, आदतों एवं महापुरुषों के सदाचार एवं करुणा-परायण दृष्टिकोणों पर आधारित होता है। शुभत्व का बोध ही सर्वोच्च सदगुण है। ऐन्द्रिक जगत् पूर्ण शुभ नहीं है। मानवात्मा प्रत्ययों के अतीन्द्रिय लोक से सम्बन्धित है। अतः सर्वोच्च श्रेय इस जगत् से परे प्रत्ययों का ज्ञान है। चूँकि दृश्य जगत् प्रत्यय जगत् की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए इस जगत् की नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इस जगत् को परम श्रेय की प्राप्ति का साधन माना जा सकता है।

वस्तुतः प्लेटो इन सदगुणों की एकता और विविधता में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं मानता है। ये सदगुण परस्पर सामंजस्यपूर्ण हैं। वे इन सदगुणों को आत्मा के तीनों भागों के अनुरूप बताते हुए उनके पारस्परिक सामंजस्य पर बल देते हैं। चौथे सदगुण 'न्याय' की उत्पत्ति प्रथम तीन (विवेक, साहस और आत्म-संयम) सदगुणों के समन्वय समानुपात और सामंजस्य से

होती है। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो ने न तो विशुद्ध त्यागवाद और न भोगवाद को ही श्रेय माना है। किन्तु उन्होंने पाशविक और वासनात्मक सुखवाद का परित्याग करके वैदिक आनन्दवाद एवं प्रेम (Eros) को ही जीवन का लक्ष्य घोषित किया। इस लक्ष्य की प्राप्ति एक ऐसे सामंजस्यपूर्ण जीवन में ही संभव है जिसके अन्तर्गत मानव-व्यक्तित्व एवं समाज की समस्त क्षमताओं का सदुपयोग हो सके। समाज में पाये जाने वाले अनेक मानव समूहों के लिए श्रम-विभाजन (Division of Labour) आवश्यक है। कार्य के संपादन में विशिष्टता प्राप्त करना ही समाज के लिए कल्याणकारी होता है। सभी मनुष्यों की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ और क्षमताएं अलग-अलग होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति हर एक कार्य करने में कुशल एवं सक्षम नहीं हो सकता है। इस श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ही समाज या राष्ट्र में न्याय की निष्पत्ति हो सकती है। न्याय जो समानुपात और समन्वय का ही एक रूप है, समाज के प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का गुण है।

यद्यपि प्लेटो के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक राजा की अवधारणा को अनेक आलोचक यूटोपिया अथवा काल्पनिक मानते हैं, तथापि यह प्लेटो की नितान्त मौलिक और आदर्श अवधारणा है। इस दिशा में स्वयं प्लेटो का प्रयास भी सफल नहीं हो पाया। आज तक विश्व में प्लेटो के स्वप्नों का दार्शनिक शासक कहीं देखने को नहीं मिला। राजनीति के दोषों एवं दुर्गुणों के कारण प्लेटो ने चाहते हुए भी सक्रिय राजनीति में प्रवेश नहीं किया। किन्तु उस समय की कुत्सित राजनीति के शिकार हुए सुकरात को दिये गये मृत्युदण्ड से प्लेटो नर्माहित हुए थे। उससे प्रभावित होकर उन्होंने राजनीति को दोषमुक्त करने का प्रयास किया। वस्तुतः उस समय के शासक वर्ग ने सुकरात के साथ न्याय (Justice) नहीं किया। जूरी के बहुमत के निर्णय से ही सुकरात को मृत्यु-दण्ड (विषपान) का आदेश दिया गया था। प्लेटो ने इससे यह निष्कर्ष निगमित किया कि विवेक के लिए बहुमत आवश्यक नहीं होता है। वस्तुतः विवेक बहुमत में शायद ही होता है। बहुत से लोगों का सहमत हो जाना एक मत हो सकता है, किन्तु इसे विवेक या ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। विवेक के लिए संख्याओं की गणना आवश्यक नहीं होती है। प्लेटो ने रिपब्लिक में न्याय (Justice) को ही व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के लिए महत्वपूर्ण सद्गुण माना है। प्लेटो का दर्शन निश्चित रूप से सुकरात की शिक्षाओं से बहुत अधिक प्रभावित है। इसलिए कुछ आलोचकों ने यहाँ तक कहा कि प्लेटो में सुकरात पुनर्जीवित हो उठा।¹ प्राचीन काल से लेकर आज तक भले ही प्लेटो के चिन्तन के अनुरूप राज्य-व्यवस्था न स्थापित हो सकी हो, फिर भी इससे प्लेटो की मान्यताओं का नैतिक महत्व क्षीण नहीं होता है। आज विश्व में व्याप्त प्रशासनिक भ्रष्टाचार, महत्वाकांक्षा, अराजकता एवं जन समस्याओं के प्रति संवेदनशून्यता का निराकरण तभी हो सकता है जब शासन का कार्य समाज के सर्वाधिक विवेकशील और सद्गुणी व्यक्तियों (नागरिकों) के द्वारा संचालित किया जाए। वस्तुतः एक सफल प्रशासन और सुख, शान्ति, समृद्धिपूर्ण एवं भयमुक्त सामाजिक संरचना के लिए देश के शासकों का बुद्धिमान एवं सद्गुणी होना आवश्यक है। प्लेटो के द्वारा स्थापित इस मान्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

1. In Plato socrates lived again.

(स) अरस्तू (Aristotle : 384-322 ई० पू०)

प्लेटो के शिष्य और सिकन्दर महान के शिक्षक अरस्तू का जन्म स्टैगिर नगर में ई० पू० 384 में हुआ था। उनके पिता निकोमैकस मेसीडोन के राजवैद्य थे। अरस्तू ने प्लेटो की अकादमी में अपने प्रारम्भिक जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण बीस वर्ष व्यतीत किया। प्लेटो की मृत्यु के बाद उन्होंने अकादमी छोड़ दिया। मेसीडोन के राजा फिलिप ने अपने पुत्र सिकन्दर को पढ़ाने के लिए अरस्तू को आमन्त्रित किया। अरस्तू ने निष्ठापूर्वक लगभग छः वर्षों तक सिकन्दर को पढ़ाया। कहा जाता है कि सिकन्दर अरस्तू का बहुत सम्मान करता था। सिकन्दर के विश्व विजय हेतु प्रस्थान करने के बाद अरस्तू ने लाइसियम (Lyceum) नामक एक शिक्षण संस्थान की स्थापना किया। सिकन्दर की मृत्यु के बाद अरस्तू को एथेन्स छोड़ना पड़ा। उस समय मेसीडोन (मकदूनिया) की सत्ता पर सिकन्दर के विरोधियों का अधिकार हो गया था। इसके फलस्वरूप अरस्तू को अपने बचाव के लिए चालसिस (Chalcis) की शरण में जाना पड़ा। इस सम्बन्ध में अरस्तू का यह कथन प्रसिद्ध है — “मैं एथेन्स के नागरिकों को दर्शन के विरुद्ध (जैसा कि सुकरात के साथ किया गया था) दूसरा अपराध करने का अवसर नहीं दूंगा।” उसके बाद ई० पू० 322 के ग्रीष्म काल में अरस्तू का देहान्त हो गया।

अरस्तू ने दर्शन के साथ-साथ अपने समय में प्रचलित ज्ञान और विज्ञान की लगभग सभी विधाओं का चिन्तन किया। इस कारण से मध्ययुग में उसे ‘ज्ञानियों का सम्राट’ और ग्रीक शिरोमणि कहा गया है। उसने दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा (Metaphysics), नीतिशास्त्र (Ethics), राजनीतिशास्त्र (Politics), मनोविज्ञान, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, साहित्य आदि विषयों पर गम्भीर और सारगर्भित विचार प्रस्तुत किया। मध्य युग में प्लेटो और अरस्तू को ऋषियों जैसा सम्मान मिला। मध्ययुग की धर्मपरायण और शास्त्रीय विचारधारा पर अरस्तू के दर्शन का गहन और व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू का दर्शन पाश्चात्य विचारधारा का एक मेरुदण्ड है। उसने ज्ञान और विज्ञान की अनेक विधाओं को जन्म दिया जो उसके पूर्व अविकसित अथवा अज्ञात थी। रेनन के अनुसार सुकरात ने मानवता को दर्शन और अरस्तू ने इसे विज्ञान (Science) प्रदान किया। यद्यपि सुकरात से पहले दर्शन और अरस्तू के पूर्व विज्ञान था, किन्तु सुकरात और अरस्तू के आविर्भाव से क्रमशः दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। उसके बाद जो दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विकास हुए, वे सुकरात और अरस्तू के द्वारा रखी गयी नींव पर ही स्थापित हुए।

अरस्तू ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनमें से उनकी कुछ रचनाएं प्लेटों के युग की हैं। उन पर प्लेटो के दर्शन का स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ा है। इस युग की प्रसिद्ध कृति यूडिमस (Eudmus) है। इस पर प्लेटो की संवाद-शैली का प्रभाव है। एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ तत्त्वशास्त्र (Metaphysics) है। इसके अन्तर्गत प्रथम, द्वितीय एवं अन्तिम पुस्तकें लिखी गयीं। उनके दार्शनिक ग्रन्थों के अन्तर्गत नीतिशास्त्र (Ethics), राजनीतिशास्त्र (Politics) और तत्त्वशास्त्र (Metaphysics) आते हैं। इसके अतिरिक्त ‘ऑन हेवेन्स’ (On Heavens) ‘ऑन क्रियेशन एण्ड डेस्ट्रक्शन’, ‘निकोमैकियन एथिक्स’ इत्यादि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। एक

प्राचीन लेखक के अनुसार अरस्तू ने लगभग चार सौ रचनाएं लिखीं, किन्तु उनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं।¹

अरस्तू के अनुसार दर्शनशास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इसे तत्त्वशास्त्र से अभिन्न मानते हुए उसने इसके अन्तर्गत गणित के साथ-साथ कुछ विशेष विज्ञानों को भी सम्मिलित कर लिया। ज्ञान की जो विधा वस्तुओं के प्रथम कारणों की ओर ले जाती है उसे अरस्तू ने प्रथम स्तर का दर्शन (The first Philosophy) कहा है। तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत सत् के स्वरूप का विवेचन और मूल्यांकन किया जाता है।² विशेष प्रकार के सभी विज्ञानों को अरस्तू ने द्वितीय स्तर का दर्शन (The Second Philosophy) कहा है। अन्य विज्ञान तत्त्व के किसी एक क्षेत्र या अंश का अध्ययन करते हैं। इस दृष्टि से विज्ञानों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है —

(1) तर्कशास्त्र (Logic) — अरस्तू को तर्कशास्त्र (Logic) का जनक कहा जाता है। उसके द्वारा स्थापित तर्कशास्त्र एक बौद्धिक अनुशासन का विज्ञान है। वस्तुतः यह समुचित चिन्तन की एक कला और प्रणाली है। यह प्रत्येक विज्ञान, कला और प्रत्येक विधा के लिए अनिवार्य है। यद्यपि अरस्तू ने आगमनात्मक तर्कशास्त्र की उपेक्षा नहीं की है, फिर भी उनके तर्कशास्त्र में निगमन और न्याययुक्ति (Syllogism) का विशेष महत्व है। इसे आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) का प्रतिमान (आदर्श) माना जाता है। अरस्तू की तर्कशास्त्रीय परम्परा को विकसित करने वाले विचारकों में गैलन, अलेक्जेंडर, पॉर्फेरी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

(2) सैद्धान्तिक विज्ञान (Theoretical Sciences) — इसके अन्तर्गत गणित, भौतिकी, मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा आदि आते हैं।

(3) व्यावहारिक विज्ञान (Practical Sciences) — जैसे नीतिशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र।

(4) उत्पादक विज्ञान (Productive Sciences) — अरस्तू की पोइटिक्स (Poetics) इसी के अन्तर्गत आती है। आज इसे सौन्दर्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है।

अरस्तूवी कोटियाँ — अरस्तू के द्वारा मानी गयी कोटियों में द्रव्य (Substance) का महत्वपूर्ण स्थान है। अरस्तू ने सत्ता (Reality) को द्रव्य (Substance) कहा है। अरस्तू ने द्रव्य को नित्य, कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) एवं सत् कहा है। यद्यपि यह अपरिवर्तनशील है, तथापि द्रव्य ही सभी परिवर्तनों एवं परिणामों का आश्रय है। द्रव्य एक है, किन्तु उसके अनेक परिणाम और गुण हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, द्रव्य ही परिणाम का कारण है। उल्लेखनीय है कि प्लेटो प्रत्ययों को ही द्रव्य मानता था जो इस व्यावहारिक जगत से परे एक अतीन्द्रिय लोक की सत्ता हैं। किन्तु अरस्तू ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार यह प्लेटो के दर्शन की एक गंभीर भूल है कि उसने प्रत्ययों को इस लोक से परे मान लिया। अरस्तू के अनुसार वस्तुओं

1. विलड्रोन्ट द्वारा उल्लिखित, देखिये पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 55.

2. मेटाफिजिक्स नाम का प्रयोग अरस्तू-दर्शन के समालोचक एन्ड्रोनिकस (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) के द्वारा किया गया। उसने अरस्तू के भौतिकी विषयक लेखों के बाद मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों से सम्बन्धित अरस्तू के लेखों का संपादन किया। उसके बाद यह नाम दर्शन की तत्त्वमीमांसीय विधा के रूप में प्रचलन में आया।

के प्रत्यय (आकार) अपने वर्ग की अनेक वस्तुओं से परे (जैसा कि प्लेटो मानता है) नहीं हैं। वास्तव में प्रत्यय (आकार) अपने वर्ग की अनेक वस्तुओं में ही व्याप्त हैं। अरस्तू के द्वारा की गयी प्लेटो के प्रत्ययवाद की आलोचना से सिद्ध होता है कि अरस्तू का झुकाव विशिष्ट वस्तुओं (Individual things) को एक मात्र सत्ता मानने की ओर था। कोटियों के अन्तर्गत इसी दृष्टि से अरस्तू ने 'प्राथमिक द्रव्य' (Primary Substance) की समस्या को हल करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उसने गौण द्रव्य (Secondary Substance) के अन्तर्गत ऐसे सामान्य (Universal) की कल्पना किया है जो अनेकों के माध्यम से उनमें व्याप्त एक तत्त्व हो। यह अनेकों से परे नहीं हो सकता है। किन्तु इस सामान्य (आकार) के बिना कोई भी ज्ञान संभव नहीं है। ज्ञान का विषय होने के कारण अरस्तू के लिए 'सामान्य' (आकार) 'विशेष' (Individual) की अपेक्षा अधिक प्राथमिक और प्रामाणिक हो गया। आगे चलकर सामान्य प्रत्यय या आकार का ही विकास 'कारण' के रूप में हुआ। अरस्तू ने चार कारणों का उल्लेख किया है जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। इन चारों कारणों में से एक द्रव्य (Substance) है, जिसे सार तत्त्व (Essence) कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू की कोटियों में द्रव्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण कोटि है। अरस्तू ने दस कोटियों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं — (1) द्रव्य (Substance), (2) गुण (Quality), (3) परिमाण (Quantity), (4) सम्बन्ध (Relation), (5) देश (Space), (6) काल (या कब, Time), (7) स्थिति (Situation), (8) स्वामित्व (Possession), (9) कर्म (Action), (10) निष्क्रियता अथवा अकर्मण्यता (Passion or Inactivity)

इन कोटियों का उद्देश्य केवल आकारिक या तार्किक सम्बन्धों का निरूपण करना नहीं है। ये तर्कशास्त्र के विधेय हैं। उनका उद्देश्य यह है कि किसी वस्तु का विवरण प्रस्तुत करते समय उसके किन-किन पहलुओं का विवेचन करना आवश्यक है। ये कोटियाँ ऐसे ढाँचे हैं जिनके अन्तर्गत सभी यथार्थ अवधारणाओं की स्थिति को निश्चित किया जा सकता है। इन कोटियों के प्रतिपादन में अरस्तू का उद्देश्य विधेयों की गणना करने के साथ-साथ वाद-विवाद सम्बन्धी अस्पष्टता का निराकरण करना भी है। किन्तु अरस्तू की कोटियाँ काण्ट के बुद्धि-विकल्पो से भिन्न हैं। काण्ट की कोटियाँ ज्ञान के आकार या साँचे हैं, जिनमें ढलकर बाह्य विषय ज्ञेय बनते हैं। इसी कारण हेगल के प्रत्यय ज्ञान के विकास की विविध अवस्थाओं के द्योतक हैं। काण्ट, हेगल, जे.एस. मिल आदि विचारकों ने अरस्तू की कोटियों का खण्डन किया है। इन दार्शनिकों के द्वारा की गयी अरस्तू की कोटियों की आलोचनाएं कुछ अतिरञ्जित हैं क्योंकि अरस्तू का उद्देश्य आधुनिक दार्शनिकों के प्रयोजन से भिन्न है। वास्तव में अरस्तू ने इन कोटियों का प्रयोग काण्ट और हेगल के समान ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं किया है। वह इनका प्रयोग विधेयों की गणना करने के साथ-साथ भाषिक विवादों में स्पष्टता लाने के लिए भी करता है। इनके द्वारा वह उच्च स्तरीय संप्रत्ययों को प्राप्त करने के लक्ष्य से प्रेरित नहीं है। अरस्तू की कोटियाँ भारतीय वैशेषिकों के सात पदार्थों से भी भिन्न हैं। अरस्तू की कोटियाँ विधेयों के तार्किक वर्गीकरण मात्र हैं। इसके विपरीत वैशेषिकों के सात पदार्थ समस्त ज्ञेय विषयों के तत्त्वमीमांसीय वर्गीकरण हैं। वैशेषिक बहुत्ववादी वस्तुवाद का प्रतिपादन करते हुए समस्त सत् वस्तुओं को इन सात पदार्थों के अन्तर्गत समाहित कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि

अरस्तू की कोटियों का तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। उसकी सभी कोटियों में द्रव्य का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि यह किसी न किसी रूप में सत्ता से सम्बन्धित है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि इन कोटियों का प्रयोग अरस्तू ने ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से भी नहीं किया है। इन कोटियों का पारस्परिक विभाजन भी अत्यन्त कठोर (Rigid) नहीं है। कभी-कभी उनमें अतिव्यापन (Overlapping) भी हो सकता है। जैसे — गुण की कोटि को सम्बन्ध की कोटि से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार गुणों एवं सम्बन्धों की कोटि को देश (कहाँ) और काल (कब) की कोटि से पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि एक ही विधेय का प्रयोग दो कोटियों के अन्तर्गत किया जा सकता है। अरस्तू के दर्शन में इन कोटियों का विभाजन भाषिक औचित्य से नियमित होता है। अतः उन्हें दार्शनिक (तत्त्वमीमांसीय) दृष्टि से अरस्तू की कोई विशेष उपलब्धि नहीं कहा जा सकता है।

तत्त्वमीमांसीय चिन्तन

यद्यपि अरस्तू का दर्शन प्लेटो के दर्शन का एक विकसित रूप है, तथापि इन दोनों महान दार्शनिकों में कुछ मौलिक अन्तर है। अरस्तू की अभिरूचि प्राकृतिक तथ्यों के निरीक्षण में थी। अतः उसका दर्शन आनुभविक पक्ष (Empirical aspect) की उपेक्षा नहीं करता है। अरस्तू ने प्लेटो के दर्शन में निहित दोषों को दूर करके एक परिष्कृत और असंदिग्ध (स्पष्ट और निश्चायक) दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। किन्तु अरस्तू की दार्शनिक मान्यताओं का भी आधार प्लेटो का दर्शन ही है। गोम्पर्ज और जेलर जैसे आलोचकों का दावा है कि अरस्तू ने भले ही प्लेटो के प्रत्ययवाद का खण्डन किया हो, तथापि वह प्लेटो के प्रत्ययवाद के मूल आधार की उपेक्षा नहीं कर पाता है। वस्तुतः अरस्तू प्लेटो के जिन सिद्धान्तों का विरोध करते रहे, उन्हें प्लेटो के उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित निष्कर्षों का अनुगमन करना पड़ा।

प्लेटो और अरस्तू ये दोनों विचारक दर्शनशास्त्र के उद्देश्य को लेकर परस्पर सहमत हैं। उनके अनुसार दार्शनिक अनुशीलन का आरम्भ आश्चर्य से होता है। दर्शन का लक्ष्य विशेषों में अन्तर्निहित सार्वभौम सारतत्त्व का विवेचन एवं मूल्यांकन करना है। यह वस्तुओं के अन्तिम कारण की खोज करने से सम्बन्धित है। उल्लेखनीय है कि अरस्तू भी प्लेटो के समान ज्ञान को 'मत' और 'कल्पना' (Fancy) से भिन्न मानता है। ज्ञान का विषय शाश्वत और अनिवार्य सत्ता है। अरस्तू प्रथम सिद्धान्तों के रूप में दार्शनिक चिन्तन पर बल देता है। उसके अनुसार दर्शनशास्त्र का स्थान अन्य सभी प्राकृतिक विज्ञानों से उत्कृष्ट और उच्च स्तरीय है। वास्तव में अरस्तू के युग में ज्ञान की अनेक विधाओं का अध्ययन दर्शन के ही अन्तर्गत किया जाता था। इसमें तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के साथ-साथ सौन्दर्यशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय, ज्ञानमीमांसीय और प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन भी सम्मिलित था। अरस्तू दर्शन को 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of all Sciences) कहता है। वह भी सुकरात और प्लेटो के द्वारा अपनायी गयी दार्शनिक पद्धति का ही संशोधित और परिष्कृत रूप में प्रतिपादन करता है। किन्तु वह प्लेटो के विपरीत दर्शन को जीवन के व्यावहारिक पक्ष से पृथक् करके उसे पूर्णतया सैद्धान्तिक बना देता है।

अरस्तू के अनुसार सामान्य से विशेषों के उद्भव और विकास का प्रतिपादन करना दर्शनशास्त्र का प्रमुख व्यापार है। वह ज्ञान के विषय एवं प्रामाण्य के अन्तर्गत प्राथिक ज्ञान को भी

सम्मिलित कर लेता है। इस प्रकार वह प्लेटो द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा में संशोधन करता है। प्लेटो की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के विषय के रूप में शाश्वत और अनिवार्य (सामान्य) विषयों को ही सम्मिलित किया गया है। अरस्तू ने अपने दर्शन में विशेषों को यथोचित स्थान देकर ज्ञान के आनुभविक पक्ष को भी महत्व दिया। इस प्रकार आनुभविक प्रेक्षण को महत्व देकर उसने आगमनात्मक विधि को एक पारिभाषिक स्वरूप प्रदान किया। प्रकृति के निरीक्षण और अन्वेषण की जो क्षमता अरस्तू में है वह उनके पूर्वजों (सुकरात और प्लेटो) में नहीं दिखायी पड़ती है। उसका लक्ष्य वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना था। वस्तुतः उसने विज्ञान को एक विकसित रूप में प्रस्तुत किया। बेकन ने अरस्तू की न्याययुक्ति (Syllogism) और निगमनात्मक तर्कशास्त्र की कटु आलोचना की है। उसने यह आरोप लगाया है कि अरस्तू आनुभविक तथ्यों का उपेक्षक है। किन्तु बेकन की यह आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण और भ्रामक है। बेकन की भ्रान्त दृष्टि का कारण यह है कि बेकन ने परवर्ती अरस्तूवादियों के ही विचारों को अरस्तू का मत मान लिया। यही कारण है कि अरस्तूवादियों की आलोचना करते समय बेकन ने अरस्तू की भी अतिरिजित आलोचना किया। अरस्तू के द्वारा पशुओं पर लिखे गये ग्रन्थों, जैसे — पशुओं की गति (The Movement of Animals), पशुओं की पीढ़ियाँ या जातियाँ (The Generations of Animals), प्राकृतिक इतिहास (Natural History) इत्यादि से सिद्ध होता है कि वह (अरस्तू) प्राकृतिक तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षक है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ सन्दर्भों में अरस्तू ने प्रागनुभविक (निगमनात्मक) तर्क प्रक्रिया का प्रयोग तथ्यों के सम्बन्ध में भी किया है। निश्चित रूप से कहीं-कहीं अरस्तू ने निगमन पद्धति का प्रयोग अनावश्यक रूप से किया है। उसका कारण यह है कि अरस्तू के युग में विज्ञान आधुनिक युग की अपेक्षा बहुत-कम विकसित था। उस समय वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः विज्ञानों से सम्बन्धित बहुत से विचार कल्पना पर आधारित थे। किन्तु अरस्तू को तथ्यात्मक प्रेक्षण की उपयोगिता का ज्ञान था। वह इस दिशा में अत्यन्त जागरूक भी दिखायी पड़ता है।

अरस्तू ने प्लेटो की कवित्वपूर्ण भाषा और रूपकों एवं उपमाओं पर आधारित दार्शनिक समस्याओं की पौराणिक व्याख्या के लिए भी प्लेटो की कटु आलोचना किया है। उसके दर्शन का प्रारम्भ ही प्लेटो के प्रत्ययवाद की आलोचना से होता है।¹ अरस्तू ने भी सामान्य को एक निरपेक्ष सत्ता माना है। किन्तु उसका सामान्य विशेषों से परे नहीं, बल्कि उसमें निहित है। किसी वस्तु का सारतत्त्व वस्तु के बाहर नहीं हो सकता है। सामान्य और विशेष परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः अरस्तू का द्रव्य (Substance) सामान्य से युक्त विशेष हैं। द्रव्य की परिभाषा सामान्यतया इस रूप में दी जाती है — “द्रव्य वह तत्त्व है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर आश्रित नहीं है।”² अरस्तू का द्रव्य उसकी अन्य कोटियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। द्रव्य किसी वाक्य का विधेय अथवा किसी वस्तु का गुण नहीं हो सकता है। जगत् की सभी वस्तुएं उसके गुण और विधेय हैं। अरस्तू के सामान्य किसी अतीन्द्रिय जगत्

1. अरस्तू के द्वारा प्लेटो के प्रत्ययवाद की आलोचना के लिए देखिये इसी पुस्तक के द्वितीय अध्याय खण्ड ब में प्लेटो के प्रत्ययवाद का मूल्यांकन, पृ० 40-42।
2. द्रव्य (Substance) का प्रयोग सत्ता के लिए किया गया है। यह जड़ द्रव्य (Matter) से भिन्नार्थक है।

में नहीं रहते हैं। किन्तु प्लेटो के समान अरस्तू भी सामान्यों को वास्तविक मानता है। सामान्य की वास्तविक सत्ता है। सामान्य के ज्ञान का आधार वह भी प्लेटो के समान बुद्धि को ही मानता है। ए.डी. वूजले के अनुसार अरस्तू के सामान्यों के लिए विशेषणों का प्रयोग करना युक्तिसंगत होगा क्योंकि अरस्तूवी मत में सामान्य विशेषों में अनुस्यूत है। इसके विपरीत प्लेटो के सामान्यों के लिए संज्ञा (Nouns) शब्दों का प्रयोग करना उपयुक्त होगा क्योंकि वे विशेषों के परे हैं।¹

कारणता का सिद्धान्त (Theory of Causation)

अरस्तूवी दर्शन के मूल तत्त्व को समझने के लिए उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक है। अरस्तू की कारणता विषयक अवधारणा अत्यन्त प्राचीन है। आधुनिक युग के विचारक उसे विशेष महत्व नहीं देते हैं। उसने 'कारणता' का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। किसी वस्तु के कारण के अन्तर्गत वे सभी तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं जो उसके अस्तित्व की व्याख्या के लिए आवश्यक और पर्याप्त दोनों हों। अरस्तू ने कारणता में कुछ ऐसे कारकों को सम्मिलित कर लिया है जिसे आधुनिक युग में स्वीकार नहीं किया गया है। उसने कारणता के अन्तर्गत भौतिक कारणों के साथ-साथ प्रयोजनमूलक कारण का भी समावेश किया है। कारणता के इस व्यापक अर्थ में चार प्रकार के कारणों का उल्लेख किया गया है —

(1) उपादान कारण (Material Cause) — इसे भौतिक कारण भी कहा जाता है। उपादान या भौतिक कारण से तात्पर्य किसी वस्तु की रचना के लिए प्रयुक्त उपादान (सामग्री) से है। जैसे — घट और पट (वस्त्र) की रचना के लिए प्रयुक्त मिट्टी और तन्तु को क्रमशः घट और पट का उपादान कारण कहा जा सकता है। अरस्तू ने भौतिक कारण का प्रयोग उसके प्रचलित अर्थ से भिन्न एवं व्यापक (विस्तृत) अर्थ में भी किया है।

(2) निमित्त कारण (Efficient Cause) — इसके अन्तर्गत वह कारण आता है जो वस्तु में गति या परिवर्तन उत्पन्न करता है। अरस्तू ने 'गति' का प्रयोग भी बहुत विस्तृत अर्थ में किया है। इसमें घट के रूप में मिट्टी के रूपान्तरण से लेकर किसी हरी पत्ती का हरे रंग से पीले रंग में परिवर्तन तक सम्मिलित हो जाता है। अरस्तू ने चार प्रकार के परिवर्तनों में भेद किया है : (1) संभूति और नाश होना (Becoming and perishing) (2) गुणालक परिवर्तन (Qualitative Change) (3) परिमाणालक परिवर्तन, अर्थात् मात्रा का परिवर्तन (Quantitative change) (4) संचरण (Locomotion) अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना या स्थान परिवर्तन।²

अरस्तू निमित्तकारण को ही समस्त गतियों और सभी प्रकार के परिवर्तनों का कारण मानता है।

(3) आकारिक कारण (Formal Cause) — अरस्तू ने निमित्त कारण के अतिरिक्त आकारिक कारण को भी स्वीकार किया है। आकारिक कारण किसी वस्तु का सार तत्त्व है। अरस्तू का आकारिक कारण उसे प्लेटो के निकट ला देता है। किसी वस्तु की परिभाषा में हम

1. ज्ञानमीमांसा परिचय, ए.डी. वूजले, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, पृ० 76.
2. Physics, V, 2, 225 b.

उसके सार तत्त्व अथवा सामान्य लक्षणों का ही निरूपण करते हैं। यह सारतत्त्व ही आकारिक कारण है। आकारिक कारण को वस्तु का संप्रत्यय भी कहा जा सकता है। किन्तु अरस्तू इसे वास्तविक मानता है, केवल मानसिक अथवा वैचारिक नहीं। यहाँ पर अरस्तू प्लेटो के द्वारा प्रतिपादित सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में सामान्यों को बुध्यापेक्ष मानते हुए भी केवल वैचारिक नहीं माना गया है। वैशेषिक उनकी (सामान्यों की) वास्तविक सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। अरस्तू भी सामान्यों को वास्तविक मानता है। किन्तु सामान्यों को वास्तविक मानते हुए भी वह उन्हें विशेषों से पृथक् नहीं मानता है। सामान्य विशेषों में व्याप्त होता है।

(4) प्रयोजन मूलक कारण (Final Cause) — इसके अन्तर्गत कर्ता का वह प्रयोजन सम्मिलित है जिसकी प्राप्ति के लिए कोई कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए जब जुलाहा पट (वस्त्र) का निर्माण करता है अथवा बढ़ई मेज की रचना करता है तो उसका अन्तिम लक्ष्य पूर्ण पट या पूर्ण मेज का निर्माण करना होता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू का अन्तिम कारण वह प्रयोजन है जिससे कोई कार्य किया जाता है अर्थात् वह वस्तु है जिसका निर्माण किया जाता है।

अरस्तू इन चार कारणों को संयुक्त रूप से किसी कार्य के सम्पादन के लिए अनिवार्य और पर्याप्त मानता है। अरस्तू ने इनमें से तीन कारणों — निमित्त कारण, आकारिक कारण और प्रयोजन कारण का अन्तर्भाव आकार (Form) में कर लिया है। वास्तव में ये तीनों कारण आकार के ही भिन्न-भिन्न रूप (अवस्थाएँ) हैं। आकारिक कारण किसी वस्तु का सारतत्त्व या प्रत्यय है। प्रयोजन मूलक कारण उस वस्तु के संप्रत्यय का यथार्थ रूप में रूपान्तरण है। किसी वस्तु का अन्तिम लक्ष्य अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करना है। इसी प्रकार निमित्त कारण वह शक्ति है जो परिवर्तन या गति का प्रवर्तन (संचालन) करता है। बिना निमित्त कारण के परिवर्तन (संभूति) संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, निमित्त कारण की शक्ति से परिवर्तित होकर आकारिक कारण की अवस्था आती है। अन्तिम कारण ही संभूति का प्रयोजन है। यही वस्तु का अन्तिम लक्ष्य है। सभी वस्तुएँ अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही क्रियाशील (गतिशील) हैं। यह परिवर्तन प्रयोजनमूलक (अन्तिम) कारण की प्रेरणा से ही संभव होता है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त उदाहरण में मेज का निमित्त कारण बढ़ई है। किन्तु बढ़ई का लक्ष्य ही उसकी सभी क्रियाओं को संचालित करता है। अतः अरस्तू कहता है कि प्रयोजन (लक्ष्य) ही वास्तविक निमित्त कारण है। बढ़ई का लक्ष्य एक पूर्ण मेज की रचना करना है। यही लक्ष्य उसके मन में लकड़ी में परिवर्तन करके उसे मेज की रचना करने की ओर प्रेरित करता है। इसी आधार पर पूर्वोक्त तीनों कारणों को आकारिक कारण के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। किन्तु उपादान कारण अब भी स्वतन्त्र बना रहता है। अरस्तू ने आकार और भौतिक उपादान इन दोनों को अलग-अलग स्वतन्त्र कारण माना है। वास्तव में ये दोनों पारमार्थिक कारण हैं। वे एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले हैं। आकार (Form) को सार्वभौम या सामान्य (Universal) और विचारस्वरूप माना गया है। इसके विपरीत जड़ द्रव्य (Matter) को विशेष (Particular) और पूर्ण रूप से भौतिक माना गया है। इस प्रकार अरस्तू समस्त कारणों का अन्तर्भाव आकार (Form) और जड़ द्रव्य (Matter) इन दो कारणों में कर लेता है। इनकी सहायता से ही अरस्तू समस्त सृष्टि की व्याख्या करता है।

आकार और जड़ द्रव्य (Form & Matter)

यद्यपि अरस्तू ने आकार और द्रव्य को स्वरूपतः एक दूसरे से पृथक् नहीं माना है, तथापि वैचारिक दृष्टि से दोनों का अलग-अलग विवेचन किया जा सकता है। वस्तु जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती है, जिसमें केवल जड़ द्रव्य हो, अर्थात् जिसमें लेशमात्र भी आकार न हो। इसी प्रकार ऐसी भी कोई वस्तु दृश्य नहीं है जिसमें केवल आकार हो और लेशमात्र भी जड़ द्रव्य न हो। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से निराकार द्रव्य और द्रव्य-हीन आकार दोनों असंभव हैं। प्रत्येक वस्तु द्रव्य और आकार दोनों का संघात है। यद्यपि द्रव्य और आकार एक दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले हैं, फिर भी उनके परस्पर विरोधी स्वभाव के कारण उनके बारे में तार्किक दृष्टि से अलग-अलग विचार किया जा सकता है। यह मान्यता कि आकार का अस्तित्व जड़ द्रव्य से पृथक् है, एक प्रकार से प्लेटो के प्रत्ययवाद की ओर वापस लौटना होगा। इसीलिए अरस्तू कहता है कि सामान्य (आकार) विशेष (जड़ द्रव्य) से पृथक् नहीं रह सकता है। निरपेक्ष अथवा पूर्ण आकार (Absolute Form) और निरपेक्ष जड़ द्रव्य (Absolute Matter) का इस दृश्य जगत् में कहीं भी दर्शन नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू की आकार एवं जड़ द्रव्य विषयक अवधारणा व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष (Relative) है। कोई वस्तु एक दृष्टि से द्रव्य है तो दूसरी दृष्टि से आकार है।

अरस्तू के अनुसार जिसका परिवर्तन होता है वह जड़ द्रव्य (Matter) है और जिस ओर परिवर्तन होता है वह आकार (Form) है। अरस्तू ने 'आकार' (Form) को आकृति की अपेक्षा अधिक व्यापक माना है। आकृति सदैव आकृति ही रहती है। इसके विपरीत आकार सापेक्ष होता है। एक दृष्टि से जो आकार है, अन्य दृष्टि से वही द्रव्य भी हो सकता है। आकार से किसी वस्तु के सम्पूर्ण संगठन अथवा सम्पूर्ण संचरणा का बोध होता है। इसके अन्तर्गत वस्तु के समस्त व्यापारों (Functions) का समावेश हो जाता है। हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आकार के अन्तर्गत प्रयोजनमूलक (अन्तिम) कारण का समावेश हो जाता है। इस प्रकार कार्य-व्यापार के अभाव में कोई वस्तु आकार से युक्त नहीं हो सकती है। इसके विपरीत कार्य-व्यापार के समाप्त हो जाने पर भी वस्तु में आकृति बनी रहती है। उदाहरण के लिए, जब किसी दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति का हाथ अथवा पैर कट जाता है तो उसमें किसी चीज के पकड़ने अथवा चलने की क्षमता (क्रिया) समाप्त हो जाती है। अतः कटे हुए हाथ अथवा पैर में आकार नहीं होता है। किन्तु उसकी भी कुछ न कुछ आकृति अवश्य होती है। अरस्तू के दर्शन में आकार और आकृति को पर्यायवाची (एकार्थक) नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः आकार से तात्पर्य वस्तु के समस्त गुणों या सार तत्त्व से है। जड़ द्रव्य वह आश्रय है जिसमें सभी गुण निहित होते हैं। व्यवहार में आकार और जड़ द्रव्य को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

अरस्तू ने निरपेक्ष द्रव्य की कल्पना आकार से रहित और उसके विपरीत तत्त्व के रूप में की है। इसका स्वरूप निर्विशिष्ट एवं अनिश्चित है। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता है। विभिन्न वस्तुओं के स्वरूप में पाया जाने वाला भेद आकार के कारण होता है। चूँकि द्रव्य में गुणों का नितान्त अभाव पाया जाता है, इसलिए द्रव्य के आधार पर एक वस्तु को दूसरी

वस्तु से पृथक् नहीं किया जा सकता है। वास्तव में एक वस्तु का अन्य वस्तुओं से भेद गुणों के कारण होता है। गुण सामान्य (आकार) होता है। इससे सिद्ध होता है कि आकार के द्वारा ही द्रव्य अनेक रूप धारण कर सकता है। अरस्तू के समान वैशेषिकों ने भी गुणों को सामान्य माना है। कणाद के अनुसार हम गुण को सामान्य तब कहते हैं जब वह अनेक व्यक्तियों में रहता हुआ पाया जाता है। किन्तु किसी गुण को विशेष तभी कहा जा सकता है जब हम उसके कारण एक वस्तु (पदार्थ) का दूसरी वस्तुओं से भेद कर सकें।¹

अरस्तू और डन्स स्काट्स (मध्यकालीन दार्शनिक) के अनुसार सामान्य विशेषों में व्याप्त होता है। वह विशेषों के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो सकता है। सामान्य को बुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता है। परन्तु तत्त्व किसी व्यक्तिगत अवस्था के अधीन नहीं है। अरस्तू के अनुसार द्रव्य वास्तव में तो कुछ नहीं है, परन्तु इसमें प्रत्येक वस्तु बनने की क्षमता (संभावना) होती है। उसने आकार (Form) को वास्तविकता (Actuality) और जड़ द्रव्य (Matter) को संभाव्यता (Potentiality) कहा है। उसके दर्शन में वास्तविकता और संभाव्यता का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह आकार और द्रव्य के स्वरूप का बोध कराता है।

वास्तविकता और संभाव्यता (Actuality and Potentiality) — द्रव्य वास्तव में तो असत् होता है, किन्तु उसमें प्रत्येक वस्तु के आकार में रूपान्तरित होने की क्षमता अन्तर्निहित होती है। इस कारण अरस्तू द्रव्य को अन्तःशक्ति या अव्यक्त क्षमता (Potentiality) कहता है। आकार के द्वारा द्रव्य को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का आकार उसकी वास्तविकता (Actuality) है।² वास्तव में वह सत् (वास्तविकता) और असत् (संभाव्यता) इन दोनों पदों का प्रयोग परस्पर सापेक्ष एवं परिवर्तनीय रूप में करता है। द्रव्य केवल विषय वस्तु है। अपने आप में यह भले ही कुछ नहीं है, परन्तु यह किसी भी वस्तु के आकार में रूपान्तरित हो सकता है। प्रत्येक वस्तु का विकास संभाव्य से वास्तविक स्वरूप की ओर होता है। द्रव्य ही आकार का रूप धारण करता है। प्रत्येक वस्तु अपने से उच्च स्तरीय वस्तु के लिए द्रव्य है और अपने से निम्न स्तर की वस्तु के लिए आकार है। जैसे बीज से वृक्ष का विकास होता है और वृक्ष से प्राप्त लकड़ियों को अनेक आकार की वस्तुओं में रूपान्तरित किया जा सकता है। वृक्ष की तुलना में बीज (Seed) द्रव्य है, साध्य है। किन्तु लकड़ी के विभिन्न आकारों (जैसे मेज, कुर्सी, इत्यादि) की तुलना में वृक्ष साध्य है। संक्षेप में, सृष्टि के अन्तर्गत आकार और द्रव्य की अवधारणा सापेक्ष रूप में की गयी है। कालिक दृष्टि से (From temporal point of view) द्रव्य आकार का पूर्ववर्ती है क्योंकि द्रव्य संभावना या साध्यता के रूप में आकार से पहले ही विद्यमान है। इसके विपरीत तार्किक दृष्टि से (From logical point of view) आकार द्रव्य का पूर्ववर्ती है, क्योंकि द्रव्य आकार के रूप में रूपान्तरित होकर ही वास्तविकता को प्राप्त करता है। द्रव्य को जिस वस्तु का आकार ग्रहण करना होता है वह वस्तु संभाव्य रूप में द्रव्य में पहले से ही विद्यमान होती है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में बीज में वृक्ष पहले से ही निहित है। इसी प्रकार लकड़ी में मेज या कुर्सी बनने की क्षमता अपने स्वरूप को ग्रहण करने से पूर्व ही विद्यमान है। समस्त परिवर्तन और गति की प्रेरक शक्ति अन्तिम लक्ष्य की ओर

1. वैशेषिक सूत्र 3/1 : 2,3.

2. Greek Thinkers, p. 279.

आकर्षित कर रही है। प्लेटो के समान अरस्तू भी आकार को ही प्रयोजनमूलक कारण एवं वास्तविक सत्ता मानता है। अरस्तू का आकार प्लेटो के प्रत्यय (सामान्य) का ही एक दूसरा रूप प्रतीत होता है। किन्तु इन दोनों विचारकों में प्रमुख अन्तर यह है कि प्लेटो के प्रत्यय (आकार) परम सत्ता एवं अन्तिम प्रयोजन होने के साथ-साथ वस्तु सत् हैं। इसके विपरीत अरस्तू का आकार भले ही परम सत् एवं अन्तिम लक्ष्य हो, तथापि द्रव्य से स्वतन्त्र और पृथक् रूप में इसे वस्तु सत् नहीं कहा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि अरस्तू एक विकासवादी दार्शनिक है। वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन में उसे विकासवाद का आदि प्रवर्तक कहा जा सकता है। चूँकि द्रव्य अपने को उच्चतर आकारों में अभिव्यक्त कर रहा है, इसलिए सृष्टि विकासशील है। जिन वस्तुओं में आकार विकसित हो रहा है, वे उच्च स्तरीय हैं। जिन वस्तुओं में द्रव्य की अधिकता है वे निम्न स्तरीय हैं। वे अविकसित एवं अल्पविकसित हैं। विकास की प्रक्रिया में सबसे निम्न स्तर पर निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Matter) है। यह आकार से नितान्त शून्य है। इसमें आकार लेशमात्र भी नहीं है। इसके विपरीत विकास के सर्वोच्च शिखर पर निरपेक्ष आकार (Absolute Form) अथवा विशुद्ध आकार (Pure form) है। निरपेक्ष आकार में द्रव्य का नितान्त अभाव है। दूसरे शब्दों में, विशुद्ध आकार द्रव्य से रहित (अमिश्रित) आकार है। सृष्टि की अन्य वस्तुएँ द्रव्य और आकार दोनों के सम्मिश्रण से युक्त हैं। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु (अवस्था) निरपेक्ष द्रव्य और निरपेक्ष आकार के बीच में है। निरपेक्ष द्रव्य और निरपेक्ष आकार कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है। वास्तव में वे केवल तार्किक सत्ता के रूप में ही मान्य हो सकते हैं। अरस्तू इस निरपेक्ष आकार को ही 'ईश्वर' (God) कहता है। उसका ईश्वर 'विशुद्ध आकार' (Pure form) अथवा 'आकारों का आकार' (Form of Forms) है। अरस्तू के मन्तव्य को अधोलिखित रेखा से व्यक्त किया जा सकता है —

सम्पूर्ण सृष्टि

—	निरपेक्ष आकार
—	अन्य (ग्रह, नक्षत्र आदि)
—	मानव जगत्
—	पशु-जगत्
—	वनस्पति जगत्
—	यान्त्रिक जगत्
—	निरपेक्ष जड़द्रव्य

प्रयोजनवादी विकासवाद

अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि निरपेक्ष द्रव्य और निरपेक्ष आकार के बीच में स्थित है। प्रकृति का संचालन यान्त्रिक दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रयोजनमूलक दृष्टि से हो रहा है। प्रकृति में एक प्रयोजन निहित है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि प्रकृति को अपने प्रयोजन का बोध हो। सृष्टि में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने प्रयोजन को जानता है। अन्य प्राणी अपने कर्मों का संपादन सहज प्रवृत्तियों से करते हैं। किन्तु मनुष्य एक विचारशील प्राणी है जिसके कर्म

सोद्देश्य होते हैं। प्राकृतिक विकास में आकार एक प्रेरक शक्ति है। इसके विपरीत द्रव्य एक अवरोधक या गति को बाधित करने वाला तत्त्व है। आकार के द्वारा ही द्रव्य को परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु द्रव्य में निहित अवरोधकता के कारण आकार को अपने उद्देश्य में सदैव सफलता नहीं मिलती है। वास्तव में द्रव्य को पूर्ण रूप से कभी भी आकार में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता है।

अरस्तू ने द्रव्य के आकार में परिवर्तन को भी गति कहा है। वह 'गति' (Motion) का प्रयोग अत्यन्त व्यापक एवं बहुआयामी अर्थ में करता है। इसके अन्तर्गत वस्तुओं के उद्भव, विकास, हास और विनाश को भी सम्मिलित किया गया है। इसका प्रयोग गुणात्मक परिवर्तन के अर्थ में भी किया गया है। जैसे — किसी वस्तु का विभिन्न रंगों में परिवर्तन भी गति के अन्तर्गत आता है। वह परिमाणात्मक परिवर्तन (जैसे वृद्धि, हास आदि) एवं संचरण (Locomotion) शक्ति को भी गति का ही रूप मानता है। इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमन से लेकर प्रत्येक प्रकार का परिवर्तन गति में सम्मिलित है। अरस्तू के अनुसार गति संभाव्य वस्तु की क्षमता है। यह साध्यता (Potentiality) की सिद्धि (Actualisation) है। प्रत्येक गति की सिद्धि के लिए गति का कोई न कोई चालक होना चाहिए। अरस्तू में गति के इस सूत्रधार को अचालित माना है।

अरस्तू का विकासवाद किसी देश-काल में घटित होने वाली प्रक्रिया नहीं है। यह एक तार्किक प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत निम्नतर आकारों की अपेक्षा उच्चतर आकार अधिक विकसित होते हैं। उच्चतर आकार वास्तविक (Actual) हैं और निम्नतर आकार वास्तविक बनने के लिए प्रयत्नशील हैं। अरस्तू के अनुसार विकास एक शाश्वत प्रक्रिया है। विकास की प्रत्येक अवस्था में एक ही पूर्ण आकार (ईश्वर) स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है। विकास की प्रक्रिया में उच्च स्तरीय आकार निम्नस्तरीय आकारों की अपेक्षा अधिक संगठित होते हैं। विकास के सबसे निम्न सोपान पर अजैविक द्रव्य है। अजैविक द्रव्य (Inorganic Matter) निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Matter) के सर्वाधिक निकट है। अजैविक द्रव्य का लक्ष्य (प्रयोजन) उसके बाहर स्थित है। जैविक द्रव्य का लक्ष्य आन्तरिक है। यही प्राणी की मुख्य विशेषता है। किसी वस्तु के आन्तरिक संगठन को ही अरस्तू ने 'आत्मा' कहा है। उच्चतर आत्मा में आकार की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। प्राणिजगत् में वे प्राणी निम्न आकार वाले हैं जिनका एक मात्र कार्य अपना पालन-पोषण करना है। वनस्पति जगत् में केवल पौषणिक आत्मा (Nutritive soul) है। वनस्पतियाँ अपना पोषण और अपनी जाति का प्रजनन करती हैं। उसके बाद पशुओं एवं पक्षियों का संसार आता है। उल्लेखनीय है कि उच्चतर अवस्थाओं के आकार में निम्नतर अवस्थाओं के आकार नष्ट नहीं होते हैं। निम्न अवस्थाएं उच्च अवस्थाओं में अन्तर्निहित होती हैं। किन्तु उच्च अवस्थाओं की अपनी एक विशिष्टता (अलग पहचान) भी होती है। जैसे पशुओं में प्रजनन एवं अपना पोषण करने के साथ-साथ संवेदन और इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी पाया जाता है। इस प्रकार पशुओं में पौषणिक आत्मा एवं प्रजनन (Propagation) के साथ-साथ संवेदनशीलता भी पायी जाती है। संवेदनशीलता के फलस्वरूप पशुओं में सुख को प्राप्त करने और दुःख से दूर हटने की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं।¹ पशुओं में

1. दुःखात् उड्डिजते लोकः सुखं सर्वस्य ईक्षितम्.

संचरणशक्ति (Locomotion) पायी जाती है। यह विशेषता पौधों में नहीं होती है। इस शृंखला के अन्तर्गत मनुष्यों का स्थान पशुओं से ऊँचा है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसकी प्रमुख विशेषता बुद्धि है। मनुष्य की विचारशीलता उसके बुद्धिमान होने का परिणाम है। पशुओं में इसका अभाव है। अतः बुद्धिमान होना मनुष्य की तात्त्विक विशेषता है। मानवात्मा में अन्य अवस्थाएँ भी अन्तर्निहित होती हैं। अतः मनुष्य की आत्मा पोषणात्मक, प्रजननशील एवं संवेदनशील होने के साथ बौद्धिक भी है। किन्तु मानवात्मा के अन्तर्गत भी निम्न एवं उच्च अवस्थाओं के भेद विद्यमान हैं। संवेदनाओं से उच्च कोटि की अवस्था में सामान्य बुद्धि (Common Sense) का स्थान है। सामान्य बुद्धि के ऊपर कल्पना (Imagination) और कल्पना के ऊपर स्मृति (Memory) का स्थान है। स्मृति से ऊँचा अनुस्मरण (Recollection) है और उसके ऊपर बुद्धि की अवस्था आती है। बुद्धि में भी दो श्रेणियाँ हैं — निष्क्रिय बुद्धि और सक्रिय बुद्धि। अरस्तू के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख हम प्लेटो की 'आत्मा' का विवेचन करने के संदर्भ में कर चुके हैं। अतः यहाँ उसका उल्लेख करना पुनरावृत्ति मात्र होगा।¹ अरस्तू के दर्शन में विकास की यह प्रक्रिया केवल मनुष्य की आत्मा के विकास तक सीमित नहीं है। उसने ग्रहों और नक्षत्रों का भी अध्ययन किया था, किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में अरस्तू के भौतिकशास्त्र की मान्यताएँ निरस्त हो चुकी हैं। विकास की पराकाष्ठा विशुद्ध आकार (ईश्वर) है। अरस्तू का ईश्वर विकास के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान है।

ईश्वर (God)

अरस्तू का ईश्वर एक निरपेक्ष (पूर्ण) आकार है। विकास की प्रक्रिया में जो वस्तुएँ निरपेक्ष आकार की ओर बढ़ रही हैं वे अधिक वास्तविक हैं। निरपेक्ष आकार होने के कारण ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त, आकारिक और प्रयोजनमूलक कारण है। ईश्वर ही परम लक्ष्य और निःश्रेयस है। चूँकि ईश्वर निमित्तकारण है, इसलिए वह समस्त गति एवं संभूति का लक्ष्य कारण अथवा आदि प्रवर्तक है। यद्यपि ईश्वर समस्त विकास, परिवर्तन, गति एवं संभूति का मूल आधार एवं चालक है, तथापि वह विकासशील एवं गतिशील नहीं है। अरस्तू इसे 'अचालित चालक' (Unmoved Mover or Prime Mover) कहता है। यदि ईश्वर को समस्त गति का आदि प्रवर्तक न माना जाय तो एक वस्तु की गति का कारण दूसरी वस्तु को और दूसरी वस्तु की गति का कारण तीसरी वस्तु को मानना पड़ेगा। किन्तु इस क्रम का कोई अन्त नहीं हो सकता है। अतः इससे अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। यही कारण है कि अरस्तू का ईश्वर समस्त गति एवं विकास का सूत्रधार होते हुए भी स्वतः अचल (Unmoved) है। सर्वोच्च आकार और अन्तिम कारण होने से ईश्वर का रूपान्तरण किसी अन्य आकार में नहीं हो सकता है। अरस्तू के 'ईश्वर' की तुलना सांख्य के 'पुरुष' से की जा सकती है। सांख्य दर्शन का पुरुष ही समस्त विकास का प्रयोजन है। पुरुष के कैवल्य की प्राप्ति के लिए ही प्रकृति में विकास प्रारम्भ होता है। किन्तु पुरुष समस्त विकास प्रक्रिया और प्राकृतिक परिणामों से परे है। इसी प्रकार अरस्तू का ईश्वर भी समस्त गति एवं संभूति का आदि प्रवर्तक होते हुए भी स्वयं अप्रवर्तित रहता है। इस समानता के होते हुए भी सांख्य और अरस्तू के मतों में अन्तर है। सांख्य का पुरुष चैतन्य स्वरूप

1. देखिए इसी पुस्तक के द्वितीय अध्याय, खण्ड 'ब' में पृ०.47-48

एवं वस्तु सत् है। किन्तु अरस्तू का ईश्वर शुद्ध विचार या विचार ही विचार है। अरस्तू ने एक ही निरपेक्ष आकार को माना है। इसके विपरीत सांख्य अनेक पुरुषों की सत्ता का प्रतिपादन करता है। किन्तु दोनों ही दार्शनिक मतों में सृष्टि एवं विकास को प्रयोजनमूलक माना गया है।

प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर जगत् का कारण है? अरस्तू-दर्शन के कुछ आलोचकों के अनुसार निरपेक्ष आकार होने के कारण ईश्वर विकास के सर्वोच्च शिखर पर है। ईश्वर और जगत् में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।¹ किसी कार्य का कारण उसका पूर्ववर्ती होता है। अरस्तू का ईश्वर विकास की अन्तिम अवस्था है। परम लक्ष्य के रूप में वह प्रत्येक वस्तु की गति की प्रेरक अन्तः शक्ति है। अतः ईश्वर उस अर्थ में जगत् का कारण नहीं है जिस अर्थ में बढ़ई मेज का कारण है। ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या कालिक दृष्टि से नहीं, बल्कि तार्किक दृष्टि से की जा सकती है। ईश्वर जगत् का तार्किक आधार है और जगत् ईश्वर का तार्किक निष्कर्ष है। यद्यपि विकास की इस प्रक्रिया में वस्तुएं अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर पहुँचने का प्रयास कर रही हैं और यह विकास कालिक है, फिर भी विकास का निरपेक्ष लक्ष्य (ईश्वर) काल से परे है। व्यवहार में उसकी कभी भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः वह एक अप्राप्तव्य आदर्श है।

अरस्तू ने ईश्वर और जगत् की वस्तुओं के बीच सम्बन्ध का वर्णन करने के लिए कुछ रूपकों का सहारा लिया है। ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं करता है, बल्कि उसे गतिशील बनाता है। किन्तु ईश्वर सृष्टि का संचालन यान्त्रिक शक्ति के समान नहीं करता है, बल्कि इसका संचालन पूर्ण प्रयोजन से करता है। “ईश्वर जगत् को वैसे ही गतिशील बनाता है, वैसे ही जगत् का संचालन करता है जैसे एक प्रिय विषय अथवा प्रेमिका अपने प्रेमी को क्रियाशील (गतिशील) बनाती है।² इस प्रकार ईश्वर प्रकृति का अन्तिम कारण, वस्तुओं का संचालक एवं प्रयोजन, जीवन का सिद्धान्त (आत्मा), जगत् का आकार एवं उसके विकास की अन्तर्निहित शक्ति है। वह पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण क्रिया है। ड्यून्ट ने इसे आधुनिक भौतिकी और दर्शन की ‘रहस्यात्मक शक्ति’ कहा है। ईश्वर एक व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता होने की अपेक्षा एक चुम्बकीय शक्ति (Magnetic Power) है।³

अरस्तू का ईश्वर पूर्ण होने के कारण आप्तकाम है। अतः उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है। वह कोई क्रिया या कर्म नहीं करता है, बल्कि स्वयं विशुद्ध क्रिया है। यद्यपि अरस्तू ने प्लेटो की कवित्वपूर्ण आलंकारिक भाषा के लिए उसकी कटु आलोचना की है, फिर भी वह कुछ स्थलों पर रूपकों, उपमाओं एवं कवित्वपूर्ण भाषा का प्रयोग करता है। वह कहता है — ‘ईश्वर शाश्वत आनन्द में रमण करता है।’ इसी प्रकार पूर्वोक्त रूपकों (प्रेमी-प्रेमिका, चुम्बकीय शक्ति इत्यादि) के प्रयोग से स्पष्ट है कि अरस्तू भी उसी मार्ग का अनुसरण करता है, जिसके लिए उसने अपने गुरु (प्लेटो) की आलोचना की थी। इन आलंकारिक वर्णनों से ईश्वर के

1. Greek Thinkers, pp.282-83.

2. Metaphysics, IX, 7..

God moves the world as the beloved object moves the lover.

3. He is pure energy, the scholastic Actus Purus — activity per se, perhaps the mystic ‘Force’ of modern physics and philosophy. He is not so much a person as a magnetic power.” The Story of Philosophy, p. 71.

व्यक्तित्वपूर्ण होने का भ्रम पैदा होता है। किन्तु व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अवधारणा उसकी तत्त्वमीमांसा से सामंजस्यपूर्ण नहीं है। पूर्ण आकार एवं पूर्ण सामान्य होने के कारण ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण नहीं हो सकता है। कोई भी वस्तु (व्यक्ति) बिना द्रव्य और आकार के संयोग के अस्तित्वयुक्त नहीं हो सकती है। द्रव्य से रहित ईश्वर का भी अस्तित्व नहीं हो सकता है। अतः अरस्तू का ईश्वर न तो सत् है और न पुरुष विशेष है। वह विशुद्ध विचार है। किन्तु यह किसी साधारण मनुष्य के मन का विचार (कल्पना) नहीं है। चिन्तन मनुष्य की एक दैवी विशेषता है। मानव-बुद्धि ईश्वरीय (दैवी) बुद्धि का ही एक प्रकाश है। अरस्तू मानवात्मा को 'दैवी-स्फुल्लिंग' (Divine Spark) कहता है। ईश्वरीय विचार का विषय स्वयं ईश्वर है। इस दृष्टि से ईश्वर को 'विचार ही विचार' कहा गया है। वह स्वयं अपना अनुशीलन करता है।¹ इस प्रकार अरस्तू का ईश्वर एक वस्तुनिष्ठ विचार है। यह प्लेटो के प्रत्यय के समान स्वतन्त्र है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि प्लेटो के प्रत्यय सामान्य होने के साथ-साथ एक अतीन्द्रिय जगत् में रहते हैं, जबकि अरस्तू का ईश्वर सामान्य एवं पूर्ण विचार होते हुए भी अस्तित्वयुक्त नहीं है। वह केवल एक तार्किक अवस्था है। इस पूर्ण विचार को अरस्तू आनन्दपूर्ण (Bliss) मानता है। अतः वह परम शुभ भी है।

अरस्तू के ईश्वर की उपमा एक 'निष्क्रिय राजा' से दी गयी है। राजा निष्क्रिय होते हुए भी शासन करता है। परन्तु अरस्तू का ईश्वर वस्तुसत् (अस्तित्वयुक्त) न होने के कारण शासन भी नहीं कर सकता है। इस प्रकार विशुद्ध दार्शनिक अनुशीलन के प्रेमी अरस्तू ने चिन्तन के उत्कर्ष को स्थापित करने के लिए ईश्वर के दैवी स्वरूप का ही बलिदान कर दिया। उसका ईश्वर वास्तविक सत्ता न होकर एक तार्किक अवस्था मात्र बनकर रह गया। ईश्वर विचार का विचार मात्र रह गया। अरस्तू यह न समझ सका कि ईश्वर का सारतत्त्व (Essence) स्वयं अस्तित्व है जिससे समस्त सीमित सत् उत्पन्न होते हैं।

नैतिक दर्शन (Moral Philosophy)

प्रकृति का अन्वेषक होने के कारण अरस्तू लौकिक जगत् को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है। वह आत्मा से परे किसी अलौकिक श्रेय को नहीं स्वीकार करता है। श्रेय का आश्रय मानव स्वयं है। मानव-स्वभाव के अन्तर्गत जीव तत्त्व (Vegetative part), क्षुधा तत्त्व (Appetitive part) और बौद्धिक तत्त्व (Rational part) ये तीन अंग सम्मिलित हैं। इनके अभाव में मानव-जीवन की सार्थक कल्पना नहीं की जा सकती है। मनुष्य के जीवन का परमश्रेय उसके समस्त घटकों (अंगों) के सन्तुलित व्यापार में निहित है। किन्तु इन तीनों तत्त्वों में से बौद्धिक तत्त्व प्रमुख है। अतः मानव-जीवन का श्रेय प्रमुख रूप से बौद्धिक है। नैतिक जीवन बुद्धि के द्वारा भावनाओं एवं क्षुधाओं के नियन्त्रण में निहित है। वासनाओं और भावनाओं का पूर्ण रूपेण दमन करना नैतिक दृष्टि से न तो आवश्यक है और न संभव है। भावनाओं और वासनाओं का कितना नियमन बुद्धि के द्वारा किया जाय, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मनुष्य एक विचारशील (बौद्धिक) प्राणी है। अतः जहाँ तक वह बुद्धि के नियमानुसार कर्म करता है, उसे सद्गुणी पुरुष (व्यक्ति) कहा जाता है। अरस्तू के अनुसार

1. Metaphysics, XII, 8.

सद्गुण सम्यक् बौद्धिक कर्म करने की आदत है। सद्गुणी जीवन निरन्तर सम्यक् बौद्धिक अवस्था के अभ्यास से ही संभव है। अरस्तू ने सद्गुणों का वर्गीकरण दो रूपों में किया है —

(1) बौद्धिक सद्गुण (Intellectual Virtues)

(2) नैतिक सद्गुण (Moral Virtues)

बौद्धिक सद्गुण ही मानव के लिए परम शुभ है। चूँकि मानव स्वभावतः एक बौद्धिक प्राणी है, इसलिए बौद्धिक सद्गुण दार्शनिक एवं वैचारिक जीवन में निहित है। मनुष्य का स्वभाव ईश्वर (विचारों का आदर्श प्रतिमान) से मिलता-जुलता है। मानव-जीवन का आदर्श विशुद्ध रूप से वैचारिक जीवन में निहित है। किन्तु अरस्तू के अनुसार बुद्धि के द्वारा वासनाओं और भावनाओं का नियमन भी श्रेय है। इसे ही नैतिक सद्गुण कहा जाता है। यद्यपि बौद्धिक सद्गुण नैतिक सद्गुण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और उच्चकोटि का है, तथापि नैतिक सद्गुण की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। मनुष्य का आनन्द बुद्धि के द्वारा वासनाओं एवं भावनाओं के नियमन पर आश्रित है। अतिशय त्याग (वैराग्यवाद) और अतिशय भोग (भोगवाद एवं सुखवाद) इनमें से कोई भी मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर (शुभ) नहीं हो सकते हैं। इस दृष्टि से अरस्तू भी प्लेटो के समान सिनिक विचारकों के वैराग्यवाद और सिरैनाइक सम्प्रदाय के भोगवाद का परित्याग करके पूर्णतावादी नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करता है। वस्तुतः अरस्तू त्यागवाद और सुखवाद के बीच का मध्यममार्ग अपनाता है।

प्लेटो ने सद्गुणों को आत्मा का विशेष गुण मान लिया था। ये गुण आत्मा के स्वभाव में ही निहित हैं, उसके द्वारा अर्जित नहीं हैं। किन्तु अरस्तू सद्गुणों को अभ्यासजन्य मानता है। शाश्वत अभ्यास के द्वारा सद्गुणों का विकास किया जा सकता है। सत् कर्म करने की निरन्तर साधना (अभ्यास) के बिना मनुष्य नैतिक कर्म नहीं कर सकता है। मानव-जीवन के लिए परम शुभ यूडोमोनिया (Eudaimonia) है। इसका अर्थ मानव-कल्याण है। यूडोमोनिया उस आत्मिक व्यापार से सम्बन्धित है जो मानव के लिए आनन्ददायक एवं कल्याणकारी हो। यह आनन्द ऐन्द्रिक सुखों से भिन्न होता है। सुख एकांगी होते हैं। जो आँखों के लिए सुखद है, वह घ्राण एवं श्रोत्र के लिए भी सुखद हो, यह आवश्यक नहीं है। आनन्द का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के आह्लादित होने से है। यह बुद्धि के द्वारा बुभुक्षाओं एवं वासनाओं के तर्कसंगत नियमन से सम्बन्धित होता है। सद्गुणों से युक्त बौद्धिक जीवन ही आनन्दप्रद और कल्याणकारी होता है। प्रश्न उठता है कि सद्गुण क्या है? अरस्तू ने सद्गुणों का निर्धारण करने के लिए 'स्वर्णिम माध्यम के सिद्धान्त' (Theory of Golden Mean) का प्रतिपादन किया है। यह दो अतियों के बीच का मार्ग है। वैराग्यवादियों (सिनिकों) की भूल यह है कि वे वासनाओं एवं भावनाओं की उपेक्षा करके नैतिक सद्गुण के द्रव्य (Matter) को नष्ट कर देते हैं। इसके विपरीत सुखवादी (भोगवादी) सिरैनाइक (अरिस्टिपस और उसके अनुयायी) मनुष्य के बौद्धिक पक्ष की उपेक्षा करके पाशविक सुख (प्रेय) को ही श्रेय मान लेने की भूल करते हैं। अरस्तू के अनुसार सद्गुण का अर्थ वासनाओं का आत्यन्तिक दमन या उत्पीड़न नहीं है, बल्कि उनका बुद्धि के द्वारा युक्तिपूर्वक नियमन (अनुशासन) करना है। इससे सिद्ध होता है कि सद्गुण इन दो अतियों (वैराग्यवाद और भोगवाद) से बचने का मार्ग है। अरस्तू मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ नैतिक जीवन कहता है।

सुकरात ने केवल ज्ञान (विवेक) को ही एक मात्र सद्गुण माना है। प्लेटो ने विवेक, साहस, आत्म-संयम और न्याय इन चार प्रमुख सद्गुणों का प्रतिपादन किया है। इसके विपरीत अरस्तू सद्गुणों की कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं करता है। अरस्तू का 'माध्यम' (Mean) कोई गणितीय अवधारणा नहीं है। माध्यम का निर्धारण परिस्थितियों के अनुसार विवेक अथवा बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) से होता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू का माध्यम परिस्थिति-सापेक्ष है। यह परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। सद्गुणों की संख्या परिस्थितियों के अनुसार ही बुद्धि के द्वारा निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को अपनी सूझ-बूझ (Common Sense) से दोनों अतियों से बचना चाहिए। अरस्तू के 'स्वर्णिम माध्यम' की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता के सन्तुलित आहार एवं विहार से युक्त, स्वप्न और जागरण की अवस्था वाले योग से की जा सकती है। यह बौद्ध दर्शन के मध्यमा प्रतिपद का स्मरण कराता है।¹ अरस्तू ने दो अतियों के मध्य बिन्दुओं का उल्लेख किया है। जैसे — साहस (Courage), कायरता (Cowardice) और उतावलेपन (Rashness) का मध्यबिन्दु है। इसी प्रकार विनम्रता उद्विग्नता (Rudeness) एवं चापलूसी (Obsequiousness) का मध्य बिन्दु है। दो अतियों के ये मध्य बिन्दु अनेक हैं। भय, क्रोध, साहस, करुणा आदि संवेगों एवं भावनाओं का उपयोग उपयुक्त समय पर उपयुक्त व्यक्तियों के प्रति उचित उद्देश्य से समुचित ढंग से करना ही मध्यममार्ग है। अरस्तू इसे जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहता है। इसे ही सद्गुण का प्रमुख लक्षण कहा गया है।² अरस्तू के अनुसार नैतिक सद्गुण बौद्धिक सद्गुण की प्राप्ति का साधन है। वह बौद्धिक जीवन को सैद्धान्तिक अथवा आदर्श जीवन (Theoria) कहता है।

अरस्तू के स्वर्णिम माध्यम सिद्धान्त की व्यावहारिक जीवन में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यह दो अतियों का निराकरण करके उनमें समन्वय स्थापित करने पर बल देता है। यही आदर्श सामाजिक और राजनीतिक जीवन का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त है। उसका नीतिशास्त्र मानव-जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्षों के सम्यक् विवेक पर आधारित है। अरस्तू मानव दुर्बलताओं और उसके भावात्मक पक्षों के प्रति भी जागरूक है। इसी कारण उसने भावनाओं के दमन का परित्याग करके बुद्धि के द्वारा उनके नियमन पर बल दिया है। राग-द्वेष, भय, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह (आसक्ति) का युक्तिपूर्वक नियन्त्रण करना साधारण मनुष्यों के लिए सरल नहीं है। ये संवेग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते हैं। गीता का अर्जुन इन संवेगों से विचलित हो जाता है। वह श्रीकृष्ण से कहता है कि मन अत्यन्त चंचल होता है। इसको वश में करना अत्यन्त कठिन है। गीता में आत्म-संयम के द्वारा इसके नियमन का मार्ग (उपाय) बताया गया है। इसके लिए शाश्वत साधना आवश्यक है। इसी प्रकार अरस्तू भी सद्गुणी जीवन के लिए निरन्तर साधना या अभ्यास पर बल देता है। वह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से सद्गुण के स्वरूप पर चिन्तन करता है। उसने सुकरात के इस कथन — 'ज्ञान ही सद्गुण है' को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार नैतिक जीवन के लिए केवल सद्गुण का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। सद्गुण को जानने के साथ-साथ उसे सुरक्षित रखने और तदनुसार

1. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता 6/17

2. निकोमेकियन इथिक्स, 2/6 (नीतिशास्त्र का सर्वज्ञान में, पृ० 221 पर पाद टिप्पणी)

आचरण करने का प्रयास भी करना चाहिए। अतः सद्गुण का ज्ञान और तदनुरूप आचरण दोनों मनुष्य के नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दों में सद्गुण के ज्ञान के साथ-साथ कर्तव्य का पालन करना, उसे सीखना और उसका अभ्यास करना भी अपेक्षित है। संक्षेप में, नैतिक जीवन के उत्कर्ष के लिए ज्ञान और कर्म (सद्गुण का बोध एवं उसके अनुसार आचरण करना) दोनों में सामंजस्य आवश्यक है।

अरस्तू ने वैयक्तिक श्रेय को नीतिशास्त्र और सामाजिक श्रेय को राजनीतिशास्त्र कहा है। नैतिक जीवन आदर्शों या सिद्धान्तों पर आधारित जीवन है। किन्तु वह नैतिक जीवन का आधार राजनीति (Politics) को मानता है। राजनीति ही सामाजिक श्रेय (Social Good) का आधार है। यह मत प्लेटो के पूर्वोक्त सिद्धान्त से भिन्न है। अरस्तू की न्याय सम्बन्धी अवधारणा भी प्लेटो के द्वारा स्थापित न्याय सिद्धान्त से भिन्न है। प्लेटो ने ज्ञानी (शासक), सैनिक और व्यापारी (व्यवसायी) वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का निर्धारण किया है। किन्तु अरस्तू विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता तथा राज्य के प्रति उनके कर्तव्य की दृष्टि से उन्हें यथोचित पद, प्रतिष्ठा और सम्मान प्रदान करने पर बल देता है। प्लेटो ने न्याय का विवेचन पूर्णतया नैतिक दृष्टि से किया है। इसके विपरीत अरस्तू ने न्याय की अवधारणा विधि सम्मत (Legal) दृष्टि से किया है। उसके अनुसार विधि के अभाव में न्याय के औचित्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू न्याय को सद्गुणों की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं रखता है। वह न्याय के दो रूपों में भेद करता है — प्रथम वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) है। इसके द्वारा विभिन्न नागरिकों को उनकी योग्यता और क्षमता के अनुसार पद, सम्मान, वेतनमान, पुरस्कार आदि प्रदान करने का विधान है। द्वितीय सुधारात्मक न्याय का सिद्धान्त (The Theory of reformative or corrective justice) है। इसके अन्तर्गत अनुचित कर्मों के लिए नागरिकों को दण्डित करने का विधान है। अनुचित ढंग से सुविधा लेने वाले व्यक्ति को दण्डित करना चाहिए। उसकी सुविधा को निरस्त करके उसे उसी मात्रा में असुविधा (दण्ड) प्रदान करना चाहिए। उल्लेखनीय है अरस्तू दण्ड को ऋणात्मक पुरस्कार (Negative Reward) कहता है। इसके विपरीत प्लेटो ने न्याय को एक नैतिक सद्गुण माना है। यह विवेक, साहस और आत्म-संयम के सामंजस्य से उत्पन्न होता है। वास्तव में प्लेटो के अनुसार राजनीति का आधार नैतिकता है। यद्यपि अरस्तू प्लेटो-दर्शन के विविध पक्षों की आलोचना करके उसमें संशोधन और परिमार्जन करता है, तथापि वह प्लेटो-दर्शन की मौलिक मान्यताओं से बच नहीं पाता है। अरस्तू का स्वर्णिम माध्यम का सिद्धान्त प्लेटो के समन्वयवाद एवं न्याय सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होता है। माध्यम-सिद्धान्त भी दो अतियों के बीच में सामंजस्य स्थापित करने पर बल देता है। अरस्तू का दर्शन कोरा बौद्धिक चिन्तन नहीं है। वह सिद्धान्त और व्यवहार, ज्ञान और करुणा, बुद्धि और भावना आदि के समन्वय का प्रयास करता है। नैतिक दर्शन के क्षेत्र में 'स्वर्णिम माध्यम' का सिद्धान्त अरस्तू की एक महत्वपूर्ण देन है। इसकी प्रासंगिकता प्रत्येक देश-काल में बनी रहेगी।

अरस्तू के दर्शन का मूल्यांकन

अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्ययवाद की आलोचना किया है क्योंकि प्लेटो के निर्विकार एवं अगतिशील प्रत्ययों के द्वारा जगत् में व्याप्त गति एवं परिवर्तन की व्याख्या नहीं की जा सकती

है। प्रश्न उठता है कि क्या अरस्तू सृष्टि के परिवर्तनशील और गतिशील स्वरूप की व्याख्या सफलतापूर्वक कर पाता है? प्लेटो के दर्शन में निहित दोषों का कारण उसका द्वैतवाद है। वह विचार और इन्द्रियानुभव, प्रत्यय तथा द्रव्य, ज्ञान के विषय एवं विश्वास के विषय में भेद करता है। प्रत्ययों का जगत् इन्द्रिय जगत् से भिन्न है। अतः जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या प्रत्ययों के द्वारा नहीं की जा सकती है। अरस्तू ने प्लेटो-दर्शन के इन दोषों को दूर करने का प्रयास किया। वह सामान्य और विशेष एवं आकार तथा द्रव्य को परस्पर अवियोज्य मानता है। किन्तु अरस्तू भी प्लेटो के द्वैतवाद से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में सफल न हो सका। उसका दर्शन भी आकार और द्रव्य के द्वैत से ग्रस्त हो जाता है। निरपेक्ष आकार और निरपेक्ष द्रव्य दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित चारों कारणों में से तीन (निमित्त, आकारिक और अन्तिम कारण) कारणों का अन्तर्भाव आकार (Form) में हो जाता है। किन्तु उपादान कारण अर्थात् जड़ द्रव्य का अन्तर्भाव आकार में नहीं हो सकता है। इस प्रकार आकार और जड़ द्रव्य का द्वैत अरस्तू के दर्शन में बना रहता है। वास्तव में अरस्तू ने द्वैतवाद की स्थापना तार्किक आधार पर की है। अरस्तू का निरपेक्ष आकार (जो बुद्धिगम्य है) 'आकारों का आकार' अथवा 'विशुद्ध आकार' इस लोक में कहीं भी अस्तित्वयुक्त नहीं दिखायी पड़ता है। यद्यपि अरस्तू का परम आकार (ईश्वर) स्वयं अचालित है, तथापि वह समस्त सृष्टि के विकास, गति एवं परिवर्तन का सूत्रधार है। क्या यह प्लेटो के 'सामान्यों' अथवा 'शुभ का प्रत्यय' की याद नहीं दिलाता है? अरस्तू का ईश्वर 'शाश्वत आनन्द में रमण करता है', अरस्तू का ईश्वर जगत् को वैसे ही गतिशील बनाता है, जैसे एक प्रेमिका अपने प्रेमी को क्रियाशील एवं गतिशील बनाती (आकर्षित करती) है, इत्यादि। क्या यह भाषा प्लेटो के समान ईश्वर का आलंकारिक वर्णन नहीं है? वस्तुतः अरस्तू भी अगतिशील एवं अचालित निरपेक्ष आकार (Absolute form) के द्वारा सृष्टि के विकास और गति की सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाता है। सृष्टि आकार और द्रव्य दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू प्लेटो के द्वैतवादी दर्शन की कठिनाइयों को दूर करने में सफल न हो सके।

इसके अतिरिक्त अरस्तू के कारणता सिद्धान्त का प्रयोग मानव-निर्मित वस्तुओं पर ही लागू होता है। जैसे घट, पट, मेज आदि पर इसे लागू किया जा सकता है, किन्तु अनेक प्राकृतिक घटनाओं पर इसे लागू नहीं किया जा सकता है। जैसे — शून्य अंश (Zero degree) तापमान पर जल बर्फ के रूप में परिणत हो जाता है। यह एक भौतिक-रासायनिक घटना है। इसके घटित होने में अरस्तू के आकारिक, निमित्त एवं प्रयोजनमूलक कारणों की खोज करना कठिन और अनावश्यक प्रतीत होता है। उनके आकारिक और उपादान कारणों के संप्रत्यय दुर्बोध प्रतीत होते हैं।

अरस्तू के द्वारा आकार और द्रव्य (उपादान) को आदि कारण मान लेने से किसी भी वस्तु के अस्तित्व की व्याख्या नहीं हो पाती है क्योंकि आकार और द्रव्य (Matter) के संप्रत्यय स्पष्ट एवं सुबोध नहीं हैं। उनके द्वारा किसी घटना अथवा वस्तु की व्याख्या करना समझ में नहीं आता है। अरस्तू तत्त्वमीमांसीय द्वैतवाद का प्रतिपादन करता है। अतः उसके दर्शन के विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ लागू हो जाती हैं जो सामान्य रूप से द्वैतवादी दर्शन के विरुद्ध उठायी जाती हैं। सृष्टि की उत्पत्ति की युक्तिसंगत व्याख्या न कर पाना द्वैतवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता है। यदि आकार और द्रव्य परस्पर विरोधी हैं तो उनके संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति असंभव हो

जायेगी। प्रायः पाश्चात्य द्वैतवादी (जैसे — एनेक्जेगोरस, प्लेटो, अरस्तू आदि) सृष्टि की उत्पत्ति की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाते हैं। आकार और द्रव्य एक दूसरे से स्वतन्त्र और भिन्न होने पर भी सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के लिए किस प्रकार परस्पर संयुक्त होते हैं? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर अरस्तू नहीं दे पाते हैं। अरस्तू केवल यह कहते हैं कि आकार और द्रव्य दृश्य जगत् में परस्पर अवियोज्य रूप में पाये जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कोई तर्कसंगत उत्तर वह (अरस्तू) नहीं दे पाता है। इसी प्रकार की आपत्ति द्वैतवादी सांख्य दर्शन के विरुद्ध अद्वैत वेदान्तियों ने भी प्रस्तुत किया है। राय बुड सेलर्स के अनुसार आधुनिक विकासवाद की मान्यताओं से द्वैतवादी तत्त्वमीमांसा का निराकरण हो जाता है। यदि चेतना को आदि सत्ता न माना जाए (जैसा कि आधुनिक विकासवाद की मान्यता है) तो द्वैतवादियों का यह कहना कि चेतन और जड़ तत्त्व दोनों सामान्यतः मौलिक हैं, सही नहीं हो सकता है।¹ यही कारण है कि आधुनिक युग में अस्तवी तत्त्वमीमांसा (आकार और द्रव्य) को विशेष महत्व न मिल सका। अब उसका महत्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही रह गया है।

एक अन्य समस्या यह है कि आकार की सत्ता को अनिवार्यतः क्यों स्वीकार किया जाय? आकार को स्वतः सिद्ध क्यों माना जाय? विभिन्न प्रकार के आकारों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इत्यादि प्रश्नों का अरस्तू के दर्शन में कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। अरस्तू जैविक प्राणियों के उद्भव और विकास का एक तथ्यात्मक विवरण मात्र प्रस्तुत करते हैं। जैसे — पौधों का आकार संपोषण (Nutrition), पशुओं का आकार संवेदन और मनुष्यों का आकार बुद्धि है। किन्तु अरस्तू यह नहीं सिद्ध कर पाते हैं कि विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन क्यों होता है? इससे स्पष्ट है कि अरस्तू जगत् में व्याप्त गति, परिवर्तन, विकास और ह्रास की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता है। विकास की दार्शनिक व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन के समुचित कारणों का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाय। संपोषण संवेदन का पूर्ववर्ती क्यों है? संवेदन संपोषण की अपेक्षा और बुद्धि संवेदन की अपेक्षा अधिक उच्चतर आकार क्यों है? अरस्तू इसकी तार्किक व्याख्या करने में सफल नहीं हो पाता है।

इन कमियों के होते हुए भी अरस्तू की गणना विश्व के महान विचारकों में की जाती है। उनकी प्रतिभा के समकक्ष विश्व में बहुत कम दार्शनिक हुए हैं। उनका दर्शन सम्पूर्ण ग्रीक विचारधारा का सार तत्त्व और समस्त पाश्चात्य चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। उन्होंने प्राचीन ग्रीक दर्शन की कमियों को दूर करके उसे संशोधित एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। अरस्तू को पाश्चात्य विचारधारा में प्रथम विकासवादी दार्शनिक होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने विकासवाद को एक व्यवस्थित रूप में पहली बार प्रस्तुत किया। अस्तवी विकासवाद से जर्मन दार्शनिक लाइबनिज और हेगल प्रभावित हुए। यद्यपि हेगल ने विकासवादी दर्शन को एक नया आयाम दिया, तथापि वे इस प्रयास में अरस्तू का अनुकरण करते हैं। हेगलीय द्वन्द्वन्याय जो परस्पर विरोधी पक्षों से विकास का प्रतिपादन करती है, अस्तवी दर्शन में मान्य द्रव्य और आकार से

1. आधुनिक विकासवादियों के अनुसार चेतना कोई मौलिक सत्ता नहीं है। उसका उद्भव विकास क्रम में बाद में होता है। देखिये — *The Principles and Problems of Philosophy*, R.W. Sellars, p. 207.

प्रभावित है। हेगलीय प्रत्ययवाद की यह मान्यता कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास होने पर पूर्ववर्ती अवस्थाएं परवर्ती अवस्था में नष्ट नहीं होती हैं, अरस्तू के विकासवाद में निहित है। अरस्तू के बहुआयामी ज्ञान और व्यक्तित्व के कारण पाश्चात्य दर्शन में प्रत्येक विचारक या तो प्लेटोवादी अथवा अरस्तूवादी विचारधारा में से किसी एक से अवश्य सम्बन्धित रहा है। निगमनात्मक तर्कशास्त्र (Deductive Logic) अरस्तू की एक मौलिक देन है जो आज भी विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में संशोधित एवं परिमार्जित रूप में पढ़ाया जा रहा है। उन्होंने प्रायः ज्ञान की सभी विधाओं, जैसे — मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, भौतिकी, प्राणिशास्त्र आदि विषयों का विवेचन करने का प्रयास किया। इन विषयों पर अरस्तू के विचार गहन चिन्तन और व्यापक दृष्टि से युक्त हैं। उनका दर्शन उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का एक समन्वित रूप है। यह ग्रीक विचारधारा का एक विकसित रूप है। इस दृष्टि से प्रत्येक पूर्ववर्ती विचारक तुलनाता हुआ अरस्तू (Lisping Aristotle) है। यद्यपि मध्यकालीन दर्शन धार्मिक रूढ़ियों और शास्त्रीय विचारधारा का पोषक रहा है, तथापि शास्त्रीय युग अरस्तू की तत्त्वमीमांसा से व्यापक रूप में प्रभावित रहा है। यहाँ तक कि शास्त्रीय युग के दर्शन की रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वास परक दृष्टि को समाप्त करके एक स्वस्थ, तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करने में अरस्तू के दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मध्यकाल के धर्मपरायण वातावरण में भी अनेक धर्मपरायण दार्शनिकों ने वाइविल की मान्यताओं को अरस्तू और प्लेटो के तात्त्विक दृष्टिकोण के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयास किया। इससे स्पष्ट है कि प्लेटो और अरस्तू इन दो महान विचारकों को पश्चिम में उतनी ही श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था जैसा कि भारत में प्राचीन ऋषियों एवं बुद्ध, महावीर, कौटिल्य और शंकराचार्य आदि को। इस संदर्भ में एक किंवदन्ती उल्लेखनीय है — कहा जाता है कि एक व्यक्ति ने अपने उस पुत्र को, जिसने सूर्य में काले धब्बे होने की बात अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर कही थी, यह पत्र लिखा — “प्रिय पुत्र, मैंने अरस्तू के ग्रन्थों का अनेक बार अध्ययन किया है और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि जिन धब्बों को तुम सूर्य में देख रहे हो, वे सूर्य में नहीं हैं, बल्कि तुम्हारी आँखों में हैं।” इस विवेचन से सिद्ध होता है कि पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और दार्शनिक अनुशीलन के उन्नयन में अरस्तू की विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान है। ●

ग्रीक दर्शन की विविध प्रवृत्तियाँ

प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में ग्रीक विचार धारा का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। अरस्तू-युग के बाद ग्रीस का पतन प्रारम्भ हो गया। राजनीतिक अव्यवस्था के कारण ग्रीस रोमन साम्राज्य का एक प्रदेश मात्र रह गया। वहाँ के हासोन्मुख सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का प्रभाव उस युग की सभ्यता और संस्कृति पर भी पड़ा। अपने बाह्य जीवन में सुख और शान्ति के अभाव को देख करके लोग अपने आन्तरिक जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करने की कामना करने लगे। इसके फलस्वरूप शनैः-शनैः दर्शनशास्त्र और धर्म में निकटता बढ़ने लगी। इस दौरान सन्देहवादी प्रवृत्ति भी विकसित होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास स्खलित होने लगा। अतः व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी मूल्यों की ओर इस युग के विचारकों का ध्यान आकर्षित होने लगा।

कुछ दार्शनिकों ने सुकरात के दर्शन की एकांगी व्याख्या करके अपनी-अपनी सुविधानुसार विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयास किया। वे अपने को सुकरात का अनुयायी मानते थे। इनमें से सिरैनाइक सम्प्रदाय, सिनिक सम्प्रदाय और मेगारी सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(1) सिरैनाइक सम्प्रदाय — इस सम्प्रदाय के संस्थापक एरिस्टिपस थे। एरिस्टिपस ने सुकरात के इस कथन, 'सद्गुण सुख प्राप्त करने का एक साधन है', पर विशेष बल दिया। एरिस्टिपस और उसके अनुयायियों ने स्वार्थपरक सुखवाद की स्थापना किया। उसने सुख को जीवन के परम श्रेय अथवा सर्वोच्च नैतिक मानदण्ड के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने मानसिक सुखों की अपेक्षा स्थूल शारीरिक सुखों को प्राप्त करने पर विशेष बल दिया। उनके अनुसार शारीरिक सुख आध्यात्मिक सुखों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। वे वर्तमान कालीन सुखों को ही विशेष महत्व देते हैं। भूतकाल मर चुका है और भविष्य संशयात्मक है। अतः वर्तमान काल के सुख ही महत्वपूर्ण हैं। किन्तु इस सम्प्रदाय के कुछ दार्शनिकों ने शारीरिक सुखों को महत्व देते हुए भी पाशविक सुखों से बचने पर बल दिया। इसी परम्परा के एक विचारक एनिसेरीज ने वासनाजन्य सुखों को छोड़कर मित्रता, वात्सल्य-प्रेम आदि से उत्पन्न सुखों को अधिक महत्व दिया। इसी सम्प्रदाय के एक निराशावादी दार्शनिक हेजेसियस (Hegesias) ने इस जन्म में भावात्मक सुखों की प्राप्ति को असंभव माना। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य दुःख से बचने का प्रयास करना है। अतः दुःख का अभाव ही सुख है।

प्राचीन सुखवादियों में एपिक्यूरस (340-270 ई०पू०) ने परिष्कृत स्वार्थ परक सुखवाद का समर्थन किया। उसके अनुसार हमारे नैतिक जीवन में बुद्धि का स्थान महत्वपूर्ण है। जीवन का लक्ष्य केवल क्षणिक सुख नहीं है, बल्कि सुखमय जीवन है। सुख की प्राप्ति बुद्धि की सहायता से ही हो सकती है। उसके अनुयायियों ने सुख-दुःख के प्रति उदासीनता का भाव अपनाने पर

बल दिया। एपिक्यूरस मानसिक सुखों को शारीरिक सुखों की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। वह विवेक, सद्गुण आदि को सुख की प्राप्ति का साधन मानता है। इस प्रकार सिरेनाइक सम्प्रदाय और एपिक्यूरस के दर्शन में सुखवाद और अनुभववाद की स्थापना की गयी है।

किन्तु सिरेनाइक सम्प्रदाय में सुकरात के मन्तव्य की विकृत व्याख्या की गयी है। यद्यपि सुकरात का लक्ष्य सामाजिक जीवन को सुखमय बनाना था, तथापि इसे एरिस्टिपस और एपिक्यूरस का मनोवैज्ञानिक सुखवाद नहीं कहा जा सकता है। सुकरात का उद्देश्य मानव की सुखवादी प्रवृत्ति का तथ्यात्मक विवेचन करना नहीं था, बल्कि सुखों को बुद्धि के द्वारा अनुशासित (संयमित) करने के लिए एक मार्ग-दर्शक (आदर्श) सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। सुख का अर्थ केवल स्थूल शारीरिक सुख नहीं, बल्कि आत्म-ज्ञान से उत्पन्न सर्वांगीण आनन्द से है। ऐसा आत्म-ज्ञानी व्यक्ति इन्द्रियों का स्वामी होता है। वस्तुतः एरिस्टिपस ने सुकरात के मत की एकांगी व्याख्या की है।

(2) सिनिक सम्प्रदाय — एन्टिस्थेनीज ने एरिस्टिपस और एपिक्यूरस के भोगवादी सिद्धान्तों के विपरीत वैराग्यवादी सिनिक सम्प्रदाय की स्थापना किया। वह सुकरात की चारित्रिक दृढ़ता से प्रभावित होने के कारण उसके इस सिद्धान्त पर बल देता है कि 'ज्ञान ही सद्गुण है।' वह सांसारिक सुखों, अर्थात् प्रेय को छोड़कर त्यागवादी श्रेय के मार्ग का समर्थन करता है। उसके अनुसार जीवन का श्रेय पूर्ण त्याग और कठोर जीवनचर्या में निहित है। इस सम्प्रदाय का आदर्श निषेधात्मक है। इसके कुछ अनुयायी कठोर इन्द्रिय-निग्रह और त्याग तपोमय जीवन-यापन में श्रद्धा रखते हैं। उदाहरण के लिए डायोजेनीज (412 से 323 ई० पू०) नामक दार्शनिक जल से भरी नाद (Tub) में रहता था। कहा जाता है कि एक बार सिकन्दर महान ने उससे कहा — "मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?" इस प्रश्न के उत्तर में डायोजेनीज ने कहा, 'कृपया हट जाइए और धूप मत रोकिए।' इससे सिद्ध होता है कि सिनिक विचारक सांसारिक उपलब्धियों से विरत थे। वे त्यागमय जीवन-चर्या की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। उनके अनुसार मनुष्य या तो सद्गुणी और विवेकशील हैं, अथवा अज्ञानी और मूर्ख हैं। इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई बीच का रास्ता नहीं हो सकता है। इनमें से विवेकशील व्यक्ति सद्गुण-सम्पन्न और मूर्ख व्यक्ति दुर्गुणों से युक्त होता है।

स्पष्ट है कि सिनिकवादियों ने भी सुकरात के दर्शन की एकांगी व्याख्या की है। त्याग पर अत्यधिक बल देने के कारण वे सांसारिक भोग और जीवन के भावात्मक पक्षों की नितान्त उपेक्षा कर देते हैं। सांसारिक सुखों के पूर्ण त्याग को सुकरात की नैतिक शिक्षा नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः सुकरात का लक्ष्य सद्गुण एवं विवेक के द्वारा आत्मानन्द प्राप्त करने की शिक्षा देना था। यद्यपि सिनिक विचारकों का विश्व-बन्धुत्व और विश्व-नागरिकता का आदर्श उदात्त है, तथापि इसे व्यावहारिक जीवन में शरीर को कष्ट देकर और नितान्त वैराग्यवादी दृष्टिकोण को अपनाने से नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

(3) मेगारी सम्प्रदाय — यूक्लिड के द्वारा संस्थापित मेगारी सम्प्रदाय में सुकरात और इलियाई सम्प्रदाय (पार्मेनाइडीज) के दर्शन में समन्वय करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत सुकरात के शुभ (Good) का समन्वय पार्मेनाइडीज के सत् (Being) से किया गया है। यूक्लिड के अनुसार शुभ, सत् और ईश्वर एक ही तत्त्व के विभिन्न नाम हैं, इसी प्रकार अशुभ, असत्, संभूति, विविधता आदि एकार्थक है। दूसरे शब्दों में, शुभ की यथार्थ सत्ता है

और अशुभ अयथार्थ है। करुणा, विवेक, आत्मसंयम इत्यादि सद्गुण एक मात्र सद्गुण, विवेक या शुभत्व के विविध रूप हैं। इससे स्पष्ट है कि शुभत्व का ज्ञान ही एक मात्र सद्गुण और मानव-जीवन का परम श्रेय है।

(4) स्टोइक सम्प्रदाय — जेनो¹ के द्वारा संस्थापित 'स्टोइक सम्प्रदाय' भी कठोरतावादी जीवन-पद्धति को अपनाता है। जेनो (342-270 ई० पू०) स्टोइक विचारधारा के जन्मदाता हैं। वे साइप्रस के सीटियम नामक नगर में पैदा हुए थे। उनका दार्शनिक चिन्तन क्रेटीज (सिनिक), स्टिल्पो (मेगारी दार्शनिक) और पोलेमो (Polemio) से विशेष रूप से प्रभावित है। स्टोइकों ने हेराक्लाइटस के द्वारा मान्य अग्नि को ब्रह्माण्ड के उपादान के रूप में स्वीकार कर लिया। इन विचारकों ने सार्वभौम अग्नि को मानवात्मा से अभिन्न मानकर अपने व्यक्तित्व को ही समाप्त कर दिया। वे सुखवादी और भोगवादी विचारधारा के कटु आलोचक थे। उनका दार्शनिक चिन्तन वैराग्यवादी सिनिक सम्प्रदाय से गम्भीर रूप से प्रभावित है। इस विचारधारा का प्रभाव प्राचीन यूनान और रोम में अधिक था। उल्लेखनीय है कि जेनो ने एक 'स्टोस' नामक नैतिक शिक्षण संस्थान की स्थापना किया था। इस शिक्षण संस्थान से सम्बन्धित लोगों को स्टोइक नाम से जाना जाता था। इस विचारधारा का उत्स (बीज) सिनिक विचारकों की वैराग्यवादी शिक्षा में निहित है। आत्म-त्याग ही स्टोइकों के जीवन का साध्य बन गया। यद्यपि ईश्वर के स्वरूप के बारे में स्टोइकों का मत ईसाई मत से भिन्न है, तथापि आगे चलकर ईसाई धर्म स्टोइक विचारधारा से प्रभावित हुआ। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में सेनेका, एपिक्टेटस (Epictetus), मार्फस, औरिलियस आदि प्रमुख हैं।

स्टोइकों के अनुसार सभी सद्गुणों का मूल आधार विवेक है। विवेकशील व्यक्ति और चरित्रवान व्यक्ति पर्यायवाची है। स्टोइक विचारधारा में हम सिनिक सम्प्रदाय का विकसित और परिमार्जित रूप पाते हैं। स्टोइकों ने सिनिकों की कठोरतावादी मान्यताओं में कुछ संशोधन किया। वे भावनाओं, संवेगों आदि के पूर्ण उन्मूलन पर बल नहीं देते हैं। दर्शन के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करना है। इसका आधार एक ही ईश्वरीय विधान से विश्व का संचालित होना है। इसके अतिरिक्त बुद्धि सभी मनुष्यों में व्याप्त एक सार्वभौमिक तत्त्व है। अतः सभी मनुष्यों को एक ही विश्व का नागरिक मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, विवेकशील व्यक्ति किसी देश-विशेष का नागरिक नहीं है, बल्कि वह सम्पूर्ण विश्व का नागरिक है। वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर बल देते हैं। यद्यपि स्टोइक भी सुकरात के 'ज्ञान सद्गुण है' को आदर्श मानते हैं, तथापि सिनिकों के समान स्टोइक सुकरात के मत की एकांगी व्याख्या करते हैं।

(5) सन्देहवादी सम्प्रदाय (Sceptic schools) — हम देखते हैं कि सुकरात की परम्परा का अनुगमन करने वाले प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में नैतिक सिद्धान्तों के विवेचन की प्रवृत्ति रही है। स्टोइक विचारकों और सुखवादियों (एपिक्यूरस) के समसामयिक युग में सन्देहवादी चिन्तन विकसित हुआ। इस युग के संशयवादियों में पायरो (Pyrrho) को संशयवादी दर्शन का जनक कहा जाता है। पायरो (365-275 ई० पू०) का जन्म एलिस नामक

1. स्टोइक सम्प्रदाय के संस्थापक जेनो पार्मेनाइडीज (इलियाई सम्प्रदाय) के अनुयायी जेनों से भिन्न व्यक्ति हैं।

नगर में हुआ था। कहा जाता है कि सिकन्दर महान के विजय अभियान के दौरान पायरो भी भारत आया था। संभवतः उसने भारतीय संशयवादियों से भी सम्पर्क किया था।¹

पायरो के अतिरिक्त अन्य संशयवादियों ने कार्नेडीज (215-130 ई० पू०), सेक्सटस एम्पेरिकस (250 ई० पू०), अकादमी (280-88 ई० पू०) एवं ऐनेसिडेमस सम्प्रदाय (Anesidemus School) महत्वपूर्ण हैं। इन संशयवादियों ने नैतिक संशयवाद के साथ-साथ ज्ञानमीमांसीय संशयवाद को स्थापित करने का प्रयास किया। सुव्यवस्थित संशयवाद (Methodological Scepticism) एक हेलेनिस्टी घटना है। परम्परागत रूप से संशयवादी की पहचान एक ऐसे व्यक्ति के रूप में की गयी है जो किसी चीज को निश्चिततापूर्वक जानने से इनकार करता है। वस्तुतः संशयवादी एक उभयतोपाश की स्थिति में फँसा रहता है। वह कोई भी निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार संशयवादी त्रिशंकु की भाँति मध्य में ही लटका रहता है। उग्र संशयवाद के अन्तर्गत किसी प्रकार की दार्शनिक स्वीकृति नहीं की जा सकती है। यहाँ तक कि कोई संशयवादी यह भी नहीं कह सकता है कि उसका किसी भी वस्तु में विश्वास है। वह इस बात में भी विश्वास नहीं करता है कि उसका किसी बात में विश्वास नहीं है।² इस प्रकार का उग्र संशयवाद आत्मघाती होता है। उसे तार्किक और मनोवैज्ञानिक इन दोनों दृष्टियों से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। संशयवादी कम से कम इतना तो अवश्य जानता-होगा कि — 'ज्ञान असंभव है' अथवा 'मैं कुछ नहीं जानता हूँ'। यदि मैं कुछ जानता हूँ तो वह यह है कि ज्ञान असंभव है। इस विरोधाभासी निष्कर्ष से सिद्ध होता है कि संशयवाद युक्तिसंगत (वैध) नहीं है। इसे स्वीकार करने पर संशयवाद का ही निपेध हो जाता है। यदि पायरोवादी कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ तो उसे इसका भी ज्ञान नहीं हो सकता है कि ज्ञान असंभव है।³

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भोगवादी, वैराग्यवादी, संशयवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों (सुकरात, प्लेटो, और अरस्तू) के द्वारा स्थापित सार्वभौमिकता और बौद्धिक अन्तर्मुखीपन के सनातन मानदण्ड समाप्त (खण्डित) होने लगे। धीरे-धीरे उस समय के बुद्धिजीवी आत्मकेन्द्रित हो गये। वे सामाजिक जीवन से विमुख तथा राजनीतिक समस्याओं के प्रति संवेदनशून्य होने लगे। इस प्रकार मनुष्य को न तो अपनी बुद्धि पर विश्वास रहा और न नैतिक जीवन के सार्वभौम प्रतिमानों पर। प्रत्येक मत के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ दी जाने लगीं। अतः निश्चित ज्ञान प्राप्त करना असंभव हो गया।

(6) नव्य प्लेटोवाद का उद्भव और विकास — अरस्तू के उत्तरवर्ती युग में यहूदी दर्शन का अभ्युदय हुआ। यहूदी विचारकों की अभिरूचि अमूर्त चिन्तन की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अधिक थी। वे 'यहोवा' में दृढ़ आस्था रखते थे। यहूदी विचारक सृष्टि वैज्ञानिक समस्याओं के प्रति गम्भीर न थे। यहोवा ही जगत् का स्रष्टा एवं नियन्ता था। वे अपनी धार्मिक मान्यताओं और आस्था के आधार पर ही समस्त सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करते थे। यहूदियों के लिए इतिहास, राजनीति,

1. Comparative Philosophy, P.T. Raju, p.p. 32-33.

2. I am certain of nothing, I am not even certain that I am certain of nothing. Outlines of the History of Greek Philosophy. p. 365.

3. ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ० 169-181.

सामाजिक जीवन और सम्पूर्ण संस्कृति दैवी संकल्प से संचालित होती है। यहूदियों का यह दृष्टिकोण प्राचीन ग्रीक विचारधारा के विपरीत है। प्राचीन ग्रीक विचारकों ने प्रायः जीवन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों की प्राकृतिक और बौद्धिक व्याख्या करने का प्रयास किया। किन्तु प्राचीन ग्रीक दर्शन की इस विचारधारा से लोग (यहूदी) विचलित होने लगे। यहूदियों का ईश्वर बौद्धिक बहस और लौकिक चिन्तन से परे हो गया। उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यहूदी अपनी विचारधारा और संस्कृति के प्रति प्रतिबद्ध और समर्पित जाति या कौम (Race) रही है, किन्तु अपने प्रतिद्वन्द्वियों के द्वारा किए गये अनेक आक्रमणों के कारण यहूदियों के जीवन और संस्कृति में बिखराव आ गया। ऐसी परिस्थिति में दार्शनिक चिन्तन भी विविध संस्कृतियों और विचारधाराओं के पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप एक नया कलेवर (स्वरूप) धारण करने लगा। उस समय सिकन्दरिया (Alexandria) नगर प्राच्य विचारधारा (यहूदी संस्कृति) के साथ-साथ पाश्चात्य चिन्तन का भी केन्द्र हो गया। इन दोनों संस्कृतियों के संगम (सम्मिश्रण) के परिणामस्वरूप एक नयी दार्शनिक संस्कृति ने जन्म लिया जिसे नव्य प्लेटोवाद के नाम से जाना जाता है। आगे चलकर मध्यकाल में नव्य प्लेटोवाद का ईसाई धर्म पर व्यापक प्रभाव पड़ा। नव्य प्लेटोवाद के अन्तर्गत यहूदी विचारधारा का प्लेटोवादी दार्शनिक सिद्धान्तों से सम्मिश्रण हो गया। इस प्रकार यहूदियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति और ग्रीक दर्शन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के पारस्परिक मिलन से नव्य प्लेटोवादी दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास हुआ।

(अ) फाइलो (Philo)

फाइलो (25 ई० पू० से 40 ई०) का जन्म मिस्र के सिकन्दरिया नगर के एक धर्मपरायण यहूदी परिवार में हुआ था। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हेलिनेस्टी युग में सिकन्दरिया प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधारा का केन्द्र था। फाइलो का दर्शन इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान से प्रभावित है। यद्यपि दर्शनशास्त्र के इतिहासकार फाइलो को नव्य प्लेटोवादी नहीं मानते हैं, तथापि उनके दर्शन में नव्य प्लेटोवाद की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी थी। उनकी ख्याति एक धर्मोपदेशक यहूदी दार्शनिक के रूप में है। फाइलो का 'ईश्वर' यहूदी धर्म का ईश्वर है। उसके अनुसार ईश्वर ने सृष्टि की रचना शून्य (Nothing) से किया है। यह मत ग्रीक दर्शन की मान्यताओं के विपरीत है। ग्रीक विचारकों के अनुसार असत् (शून्य) से असत् की ही उत्पत्ति हो सकती है। असत् या शून्य से किसी वास्तविक तत्त्व का उद्भव और विकास नहीं हो सकता है।¹

फाइलो के लिए ईश्वर सर्वोच्च नैतिक आदर्श, सर्वशक्तिमान, परात्पर, अचिन्त्य और अनिवर्चनीय है। ईश्वर ही आत्मा में सद्गुणों का आरोपण करता है। यह कहना कि मैंने अमुक सद्गुण का आरोपण किया है, महापाप होगा। सब कुछ ईश्वरीय संकल्प और दैवीय कृपा का फल है। इस प्रकार फाइलो का ईश्वर शून्य से ही सब कुछ उत्पन्न कर सकता है। वह सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव कर सकता है।² किन्तु ग्रीक दार्शनिकों के लिए शून्यता (असत्) से सद्गुणों एवं सृष्टि की उत्पत्ति एक विचित्र बात थी।³

1. कथम् असतः सज्जायेत् (Ex Nihilo Nilhil fit.)

2. अघटितघटितं घटयति सुघटितं घटितानि दुर्घटीकरोति।

विधिरेव तानि घटयति यानि पुमात्रैव चिन्तयति।।

3. The Legacy of Israel, E.R. Beven and Singer, pp. 50.51

Quoted by Prof. P.T. Raju, Comparative Philosophy, p.35.

ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए फाइलो ने सार्वभौमिक बुद्धि (Logos) या दैवी प्रज्ञा की कल्पना किया। इसकी सहायता से ही ईश्वर जगत् की रचना करता है। फाइलो के अनुसार जगत् का आदि है, किन्तु इसका अन्त नहीं है। फाइलो पश्चिम का पहला दार्शनिक है जिसने ईश्वर से सृष्टि के निष्क्रमण (Emnation) का प्रतिपादन किया। ईश्वरीय कृपा और निष्क्रमण के कारण उसके दर्शन में विभिन्न स्तर की सत्ताओं और सद्गुणों में अवस्था भेद पाया जाता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए सद्गुणों से युक्त जीवन-यापन करना आवश्यक है। फाइलो ने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक (धार्मिक) जीवन व्यतीत करने पर अधिक बल दिया है। सद्गुणों से युक्त जीवन-यापन आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से फाइलो सद्गुणों में अवस्था-भेद मानते हैं। उनके अनुसार सद्गुणों में उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय भेद हैं। वैराग्य से उत्पन्न सद्गुण, धर्मोपदेश का पालन करने से उत्पन्न सद्गुण और ईश्वरीय अनुकम्पा से प्राप्त सद्गुण क्रमशः एक-दूसरे से उच्च स्तरीय हैं।

वह ईश्वर और जगत् के बीच एक मध्यस्थ शक्ति सार्वभौम बुद्धि (Logos) की कल्पना करता है। प्लेटो के समान फाइलो भी जड़द्रव्य को जगत् में व्याप्त बुराइयों का मूल-कारण मानता है। उसकी आत्मा की अवधारणा भी प्लेटो और पाइथागोरस के आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त से प्रभावित है। वस्तुतः आत्मा के स्वरूप का निरूपण करने में वह प्लेटो के आत्मा सम्बन्धी विचारों का समर्थन करता है। पुण्य के क्षीण हो जाने पर आत्मा इस लोक में आता है।¹ जब मनुष्य का जीवन आध्यात्मिक या दैवीय प्रकाश से आलोकित हो जाता है तो पुण्यात्मायें अपने पवित्र लोक को पुनः वापस लौट जाती हैं। आत्मा में जितने भी दोष हैं, उनका मूल कारण आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। अतः पाप से मुक्ति का उपाय सांसारिक भोगों (प्रेय) का परित्याग अर्थात् वासनाओं का उन्मूलन करना है।

फाइलो के दर्शन में रहस्यवाद की झलक पायी जाती है। जगत् की रचना की व्याख्या और ईश्वर से सृष्टि के निष्क्रमण का निरूपण करने में वह रहस्यवादी दृष्टि को अपनाता है। वस्तुतः ईश्वरीय कृपा के बिना न तो सांसारिक बुराइयों से मुक्ति मिल सकती है और न आत्मा का उद्धार ही हो सकता है। स्टेस ने फाइलो को प्राच्य रहस्यवाद से प्रभावित माना है। इससे स्पष्ट है कि आगे चलकर प्लॉटिनस के दर्शन में जो रहस्यवाद अभिव्यक्त हुआ, उसकी पूर्व पीठिका फाइलो के रहस्यवाद ने तैयार कर दी थी।

(ब) प्लॉटिनस (Plotinus)

प्लॉटिनस (204 ई० से 270 ई०) का जन्म मिस्र के लाइकोपोलिस नामक नगर में हुआ था। नव्य प्लेटोवाद का उत्कर्ष उनके दर्शन में अपनी पूर्ण अवस्था में विद्यमान है। प्लॉटिनस का प्रमुख शिष्य पारफेरी यहूदी धर्म के प्रति उतना समर्पित (प्रतिबद्ध) न था जितना कि फाइलो। प्लॉटिनस के दर्शन को प्राचीन यूनानी संस्कृति, ग्रीक दर्शन और प्राच्य रहस्यवाद ने व्यापक रूप से प्रभावित किया है। लाइकोपोलिस (मिस्र) में जन्म लेने के कारण प्लॉटिनस स्वाभाविक रूप से

1. इसकी तुलना गीता के इस कथन से की जा सकती है — ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् क्षीणं पुण्ये मर्त्यं लोकं विशन्ति। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता 9/2)।

प्राच्य विचारधारा से प्रभावित है। उसने प्लेटो की दार्शनिक शब्दावली को ग्रहण करके अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना किया। प्लॉटिनस का ईश्वर परात्पर है। वह ईश्वर की व्यक्तिवपूर्णता का निषेध करता है। प्लॉटिनस के अनुसार ईश्वर 'एक' (One) है, जिसे परम शुभ (Good) कहा जा सकता है। प्लॉटिनस के अनुसार ईश्वर का निर्वचन करने के लिए केवल दो पारिभाषिक पदों का प्रयोग विधेय (विशेषण) के रूप में किया जा सकता है, जो क्रमशः 'एक' और 'शुभ' हैं। ये दोनों पद ईश्वर का वर्णन नहीं करते हैं, बल्कि संकेत मात्र करते हैं। ईश्वर के बारे में भावात्मक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर को 'एक' अथवा 'अद्वितीय' और 'परम शुभ' कहना केवल एक रूपक या आलंकारिक संकेत मात्र है।

प्लॉटिनस ने 'एक' को सर्वोच्च सत्ता माना है। सभी वस्तुओं की उत्पत्ति इसी से होती है। वे इसी में स्थित हैं, और अन्त में इसी एकमेव ईश्वर में विलीन हो जाती हैं।¹ प्लॉटिनस ने ईश्वर की तुलना एक ऐसे कुएँ (Well) से की है जिससे सृष्टि रूपी सरितायें शाश्वत रूप में प्रवाहित हो रही हैं, किन्तु उसमें किसी प्रकार की न्यूनता या कमी नहीं होती है।² प्लॉटिनस का दर्शन एक प्रकार का गत्यात्मक सर्वेश्वरवाद (Dynamic Pantheism) में रूपान्तरित हो जाता है। वह कहता है कि सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर की परिपूर्णता के उद्भवाह (Over flow) के कारण होती है। सृष्टि ईश्वर का निष्क्रमण (Emniation) है। प्लॉटिनस के पूर्व फाइलो ने भी सृष्टि के निष्क्रमण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। प्लॉटिनस सृष्टि को ईश्वर का निष्क्रमण मानते हुए सत्ता की अभिव्यक्ति में अवस्था-भेद को स्वीकार करता है। किन्तु सत्ता की अभिव्यक्ति में अवस्था-भेद ईश्वर में लेशमात्र भी नहीं है। वस्तुतः सृष्टि ईश्वर से भिन्न नहीं है। ईश्वर एक ऐसा प्रकाशपुंज है जिससे सभी वस्तुएं अभिव्यक्त हो रही हैं। किन्तु सृष्टि की रचना में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि ईश्वर पूर्ण है। प्रश्न उठता है कि ईश्वर सृष्टि क्यों करता है? प्लॉटिनस के अनुसार सृष्टि कोई भौतिक क्रिया नहीं है। यह ईश्वर के पूर्णतातिरेक का स्वाभाविक परिणाम है। इसकी बौद्धिक व्याख्या करना संभव नहीं है।

निष्क्रमण के फलस्वरूप सर्वप्रथम ईश्वर से एक 'दैवी प्रज्ञा' अथवा 'चेतन तत्त्व' (Nous) की अभिव्यक्ति होती है। इसे 'परम चैतन्य' तत्त्व कहा जा सकता है। प्लॉटिनस का चेतन तत्त्व (Nous) प्लेटो के नित्य अपरिवर्तनशील और अनेक आत्म-निर्भर प्रत्ययों से भिन्न है। चेतन तत्त्व (Nous) स्वरूपतः प्रज्ञात्मक है। इस दृष्टि से प्लेटो के प्रत्ययों को चेतन तत्त्व (Nous) का अंश कहा जा सकता है। इसकी तुलना प्लेटो के टिमैयास (Timaeus) में वर्णित स्रष्टा या ईश्वर (Dimurge) से की जा सकती है।

इस चेतन तत्त्व से विश्वात्मा (World Soul) की अभिव्यक्ति होती है। प्लॉटिनस की विश्वात्मा भी प्लेटो की विश्वात्मा के समान सार्वभौमिक है। यह एक अभौतिक तत्त्व है जिसका निष्क्रमण परम चैतन्य तत्त्व (Nous) से होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ईश्वर से चेतन तत्त्व (Nous) का निष्क्रमण होता है उसी प्रकार चेतन तत्त्व से विश्वात्मा का निष्क्रमण होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा चेतन तत्त्व (Nous) और लौकिक जगत् के बीच की अवस्था है। यही

1. आनन्दादध्यैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति (तैत्तिरीयोपनिषद्).
2. इनियड्स 10/5/76, दार्शनिक चिन्तन में उद्धृत पृ० 129.

सांसारिक वस्तुओं के जीवन और गति का मूल आधार है। प्लॉटिनस ने विश्वात्मा की दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

एक उच्चस्तरीय आत्मा है, जो इस व्यावहारिक जगत् से परे है। इसे ही विश्वात्मा कहा जा सकता है। द्वितीय निम्नस्तरीय जीवात्मा है, जो इस जगत् से सम्बन्धित है। जीवात्मा शरीर से सम्बन्धित होता है। शरीर से सम्बन्धित होने के कारण जीवात्मा जड़तत्त्व (Matter) से सम्बद्ध हो जाता है। दैवी तत्त्व की अपूर्णतम अभिव्यक्ति जड़ तत्त्व के रूप में हुई है। अतः प्लॉटिनस की सृष्टिमीमांसा के अन्तर्गत जड़ जगत् का स्थान आत्मा से निम्न स्तरीय है। आत्मा में व्याप्त अशुभ जड़ तत्त्व से निर्मित शरीर के कारण है। प्रश्न उठता है कि आत्मा शरीर क्यों धारण करता है?

प्लॉटिनस के अनुसार आत्मा के स्वभाव में एक अन्तः प्रेरक शक्ति है जो इसे शरीर धारण करने के लिए बाध्य करती है। शरीर से सम्बन्धित होने के कारण ही आत्मा की विवेक शक्ति क्षीण हो जाती है। आत्मा के पतन का दूसरा कारण विश्वात्मा का इस प्राकृतिक जड़ तत्त्व को रूप प्रदान करने का संकल्प है। इसके फलस्वरूप मानवात्मा हीन आत्मा (Lower self) या हीन भावों और अहम् भावों (Ego) से ग्रस्त हो जाता है।

चूँकि आत्मा स्वरूपतः दैवी है, इसलिए वह इस लौकिक जगत् से स्वतन्त्र होना चाहता है। यह जगत् एक निम्न स्तरीय सत्ता है क्योंकि यह ईश्वर का अन्तिम निष्क्रमण अथवा ईश्वर की अपूर्णतम अभिव्यक्ति है। प्लॉटिनस पुनर्जन्म में विश्वास करता है। वह मनुष्यों के साथ-साथ पशुओं में भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। जब तक दैवी ज्ञान की प्राप्ति न हो जाय तब तक जन्म और मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है। प्लॉटिनस का यह विचार भारतीय दर्शन के 'कर्म सिद्धान्त' से अद्भुत साम्य रखता है। भारतीय दार्शनिकों के समान प्लॉटिनस यह स्वीकार करता है कि सत् कर्मों के पुण्य फल और असत् कर्मों के दुष्परिणामों (पापों) से कोई मनुष्य बच नहीं सकता है।¹ दैवी आनन्द (Eros) की प्राप्ति के लिए ध्यान और वैराग्य का जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। आत्मा का शुद्धीकरण (Purification) तभी संभव है जब शाश्वत नैतिक जीवन व्यतीत करते हुए इस लोक के सुखों का परित्याग कर दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि आत्मा की मुक्ति के लिए सद्गुणों का शाश्वत अभ्यास अनिवार्य है। यहाँ प्लॉटिनस के दर्शन पर स्टोइकों, सिनिकों और फाइलो के नैतिक और धार्मिक सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप है। वह रहस्यवादी साधना का प्रबल समर्थक है। अद्वैत वेदान्त के शब्दों में इसे अपरोक्षानुभूति कहा जा सकता है। इस अवस्था में आत्मा तर्कबुद्धि से परे परम चैतन्य (Nous) के दैवी स्वरूप का साक्षात्कार करता है। किन्तु इससे भी उच्चस्तरीय अवस्था 'ईश्वर' (Deity) की अपरोक्षानुभूति है। यह अतिशय आनन्द (Rapture) की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा हर्षातिरेक से ओत-प्रोत हो जाता है। यह ऐसी रहस्यालक अवस्था है जहाँ साधक, (जीवात्मा) साधना और साध्य (ईश्वर) की त्रिपुटी का लय हो जाता है। प्लॉटिनस का यह मत उपनिषदों और अद्वैत वेदान्तियों के जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद का स्मरण कराता है। प्लॉटिनस के अनुसार आत्मा ईश्वर में विलीन हो जाता है। इसे पूर्ण अद्वैत (अभेद) की अवस्था कहा जा सकता है।

1. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्मशुभाशुभम्।।

प्लॉटिनस ने इसे 'अद्वितीय की अद्वितीय की ओर उड़ान' (The flight of Alone to Alone) कहा है। इस अवस्था में आला और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता है।¹

जेलर और स्टेस ने नव्य प्लेटोवाद की अतिरञ्जित आलोचना की है। उनके अनुसार नव्य प्लेटोवाद में प्राचीन ग्रीक (यूनानी) दर्शन ने आत्महत्या कर लिया। वास्तव में जेलर और स्टेस दर्शन को बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान तक सीमित कर लेते हैं। यदि दर्शन को बौद्धिक अनुशीलन तक सीमित माना जाय तो यह आक्षेप युक्तिसंगत हो सकता है। नव्य प्लेटोवाद का रहस्यवाद निश्चित रूप से तार्किक चिन्तन के विरुद्ध है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप की कोई एक विधा अभी तक स्थापित नहीं हो सकी है। प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही विचारधाराओं के अनेक दार्शनिक दर्शन का सम्बन्ध एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार से मानते हैं जो समस्त भाषिक और तार्किक सीमाओं से परे हो जाता है। उनके अनुसार दर्शन एक भाषेतर सत्ता की खोज है। यदि प्लॉटिनस ने अपरोक्षानुभूति के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार का संदेश दिया है, तो उसके दर्शन का रहस्यवाद में परिणत हो जाना स्वाभाविक है। यह दार्शनिक अनुशीलन की पराकाष्ठा का द्योतक है। यह दार्शनिक अनुशीलन से परे धार्मिक अनुभूति की अवस्था है। प्लॉटिनस ईश्वर को केवल स्वानुभूति का विषय मानता है। रहस्यात्मक अनुभूति की इस आनन्दस्वरूप अवस्था का निरूपण तार्किक और भाषिक उपकरणों (मन, बुद्धि, वाणी आदि) के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

आला और ईश्वर की यह तदाकारता और रहस्यवाद पाश्चात्य दर्शन के लिए एक सर्वथा नूतन संदेश है। हम देख चुके हैं कि प्राचीन ग्रीक दर्शन का शुभारम्भ प्राकृतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण से जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं के विवेचन के लिए हुआ था। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रीक दर्शन में दार्शनिक अनुशीलन का प्रमुख आधार विवेक बुद्धि रही है। किन्तु नव्य प्लेटोवाद में बुद्धि का स्थान रहस्यवादी साधना ने ले लिया। इससे दार्शनिक चिन्तन का एक दूसरी दिशा की ओर मुड़ जाना स्वाभाविक था। इस प्रकार नव्य प्लेटोवादी दर्शन का पर्यवसान (अन्त) रहस्यवादी साधना और प्रज्ञात्मक हर्षोन्माद में हुआ। नव्य प्लेटोवाद में हर्षातिरेक (Rapture) और प्रज्ञात्मक अनुभूति (Intuitive experience) का तर्कबुद्धि और नैतिक चिन्तन (व्यावहारिक नैतिकता) के ऊपर वर्चस्व स्थापित हो गया। इसके परिणामस्वरूप दार्शनिक चिन्तन के आदर्श बौद्धिक प्रतिमानों का अवमूल्यन हो गया। इस प्रकार दर्शन के अंधकार-युग की भूमिका तैयार हो गयी। रहस्यात्मक अनुभूति को बुद्धि से उच्चस्तरीय मान करके तर्कबुद्धि की उपेक्षा करना दर्शनशास्त्र के लिए अत्यन्त घातक होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर (मध्य काल में) दर्शन के ऊपर धर्म का वर्चस्व स्थापित हो गया। वस्तुतः प्लॉटिनस ही ग्रीक विचारधारा के अन्तिम महत्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उसके कुछ अनुयायियों ने अकादमी में दार्शनिक चिन्तन करने का प्रयास किया। पारफेरी (230-300 ई०) आसमविलकस, प्रोकल्स (410-485 ई०) इत्यादि प्लॉटिनस की विचारधारा से प्रभावित होकर दार्शनिक अनुशीलन करते रहे, किन्तु ईसाई धर्म के विपरीत होने के कारण उस समय के शासन (रोमन सम्राट जस्टीनियन) ने अकादमी को बन्द करके इस परम्परा के दार्शनिक चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार ग्रीक दर्शन का अन्त हो गया।

4.

दर्शन के अन्धकार का युग

मध्यकालीन दर्शन का प्रारंभ कब से माना जाए? यह प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से विवादास्पद है। किन्तु प्राचीन यूनानी दर्शन के प्रभाव एवं प्रतिष्ठा का हास होने के साथ-साथ इस युग के आरंभ होने की भूमिका तैयार हो जाती है। चूँकि यह युग तर्कप्रधान दार्शनिक चिन्तन के ऊपर धार्मिक मताग्रहों (रूढ़ियों) पर आधारित ईसाई धर्म के वर्चस्व का युग है, इसलिए कुछ आलोचकों ने इसे 'दर्शन के अंधकार का युग' (The Dark Period of Philosophy) कहा है।¹ यद्यपि इसकी अवधि चौथी शताब्दी ईसवी से आठवीं शताब्दी तक मानी जाती है, तथापि समस्त मध्यकालीन दर्शन में स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन का अभाव रहा है। इस कारण सम्पूर्ण मध्यकालीन दर्शन को ही दर्शन की परतन्त्रता एवं अज्ञानरूपी अंधकार का दर्शन कहा गया। इसके अंतर्गत ईसाई धर्म के मताग्रहों की दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में व्याख्या की गई है। तार्किक विवेचन और विश्लेषण की दृष्टि से इसे एक स्वस्थ दर्शन नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः ईसाई धर्म ही मध्ययुगीन दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग का प्रारंभ ईसाई धर्म के अभ्युदय एवं विकास से संबंधित हो जाता है। ईसाई धर्म के उत्कर्ष का आरंभ ईसा मसीह की मृत्यु से ही मानना समीचीन होगा। ईसामसीह के बलिदान की घटना के बाद रोमन साम्राज्य का पतन और ईसाई धर्म के अभ्युदय का आंदोलन प्रारंभ हो जाता है।²

किन्तु यहाँ पर हमारा लक्ष्य मध्य युग के दर्शन की शुरुआत सम्बन्धी ऐतिहासिक विवादों का मूल्यांकन करना नहीं है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि मध्यकालीन दर्शन ईसाई धर्म की मूलभूत मान्यताओं (विशेष रूप से कैथोलिक ईसाईयों के वर्चस्व) के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना करने से सम्बद्ध है। विगत अध्याय में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सुखवादियों और वैराग्यवादियों ने सुकरात के दर्शन की एकांगी व्याख्या करके अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयास किया। हम देख चुके हैं कि वैराग्यवादी (सिनिक एवं स्टोइक) विचारधारा के साथ-साथ भोगवादी (सुखवादी) नैतिक दर्शन भी समाज और प्रकृति से दूर होता चला गया। त्यागवादी अथवा निवृत्तिमार्गी मनोवृत्ति के कारण सिनिक और उसके बाद विकसित स्टोइक चिन्तन समष्टिगत स्वरूप न ग्रहण कर सका। अतः वह समाज से अलग-थलग पड़ गया। इसके विपरीत भोगवादी अथवा स्वार्थपरक सुखवादी (अरिस्टिपस एवं एपिक्यूरस) संप्रदाय भी परोपकारी प्रवृत्तियों से रहित होने के कारण समष्टिगत जीवन-दर्शन से दूर होता

1. A History of Philosophy Vol. II, Part I, F. Copaleston, p. 15-17.

2. इन्त पॉल द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करके चर्च की स्थापना की गई। इससे मूर्ति उपासक यहूदी धर्म का हास हुआ और रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म फैल गया।

गया। हेलेनिस्टी विचारधारा और नव्य प्लेटोवाद के प्रभाव से युक्त ईसाई धर्म ने धार्मिक आस्था का सहारा लेकर लोगों में व्याप्त निराशा को दूर करने का प्रयास किया। वास्तव में हेलेनिस्टी युग अथवा नव्य प्लेटोवाद के बाद मनुष्य का सनातन ग्रीक संस्कृति, कला और प्रकृति से लगाव कम होता चला गया। किन्तु यह सब आकस्मिक रूप से नहीं हुआ। हम देख चुके हैं कि ग्रीक दर्शन में ही इस प्रवृत्ति के बीज निहित हैं। उस समय की प्रवृत्ति मार्गी और निवृत्तिमार्गी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों ने मनुष्य को आत्म-केन्द्रित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है। रोमन स्टोइकवाद ने ईसाई धर्म की नैतिक आचार संहिता को प्रभावित किया। यद्यपि प्लॉटिनस का गत्यात्मक सर्वेश्वरवाद ईसाई धर्म के एकेश्वरवाद के विरुद्ध है, तथापि कालान्तर में नव्य प्लेटोवाद ने ईसाई धर्म को प्रभावित किया। नव्य प्लेटोवाद का अन्त ईसाई धर्म के अभ्युदय से भले ही सम्बन्धित हो, तथापि आगस्टाइन के दर्शन में नव्य प्लेटोवाद की स्पष्ट छाप है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। मध्यकालीन दर्शन ईसाई धर्म के प्रारम्भ से लेकर पुनर्जागरण काल पर्यन्त पाश्चात्य विचारधारा पर प्रभावी रहा। इसके अन्तर्गत ईसाई धर्म के विकास की दो प्रमुख अवस्थाएँ हैं, जिन्हें क्रमशः पैट्रिस्टिक युग एवं शास्त्रीय युग कहा जाता है।

पैट्रिस्टिक युग — ईसाई धर्म के विकास की प्रारम्भिक अवस्था पैट्रिस्टिक युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी अवधि ईसामसीह के बलिदान के पश्चात् विकसित ईसाई धर्म से लेकर प्रमुख ईसाई सन्त आगस्टाइन के दर्शन तक मानी जाती है। इस युग के दार्शनिक प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद से प्रभावित रहे हैं। इस काल के दार्शनिकों को अरस्तू के दर्शन की बहुत कम जानकारी थी। ईसाई धर्म की इस अवस्था को 'हेलेनिस्टी क्रिश्चियनटी' (Hellenistic Christianity), अर्थात् ग्रीक संस्कृति से प्रभावित ईसाई धर्म कहा गया है। ईसा मसीह को महिमा-मण्डित करके ईश्वर-पुत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया। ईसा के स्वरूप का निरूपण करने के लिए ग्रीक दर्शन के संप्रत्ययों का उपयोग किया गया। इस युग के प्रतिनिधि दार्शनिकों में सन्त आगस्टाइन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(अ) सन्त आगस्टाइन (Saint Augustine)

आरेलियस आगस्टाइन (354 ई० से 430 ई०) का जन्म अफ्रीका में हुआ था। कहा जाता है कि आगस्टाइन पहले एक मनीचियन द्वैतवादी थे। किन्तु प्लॉटिनस की महत्वपूर्ण कृति *इन्नियड्स* (Enneads) से प्रभावित होकर कैथोलिक बन गये। उन्होंने अपनी युवावस्था में सुखमय जीवन व्यतीत किया था। *इन्नियड्स* से प्रभावित होने के कारण आगस्टाइन को भोगपरायण एवं सुखमय जीवन से विराग उत्पन्न हो गया। उसके बाद उनका जीवन एक धर्मपरायण सन्त के रूप में विकसित हुआ। वे आजीवन चर्च के प्रचार-प्रसार के कार्य में संलग्न रहे। आगस्टाइन का दर्शन प्लेटो और प्लॉटिनस के दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित है। एक ईसाई सन्त एम्ब्रोस के त्यागमय (साधु जीवन) जीवन एवं विचारों का भी आगस्टाइन के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। आगस्टाइन के कुछ प्रशंसकों ने उन्हें 'ईसाई धर्म का प्लेटो' की संज्ञा से विभूषित किया। वे कैथोलिक चर्च की संप्रभुता के प्रति समर्पित पादरी के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। उन्होंने ईसाई धर्म की मान्यताओं के आधार पर अपने दर्शन को स्थापित करने का प्रयास किया। वस्तुतः आगस्टाइन ने ईसाई धर्म के मताग्रहों को तर्कसंगत सिद्ध करने का प्रयास

किया। ईसाई धर्म की मान्यतानुसार सृष्टि के आदि मानव 'आदम' को ईश्वर ने 'संकल्प की स्वतन्त्रता' दी थी। एक शैतान के द्वारा गुमराह किये जाने के कारण 'आदम' ने निषिद्ध फल खा लिया। अतः वह 'पापी' हो गया। इसके फलस्वरूप आदम की सन्तान, अर्थात् समस्त मानव-जाति भी पाप से ग्रस्त हो गयी। दूसरे शब्दों में, आदम के पाप के कारण उसकी समस्त सृष्टि में पाप संक्रमित हो गया। इस प्रकार सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति पापपरायण हो गयी। ईश्वर ने मानव जाति को इस पाप से मुक्त करने के लिए ईसा मसीह को पृथ्वी पर भेजा। आगस्टाइन ने समस्त दुःखों से मुक्ति पाने के लिए चर्च की शरण में जाने पर बल दिया। 'ईश्वरीय कृपा' (The Grace of God) की प्राप्ति चर्च के माध्यम से 'बपतिस्मा' (Baptism) के द्वारा ईसाई बनकर ही हो सकती है। उनकी एक सुप्रसिद्ध रचना 'ईश्वर का नगर' (City of God) है। इसके प्रथम दस खण्डों में ईसाई धर्म के विरुद्ध उठायी गई आपत्तियों का उत्तर दिया गया है। उसके बाद के खण्डों में 'ईश्वरीय-नगर' के स्वरूप का विवेचन किया गया है। आगस्टाइन ने लौकिक और दैवी इन दो नगरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने राज्य, चर्च एवं मनुष्य के लौकिक और दैवी (पारमार्थिक) लक्ष्य के बीच में भेद किया है। 'ईश्वरीय-नगर' शाश्वत आध्यात्मिक वैभव से युक्त है। इसे अविनाशी और दिव्य धाम कहा गया है। पृथ्वी पर ईश्वर के नगर का प्रतिनिधित्व चर्च करता है।

ईश्वर की अवधारणा

आगस्टाइन के ईश्वर सम्बन्धी विचारों पर प्लॉटिनस के दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। उसने ईश्वर की अवधारणा नित्य, अपरिवर्तनशील, अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे एक सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण शुभ (निरपेक्ष शुभ) अलौकिक तत्त्व के रूप में की है। ईश्वर का स्वरूप और उसका संकल्प अपरिवर्तनशील है। पूर्ण एवं पवित्र ईश्वर अशुभ से परे है। उसमें कर्म और संकल्प (इच्छा-शक्ति) की एकता है। ईश्वर ही जगत् की सभी वस्तुओं का मूल आधार है। आगस्टाइन ने वाइबिल की मान्यताओं को युक्तिसंगत बनाने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क दिये हैं जो अधोलिखित हैं —

(1) अनिवार्य और सार्वभौम सत्यों पर आधारित युक्ति — आगस्टाइन के अनुसार अनिवार्य और सार्वभौम सत्यों की संभावना का कारण न तो जीवात्मा हो सकता है और न संसार की कोई वस्तु हो सकती है। अनिवार्य और सार्वभौम सत्य नित्य होते हैं। नित्य सत्य किसी अनित्य और विशिष्ट व्यक्ति, देश-काल आदि पर आश्रित नहीं हो सकते हैं। अतः उसका कारण एक अनिवार्य और नित्य सत्ता ही हो सकती है। यह नित्य और अनिवार्य सत्ता ईश्वर ही हो सकता है। यह युक्ति एक प्रकार से नित्य सत्यों के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करती है।

(2) कारणात्मक युक्ति — जगत् और प्राकृतिक वस्तुएं कार्यरूप हैं। इस जगत् का कारण सीमित मानवात्मा अथवा कोई अन्य सीमित इकाई (सत्ता) नहीं हो सकती है। कोई भी कार्य बिना किसी उपयुक्त कारण के नहीं हो सकता है। अतः इस कार्य रूप जगत् का कारण ईश्वर ही हो सकता है। आगस्टाइन ईसाई धर्म की इस मान्यता पर बल देते हैं कि मनुष्य सदैव आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। आदम के पाप के कारण मानव स्वर्गीय

आनन्द से वञ्चित हो गया है। मानव के द्वारा इस उत्कृष्ट दैवी आनन्द की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास यह सिद्ध करता है कि इस दैवी आनन्द का कारण ईश्वर ही हो सकता है।

(3) प्रयोजनमूलक युक्ति — आगस्टाइन के अनुसार इस दृश्यमान जगत् में एक व्यवस्था, सौन्दर्य, नियमित परिवर्तन आदि के मूल में कोई न कोई संचालक शक्ति अवश्य होनी चाहिए। इस व्यवस्था का आधार कोई लौकिक सत्ता नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में, जगत् एक अनुपम और विचित्र रचना है। इसका आधार कोई अलौकिक या दैवी शक्ति होनी चाहिए। इस दैवी शक्ति को ईश्वर कहा जा सकता है। इस तर्क का प्रयोग शंकराचार्य ने भी किया है। उनके अनुसार जगत् की नियामकता एवं वस्तुओं की सप्रयोजनता एक सर्वज्ञ और नियामक तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करती है।¹ यह युक्ति एक प्रकार का साम्यानुमान है। हम देखते हैं कि साधारण वस्तुओं के निर्माण में भी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। जगत् जैसी अनोखी रचना को बनाने में जो बौद्धिक कौशल अपेक्षित है वह ईश्वर में ही हो सकता है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी यह युक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगे चलकर अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस युक्ति का प्रयोग ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किया। यद्यपि आगस्टाइन के बाद के दार्शनिकों ने इस युक्ति को संशोधित एवं परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया, तथापि उनके दर्शन पर आगस्टाइन की इस युक्ति की छाप है।

(4) सार्वभौम सहमति पर आधारित युक्ति — आगस्टाइन का दावा है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में प्रायः आम सहमति पायी जाती है। दूसरे शब्दों में, यह एक सार्वभौमिक मान्यता है कि ईश्वर ही इस जगत् का स्रष्टा है। विश्व में प्रायः सभी लोग ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ पापी, नास्तिक, अपवित्र एवं दुराचारी व्यक्ति इसके अपवाद हैं, अर्थात् ईश्वर में आस्था नहीं रखते हैं। विश्व की प्रायः सभी संस्कृतियों में लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार करते रहे हैं। ईश्वर के अस्तित्व में लोगों की श्रद्धा से सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता है। आगस्टाइन की ये युक्तियाँ कारणात्मक युक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। इन युक्तियों पर प्लेटो के दर्शन की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव है। प्लेटो ने तो ईश्वर को 'स्रष्टा' (Dimurge) नाम से ही संबोधित किया है। उसने ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हुए भी उसे परम शुभ कहा है। इसका विवेचन हम प्लेटो के दर्शन में 'शुभ का प्रत्यय' के संदर्भ में कर चुके हैं। आगस्टाइन ने भी ईश्वर को परम शुभ कहा है।

आगस्टाइन ने ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का मूल कारण माना है। यह जगत् ईश्वर की अनुकंपा की अभिव्यक्ति है। उसने जगत् की रचना किसी दबाव के कारण नहीं किया है। सृष्टि ईश्वर के संकल्प-स्वातन्त्र्य (Free will) का परिणाम है। सृष्टि की रचना प्राणियों की सुविधा के लिए की गयी है। अतः प्रत्येक सत् वस्तु शुभ है या शुभत्व की अभिव्यक्ति है। अशुभ (Evil) शुभ का अभाव है। अशुभ जगत् की श्रेष्ठता के लिए आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अशुभ स्वयं मूल्यवान् (श्रेष्ठ) है। अशुभ श्रेष्ठ नहीं है, परन्तु यह महत्वपूर्ण है कि अशुभ है। अशुभ को आगस्टाइन एक अभावात्मक अवधारणा मानता है। शुभ के न होने पर अशुभ होता है क्योंकि शुभ के न होने पर वह नहीं हो सकता है जो होना चाहिए था। वास्तव में अशुभ मानव के संकल्प स्वातन्त्र्य से संचालित मनुष्य के आचरण (कदाचार) का परिणाम है। शुभ के मार्ग का

1. तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। केनोपनिषद् भाष्य, उपोद्घात.

अनुपालन न करने से मानव अशुभ आचरण करता है। मनुष्य के जीवन में सबसे-भयानक अशुभ ईश्वर के प्रति प्रेम (भक्ति) का परित्याग करके इस नश्वर जगत् के प्रति आसक्ति है। आगस्टाइन 'प्रेम' को सर्वोच्च सद्गुण मानता है। प्रेम ही समस्त सद्गुणों का मूल आधार है। आत्म-संयमी ही ईश्वर के प्रति प्रेम (भक्ति) कर सकता है। ईश्वर-प्रेम सांसारिक विषयों के प्रति आसक्तिपूर्ण लौकिक प्रेम से भिन्न है। प्रेम के अभाव में जीवन में आशा का संचार नहीं हो सकता है। प्रेम के आधार पर आगस्टाइन आशावादी (Optimist) है। उसके अनुसार यदि ईश्वर चाहता तो सृष्टि में अशुभ की व्यवस्था न करता। मानव-कल्याण के साधन के रूप में सृष्टि में अशुभ का विधान हुआ है। सर्वज्ञ ईश्वर को यह पूर्वज्ञान था कि मानव अशुभ के मार्ग का अनुसरण करेगा। अतः उसने अशुभ मार्ग पर चलने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था किया। इससे सिद्ध होता है कि अशुभ किसी आसुरी शक्ति (शैतान) की रचना नहीं है। यह ईश्वरीय विधान का ही एक रूप है। यदि अशुभ को किसी आसुरी शक्ति (शैतान) की सृष्टि माना जाय तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध हो जाता है। अशुभ की सत्ता शुभ के सापेक्ष रूप में है। यह (अशुभ) शुभ का अभाव मात्र है। अशुभ के लिए मनुष्य उत्तरदायी है क्योंकि यह मानव के कदाचार का प्रतिफल है। ईश्वर अशुभ से परे है, किन्तु इस जगत् की व्यवस्था के अन्तर्गत उसने अशुभ का विधान निर्धारित किया है। इस प्रकार आगस्टाइन ने धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना किया है।

ईश्वरवादी ज्ञानमीमांसा — आगस्टाइन ने ईश्वरीय ज्ञान को ही सर्वोच्च ज्ञान माना है। ईश्वर एवं आत्मा का ज्ञान धर्मशास्त्र से होता है। अतः धर्मशास्त्र (Theology) का सर्वाधिक महत्व है। तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि उसी सीमा तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक उनसे ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इस दृष्टि से ज्ञान के दो स्तर हैं — (1) प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान (लौकिक ज्ञान) — यह तर्क बुद्धि और इन्द्रियानुभव से प्राप्त होता है। (2) अन्तर्दृष्टि (Insight) से प्राप्त ज्ञान या विवेक (Wisdom) — इसके द्वारा दैवी सत्ता का बोध होता है। यह आत्मा के तीनों पक्षों संकल्प, संज्ञान एवं संवेदनशीलता के पारस्परिकसम्बन्धों का ज्ञान है। इस प्रकार आगस्टाइन की ज्ञानमीमांसा का लक्ष्य ईश्वरीय साक्षात्कार और आत्म-ज्ञान है। अन्तर्दृष्टि से प्राप्त दैवी ज्ञान प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का परम श्रेय है। इसमें से आत्म-ज्ञान हमें ईश्वरीय साक्षात्कार की ओर ले जाता है। वैज्ञानिक ज्ञान के अन्तर्गत प्राकृतिक जगत् का बौद्धिक विश्लेषण किया जाता है। वैज्ञानिक ज्ञान अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न ज्ञान से निम्न स्तर का होता है। अन्तर्दृष्टि निश्चायक ज्ञान का स्रोत है। आगस्टाइन ईश्वर की साक्षात् अनुभूति (Intuitive Experience) में विश्वास करता है। वह कहता है, "मैं अपने स्वामी (ईश्वर) को लौकिक और अलौकिक सभी वस्तुओं में अन्तर्ब्याप्त देखता हूँ और उन्हें नहीं देख पाता हूँ। मैं उनके स्वरूप को अपनी आत्मा में खोजता हूँ और उन्हें वहाँ भी नहीं पाता हूँ, तथापि मेरे मन में यह जिज्ञासा है कि मैं उसके द्वारा सृजित सृष्टि को समझूँ। मैं अपनी आत्मा को अपने से बाहर उड़ेल देता हूँ और ईश्वर के अतिरिक्त (अन्य कोई वस्तु) मेरे लिए कुछ भी स्पर्श करने योग्य शेष नहीं रहता है।"¹

आगस्टाइन ईश्वरीय अनुकम्पा (Divine Grace) को ही समस्त पापों से मुक्ति और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने का मूल आधार मानता है। ईश्वरीय कृपा के परिणामस्वरूप मनुष्य ईश्वर के नगर का अधिकारी हो जाता है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य परम आनन्द को प्राप्त करना है। यह आनन्द ईश्वरीय कृपा से ही मिल सकता है। यहाँ 'आनन्द' से अभिप्राय लौकिक सुखों से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शान्ति एवं प्रसाद से है। जब सीमित मानव असीम एवं पूर्ण ईश्वर के प्रति प्रेम (Eros) या भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हो जाता है, अर्थात् मन, वाणी और कर्म (आचरण) से अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है तो उसे ईश्वर की कृपा से असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।¹

जब मनुष्य ईश्वरेच्छानुसार आचरण करता है तो वह अपने धर्म (स्वधर्म) का पालन करता है। इसके विपरीत यदि वह ईश्वरेच्छा के विरुद्ध आचरण करता है तो वह अशुभ से ग्रस्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि आगस्टाइन मानव के संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है। मनुष्य ईश्वरेच्छा के विपरीत आचरण भी कर सकता है। किन्तु ईश्वरेच्छा के विपरीत आचरण करना पाप (Sin) है। संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य अपने पाप के लिए उत्तरदायी है। यहाँ ईश्वरेच्छा से तात्पर्य बाइबिल के उपदेशों का पालन करना है। 'आदम' के द्वारा किये गये मूल पाप से मुक्ति पाने के लिए ही ईश्वर ने ईसा को पृथ्वी पर भेजा है।²

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आगस्टाइन की ये मान्यताएं ईसाई धर्म के मताग्रहों पर आधारित हैं। वस्तुतः ईसाई धर्म में 'पाप' को मानव-स्वभाव में ही निहित मान लिया गया है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य स्वभावतः पापी है। मनुष्य स्वभावतः पापी है, यह दृष्टिकोण निराशावादी जीवन-दर्शन का द्योतक है। यदि मानव को स्वभावतः पापी मान लिया जाय तो संकल्प की स्वतन्त्रता बाधित हो जाती है। यदि 'आदम' ने निषिद्ध फल खा करके पाप किया तो उसके बाद में आने वाली समस्त मानव-जाति को पापी कहना नैतिक दृष्टि से समर्थन करने योग्य नहीं है। यदि आदम के द्वारा किये गये पाप के फलस्वरूप हम (मानव) स्वभावतः पापी हैं तो इसे संकल्प की स्वतन्त्रता कैसे कहा जा सकता है? पुनश्च आदम के उस पाप का फल आगे आने वाली सन्तानों को भोगना पड़ रहा है, यह मान्यता अतार्किक, अनैतिक एवं कर्म-फल नियम के विरुद्ध एक पौराणिक (Mythological) गल्प मात्र प्रतीत होती है। यदि मनुष्य ने स्वयं पाप नहीं किया है तो उसका फल वह क्यों भोग रहा है? क्या यह अकृतकर्मफलाभ्युपगम (न कियेगये कर्म का फल भोगना) नहीं होगा? इत्यादि प्रश्नों का आगस्टाइन ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त यदि परम शुभ और सर्वशक्तिमान ईश्वर ही सृष्टि का मूल कारण है तो अशुभ, पाप तथा अन्य सामाजिक बुराइयाँ सृष्टि में कैसे समाविष्ट हो गयीं? हम बता चुके हैं कि सन्त आगस्टाइन इन समस्याओं का तार्किक हल प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। वे कैथोलिक चर्च की पौराणिक मान्यताओं को दार्शनिक पदावली में अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। आगस्टाइन अशुभ को शुभ से स्वतन्त्र नहीं मानते हैं। वे अशुभ को भी शुभ के

1. यह मत भारतीय दर्शन की शरणागति से तुलनीय है। गीता के अनुसार

“सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः।।”

2. A History of Philosophy, Copaleston, pp. 97-98.

अन्तर्गत ही समाहित कर लेते हैं। वे कहते हैं कि यदि ईश्वर चाहता तो सृष्टि की व्यवस्था में अशुभ को समाप्त कर सकता था। किन्तु अशुभ मानव-कल्याण का साधन है। प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर स्वेच्छाचारी है? क्या वह अशुभ से रहित सृष्टि की रचना करके मानव-कल्याण नहीं कर सकता था? यदि अशुभ को साधन के रूप में प्रयुक्त किये बिना वह मानव-कल्याण नहीं कर सकता है तो उसे सर्वशक्तिमान कैसे कहा जा सकता है? आगस्टाइन इन प्रश्नों का उत्तर न देकर दैवी चमत्कार का सहारा लेते हैं। वे केवल यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि यदि अशुभ न होता तो शुभ के महत्व का सम्यक् मूल्यांकन न हो पाता। अशुभ सृष्टि की व्यवस्था का एक अंश है। वस्तुतः आगस्टाइन बाइबिल में वर्णित 'मूल पाप' की अवधारणा के आधार पर ईश्वरीय कृपा और परम शुभ के स्वरूप का विवेचन करते हैं। उनके लिए अशुभ एक निषेधात्मक (Negative) संप्रत्यय है। ईश्वर अशुभ से परे है। ईश्वर से विमुख होकर इस अनित्य जगत् के आकर्षणों के प्रति आसक्त होना ही मानव-जीवन के लिए सबसे बड़ा अशुभ (अकल्याणकारी) है। इससे स्पष्ट है कि आगस्टाइन ईसाई धर्म की मान्यताओं के आलोक में ही अशुभ से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

आत्मा की अवधारणा

आगस्टाइन आत्मा को एक अभौतिक द्रव्य (Substance) मानते हैं। यद्यपि आत्मा शरीर से पृथक् और अमर तत्त्व है, तथापि उसमें बुद्धि, संकल्प और स्मृति ये तीनों शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। किन्तु प्लॉटिनस के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर से आत्मा का निष्क्रमण उन्हें मान्य नहीं है। आगस्टाइन चमत्कारवादी हैं। ईश्वर अपने चमत्कार के द्वारा आत्मा को शून्य से उत्पन्न करता है। ईश्वर की कृपा से ही मानवात्मा में तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा की उत्पत्ति ईश्वरीय चमत्कार से 'काल' (Time) में हुई है, किन्तु वह मृत्यु से परे है। आगस्टाइन ने प्लेटो के समान आत्मा को एक सरल एवं अभौतिक द्रव्य माना है। अभौतिक एवं सरल होने के कारण आत्मा का विभाजन या विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। अंतः आत्मा अनिवाशी है। शरीर से पूर्णतया भिन्न होते हुए भी आत्मा मानव-जीवन का मूल आधार है। मनुष्य न केवल आत्मा है और न केवल शरीर है, बल्कि यह आत्मा और शरीर दोनों का संघात है। आत्मा और शरीर में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होता है? आत्मा शरीर पर कैसे क्रिया करता है? इत्यादि रहस्यात्मक है। ये सब ईश्वरीय चमत्कार की देन हैं। आगस्टाइन आत्मा के उद्भव का स्पष्ट विवेचन नहीं करता है। किन्तु वह जन्म से पूर्व आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है। आत्माएं अनेक हैं। ये अनेक जीवात्माएं ईश्वर से कैसे उत्पन्न होती हैं? यह केवल आस्था का विषय है। इस पर किसी प्रकार का तार्किक बहस करना ठीक नहीं है।

मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य आत्म-ज्ञान एवं ईश्वर-लाभ है। किन्तु ईश्वर-लाभ (God-Realization) इस लौकिक जगत् में संभव नहीं है। सच्चा धार्मिक जीवन एक आदर्श रहस्यात्मक जीवन है। इस संसार में मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। यह प्राकृतिक जगत् दुःखमय एवं निराशाजनक है। आशावादी जीवन इस लौकिक जगत् से परे 'ईश्वर के नगर' में प्राप्त हो सकता है। ईश्वरीय-कृपा से ही 'ईश्वर के नगर' में प्रवेश संभव है। ईश्वरीय कृपा ईश्वर के प्रति 'प्रेम' (प्रेमा भक्ति) से ही मिल सकती है। इस प्रकार

आगस्टाइन ईश्वर के प्रति आध्यात्मिक प्रेम को ही समस्त सद्गुणों का मूल आधार मानता है। प्रेम और आशा दोनों का आधार ईश्वर के प्रति श्रद्धा (Faith) अथवा दृढ़ विश्वास है।¹ इससे सिद्ध होता है कि ईश्वरीय कृपा के बिना मानव को आनन्द और शान्ति नहीं मिल सकती है।

आगस्टाइन का आत्मा से सम्बन्धित सिद्धान्त उस युग में प्रचलित आत्मा सम्बन्धी दोनों मतों से भिन्न है। वह सृष्टिवाद (Creationism)² और जीवानुवंशिकतावाद (Traducianism)³ इन दोनों मतों से भिन्न 'चमत्कारवाद' का प्रतिपादन करता है। आत्मा का आविर्भाव ईश्वर के दैवी चमत्कार से हुआ है। यद्यपि आगस्टाइन आत्मा को प्लेटो के ही समान एक अभैतिक एवं सरल द्रव्य मानते हैं, तथापि वे आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए नित्य और कूटस्थ प्रत्ययों का सहारा नहीं लेते हैं। आगस्टाइन का दावा है कि आत्मा का आविर्भाव काल में हुआ है, तथापि उसकी मृत्यु नहीं हो सकती है।⁴ किन्तु आगस्टाइन की यह मान्यता तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है। जिसकी उत्पत्ति काल के अन्तर्गत हुई है वह काल और मृत्यु से परे कैसे हो सकता है? जो नित्य है उसका आरम्भ नहीं हो सकता है और जिसका आरम्भ (काल में) हुआ है वह नित्य नहीं हो सकता है।⁵ यदि आत्मा का प्रादुर्भावकाल में हुआ है तो यह नित्य नहीं हो सकता है। किन्तु आगस्टाइन आत्मा को ईश्वरीय चमत्कार से प्रादुर्भूत मानते हैं। आत्मा को अविनाशी कहा गया है। आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए दी गयी आगस्टाइन की युक्तियाँ प्लेटो के द्वारा दिये गये तर्कों की पुनरावृत्ति मात्र हैं। उसकी युक्तियों का अन्तर्भाव प्लेटो की ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय युक्तियों के अन्तर्गत किया जा सकता है। यहाँ पर आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने के लिए आगस्टाइन की युक्तियों का उल्लेख करना अनावश्यक विस्तार होगा। वस्तुतः ये युक्तियाँ प्लेटो के तर्कों के रूपान्तरण मात्र हैं। किन्तु इस सन्दर्भ में आगस्टाइन का एक सूत्र प्रसिद्ध है। वह कहता है — "मैं धोखा खाता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" (Si Fallor sum)। वह धोखा खाने वाले तत्त्व के रूप में आत्मा को स्वतः सिद्ध मानता है। आगस्टाइन का यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है। इससे प्रभावित होकर आधुनिक युग में रेने डेकार्ट ने आत्मा को स्वतः सिद्ध एवं समस्त संशयों की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया।

जगत् का स्वरूप

आगस्टाइन के अनुसार सृष्टि ईश्वरीय चमत्कार से उत्पन्न हुई है। यह दैवी-संकल्प का परिणाम है। जगत् की रचना करना न तो ईश्वर का स्वभाव है और न ईश्वर के उत्पन्नवाह पर आधारित निष्क्रमण (Emanation) है। आगस्टाइन के द्वारा प्रतिपादित जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त नव्य प्लेटोवादी प्लॉटिनस के निष्क्रमण सिद्धांत से भिन्न है। उल्लेखनीय है कि वह सृष्टि

1. बिनु विश्वास भगति नहि, तेहि बिनु द्रवहि न राम।
रामकृपा बिनु जीव नहि, सपनेहु लह विस्त्राम।। रामचरितमानस।
2. इस मत के अनुसार प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति के समय ईश्वर एक आत्मा की सृष्टि करता है।
3. माता-पिता की आत्माओं से ही गर्भस्थ शिशु का निर्माण होता है।
4. A History of Philosophy, Frank Thilly, Central Book Depot, Allahabad, 1978, p.181.
5. इसी मत की अभिव्यक्ति शंकराचार्य ने तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य की प्रस्तावना में किया है — नहिं नित्यं केनचिद् आरभ्यते, लोके यदारब्धं तदनित्यम्।।

की उत्पत्ति को देश और काल के अन्तर्गत नहीं मानता है। वास्तव में देश और काल की उत्पत्ति भी सृष्टि के साथ हुयी है। ईश्वर के अतिरिक्त लौकिक जगत् की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वरीय संकल्प या दैवी चमत्कार से हुयी है। जड़ द्रव्य (Matter) भी ईश्वर की ही रचना है। आगस्टाइन ने जड़ द्रव्य को आकार (Form) का पूर्ववर्ती माना है। यदि आकार से पहले जड़ द्रव्य की सत्ता को न माना जाय तो एक समस्या यह है कि जड़ द्रव्य के अभाव में किसे आकार प्रदान किया जायेगा। इस समस्या के समाधान के लिए आगस्टाइन ने आकार (Form) से पूर्व जड़ द्रव्य की उत्पत्ति को स्वीकार किया। प्रश्न उठता है कि सृष्टि की यह उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये आगस्टाइन ईसाई धर्म की पौराणिक और धार्मिक मान्यताओं का सहारा लेते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति को दैवी संकल्प अथवा चमत्कार पर आधारित मान करके वे इसे रहस्य का विषय बना देते हैं। इसका ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण एवं सामान्य अनुभव से नहीं हो सकता है। आगस्टाइन जटिल दार्शनिक प्रश्नों का तार्किक सामाधान न देकर ईश्वरीय चमत्कार एवं पौराणिक आख्यानों का सहारा लेते हैं। इस प्रकार उनकी सृष्टि-मीमांसा प्लेटो के सृष्टि-सिद्धांत से भिन्न है। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने जगत् की रचना करने के लिए जड़द्रव्य (Matter) और प्रत्ययों का आकार (Form) दोनों का आश्रय लिया था।

प्लेटो का ईश्वर जगत् का निमित्त कारण मात्र है। प्लेटो सृष्टि को नित्य मानता है। सृष्टि के मूल आधार जड़ द्रव्य और आकार (प्रत्यय) भी नित्य हैं। प्लेटो सृष्टि की रचना में किसी दैवी चमत्कार का सहारा नहीं लेता है। वह सृष्टि की बुद्धिवादी और प्रकृतिवादी व्याख्या करता है। इसके विपरीत आगस्टाइन सृष्टि को अनित्य मानता है। वह सृष्टि की रचना में ईश्वरीय चमत्कार का सहारा लेकर इसे एक रहस्य की वस्तु बना देता है। वस्तुतः वह ईसाई धर्म के मताग्रहों का तार्किक दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास करता है। ईश्वर जगत् की रचना शून्य (Nothing) या असत् से करता है। इस प्रकार उसकी सृष्टि-मीमांसा असत् कार्यवाद पर आधारित है। यह मत प्राचीन ग्रीक विचारधारा के विपरीत है। अरस्तू के दर्शन में असत्कार्यवाद का निराकरण किया गया है।¹

प्रश्न उठता है कि सृष्टि-रचना में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? 'आप्तकामस्य का स्पृहा' अर्थात् पूर्ण ईश्वर ने सृष्टि की रचना क्यों किया? आगस्टाइन के अनुसार ईश्वरेच्छा, दैवी अनुग्रह, सृष्टि की चमत्कारिक रचना इत्यादि से सम्बन्धित प्रश्नों को नहीं उठाना चाहिए क्योंकि इन प्रश्नों को समझ पाना मनुष्य के लिये असंभव है। ये समस्याएँ बौद्धिक वहस और तार्किक विश्लेषण के विषय नहीं हैं। इस सम्बन्ध में चर्च ही सम्यक् मार्ग दर्शन कर सकता है। आगस्टाइन के दर्शन का लक्ष्य ईसाई धर्म के मताग्रहों को दार्शनिक आधार प्रदान करके उसका प्रचार-प्रसार करना है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उसने ईसाई धर्म को दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने के लिये प्लेटो और प्लॉटिनस के दार्शनिक सिद्धांतों का उपयोग किया। उनके दर्शन में ईसाई धर्म की मान्यताओं का सम्मिश्रण प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद के दार्शनिक सिद्धांतों के साथ हुआ। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों ही विचारधाराओं के मत एक दूसरे से भिन्न हैं। प्लेटो की बुद्धिवादी दार्शनिक प्रवृत्ति के साथ ईसाई धर्म की रहस्यवादी और चमत्कारवादी धार्मिक प्रवृत्ति में सामंजस्य तार्किक आधार पर स्थापित न हो सका। किन्तु आगस्टाइन मध्य युग के

1. Ex nihilo nihil fit., अर्थात् कथम् असत्: सत् जायेत्।

सबसे महान दार्शनिक माने जाते हैं। उनके दर्शन का प्रभाव मध्य युग से लेकर उनके बाद आने वाले प्रायः सभी दार्शनिकों पर पड़ा। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये आगस्टाइन के द्वारा दी गयी युक्तियों को आधुनिक युग के दार्शनिकों ने संशोधित और परिवर्धित रूप में विकसित किया। इस प्रकार उनके दर्शन का प्रभाव आधुनिक युग के दार्शनिकों पर भी पड़ा है। आगे चलकर शास्त्रीय युग में विकसित दो तलवारों के सिद्धांत के बीज भी उनके दर्शन में निहित हैं। उन्होंने 'लौकिक जगत्' और 'ईश्वर के नगर' का वर्गीकरण किया है। यह प्रकारान्तर से दो तलवारों के सिद्धांत की ओर संकेत करता है। आगस्टाइन के दर्शन में चर्च की महत्ता प्रतिष्ठापित हुयी जो सम्पूर्ण मध्यकालीन दर्शन पर प्रभावी रही। उनका मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने सबसे पहले ईसाई धर्म पर आधारित एक व्यवस्थित दर्शन की स्थापना किया।

आगस्टाइन से प्रभावित दार्शनिकों में जॉन स्कॉट्स एरिजेना (810 ई० से 880 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। एरिजेना ईसाई धर्म के साथ-साथ नव्य प्लेटोवादी सर्वेश्वरवाद से प्रभावित विचारक हैं। उनके दर्शन में ग्रीक विचारधारा के सिद्धांतों को मध्यकालीन दर्शन में समायोजित करने का प्रयास किया गया। आगस्टाइन के समान एरिजेना का उद्देश्य भी ईसाई धर्म की मान्यताओं को एक व्यवस्थित और तार्किक स्वरूप प्रदान करना है। उन्होंने सामान्यों की वास्तविक सत्ता पर विशेष बल दिया। उनके अनुसार जो वस्तु जितनी अधिक सामान्य है वह उतनी ही अधिक वास्तविक है। वे ईश्वर के प्रत्यय को भी एक सामान्य प्रत्यय के रूप में स्वीकार करते हैं। चूँकि ईश्वर का प्रत्यय सामान्य है, इसलिए ईश्वर की सत्ता वास्तविक है। जगत् का प्रत्यय ईश्वर के प्रत्यय की अपेक्षा कम सामान्य है। प्रत्येक वस्तु अपनी सामान्यता के अनुपात में ही परिपूर्ण हैं। जगत् ईश्वरसे निम्नस्तरीय सत्ता है। उसके दर्शन पर प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धांत का प्रभाव उपलक्षित होता है।

वे ईश्वर और प्रकृति दोनों को एक ही सत्ता के दो भिन्न नाम कहते हैं। ईश्वर ही सांसारिक वस्तुओं का आदि, अंत और मध्य है। उसी से संसार की सभी वस्तुओं का उद्भव होता है। समस्त सृष्टि उसी में स्थित है और अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर ही समस्त सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त है। यह सिद्धांत उपनिषदों की इस विचारधारा से तुलनीय है : जिससे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है जिससे समस्त प्राणी जीवित हैं और जिसमें उनका लय होता है, वह ब्रह्म है।¹

अन्य ईसाई दार्शनिकों के समान एरिजेना भी ईसाई धर्म की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि मानव अपने पाप और पतन के लिये उत्तरदायी है। संसार में व्याप्त अशुभ के लिये ईश्वर को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। मनुष्य का ईश्वर से अलगाव नित्य नहीं है। बौद्धिक चिन्तन से ऊपर उठकर रहस्यात्मक अनुभूति के स्तर पर ईश्वर में लीन होना संभव है। एरिजेना के दार्शनिक चिंतन पर सर्वेश्वरवाद का प्रभाव है। उनकी विचारधारा पर ग्रीक दर्शन के सामान्यवाद का गहन प्रभाव है। किन्तु उन्हें ईसाई धर्म का आगस्टाइन जैसा आदर्श विचारक नहीं माना जा सकता है।

1. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यम् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तं विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।

(ब) सन्त एन्सेल्म

मध्य कालीन दर्शन की परम्परा में एक ईसाई साधु संत एन्सेल्म (1035-1109 ई०) का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है। एन्सेल्म का जन्म इटली के आवोस्टा नगर में हुआ था। किन्तु कैन्टरबरी के आर्कबिशप के पद पर आसीन होने के कारण वे कैन्टरबरी के एन्सेल्म के नाम से प्रसिद्ध हुये। मोनोलोगियन (Monologion), प्रोस लोगियन (Proslogion) और समाधि (Meditations) उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। एन्सेल्म पैट्रिस्टिक युग और शास्त्रीय युग के बीच में संक्रमण कालीन दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके दार्शनिक विचार आगस्टाइन के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं। वे धार्मिक आस्था को ही ज्ञान का मुख्य आधार मानते हैं। धार्मिक आस्था के अभाव में धार्मिक सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। धर्मशास्त्रीय कथनों का अर्थ जानने के लिये 'ईश्वरीय कृपा' अनिवार्य है। यदि कोई धर्मशास्त्रीय कथन बोधगम्य नहीं है तो इसे ईश्वर के प्रति श्रद्धा का अभाव माना जायेगा। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक भाषा का अर्थ बिना धार्मिक विश्वासों के प्रामाणिक रूप में जाना नहीं जा सकता है।

उन्होंने तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर (पिता), ईश्वर-पुत्र (ईसा) और मानवात्माओं (जीवों), इन तीन तत्त्वों की सत्ता का प्रतिपादन किया है। ये तीनों तत्त्व एक दूसरे से पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं। किन्तु ईश्वर-पुत्र और मानवात्माओं का अस्तित्व पृथक् होते हुये भी वे ईश्वरीय सत्ता पर आश्रित हैं। एरिजेना के समान एन्सेल्म भी सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त से प्रभावित हैं। वे सामान्यों को शाश्वत और यथार्थ सत्ता कहते हैं। पिता-पुत्र और जीवात्माओं में एक ही ईश्वर का प्रकाश विद्यमान है। नित्य सामान्य रूपी पुत्र (ईसा) ही सृष्टि का कारण है, किन्तु यह 'पुत्र' भी सामान्य रूपी पिता (ईश्वर) में स्थित है। पिता सृष्टि की रचना पुत्र के सहयोग से करता है। सामान्यों के सिद्धान्त के आधार पर ही चर्च की सत्ता और महत्व का भी समर्थन किया गया है। एन्सेल्म सामान्यों के नामवादी सिद्धान्त के विरोधी थे। उनके अनुसार सामान्यों की सत्ता वास्तविक है। वे केवल नाम या कल्पना नहीं हैं। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये कुछ युक्तियाँ दी हैं। इन युक्तियों में से उनके द्वारा प्रतिपादित सत्ता मूलक तर्क (Ontological Argument) और सृष्टिमीमांसीय तर्क (Cosmological Argument) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

(1) सत्तामूलक तर्क — एन्सेल्म के अनुसार ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे अधिक महान तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई नास्तिक अथवा अविवेकशील व्यक्ति भले ही ईश्वर की सत्ता का निषेध करता हो, फिर भी वह ईश्वर के बारे में विचार करता है। अर्थात् ईश्वर की सत्ता का निषेध करते समय भी उसकी बुद्धि में ईश्वर का विचार रहता है। एन्सेल्म यह स्वीकार करते हैं कि किसी वस्तु का बुद्धि में विचार होना एक बात है और उसकी सत्ता होना दूसरी बात है। हमारी बुद्धि में पूर्ण ईश्वर की सत्ता का विचार है। क्या यह वास्तविक है? यदि पूर्ण सत् हमारी बुद्धि में स्थित विचारमात्र है तो उसे वास्तव में पूर्णसत् नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर का विचार पूर्णसत् का विचार है। उससे अधिक पूर्ण तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि यह पूर्ण सत् केवल वैचारिक है तो हमारी बुद्धि में ऐसे पूर्णसत् की कल्पना हो सकती है जो केवल वैचारिक नहीं, बल्कि वास्तविक सत्ता है। एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क पर

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत का प्रभाव है। प्लेटो ने सामान्य प्रत्ययों की वस्तुनिष्ठ सत्ता का प्रतिपादन किया था। उसके अनुसार हमारे मन में विद्यमान प्रत्यय वास्तविक हैं। वे केवल मन की कल्पना नहीं हैं। इसी प्रकार एन्सेल्म यह कहता है कि हमारी बुद्धि में निहित ईश्वर का प्रत्यय केवल काल्पनिक नहीं, बल्कि एक वास्तविक सत्ता है। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय में उसकी सत्ता निहित है। पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय होना और उसके अस्तित्व का होना दोनों परस्पर विरोधी सम्प्रत्यय हैं। अतः यदि हमारी बुद्धि में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय विद्यमान है तो उससे ईश्वर की सत्ता निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है। एन्सेल्म ने यह दिखाया है कि यदि पूर्णसत् को केवल वैचारिक माना जाय तो यह एक विरोधाभास की ओर ले जाता है। उससे भी अधिक परिपूर्ण और महान तत्त्व की कल्पना की जा सकती है जो वैचारिक तथा वास्तविक रूप में पूर्ण है। किन्तु यह असंभव है। वह सत्ता जिससे अधिक महान किसी अन्य तत्त्व की कल्पना नहीं हो सकती है, उससे अधिक महान या परिपूर्ण अन्य कोई तत्त्व नहीं हो सकता है। एन्सेल्म के इस तर्क पर गैनिलो ने एन्सेल्म के समय में ही आपत्ति की थी। उन्होंने “ए बुक ऑन बिहाफ दी फूल” में एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क का खण्डन किया है। गैनिलो के अनुसार ईश्वर के विचार मात्र से उसके वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इस तर्क के द्वारा हम किसी भी कल्पित वस्तु की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। इस संदर्भ में गैनिलो ने एक पूर्ण प्रायद्वीप का उदाहरण दिया है। यदि सत्तामूलक तर्क को सही मान लिया जाय तो यदि कोई व्यक्ति किसी अद्भुत प्रायद्वीप की कल्पना करता है और अपनी बुद्धि में एक पूर्ण प्रायद्वीप का प्रत्यय (विचार) धारण करता है, तो इस पूर्णद्वीप के प्रत्यय मात्र से यह सिद्ध हो सकता है कि हमारा कल्पित प्रायद्वीप वास्तव में अस्तित्व युक्त है। किन्तु ऐसा मानना हास्यास्पद होगा। गैनिलो के अनुसार सत्तामूलक तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के साथ-साथ अनेक काल्पनिक वस्तुओं की सत्ता को भी सिद्ध किया जा सकता है।

एन्सेल्म ने गैनिलो के प्रायद्वीप सम्बन्धी उदाहरण का खण्डन किया है। एन्सेल्म के अनुसार यदि हमारे मन में पूर्णसत्ता का कोई प्रत्यय है तो निश्चित रूप से उसका अस्तित्व होगा। किन्तु इस प्रकार की केवल एक ही पूर्ण सत्ता का विचार हो सकता है, अनेक वस्तुओं का नहीं। यह पूर्ण सत् अथवा ईश्वर का ही विचार हो सकता है। ईश्वर के बारे में असत् की कल्पना नहीं हो सकती है। केवल ईश्वर के उदाहरण में ही प्रत्यय से वास्तविक अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। गैनिलो के प्रायद्वीप अथवा किसी भी सांसारिक वस्तु को पूर्ण नहीं माना जा सकता है। प्रायद्वीप का प्रत्यय स्वरूपतः भौतिक जगत् के अन्तर्गत ही आता है। अतः इसकी सत्ता विश्व के ऊपर आश्रित होने के कारण आकस्मिक है, अनिवार्य नहीं। आधुनिक युग में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये इस तर्क का प्रयोग डेकार्ट ने किया है। डेकार्ट के परवर्ती दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में इस तर्क को महत्त्वपूर्ण माना है। इस तर्क के विरुद्ध गैनिलो द्वारा उठायी गयी आपत्ति की पुष्टि आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने की। काण्ट ने भी सत्तामूलक तर्क का खण्डन किया है जिसका विवेचन आगे किया जायेगा।¹

1. इस तर्क की समीक्षा के लिये डेकार्ट और काण्ट के द्वारा सत्तामूलक तर्क के विवेचन का अवलोकन करें।

(2) सृष्टि वैज्ञानिक तर्क — एन्सेल्म ने सृष्टि वैज्ञानिक तर्क की व्याख्या कारण-कार्य नियम के आधार पर करने का प्रयास किया है। एन्सेल्म के अनुसार संसार की समस्त विशेष और सीमित वस्तुओं का कारण कोई सामान्य और असीमित तत्त्व होना चाहिए। यह तत्त्व पूर्ण ईश्वर ही हो सकता है। केवल ईश्वर ही ऐसी सत्ता है जिसका अस्तित्व उसके स्वभाव के कारण है। सभी पूर्णताएँ एक ही तत्त्व में निहित हैं। उनमें किसी प्रकार का विभाजन नहीं है, अर्थात् वे अविभाज्य और अनन्त पूर्णताओं से युक्त हैं। ये पूर्णताएँ जिस तत्त्व में एक साथ अन्तर्निहित हैं, निश्चित रूप से वह परमतत्त्व सत्य, शुभ और सौन्दर्य की परिपूर्णता से ओतप्रोत है। यही समस्त सुन्दर, शुभ, आनन्द, सत्य आदि का आश्रय है। इसी परम तत्त्वको ईश्वर कहा जा सकता है। इस युक्ति का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। अतः यहाँ अनावश्यक पुनरावृत्ति ठीक नहीं है।

मध्यकाल के अन्य दार्शनिकों में रासेलिनस (1050-1122 ई०), शाम्पेक्स के विलियम, पीटर एब्बार्ड (1071-1142 ई०) आदि का दर्शन प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद से प्रभावित है। वे ईसाई धर्म की धार्मिक प्रवृत्तियों को तार्किक आधार पर न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

शास्त्रीय युग का विकास — उल्लेखनीय है कि संत आगस्टाइन के समकालीन दार्शनिकों को अरस्तू के दर्शन की बहुत कम जानकारी थी। अरस्तू के विचारों का ज्ञान मध्यकालीन दार्शनिकों को पारफेरी के द्वारा लिखित रचनाओं के माध्यम से हुआ। किन्तु बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक यूरोप को अरस्तू के विचारों की पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी। उस समय तक ग्रीक-विचारकों के मौलिक ग्रन्थों के अरबी रूप का लैटिन भाषा में अनुवाद होने लगा था। अरबी भाषा से लैटिन में अनूदित विचारों के माध्यम से मध्य युग के यूरोपीय विचारकों को अरस्तू के दर्शन का ज्ञान होने लगा। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आगस्टाइन का दर्शन ईसाई धर्म के विकास की प्रारंभिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। उन्हें अरस्तवी विचारधारा का ज्ञान बहुत कम था। आगस्टाइन और उसकी परम्परा के दार्शनिक प्लेटो और नव्य प्लेटोवाद से प्रभावित हैं। ईसाई धर्म के विकास की दूसरी अवस्था शास्त्रीय युग (Scholastic Period) के नाम से प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय युग में ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की तार्किक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इस युग के दार्शनिकों के द्वारा दी गयी युक्तियाँ ईसाई धर्म के मताग्रहों का तार्किक और निष्पक्ष दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिये नहीं, बल्कि धर्मशास्त्रीय रूढ़ियों को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिये दी गयी हैं। इस युग के दार्शनिकों ने अरस्तवी तर्क पद्धति और विचारों के आलोक में ईसाई धर्म के मताग्रहों की विवेचना करने का प्रयास किया। इस युग में, चर्च की सम्प्रभुता स्थापित हुयी और उसका स्थान राजसत्ता से भी ऊपर हो गया। चर्च के धर्माधिकारियों (पादरियों और पोपों) ने दो तलवारों के सिद्धान्त को महिमा मण्डित किया। इसके अनुसार प्रथम तलवार (सिद्धांत) राजसत्ता है। इसका लक्ष्य सामाजिक जीवन को सुखमय और शांतिमय बनाने के लिये राज्य का शासन स्थापित करना है। इसे लौकिक जीवन से सम्बन्धित मूल्य कहा जा सकता है। द्वितीय तलवार (सिद्धांत) चर्च की सत्ता है। चर्च पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। इसका लक्ष्य सामाजिक जीवन का आध्यात्मिक उन्नयन एवं नैतिक

उत्कर्ष है। चूँकि चर्च ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, इसलिए चर्च की सत्ता राजसत्ता से भी उच्चस्तरीय है। आध्यात्मिक विषयों में चर्च के माध्यम से ही ईश्वरीय आदेश लागू हो सकते हैं। इस युग में पोपों और पादरियों ने चर्च का सहारा लेकर अपने पदों का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। स्वर्ग के राज्य का अधिकारी कौन होगा? इसका निर्धारण चर्च ही कर सकता है। इससे धीरे-धीरे राज्य की शक्ति का हास होने लगा और वास्तविक शक्ति पोप में केन्द्रित हो गयी। इस प्रकार राजशाही के ऊपर पोपशाही का वर्चस्व स्थापित हो गया। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि अब कोई भी दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक चिन्तन चर्च के रूढ़िवादी मताग्रहों की सीमा के अन्तर्गत ही हो सकता था। बाइबिल के उपदेशों के विरुद्ध किसी भी प्रकार की वैचारिक अभिव्यक्ति को पाप और अपराध माना जाने लगा। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन परमुखापेक्षी, अर्थात् धर्म का अनुचर (गुलाम) हो गया। इससे दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से जड़ता आ गयी। अतः इसे दर्शन के अन्धकार का युग कहा जाता है। इसे दर्शन के अन्धकार का युग कहना भले ही अतिशयोक्ति पूर्ण हो, फिर भी ईसाई धर्म के अभ्युदय काल से लेकर पुनर्जागरण काल तक ईसाई धर्म के मताग्रहों से स्वतन्त्र रूप में दार्शनिक चिन्तन न हो सका। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन के आदर्श प्रतिमान और उपकरण के रूप में स्वतन्त्र बौद्धिक अनुशीलन की इस युग में घोर उपेक्षा की गयी। अतः इसे दर्शन के अन्धकार का युग कहा जा सकता है। मार्टिन लूथर किंग के पूर्व का मध्यकालीन दर्शन कैथोलिक चर्च के वर्चस्व का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार ईसाई धर्म के विकास की प्रारंभिक अवस्था (पैट्रिस्टिक युग) का प्रतिनिधित्व संत आगस्टाइन करते हैं उसी प्रकार शास्त्रीय युग के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में थामस एक्विनास का नाम प्रसिद्ध है।

(स) सन्त थामस एक्विनास

संत थामस एक्विनास (1225 से 1274 ई०) का जन्म नेपल्स के समीप एक कुलीन कैथोलिक ईसाई परिवार में हुआ था। उन्होंने पेरिस, रोम, नेपल्स, कोलोगन आदि में अध्यापन कार्य किया। उन्होंने यूनानी दर्शन और साहित्य का गहन अध्ययन करके कैथोलिक विचारधारा को एक प्रभावशाली स्वरूप प्रदान किया। एक्विनास ने अपने युग में प्रचलित अरस्तू के विचारों को व्यवस्थित करके एक दार्शनिक तन्त्र के रूप में स्थापित किया। उन्हें अपने युग (शास्त्रीय युग) का राजकुमार कहा जाता है। पोप जान (XXII) ने 1313 ई० में उनका नाम संत परम्परा के अन्तर्गत सूची बद्ध किया। उनके प्रशंसकों ने उन्हें आध्यात्मिक समस्याओं का वैद्य (Angelic doctor) नाम से विभूषित किया।¹

ईश्वरमीमांसा

आगस्टाइन और एन्सेल्म की भाँति एक्विनास भी ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिक हैं। वे प्लेटो के दार्शनिक सिद्धांतों के स्थान पर अरस्तू की दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। उन्होंने अरस्तू की दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर ईसाई धर्म को युक्ति संगत बनाने का प्रयास किया। वे धर्म और दर्शन में भेद करते हैं। एक्विनास के अनुसार दर्शनशास्त्र तार्किक

1. सन्त थामस एक्विनास को 'शास्त्रीय युग का राजकुमार' (The Prince of Scholasticism). कहा गया है।

चिन्तन से सम्बन्धित होता है। किन्तु धर्मशास्त्रीय सत्य के निरूपण के लिये दैवी प्रकाशना (Revelation) अपरिहार्य है। एक्विनास के दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि वे धर्म और दर्शन को परस्पर विरोधी नहीं मानते हैं। तर्क से ज्ञान स्वरूप ईश्वर की ओर संकेत तो किया जा सकता है, किन्तु उसे जाना नहीं जा सकता है। तर्क बुद्धि अपने आप में अप्रतिष्ठित होती है। ईश्वर साक्षात्कार का एक मात्र आधार दैवी प्रकाशना है। इस दृष्टि से दैवी प्रकाशना का महत्त्व प्राथमिक और तर्कबुद्धि का स्थान गौण है। तर्क की गति अत्यंत सीमित है। इस दृष्टि से एक्विनास ने धर्मशास्त्र का वर्गीकरण दो रूपों में किया है —

(1) बुद्धि ग्राह्य प्राकृतिक धर्मशास्त्र (Natural Theology)

(2) अपरोक्षानुभूति पर आधारित श्रुति मूलक धर्मशास्त्र (Reveled Theology)

एक्विनास के अनुसार ईश्वर आस्था का विषय है। उल्लेखनीय है कि कुछ दार्शनिकों ने आस्था और तर्कबुद्धि के बीच में एक ऐसी अलंघ्य खाई बना दिया जिसके परिणामस्वरूप दोनों को परस्पर विरोधी माना जाने लगा। किन्तु एक्विनास ने दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। ईश्वर भले ही आस्था का विषय हो, तथापि उसे तार्किक युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। जो श्रद्धेय वस्तुएँ अथवा तत्त्व तर्कबुद्धि से परे हैं, उनका निषेध नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, आस्था और तर्कबुद्धि के क्षेत्र भले ही अलग-अलग हों, तथापि उन्हें एक दूसरे का विरोधी नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर भले ही आस्था का विषय हो फिर भी उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये तार्किक युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये पाँच युक्तियाँ दी हैं, जो अधोलिखित हैं —

(1) गति के आदि प्रवर्तक के रूप में ईश्वर की सिद्धि (Argument from unmoved mover) — यह युक्ति सर्वप्रथम अरस्तू के दर्शन में मिलती है। उसने ईश्वर को जगत् में व्याप्त समस्त गति का आदि प्रवर्तक माना है। ईश्वर समस्त गति का आदि प्रवर्तक होते हुये भी स्वयं अचालित या अगतिशील है। शास्त्रीय युग में इस युक्ति का प्रयोग एक्विनास ने किया। एक्विनास के अनुसार यदि समस्त गति का प्रवर्तक एक आदि चालक न हो, तो सृष्टि की गति की व्याख्या में अनवस्था दोष (Fallacy of Infinite Regress) से नहीं बचा जा सकता है। एक्विनास के अनुसार सभी वस्तुओं एवं क्रिया का सूत्रधार एक ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो स्वयं अगतिशील हो। यदि उसे भी गतिशील माना जाय तो इस क्रम का कोई अंत नहीं हो सकता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त गति का आदि प्रवर्तक ईश्वर है जो स्वयं अचालित (अगतिशील) है। अरस्तू एवं एन्सेल्म के ईश्वर सम्बन्धी तर्कों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(2) निमित्त कारण मूलक युक्ति (The Argument from efficient Cause) — यह युक्ति एक प्रथम कारण की मान्यता पर आधारित है। प्रत्येक वस्तु अपनी उत्पत्ति के लिये अन्य वस्तुओं पर आश्रित होती है। यदि एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु को और दूसरी वस्तु का कारण तीसरी वस्तु को माना जाय, तो इस क्रम का कोई अंत नहीं हो सकता है। अतः सब वस्तुओं का कारण एक ऐसा तत्त्व होना चाहिए जिसका कारण कोई अन्य तत्त्व न हो, अर्थात् जो स्वयं-भू (Self Caused) हो। सभी वस्तुओं का आदि कारण ईश्वर ही हो सकता है। कारणता मूलक तर्क को सृष्टि मूलक तर्क का प्रतिरूप माना जा सकता है। यह तर्क इस मान्यता

पर आधारित है कि कार्य-कारण की श्रृंखला अनिश्चित होते हुये भी अनन्त नहीं हो सकती है, अन्यथा अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। एक्विनास के पूर्व अरब के महान दार्शनिक अल फराबी ने भी इस युक्ति का प्रतिपादन किया था। एक्विनास की पहली और दूसरी ये दोनों युक्तियाँ एक प्रकार से कारण-कार्य सम्बन्धों पर आधारित हैं। आधुनिक दार्शनिकों ने इन युक्तियों को सृष्टि वैज्ञानिक तर्क कहा है।

(3) आकस्मिकता मूलक युक्ति (Argument from contingency) — जगत् की कुछ वस्तुयें उद्भव, विकास और हास से युक्त हैं। उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से सिद्ध होता है कि वे अनिवार्य एवं शाश्वत नहीं हैं, बल्कि आपातिक अथवा आकस्मिक हैं। इन आपातिक वस्तुओं की उत्पत्ति का आधार कोई अनिवार्य सत्ता होनी चाहिए। यह अनिवार्य सत्ता ईश्वर ही होना चाहिए जो समस्त आपातिक वस्तुओं का अनिवार्य आधार है। प्रश्न उठता है कि आपातिक वस्तुओं की उत्पत्ति कहाँ से हुयी? इनका मूल आधार स्वयं आकस्मिक या आपातिक वस्तु नहीं हो सकता है।

गति मूलक तर्क के समान इस तर्क में भी आकस्मिकता की अनन्त श्रृंखला निहित है। अनवस्था दोष से बचने के लिये एक अनिवार्य तत्त्व की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। आकस्मिक और अनित्य विश्व की तर्कसंगत व्याख्या करने के लिये एक अनिवार्य और नित्य ईश्वर में विश्वास करना तर्कसंगत है। एक्विनास के इस तर्क का समर्थन आगे चलकर लाइबनिज और केयर्ड आदि दार्शनिकों ने भी किया।¹

(4) पूर्णता के तारतम्य (अवस्था-भेद) पर आधारित युक्ति (The Argument from the Degrees of Perfection) — संसार की विभिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों में सद्गुणों की अभिव्यक्ति का एक तारतम्य (मात्रा भेद) पाया जाता है। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक सद्गुणी हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति और वस्तुयें अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं की तुलना में अधिक सुन्दर, अधिक शुभ इत्यादि हैं। कुछ व्यक्ति और उनके कर्म अन्य व्यक्तियों और उनके कर्मों की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण, अधिक उचित और अधिक कल्याणकारी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि गुणों के इस क्रमिक विकास में अवस्था-भेद है। उसमें कम पूर्णता से अधिक पूर्णता की ओर एक क्रमिक विकास पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्णता के इस क्रम में एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता है जो पूर्ण है। उसमें सभी सद्गुण (सत्यं, शिवम् एवं सुन्दरं) अपने पूर्ण परिमाण में स्थित हैं। यह पूर्ण तत्त्व ही ईश्वर है।

(5) प्रयोजनमूलक युक्ति (Teleological Argument) — एक्विनास के अनुसार सृष्टि की समस्त वस्तुएं सप्रयोजन हैं। सजीव प्राणियों के साथ-साथ निर्जीव वस्तुयें भी अपने-अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये क्रियाशील एवं प्रयत्नशील हैं। मनुष्य जैसे सजीव प्राणी भले ही बुद्धिमान हों किन्तु अनेक अविवेकशील प्राणी और निर्जीव वस्तुएं बौद्धिक चिंतन से रहित हैं। जो विवेकशून्य हैं उन्हें अपने प्रयोजन का बोध नहीं हो सकता है। विवेकशून्य वस्तुएं स्वतः किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रेरित नहीं हो सकती हैं। उनका प्रयोजन केवल आकस्मिक नहीं हो सकता है। उनके उद्देश्यों और क्रियाओं का संचालक एक विवेकपूर्ण सत्ता

1. Classical and Contemporary Readings in the Philosophy of Religion (Ed.) John Hick, (1964) pp. 467-68.

अवश्य होनी चाहिए। यह तत्त्व ईश्वर ही हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में इस युक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो और अरस्तू से लेकर आगस्टाइन और एक्विनास के बाद आने वाले अधिकांश दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में प्रयोजनमूलक युक्ति का समर्थन किया है।

एक्विनास के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये दिये गये इन तर्कों से सिद्ध होता है कि ईश्वर ही समस्त सृष्टि की गति, अस्तित्व, गुणवत्ता और प्रयोजन का मूल आधार है। इस प्रकार ईश्वर ही ब्रह्माण्ड की व्यवस्था और प्रयोजन का आदि, मध्य और अंत है। किन्तु, ईश्वर का न तो कोई कारण है और न ही कोई प्रयोजन है। इससे यह निष्कर्ष निगमित होता है कि ईश्वर नित्य सर्वगुण सम्पन्न (पूर्ण), अद्वितीय और आत्मकाम होने के कारण स्वयं कोई उद्देश्य नहीं रखता है। ईश्वर के 'अस्तित्व' और 'सारतत्त्व' में कोई भेद नहीं है। हम किसी तत्त्व का वर्णन उसके सारतत्त्व के द्वारा करते हैं। किन्तु ईश्वर में अस्तित्व और सारतत्त्व का अभेद होने के कारण उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। अतः ईश्वर मन, वाणी, तर्क और सामान्य मानव अनुभव से परे (अनिर्वचनीय) है। वह 'पूर्ण गति' और 'पूर्ण क्रिया' है। एक्विनास की ईश्वर विषयक अवधारणा अरस्तू के दर्शन के साथ-साथ नव्य प्लेटोवाद से भी प्रभावित है। यद्यपि वे ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये पाँच युक्तियाँ देते हैं, तथापि उनका दावा है कि बुद्धि से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस बात का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि एक्विनास ने संत एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क का खण्डन करके गैनिलो के मत का समर्थन किया है। गैनिलो के अनुसार समुद्र के मध्य में स्थित पूर्णद्वीप के प्रत्यय से वास्तविक पूर्णद्वीप का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे अधिक से अधिक एक पूर्णद्वीप के प्रत्यय (विचार) का अस्तित्व ही सिद्ध हो सकता है। एक्विनास ने गैनिलो के इस तर्क को स्वीकार करते हुये यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ईश्वर के सारतत्त्व या प्रत्यय से उसके वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर की पूर्णता विश्व पर आश्रित नहीं है, बल्कि विश्व ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर विश्व से परे (Transcendent) है। ईश्वर की इच्छा के बिना सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर स्वयं में पूर्ण होते हुये भी जीवन के प्रति प्रेम के कारण सृष्टि क्रिया में लीन होता है। किन्तु यह दृष्टिकोण आधुनिक युग में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुओं के मूल में निहित आवश्यक सत्ता दृश्य जगत् से भिन्न नहीं हो सकती है। विश्व का मूल आधार विश्व के समान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर विश्व से सर्वथा परे है तो वह विश्व से कैसे सम्बन्धित हो सकता है? उसकी व्याख्या विश्व के आधार पर कैसे की जा सकती है? जर्मन दार्शनिक काण्ट ने इन समस्त तर्कों को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अपर्याप्त माना है। इसका विस्तृत विवेचन काण्ट-दर्शन के प्रकरण में किया जायेगा।

सृष्टिमीमांसा

आगस्टाइन, एरिजेना और एन्सेल्म ने प्लेटो की सामान्य विषयक अवधारणा के आधार पर सामान्यों की सत्ता को वास्तविक माना था। एक्विनास ने प्लेटो के सामान्य विषयक सिद्धान्त का निराकरण करके अरस्तू के सामान्य विषयक सिद्धान्त का समर्थन किया है। अरस्तू के समान

वह सामान्यों को विशेषों में व्याप्त मानता है। ईश्वर के नित्य प्रत्यय जड़ जगत् और जीव इन दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। ईश्वर सामान्यों के माध्यम से जगत् और जीवात्माओं में व्याप्त होता है। प्रत्येक वस्तु सामान्यों से विशिष्ट होकर ही अस्तित्व ग्रहण करती है। अरस्तू से प्रभावित एक्विनास का सामान्य विषयक सिद्धान्त सामान्य से विशिष्ट व्यक्तिवाद है। वह अरस्तू के सामान्य सिद्धान्त का ईसाई धर्म के साथ समन्वय करने का प्रयास करता है। वह विशेषों से पृथक् रूप में सामान्यों के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता है। प्रत्येक विशेष सामान्य से युक्त है। सृष्टि की सभी जड़ और चेतन वस्तुओं की उत्पत्ति सामान्यों से होती है। सामान्यों का सम्बन्ध नित्य प्रत्ययों के साथ-साथ अनित्य वस्तुओं से भी है। किन्तु सामान्यों का आधार नित्य ईश्वर है।

एक्विनास ईसाई धर्म की मान्यता के आधार पर सृष्टि की व्याख्या करते हैं। उसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति असत् (Nothing) से हुई है। ईश्वर ने जड़ द्रव्य (Matter) और आकार (form) दोनों को उत्पन्न किया है। जड़ द्रव्य का कारण होते हुये भी ईश्वर जड़ता से रहित है। सृष्टि की उत्पत्ति असत् (शून्य) से मानने का निहितार्थ यह है कि सृष्टि पूर्ण रूप से ईश्वर पर आधारित है। 'सृष्टि ईश्वरीय चमत्कार से आविर्भूत है', इस कथन का निहितार्थ यह है कि सृष्टि अपनी सत्ता के लिये ईश्वर पर पूर्ण रूप से आश्रित है। किन्तु सृष्टि की रचना किसी देश काल के अन्तर्गत नहीं हुयी है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि देश-काल के अन्तर्गत सीमित नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ-साथ देश और काल की भी उत्पत्ति हुयी है। ईश्वरीय संकल्प के बिना यह सृष्टि एक क्षण भी नहीं रह सकती है। यह जगत् ही ईश्वर की सर्वोत्तम रचना है। आगे चलकर लाइबनिज ने भी एक्विनास की इस मान्यता का समर्थन किया। लाइबनिज के अनुसार यह संसार ही समस्त संभावित जगत्ओं में सर्वश्रेष्ठ है।¹ ईश्वर इससे सुन्दर और शुभ जगत् की रचना नहीं कर सकता था। प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता एवं पोषक (संरक्षक) है तो संसार में अशुभ क्यों हैं? एक्विनास के अनुसार जब मनुष्य अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य करता है तो उससे अनुचित कर्म नहीं होता है। अशुभ मनुष्य के दूषित संकल्पों का दुष्परिणाम है। जब ईश्वरीय विधान का उल्लंघन किया जाता है तो सृष्टि अशुभ से ग्रस्त हो जाती है। आदम के पाप के कारण समस्त मानव जाति उसके मूल पाप से ग्रस्त हो गयी। इससे लोगों में स्वभावतः पाप अन्तर्निहित हो गया। केवल ईश्वर की अनुकम्पा (Divine Grace) से ही मनुष्य को पाप से मुक्ति मिल सकती है। वह अशुभ को एक अभावालक अवधारणा मानता है। अशुभ केवल शुभ का अभाव है। ईश्वर ने जीवात्माओं को संकल्प की स्वतन्त्रता प्रदान की है। अतः जीवात्माएं अपने पाप के लिये स्वयं उत्तरदायी हैं। इसीलिये ईश्वर ने पापियों के लिये दण्ड का विधान किया है। चूँकि एक्विनास ने अरस्तू के आकार और जड़ द्रव्य के भेद को स्वीकार किया है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि जगत् की वस्तुओं की सत्ता और पूर्णता में अवस्था-भेद है। उसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये दिये गये चतुर्थ तर्क (पूर्णता के तारतम्य पर आधारित युक्ति) से भी इस मत की पुष्टि होती है।

आत्मा की अवधारणा

एक्विनास का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त भी ईसाई धर्म और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आत्मा की अवधारणा से प्रभावित है। ईश्वरीय सृष्टि के अन्तर्गत तीन तत्त्व आते हैं —

1. This is the best possible world..

(1) प्रकृति — इसकी रचना जड़ द्रव्य से हुई है।

(2) जीवात्माएँ

(3) देवदूत (Angels)

इनमें से देवदूत अशरीरी और दैवी हैं। उनमें लेशमात्र भी जड़ता नहीं पायी जाती है। जीवात्मायें शरीर से युक्त होती हैं। आत्मा शरीर का प्रेरक तत्त्व है। आत्मा के तीन भाग हैं — (1) गतिशील अथवा क्रियाशील भाग। इसका सम्बन्ध संकल्प से है। (2) संवेदनशील और (3) बौद्धिक भाग। मनुष्य की आत्मा में बुद्धि और संकल्प दोनों तत्व विद्यमान हैं। किन्तु पशुओं और पक्षियों में ये लक्षण नहीं पाये जाते हैं। मनुष्य का बौद्धिक तत्त्व अतिजैविक है जो शरीर से स्वतन्त्र होता है। अतः शरीर का बौद्धिक तत्व शरीर के अभाव में भी बना रहता है। इसके विपरीत पशुओं की आत्माएँ मरणशील हैं। केवल मनुष्यों की आत्मा ही अमर है। एक्विनास अनेकालवादी हैं। वे अनेक आत्माओं की सत्ता को मानते हैं। एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे व्यक्तियों की आत्मा से भिन्न होती है। यदि एक व्यक्ति की आत्मा अन्य व्यक्तियों की आत्माओं से भिन्न न हो तो मनुष्य को उसके विवेकपूर्ण और नैतिक कर्मों के लिये श्रेय नहीं दिया जा सकता है। बिना अनेक आत्माओं की सत्ता को माने हुये नैतिक जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती है। अतः एक्विनास के अनुसार ईश्वर के द्वारा प्रत्येक मनुष्य की आत्मा का सृजन अलग-अलग होता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रैंड रसेल ने एक्विनास के इस मत की कटु आलोचना की है। रसेल के अनुसार यह सिद्धान्त धार्मिक आस्था के साथ अन्याय करता है। यदि किसी व्यक्ति का जन्म विवाहित दम्पति से न हो तो ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को व्यभिचार के लिये दोषी माना जायेगा क्योंकि ईश्वर ने उसके (नवजात शिशु) लिये एक आत्मा का सृजन किया है। इसके अतिरिक्त इसे स्वीकार कर लेने पर ईसाई धर्म में मान्य मूल पाप की अवधारणा का भी खण्डन हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न आत्माओं की सृष्टि की है तो आदम के द्वारा किया गया मूल पाप प्रत्येक मनुष्य के शरीर में कैसे प्रवेश कर जाता है? इसके साथ-साथ इस मान्यता से मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता का भी निषेध हो जाता है। यदि मूल पाप को जीवात्मा के स्वभाव में निहित मान लिया जाय तो संकल्प की स्वतन्त्रता कैसे सुरक्षित हो सकती है? यदि संकल्प स्वातन्त्र्य संभव न हो तो किसी व्यक्ति को उसके पाप के लिये नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? इन प्रश्नों का कोई तार्किक और संतोषजनक समाधान थॉमस एक्विनास के दर्शन में नहीं मिलता है।¹

अरस्तू से प्रभावित एक्विनास ने आत्मा की अमरता का समर्थन किया है। उसके अनुसार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का बौद्धिक अंश सक्रिय रहता है। आत्मा के बौद्धिक अंश का कभी नाश नहीं होता है। एक्विनास की यह मान्यता अरस्तू के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का ही एक परिवर्तित रूप है। अरस्तू आत्मा के सक्रिय (बौद्धिक) पक्ष को दैवी स्फुल्लिंग (Divine Spark) कहता है। यह दैवी स्फुल्लिंग नष्ट नहीं होता। एक्विनास के अनुसार भी

1. A History of Philosophy, Frank Thilly, Central Book Depot, Allahabad, pp.232-36.

आत्मा का बौद्धिक अंश उसके संकल्प की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः संकल्प-शक्ति का नियमन बुद्धि के द्वारा निर्धारित शुभत्व (निःश्रेयस) से होता है।

किन्तु योहनडंश स्काट्स (1266-1308) के अनुसार आत्मा संकल्प प्रधान है। स्काट्स संकल्प को बुद्धि का नियामक तत्त्व मानता है। वह संकल्प स्वातन्त्र्य को विशेष महत्त्व देता है। एक्विनास आत्मा को बुद्धि प्रधान मानते हुये भी उसके संकल्प की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं। आत्मा का बौद्धिक भाग शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता है। अतः बौद्धिक तत्त्व अमर है। एक्विनास ने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिये भी कुछ तर्क दिया है, किन्तु इन तर्कों में मौलिकता और नवीनता का अभाव है। वास्तव में, ये तर्क प्लेटो और अरस्तू के द्वारा दिये तर्कों के ही विभिन्न रूपान्तर हैं। वे अरस्तू के दर्शन को ईसाई धर्म के रूढ़िवादी मताग्रहों के अनुरूप ढालने का असफल प्रयास करते हैं। किन्तु उनके दर्शन की प्रमुख विशेषता विभिन्न मतों में समन्वय करने की उनकी अद्भुत क्षमता है। एक्विनास को अरस्तू के दर्शन की जितनी अधिक जानकारी थी शायद ही उनके पूर्व किसी अन्य विचारक को अरस्तू के दर्शन का उतना ज्ञान रहा हो। एक्विनास ने अरस्तू की विचारधारा का गहन और व्यापक अध्ययन किया, तथापि वे दार्शनिक सिद्धान्तों का तार्किक दृष्टि से निष्पक्ष विवेचन और मूल्यांकन न कर सके। वे ईसाई धर्म के मताग्रहों की परिधि में ही दार्शनिक समस्याओं का विवेचन, मूल्यांकन और समाधान करते रहे। उनके दर्शन का कैथोलिक ईसाई परम्परा पर दूरगामी प्रभाव रहा है। थॉमस एक्विनास का प्रमुख योगदान उनके द्वारा किया गया दर्शन और धर्मशास्त्र का समन्वय है। उसने मनुष्य को स्वरूपतः दैवी माना और मानवात्मा की अमरता को स्थापित करने का प्रयास किया। उसका दर्शन भले ही अरस्तू के दर्शन की नींव पर आधारित है, फिर भी उसके दर्शन में अपनी मौलिकता है। अरस्तू का ईश्वर केवल विचारों का विचार मात्र था, किन्तु एक्विनास अस्तित्व (Existence) और सारतत्त्व (Essence) दोनों में अभेद मानकर ईश्वर की वास्तविक सत्ता का प्रतिदान करता है। उसके दर्शन के इस पक्ष की प्रशंसा करते हुए कोपलेस्टन ने कहा है —“अरस्तू के चरण-चिह्नों का अनुगमन करता हुआ वह (एक्विनास) अरस्तू से आगे निकल गया।”¹ उसने यहूदी-ईसाई धर्म के ईश्वर का समन्वय अरस्तू की दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर करने का प्रयास किया। उसके दर्शन को कैथोलिक चर्च का प्रतिनिधि दर्शन माना जाता है। उनके समन्वयवाद में दर्शन और तर्कबुद्धि की अपेक्षा ईसाई धर्म की मान्यताएं और आस्था का स्थान अधिक ऊँचा है। उसका दर्शन सार्वभौम दार्शनिक चिन्तन और समष्टिवाद की अपेक्षा विशिष्ट धार्मिक चिन्तन और व्यष्टिवाद के अधिक अनुकूल है। उनका दर्शन दार्शनिक चिन्तन की स्वतन्त्रता को स्थापित न कर सका, क्योंकि दार्शनिक अनुशीलन मूलतः बौद्धिक चिन्तन की स्वतन्त्रता पर निर्भर करता है। किन्तु ईसाई धर्म के मताग्रहों के कारण स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन संभव न था। इन कठिनाइयों के होते हुए भी एक्विनास ने मानव-गरिमा को स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका दर्शन शास्त्रीय चिन्तन की पराकाष्ठा है। तेरहवीं शताब्दी के महान कवि दान्ते ने अपनी डिवाइन कमेडी (Divine Comedy) में एक्विनास को अमर बना दिया। उसके दार्शनिक चिन्तन के पश्चात् शास्त्रीयतावादी दार्शनिक प्रवृत्ति का पतन

1. A History of Philosophy. F. Copleston, Vol II, p. 424. Following in the footsteps of Aristotle, he was able to go beyond Aristotle."

प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः एक्विनास का दर्शन अन्धकार के उस युग में प्रकाश की एक किरण के समान है।

एक्विनास के बाद अनेक मध्यकालीन विचारकों ने उनके दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया। इनमें से मीस्टर एखार्ट (1260-1327 ई०) एक रहस्यवादी साधक थे। उनके दर्शन पर प्लॉटिनस के रहस्यवाद का प्रभाव है। वे रहस्यवादी साधना के द्वारा जीव के ईश्वर में लीन हो जाने पर बल देते हैं। डंस स्कॉट्स ने एक्विनास की धर्मशास्त्रीय मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया। वे दैवी प्रकाशना और तर्कबुद्धि के बीच में एक्विनास के द्वारा किये गये समन्वय का निराकरण करते हैं। इसके अतिरिक्त एक्विनास के विपरीत स्काट्स ने सत्तामूलक तर्क का भी समर्थन किया है। उसके अनुसार ईश्वर के प्रत्यय (विचार) मात्र से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार एक्विनास के बाद में आने वाले दार्शनिकों ने ईसाई धर्म एवं प्लेटो तथा अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित सामान्यों की वास्तविक सत्ता के समक्ष भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया। इस संदर्भ में ओकम के विलियम (1290-1349 ई०) का 'नामवाद' उल्लेखनीय है। विलियम के अनुसार दर्शन तर्क बुद्धि पर आधारित होता है किन्तु तर्कबुद्धि के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता है। सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त को तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। हमें अनुभव के द्वारा केवल विशेष वस्तुओं का ज्ञान ही हो सकता है। इन विशेष वस्तुओं में पायी जाने वाली सर्वगत विशेषताओं के आधार पर हम सामान्य प्रत्ययों की रचना कर लेते हैं। विलियम ने सामान्यों की वास्तविक सत्ता पर आधारित विचारधारा को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार सामान्य कोरी कल्पना या नाम मात्र है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्यों की अवधारणा निरर्थक है। सामान्य सम्प्रत्ययों के प्रयोग से अनेक विशेषों को एक बार में ही अभिव्यक्त करने में सुविधा होती है। इससे स्पष्ट है कि विलियम सामान्यों की व्यावहारिक उपयोगिता को मानते हुये भी उनके वास्तविक अस्तित्व का निराकरण करता है। उनके इस सिद्धान्त को दर्शन जगत् में ओकम का उस्तरा (Occam's Razor) कहा जाता है। यह सामान्यों के अनावश्यक अस्तित्व का निराकरण कर देता है। विलियम के दर्शन के इस महत्वपूर्ण पक्ष को आधुनिक दर्शन में हाब्स, वर्कले और ह्यूम ने संशोधित और परिवर्धित रूप में अपनाया है। इससे स्पष्ट है कि एक्विनास के बाद शास्त्रीयतावादी दर्शन की अनेक मान्यताओं का धीरे-धीरे समर्थन कम होने लगा।

वास्तव में, जब से मध्यकालीन दर्शन अरस्तू के प्रकृतिवादी और अनुभववादी दार्शनिक पक्ष से प्रभावित होने लगा तभी से अतीन्द्रियवादी और अलौकिक मान्यताओं पर आधारित दर्शनों के पतन की नींव पड़ गयी। चर्च अलौकिक दैवी लोक के राज्य एवं अनुशासन से सम्बन्धित था। इसके विपरीत अरस्तू के दर्शन का झुकाव प्राकृतिक निरीक्षण और अनुभववाद की ओर था। अतः यह मध्यकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों का समर्थन नहीं कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि शास्त्रीयतावाद की प्रवृत्ति के पतन में इसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त कतिपय वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप शास्त्रीयता पर आधारित दर्शनों के प्रति अनास्था होने लगी। इस सन्दर्भ में रोजर बेकन (1212-1294 ई०) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने धार्मिक एवं शास्त्रीय रूढ़ियों को दार्शनिक चिन्तन के लिए घातक माना। दर्शन के क्षेत्र में पुरातनपन्थी दार्शनिकों, पादरियों और धर्मग्रन्थों का अन्धानुकरण करना अविवेकपूर्ण

है। उन्होंने बारूद का भी आविष्कार किया। उनके क्रान्तिकारी विचारों के कारण उन्हें रूढ़िवादियों के द्वारा कठोर दण्ड दिया गया।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन दर्शन प्राचीन यूनानी दार्शनिकों, नव्य प्लेटोवादियों और यहूदी-ईसाई धर्मों की धर्मशास्त्रीय मान्यताओं से प्रभावित रहा है। इस युग के अधिकांश दार्शनिक श्रद्धा और विश्वास पर आधारित धार्मिक मताग्रहों की युक्ति संगत व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। यदि श्रुति और तर्कबुद्धि में विरोध हो तो वे तर्क का परित्याग करके श्रुति की शरण में चले जाते हैं। पुरोहितवाद (Ecclesiaticism) और चर्च की सम्प्रभुता के कारण इस युग में तार्किक चिन्तन का स्थान गौण और धर्मशास्त्रीय मान्यताओं का प्रमुख स्थान हो गया। अतः मध्य युग निष्पक्ष तार्किक चिन्तन के हास का युग है। ध्यान, हर्षोन्माद (Rapture), समाधि (Meditation) आदि अलौकिक साधनों के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार ईसाई धर्म से प्रभावित अधिकांश दार्शनिकों की प्रमुख विशेषतायें हो गयी। अतः इस युग में तार्किक अनुशीलन और मूल्यांकन की दार्शनिक प्रवृत्ति हतोत्साहित हुई। चूँकि मानव-बुद्धि तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती है, इसलिए आस्था या श्रद्धा (Faith), समाधि एवं अन्य चमत्कारिक साधनों के द्वारा तत्त्वज्ञान (ईश्वर-साक्षात्कार या स्वर्ग लोक की प्राप्ति) प्राप्त करने पर बल दिया जाने लगा। वस्तुतः इस युग का धर्मपरायण दार्शनिक चिन्तन बौद्धिक नैराश्य, अज्ञेयवाद और संशयवाद (पाइरो एवं अन्य हेलिनिस्टी विचारकों के दर्शन) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया प्रतीत होता है। किन्तु मध्यकालीन दर्शन की इस धर्मशास्त्रीय प्रवृत्ति ने तार्किक युक्तियों के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए भी धर्मोन्माद को अनुचित रूप से प्रोत्साहित किया। यही कारण है कि उस समय के पोपों और पादरियों ने इस युग के स्वतन्त्र विचारकों को अनेक यातनायें दीं। यह एक स्वस्थ और निष्पक्ष दार्शनिक चिन्तन के लिए घातक सिद्ध हुआ। वस्तुतः शास्त्रीय मताग्रहों को तर्क से अधिक महत्व देना दार्शनिक अनुशीलन के पतन का घातक है। इसी कारण कुछ आलोचकों ने इसे 'दर्शन के अन्धकार का युग' (The dark Period of Philosophy) कहा है।

5.

आधुनिक दर्शन का उन्मेष और संक्रमणकाल

कोई भी विचारधारा अपने समसामयिक युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप विकसित होती है। मध्ययुग की धार्मिक कट्टरता और कैथोलिक ईसाइयों के वर्चस्व के प्रति दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और समाज सुधारकों ने विद्रोह किया। चर्च की निरंकुशता के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धार्मिक मताग्रहों को सीमित करने का प्रयास किया जाने लगा। मध्यकालीन दर्शन और डेकार्ट की बुद्धिवादी परम्परा के बीच का संक्रमण कालीन दर्शन इसका जीवन्त प्रमाण है। इस युग के अनेक विचारकों ने चर्च और पोप के द्वारा स्थापित धार्मिक मताग्रहों को अस्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः पोप और पादरी चर्च का सहारा लेकर अपने पदों का दुरुपयोग करने लगे थे। चर्च की सत्ता का आतंक न केवल वैज्ञानिकों और दार्शनिकों पर था, बल्कि उसने राजसत्ता को भी चुनौती दी। राज्य और राजा दोनों की अपेक्षा चर्च को उच्चस्तरीय सत्ता घोषित किया गया। इस प्रकार चर्च और पोप को महिमामंडित किया गया। शास्त्रीय युग के ईसाई दार्शनिकों ने तार्किक युक्तियों के आधार पर ईसाई धर्म की मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु उन्होंने तार्किक युक्तियों का सहारा लेकर परवर्ती दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने धार्मिक मताग्रहों पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। मध्यकाल का शास्त्रीय युग अरस्तू के तर्कशास्त्र से अधिक प्रभावित था। अरस्तू की प्राकृतिक निरीक्षण के प्रति अभिरुचि और आनुभविक पद्धति मध्यकालीन युग की धार्मिक मान्यताओं के अनुकूल न थी। इसके फलस्वरूप धर्मशास्त्रीय मताग्रहों पर आधारित दार्शनिक चिन्तन का हास होना स्वाभाविक हो गया।

इसके अतिरिक्त प्लॉटिनस के दर्शन में अभिव्यक्त रहस्यवाद का जो प्रभाव मीस्टर एखार्ट (1260-1327 ई०) के दर्शन से होता हुआ रहस्यवादी साधना करने वाले सन्तों के व्यावहारिक जीवन में अभिव्यक्त हुआ, वह मनुष्य और ईश्वर के बीच चर्च की मध्यस्थता को चुनौती देने वाला सिद्ध हुआ। पहले चर्च ही एक मात्र ऐसी संस्था थी जिसे ईश्वर का प्रतिनिधि और स्वर्ग-लोक का पारपत्र देने का अधिकार था। किन्तु जब रहस्यवादी साधना से ईश्वर-साक्षात्कार और स्वर्ग-लाभ संभव हो गया तो चर्च की मध्यस्थता (दलाली) की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी।

आधुनिक युग के आविर्भाव में वैज्ञानिक प्रगति और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका भी उल्लेखनीय है। आधुनिक युग यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का युग है। इस अवधि में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नये-नये अनुसन्धान स्थापित होने लगे। इन वैज्ञानिक अनुसन्धानों से धार्मिक अन्धविश्वासों और मताग्रहों को गंहरा आघात पहुँचा। रोजर बेकन (1214-1294 ई०) ने तेरहवीं शताब्दी में ही बारूद का आविष्कार कर लिया था। लियोनार्डो डी विन्ची (1452-1529 ई०) कॉपरनिकस (1473-1543 ई०), गैलीलियो (1564-1642 ई०),

केपलर (1571-1630 ई०) तथा न्यूटन (1642-1727 ई०) के द्वारा किए गये वैज्ञानिक अनुसन्धानों से धार्मिक कट्टरता को हतोत्साहित करने में पर्याप्त सहायता मिली। कम से कम धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के समक्ष प्रश्नचिह्न लग गया। गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में मिली सफलता के फलस्वरूप कॉपरनिकस ने टालमी की इस मान्यता का खण्डन कर दिया कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। कॉपरनिकस ने सूर्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र माना है। कालान्तर में गैलीलियो और केपलर के द्वारा क्रमशः 'टेलिस्कोप' और 'ग्रहों की गति के नियम' की खोज की गयी। इससे कॉपरनिकस के मत की पुष्टि भी हो गयी। अब यह मान्यता विस्थापित हो गयी (बदल गयी) कि ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी (मनुष्य) है। सैद्धान्तिक अनुसन्धानों के साथ-साथ अनेक वैज्ञानिक उपकरणों के आविष्कार ने मानव-बुद्धि के क्षेत्र को व्यापक बनाया। इससे धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करने में सहायता मिली। छपाई की मशीन, दूरबीन, बारूद की खोज इत्यादि आविष्कारों से चर्च के द्वारा स्थापित अनेक मताग्रह ध्वस्त हो गये। कुतुबनुमा (दिक्सूचक) के आविष्कार से नये-नये देशों को खोजने में पर्याप्त सहायता मिली। इन आविष्कारों के परिणाम स्वरूप ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में पौराणिक व्याख्याओं का स्थान यान्त्रिक अनुसंधानों ने ले लिया। कॉपरनिकस की 'हेलियोसेन्ट्रिक थ्योरी' से यूरोपीय जीवन-दृष्टि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार न्यूटन के द्वारा स्थापित 'गुरुत्वाकर्षण के नियम' से न केवल योरोप, बल्कि सम्पूर्ण विश्व आश्चर्य चकित हो गया। छपाई की मशीन के आविष्कार और संचार क्रान्ति ने इन क्रान्तिकारी विचारों का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। इससे धार्मिक मताग्रहों पर सीधा प्रहार हुआ।

इस दौरान एक ऐतिहासिक घटना यह घटित हुई कि कुस्तुनतुनियां (Constantinople) पर तुर्कों का अधिकार हो गया। इसके परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोप में ग्रीक साहित्य और दर्शन का अध्ययन होने लगा। ग्रीक-विचारधारा के अध्ययन के साथ-साथ मनुष्य का मानव-बुद्धि की सर्वोच्चता और मानव-गरिमा में पुनर्विश्वास स्थापित होने लगा। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में बाह्य प्रकृति की भौतिकवादी व्याख्या की जाने लगी। इस दौरान वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ कुछ सुधारवादी आन्दोलन भी विकसित हुए। लोग स्वर्ग के अलौकिक और दिव्य आनन्द की मृगमरीचिका को छोड़कर के लौकिक जीवन को सुखमय बनाने के प्रति जागरूक हुए। उनका चर्च से मोह भंग होने लगा। इससे स्पष्ट है कि आधुनिकता की पर्याय स्वरूप वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का कायाकल्प कर दिया। इसके परिणामस्वरूप लोगों की सोच में बदलाव आया। वे अन्धविश्वासों को छोड़कर वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आकर्षित होने लगे।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप व्यक्तिवाद और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रति समाज भी जागरूक होने लगा। प्लेटो और अरस्तू के विचारों का पुनः अध्ययन और मूल्यांकन प्रारम्भ हो गया। प्लेटो और अरस्तू जैसे महान विचारकों के दर्शन का अध्ययन करने के लिए पृथक्-पृथक् संस्थायें स्थापित होने लगीं। आधुनिक मनुष्य ने जागरूक होकर पुनः नवीन सत्य की खोज की। प्राचीन सभ्यता के पुनरुत्थान में मानव-प्रगति की किरण दिखाई पड़ने लगी। वस्तुतः वैज्ञानिक शोधों और प्राचीन ग्रीक विचारकों के चिन्तन की पुनर्स्थापना होने से आधुनिक मानव का अपनी बुद्धि में पुनर्विश्वास स्थापित हो गया। धर्म की प्राकृतिक व्याख्याओं और धार्मिक मताग्रहों के प्रति सन्देह के कारण धार्मिक सुधार का युग

प्रारम्भ हो गया। मार्टिन लूथर किंग (1483-1546 ई०) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पाप से मुक्ति पाने के लिए सत्कर्म आवश्यक है। ईश्वर की कृपा के लिए पोप या चर्च की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है। लूथर के द्वारा चलाये गये धार्मिक सुधार आन्दोलन से ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। धीरे-धीरे यह आन्दोलन अनेक यूरोपीय देशों में फैल गया। यद्यपि अनुदार कैथोलिक चर्च ने इस आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया, अनेक आन्दोलनकारियों को कठोर दण्ड दिये गये, तथापि यह आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ। प्रायः यूरोप के सभी देशों में कैथोलिक चर्च के एकाधिकार को चुनौती दी गयी। इससे कैथोलिक चर्च की निरंकुश सत्ता के प्रति आम जनता में अनास्था पैदा होने लगी। इस दौरान इटली के एक प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ निकोलो मैकियावेली (1469-1527) ने भी चर्च के आप्त वाक्य (Authority) अथवा एकाधिकार को चुनौती दी। 'दि प्रिंस' के लेखक ने राज्य को चर्च से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहने का परामर्श दिया। राज्य और चर्च के संघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य की चर्च से स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रगति और पुनर्जागरण के फलस्वरूप व्यक्तिवाद और मानवतावाद की स्थापना हुई। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इतना महिमा मण्डित किया गया कि राजनैतिक हस्तक्षेप भी असह्य हो गया। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में अहस्तक्षेप (Laissezfaire) का सिद्धान्त विकसित हुआ। इससे दासता और सामन्तवाद की नींव ध्वस्त हो गयी और व्यक्तिवाद का रूपान्तरण लोकतन्त्रवाद और पूँजीवाद में हो गया।

इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रगति और सांस्कृतिक पुनरुत्थान (पुनर्जागरण) ने मिलकर संयुक्त रूप से मानव-बुद्धि की क्षमता और मानव मूल्यों को स्थापित किया। अब मानवतावादी और बुद्धिवादी मूल्यों के आधार पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना पर बल दिया जाने लगा। लूथर के सुधारवादी आन्दोलन ने मानव-गरिमा और अन्तरात्मा (अन्तर्विवेक) के अधिकार को प्रतिष्ठित किया। किन्तु वैज्ञानिक प्रगति और सुधारवादी आन्दोलनों के बावजूद सोलहवीं शताब्दी तक रूढ़िवादी चर्च की कट्टरता, दमन और स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन के प्रति अनुदारता तथा असहिष्णुता समाप्त न हो सकी। कहा जाता है कि उदारवादी प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर ने कॉपरनिकस के पूर्वोक्त सिद्धान्त (हेलियोसेन्ट्रिक थ्योरी, अर्थात् ब्रह्माण्ड का केन्द्र सूर्य है, पृथ्वी नहीं) को सुन कर कहा — “यह मूर्ख सम्पूर्ण ज्योतिष विज्ञान को ही उलटना चाहता है, परन्तु पवित्र धर्मग्रन्थ (बाइबिल) कहता है कि ईसा अब भी सूर्य को ही आदेश देता है, और पृथ्वी को नहीं।”¹

यद्यपि सोलहवीं शताब्दी तक कैथोलिक चर्च में पर्याप्त शक्ति निहित थी; फिर भी अनुदार और रूढ़िवादी ईसाई विचारधारा के महत्त्व और वर्चस्व का हास होने लगा था क्योंकि युग की बदली हुई सांस्कृतिक परिस्थितियों में लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए चर्च के पास न तो कोई नवीन विचारधारा थी और न कोई नवीन जीवन-दर्शन। किन्तु इस युग में भी बौद्धिक स्वतन्त्रता के प्रति सीमित सहिष्णुता का ही विकास हो पाया था। ग्रीक विचारधारा का अध्ययन प्रारम्भ हो जाने पर भी ग्रीक दार्शनिकों के धार्मिक विचारों का पुनरुत्थान न हो सका। ग्रीक दर्शन के बुद्धिवाद, मानवतावाद और तर्कशास्त्र का प्रयोग मनुष्य और प्रकृति के स्वरूप तथा

1 “This fool wishes to reverse the entire science of astronomy, but the sacred scripture tells us that Joshua Commanded the sun to stand still and not the earth.”
A History of Philosophy, Russell p 528.

उनके पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिए ही किया गया। इसका प्रयोग धार्मिक मताग्रहों का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन करने के लिए न किया जा सका। उल्लेखनीय है आधुनिक दर्शन के प्रवर्तक डेकार्ट ने जड़द्रव्य और आत्मा का वर्गीकरण किया। किन्तु आत्मा के स्वरूप का निरूपण धर्मशास्त्रीय आस्था से स्वतन्त्र रूप में न हो सका। दर्शन और विज्ञान के द्वारा की गई मौलिक व्याख्या जड़पदार्थ (Matter) के स्वरूप का विवेचन करने तक सीमित रही। इससे स्पष्ट है कि रूढ़िवादी चर्च अब भी पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न थी। यहाँ तक कि कॉपरनिकस, गैलीलियो आदि वैज्ञानिकों को दण्ड के भय से स्वदेश छोड़कर भागना पड़ा। यह उस समय के बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के लिए एक चेतावनी थी, जो चर्च के धार्मिक मताग्रहों के विपरीत वैज्ञानिक अनुसंधान और दार्शनिक चिन्तन करना चाहते थे।

इस दीर्घ कालीन संघर्ष के फलस्वरूप मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास स्थापित हो गया। इसमें मध्ययुग के दार्शनिकों के द्वारा स्थापित यह मताग्रह — 'बुद्धि ईश्वर के बारे में कुछ नहीं जान सकती है', समाप्त हो गया। अब बुद्धि को ही इस जगत् की संरचना और उसके मूल आधार को जानने की कुञ्जी (उपकरण) माना जाने लगा। लोग अपनी मानसिक गुलामी और शारीरिक बेड़ियों को तोड़कर धार्मिक मताग्रहों से स्वतन्त्र होना चाहते थे। बुद्धि के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की क्षमता और वैज्ञानिक सफलताओं के कारण लोगों के आत्मविश्वास में वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यह विश्वास हो गया कि बुद्धि के द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण करके इस लौकिक जगत् को भी सुखमय बनाया जा सकता है। इस प्रकार चर्च के द्वारा स्थापित स्वर्ग के काल्पनिक सुख को छोड़कर मानव पृथ्वी पर आ गया। अब उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने लगी, किन्तु पुनर्जागरण के फलस्वरूप मनुष्य को अपनी व्यक्तिगत बुद्धि (Individual Intellect) की गरिमा का अनुभव हुआ। यह प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के द्वारा मान्य सार्वभौम बुद्धि (Logos) से भिन्न है। यद्यपि वैयक्तिक बुद्धि सार्वभौम बुद्धि के समान विश्व में अन्तर्व्याप्त न थी, तथापि उसमें सत्य की खोज करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। इस प्रकार आधुनिक युग के पूर्ववर्ती संक्रमण काल की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही कि मनुष्य का अपनी बुद्धि में विश्वास स्थापित हो गया। अब मानव किसी अलौकिक अनुभूति का अनुचर न होकर अपनी (व्यक्तिगत) बुद्धि और इन्द्रियानुभव पर आश्रित हो गया। आधुनिक मनुष्य की प्राथमिक अभिरुचि अपनी बुद्धि एवं अनुभव के द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त हुई। उसके लिए चर्च और धर्मशास्त्रीय मताग्रह गौण हो गये। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के संक्रमण काल की यह प्रवृत्ति एक अभिनव युग के उन्मेष की द्योतक थी।

संक्रमण कालीन दर्शन

मध्य युग के बाद और डेकार्ट के अभ्युदय के पूर्व के युग को संक्रमण काल (Transitional Period) के नाम से जाना जाता है। इस काल के दार्शनिकों में कूसा के निकोलस (1401-1464 ई०), जी. ब्रूनो (1548-1600 ई०), थामस केम्पानेला (1568-1639 ई०) और फ्रांसिस बेकन (1561-1626 ई०) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(अ) निकोलस — यद्यपि कूसा के रहने वाले पादरी (सन्त) निकोलस चर्च की धार्मिक संप्रभुता को स्वीकार करते थे, तथापि वे चर्च और पोप की स्वेच्छाचारिता और निरंकुश

अधिकारों के पक्षधर नहीं थे। उनके अनुसार राज्य के अधिकार-क्षेत्र में सामाजिक कल्याण और चर्च के क्षेत्र में धार्मिक मार्गदर्शन आता है। वे राज्य और चर्च दोनों की निरंकुशता को रोकने के लिए क्रमशः जन प्रतिनिधियों और पादरियों की एक समिति की आवश्यकता पर बल देते हैं। निकोलस के अनुसार ज्ञान के चार स्तर हैं —

(1) काल्पनिक ज्ञान (Imaginative Knowledge) — इसके अन्तर्गत इन्द्रिय-संवेदनों से प्राप्त ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) आता है।

(2) बौद्धिक ज्ञान (Rational Knowledge) — इसका संबंध विश्लेषणात्मक बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान से है। इसे तर्क पर आधारित अनुमान कहा जा सकता है। इसमें स्वीकारात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार का ज्ञान सम्मिलित होता है। ज्ञान के इस स्तर पर एकता और अनेकता की अलग-अलग प्रतीति होती है। इस प्रकार दोनों में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता है।

(3) प्रज्ञात्मक ज्ञान (Intellectual Knowledge) — यह संश्लेषणात्मक बुद्धि का स्तर है। इसके अंतर्गत अनेकता से विशिष्ट एकता का ज्ञान होता है। इसके अन्तर्गत अभेद प्रधान और भेद गौण होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रज्ञात्मक ज्ञान के स्तर पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद बना रहता है।

(4) प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge) — यह अपरोक्षानुभूति का स्तर है, जिसे सर्वोच्च ज्ञान कहा जा सकता है। अद्वैत-वेदान्तियों की अपरोक्षानुभूति के समान निकोलस के प्रातिभ ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का लय हो जाता है। निकोलस के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व (Existence) और सारतत्त्व (Essence) में अभेद है। अतः इसका ज्ञान प्रातिभ अन्तर्दृष्टि से ही हो सकता है। यद्यपि प्रज्ञा पर आधारित संश्लेषणात्मक ज्ञान काल्पनिक और बौद्धिक ज्ञान से उच्चस्तरीय होता है, फिर भी संश्लेषणात्मक प्रज्ञा के द्वारा निरपेक्ष तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। यह ईश्वर की ओर संकेत मात्र करता है। तृतीय स्तर के ज्ञान (प्रज्ञात्मक ज्ञान) के द्वारा परम तत्त्व के अज्ञान का ज्ञान होता है। इसे निकोलस ने 'ज्ञानोत्पन्न अज्ञान' (Docta Ignorantia) कहा है। यह विवेकशील व्यक्तियों का अज्ञान है, न कि मोहग्रस्त व्यक्तियों का अज्ञान। चूँकि निकोलस एक धर्मपरायण पादरी थे; इसलिए वे ईसाई धर्म के मताग्रहों से मुक्त न हो सके। वस्तुतः ईसाई धर्म की मान्यताओं के विपरीत प्रतीत होने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों को निकोलस अभिव्यक्त न कर सके। आगे चलकर ब्रूनो ने ईसाई धर्म की रूढ़ियों और अंधविश्वासों से हटकर अपने दार्शनिक चिंतन को विकसित किया।

(ब) जीओर्डो ब्रूनो — ब्रूनो का जन्म इटली में हुआ था। वे अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्था में कैथोलिक परंपरा के अनुयायी थे, किन्तु बाद में उन्होंने ईसाई धर्म की रूढ़ियों पर आधारित सभी सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया। वास्तव में ब्रूनो रूढ़िवादी संप्रदायों से असहमत थे। उनके अनुसार ईश्वर और ब्रह्माण्ड परस्पर अभिन्न हैं। ईश्वर ही जड़ और चेतन के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। यह विश्व कार्य-प्रकृति (Natura Naturata) है। इस विश्व की अन्तराला को विश्वाला या कारण-प्रकृति (Natura-Naturans) कहा गया है। शरीर और आला के रूप में अभिव्यक्त तत्त्व को निरपेक्ष सत्ता (Ens Absolutum Indeterminatum) कहा जाता है। ब्रूनो के दर्शन में स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद का पूर्वाभास मिल जाता है। आगे चलकर स्पिनोजा का दर्शन निकोलस की ज्ञानमीमांसा और ब्रूनो की तत्त्वमीमांसा से प्रभावित हुआ। ब्रूनो को ईश्वर-भक्त (God-Loving) दार्शनिक के नाम से

जाना जाता है। ब्रूनो के दार्शनिक विचार ईसाई धर्म के रूढ़िवादी मताग्रहों से स्वतंत्र है। ब्रूनो का ईश्वर सृष्टि से अभिन्न है। सृष्टि में अन्तर्व्याप्त होते हुए भी वह सृष्टि से परे है। इससे स्पष्ट है कि ब्रूनो का ईश्वर ईसाई धर्म का ईश्वर नहीं है। इस प्रकार ब्रूनो का दार्शनिक चिंतन ईसाई धर्म के विरुद्ध है। इन धर्म-विरोधी दार्शनिक विचारों के लिए ब्रूनो को कठोर यातनाएँ दी गई। धार्मिक मताग्रहों को ठुकरा देने के कारण उसे सात वर्ष का कठोर कारावास दिया गया। किन्तु इसके बावजूद वह ईसाई धर्म के दोनों संप्रदायों (कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट) में से किसी से भी सहमत न हो सका। इसके परिणामस्वरूप 17 फरवरी 1600 ई० को उसे जीवित जला दिया गया। इस प्रकार सुकरात के पश्चात् दूसरे दार्शनिक (ब्रूनो) को भी अपने विचारों में दृढ़ता और स्वतंत्र बौद्धिक अनुशीलन करने के कारण कट्टरपंथी पादरियों के अमानुषिक दंड का कोपभाजन बनना पड़ा।

(स) थामस केम्पानेला — थामस केम्पानेला प्लेटो की 'रिपब्लिक' और संत आगस्टाइन के 'सिटी आफ गॉड' से विशेष रूप से प्रभावित हुए। कहा जाता है कि प्लेटो और आगस्टाइन से प्रभावित होकर उन्होंने एक चर्चित ग्रंथ 'सूर्य का नगर' (City of the Sun) की रचना की। उसने दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के बीच एक सीमा का निर्धारण किया। केम्पानेला के अनुसार दर्शनशास्त्र का संबंध तर्क बुद्धि से और धर्मशास्त्र का संबंध दैवी प्रकाशना से है। आत्मा के स्वरूप और अस्तित्व का प्रतिपादन करने में डेकार्ट को केम्पानेला और सन्त आगस्टाइन से पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। केम्पानेला ने दावा किया कि 'आत्मा का निराकरण नहीं किया जा सकता'। चूँकि समस्त खंडन और मंडन, विधि और निषेध आदि आत्मा के होने पर ही संभव है, इसलिए आत्मा की सत्ता पर संशय नहीं किया जा सकता। आगे चलकर इसी पद्धति पर डेकार्ट ने अपने प्रसिद्ध सूत्र "मैं सोचता हूँ, इसलिए, मैं हूँ" (Cogito, Ergo, Sum) को स्थापित किया। केम्पानेला के दर्शन में आत्मा की अवधारणा एक मनोवैज्ञानिक जीव (Empirical Ego) के रूप में की गई है। जीव और जगत् के साथ-साथ ईश्वर के अस्तित्व को जगत् के रचयिता और नियामक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वह जीव, जगत् और उनके नियन्ता तथा स्रष्टा ईश्वर इन तीनों तत्त्वों की सत्ता का प्रतिपादन करता है। इसकी स्पष्ट छाप डेकार्ट के दर्शन पर उपलक्षित होती है। राजनैतिक कारणों से थामस केम्पानेला को अपने जीवन का बहुमूल्य समय जेल में व्यतीत करना पड़ा। कहा जाता है कि उन पर स्पेन के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का अभियोग लगाकर उन्हें 27 वर्ष तक जेल में रहने का दंड दिया गया।

उल्लेखनीय है कि निकोलस, ब्रूनो, केम्पानेला आदि दार्शनिक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिए अरस्तू से प्रभावित मध्ययुग के दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गई निगमन पद्धति का सहारा लेते थे। इससे स्पष्ट है कि निकोलस, ब्रूनो और केम्पानेला बुद्धिवादी हैं। मध्ययुगीन अरस्तवी निगमन पद्धति के विरोध में कुछ दार्शनिकों ने निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित अनुभवमूलक तर्क-पद्धति का सहारा लिया। इसे आगमनात्मक तर्क-पद्धति के नाम से जाना जाता है। इस संदर्भ में फ्रांसिस बेकन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(द) फ्रांसिस बेकन — बेकन का जन्म इंग्लैण्ड के सेमॉस नगर में हुआ था। वे इंग्लैण्ड की अनुभववादी प्रवृत्ति के पहले महत्त्वपूर्ण विचारक और विज्ञान-दार्शनिक (Philosopher of Science) हैं। कुछ आलोचकों ने तो बेकन को ही आधुनिक युग का जन्मदाता कहा है। किन्तु वे एक महान वैज्ञानिक पद्धति के जन्मदाता हैं। वस्तुतः उन्हें आगमनात्मक तर्कशास्त्र का

जनक कहा जा सकता है। वेकन एक महान साहित्यकार भी थे। अंग्रेजी साहित्य में वेकन के प्रसिद्ध लेख ही उनकी विद्वता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। यद्यपि फ्रांसिस वेकन एक महान वैज्ञानिक, विचारक और तर्कशास्त्री थे, तथापि वे अपने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अत्यंत विवादास्पद व्यक्ति रहे हैं। कहा जाता है कि चांसलर के पद पर रहते हुए उन्होंने 1620 ई० में रिश्वत लिया था। उनके विरुद्ध रिश्वत लेने का अभियोग सिद्ध भी हो गया। वेकन को अर्थ-दंड के साथ-साथ चार दिन की प्रतीकात्मक सजा भी दी गई। उस समय के सम्राट जेम्स प्रथम ने उन्हें चार दिन की सजा देने के पश्चात् अर्थ-दंड से मुक्त कर दिया।

दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी दो प्रसिद्ध कृतियां हैं — (1) एडवांसमेण्ट ऑफ लर्निंग (Advancement of Learning), अर्थात् ज्ञान का विकास एवं (ii) नोवम आर्गनम (Novam Organum), अर्थात् नूतन तर्कशास्त्रीय विधि, आगमन। वेकन ने ग्रीक दर्शन, विशेष रूप से अरस्तू और समस्त शास्त्रीय दर्शन के दार्शनिक योगदान को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया। उसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान ही समस्त ज्ञान के आधार हैं। इसके साथ-साथ आगमनात्मक तर्कशास्त्र ही एकमात्र उपयुक्त विधि है, जिसका एक मात्र लक्ष्य वैज्ञानिक आविष्कार है। व्यवस्थित निरीक्षणालक एवं प्रयोगालक विधि ही समस्त वैज्ञानिक शोधों का मूल तत्त्व है। वेकन ने अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित निगमन पद्धति की कटु आलोचना करके इसे दार्शनिक चिंतन के लिए घातक माना। उसके अनुसार दार्शनिक चिंतन का आदर्श नमूना इंड्रियानुभव पर आश्रित आगमनात्मक पद्धति ही हो सकती है। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुसंधान करने की दृष्टि से इस पद्धति की बहुत उपयोगिता है। दर्शनशास्त्र और विज्ञान दोनों का प्रमुख उद्देश्य मानव-कल्याण है। अतः दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट है। वेकन का एक महत्त्वपूर्ण योगदान दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बद्ध करना है। विज्ञानों से संबंधित होने के कारण दर्शनशास्त्र मानव-समाज के कल्याण का सूत्रधार माना जाने लगा। इस प्रकार दर्शन का स्वरूप और लक्ष्य अतीन्द्रिय और काल्पनिक सत्ता की खोज नहीं, बल्कि व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति से संबंधित हो गया। उसने प्राचीन ग्रीक विचारकों की इस मान्यता को चुनौती दी कि दर्शनशास्त्र ज्ञान अथवा विवेक के प्रति प्रेम है (Philosophy is a love for wisdom)¹ प्राचीन ग्रीक विचारकों ने विवेक को स्वयं साध्य माना था, किन्तु वेकन के दर्शन में ज्ञान स्वयं साध्य नहीं, अपितु व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने की एक शक्ति है। इस संदर्भ में वेकन का यह कथन प्रसिद्ध है — “ज्ञान-शक्ति है” (Knowledge is Power)। इस दृष्टि से ज्ञान एक साधन मूल्य हो गया। अब दार्शनिकों के लिए किसी दैवी लोक का ज्ञान आवश्यक नहीं था, बल्कि उन्हें इस लोक में शक्ति अर्जित करने का तरीका अपनाना चाहिए। वास्तव में उसका संपूर्ण चिंतन मिथ्या तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध एक शाश्वत युद्ध है। ईश्वर एवं अन्य अलौकिक सत्ताओं को सिद्ध करने के लिए दिये जाने वाले तर्क महत्त्वहीन हैं। समस्त शक्ति ज्ञान में निहित है। ज्ञान न तो अरस्तवी न्याय-युक्ति के समान अमूर्त चिंतन (कोरा शब्द-जाल) है, और न अपने आप में मूल्यवान (साध्य) है। दूसरे शब्दों में, ‘ज्ञान-ज्ञान के लिए नहीं है, बल्कि मानव जीवन को सुखमय बनाने का साधन है।

1 यह मत गीता के इस कथन के विरुद्ध है- ‘नहि ज्ञानेन सदृशपवित्रमिह विद्यते।’ (गीता 4/38), अर्थात् ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है। सुकरात और गीता दोनों ज्ञान को स्वयं साध्य मानते हैं। फ्रांसिस वेकन की ज्ञान सम्यन्धी अवधारणा इसके विरुद्ध है क्योंकि वह ज्ञान को जीवन में सफलता प्राप्त करने का साधन मानता है।

वेकन के अनुसार अरस्तू की निगमन पद्धति के आधार पर स्थापित निष्कर्षों की व्यावहारिक जीवन के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। सत्य की खोज करने के लिए एकमात्र व्यावहारिक पद्धति आगमन है। हमें तटस्थ भाव से सभी पूर्वाग्रहों से रहित होकर प्राकृतिक तथ्यों का निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। उसके बाद बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा उन तथ्यों में निहित सामान्य नियमों की खोज करनी चाहिए। वास्तव में, निगमन के सामान्य आधार (सर्वव्यापी) वाक्यों की स्थापना के लिए आगमन अनिवार्य है। किन्तु वेकन का 'आगमन' गणनामूलक आगमन नहीं है। यह निरीक्षण, प्रयोग और बौद्धिक सूझ-बूझ (विश्लेषण) पर आधारित एक वैज्ञानिक पद्धति है। इस संदर्भ में वेकन का एक रूपक उल्लेखनीय है — 'वह कहता है कि दार्शनिकों का कार्य न तो मकड़ियों के समान है और न ही चींटियों के समान, बल्कि दार्शनिकों का कार्य मधुमक्खियों के समान है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ विविध पुष्पों के रस को संकलित करके उसे मधु के रूप में परिणत कर देती हैं, उसी प्रकार दार्शनिकों को अनुभव के द्वारा बाह्य जगत् से प्राप्त तथ्यों का निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। उसके पश्चात् उन्हें व्यवस्थित और नियमित करके उनमें अन्तर्निहित नियमों की खोज करना चाहिए। यद्यपि वेकन अरस्तू की निगमनात्मक पद्धति (विशेष रूप से न्याय युक्ति) की आलोचना करता है, फिर भी उसने तथ्यों के विश्लेषण को महत्त्व देकर उनमें अन्तर्निहित सामान्य नियमों के ज्ञान के लिए बुद्धि की भूमिका को स्वीकार किया है। वेकन के इस सिद्धान्त को काण्ट के दर्शन (आलोचनावाद और समन्वयवाद) की पूर्व पीठिका कहा जा सकता है।

वेकन दार्शनिकों को सभी प्रकार के अंधविश्वासों एवं पूर्वाग्रहों से रहित होकर दार्शनिक चिंतन करने का परामर्श देता है। इसका विकास आगे चलकर समकालीन दर्शन में जर्मन गणितज्ञ और दार्शनिक एडमंड हुसर्ल (1859-1938) की 'फेनोमेनॉलॉजी' (अर्थात् संवृत्तिशास्त्र) के रूप में होता है। हुसर्ल के अनुसार दार्शनिकों को मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर निष्पक्ष दार्शनिक चिंतन करना चाहिए। किन्तु हुसर्ल और वेकन के दार्शनिक लक्ष्य में अन्तर है। हुसर्ल पूर्वाग्रहों से रहित चिंतन की विधि कोष्ठकीकरण एवं अपचयन का प्रयोग करके निरपेक्ष चैतन्य का तार्किक अनुसंधान करता है। इसके विपरीत वेकन का लक्ष्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण की स्थापना करना है। वस्तुतः वेकन स्वयं वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है। हुसर्ल ने निष्पक्ष दार्शनिक चिंतन के लिए वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों के भी निराकरण पर बल दिया।

वेकन के अनुसार मानव-चिंतन को दूषित करने वाले अंधविश्वासों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, जो अधोलिखित हैं —

(1) जातीय अंधविश्वास (Idola Tribus) — इसके अंतर्गत परंपराजन्य मान्यताओं के कारण संचित संस्कारों और पूर्वाग्रहों को सम्मिलित किया जा सकता है। प्रायः लोग अपनी परंपरागत मान्यताओं (विश्वासों) के कारण प्रकृति की प्रत्येक घटना को सप्रयोजन मान लेते हैं। वेकन के अनुसार यह प्रयोजनमूलक दृष्टि एक प्रकार का परंपरागत अंधविश्वास है।

(2) गुफा के अंधविश्वास (Idola Cave or Specus) — इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत अंधविश्वास आते हैं। प्रायः मनुष्य जिस परिवेश में रहता है एवं जिस परिवेश में शिक्षा ग्रहण करता है वह उसी संकुचित क्षेत्र में अपने को सीमित कर लेता है। ऐसे व्यक्ति संकुचित संस्कारों के कारण अपने संकुचित क्षेत्र की सीमा से बाहर नहीं निकल पाते हैं। उन व्यक्तियों के कुछ

व्यक्तिगत पूर्वाग्रह होते हैं, जो मानव-चिंतन को प्रभावित करते हैं। अतः दार्शनिकों को सत्य का अनुसंधान करने के लिए व्यक्तिगत विश्वासों और पूर्वाग्रहों से बचना चाहिए।

(3) व्यावसायिक अथवा बाजारू अंधविश्वास (Idola Fori) — इसके अंतर्गत भाषिक शब्दों और उनके अर्थों के प्रति पाये जाने वाले पूर्वाग्रह आते हैं। बेकन के अनुसार, शब्दों के अर्थ कुछ भाषिक रूढ़ियों (Linguistic Conventions) पर आधारित होते हैं। इनसे हमारा व्यावहारिक जीवन संचालित होता है। प्रायः समस्त दार्शनिक विवादों एवं विभिन्न मत-मतान्तरों में पारस्परिक संघर्ष का कारण शब्दों के रूढ़िगत प्रयोग हैं। बेकन ने इसे शब्दों के प्रयोग की व्यावसायिक अथवा बाजारू परंपरा कहा है। उसके अनुसार प्रत्येक शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है। यदि इस विशिष्ट अर्थ के स्थान पर शब्दों का कोई सामान्य, स्थिर और रूढ़िगत अर्थ माना जाय तो शब्दों के वास्तविक अर्थ को नहीं जाना जा सकता है।

(4) रंगशाला (नाटक) के अंधविश्वास (Idola Theatri) — रंगशाला के अंधविश्वासों का संबंध विभिन्न समुदायों के धर्मशास्त्रीय एवं दैवी प्रकाशना पर आधारित मान्यताओं (विश्वासों) से है। प्रायः लोग धर्मशास्त्रीय मान्यताओं का बिना परीक्षण एवं मूल्यांकन किये ही उन्हें सत्य मान लेते हैं। बेकन के अनुसार ये अपरीक्षित धर्मशास्त्रीय मान्यताएँ प्रामाणिक नहीं होती हैं। ये यथार्थ नहीं हैं, बल्कि नाटकीय, अर्थात् पाखंडपूर्ण ढोंग हैं।

बेकन इन चार प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर स्वस्थ एवं निष्पक्ष दार्शनिक अनुसंधान पर बल देता है। निश्चित रूप से बेकन के ये विचार आधुनिक युग के लिए अत्यंत मौलिक, क्रांतिकारी और प्रेरणाप्रद हैं। यद्यपि इससे वैज्ञानिक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है, तथापि बेकन स्वयं कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। उसने दार्शनिक चिंतन को वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित करने का प्रयास किया। दर्शनशास्त्र का विज्ञान से संबंधित होना और दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाना तो संभव है, किन्तु दर्शन का विज्ञान की सीमाओं में सिमट जाना ठीक नहीं है। वास्तव में, दर्शनशास्त्र के लिए विज्ञान का अनुसरण होना आपत्तिजनक है। दर्शनशास्त्र और विज्ञान के प्रयोजन तथा उनकी पद्धतियों का दर्शन के क्षेत्र में उपयोग हो सकता है, किन्तु बेकन ने निगमन की उपेक्षा करके आगमन को ही एकमात्र दार्शनिक पद्धति के रूप में स्वीकार किया। यह अपने आप में एक प्रकार का पूर्वाग्रह ही कहा जायेगा। उसने अरस्तू की निगमन पद्धति की अतिरंजित आलोचना करने की भी भूल की है। वास्तव में, बेकन ने अरस्तू की निगमन पद्धति के समर्थक मध्यकालीन दार्शनिकों के मत को ही अरस्तू का सिद्धान्त मान लेने की भूल की है। निगमन और आगमन इन दोनों ही तार्किक पद्धतियों को एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता है। ये दोनों तर्क-पद्धतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। उन्हें एक ही तर्कशास्त्रीय पद्धति की दो विधाएँ (पहलू) कहा जा सकता है। इन त्रुटियों के होते हुए भी बेकन का यह योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उसने पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन को धार्मिक मताग्रहों, रहस्यवादी साधना और अंधविश्वासपरक तथा रूढ़िवादी विकृत चिंतन से मुक्त करके विज्ञान के निकट ला दिया।

(य) थामस हॉब्स (1588-1679) — इंग्लैण्ड के दार्शनिक, गणितज्ञ और भाषाविद् थामस हॉब्स का जन्म विल्टशायर के मैल्सबरी में एक गरीब परिवार में हुआ था। उन्होंने यूनानी साहित्य, गणित, विज्ञान, राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र का गहन अध्ययन किया। उसने माल्सबरी तथा ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद हाब्स ने विलियम कैविण्डिस के

शिक्षक के रूप में कार्य किया। 1642 ई० में उनका ग्रंथ 'डी सिवे' (De Cive) और 1651 ई० में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवियाथन' (Leviathan) प्रकाशित हुआ। लेवियाथन का प्रकाशन होने के बाद फ्रांसीसी अधिकारियों ने हॉब्स को दण्डित करना चाहा। इस कारण से वह फ्रांस से भागकर इंग्लैण्ड पहुँचा। संरक्षण परिषद् ने उसे इंग्लैण्ड में रहने की अनुमति दी, किन्तु वहाँ भी उसकी सार्वजनिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जब युवराज चार्ल्स द्वितीय इंग्लैण्ड का शासक हुआ, (जो पेरिस में हॉब्स का विद्यार्थी रह चुका था) तो हॉब्स की कठिनाइयाँ समाप्त हो गयीं। सन् 1679 ई० में हॉब्स की मृत्यु हुई।

सृष्टि और मनुष्य के प्रथम सिद्धान्त को गति से ही समझा जा सकता है। संसार में केवल दो प्रकार की वस्तुएँ हैं — प्राकृतिक और कृत्रिम। प्राकृतिक विज्ञानों के अंतर्गत समस्त वस्तुओं और उनके कारणों का अध्ययन किया जाता है। यह मुख्य रूप से गति (Motion) पर आधारित होता है। हमारा समस्त ज्ञान संवेदनाओं पर आश्रित है। चिंतन करना प्रत्ययों को जोड़ने और घटाने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसके अनुसार ज्ञान मस्तिष्क की क्रिया मात्र है। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में यांत्रिकतावाद का ही साम्राज्य है। इस प्रकार हॉब्स अनुभववाद और जड़वाद का समर्थक है। अमूर्त वस्तुएँ जैसे — आत्मा, ईश्वर, देवदूत आदि दार्शनिक चिंतन के विषय नहीं हो सकते हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवियाथन' में वह चर्च की परिभाषा करते हुए लिखता है — 'चर्च ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का एक संघ है, जो एक सम्प्रभु के अधीन संगठित है और सम्प्रभु की आज्ञा से ही अपना सम्मेलन कर सकता है।' ¹

हॉब्स के अनुसार 'धर्म' 'दर्शन' नहीं है, अपितु कानून है। धार्मिक सत्य का कोई वास्तविक प्रतिमान नहीं हो सकता है। व्यक्ति के द्वारा धर्म का पालन केवल इस बात में निहित है कि वह राजा की संप्रभुता के समक्ष आत्म-समर्पण कर दे। वस्तुतः हॉब्स चर्च को पूर्ण रूप से राजा के अधीन कर देता है। हॉब्स के द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' (Social Contract Theory) प्रसिद्ध है। उसके अनुसार प्रारंभ में मनुष्य अत्यंत स्वार्थी था। वह कहता है कि मनुष्य एक भयंकर प्राणी है, वह खूँखार भेड़िया है, अतः वह बुद्धि से अनुशासित नहीं हो सकता है। समाज में न्याय की स्थापना के लिए एक राष्ट्रमंडल बनाकर समस्त शक्ति एक राजा को सौंप देनी चाहिए। यही राजा धर्म के विषय में निर्णय दे सकता है। अतः धर्म व्यक्तिगत नहीं है। वह आगमन और निगमन इन दोनों ही प्रकार की तर्क पद्धतियों को स्वीकार करता है। संवेदनाएँ और उनको उत्पन्न करने वाले बाह्य पदार्थ ही यथार्थ हैं। ये सब विशेष हैं। सामान्यों की कोई सत्ता नहीं है। सामान्य कोरी कल्पना है। उसे 'सामान्यों के नामवादी सिद्धान्त' का समर्थक कहा जा सकता है। सामान्यों का प्रयोग केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए किया जाता है। वास्तविक सत्ता केवल व्यक्तियों और विशेषों की है। इस प्रकार हॉब्स भौतिकवाद, अनुभववाद, यांत्रिकवाद और नामवाद का समर्थन करता है।

आधुनिक दर्शन में बुद्धिवादी प्रवृत्ति

वह दार्शनिक विचारधारा जिसके अनुसार दार्शनिक ज्ञान (प्रमा) का अंतिम स्रोत मानव-बुद्धि है, बुद्धिवाद के नाम से जानी जाती है। बुद्धिवादी ज्ञान की वैधता का निरूपण अनुभव-निरपेक्ष रूप में करते हैं। वे ऐसी तर्क-प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं जिसके अंतर्गत मूल नियमों अथवा स्वयं सिद्धियों (Axioms) से अन्य उपनियमों को निगमित किया जाता है। इस तर्क प्रक्रिया को निगमन (Deduction) कहते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक ज्ञान की वैधता प्रागनुभविक (अनुभव से स्वतंत्र रूप में) स्थापित की जा सकती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान साधारण ज्ञान (Popular Knowledge) है। इस प्रकार का ज्ञान कभी सत्य तो कभी असत्य होता है। अतः अनुभवजन्य ज्ञान को दार्शनिक दृष्टि से प्रामाणिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत दार्शनिक ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करता है, इसलिए वह सदैव सत्य होता है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक ज्ञान से तात्पर्य प्रामाणिक ज्ञान से है। उल्लेखनीय है कि अनुभववादियों के समान आधुनिक बुद्धिवादी भी दार्शनिक अनुशीलन के लिए ज्ञान के स्वरूप, स्रोत, वैधता और ज्ञान की सीमाओं के विवेचन और मूल्यांकन को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक बुद्धिवाद वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है जिसके अनुसार यथार्थ ज्ञान (प्रमा) की प्राप्ति का मूल आधार मानव-बुद्धि है। प्रश्न उठता है कि बुद्धिवादियों के अनुसार वैध ज्ञान किसे कहते हैं अथवा वैध ज्ञान का प्रतिमान (Paradigm) क्या है? बुद्धिवादियों के अनुसार वैध ज्ञान, सार्वभौम और अनिवार्य होता है। किसी ज्ञान को 'सार्वभौम' कहने का अर्थ यह है कि वह ज्ञान प्रत्येक देश-काल और परिस्थिति में यथार्थ होता है। उसकी सत्यता किसी विशेष देश-काल और परिस्थिति तक सीमित नहीं है। पुनश्च, किसी ज्ञान के अनिवार्य होने का तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान की सत्यता का निराकरण नहीं किया जा सकता। जैसे — दो और दो का योग चार होता है ($2+2=4$), यह कथन सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान का आदर्श उदाहरण है। ऐसे सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति केवल बुद्धि के द्वारा ही हो सकती है।

इसके विपरीत अनुभवजन्य ज्ञान में सार्वभौमिकता और अनिवार्यता का अभाव पाया जाता है। यही कारण है कि बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में अनुभव की भूमिका गौण है। बुद्धिवादियों के अनुसार अनुभवजन्य ज्ञान न तो सर्वकालिक होता है और न ही सर्वदेशिक। वस्तुतः अनुभव से प्राप्त ज्ञान अनिवार्य नहीं हो सकता है क्योंकि उसके विरोधी ज्ञान की कल्पना की जा सकती है। उदाहरण के लिए — 'गुलाब लाल है', 'कमल नीला है' आदि ज्ञान न तो सार्वभौमिक रूप से सत्य हैं, और न ही अनिवार्य। हम बिना किसी कठिनाई के किसी गुलाब को

सफेद या नीला कह सकते हैं। अतः बुद्धिवादियों के अनुसार अनुभव जन्य ज्ञान को दार्शनिक दृष्टि से वैध ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सभी बुद्धिवादी जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। डेकार्ट और स्पिनोजा के अनुसार कुछ प्रत्यय जन्मजात हैं और कुछ प्रत्यय आपातिक हैं। किन्तु लाइबनिज के अनुसार सभी प्रत्यय जन्मजात हैं। उनके अनुसार 'बुद्धि अनुभव पर आश्रित नहीं है।' आत्मा में कुछ ऐसी जन्मजात शक्तियाँ हैं, जिनके उपयोग से मानव-बुद्धि में विना किसी अनुभव के (विना किसी बाह्य सहायता के) ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। चूँकि मानव-बुद्धि के अंदर ज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता निहित है, इसलिए स्वाभाविक रूप से बुद्धि ज्ञान की उत्पत्ति में सक्रिय होती है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान उत्पन्न करने के लिए बुद्धि को सक्रिय होना पड़ता है। वस्तुतः जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धान्त आधुनिक बुद्धिवाद और अनुभववाद के मध्य एक विभाजक रेखा का कार्य करता है। आधुनिक बुद्धिवादी गणित, विशेष रूप से ज्यामिति को ही दार्शनिक चिंतन का आदर्श मानते हैं। अपने अतिशय गणित-प्रेम के कारण वे दर्शन के क्षेत्र में भी गणित के समान निश्चित और निर्णायक सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयास करते हैं। आधुनिक बुद्धिवादियों में डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनिज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(अ) रेने डेकार्ट (Rene Descartes; 1596 —1650)

फ्रांस के तुरेन नगर-निवासी रेने डेकार्ट का जन्म मार्च 1596 ई० में एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा धार्मिक वातावरण में सम्पन्न हुई। डेकार्ट गणित और विज्ञान के साथ-साथ दर्शन में भी रुचि रखते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्य, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, चिकित्सा और कानून आदि विधाओं का भी अध्ययन किया। इससे उनके प्रतिभाशाली होने का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एकान्त प्रेमी डेकार्ट के गहन और व्यापक अध्ययन के परिणाम स्वरूप उन्हें अपने अज्ञान का ज्ञान होने लगा। धीरे-धीरे उनका दृष्टिकोण सन्देहवादी होने लगा। वे अन्य लोगों के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों और ज्ञान के आधार पर जीवन-यापन नहीं करना चाहते थे। वे अपने जीवन और चिन्तन का मार्ग स्वयं चुनना चाहते थे। वे विभिन्न प्रकार के दार्शनिक मतमतान्तरों से बहुत क्षुब्ध थे। उनके अनुसार प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों के उत्कृष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद भी हम निश्चित सत्य (प्रामाणिक ज्ञान) की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। “दूसरे के मतों को जानना विज्ञान नहीं, बल्कि इतिहास है।” इससे स्पष्ट है कि डेकार्ट एक मौलिक विचारक है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान को छोड़कर अपने तथा जगत् के बारे में मौलिक चिन्तन प्रारम्भ किया। वह आजीवन अविवाहित रहा। 1650 ई० में 11 फरवरी को डेकार्ट की मृत्यु हुई। कहा जाता है कि स्वीडन की महारानी को दार्शनिक शिक्षा देने के लिए वे स्टाकहोम गये, जहाँ ठण्ड लगने से उनकी मृत्यु हो गयी।

डेकार्ट के द्वारा लिखित ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं — डिसकोर्स-आन मेथड (Discourse on Method), अर्थात् दार्शनिक पद्धति पर विमर्श। मेडीटेशन्स (Meditations) अर्थात् 'ध्यान', 'दर्शन के सिद्धान्त' (The Principles Philosophy) और आत्मा की भावनायें (The Passions of the Soul) आदि उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

डेकार्ट के युग में भी ईसाई धर्म का ही वर्चस्व था। चर्च की मान्यताओं के विरुद्ध सत्य का अनुसंधान करने वाले दार्शनिकों और वैज्ञानिकों को मृत्युदण्ड तक की सजा दी गयी थी। निश्चित रूप से धर्म भीरु डेकार्ट के दर्शन पर इस धार्मिक वातावरण का प्रभाव पड़ा। किन्तु दर्शन-प्रेमी होने के साथ-साथ डेकार्ट एक कुशल गणितज्ञ भी था। उस युग में गणित और प्राकृतिक विज्ञानों का पर्याप्त विकास हो चुका था। आधुनिक युग के वैज्ञानिक विकास ने भी डेकार्ट के दार्शनिक चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। उस समय दर्शन के क्षेत्र में व्याप्त विवादों को दूर करने के लिए डेकार्ट ने गणित, विशेष रूप से ज्यामिति की निश्चयात्मक पद्धति का सहारा लिया। दर्शन के क्षेत्र में निश्चितता लाने के लिए उसने दर्शन की उपयुक्त पद्धति के रूप में निगमनात्मक विधि का प्रयोग किया। डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति आधुनिक दर्शन के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादी विचारकों ने इसी पद्धति के आधार पर अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित किया। डेकार्ट को आधुनिक युग में बुद्धिवादी विचारधारा का प्रवर्तक माना जाता है। उसके समालोचकों और प्रशंसकों ने उसकी दार्शनिक पद्धति के कारण ही उसे 'आधुनिक दर्शन का जनक' कहा है।

डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति — डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति गणित की ज्यामितीय विधि से प्रभावित है। उसने गणितीय तर्कवाक्यों को ज्ञान के प्रतिमान (आदर्श) के रूप में स्वीकार किया। वह समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने का समर्थक है। इसकी पुष्टि डेकार्ट के इस कथन से होती है, "मेरी यह इच्छा है कि कोई भी व्यक्ति किसी सिद्धान्त पर तब तक विश्वास न करे जब तक वह उसको किसी अकाट्य और स्पष्ट तर्क के आधार पर स्वयं सत्य न समझता हो।"

उसकी इस पद्धति का प्रयोग ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। इसके आधार पर हम निश्चायक सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं। उसका लक्ष्य दर्शन के क्षेत्र में व्याप्त मतभेदों एवं अनिश्चितता को दूर करके उसमें गणित के समान निश्चितता लाना था। इस कारण से वह आगमनात्मक पद्धति की अपेक्षा निगमनात्मक पद्धति को अधिक महत्त्व देता है। डेकार्ट से पूर्व बेकन ने अरस्तू की निगमनात्मक (न्याययुक्तिपरक) पद्धति का निराकरण करके वैज्ञानिक अनुसंधान की उपयुक्त पद्धति के रूप में आगमनात्मक विधि का प्रयोग किया था। किन्तु बेकन और हॉब्स की तुलना में डेकार्ट अनुभवजन्य ज्ञान का विरोधी था। उसके गणित-प्रेम ने उसे ज्यामितीय पद्धति के निकट ला दिया। गणित एक सम्प्रत्ययात्मक विज्ञान (Conceptual Science) है। इसके लिए निगमनात्मक पद्धति अधिक उपयुक्त होती है। यही कारण है कि डेकार्ट ने निगमनात्मक पद्धति को दर्शन की उपयुक्त पद्धति के रूप में प्रतिष्ठापित किया। डेकार्ट के अनुसार आगमन केवल तथ्यों की गणना पर आधारित नहीं होती है। यह मुख्य रूप से व्याप्ति पर आधारित होती है और व्याप्ति की स्थापना बिना निगमन के नहीं हो सकती है। डेकार्ट के अनुसार प्रतिभान (Intuition) और निगमन (Deduction) दोनों दार्शनिक चिन्तन के लिए आवश्यक हैं। प्रतिभान बुद्धि का एक स्वाभाविक प्रकाश है। प्रतिभान का प्रयोग किसी रहस्यात्मक अर्थ में नहीं किया गया है। यह कोई रहस्यात्मक शक्ति नहीं है।¹ यह स्वतः सिद्ध सत्य का आधार है। प्रतिभान के द्वारा प्राप्त सत्य असंदिग्ध होते हैं। उन पर

किसी प्रकार का संशय नहीं किया जा सकता है। वह प्रतिभान के द्वारा प्राप्त ज्ञान को स्पष्ट और विवेकपूर्ण कहता है। इसके विपरीत निगमन के द्वारा प्राप्त ज्ञान की वैधता प्रतिभान पर आधारित होती है। प्रतिभान स्वतः प्रमाण और साक्षात् ज्ञान है। इसके विपरीत निगमन का प्रमाण परतः होता है। यह एक अनुमान या परोक्ष ज्ञान है। चूँकि निगमन अपनी वैधता के लिए प्रतिभान पर निर्भर है और प्रतिभान से प्राप्त ज्ञान स्वतः सिद्ध और अकाट्य होता है, इसलिए उस पर आधारित निगमनात्मक ज्ञान की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है।

डेकार्ट के अनुसार यदि गणित के समान दर्शन में भी निश्चित और स्वयं सिद्ध सत्यों की खोज कर ली जाये तो अनेक दार्शनिक-विवादों का समाधान हो सकता है। ज्यामिति के क्षेत्र में स्वयंसिद्ध नियमों के आधार पर अनेक उपनियमों एवं प्रमेयों का निगमन किया जाता है। स्वतः सिद्ध नियमों के आधार पर निगमित किये गये ये नियम भी उनके (स्वयं सिद्ध नियमों के) समान ही निश्चित और प्रामाणिक होते हैं। इस प्रकार हम गणित के क्षेत्र में स्वयं सिद्ध नियमों के आधार पर अन्य प्रामाणिक नियमों को प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धति को ही निगमनात्मक पद्धति के नाम से जाना जाता है। इसे एक उदाहरण की सहायता से समझना सुविधाजनक होगा —

$$7+5 \text{ का योग} = 12$$

$$6+6 \text{ का योग} = 12$$

अतः $6+6$ का योग $= 7+5$ के योग के बराबर होता है।

इनमें से प्रथम दो तर्कवाक्य ($7+5 = 12$ एवं $6+6 = 12$) स्वतः सिद्ध सत्य हैं। ये प्रतिभान पर आधारित हैं। किन्तु तीसरा कथन ($6+6 = 7+5$) प्रथम दो कथनों के आधार पर निगमित किया गया है। तीसरे कथन की सत्यता प्रथम तथा द्वितीय कथनों की सत्यता पर आधारित है। इसे प्रमाणजन्य सत्य कहा जा सकता है। डेकार्ट के अनुसार दार्शनिकों को भी स्पष्ट एवं स्वतः सिद्ध नियमों के आधार पर अन्य अज्ञात नियमों का अनुसंधान करना चाहिए।

डेकार्ट के अनुसार दार्शनिकों को समस्त पूर्वाग्रहों और पूर्व मान्यताओं से मुक्त होकर दार्शनिक अनुशीलन करना चाहिए। जब तक कोई बात 'स्पष्ट' (Clear) और 'विवेकपूर्ण' (Distinct) न हो, तब तक उसे नहीं स्वीकार करना चाहिए। डेकार्ट के दर्शन में स्पष्टता और विवेक पूर्णता ही प्रामाणिक ज्ञान की कसौटियाँ हैं। उसने 'स्पष्टता' पद का प्रयोग 'साक्षात् रूप से अनुभव किए जाने' के अर्थ में किया है। इसके अन्तर्गत ज्ञेय विषय बुद्धि के समक्ष अपरोक्ष रूप से उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'विवेकपूर्ण' वह है जो इतना निश्चित हो कि, उसके अन्तर्गत केवल उतनी बातें ही सम्मिलित हों जितना कि उसको जानने वाला उसे प्रकट रूप में देखता और समझता हो। दूसरे शब्दों में 'जो स्वतः जाना जा सके वह विवेकपूर्ण है।' जो ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण न हो उसे प्रामाणिक या निश्चित ज्ञान (Certain Knowledge) नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् वह ज्ञान प्रमा (वैध ज्ञान) नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष और कल्पना को प्रामाणिक ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। 'प्रत्यक्ष' और 'कल्पना' में स्पष्टता भले ही पायी जाती हो, किन्तु वे विवेकपूर्ण नहीं होते हैं। डेकार्ट के अनुसार स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में कुछ बाधाएँ हैं। बाल्य-काल से ही पारिवारिक और शैक्षणिक परिवेश के द्वारा हमारे मन में कुछ विश्वासों को थोप दिया जाता है। इस प्रकार हम अनेक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो जाते हैं। हमें दूसरों के ज्ञान के ऊपर बिना सोचे-समझे विश्वास नहीं करना चाहिए। इसके

अतिरिक्त हमारे जीवन में कुछ भाषिक पूर्वाग्रहों (Linguistic Prejudices) का इतना गहरा और व्यापक प्रभाव होता है कि हम उनसे बच नहीं पाते हैं। हम अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। विचारों (प्रत्ययों) और शब्दों में इतना घनिष्ठ और अवियोज्य सम्बन्ध होता है कि हम दोनों में भेद नहीं कर पाते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रायः लोग शब्दों के अर्थ को बिना ठीक से समझे ही उनका प्रयोग करने लगते हैं अथवा उन्हें स्वीकार करने लगते हैं। इस प्रकार हमारे भ्रान्त, अनिश्चित और संशयात्मक ज्ञान के कारण अनेक पूर्वाग्रह हैं। संक्षेप में, डेकार्ट के अनुसार सामाजिक परम्परायें, लोकमत, कुशिक्षा और भाषिक पूर्वाग्रहों के कारण मानव-बुद्धि भ्रमित हो जाती है।

डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति को 'संशयात्मक पद्धति' के नाम से जाना जाता है। उसके अनुसार हमें अपनी इन्द्रियों और उनसे प्राप्त संवेदनों पर कभी भी पूर्ण विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि हमारी इन्द्रियां कभी-कभी धोखा देती हैं। प्रायः यह दावा किया जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वाधिक प्रामाणिक होता है। किन्तु हम देखते हैं कि कभी-कभी इन्द्रियजन्य ज्ञान भ्रामक होता है। डेकार्ट प्रश्न करता है कि 'क्या इन्द्रियानुभव से सदैव यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है?' क्या मनुष्य को यह विश्वास है कि उसका शरीर एवं शारीरिक क्रियायें वास्तविक हैं? डेकार्ट के अनुसार हम इन प्रश्नों के उत्तर में कोई निश्चित मत नहीं दे सकते हैं। इन्द्रियों पर संदेह किया जा सकता है। दर्शन को एक सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए डेकार्ट ने अपने संदेह को अत्यन्त व्यापक बनाया। वह प्रायः प्रत्येक वस्तु पर संदेह व्यक्त करता है। उसका प्रसिद्ध कथन है कि "स्वप्न में जो कुछ हमारे मन में घटित होता है वह वास्तविक प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थ जीवन के धरातल पर वह भ्रामक सिद्ध हो जाता है। वर्तमान समय में हम जो कुछ देखते हैं उस पर संशय किया जा सकता है। यहाँ तक कि यह भी नहीं कहा जा सकता है कि हम जाग्रत अवस्था में हैं या स्वप्न देख रहे हैं (अनुभव एष मृषा)। गणित की क्रियाओं में प्रायः लोगों को भूल करते हुए देखा जा सकता है। अतः उसके बारे में भी संदेह किया जा सकता है। अपने संदेह को और अधिक विस्तृत करते हुए डेकार्ट कहता है कि ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है जो मुझे निश्चित और स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः मैं यह समझता हूँ कि वे सब वस्तुएँ जिन्हें मैं देखता हूँ दोषपूर्ण हैं। इसी प्रकार डेकार्ट ने स्मृतिजन्य ज्ञान से लेकर आनुभविक ज्ञान, विस्तार, गति आदि के ज्ञान को मानसिक कल्पना के समान मान कर उन सब पर संशय व्यक्त किया। इससे स्पष्ट है कि उसके अनुसार जगत् में कुछ भी निश्चित और अभ्रान्त नहीं है। संदेह की इस पद्धति को ही 'कार्टेशियन मेथड' (Cartesian Method) के नाम से जाना जाता है।¹

वस्तुतः डेकार्ट ने अपने चिन्तन को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने के लिए प्रायः प्रत्येक वस्तु पर संशय किया। उसके संशय का लक्ष्य बुद्धि को पूर्वाग्रहों से मुक्त करके निश्चायक और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के अनुकूल बनाना है। यही कारण है कि उसकी संदेह-पद्धति संशयवाद की ओर नहीं ले जाती है। उसका प्रयोग वैध ज्ञान (प्रमा) को प्राप्त करने के लिए एक साधन के रूप में किया गया है। अतः वह संशयवादी नहीं है।

1 Meditations II, Collection from Philosophic Classic—Becan to Kant, (Ed.) W. Kauffman, p. 37.

डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति के चार प्रमुख नियम हैं, जिनका उल्लेख उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दार्शनिक पद्धति पर विमर्श' (Discourse on Method) में किया है। ये नियम अधोलिखित हैं :

(1) प्रथम नियम के अनुसार, किसी चीज को तब तक सत्य नहीं मानना चाहिए, जब तक कि उसका प्रामाणिक ज्ञान न हो जाय। किसी चीज का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें पूर्वाग्रहों एवं उतावलेपन (जल्दबाजी) से मुक्त होना चाहिए। इसके लिए विचारणीय समस्या के स्वरूप पर तार्किक चिन्तन और बौद्धिक सावधानी अपेक्षित है। केवल स्पष्ट और विवेक-पूर्ण ज्ञान को ही प्रामाणिक (वैध) मानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि डेकार्ट के अनुसार स्पष्टता और विवेकपूर्णता ही किसी ज्ञान के प्रमात्व (वैधता) की कसौटियाँ हो सकती हैं। स्पष्टता और विवेकपूर्णता के स्वरूप का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

(2) द्वितीय नियम के अनुसार, हमें जिस जटिल समस्या पर विचार करना है, उसका विश्लेषण करना चाहिए। विचारणीय समस्या का विश्लेषण तब तक करना चाहिए, जब तक उसके अविश्लेष्य, अर्थात् सरल अंश प्राप्त न हो जायें। जब विचारणीय समस्या का सरल अंश (घटक) स्पष्ट और विवेकपूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो जाता है, तो वह समस्या अविश्लेष्य हो जाती है। दूसरे शब्दों में, समस्या के विश्लेषण का लक्ष्य उसके मूल तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करना होता है। इससे स्पष्ट है कि इस नियम की सहायता से डेकार्ट विचारणीय समस्या के तत्त्वों की खोज करता है।

(3) तृतीय नियम के अनुसार, विचारणीय समस्या के स्वरूप पर व्यवस्थित ढँग से विचार किया जाता है। हम सरलता से कठिनता के बढ़ते हुए क्रम में विश्लेष्य समस्या को प्रस्तुत करते हैं। सबसे पहले समस्या के सरल और मूल तत्त्वों को रखते हैं। उसके बाद धीरे-धीरे अपेक्षाकृत कुछ अधिक क्लिष्ट तत्त्वों पर विचार किया जाता है। इससे हमारे विचारों में क्रमबद्धता आती है, भले ही विचारणीय समस्या में क्रमबद्धता का अभाव हो। वस्तुतः तीसरा नियम एक प्रकार का 'संश्लेषण' है। इसका उद्देश्य अव्यवस्थित समस्या के स्वरूप को व्यवस्थित करना है। यह नियम ज्यामितीय विधि पर आधारित है। इसके अन्तर्गत समस्या के मूल तत्त्वों को व्यवस्थित रूप से रखकर उसके आधार पर निगमित होने वाले निष्कर्षों को संगठित किया जाता है।

(4) चतुर्थ नियम पूर्वोक्त नियमों का सर्वेक्षण, परीक्षण और मूल्यांकन है। इसके अन्तर्गत अपने द्वारा किये गये आकलन (गणना) का आलोचनात्मक सर्वेक्षण किया जाता है, ताकि विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया, अर्थात् हमारी विचार-शृंखला में कोई गड़बड़ी न हो, अथवा विचारणीय समस्या का कोई भी घटक छूट न जाये। इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ नियम का लक्ष्य विचार-प्रक्रिया को निर्दोष बनाना है।

दार्शनिक पद्धति का मूल्यांकन — डेकार्ट का दावा है कि इस पद्धति का प्रयोग दर्शनशास्त्र और ज्यामिति (गणित) के साथ-साथ किसी भी वैज्ञानिक समस्या के समाधान के लिए किया जा सकता है। ये नियम बहुआयामी और अत्यन्त व्यापक प्रभाव रखते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति विश्लेषण प्रधान है क्योंकि बिना विश्लेषण के किसी समस्या के मूल घटकों का स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः इस विधि में विश्लेषण का सर्वाधिक महत्त्व है। वस्तुतः समकालीन दर्शन की विश्लेषी प्रवृत्ति के बीज डेकार्ट की

इस प्रणाली में ही निहित हैं। किन्तु डेकार्ट का लक्ष्य समकालीन विश्लेषी दार्शनिकों के उद्देश्य से भिन्न है। उसने विश्लेषणालक नियम का प्रयोग वैज्ञानिक अनुसंधान की विधि के रूप में किया है। वस्तुतः पहले और दूसरे दोनों नियम वैज्ञानिक अनुसंधान की विधि से सम्बन्धित हैं। तीसरे नियम का प्रयोग समस्या की व्यवस्थित व्याख्या (उपपत्ति) के लिए किया गया है। इससे समस्या के स्वरूप को व्यवस्थित ढंग से समझने में सहायता मिलती है। चौथा नियम समस्या के मूल्यांकन से सम्बन्धित है, ताकि पूर्वोक्त तीनों नियमों का सम्यक् परीक्षण किया जा सके। इसका लक्ष्य वैचारिक-प्रक्रिया के संभाव्य दोषों का निराकरण करना है।

यद्यपि डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति निगमनात्मक है, तथापि यह न्यायवाक्यीय पद्धति के दोषों से रहित है। उल्लेखनीय है कि वेकन ने अरस्तू की निगमनात्मक पद्धति (विशेष रूप से न्यायवाक्य) की कटु आलोचना की है। वेकन के अनुसार निगमनात्मक पद्धति निरर्थक और दार्शनिक ज्ञान के लिए घातक है। डेकार्ट यह स्वीकार करता है कि न्यायवाक्य के द्वारा किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रत्येक न्यायवाक्य में 'चक्रक दोष' पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति न केवल अनुभव-मूलक पद्धति से भिन्न है, बल्कि अरस्तू से प्रभावित मध्य युग की न्यायवाक्यीय प्रणाली से भी भिन्न है। यद्यपि डेकार्ट ने अपनी पद्धति को यूक्लिड की ज्यामितीय पद्धति से भी अलग माना है, फिर भी उसने किसी न किसी रूप में यूक्लिड की संश्लेषणालक पद्धति को अपनाया है। यूक्लिड ने स्वतः सिद्ध नियमों के आधार पर ज्यामिति के प्रमेयों को निगमित किया है। वस्तुतः यूक्लिड की निगमन पद्धति संश्लेषणालक है। आगे चलकर डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादियों (जैसे — स्पिनोजा) ने भी इस संश्लेषणालक पद्धति का सहारा लिया। डेकार्ट की निगमन पद्धति की प्रमुख विशेषता यह है कि यह प्रतिभान (Intuition) पर आधारित है। वस्तुतः डेकार्ट के दर्शन में प्रतिभान का प्रयोग उसकी दार्शनिक पद्धति के अभिन्न अंग के रूप में किया गया है।

डेकार्ट के अनुसार ज्ञान की विविध शाखाओं को एक-दूसरे से पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता है। दर्शन शास्त्र, गणित और प्राकृतिक विज्ञान एक दूसरे से मौलिक रूप में जुड़े (सम्बन्धित) हुए हैं। यद्यपि दर्शन और विभिन्न विज्ञानों (जैसे प्राकृतिक विज्ञान, मानव विज्ञान और गणित जैसे संप्रत्यात्मक विज्ञान) के दृष्टिकोणों में भिन्नता पायी जाती है, तथापि इन सब के लिए विश्लेषणालक विधि का प्रयोग उपयोगी होता है। अतः ये नियम केवल दर्शन शास्त्र तक ही सीमित नहीं हैं। डेकार्ट के अनुसार इन नियमों का प्रयोग दर्शन के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की अन्य विधाओं में भी किया जा सकता है। किन्तु डेकार्ट ने गणित को ही ज्ञान का आदर्श माना है। वे गणितीय निष्कर्षों की निश्चितता से अत्यधिक प्रभावित थे। उसका कारण डेकार्ट के गणित-प्रेम के साथ-साथ वे परिस्थितियाँ भी हैं, जिनमें डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति का विकास हुआ। वास्तव में, डेकार्ट के समकालीन युग में ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिक ज्ञान और चर्च के प्रभुत्व के विषय में अनेक शंकायें व्यक्त की जा रही थीं। इससे निश्चायक ज्ञान की प्राप्ति सन्देह ग्रस्त प्रतीत होने लगी। शायद इसीलिए डेकार्ट ने प्रामाणिक ज्ञान और निश्चायक सत्य की खोज करने का प्रयत्न किया। उन्हें जहाँ किसी ज्ञान में लेशमात्र भी शंका (सन्देह) हुई डेकार्ट ने उसमें विश्वास न करने पर बल दिया। केवल उन विश्वासों को ही ज्ञान (प्रमा) कहा जा सकता है जिनके बारे में किसी प्रकार का सन्देह न हो। डेकार्ट तार्किक

दृष्टि से एक ऐसे धोखेबाज शैतान की कल्पना करता है जो हमें ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से धोखा दे सकता है। डेकार्ट के सन्देह का निहितार्थ केवल यह है कि जीवन के प्रत्येक साधारण विश्वास पर सन्देह किया जा सकता है। उसके अनुसार ऐसा सन्देह करना तार्किक दृष्टि से असंगत नहीं हो सकता है, किन्तु इस सन्देह का लक्ष्य निश्चायक ज्ञान को सिद्ध करना है। सन्देह इसी निश्चायक सत्य की खोज का एक साधन है। इसी सन्देह के द्वारा निश्चायक सत्य को भ्रान्त सत्य (अप्रमा) से पृथक् किया जा सकता है।

कुछ समकालिक दार्शनिकों ने डेकार्ट के सन्देह करने की प्रक्रिया (तरीके) पर आपत्ति की है। यदि हमें यह ज्ञात है कि हमें कभी-कभी भ्रम होता है, अथवा हम धोखा खाते हैं तो ऐसा तभी संभव है जब हम प्रायः धोखा न खाते हों। यदि यह मान भी लिया जाये कि हमारा समस्त ज्ञान त्रुटिपूर्ण या भ्रामक है तो ऐसा तभी संभव है जब प्रामाणिक ज्ञान (प्रमा) को अप्रामाणिक ज्ञान (अप्रमा) से पृथक् करना संभव हो। राइल के अनुसार हमारे पास सत्य को भ्रम से पृथक् करने के लिए एक कसौटी (मानक) होनी चाहिए। हमारे इस ज्ञान से कि — “हमारे प्रत्यक्ष भ्रान्त होते हैं”, यह तर्कतः सिद्ध होता है कि हमें सदैव धोखा नहीं दिया जा सकता है।” दूसरे शब्दों में, ‘हमारा भ्रान्त प्रत्यक्षों के प्रति सचेत (जागरूक) होना’, यह सिद्ध करता है कि हमारे (मनुष्य) सभी प्रत्यक्ष भ्रामक नहीं हो सकते हैं।¹ इसी प्रकार इंग्लैण्ड के तार्किक अनुभववादी दार्शनिक ए० जे० एयर के अनुसार, “किसी भ्रामक प्रत्यक्ष को अभ्रान्त प्रत्यक्षों के सापेक्ष रूप में ही भ्रान्त (भ्रामक) कहा जा सकता है। यदि सभी प्रत्यक्षों को भ्रामक कहा जाय, तो भ्रामक शब्द अर्थहीन हो जायेगा।”² एयर के द्वारा दिया गया तर्क ‘भाषिक प्रागनुभविक’ (Linguistic Apriori) कहलाता है। वस्तुतः डेकार्ट ने सन्देह का प्रयोग निश्चित ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में ही किया है। “मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ” अर्थात् आत्मा के स्वतः सिद्ध हो जाने के बाद उसका ‘सन्देह’ समाप्त हो जाता है। डेकार्ट के ‘सन्देह’ की उपयोगिता इस बात में है कि उससे हमारे वैज्ञानिक विश्वासों पर विचार करने की प्रेरणा मिलती है। इसका लक्ष्य समस्त पूर्वाग्रहों से रहित होकर सत्य की खोज करना है। इसके फलस्वरूप हम निश्चायक सत्य को प्राप्त करने की कसौटी की ओर बढ़ते हैं। इस पद्धति का प्रभाव स्पिनोजा और लाइबनीज के दर्शन पर स्पष्ट रूप से उपलक्षित होता है। यहाँ तक कि जर्मन दार्शनिक हुसर्ल की ‘संवृत्ति शास्त्रीय विधि’ डेकार्ट की सन्देह पद्धति का ही एक विस्तृत रूप है। अतः इस पद्धति का पाश्चात्य दर्शन में एक ऐतिहासिक महत्त्व है।

डेकार्ट की तत्त्वमीमांसा

(द्रव्य, गुण और विकार)

डेकार्ट ने स्वतन्त्र सत्ता से युक्त होने को द्रव्य की प्रमुख विशेषता माना है। उसके अनुसार — “द्रव्य वह है जो स्वतन्त्र अस्तित्व से युक्त हो एवं जिसका चिन्तन और अस्तित्व किसी अन्य वस्तु की अवधारणा एवं चिन्तन पर आश्रित न हो।” उसके अनुसार द्रव्य के तीन भेद हैं — (1) निरपेक्ष द्रव्य (Absolute Substance) — डेकार्ट ने ईश्वर को निरपेक्ष द्रव्य माना है।

1 Dilemmas, Ryle, Cambridge University Press, 1954, p. 94.

2 The Problem of Knowledge, Ayer, pp. 37-38.

(2) सापेक्ष द्रव्य (Relative Substance) सापेक्ष द्रव्य के पुनः दो भेद किये गये हैं। इसके अन्तर्गत चेतन आत्मा (Mind) और अचेतन जड़ तत्त्व (Matter) ये दो द्रव्य आते हैं। चेतन आत्मा और अचेतन जड़ तत्त्व अपनी सत्ता के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। किन्तु जड़ और चेतन दोनों द्रव्य ईश्वर पर आश्रित हैं। अतः उन्हें सापेक्ष द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार डेकार्ट ने तीन द्रव्यों को स्वीकार किया जो क्रमशः ईश्वर, आत्मा और जड़ पदार्थ हैं।

डेकार्ट के अनुसार आत्मा एक विचारशील द्रव्य है। जड़ पदार्थ एक विस्तारवान द्रव्य है। आत्मा और जड़ द्रव्य दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य गुण (Attribute) और विकार (Mode) से युक्त होता है। गुण द्रव्य का अनिवार्य (नित्य) लक्षण है, अर्थात् गुण सदैव द्रव्य के साथ-साथ पाया जाता है। किन्तु विकार (Mode) द्रव्य की वह विशेषता है जो गुणों के अभाव में संभव नहीं है। आत्मा का प्रमुख गुण चिन्तन करना (Thinking) है। इसमें विस्तार का अभाव है। इसके विपरीत अचेतन जड़तत्त्व का गुण विस्तार (Extension) है। इसमें चिन्तन या विचार का अभाव है। इससे स्पष्ट है कि चेतन आत्मा और अचेतन जड़ द्रव्य क्रमशः विचार और विस्तार नामक गुणों से युक्त हैं। द्रव्य के ये गुण द्रव्य के साथ-साथ सदैव पाये जाते हैं। ये गुण केवल द्रव्य के नष्ट हो जाने पर ही नष्ट हो सकते हैं। ईश्वर में असंख्य (अनन्त) गुण हैं क्योंकि वह एक पूर्ण द्रव्य है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों के गुण सीमित हैं क्योंकि आत्मा और जड़ पदार्थ दोनों सीमित एवं अपूर्ण हैं। डेकार्ट उन्हें द्रव्य इसलिए कहता है क्योंकि वे दोनों अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। हमें आत्मा का ज्ञान साक्षात् रूप में प्रतिभान (Intuition) के द्वारा होता है। किन्तु बाह्य जड़ पदार्थ का ज्ञान परोक्ष रूप से होता है। डेकार्ट भी प्रत्यय प्रतिनिधित्ववादी (Representationsit) है। उसके अनुसार बाह्य जगत् हमारे ज्ञान का साक्षात् विषय नहीं है। यह अपने प्रतिबिम्बों के माध्यम से ही आत्मा के लिए ज्ञेय होता है। किन्तु लॉक के विपरीत डेकार्ट के प्रतिनिधित्ववाद का आधार अन्तर्दृष्टि है। वह विस्तार के प्रत्यय को जन्मजात (Innate) मानता है। अतः विस्तार का ज्ञान प्रत्यक्ष का पूर्ववर्ती होता है।

इससे स्पष्ट है डेकार्ट ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय दोनों दृष्टियों से द्वैतवादी है। ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से वह ज्ञान के तीन प्रमुख कारक मानता है — (i) आत्मा में स्थित प्रत्यय, (ii) बाह्य वस्तुएं और तीसरा आत्मा (मन) में स्थित प्रत्ययों और बाह्य पिण्डों (वस्तुओं) में समरूपता। आधुनिक युग में विज्ञान के प्रभाव के कारण विश्व (World) की व्याख्या एक मशीन (यन्त्र) के रूप में की गयी है। इस यन्त्र रूपी विश्व को जानने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञाता के मन में किसी न किसी प्रकार से इसका प्रतिनिधित्व अवश्य हो।¹

डेकार्ट तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से द्वैतवादी है क्योंकि वह आत्मा एवं अनात्मा दोनों को परस्पर विरोधी स्वरूप और गुणों से युक्त मानता है। आत्मा चेतन द्रव्य है जो नित्य चिन्तनशील है। इसके ठीक विपरीत अनात्मा (जड़ द्रव्य) एक अचेतन द्रव्य है जो सदैव विस्तार से युक्त और विचार से पूर्णतया रहित (विचार-शून्य) है। दूसरे शब्दों में, आत्मा विचारशील और विस्तारशून्य है। इसके विपरीत अनात्मा (शरीर) विस्तारवान और विचारशून्य है। वैसे तो

गुणात्मक दृष्टि से आत्मा और जड़ तत्त्व ये दो सापेक्ष द्रव्य हैं। किन्तु परिमाण (संख्या) की दृष्टि से अनेक जीवात्माएँ एवं बहुत सी जड़ वस्तुएँ हैं। डेकार्ट के अनुसार अनेक जीवात्माएँ (Minds) चेतन द्रव्य के विचार नामक गुण के विकार हैं। यद्यपि आत्मा और जड़ तत्त्व सापेक्ष द्रव्य हैं, तथापि वे ईश्वर के द्वारा रचित या सृष्ट (Created) द्रव्य हैं। अर्थात् वे ईश्वर से उत्पन्न और ईश्वर पर आश्रित द्रव्य हैं। ईश्वर पर आश्रित होने के कारण आत्मा और अनात्मा का यह द्वैत और परस्पर विरोधी स्वभाव कुछ अंशों में सामंजस्यपूर्ण हो जाता है। यद्यपि डेकार्ट के समान आचार्य रामानुज भी चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं, तथापि दोनों दार्शनिकों के दृष्टिकोणों में कुछ मौलिक अन्तर है। दोनों विचारकों में एक प्रमुख अन्तर यह है कि — रामानुजाचार्य के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर की अपृथक् सिद्ध एकता ही ब्रह्म है। किन्तु डेकार्ट के दर्शन में आत्मा, अनात्मा और ईश्वर के बीच इस एकता का अभाव है। डेकार्ट के लिए ईश्वर ही एक मात्र प्राथमिक द्रव्य (Primary Substance) है। शेष अन्य दोनों द्रव्य ईश्वर पर आश्रित हैं। इसके अतिरिक्त डेकार्ट के ईश्वर का इस जगत् से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वह परात्पर (स्वर्ग का वासी) है। इसके विपरीत रामानुज का ईश्वर अन्तर्यामी (Immanent) और परात्पर (Transcendent) दोनों है।

डेकार्ट के द्वैतवाद के विपरीत रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं और उसके समक्ष आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करना कोई जटिल समस्या नहीं है। वह तत्त्वत्रय के बीच अपृथक् सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। डेकार्ट आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए अन्तर्क्रियावाद (Interactionism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इसका सविस्तार विवेचन इस अध्याय के अन्त में किया गया है। अतः इस स्थल पर उसकी पुनरावृत्ति करना अपेक्षित नहीं है। किन्तु संक्षेप में, यह अवश्य कहा जा सकता है कि डेकार्ट के द्वैतवाद के कारण आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं हो पाती है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि विकारों की उत्पत्ति गुणों के बिना नहीं हो सकती है। डेकार्ट के अनुसार आत्मा के गुण विचार के बिना संकल्प (Volition), भावना (Feelings), इच्छाएँ (Desires), संवेदनाएँ (Sensations), कल्पना (Imaginations) आदि संभव नहीं हैं। ये सब चेतना के विकार हैं। इसी प्रकार विस्तार के बिना गति, आकृति, विराम (Rest) आदि संभव नहीं हैं। ये सब विस्तार के विकार हैं। सभी भौतिक वस्तुओं का अनिवार्य गुण विस्तार है। डेकार्ट ने विस्तार को देश से अभिन्न माना है। देश में गतिशीलता का प्रवर्तक ईश्वर है। किन्तु विस्तार को गतिशील करने के बाद ईश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करता है। अतः जगत् एक यांत्रिक रचना है। विस्तार और गति के अतिरिक्त जगत् की रचना में अन्य किसी तत्त्व का योगदान नहीं है। गति का परिमाण सदैव एक बना रहता है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट पशुओं, पक्षियों और मानवतर प्राणियों को आत्मा से रहित मानता है क्योंकि वे चिन्तनशील नहीं हैं। उनके द्वारा की गई क्रियाएँ यांत्रिक क्रियाओं के समान हैं। यहाँ पर डेकार्ट मध्यकालीन दार्शनिकों से प्रभावित है। वह मध्यकाल के धर्म-दार्शनिकों के समान वानस्पतिक और संवेदनशील आत्मा को नहीं स्वीकार करता है।

डेकार्ट के द्वैतवाद के विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ उठाई गई हैं, जो सामान्य रूप से अन्य द्वैतवादी संप्रदायों के विपक्ष में उठाई जाती रही हैं। वह ईश्वर की शरण लेकर द्वैतवाद से उत्पन्न

अन्तर्विरोधों को समन्वित और शिथिल करने का प्रयास करता है। वस्तुतः उसके द्वैतवाद का कारण उस युग की परिस्थितियाँ थीं जिसकी पृष्ठभूमि में उसके दार्शनिक चिन्तन का विकास हुआ। वह ईसाई धर्म और अपने दर्शन में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसमें जीव और जड़ तत्त्व की सत्ता को न मानने का नैतिक साहस नहीं था। इस प्रकार डेकार्ट एक विशिष्ट धर्म का समन्वय एक विशिष्ट दर्शन से करने का असफल प्रयास करता है।

मैं सोचता हूँ, इसलिए, मैं हूँ (Cogito, Ergo, Sum)

डेकार्ट का बहुआयामी और व्यापक सन्देह उसकी दार्शनिक पद्धति की मौलिक विशेषता है, किन्तु समस्त संशयों और अनिश्चितताओं के बीच एक बात पूर्ण रूप से संशय-रहित और निश्चित है — “मैं संशय करता हूँ।” संशय करना भी विचार करना है। किन्तु बिना किसी विचारक के विचार करना संभव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि संशय करना अथवा विचार करना एक विचारक के अस्तित्व की माँग करता है। डेकार्ट के अनुसार शरीर पर तो संशय किया जा सकता है, किन्तु संशयकर्ता का अस्तित्व असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो उठता है। इस प्रकार शरीर को जानने की अपेक्षा संशय करने वाले आत्मा को जानना सरल है। यह कहना तो एक आत्म-व्याघात होगा कि जिस क्षण कोई व्यक्ति चिन्तन करता है, उस क्षण उसका अस्तित्व नहीं होता। डेकार्ट यह तर्कतः सिद्ध करने का प्रयास करता है कि ‘संदेह करना’ संशयकर्ता (आत्मा) की ओर संकेत करता है। उसके अनुसार ‘संशय करना’ तर्कतः चिन्तन करने को प्रतिपन्न (Imply) करता है और चिन्तन करने से ‘चिंतक’ (Thinker) का अस्तित्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। “मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ” यह एक स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान है। यह सिद्धान्त ही डेकार्ट की ज्ञानमीमांसा का मूल आधार है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त उसकी तत्त्वमीमांसा का भी प्रारंभिक सोपान है। वस्तुतः डेकार्ट की संदेह पद्धति इसी असंदिग्ध एवं अकाट्य स्वतःसिद्ध सत्य पर पहुँचने का साधन है। आत्मा की सिद्धि न तो इन्द्रियानुभव पर आधारित है और न बौद्धिक युक्तियों पर। यह प्रतिभान से उत्पन्न स्वयं सिद्ध ज्ञान है। डेकार्ट का संशय संशयकर्ता आत्मा के स्वतः सिद्ध हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है। उसके दर्शन में संशय को ज्ञान का प्रारंभिक बिन्दु (आरंभिक सोपान) माना गया है। इस प्रकार के संशय से हमें पूर्वाग्रहों से रहित होकर चिन्तन करने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार हम संशय से निश्चय पर पहुँचते हैं।

यदि मनुष्य चिन्तनशील न हो तो उसके अस्तित्व को सिद्ध करना असंभव होगा। इसलिए डेकार्ट चिन्तन करने को ही आत्मा का अनिवार्य गुण मानता है। डेकार्ट के दर्शन में ‘मैं’ (I) और चिन्तन (Think) में अवियोज्य संबंध है। चिन्तनशील होने के कारण ही ‘मैं’ (आत्मा) विभिन्न भौतिक वस्तुओं, यहाँ तक कि अपने शरीर से भी नितान्त भिन्न है। मैं भौतिक शरीर नहीं हूँ, बल्कि इसका स्वामी हूँ। इस प्रकार आत्मा की सत्ता शरीर से स्वतंत्र और भिन्न है। इसका ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण है। डेकार्ट के अनुसार जिसका ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण हो, वह यथार्थ (सत्य) है। इससे सिद्ध होता है कि स्पष्टता और विवेकपूर्णता सत्यता की कसौटियाँ हैं। डेकार्ट के दर्शन में ‘चिन्तन करना’ (Cogito) पद का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में किया गया है। इसके अंतर्गत संशय करना, समझना, कल्पना करना, संकल्प करना, किसी चीज को स्वीकार या अस्वीकार करना इत्यादि सम्मिलित है। चूँकि चिन्तन करना चेतन आत्मा का मुख्य व्यापार

(क्रिया) है, इसलिए चेतन आत्मा स्वतः सिद्ध है। यह एक प्रातिभ अनुभूति (Intuitive Experience) है। इसका अस्तित्व किसी परोक्ष प्रमाण (जैसे अनुमान) पर आधारित नहीं है।

डेकार्ट के अनुसार आत्मा, जड़तत्त्व से भिन्न एक चिंतनशील द्रव्य है। यह चिंतनशील होने के कारण अचेतन द्रव्य से भिन्न गुण रखता है। जड़द्रव्य का प्रमुख गुण विस्तार और चेतन द्रव्य का प्रमुख गुण विचार है। इस प्रकार डेकार्ट के अनुसार आत्मा चेतन, सरल, अविनाशी और शरीर से भिन्न द्रव्य है। चूँकि आत्मा द्रव्य है, इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता है। डेकार्ट के अनुसार द्रव्य अविनाशी है। जानना (Knowing), सोचना (Thinking) संकल्प या इच्छा करना, अनुभव करना (Feeling) इत्यादि आत्मा की विविध क्रियाएँ हैं। आत्मा में किसी प्रकार का विस्तार नहीं पाया जाता है। वह देश और काल से परे है। यद्यपि डेकार्ट की आत्मा संबंधी अवधारणा ईसाई धर्म की मान्यताओं से प्रभावित है, तथापि उसने आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तर्क का सहारा लिया है। वह संदेह की प्रक्रिया से अपना चिंतन प्रारंभ करके यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि “मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।” इस विवेचन से स्पष्ट है कि डेकार्ट के अनुसार चिंतन करना आत्मा की अन्य सभी क्रियाओं में निहित होता है अथवा यह अन्य क्रियाओं का आधार है। चिंतन आत्मा का अनिवार्य लक्षण है। दूसरे शब्दों में, जो चिंतनशील नहीं है, वह आत्मा से रहित होता है। इससे सिद्ध होता है कि केवल मनुष्यों में ही ‘आत्मा’ पाया जाता है। मनुष्येतर प्राणी (जैसे — पशु-पक्षी आदि) चिंतन से रहित होने के कारण आत्मा से रहित हैं।

डेकार्ट के अनुसार आत्मा के दो पक्ष हैं — प्रथम सक्रिय पक्ष है — इसके अंतर्गत आत्मा की क्रियाएँ एवं भाव आते हैं। इसमें मनुष्यों के द्वारा किए गए समस्त ऐच्छिक कर्मों को सम्मिलित किया जा सकता है। आत्मा के सक्रिय पक्ष से संबंधित अवस्थाएँ आत्म-नियंत्रित होती हैं। द्वितीय पक्ष के अन्तर्गत आत्मा की निष्क्रिय क्रियाएँ सम्मिलित हैं। आत्मा की निष्क्रिय क्रियाएँ अपने शारीरिक कारणों पर निर्भर होती हैं। जैसे — हर्ष, क्रोध, विषाद इत्यादि अवस्थाएँ ऐसे भाव हैं जिसका प्रभाव आत्मा में दिखाई पड़ता है। जैसे — यदि ‘मैं हूँ’ और ‘मैं कुछ सोच रहा हूँ’ ये दोनों प्रकार के वाक्य भले ही एक ही अर्थ में साक्षात् रूप से अनुभूत होते हों, फिर भी इन दोनों वाक्यों के अग्रान्त होने में अंतर है। ‘मैं हूँ’ का निषेध नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा करना व्याघाती है, किन्तु ‘मैं सोचता हूँ’ का निषेध सार्थक रूप में किया जा सकता है। डेकार्ट के अनुसार “मैं सोचता हूँ, अतः, मैं हूँ” यह पद कोई जटिल वाक्य नहीं, बल्कि एक सरल वाक्य है। उसके अनुसार यह कोई निगमनात्मक अनुमान नहीं, बल्कि एक प्रातिभ ज्ञान है। इसके अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि ‘सोचने’ (सारतत्त्व) और ‘होने’ (अस्तित्व) में क्या संबंध है? वह इसका स्पष्ट विवेचन नहीं करता है।

किन्तु डेकार्ट के दर्शन का विवेचन करने से स्पष्ट है कि उसके अनुसार होने (सत्) और ‘सोचने’ (चित्) में द्रव्य और गुण का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में आत्मा सत् और चिन्तनशील (चित्) है। उसने अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार की है, अर्थात् डेकार्ट अनेकात्मवादी है। उसके द्वारा जिस आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है वह रामानुजाचार्य की ‘आत्मा’ के समान एक मनोवैज्ञानिक जीव मात्र है। डेकार्ट अद्वैतवेदान्तियों के समान एकात्मवादी नहीं है।

उसके लिए चिन्तन (चेतना) आत्मा का एक गुण है। वह शंकराचार्य, काण्ट और हेगल के समान आत्मा को ज्ञानस्वरूप एवं चैतन्य स्वरूप नहीं मानता है।

रूडोल्फ कार्नाप के अनुसार 'मैं सोचता हूँ', इसलिए मैं हूँ' इस वाक्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें तार्किक वाक्य विन्यास का पालन नहीं किया गया है। इस वाक्य में 'मैं हूँ' अस्तित्ववाची नहीं हो सकता है क्योंकि तार्किक दृष्टि से 'अस्तित्व' किसी नाम से सम्बन्धित नहीं हो सकता है। अस्तित्व का सम्बन्ध सदैव किसी न किसी विधेय से होता है। किन्तु अस्तित्व स्वयं कभी भी विधेय नहीं हो सकता है। अस्तित्ववाची वाक्य 'मैं सोचता हूँ' 'यह है' के समान नहीं है। 'मैं सोचता हूँ' से केवल यह सिद्ध होता है कि यह एक व्यक्ति है जो सोचता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि मैं हूँ। ए. जे. एयर के अनुसार, मैं सोचता हूँ, से सिद्ध होता है कि आत्मा का अस्तित्व मात्र वैचारिक है। अतः तार्किक भाववादियों ने डेकार्ट के प्रसिद्ध सूत्र को एक छद्म कथन कहा है। ए. जे. एयर के अनुसार 'जहाँ तक मैं सोचता हूँ, मैं विचार मात्र हूँ।' हम अपने क्षणिक विचारों को संकलित करके विचारों के प्रवाहरूप एक आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। अतः डेकार्ट का सूत्र "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" भी एक आगमनात्मक तर्क है। इसके द्वारा किसी निश्चित निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।¹ वस्तुतः ए. जे. एयर की यह आपत्ति तार्किक भाववादी पूर्वाग्रहों पर आधारित है।

वस्तुतः तार्किकभाववादी डेकार्ट के इस मन्तव्य की उपेक्षा कर देते हैं कि आत्मा (द्रव्य) के अभाव में चिन्तन रूपी गुण का कोई आश्रय नहीं हो सकता है। डेकार्ट आत्म-ज्ञान को न तो आगमनात्मक अनुमान कहता है और न निगमनात्मक अनुमान मानता है। मैं सोचता हूँ, इसलिए, मैं हूँ, यह एक स्वतः सिद्ध मौलिक अनुभूति है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट के अनुसार आत्म-ज्ञान के समान ही कुछ अन्य ज्ञान भी स्पष्ट और विवेकपूर्ण होते हैं। आत्मा को तीन प्रकार के प्रत्ययों का ज्ञान हो सकता है—

(1) आगन्तुक प्रत्यय (Adventitious Ideas) — जो आत्मा में बाह्य जगत् में स्थित वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं।

(2) काल्पनिक प्रत्यय (Fictitious Ideas) — जिन्हें आत्मा स्वयं परिकल्पित कर लेता है।

(3) जन्मजात प्रत्यय (Innate Ideas) — जो आत्मा में जन्म से ही निगूढ़ या अन्तर्निहित होते हैं। ये प्रत्यय आत्मा की स्वाभाविक शक्ति हैं। इनका ज्ञान आत्मा को धीरे-धीरे होता है। इनके ज्ञान के लिए किसी प्रकार का अनुभव आवश्यक नहीं होता है।

हेगल के अनुसार सत् और चित्, सत्ता और ज्ञान अथवा होने और सोचने में अनिवार्य सम्बन्ध है। प्रत्ययवादियों के अनुसार ज्ञान और सत्ता में अनिवार्य सम्बन्ध है। हेगल के अनुसार आत्मा चिन्तन शील द्रव्य नहीं, बल्कि ज्ञान स्वरूप है। सत् और चित् परस्पर अभिन्न हैं। किन्तु सार्वत्रिक जैसे अस्तित्ववादियों के अनुसार आत्मा का अस्तित्व उसके चिन्तन अथवा सारतत्त्व की तार्किक प्रागपेक्षा है। 'अस्तित्व' (मैं हूँ) 'सार' (मैं सोचता हूँ) का पूर्ववर्ती है। दूसरे शब्दों में, चिन्तन आत्मा का सारतत्त्व है। 'मैं सोचता हूँ' के पहले 'मैं हूँ' का अस्तित्व होना चाहिए। इस प्रकार अस्तित्ववादी डेकार्ट की मान्यता को उलट देते हैं। उनके अनुसार 'मैं हूँ', इसलिए 'मैं

सोचता हूँ। मैं सोचता हूँ, की तार्किक प्रागपेक्षा (Logical Presupposition) के रूप में 'मैं हूँ' पहले से ही निहित होता है। वास्तव में, अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण डेकार्ट और हेगल की मान्यताओं के विपरीत है। यद्यपि डेकार्ट का दावा है कि आत्मा की सत्ता वास्तविक है, तथापि वह विचार और सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध का सम्यक् विवेचन नहीं कर पाता है। वह आत्मा को द्रव्य मान लेने की भूल करता है। उसके द्वारा प्रतिपादित आत्मा एक मनोवैज्ञानिक जीव बनकर रहा जाता है। आगे चलकर काण्ट, हेगल और नव्य हेगलवादियों ने द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि डेकार्ट के अनुसार 'सन्देह की क्रिया' स्वयं 'सन्देह का विषय' नहीं हो सकती है। यदि आत्मा पर सन्देह किया भी जाय तो सन्देह कर्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। डेकार्ट के इस तर्क के विरुद्ध भी आपत्ति उठायी गयी है। प्रोफेसर शिवजीवन भट्टाचार्य के अनुसार 'वह सन्देह जिस पर संशय किया जा रहा है (स 1) और वह सन्देह (स 2) जो इस पर (स 2) हो रहा है, ये दोनों एक स्तर के सन्देह न होकर, दो भिन्न स्तरों के सन्देह हो सकते हैं। यदि इन दोनों सन्देहों को भिन्न कोटि का संशय मान लिया जाय,¹ तो यह नहीं कहा जा सकता है कि सन्देह (Doubt) पर संशय (Doubt) नहीं किया जा सकता है। इससे अनवस्था दोष भले ही उत्पन्न हो जाय, किन्तु यहाँ पर अनवस्था दोष दूषण नहीं, बल्कि चेतना का सहज लक्षण है।² किन्तु यदि प्रवाह रूप अनवस्था दोष को दूषण न माना जाय, अर्थात् उसे चेतना का लक्षण मान लिया जाय तो भी चेतना का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इससे चेतन आत्मा का खण्डन नहीं हो पाता है। इस विश्लेषण और विवेचन से स्पष्ट है कि डेकार्ट जिस प्रकार संशय से संशयकर्ता आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है, वह आधुनिक दर्शन के लिए एक सर्वथा मौलिक और नूतन सन्देश है। यद्यपि अनेक दार्शनिकों और आलोचकों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है, तथापि अस्तित्ववादियों को छोड़कर प्रायः अधिकांश विचारक इससे सहमत हैं कि दर्शन का प्रारम्भ 'मैं सोचता हूँ', (इसलिए मैं हूँ) से होना चाहिए। दार्शनिकों में प्रायः आत्मा के अस्तित्व को लेकर उतना विवाद नहीं है, जितना कि उसके स्वरूप के विषय में मतभेद हैं। उनमें मुख्य रूप से 'मैं सोचता हूँ', और 'मैं हूँ' के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर मतभेद है। वस्तुतः डेकार्ट के दर्शन का महत्त्व विशेष रूप से उसकी सन्देह पद्धति एवं उसके आधार पर संशय करने वाले आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के कारण है। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के कारण डेकार्ट को आधुनिक दर्शन का प्रवर्तक कह करके उसकी प्रशंसा की गयी है।

ईश्वर की अवधारणा

डेकार्ट ने ईश्वर की अवधारणा एक निरपेक्ष द्रव्य के रूप में की है। वह कहता है कि 'ईश्वर' शब्द से मेरा अभिप्राय एक ऐसे निरपेक्ष द्रव्य से है जो अनन्त, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान है, तथा जिसने मुझे और अन्य सभी वस्तुओं को उत्पन्न किया है। इस प्रकार ईश्वर का संप्रत्यय एक ऐसी पूर्ण सत्ता की चेतना है, जो प्रत्येक प्रकार की अपूर्णताओं से रहित

1 सन्देह 1 और सन्देह 2 (सन्देह 2 का अर्थ स 1 पर होने वाला संशय है।

2 ज्ञानमीमांसा, दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ० 4।

है। इस दृष्टि से डेकार्ट का ईश्वर अनंत रूप से महान सत्ता है। वह ईश्वर की अवधारणा जगत् के निमित्त कारण के रूप में करता है। सृष्टि का उपादान कारण जड़ द्रव्य है। यद्यपि डेकार्ट आत्मा और जड़ तत्त्व दोनों को एक दूसरे से स्वतंत्र द्रव्य मानता है, किन्तु ये दोनों ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। ईश्वर स्वयंभू (Self-caused) है, अर्थात् वह अपना कारण स्वयं (Cause-Sui) है। जड़ तत्त्व अनात्मा है और ईश्वर से भिन्न है, क्योंकि ईश्वर विशुद्ध आत्मा (Pure Spirit) है। किन्तु ईश्वर ही जड़ तत्त्व के अस्तित्व का आधार है। जड़ तत्त्व और चेतन आत्माएँ दोनों ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं। किन्तु ईश्वर ने उन्हें कैसे उत्पन्न किया है? डेकार्ट इस प्रश्न की व्याख्या नहीं करता है। वह कहता है कि हम इसे नहीं जान सकते हैं कि ईश्वर ने जड़ तत्त्व को किस पद्धति से उत्पन्न किया है। ईश्वर अनंत गुण संपन्न और अवोधगम्य है। उसके ज्ञान की परिधि से भूत, वर्तमान और भविष्य काल की कोई भी वस्तु नहीं बच सकती है। इसीलिए वह ईश्वर को सर्वज्ञ कहता है। डेकार्ट ईश्वर को सर्वज्ञ मानने के साथ-साथ उसे परम उदार एवं परम कारुणिक भी मानता है।

डेकार्ट का ईश्वर पूर्ण होने के कारण कभी भी अनैतिक, क्रूर और धोखेबाज नहीं हो सकता। इस प्रकार वह समस्त दुर्गुणों और दोषों से रहित है। करुणा परायण होने के कारण वह सदैव मनुष्यों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। इससे स्पष्ट है कि डेकार्ट का ईश्वर पूर्ण शुभ है। ईश्वर के स्वरूप को लेकर डेकार्ट मध्यकालीन दर्शन और ईसाई धर्म के मताग्रहों से प्रभावित है। ईश्वर की अवधारणा एक परात्पर (Transcendent) सत्ता के रूप में की गई है। उसने ईसा मसीह की परिकल्पना ईश्वर-पुत्र के रूप में किया है। चूँकि डेकार्ट का ईश्वर इस लोक से परे एक दैवी लोक का निवासी है, इसलिए उसका सृष्टि से कोई आंतरिक संबंध नहीं हो सकता। वह सृष्टि की व्यवस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करता है। इससे स्पष्ट है कि वह संकल्प-स्वातन्त्र्य को संभव मानता है। संभवतः डेकार्ट की ईश्वर विषयक अवधारणा उसकी धर्मभरुता का परिणाम है। अतः अनेक समालोचकों ने डेकार्ट के द्वारा मान्य ईश्वर को धर्म का ईश्वर कहा है। यहाँ पर वह भले ही मध्यकालीन दर्शन के धार्मिक मताग्रहों से प्रभावित है, किन्तु उसने ईश्वर के अस्तित्व को किसी धर्मशास्त्रीय मान्यता के आधार पर नहीं स्वीकार किया है। इस संदर्भ में डेकार्ट के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई कुछ युक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

(1) प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति — डेकार्ट ने प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति के अतिरिक्त जन्मजात प्रत्ययों पर आश्रित एक अन्य युक्ति का भी प्रतिपादन किया है। किन्तु डेकार्ट दर्शन के कुछ समीक्षकों ने इस युक्ति का अन्तर्भाव प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति के अन्तर्गत कर लिया है। वस्तुतः सत्तामूलक युक्ति और ईश्वर के जन्मजात प्रत्यय पर आधारित युक्तियाँ दोनों प्रागनुभविक (अनुभव-निरपेक्ष) रूप से प्रस्तुत की गई हैं। अतः ये युक्तियाँ मौलिक रूप में एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। इस संदर्भ में एम. डब्ल्यू. कालकिन्स (M.W. Calkins) ने इसका (जन्मजात प्रत्यय संबंधी युक्ति) समावेश सत्तामूलक युक्ति के अंतर्गत कर लिया है।¹

हम देख चुके हैं कि प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति का प्रतिपादन मध्ययुग के ईसाई सन्त एन्सेल्म ने किया था। आधुनिक युग में डेकार्ट ने इस युक्ति को विकसित और परिमार्जित रूप

में प्रस्तुत किया। इस युक्ति के अनुसार हमारे मन में ईश्वर की पूर्णता का एक जन्मजात प्रत्यय विद्यमान है। हम जगत् में स्थित वस्तुओं के साथ-साथ स्वयं को भी अपूर्ण पाते हैं। यदि हमारी आत्मा में पूर्णता का प्रत्यय निहित न होता तो हम अन्य वस्तुओं को अपूर्ण नहीं कह सकते थे। डेकार्ट के अनुसार अपूर्ण वस्तु के प्रत्यय से किसी वस्तु के अस्तित्व की संभावना मात्र का प्रतिपादन किया जा सकता है। इसके विपरित पूर्ण तत्त्व के प्रत्यय से उसका अस्तित्व अनिवार्यतः सिद्ध होता है क्योंकि पूर्णता के प्रत्यय में ही उसका अस्तित्व भी सम्मिलित हो जाता है। इस युक्ति में डेकार्ट ने ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय (विचार) मात्र से उसकी सत्ता तर्कतः सिद्ध हो जाती है। अतः इस युक्ति को एक प्रागनुभविक अथवा अनुभव-निरपेक्ष तर्क (Apriori Argument) भी कहा जा सकता है।

इस युक्ति के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व और सार तत्त्व को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय (सार तत्त्व) से उसका अस्तित्व उसी प्रकार तर्कतः फलित होता है, जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय से उसकी त्रिकोणालकता (उसमें तीन कोणों का होना) तार्किक दृष्टि से सिद्ध हो जाती है। यह युक्ति ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय को जन्मजात मानती है। इसमें ईश्वर के 'अस्तित्व' को पूर्णता के प्रत्यय के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। डेकार्ट के अनुसार पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय अद्वितीय है। इसके संदर्भ में 'होना' और 'सोचा जाना' अर्थात् 'अस्तित्व' और 'सारतत्त्व' अनिवार्य रूप से अपृथक् हैं। ईश्वर का प्रत्यय स्वभावतः अनिवार्य और नित्य है। लोगों को भले ही ईश्वर का ज्ञान न हो, किन्तु उनके मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है क्योंकि यह एक जन्मजात (Innate) प्रत्यय है। इसका ज्ञान परम्पराजन्य एवं धर्मशास्त्रीय मताग्रहों पर आधारित नहीं है। ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय में उसका सभी सदगुणों से युक्त होना भी सम्मिलित हो जाता है। यदि पूर्णेश्वर के प्रत्यय में उसके अस्तित्व को सम्मिलित न किया जाय तो ईश्वर की पूर्णता बाधित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व से रहित ईश्वर अपूर्ण होगा और अपूर्ण ईश्वर को ईश्वर कहना ही आत्म-व्याघाती है। अतः पूर्णेश्वर (पूर्ण ईश्वर) के प्रत्यय से उसके अस्तित्व को पृथक् नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार यह युक्ति ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से तर्कतः ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति की समालोचना — प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति के विरुद्ध इस युक्ति के प्रारम्भ से ही अनेक आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। इनमें से एक प्रमुख आक्षेप यह है कि 'अस्तित्व' को 'गुण' नहीं कहा जा सकता है।¹ डेकार्ट की भूल यह है कि उसने अस्तित्व को भी गुण मान लिया। यदि अस्तित्व को गुण मान लिया जाय तो उसके आश्रय के रूप में एक अन्य अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी। पुनश्च यदि इस दूसरे अस्तित्व को भी गुण मान लिया जाय तो तीसरे अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी। किन्तु इस क्रम का कोई अन्त नहीं हो सकता है। अतः अस्तित्व को गुण मान लेने पर अनवस्था दोष (Fallacy of Infinite Regress) से नहीं बचा जा सकता है। वास्तव में, अस्तित्व गुणों को स्थापित करने की एक तार्किक प्रागपेक्षा (Logical Presupposition) है। सर्वप्रथम कोई वस्तु अस्तित्व में आती है। उसके पश्चात् उसमें किसी गुण का आरोपण किया जाता है। काण्ट से लेकर अस्तित्ववादियों के दर्शन पर्यन्त

प्रायः 'अस्तित्व' को गुणों और सारतत्त्व (Essence) का पूर्ववर्ती माना गया है। समकालिक विश्लेषी दर्शन में भी अस्तित्व को 'विधेय' नहीं माना गया है। अतः अस्तित्व को गुण न मानने से प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति का तार्किक औचित्य स्थापित नहीं हो सकता है।

यह युक्ति इस मान्यता पर आधारित है कि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात होता है। किन्तु हम देखते हैं कि संसार में निरीश्वरवादियों की कमी नहीं है। यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात होता तो कोई भी व्यक्ति निरीश्वरवादी न होता। इसके अतिरिक्त बालकों, मूर्खों और पागलों को ईश्वर की पूर्णता का कोई ज्ञान नहीं होता है। यह आक्षेप जन्मजात प्रत्ययों के निराकरण से सम्बन्धित है। वस्तुतः यह अनुभववादी पूर्वाग्रहों पर आधारित आक्षेप है। सत्तामूलक युक्ति एक प्रागनुभविक तर्क है। किन्तु अनुभववादी जन्मजात प्रागनुभविक ज्ञान को असंभव मानते हैं।

प्रत्यय सत्तामूलक युक्ति के प्रवर्तक सन्त एन्सेल्म के समय में उनके समकालीन विचारक गैनिलो ने इस तर्क को चुनौती दी थी। गैनिलो के तर्क का समर्थन थामस एक्विनास ने भी किया था। यही कारण है कि एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सत्तामूलक युक्ति का प्रतिपादन नहीं किया है। गैनिलो के अनुसार पूर्णद्वीप के प्रत्यय से उसके वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके उत्तर में एन्सेल्म ने पुनः गैनिलो की मान्यताओं का खण्डन करके अपने सत्तामूलक तर्क को स्थापित करने का प्रयास किया।¹

आधुनिक युग में काण्ट ने भी इस युक्ति का खण्डन किया है। काण्ट के अनुसार किसी वस्तु के प्रत्यय मात्र से उसकी वास्तविक सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है। काण्ट के अनुसार यदि किसी वस्तु के प्रत्यय मात्र से उसका अस्तित्व होता तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी जेब में सौ डालरों की कल्पना करके उन्हें प्राप्त कर लेता। वास्तव में किसी वस्तु के प्रत्यय (विचार) मात्र से उसके वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

सत्तामूलक युक्ति के समर्थकों का दावा है कि जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में तीन कोणों का होना निहित है, उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय में उसका अस्तित्व भी सम्मिलित हो जाता है। ऊपर से देखने पर यह युक्ति भले ही उपयुक्त प्रतीत होती हो, किन्तु यह एक भ्रामक दृष्टिकोण पर आधारित है। यदि कोई व्यक्ति त्रिभुज के संप्रत्यय को स्वीकार करते हुए भी 'त्रिकोणात्मकता' के संप्रत्यय को न स्वीकार करता हो तो उसके चिन्तन में अन्तर्विरोध हो सकता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति त्रिभुज और त्रिकोणात्मकता, इनमें से दोनों को न स्वीकार करे तो कोई अन्तर्विरोध नहीं होगा। सत्तामूलक युक्ति से केवल यह सिद्ध होता है कि यदि कोई पूर्ण ईश्वर है तो उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है। यदि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय को मान भी लिया जाय तो इससे ईश्वर का यथार्थ अस्तित्व (Real Existence) नहीं सिद्ध हो सकता है। अधिक से अधिक इस युक्ति से पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय, अर्थात् विचार मात्र का अस्तित्व सिद्ध होता है।

हम ने भी अस्तित्व और गुण में भेद किया है। अस्तित्व को गुण नहीं कहा जा सकता है। अन्य गुणों के समान 'अस्तित्व' किसी वस्तु के गुण का द्योतक नहीं है। पूर्ण तत्त्व के प्रत्यय

¹ देखिये इसी पुस्तक में पृ०-92.

में 'अस्तित्व' को सम्मिलित करने से उसके यथार्थ स्वरूप को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं, बल्कि काल्पनिक होगी। इसके अतिरिक्त इस युक्ति में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने से पहले ही उसे सत् मान लिया गया है। इसे एक युक्ति की सहायता से समझा जा सकता है —

जो पूर्ण है वह सत् है।

ईश्वर पूर्ण है।

अतः ईश्वर सत् है।

यदि इस युक्ति में ईश्वर के अस्तित्व को उसकी पूर्णता के प्रत्यय में पहले से ही मान लिया गया है, तो ईश्वर की सत्ता सिद्ध कहाँ हुई? यहाँ पर ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक निष्कर्ष के रूप में नहीं, बल्कि एक पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। जिस प्रकार सन्त एन्सेल्म के समकालीन गैनिलो ने सत्तामूलक युक्ति का खण्डन किया था, उसी प्रकार डेकार्ट के समकालीन गैसेन्डी ने भी इस युक्ति का खण्डन किया। गैसेन्डी के अनुसार ईश्वर की पूर्णता का प्रत्यय भले ही एक अनुपम एवं उच्चस्तरीय सत्ता से सम्बन्धित हो, तथापि इस प्रत्यय के अनुरूप वास्तविक तत्त्व का होना अनिवार्य नहीं माना जा सकता है। किन्तु जर्मन दार्शनिक हेगल और ए. केअर्ड ने इस युक्ति का समर्थन किया है। उनके अनुसार काण्ट और अन्य दार्शनिकों के द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ प्राकृतिक वस्तुओं पर भले ही लागू हों, किन्तु ईश्वर पर लागू नहीं होती है। ईश्वर की पूर्णता का प्रत्यय अनुपम है। अतः इसकी तुलना अन्य अपूर्ण एवं सीमित वस्तुओं से नहीं की जा सकती है।

यद्यपि यह युक्ति सन्त एन्सेल्म एवं डेकार्ट के समय से ही विवादास्पद रही है, तथापि दर्शन के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ आलोचकों ने इस युक्ति की व्याख्या मूल्यमीमांसीय दृष्टि से किया है। इस दृष्टि से पूर्णता के प्रत्यय से किसी भौतिक वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है। किन्तु इसके द्वारा चेतन सत्ता के अस्तित्व को निगमित किया जा सकता है। ईश्वरीय पूर्णता न तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से है और न भौतिक दृष्टि से है। उसकी पूर्णता मूल्यपरक दृष्टि से है। जिस प्रकार 'सोचने' से 'होना' (अस्तित्व) सिद्ध होता है, अर्थात् आत्मा के प्रत्यय से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से समस्त सद्गुणों के एकायन (ऐक्य) ईश्वर का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। ईश्वर का प्रत्यय (सार तत्त्व) और 'उसका अस्तित्व' ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। अन्य सीमित इकाइयों के अस्तित्व और प्रत्यय (सार तत्त्व) में भेद होता है। किन्तु ईश्वर के प्रत्यय और अस्तित्व एकार्थक हैं। ईश्वर के प्रत्यय और अस्तित्व की एकता का बोध प्रतिभान (Intuition) से ही हो सकता है। किन्तु डेकार्ट ने इसकी सम्यक् व्याख्या नहीं की है। डेकार्ट के 'प्रतिभान' में वह व्यापकता और गहराई (Depth) नहीं है जो स्पिनोजा के दर्शन में है। आगे चलकर स्पिनोजा ने प्रतिभान को ही ईश्वरीय ज्ञान का एक मात्र आधार माना।

कारणात्मक अथवा सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति (Causal or Cosmological Argument)— डेकार्ट के दर्शन में इस युक्ति के दो रूप मिलते हैं — (अ) ईश्वर को ईश्वर के प्रत्यय का कारण माना गया है। डेकार्ट के अनुसार मेरे मन में ईश्वर की सत्ता का विचार उत्पन्न होता है। इस विचार का कारण स्वयं ईश्वर ही हो सकता है क्योंकि यह एक अनन्त और

पूर्ण तत्त्वं का विचार (प्रत्यय) है। इस अनन्त सत्ता के प्रत्यय का कारण सीमित मानव-बुद्धि नहीं हो सकती है। यह युक्ति इस मान्यता पर निर्भर है कि कारण को कार्य से न्यून (निम्न स्तरीय) नहीं होना चाहिए। जहाँ सत्तामूलक युक्ति में पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय में उसके अस्तित्व को भी सम्मिलित कर लिया गया है, वहाँ इस तर्क के अन्तर्गत ईश्वर के प्रत्यय के कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है। डेकार्ट कहता है — “इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ईश्वर ने मेरी सृष्टि करते समय ही मेरे मन में इस प्रत्यय (ईश्वर है) को उसी प्रकार रख दिया जिस तरह एक श्रमिक के कार्यों की छाप उसके कार्य पर अंकित हो जाती है।”¹

(ब) इस युक्ति का एक दूसरा रूप भी मिलता है। डेकार्ट के अनुसार, “ईश्वर शब्द का अर्थ मैं एक अनन्त, नित्य, स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् द्रव्य से करता हूँ और जिसके द्वारा मेरी और अन्य वस्तुओं की, यदि वे हैं, उत्पत्ति हुई है।”² मनुष्य अपना कारण स्वयं नहीं हो सकता है। यदि मनुष्य में स्वयं को उत्पन्न करने की शक्ति होती तो वह निश्चित रूप से पूर्ण होता। किन्तु मनुष्य अपूर्ण है। अतः वह स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता है। वह अवश्य ही किसी अन्य के द्वारा पैदा किया गया है। यह अन्य तत्त्व ईश्वर ही हो सकता है। अतः ईश्वर की सत्ता है। इसके अतिरिक्त डेकार्ट सम्पूर्ण जगत् को ईश्वर की रचना मानता है। डेकार्ट की यह युक्ति कारण कार्य की शृंखला पर आधारित है। वह कहता है कि जो मेरे अस्तित्व का कारण है वह या तो अपना कारण स्वयं है अथवा किसी अन्य सत्ता पर आधारित है। कारण-कार्य की यह शृंखला अनन्त तक नहीं चल सकती है, अन्यथा अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। इस दोष से बचने के लिए एक ऐसे आदिकारण को स्वीकार करना पड़ेगा जो स्वयं कारण तो होगा, किन्तु किसी अन्य कारण का कार्य नहीं हो सकता है। यदि आदि कारण ईश्वर है।

इस युक्ति का एक पक्ष प्रयोजनमूलक दृष्टि की ओर भी संकेत करता है। डेकार्ट कहता है कि इस सृष्टि में न तो कोई वस्तु अनावश्यक है और न कोई पुनरावृत्ति है। यहाँ पर निहितार्थ यह है कि सृष्टि में एक व्यवस्था और सुनियोजन निहित है। इस व्यवस्था का कारण कोई चेतन सत्ता है। यह चेतन सत्ता ईश्वर है।

डेकार्ट के अनुसार चूँकि समस्त सृष्टि सीमित, जड़रूप और कार्य हैं, इसलिए जड़ तत्त्व स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता है। यह केवल उपादान कारण ही हो सकता है। इसी प्रकार का तर्क अद्वैतवेदान्तियों ने सांख्य की प्रकृति का खण्डन करने के लिए दिया है। अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार अचेतन तत्त्व अपने संचालन के लिए एक चेतन तत्त्व की अपेक्षा रखता है। डेकार्ट ने भी जड़ तत्त्व को उपादान कारण के रूप में स्वीकार करते हुए उसके संचालन के लिए एक निमित्त कारण (ईश्वर) की आवश्यकता पर बल दिया है। उदयनाचार्य के समान डेकार्ट ने ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्तकारण माना है। वह जगत् का उपादान कारण नहीं है।

समालोचना — यदि ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्तकारण माना जाय तो ईश्वर सृष्टि की रचना करने के लिए उपादान कारण पर आश्रित होगा। इससे ईश्वर सीमित एवं उपादान-सापेक्ष हो जाता है। किन्तु सीमित ईश्वर की अवधारणा ईश्वरवादी मान्यता के विरुद्ध है। डेकार्ट ने ईश्वर को सीमित जीवात्माओं का आदि कारण माना है। काण्ट के अनुसार

1 Meditations, III.

2 वही..

कारण-कार्य का सम्बन्ध एक बुद्धि-विकल्प है। इसका प्रयोग ईश्वर के ऊपर नहीं किया जा सकता है। बुद्धि-विकल्पों (Categories of understanding) का प्रयोग प्राकृतिक जगत् की सीमा में ही किया जा सकता है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार परमार्थ के ऊपर कारणता का प्रयोग करना एक प्रकार का अध्यास (Superimposition) है।

यदि ईश्वर को आदि कारण मान लिया जाय तो वह कारण-कार्य की शृंखला की एक कड़ी हो जायेगा। यदि उसे कारण-कार्य शृंखला की एक कड़ी माना जाय तो वह अन्य कारणों के समान ही सीमित हो जाता है। पुनश्च कारणता भौतिक जगत् पर लागू होने वाला एक सम्बन्ध है। कारण-कार्य शृंखला (Causal-Chain) की कड़ी मानने पर ईश्वर भी भौतिक हो जाता है। किन्तु सीमित एवं भौतिक ईश्वर की अवधारणा वदतोव्याधाती है। दूसरे शब्दों में, सीमित, अपूर्ण और भौतिक ईश्वर को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। यदि इस दोष से बचने के लिए यह दावा किया जाय कि ईश्वर कारण-कार्य शृंखला की कड़ी नहीं है तो अकारण-कारण दोष का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप ईश्वर को सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता है। यह युक्ति जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दी गयी है, वह उद्देश्य ही असफल हो जाता है। अतः निमित्त कारणमूलक युक्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं कर पाती है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ईश्वर और सृष्टि में आन्तरिक सम्बन्ध नहीं, बल्कि बाह्य सम्बन्ध मानता है। उसका ईश्वर इस लोक से परे, अर्थात् परात्पर है। यह मत केवल निमित्तेश्वरवाद (Deism) के नाम से जाना जाता है। इसके आधार पर ईश्वर और सृष्टि के बीच में कारण-कार्य सम्बन्ध की तर्कसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती है।

ह्यूम ने अनुभववादी सिद्धान्त के आधार पर सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति की आलोचना की है। उसके अनुसार यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रत्येक कार्य सकारण होता है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर का कारण क्या है? यदि ईश्वर को सभी कार्यों का आदि कारण माना जाय तो प्रकृति को हम आदि कारण क्यों नहीं मान सकते हैं? अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर की अपेक्षा प्रकृति को आदि कारण के रूप में स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत हो सकता है।

ह्यूम के अनुसार सम्पूर्ण कारण-कार्य शृंखला प्राकृतिक जगत् के अन्तर्गत स्थित है। अतः प्राकृतिक जगत् को एक कार्य नहीं माना जा सकता है। कारण-कार्य सम्बन्ध सांसारिक वस्तुओं में पाया जाता है। समस्त प्राकृतिक जगत् के बारे में कारण-कार्य की दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता है। ह्यूम की एक अन्य आपत्ति यह है यदि यह मान भी लिया जाय कि इस सृष्टि का कोई आदि कारण अवश्य है, तो भी यह सिद्ध नहीं होता है कि वह मूल कारण ईश्वर है। वह मूल कारण ईश्वर नहीं, बल्कि कोई जड़ सत्ता हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस सीमित और जड़-जगत् का आदि (मूल) कारण भी सीमित एवं जड़ (अचेतन) होना चाहिए। सीमित से असीमित की ओर बौद्धिक छलांग (कल्पना) निराधार है।

इस प्रकार सृष्टि-वैज्ञानिक तर्क के विरुद्ध ह्यूम और काण्ट के द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस तर्क के आधार पर निश्चित रूप से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि सृष्टि का आदि कारण ईश्वर ही है। रसल के अनुसार इस युक्ति का प्रमुख दोष यह है कि इसके अन्तर्गत प्राकृतिक जगत् के आदि-कारण की व्याख्या के लिए जिस कारण-कार्य नियम का आश्रय लिया जाता है, अनवस्था दोष से बचने के लिए उस कारण-कार्य नियम का परित्याग कर

दिया गया है। दूसरे शब्दों में, कारणात्मक दृष्टि से ईश्वर के बारे में विचार ही नहीं किया जाता है। इस युक्ति में चक्रक दोष है, क्योंकि ईश्वर के प्रत्यय का कारण ईश्वर को पहले से ही मान लिया गया है। एक ओर तो डेकार्ट ईश्वर के प्रत्यय को जन्म-जात मानता है और दूसरी ओर मानव-अनुभव के आधार पर ईश्वर के प्रत्यय का-कारण खोजने का प्रयास करता है। ईश्वर का प्रत्यय अनुभवाश्रित होने के कारण एक आगन्तुक प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि ईश्वर का प्रत्यय एक साथ ही जन्मजात और आगन्तुक कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक समाधान डेकार्ट के दर्शन में नहीं प्राप्त होता है। संभवतः इसीलिए जॉन बिजडम कहते हैं कि डेकार्ट के द्वारा दिया गया यह तर्क ईश्वर को एक वास्तविक सत्ता नहीं, बल्कि एक तार्किक संरचना (Logical Construction) बना देता है।

इससे स्पष्ट है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिया गया यह तर्क दोषपूर्ण है। किन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह युक्ति धार्मिक चेतना के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह (युक्ति) हमें सीमा से भूमा (अनन्त) की ओर ले जाती है। यदि एक बार मानव-बुद्धि की प्रगति पूर्णता की ओर हो जाती है, तो उसका ईश्वर में विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक युक्तियों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। असीम और पूर्ण होने के कारण ईश्वर को तर्कबुद्धि, भाषा और सामान्य मानव-अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है। वास्तव में, ईश्वर श्रद्धा का विषय है। डेकार्ट के द्वारा दी गई इन युक्तियों का आधुनिक दर्शन के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए धर्मशास्त्रीय प्रमाणों के स्थान पर तार्किक युक्तियों का प्रयोग किया। इसके परिणामस्वरूप आधुनिक दर्शन को एक नई दिशा मिली और बुद्धिवादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त हो गया।

बाह्य जगत् का अस्तित्व

चिन्तनशील आत्मा और पूर्ण एवं परम शुभ ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के पश्चात् डेकार्ट के लिए यह आवश्यक है कि वे बाह्य जगत् की सत्ता को भी तर्कतः सिद्ध करें। चिन्तनशील आत्मा के सिद्ध हो जाने के बाद भी यह सिद्ध नहीं होता है कि मेरा शरीर है, क्योंकि डेकार्ट के अनुसार शरीर पर सन्देह किया जा सकता है। यद्यपि हमें बाह्य जगत् से रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और ध्वनि की संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु ये संवेदनाएँ कभी धोखा भी दे देती हैं। हो सकता है कि हमारा समस्त अनुभव भ्रामक हो। इन संवेदनाओं के आधार पर बाह्य जगत् की सत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? डेकार्ट ने इस शंका का समाधान किया है। उसके अनुसार यदि ईश्वर मिथ्या जगत् को यथार्थ मानने के लिए हमें बाध्य करता है तो वह एक धोखेवाज अथवा अशुभ तत्त्व होगा। किन्तु परम शुभ एवं परम दयालु ईश्वर धोखेवाज नहीं हो सकता है। यद्यपि हमारी संवेदनाएँ यथार्थ हैं जो वास्तविक जगत् से प्राप्त होती हैं, तथापि भ्रमों (Illusions) और विभ्रमों (Hallucinations) को दूर करने के लिए ईश्वर ने हमें बुद्धि प्रदान की है, ताकि हम सत्य और असत्य में भेद कर सकें। प्रश्न उठता है कि जगत् क्या है? उसके अनुसार बाह्य जगत् एक असीम विस्तार है। भौतिक जगत् की समस्त क्रियाएँ विस्तार के ही विभिन्न विकार (Modes) हैं। डेकार्ट की जगत् विषयक अवधारणा 'गतिविज्ञान' से सम्बन्धित है। डेकार्ट ने जगत् की समस्त क्रियाओं की व्याख्या ज्यामिति एवं काल के संप्रत्ययों के आधार

पर किया है। ईश्वर ने गति और विराम (Motion and Rest) से युक्त जड़ द्रव्य (Matter) को उत्पन्न किया है। जड़ द्रव्य में गति की मात्रा सदैव समान रहती है। फ्रैंक थिली के अनुसार डेकार्ट का यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की एक प्रमुख अवधारणा — 'शक्ति के संरक्षण का नियम' (Law of the Conservation of Energy) की ओर संकेत करता है।

डेकार्ट के अनुसार जड़ द्रव्य (Matter) का गुण विस्तार स्वतः निष्क्रिय होता है। उसमें स्वतः कोई गति उत्पन्न नहीं हो सकती है। इस संदर्भ में वह प्राचीन ग्रीक परमाणुवादियों (ल्यूसिपस और डिमोक्रिटस) से असहमत है। ग्रीक परमाणुवादियों ने परमाणुओं में स्वचालित गति के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। किन्तु डेकार्ट का विस्तार स्वतः गतिशील नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि विस्तार में गतिशील होने की क्षमता अन्तर्निहित है। विस्तार के तीन आयाम — लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई हैं। डेकार्ट के दर्शन में विस्तार देश का पर्यायवाची प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन की प्रकृति जिस प्रकार पुरुष (आत्मा) के सानिध्य मात्र से क्रियाशील हो उठती है। उसी प्रकार डेकार्ट भी विस्तार को क्रियाशील (गतिशील) बनाने के लिए एक चेतन तत्त्व की आवश्यकता पर बल देता है। इसके लिए वह 'ईश्वर' का सहारा लेता है। ईश्वर ने ही जड़ द्रव्य को उत्पन्न करके उसमें गति एवं विराम को डाल (निहित कर) दिया है। किन्तु ईश्वर इस सृष्टि में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करता है। ईश्वर का सृष्टि के संचालन में अनावश्यक हस्तक्षेप न मान करके डेकार्ट सृष्टि की यान्त्रिकतावादी व्याख्या का मार्ग प्रशस्त कर देता है। सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वरीय हस्तक्षेप जगत् की यान्त्रिकतावादी अवधारणा के प्रति अन्याय है। अतः ईश्वर ने सृष्टि को एक निश्चित मात्रा में गति प्रदान किया है। डेकार्ट का ईश्वर अविनाशी एवं अपरिवर्तनशील है। अतः जगत् की सभी वस्तुएँ प्रकृति के नियमानुसार होती हैं। प्रकृति के नियम गति पर आधारित हैं। जिन वस्तुओं में उनके संगठित अंश स्थिर (विराम की अवस्था में) हैं उन्हें हम 'ठोस' वस्तुएँ कहते हैं। इसके विपरीत द्रव (तरल) वे हैं जिनके घटक (अंश) गतिशील हैं।

यद्यपि डेकार्ट का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, तथापि वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसन्धान में सफल न हो सका। वस्तुतः उसकी वैज्ञानिक अवधारणाओं पर उसकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएँ प्रभावी रही। इसके अतिरिक्त उसने भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तों को ज्यामितीय मान्यताओं से सम्बद्ध कर दिया। इन सीमाओं के होते हुए भी डेकार्ट के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को परवर्ती दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने भी अपनाया। इस विवेचन से स्पष्ट है कि डेकार्ट ने संशयकर्ता आत्मा, ईश्वर और जड़ जगत् इन तीन तत्त्वों की सत्ता का प्रतिपादन किया। यद्यपि वह अपने दर्शन का प्रारम्भ संशय से करता है¹, तथापि वह संशयवादी नहीं है। वह संशय से दार्शनिक अनुशीलन का प्रवर्तन करके आत्मा, ईश्वर और बाह्य जगत् की सत्ता के निश्चय पर पहुँचता है।

डेकार्ट के दर्शन का मूल्यांकन

आधुनिक दर्शन के लिए डेकार्ट की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसकी दार्शनिक चिन्तन की पद्धति है। उसने जिस ढँग से संशय का सहारा लेकर संशयकर्ता आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया,

वह दार्शनिक अनुशीलन का प्रतिमान (आदर्श) है। इस पद्धति ने आधुनिक दर्शन के मार्गदर्शन का कार्य किया। इस पद्धति का प्रभाव न केवल डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादियों पर पड़ा, बल्कि इसके प्रभाव से अनुभववादी दार्शनिक भी अछूते न रह सके। इस संदर्भ में यॉमस रीड ने ठीक ही लिखा है कि मेलेब्रॉश से लेकर लॉक, वर्कले और ह्यूम तक का दार्शनिक चिन्तन मूलतः डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक चिन्तन से प्रभावित रहा है। डेकार्ट की संदेह-पद्धति पर ही स्पिनोजा और लाइबनिज का दार्शनिक चिन्तन आश्रित है। डेकार्ट के द्वारा दी गई निश्चयात्मक ज्ञान की कसौटी से प्रभावित होकर लॉक और वर्कले ने भी आत्म-चेतना के विश्लेषण पर बल दिया। वस्तुतः डेकार्ट ने दार्शनिक चिन्तन का प्रारंभ ज्ञानमीमांसा से किया। वह स्पष्टता और विवेकपूर्णता को वैध ज्ञान की कसौटी के रूप में ग्रहण करता है। यद्यपि अनुभववादियों की ज्ञानमीमांसा डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित जन्मजात प्रत्ययों के खंडन से प्रारंभ होती है, तथापि अनुभववादी भी अपने दर्शन का प्रारंभ ज्ञानमीमांसीय चिंतन से करते हैं। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने ज्ञानमीमांसा के रूप में ही दर्शन को संभव माना। यद्यपि डेकार्ट की दार्शनिक मान्यताएं खंडित हो चुकी हैं, तथापि उसकी दार्शनिक पद्धति के प्रभाव की उसके परवर्ती दार्शनिक उपेक्षा न कर सके। वह अद्वैतवेदान्तियों के समान चिंतनशील आत्मा को स्वयं सिद्ध मानकर के उसे समस्त चिन्तन, संकल्प, ज्ञान, कल्पना, आदि का तार्किक आधार मानता है। चूँकि आत्मा समस्त संशयों का आधार है, इसलिए उसके अस्तित्व पर किसी प्रकार का संशय नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों ने आत्मा को समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार और ज्ञान-स्थिति (Knowledge-situation) की तार्किक प्रागपेक्षा माना है। किन्तु डेकार्ट के दर्शन की भूल यह है कि उसने आत्मा को एक सापेक्ष द्रव्य मान लिया। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि डेकार्ट का द्वैतवाद अनेक दोषों से ग्रस्त है। उसने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए हैं, वे भी दोषपूर्ण हैं। इसके बावजूद उसका प्रमुख योगदान यह है कि उसने ईश्वर के अस्तित्व को किसी धर्मशास्त्रीय मताग्रह (मान्यता) के आधार पर स्वीकार नहीं किया। वह ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तार्किक युक्तियाँ प्रस्तुत करता है। यद्यपि मध्यकाल के कुछ दार्शनिकों (जैसे — आगस्टाइन, एन्सेल्म और एक्वीनास) ने भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क दिए हैं, किन्तु ये तर्क ईसाई धर्म के रूढ़िवादी मताग्रहों की परिधि में ही सीमित हैं। इन तर्कों के प्रतिपादन में डेकार्ट किसी धर्मशास्त्रीय मताग्रह और दैवी-प्रकाशना की शरण नहीं लेता है। इसके परिणामस्वरूप मध्ययुग में धार्मिक अंधविश्वासों के कारण दर्शन के क्षेत्र में जो जड़ता आ गई थी, उसे समाप्त करने में सहायता मिली। डेकार्ट द्वारा दी गई युक्तियों के प्रभाव से परवर्ती दार्शनिकों को चर्च की परिधि से स्वतंत्र होकर दार्शनिक चिन्तन को विकसित करने की महती प्रेरणा प्राप्त हुई। इस प्रकार डेकार्ट ने दर्शन में धर्मशास्त्रीय मान्यताओं से अलग हटकर उन्मुक्त दार्शनिक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

समस्त पूर्वाग्रहों, लोक-परंपराओं भाषिक और धार्मिक मान्यताओं से उन्मुक्त होकर सत्य की खोज करना ही डेकार्ट के दर्शन का ज़रूर संदेश है। समकालीन दर्शन में हुसर्ल से लेकर गिल्बर्ट राइल पर्यन्त जो दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ, वह डेकार्ट की उपेक्षा न कर सका। हुसर्ल के द्वारा प्रतिपादित कोष्ठकीकरण की पद्धति (Epoche) डेकार्ट की संदेह पद्धति का ही एक विकसित रूप है। इसी प्रकार राइल ने अपने दर्शन में डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित आत्मा और शरीर के द्वैत की आलोचना किया। वह दोनों के भेद में कोटि-दोष का प्रतिपादन करता है। वह

इसे मशीन में प्रेत का पूर्वाग्रह कहता है। इससे स्पष्ट है कि डेकार्ट के द्वैतवाद की राइल के द्वारा की गई आलोचना से उसके दर्शन के विकसित होने में सहायता मिली। डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप, ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण मानना और उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई युक्तियाँ, ईश्वर और जगत् के संबंध की व्याख्या आदि न तो अकाट्य हैं और न निर्दोष हैं।

अनेक अनुभववादियों, बुद्धिवादियों, अस्तित्ववादियों, संवृत्ति-शास्त्रियों और विश्लेषी-दार्शनिकों ने डेकार्ट के अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की सारगर्भित आलोचना की है। इससे स्पष्ट है कि उसके द्वारा उठाई गई समस्याओं पर पाश्चात्य दर्शन में पर्याप्त विचार-विमर्श, बहस, परिचर्चा और खंडन-मंडन हुआ है। यद्यपि ईश्वर, आत्मा, जगत् आदि से संबंधित अनेक मान्यताएँ पाश्चात्य दर्शन में पहले से ही विद्यमान रही हैं, किन्तु डेकार्ट के द्वारा इन समस्याओं पर जिस दार्शनिक पद्धति से अनुशीलन किया गया, वह सर्वथा नवीन है। आधुनिक दर्शन के विकास में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः यदि डेकार्ट को आधुनिक दर्शन का प्रवर्तक (जनक) कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

(ब) स्पिनोजा (1632-1677)

स्पिनोजा का जन्म हालैंड के एम्स्टर्डम नगर में हुआ था। स्पिनोजा के पिता माइकल डी० स्पिनोजा एक संपन्न यहूदी व्यापारी थे। उसके पूर्वज रोमन कैथोलिक ईसाइयों के अत्याचार से भागकर पुर्तगाल से आये थे। स्पिनोजा की शिक्षा यहूदी विद्यालय में हुई। यहूदी होने के कारण स्वभावतः उसने यहूदी धर्मग्रंथों का अध्ययन किया। उसने अपने जीवन के प्रारंभ में पुर्तगाली, डच, स्पेनिश आदि भाषाओं को सीखा। बाद में उसने लैटिन, इटालियन और फ्रांसीसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया। उसने अनेक धर्मों, दर्शनों और संस्कृतियों के मूल तत्त्वों का अनुशीलन किया, किन्तु वह इनमें से किसी भी मत का अन्धानुकरण करने के पक्ष में न था। उसके दार्शनिक चिंता को ब्रूनो और डेकार्ट ने विशेष रूप से प्रभावित किया। उसके गंभीर चिंतन के फलस्वरूप जिस दार्शनिक त्रिचारधारा का जन्म हुआ, उसे 'सर्वेश्वरवाद' (Pantheism) कहा जाता है।

स्पिनोजा की गणना विश्व के उन महान् दार्शनिकों में की जाती है जिनका आचरण उनके चिंतन के अनुरूप था। स्पिनोजा की सर्वेश्वरवादी मान्यता के अनुसार ईश्वर और जगत् में अमेद है। अपनी इन मान्यताओं के लिए स्पिनोजा को सामाजिक बहिष्कार का दंड भोगना पड़ा। यहाँ तक कि कट्टरपंथियों ने उसके ऊपर प्राण घातक हमला भी किया। उसकी बहन ने पैतृक संपत्ति को हड़पने के लिए उसके विरुद्ध मुकदमा भी किया, किन्तु स्पिनोजा मुकदमे में विजयी रहा। बाद में, उसने अपनी संपूर्ण पैतृक संपत्ति अपनी बहन को दे दी। यहूदी मतावलंबियों द्वारा अपमानित होने पर भी स्पिनोजा ने कोई अन्य धर्म स्वीकार नहीं किया। वास्तव में उसे किसी धर्म की एकांगी और रूढ़िवादी मान्यताएँ पसन्द नहीं थीं। वह यहूदी पूजा-स्थलों पर भी नहीं जाता था। धर्म व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता पर अंकुश लगा देता है। अतः उसे कोई भी धर्म मान्य नहीं था। स्पिनोजा निःस्पृह और पवित्र विचारों वाला पुण्यात्मा था। प्रायः वह धन, पद और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति उदासीन रहता था। उसे हाइडेलबर्ग

विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर का पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया गया था, किन्तु उसने पद को स्वीकार नहीं किया। उसका जीवन अत्यंत सरल था। वह चश्मे के लेंस पर पॉलिश करके अपना जीवन-निर्वाह करता था। 21 फरवरी, सन् 1677 ई० में 44 वर्ष की अल्पायु में ही यक्ष्मा रोग से ग्रस्त स्पिनोजा का स्वर्गवास हो गया।

स्पिनोजा ने दर्शन को एक जीवन-पद्धति के रूप में ग्रहण किया। वस्तुतः वह सर्वोत्कृष्ट नैतिक जीवन पर बल देता है। स्पिनोजा-दर्शन के कटु आलोचक होते हुए भी हेगल को यह कहना पड़ा — ‘दार्शनिक होने के लिए सर्वप्रथम स्पिनोजा का शिष्य होना पड़ेगा।’ स्पिनोजा की प्रसिद्ध पुस्तक ‘एथिका’ (Ethica), अर्थात् ‘नीतिशास्त्र’ की रचना ज्यामितीय शैली में हुई है। यह ग्रंथ मूलतः लैटिन भाषा में है। इस पर ब्रूनो एवं डेकार्ट के दर्शन के साथ-साथ यूक्लिड की ‘ज्यामिति’ का गहरा प्रभाव है। वह मौलिक नियमों से अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (उपनियमों) का निगमन करता है। वस्तुतः उसने डेकार्ट की बुद्धिवादी परंपरा को ही संशोधित रूप में विकसित किया है। उसकी दार्शनिक पद्धति संश्लेषणात्मक होने की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक है। उसने डेकार्ट के दर्शन की व्याख्या करने के लिए एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना भी किया। यद्यपि स्पिनोजा डेकार्ट के ही समान द्रव्य, गुण और विकार को अपने दार्शनिक चिंतन के केन्द्र में रखता है, तथापि उसने डेकार्ट और लाइबनिज के विपरीत धार्मिक विश्वासों से स्वतंत्र रूप में अपने दर्शन को प्रस्तुत किया। स्पिनोजा द्वारा रचित अन्य ग्रंथों में ‘ट्रैक्टेटस-थियोलॉजिको-पॉलिटिकस’ (Tractatus-Theologico-Politicus) उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में उसने बाइबिल की आलोचना की है। उसका स्पष्ट मत है कि सत्य के संबंध में बाइबिल की प्रामाणिकता संदिग्ध है। वस्तुतः धर्म और सत्य दो पृथक् विषय हैं। धार्मिक ग्रंथ भौतिक चिंतन को अनुशासित नहीं करते हैं। उसके इसी ग्रंथ के कारण उसे हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) में दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष पद के लिए आमंत्रित किया गया था। किन्तु अपनी स्वतंत्रता पर अंकुश लग जाने के भय से स्पिनोजा वहाँ नहीं गया।

डेकार्ट और स्पिनोजा

स्पिनोजा डेकार्ट के इस मत से सहमत है कि सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान का स्रोत प्राप्त करने में मानव-बुद्धि सक्षम है। उसने डेकार्ट के इस सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है कि प्रतिभान से प्राप्त स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर गणितीय नियमों के समान दार्शनिक सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। वह अपने एक ग्रंथ (कॉजिटेटा-मेटाफिजिका) में डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति की उपयोगिता का विवेचन करता है। इस प्रकार स्पिनोजा डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने दर्शन को स्थापित करता है। किन्तु उसके द्वारा स्थापित निष्कर्ष डेकार्ट के दार्शनिक निष्कर्षों से भिन्न हैं। वह डेकार्ट के द्वारा प्रतिपादित द्रव्यों के द्वैत को स्वीकार नहीं करता है। यदि डेकार्ट के द्वारा दी गई द्रव्य की परिभाषा को मान लिया जाय तो चेतन आत्मा और अचेतन जड़ तत्त्व को द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने स्वतंत्र सत्ता से युक्त होने को द्रव्य की प्रमुख विशेषता माना है। यदि स्वतंत्र सत्ता ही द्रव्य का प्रमुख लक्षण है तो एक से अधिक द्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि डेकार्ट के सापेक्ष द्रव्य (चेतन आत्मा और अचेतन जड़ तत्त्व) निरपेक्ष द्रव्य (ईश्वर) पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित हैं, तो उनकी सत्ता को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः सापेक्ष, अपूर्ण,

सीमित और पराश्रित द्रव्यों को 'द्रव्य' कहना असंगत है। अतः स्पिनोजा ने केवल निरपेक्ष द्रव्य ईश्वर को ही एकमात्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। उसने चेतन और जड़ इन दोनों को द्रव्य नहीं माना है। उसने चेतन और जड़ अथवा विचार और विस्तार को एक ही निरपेक्ष द्रव्य (ईश्वर) के दो गुणों के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार स्पिनोजा द्रव्यों के द्वैत का परित्याग करके गुणात्मक द्वैतवाद की स्थापना करता है। इसके फलस्वरूप डेकार्ट का अन्तर्क्रियावाद, स्पिनोजा के समानान्तरवाद में परिणत हो जाता है। ईश्वर के अनंत गुणों में से विचार और विस्तार दोनों एक दूसरे के समानान्तर गुण हैं। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने ईश्वर को केवल सृष्टि का निमित्तकारण माना था। अतः डेकार्ट के मत को निमित्तेश्वरवाद कहा जाता है। इसके विपरीत स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी हैं क्योंकि वह ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों मानता है। इसके अतिरिक्त डेकार्ट का ईश्वर इस लोक से परे है। उसका सृष्टि से केवल बाह्य संबंध ही हो सकता है। किन्तु स्पिनोजा का ईश्वर सर्वव्यापी है। वह सृष्टि के कण-कण में अन्तर्व्याप्त है। अतः ईश्वर सृष्टि से आंतरिक रूप से संबंधित हो जाता है। चूँकि डेकार्ट के अनुसार ईश्वर सृष्टि में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप नहीं करता है, अतः डेकार्ट संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार करता है। उसे आत्म-निर्धारणवादी या संकल्प-स्वातंत्र्यवादी कहा जा सकता है। इसके विपरीत, स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद हमें नियतिवाद की ओर ले जाता है। डेकार्ट के दर्शन का प्रारंभ 'मैं सोचता हूँ' इसलिए 'मैं हूँ' से होता है। डेकार्ट के अनुसार दार्शनिक चिंतन का यह एक मौलिक सिद्धान्त है। किन्तु स्पिनोजा ने अपने दर्शन का प्रारंभ अद्वितीय और निरपेक्ष द्रव्य की परिभाषा से किया है। वस्तुतः स्पिनोजा के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का निगमन द्रव्य की परिभाषा से होता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि स्पिनोजा का दर्शन डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति पर आधारित है, तथापि दोनों दार्शनिकों के दार्शनिक दृष्टिकोणों में मौलिक अंतर है। वस्तुतः स्पिनोजा ब्रह्मों से लेकर डेकार्ट तक के दार्शनिक सिद्धान्तों एवं यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि की धार्मिक मान्यताओं का मूल्यांकन करके अपने दर्शन का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार वह एक मौलिक विचारक है।

स्पिनोजा की तत्त्वमीमांसा

द्रव्य का स्वरूप (Substance)

स्पिनोजा अपने दर्शन का प्रारम्भ निरपेक्ष द्रव्य से करता है। उसके अनुसार ईश्वर एक निरपेक्ष द्रव्य है। द्रव्य क्या है? वह कहता है — "द्रव्य वह है जो अपने में रहता है और अपने द्वारा समझा भी जाता है," अर्थात् इसके ज्ञान के लिए किसी अन्य वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है।¹

द्रव्य की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि द्रव्य अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु पर आश्रित नहीं होता है। उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार ज्यामिति में कुछ मौलिक नियमों से अनेक उपनियमों को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार स्पिनोजा के द्रव्य से उसके अन्य

1. "Substance is that which is in itself and is conceived by itself, that is, the conception of which does not need to form, from the conception of any other thing." Ethics, Part I, Definition No. 3.

दार्शनिक सिद्धान्त तर्कतः फलित होते हैं। द्रव्य की इस परिभाषा के आधार पर द्रव्य के बारे में कुछ निष्कर्ष निगमित किए जा सकते हैं।

चूँकि प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए द्रव्य पर आश्रित है इसलिए केवल द्रव्य ही अपने ऊपर निर्भर हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य स्वतन्त्र है। स्पिनोजा के दर्शन में स्वतन्त्रता का प्रयोग आत्मनिर्धारण के अर्थ में किया गया है। इस दृष्टि से द्रव्य अपने स्वभाव के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। स्पिनोजा के दर्शन में स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता नहीं है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु द्रव्य के स्वभाव से तर्कतः निगमित होती है। चूँकि द्रव्य अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर नहीं है, इसलिए यही एक मात्र परम सत्ता है। इससे स्पष्ट है कि निरपेक्ष द्रव्य ही ईश्वर है। द्रव्य की इस परिभाषा से यह भी सिद्ध होता है कि ईश्वर एक है। यदि एक से अधिक द्रव्यों की सत्ता को माना जाय तो उनकी स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। द्रव्य की अनेकता उसकी स्वतन्त्रता की बाधक है। इस प्रकार ईश्वर स्वतन्त्र, अद्वितीय एवं एक निरपेक्ष द्रव्य है। यह डेकार्ट के दर्शन की गम्भीर विसंगति है कि उसने 'स्वतन्त्र सत्ता' को द्रव्य का लक्षण मानते हुए भी एक से अधिक द्रव्यों की सत्ता का प्रतिपादन किया।

स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य प्रत्येक वस्तु का आदि कारण है। यदि द्रव्य को आदि कारण या स्वयंभू न माना जाय तो एक वस्तु दूसरी का और दूसरी वस्तु, तीसरी वस्तु का कारण होगी। इस क्रम में 'अनवस्था दोष' से नहीं बचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि द्रव्य के कारण-रूप में किसी अन्य तत्त्व को माना जाय तो द्रव्य की स्वतन्त्रता और निरपेक्षता की रक्षा नहीं की जा सकती है।

द्रव्य की परिभाषा के अनुसार द्रव्य अपने ज्ञान और अस्तित्व के लिए आत्मनिर्भर है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य स्वतः सिद्ध है। उसके ही प्रकाश से प्रत्येक वस्तु आलोकित होती है। वह सृष्टि के कण-कण में अपने को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य (ईश्वर) अन्तर्यामी है। 'द्रव्य (ईश्वर) सब में है और सब कुछ द्रव्य के अन्तर्गत है।' यह दृष्टि स्पिनोजा को सर्वेश्वरवाद की ओर ले जाती है। चूँकि स्पिनोजा का द्रव्य 'पूर्ण', अर्थात् आप्तकाम है; अतः उसे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। यदि द्रव्य को पूर्ण न माना जाय तो पुनः उसकी निरपेक्षता और स्वतन्त्रता बाधित हो जाती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि द्रव्य असीम है क्योंकि उसे सीमित करने वाली कोई वस्तु नहीं है। इसी कारण स्पिनोजा ने द्रव्य को 'अनन्त' कहा है।

चूँकि द्रव्य पूर्ण, असीम, नित्य, सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी है, इसलिए सीमित एवं अपूर्ण मानव-बुद्धि तथा भाषा के द्वारा उसका निर्वचन नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर अनिर्वचनीय है। वस्तुतः द्रव्य के निर्गुण होने से उसकी अनिर्वचनीयता भी सिद्ध होती है। स्पिनोजा का यह कथन प्रसिद्ध है — 'प्रत्येक निर्वचन निषेधालक होता है।' (Every Determination is Negation).¹

स्पिनोजा के अनुसार किसी वस्तु के गुणों का विवेचन करना उसमें अन्य गुणों का निषेध करना होता है। जैसे, जब हम कहते हैं कि गाय सफेद है, तो उसके लाल, पीला, हरा, नीला

1 Determinatio Negatio est.

आदि रंगों का निषेध हो जाता है। स्पिनोजा के अनुसार किसी वस्तु के गुणों का वर्णन करने से वह वस्तु उन गुणों से सीमित हो जाती है। चूँकि द्रव्य असीमित और पूर्ण है, इसलिए गुणों के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। इसकी तुलना शंकराचार्य के इस कथन से की जा सकती है— 'यदि सीमित (अपूर्ण) मानव असीमित ब्रह्म को समझ सकता है तो या तो उसका बोध तात्त्विक रूप में अनन्त है, अथवा ब्रह्म अनन्त नहीं हो सकता है।' अपने श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं— 'प्रत्येक शब्द किसी वस्तु का संकेत उस वस्तु की किसी न किसी जाति, गुण कर्म अथवा संबंध की किसी वृत्ति विशेष के साथ साहचर्य युक्त होकर ही कर सकता है। किन्तु ब्रह्म में कोई गुण, जाति, संबंध, कर्म आदि नहीं है।' ¹ इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य के ब्रह्म के समान स्पिनोजा का 'द्रव्य' भी अवर्णनीय है। शंकर के ब्रह्म के समान स्पिनोजा का द्रव्य भी निर्गुण है। अतः उसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता है। परमतत्त्व के निर्विशिष्ट होने के कारण स्पिनोजा और शंकर उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। किन्तु निरपेक्ष सत्ता को निर्गुण कहने का अर्थ गुणों से रहित होना नहीं है। स्पिनोजा के अनुसार परिमाण या संख्या की दृष्टि से गुण असीमित हैं, इसलिए उनकी गणना नहीं की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि अनन्त (असंख्य) गुणों से युक्त होने के कारण स्पिनोजा अपने द्रव्य को निर्गुण और अनिर्वचनीय कहता है। यही कारण है कि वह निरपेक्ष द्रव्य का संकेत करने के लिए माध्यमिक बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों के समान निषेधात्मक पद्धति का प्रयोग करता है। 'नेति-नेति' (Not this-Not this) ही स्पिनोजा के ईश्वर अथवा शंकर के ब्रह्म का सर्वोत्तम निर्वचन है। यह निर्विशिष्ट तत्त्व अपरोक्षानुभूति अथवा प्रज्ञात्मक ज्ञान (Intuitive experience) का विषय है।

ईश्वर (द्रव्य) और सृष्टि

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर और सृष्टि में अभेद (तादात्म्य) सम्बन्ध है। जगत् द्रव्य से अनन्य है। ईश्वर या द्रव्य सभी भेदों से रहित है। उल्लेखनीय है कि कुछ धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय ईश्वर में सजातीय एवं विजातीय भेद मानते हैं। जैसे — द्वैतवादी मध्वाचार्य और इस्लामी एकेश्वरवाद। किन्तु कुछ विचारक और धर्मशास्त्री ईश्वर में केवल स्वगत भेद मानते हैं। जैसे — आचार्य रामानुज और ईसाई धर्मशास्त्री। इसके विपरीत भारतीय अद्वैत वेदान्ती और स्पिनोजा के अनुसार क्रमशः ब्रह्म और निरपेक्ष द्रव्य (ईश्वर) सभी प्रकार के भेदों (सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितम्) से रहित है। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा का द्रव्य अखण्ड और अनन्त है। उसमें जो भी खण्ड या विभाग हैं, ईश्वर उनमें अन्तर्व्याप्त (अविभक्तं विभक्तेषु) है।

अपने इन विचारों के लिए स्पिनोजा को उस समय के धर्मशास्त्रियों और कट्टरपंथियों की निन्दा और आलोचना का कोपभाजन होना पड़ा। उसके द्वारा सृष्टि और ईश्वर को अभिन्न मानने के कारण कुछ आचोलकों ने स्पिनोजा को भौतिकवादी और नास्तिक कह करके उसकी निन्दा की है। वस्तुतः स्पिनोजा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके प्रत्येक घटक में एक ही ईश्वर का प्रकाश देखता है। ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। ² अतः स्पिनोजा को निरीश्वरवादी और

1 श्रीमद्भगवद्गीता पर शंकर भाष्य— 13/12.

2 (सर्व खल्विदं ब्रह्म)..

भौतिकवादी कहना पूर्वाग्रह से ग्रस्त मानसिकता और उसके दर्शन की गलत समझ पर आधारित है।

प्रश्न उठता है कि स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर और सृष्टि में क्या सम्बन्ध है? उसके अनुसार ईश्वर और सृष्टि में अभेद सम्बन्ध है। ईश्वर ही सृष्टि का कारण है, किन्तु उसने 'कारण-कार्य' पद का प्रयोग प्रचलित अर्थ में नहीं किया है। ईश्वर जगत् की रचना उस प्रकार नहीं करता है, जिस प्रकार कुम्भकार घट को बनाता है। सृष्टि की रचना में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है क्योंकि स्पिनोजा का ईश्वर पूर्ण है। अस्तु, आसकाम होने के कारण उसकी कोई इच्छा नहीं हो सकती है। ब्रह्माण्ड की सत्ता ईश्वर से परे नहीं है क्योंकि वह सृष्टि का अधिष्ठान है। स्पिनोजा की सृष्टिमीमांसा प्लॉटिनस के निष्क्रमण सिद्धान्त से भिन्न है। ईश्वर से सृष्टि का निष्क्रमण (Emanation) तर्कतः संभव नहीं है क्योंकि ईश्वर से बाहर कुछ नहीं है। निष्क्रमण तभी संभव हो सकता है, जब ईश्वर के बाहर कुछ हो। स्पिनोजा का ईश्वर असीम और सर्वगत सत्ता है। अतः ईश्वर और सृष्टि में दैशिक और कालिक सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उल्लेखनीय है कि प्लॉटिनस ने सृष्टि की रहस्यवादी व्याख्या की है। प्लॉटिनस का निष्क्रमण सिद्धान्त तार्किक होने की अपेक्षा अलौकिक अनुभूति और दैवी रहस्यवाद पर आधारित है। वह ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को रहस्यमय बना देता है। किन्तु स्पिनोजा ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या करता है। उसके अनुसार ईश्वर और सृष्टि में तार्किक सम्बन्ध (Logical Relation) है। सृष्टि ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

डेकार्ट के विपरीत स्पिनोजा ईश्वर को सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों कारण मानता है। इस दृष्टि से वह अपने ईश्वर को विभिन्न पाश्चात्य धर्मों में मान्य ईश्वर के संप्रत्यय से अलग कर लेता है। डेकार्ट के ईश्वर के समान उसका ईश्वर किसी लोकोत्तर जगत् की सत्ता नहीं है। वस्तुतः उसके बाहर कुछ नहीं है। वह सृष्टि में अन्तर्व्याप्त है। स्पिनोजा के अनुसार सृष्टि किसी दैवी चमत्कार की देन नहीं है। यह ईश्वर के स्वभाव से उसी प्रकार उत्पन्न होती है जिस प्रकार सूर्य की किरणों से प्रकाश अथवा त्रिभुज के स्वरूप से तीन कोणों का होना। इस प्रकार उसकी सृष्टिमीमांसा मध्यकालीन दार्शनिकों (सन्त आगस्टाइन एवं थामस एक्विनास) के दैवी चमत्कार पर आधारित जगत् की अवधारणा से भी भिन्न है। उसके दर्शन को सर्वेश्वरवाद (Pantheism) कहा जाता है क्योंकि उसके अनुसार सब कुछ ईश्वरमय है और ईश्वर ही सब कुछ है (All is God and God is all)। इस प्रकार ईश्वर से परे सृष्टि की कोई भी वस्तु, घटना और क्रिया संभव नहीं है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर और सृष्टि में किसी न्याययुक्ति (Syllogism) के आधार वाक्यों और निष्कर्षों के सम्बन्ध के समान तार्किक और अनिवार्य सम्बन्ध है। सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर से तर्कतः और अनिवार्यतः फलित होती है। चूँकि सृष्टि ईश्वर से स्वभावतः निगमित होती है, इसलिए यह ईश्वर का वास्तविक विकार (परिणाम) है। यहाँ पर स्पिनोजा की सृष्टिमीमांसा रामानुजाचार्य के ब्रह्मपरिणामवाद के निकट है। किन्तु उसका मत शंकराचार्य के विवर्तवाद से भिन्न है। शंकराचार्य के विपरीत स्पिनोजा सृष्टि को न तो द्रव्य का विवर्त और न मिथ्या कहता है। उसके अनुसार सृष्टि के अन्तर्गत चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से उसने ईश्वर के तीन रूपों का उल्लेख किया है —

(1) कार्य-प्रकृति या निष्क्रिय प्रकृति (Natura Naturata) — यह ईश्वर का विश्वरूप है। यह वस्तुओं की अनेकता के कार्यों का एक रूप है। इसे द्रव्य के विकारों का

जगत् कहा जा सकता है। इस स्तर पर विभिन्न वस्तुओं में भेद पाया जाता है। इसे ईश्वर का सबसे निम्नरूप कहा जा सकता है।

(2) कारण प्रकृति (Natura Naturans) — जहाँ तक ईश्वर जगत् का स्वतन्त्र कारण है, उसे विश्वात्मा कहा जाता है। यह वस्तुओं का सार्वभौम सिद्धान्त है। यह चेतन और अचेतन जगत् की आत्मा है। अतः इसे ईश्वर का विश्वात्म रूप कहा जा सकता है।¹ इसे सक्रिय प्रकृति भी कहा गया है। यहाँ पर ईश्वर को गुणों की दृष्टि से देखा जाता है। यह बुद्धि का स्तर है।

इसकी तुलना उपनिषदों के अन्तर्यामी ब्रह्म से की जा सकती है। इस दृष्टि से ईश्वर को प्रकृति की आत्मा कहा गया है। रामानुजाचार्य ने ईश्वर को ब्रह्माण्ड की आत्मा और अन्तर्नियन्ता कहा है। स्वतन्त्रता का निहितार्थ आन्तरिक आवश्यकता (अनिवार्यता) के अनुसार कार्य करना है। जहाँ तक ईश्वर स्वतन्त्र कारण है, उसे विश्वात्मा (Natura Naturans) कहा गया है। सक्रिय प्रकृति की दृष्टि से ईश्वर को विश्वात्मा और जगत् के रूप में प्रकट निष्क्रिय तत्त्व को विश्व रूप कहा गया है।¹

(3) पररूप (Ens Absolutum Indeterminatum) — इसके अन्तर्गत गुणों और विकारों से स्वतन्त्र रूप में, अर्थात् शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया जाता है। शरीर और आत्मा के सीमित रूप में प्रतीत होने वाला निर्विशिष्ट (निर्गुण) और अनिर्वचनीय तत्त्व ईश्वर का पर रूप है। इसका ज्ञान काल्पनिक और बौद्धिक दोनों ही दृष्टियों से असंभव है। दूसरे शब्दों में, इसे इन्द्रियानुभव और संश्लेषणात्मक बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता है। इसका बोध केवल 'प्रज्ञा' (Intuition) के द्वारा ही हो सकता है। यह विशुद्ध अभेद की अवस्था है जिसके अन्तर्गत ज्ञान और अनुभूति की एकता स्थापित हो जाती है। यह अवर्णनीय और निर्गुण है। इससे स्पष्ट है कि पर द्रव्य ईश्वर का सर्वोच्च रूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्पिनोजा के दर्शन में द्रव्य, ईश्वर और प्रकृति इन तीनों पदों का प्रयोग एकार्थक है। स्पिनोजा का द्रव्य सत् होने के साथ-साथ शुभ भी है, क्योंकि यही जीवन का परम श्रेय है। इसके स्वरूप का साक्षात्कार करना ही मनुष्य की सच्ची स्वतन्त्रता और बन्धनों से मुक्ति है। स्पिनोजा का द्रव्य अरस्तू के द्रव्य से भिन्न है। अरस्तू का ईश्वर आकारों का आकार है जो केवल एक तार्किक संप्रत्यय (Logical Concept) है। उल्लेखनीय है कि अरस्तू अपनी विभिन्न कोटियों के अन्तर्गत द्रव्य (Substance) को एक महत्त्वपूर्ण कोटि मानता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाता है। इसके विपरीत स्पिनोजा का द्रव्य एक तत्त्वमीमांसीय संप्रत्यय है जिसके द्वारा जगत् की विभिन्न वस्तुओं की व्याख्या की जाती है। उसके दर्शन में द्रव्य की परिभाषा से ही अन्य सिद्धान्तों का भी तार्किक निगमन किया गया है। इसकी तुलना सांख्य की प्रकृति से भी की जा सकती है, क्योंकि सांख्य दर्शन में भी प्रकृति से ही उसके महत्, अहंकार, मन, तन्मात्राएँ और पंचमहाभूत आदि तर्कतः विकसित होते हैं। सांख्य की प्रकृति भी अपने विकारों में व्याप्त है, किन्तु प्रकृति से स्वतन्त्र रूप में पुरुष की सत्ता को स्वीकार करके सांख्य द्वैतवादी हो जाता है। इसके विपरीत स्पिनोजा ने द्रव्य के अन्तर्गत ही 'अचेतन विस्तार' के साथ-साथ 'चेतन विचार' को भी सम्मिलित कर लिया है। अतः स्पिनोजा द्वैतवाद का अतिक्रमण कर जाता है।

द्रव्य की पूर्णता से उसका आनन्द स्वरूप होना भी सिद्ध होता है। किन्तु वह मानवोचित गुणों (जैसे-करुणा, क्षमा, प्रेम, कृपा आदि) का आरोपण द्रव्य पर नहीं करता है। वह निर्विकार और निराकार तत्त्व है, जिसे ईश्वर भी कहा जाता है। स्पिनोजा ने यदि द्रव्य के लिए “ईश्वर” पद का प्रयोग न किया होता तो इसका वास्तविक स्वरूप दुर्बोध होता। इस प्रकार वह एक काल्पनिक वस्तु हो जाता। उसे लोग परमश्रेय न समझ पाते। इसके अतिरिक्त दार्शनिक चिन्तन को सरस, आनन्दपूर्ण और कल्याणकारी बनाने के लिए भी उसे ईश्वर से जोड़ना आवश्यक होता है। संभवतः इसीलिए तत्त्वमीमांसीय विवेचन से संबन्धित होते हुए भी स्पिनोजा ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का नाम नीतिशास्त्र (Ethica) रखा। ईश्वर के पूर्णत्व की अवधारणा स्पिनोजा को मूल्यवादी बना देती है। जिस प्रकार ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य, परम सत्ता और पर रूप (Ens Absolutum Indeterminatum) है, उसी प्रकार वह परम मूल्य भी है। वह ईश्वर के प्रति “बौद्धिक प्रेम” की बात भी करता है। किन्तु उसने ईश्वर में मानवारोपित गुणों और मूल्यों का निषेध किया है। इस प्रकार उसने ईश्वर को मानवोचित दोषों एवं अपूर्णताओं से मुक्त करके एक सार्वभौम धर्म को ठोस आधार प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया। परन्तु प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के पूर्वाग्रहों के कारण उसे सही परिप्रेक्ष्य में बहुत दिनों तक न समझा जा सका।

गुणों का स्वरूप (Attributes)

यद्यपि स्पिनोजा ने अपने द्रव्य को निर्गुण कहा है, तथापि वह द्रव्य को पूर्ण अर्थात् सर्वगुणसंपन्न मानता है। द्रव्य अनन्त गुणों से युक्त है। यहाँ गुणों से तात्पर्य द्रव्य के अनिवार्य धर्मों से है। स्पिनोजा के द्वारा दी गई गुण की यह परिभाषा विवादास्पद रही है। वह कहता है — “गुणों से मेरा अभिप्राय वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का सारतत्त्व समझती है।”¹

यदि द्रव्य में सीमित गुण होते तो द्रव्य भी सीमित होता। किन्तु चूँकि द्रव्य असीमित है, इसलिए स्वभावतः द्रव्य अनन्त गुणों से युक्त है। इन अनन्त गुणों में से केवल दो गुण ही मनुष्य को ज्ञात हो सकते हैं। ये दोनों गुण विचार और विस्तार हैं। विचार और विस्तार एक दूसरे से भिन्न गुण हैं। वे दोनों दो स्वतन्त्र गुण हैं। किन्तु एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी वे परस्पर अवियोज्य हैं, क्योंकि प्रत्येक गुण ईश्वर के सारतत्त्व को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक गुण में अपने प्रकार की अपरिच्छिन्नता निहित है।

स्पिनोजा के द्वारा दी गई गुण की पूर्वोक्त परिभाषा विवाद का विषय रही है। इसको लेकर उसके आलोचकों के दो वर्ग हैं —

(i) प्रत्ययवादी व्याख्याकारों के अनुसार ये गुण वास्तव में ईश्वर में नहीं हैं। मानव-बुद्धि इन गुणों को ईश्वर में आरोपित कर देती है। हेगल, एर्डमन (Erdman) और जान केयर्ड गुणों की प्रत्ययवादी व्याख्या करते हैं। वे गुण की परिभाषा के ‘बुद्धि समझती है’ (Intellect Perceives) इस अंश पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार ये गुण वास्तव में द्रव्य में नहीं हैं, बल्कि हमारी बुद्धि के द्वारा ऐसा समझ लिया जाता है कि वे द्रव्य में हैं। हेगल और एर्डमन अपने मत के पक्ष में स्पिनोजा के उस कथन का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार द्रव्य निर्गुण या निर्विशिष्ट (Indeterminate) और अनिर्वचनीय है। स्पिनोजा ने द्रव्य के बारे में प्रत्येक निर्वचन

1 ‘By attribute, I mean that which the intellect perceives as constituting the essence of substance’ — Ethics, Part I, Def. 4.

को निषेधात्मक कहा है। हेगल के अनुसार निर्गुण ईश्वर सगुण (गुणों से युक्त) कैसे हो सकता है? वस्तुतः निर्गुण ईश्वर को गुणों से युक्त कहना आलव्याघाती होगा। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य गुणों से रहित है। ये गुण हमारी बुद्धि के द्वारा कल्पित कर लिए जाते हैं, जिन्हें द्रव्य के ऊपर आरोपित कर दिया जाता है।

(i) स्पिनोजा— दर्शन के यथार्थवादी व्याख्याकारों ने गुण की परिभाषा के 'द्रव्य का सारतत्त्व' (Constituting the Essence of Substance) इस अंश पर विशेष बल दिया है। इस मत के प्रमुख समर्थक कुनोफिशर (Kuno Fisher) हैं। फिशर के अनुसार गुण ईश्वर में वास्तव में पाये जाते हैं। चूँकि स्पिनोजा ने गुणों को ईश्वर (द्रव्य) का सारतत्त्व या नित्य लक्षण कहा है, इसलिए उन्हें द्रव्य का वास्तविक धर्म कहना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यद्यपि स्पिनोजा ने कहा है — 'प्रत्येक गुण निषेधात्मक होता है', तथापि इसका निहितार्थ यह नहीं हो सकता है कि द्रव्य निर्विशेष अथवा गुणों से रहित है। ऐसा द्रव्य जो समस्त गुणों से रहित, अर्थात् शून्य होगा, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। द्रव्य के अन्तर्गत केवल मानवारोपित गुणों का ही निषेध किया जा सकता है। वास्तव में द्रव्य के संदर्भ में गुणों की चर्चा साधारण भाषा और सामान्य मानव-अनुभव के द्वारा नहीं की जा सकती है। ईश्वर को निर्गुण कहने का निहितार्थ यह है कि ईश्वर असीम है। अतः गुणों से उसे सीमित नहीं किया जा सकता है।

स्पिनोजा दर्शन की ये दोनों व्याख्याएँ क्रमशः प्रत्ययवादी और यथार्थवादी पूर्वाग्रहों से प्रेरित प्रतीत होती हैं। वस्तुतः स्पिनोजा के युग में प्रत्ययवाद और यथार्थवाद के बीच का विवाद इतना अधिक व्यापक न था, जितना कि हेगल और उसके परवर्ती काल में हुआ। स्पिनोजा का दर्शन पारिभाषिक अर्थ में न तो प्रत्ययवादी है और न यथार्थवादी (वस्तुवादी) है। उसने विचार और विस्तार नामक इन दोनों गुणों का उल्लेख द्रव्य के अंतर्गत किया है। इनमें से किसी एक गुण को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता है। ये दोनों गुण समान स्तरीय हैं। वस्तुतः हेगल स्पिनोजा के कटु आलोचक थे क्योंकि हेगल के अनुसार निरपेक्ष प्रत्यय (सत्ता) भेद से विशिष्ट अभेद है। निर्विशिष्ट सत्ता का उसके दर्शन में कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि हेगल ने स्पिनोजा के दर्शन पर व्यंग्य और कटाक्ष किया है। दूसरी ओर कुनोफिशर ईसाई धर्म के मताग्रहों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सृष्टि वास्तविक है और ईश्वर के होते हुए भी स्पिनोजा सृष्टि को यथार्थ मानता है। यद्यपि यह सच है कि स्पिनोजा सृष्टि को ईश्वर का वास्तविक विकार (परिणाम) मानता है, किन्तु वह सृष्टि को उस रूप में नहीं स्वीकार करता है जिस रूप में यहूदी, ईसाई और इस्लामी धर्मशास्त्री उसे ईश्वर की रचना मानते हैं। हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि स्पिनोजा के अनुसार सृष्टि न तो ईश्वरीय निष्क्रमण है और न दैवी चमत्कार का परिणाम है। यह ईश्वर के स्वभाव से तर्कतः निगमित होती है।

वस्तुतः स्पिनोजा के दर्शन में गुणों को द्रव्य के विभिन्न पहलुओं (Aspects) के रूप में माना जा सकता है। इस दृष्टि से विचार और विस्तार ये दोनों गुण निरपेक्ष द्रव्य के दो पहलू हैं। उल्लेखनीय है कि द्रव्य में इन दोनों पहलुओं के साथ-साथ दूसरे अनेक पहलू (गुण) भी होते हैं। परन्तु मनुष्य इनमें से केवल दो गुणों (विचार और विस्तार) को ही जान सकता है, क्योंकि ये दोनों गुण मनुष्यों में भी पाये जाते हैं। इन दोनों गुणों के पारस्परिक संबंधों के ज्ञान के आधार

पर हम अन्य गुणों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि द्रव्य के अन्य गुणों को मनुष्य नहीं जान सकता है, तथापि उन्हें न जानने से कोई विशेष हानि नहीं होती है। केवल दो गुणों के ज्ञान तथा उनके पारस्परिक संबंधों के बोध से द्रव्य की सम्यक् अवधारणा की जा सकती है। इस प्रकार द्रव्य के नित्य लक्षणों (गुणों) के पारस्परिक संबंधों के ज्ञान के लिए कम से कम दो नित्य लक्षणों (गुणों) का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक गुण में द्रव्य का प्रकाश है अर्थात् द्रव्य प्रत्येक गुण में स्वयं को अभिव्यक्त करता है।

स्पिनोजा ने द्रव्य और गुण के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया है। प्रथम नित्य दृष्टि अथवा पारमार्थिक दृष्टि (Sub-specie Aeternitatis) से द्रव्य (ईश्वर) निर्विशेष है। उसमें अनन्त गुण हैं, अर्थात् वह पूर्ण है। अतः सीमित मानव-बुद्धि एवं भाषा के द्वारा उसका विवेचन और मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से ईश्वर अनिर्वचनीय है। द्वितीय अनित्य दृष्टि (Sub-Specie Temporis) से यह सृष्टि वास्तविक है। गुणों की अभिव्यक्ति द्रव्य की स्वाभाविक क्रियाशीलता का परिणाम है। द्रव्य नित्य परिणामी या विकारवान है। स्पिनोजा के इन दोनों दृष्टिकोणों की पुष्टि उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा से भी होती है। वह समस्त लौकिक ज्ञान को काल्पनिक ज्ञान कहता है। द्वितीय स्तर पर बौद्धिक ज्ञान आता है। यह ईश्वर के विश्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान का सर्वोच्च स्तर प्रज्ञात्मक ज्ञान है जिसमें ईश्वर के निर्विशिष्ट (निर्गुण) रूप का साक्षात्कार होता है। यही परमशुभ (ईश्वर) के साक्षात्कार की अवस्था है। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा के गुण-सिद्धान्त की प्रत्ययवादी (हेगल) और यथार्थवादी (कुनोफिशर) दार्शनिकों के द्वारा की गई व्याख्याएँ एकांगी हैं। यद्यपि स्पिनोजा दर्शन के वस्तुवादी व्याख्याकार कुनोफिशर के द्वारा की गई व्याख्या स्पिनोजा के साथ न्याय करती है, तथापि उनकी व्याख्या भी ईसाई धर्म के मताग्रहों पर आधारित है। वे स्पिनोजा के दर्शन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण नहीं करते हैं। हम प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि स्पिनोजा किसी विशिष्ट धर्मशास्त्रीय मताग्रह को स्वीकार नहीं करता है। वह ईश्वर में मानव-बुद्धि के द्वारा परिकल्पित गुणों और मूल्यों का निषेध करता है। वस्तुतः 'वह किसी विशिष्ट धर्म का नहीं, बल्कि एक सार्वभौम धर्म (Universal Religion) को सबल आधारशिला पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है।

(स) विकारों अथवा पर्यायों का सिद्धान्त (Theory of Modes)

स्पिनोजा के अनुसार अनिवार्य गुणों के अतिरिक्त द्रव्य में कुछ आगंतुक धर्म भी होते हैं। ये आगंतुक धर्म द्रव्य के नित्य लक्षण नहीं हैं, क्योंकि ये पराश्रित होते हैं। स्पिनोजा के अनुसार विकार द्रव्य की परिवर्तित आकृतियाँ हैं। विकार वह है जो दूसरों पर आश्रित होता है और उसके द्वारा समझा भी जाता है।¹

इस दृष्टि से विकारों की सत्ता द्रव्य पर निर्भर है। विकार द्रव्य के आगंतुक लक्षण हैं। वे गुणों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। प्रश्न उठता है कि विकारों को द्रव्य पर आश्रित क्यों माना जाए? यदि विकारों को एक-दूसरे पर निर्भर माना जाय तो उनकी परस्पर निर्भरता 'इतरेताश्रय दोष' (Fallacy of Interdependence) की ओर ले जाती है। इसके

अतिरिक्त यदि एक विकार को दूसरे विकार पर और दूसरे विकार को तीसरे पर आश्रित माना जाय तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। यदि विकारों का आश्रय द्रव्य को मान लिया जाय तो इन दोषों से बचा जा सकता है।

स्पिनोजा द्रव्य के अस्तित्व और सारतत्त्व को अभिन्न मानता है। इसके विपरीत वह विकारों के अस्तित्व और उसके सारतत्त्व को एक-दूसरे से भिन्न मानता है। जहाँ द्रव्य एक और अद्वितीय है, वहीं विकार अनेक हैं। द्रव्य नित्य, असीम, पूर्ण, उद्भव और विनाश से रहित एवं सामान्य हैं। इसके विपरीत विकार अनित्य, सीमित, अपूर्ण, उत्पन्नधर्मी एवं नष्ट होने वाले तथा विशेष हैं। यद्यपि ये विकार उत्पन्नधर्मी एवं विनाशशील हैं, तथापि कभी भी उनका अभाव नहीं पाया जाता है। स्पिनोजा द्रव्य को नित्य विकारवान् मानता है। नित्य विकारवान् होना द्रव्य के स्वभाव में अन्तर्निहित है। इस दृष्टि से स्पिनोजा का द्रव्य शंकराचार्य के निर्विकारी एवं अपरिणामी ब्रह्म से भिन्न है। यहाँ पर वह रामानुजाचार्य के परिणामी ब्रह्म के कुछ निकट है। उल्लेखनीय है कि स्पिनोजा के दर्शन में सृष्टि के उद्भव और प्रलय की स्थितियाँ संभव नहीं हैं क्योंकि द्रव्य (ईश्वर) नित्य विकारवान् अर्थात् सृष्टि करने की अवस्था में स्वभावतः रहता है। जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति मात्र से प्रकाश की किरणों का निकलना एवं अग्नि में ज्वलनशीलता का होना स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार द्रव्य से विकारों का होना तर्कतः सिद्ध होता है। यहाँ पर स्पिनोजा का मत उन भारतीय दार्शनिकों से भिन्न है जो सृष्टि के उद्भव, स्थिति एवं प्रलय की अवस्थाएँ मानते हैं।¹

स्पिनोजा विकारों के स्वरूप पर भी दो दृष्टियों से विचार करता है। एक दृष्टि से विकार परिवर्तनशील हैं। वैयक्तिक दृष्टि से विकार उत्पन्न होते हैं, कुछ देर तक बने रहते हैं और अन्ततः नष्ट हो जाते हैं अथवा द्रव्य में लीन हो जाते हैं। इस दृष्टि से विकार साक्षात् द्रव्य या प्रकृति से अनिवार्य रूप से संबंधित हैं। ईश्वर के शरीर के रूप में विकार असीम और नित्य हैं। वैयक्तिक दृष्टि से वे सीमित और विनाशी (अनित्य) हैं। चेतना के रूप में बुद्धि और संकल्प नित्य विकार हैं। किन्तु विविध जीवों के रूप में सीमित और अनित्य हैं। इसी प्रकार विस्तार के रूप में गति और स्थिति असीमित एवं नित्य विकार हैं, किन्तु अनेक जड़ पदार्थों के रूप में वे सीमित एवं अनित्य हैं। विकार के इन दोनों रूपों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि दोनों का ही आश्रय द्रव्य है। प्रत्येक विकार वास्तविक है क्योंकि उसमें एक ही द्रव्य का प्रकाश है। ईश्वर न केवल अस्तित्वयुक्त वस्तुओं का कारण है, बल्कि उनके शाश्वत् रूप से अस्तित्व में बने रहने का भी आधार है।² प्रत्येक विकार का अंतिम कारण ईश्वर है। प्रत्येक सीमित और सोपाधिक वस्तु अन्य सोपाधिक एवं अस्तित्वयुक्त वस्तुओं के द्वारा ही सीमित है। यह ईश्वर के किसी गुण के निरपेक्ष स्वरूप के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती है।³ स्पिनोजा के अनुसार काल-सापेक्ष कारणता केवल विकारों पर आधारित होती है। यद्यपि द्रव्य को ही नित्य

1 इसकी तुलना न्याय-वैशेषिक एवं वेदान्त के 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र पर शांकरभाष्य से की जा सकती है। स्पिनोजा का मत इन दार्शनिकों के सृष्टि सम्बन्धी मत से भिन्न है। वह सृष्टि के उद्भव और प्रलय के चक्र को नहीं स्वीकार करता है।

2 Ethics, Part I, Prop. XX. IV.

3 Ethics, Part I, Prop. XXVIII.

कहा गया है, तथापि उसके लिए कालपरक संबंध असंगत है। नित्यत्व की व्याख्या काल के द्वारा नहीं की जा सकती है और न काल के साथ इसका कोई संबंध हो सकता है।¹

यद्यपि विभिन्न विकारों के कारण अन्य विकार हैं, तथापि इन सभी विकारों का अंतिम कारण द्रव्य है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक विकार अनिवार्यतः अपने पूर्ववर्ती विकार से फलित होता है, न कि आपातिक रूप से। यद्यपि स्पिनोजा ईश्वर और विकार दोनों के लिए 'कारण' शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु उसने दोनों संप्रत्ययों में भेद किया है। ईश्वर विकारों का एक तार्किक आधार (Logical Ground) है। इस कारण ईश्वर काल-निरपेक्ष है। जबकि विकार के संदर्भ में 'कारण' शब्द का प्रयोग काल-सापेक्ष रूप में किया गया है। ईश्वर का संबंध प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों से है और विकार का संबंध तथ्यों से है। इस प्रकार ईश्वर किसी कालिक-विकार (कार्य) का निकटवर्ती कारण नहीं है। वस्तुतः स्पिनोजा के दर्शन में समानान्तरवाद के माध्यम से ही कारणता का नियम कार्य करता है। वैचारिक विकारों की शृंखला के समानान्तर ही वैस्तारिक विकारों की शृंखला का प्रतिपादन किया गया है।

स्पिनोजा के दर्शन में उल्लिखित यह कथन — 'प्रत्येक विकार द्रव्य है', दर्शन जगत् में कटु आलोचना का विषय रहा है। उसके कुछ आलोचकों (जैसे — केयर्ड) ने यह आरोप लगाया है कि जिस स्पिनोजा के दर्शन का प्रारंभ एक अद्वितीय द्रव्य से हुआ, उसी का अंत विकारों की अनेकता में हुआ। इस प्रकार उसके दर्शन के आदि और अंत में सामंजस्य का अभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः स्पिनोजा के आलोचकों ने उसके दर्शन में मान्य दो दृष्टियों के भेद की उपेक्षा की है। नित्य दृष्टि से स्पिनोजा केवल एक द्रव्य की सत्ता को ही मानता है। वस्तुतः द्रव्य की परिभाषा से ही उसने अपने समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का निगमन किया है। अनित्य दृष्टि से अनेक जीवात्माओं और वस्तुओं के रूप में विकारों की अनेकता दिखाई पड़ती है। स्पिनोजा के दर्शन में नित्य और अनित्य दृष्टि का यह भेद क्रमशः अद्वैत-वेदान्त की पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता के समान है। यदि इस दृष्टिभेद के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो उसके दार्शनिक चिंतन के आरंभ और अंत में कोई अंतर्विरोध नहीं है।

स्पिनोजा के विरुद्ध हेगल का यह आक्षेप भी उल्लेखनीय है कि "स्पिनोजा का ईश्वर उस सिंह की गुफा के समान है, जहाँ अनेक जानवरों के अंदर जाने के पद-चिन्ह तो दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उनके बाहर आने के कोई पद-चिन्ह नहीं दिखाई पड़ते।" हेगल की इस आलोचना का निहितार्थ यह है कि विकारों से द्रव्य का अस्तित्व तो सिद्ध होता है, किन्तु द्रव्य को स्वीकार कर लेने पर विकारों का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार स्पिनोजा का द्रव्य सर्वग्रासी है, अर्थात् बड़े सिंह की तरह सब कुछ निगल जाता है। हेगल की इस आलोचना का निहितार्थ यह है कि स्पिनोजा ईश्वर से विकारों की उत्पत्ति की तार्किक व्याख्या नहीं कर पाता है। अतः सभी भेदों एवं गुणों से रहित निर्विशेष ईश्वर कोरी कल्पना मात्र है। इसे एक वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु हेगल के द्वारा की गई यह आलोचना उसके दार्शनिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। वस्तुतः हेगल निर्विशिष्ट एवं विशुद्ध अभेद को एक वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार निर्विकल्प अनुभूति और रहस्यवादी साधना एक विकृत मानसिकता की उपज है।¹ हेगलीय दृष्टि से शंकराचार्य और स्पिनोजा के द्वारा

प्रतिपादित निर्विशिष्ट चैतन्य और विशुद्ध अभेद रूप सत्ता कोरी-कल्पना मात्र है, वस्तु सत् नहीं। किन्तु हेगल का यह आक्षेप अतिशयोक्तिपूर्ण है।

हेगल के द्वारा की गई यह आलोचना इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि स्पिनोजा का द्रव्य निर्विकार और अपरिणामी है। स्पष्ट है कि यह निष्कर्ष स्पिनोजा-दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध जाता है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य नित्य विकारवान् है। द्रव्य स्वभावतः क्रियाशील है। अतः द्रव्य से विकारों की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती रहती है। स्पिनोजा का विकार-सिद्धान्त उसकी बुद्धिवादी मान्यताओं पर आधारित है। यह ज्यामितीय पद्धति से द्रव्य एवं जगत् की व्याख्या करके अपने दर्शन की स्थापना करता है। किन्तु गणितीय पद्धति को अपनाते हुए भी वह वस्तु तथ्य की अपेक्षा नहीं करता है। वस्तुतः वह न तो विकारों को भ्रामक अथवा मिथ्या मान सकता है (जैसा कि अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं) और न उन्हें अंतिम रूप से सत् अर्थात् निरपेक्ष द्रव्य के समान स्वतंत्र सत्ता मानता है। (जैसा कि अनेकान्तवादी और द्वैतवादी मानते हैं)। यही स्पिनोजा के दार्शनिक चिंतन की विशिष्टता है जो उसे विश्व के एक अत्यंत मौलिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

बन्धन और मुक्ति (स्वतंत्रता) (Bondage and Freedom)

स्पिनोजा के अनुसार मनुष्य स्वतंत्र है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ अपने स्वभाव-नियत कर्म को करना है। वैचारिक दृष्टि से मनुष्य की स्वतंत्रता तर्कसंगत कर्म करने में निहित है। इन्द्रियानुभव, भावना, वासना एवं कल्पना के वशीभूत होकर कर्म करना ही मनुष्य का बंधन (पराधीनता) है। अतः काल्पनिक ज्ञान के द्वारा संचालित कर्म बंधन-कारक हैं। ये कर्म मनुष्य की परतंत्रता के द्योतक हैं। मनुष्य केवल अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करने में स्वतंत्र है। अतः मानव-स्वतंत्रता न तो पराधीनता है और न अराजकता (स्वेच्छाचारिता)। यदि मनुष्य अपने स्वभाव के अतिक्रमण करता है अर्थात् अपने स्वभाव के विरुद्ध कर्म करता है तो वह या तो बंधन में हो जाता है अथवा वह अराजक और स्वेच्छाचारी बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा के अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता (मुक्ति) युक्तिसंगत बौद्धिक चिन्तन और प्रातिभ ज्ञान के अनुरूप जीवन व्यतीत करने में निहित है।

शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की स्वतंत्रता शारीरिक तत्त्व के अनुसार कार्य करने में है। जब मनुष्य बाह्य पिंडों से प्रभावित होकर भावनाओं, संवेगों, वासनाओं आदि को अपने में पैदा कर लेता है, तो वह पराधीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वासनात्मक प्रेम, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वश में होकर किए गए कर्म मनुष्य को पराधीन बना देते हैं। इस कारण स्पिनोजा संयमित जीवन अथवा बुद्धि के द्वारा वासनाओं के नियमन (दमन) पर विशेष बल देता है। इसी में मानव जीवन का कल्याण और मुक्ति निहित है। मनुष्य के पूर्णत्व और स्वतंत्रता का तात्पर्य ईश्वर के प्रति स्थिर एवं नित्य प्रेम से है। इसी से मानवात्मा को परम संतोष प्राप्त होता है और परम संतोष ही परम आनन्द देने वाला है। यह स्थिति प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge) की अवस्था में ही प्राप्त हो सकती है। यह अवस्था ज्ञान और अनुभूति की एकता का द्योतक है। इसका सार तत्त्व ईश्वर-साक्षात्कार है। इस अवस्था में साधक और साध्य का भेद मिट जाता है। सृष्टि का कण-कण, मनुष्य मात्र ही नहीं, बल्कि प्राणि-मात्र में ईश्वर का प्रकाश दिखाई पड़ता है। यह सीमा

का भूमा (अनंत) से मिलन है। इस अवस्था में मन राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे हो जाता है। ऐसे मुक्त आत्मा के लिए जड़ एवं चेतन ईश्वर की शरीर होने के कारण यंत्रवत् हो जाते हैं। स्पिनोजा के दर्शन में विश्व की व्यवस्था यांत्रिक है। इसकी तुलना भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ से की जा सकती है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञता की अवस्था में मनुष्य ईश्वरेच्छा से प्रेरित होकर सत्कर्मों को यंत्रवत् करने लगता है। ऐसा साधक व्यावहारिक दृष्टि से भले ही कर्म करता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से वह कोई भी कर्म नहीं करता है। इस अवस्था में अशुभ कर्म नहीं हो सकते हैं। शुभाशुभ का द्वन्द्व शाश्वत शुभ में शान्त हो जाता है। उसके बाद पुनः अशुभ कार्य करना असंभव है। स्पिनोजा और गीता दोनों के अनुसार निकट वासनाओं के वशीभूत होकर किए गए कर्म सबे अर्थों में स्वतंत्र नहीं है। इस अवस्था में केवल सत्कर्म करना ही एकमात्र विकल्प है। किन्तु कुछ आलोचक इसको कर्म-स्वातन्त्र्य नहीं कहते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग केवल सत्कर्म करने को ही इस अवस्था में सच्ची स्वतंत्रता मानते हैं। यह सिद्धान्त स्पिनोजा को नियतिवाद की ओर ले जाता है। वस्तुतः स्पिनोजा का नियतिवाद उसके सर्वेश्वरवाद का तार्किक परिणाम है। स्पिनोजा के अनुसार विश्व में कोई प्रयोजन नहीं है। मानव अपने दृष्टिकोण से स्वभावतः इतिहास में प्रयोजन देखता है क्योंकि मनुष्य के प्रत्येक कर्म का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। स्पिनोजा के अनुसार विश्व और मनुष्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिशील और क्रियाशील नहीं है, बल्कि वे गतिशील एवं क्रियाशील इसलिए हैं कि उन्हें ऐसा होना ही है। वे वही कर रहे हैं जो उन्हें करना है। इससे स्पष्ट है कि स्पिनोजा संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता है। प्रकृति में नियतिवाद है। मनुष्य की आत्मा दैवी विचार का विकार मात्र है। प्रत्येक विकार दूसरे निकटवर्ती विकारों में स्थित है। प्रत्येक मानसिक और भौतिक घटना की अपने-अपने संदर्भ में ही समुचित व्याख्या की जा सकती है। संकल्प का निर्णय और शरीर की गति एक ही तत्त्व से संबंधित हैं, जो दो संदर्भों में दो नामों से पुकारी जाती हैं। इस प्रकार निर्णय (वैचारिक) और कार्य (वैस्तारिक) एक ही घटना के दो भाग हैं। मनुष्य मोहवश अपने को स्वतंत्र मानता है। अज्ञान और आसक्ति पर आधारित यह स्वतंत्रता वैसी ही है, जैसी कि एक पत्थर को अपने फेंके जाने पर चेतना हो जाने के कारण स्वतंत्रता की प्रतीति हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि यदि नियतिवाद को स्वीकार किया जाय तो नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की स्वतंत्रता की व्याख्या कैसे की जा सकती है? स्पिनोजा का दावा है कि नियतिवाद ईश्वरीय विधान का उल्लंघन नहीं करता है। उससे मानवीय नियमों की अवहेलना भी नहीं हो सकती है। स्पिनोजा का नियतिवाद भारतीय कर्मवाद से भिन्न है। यह भाग्यवाद नहीं है। नियतिवाद सृष्टि की सर्जनात्मक शक्ति की अनिवार्यता है। यह एक प्रकार का यांत्रिकतावाद है क्योंकि सृष्टि की रचना में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है। चूँकि ईश्वर पूर्ण (आप्तकाम) है और आप्तकाम होने के कारण उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है — 'आप्तकामस्य का सृष्टा।' इस प्रकार स्पिनोजा के दर्शन में नैतिक आचार और पूर्णता दोनों एक साथ ही होते हैं।

स्पिनोजा के नियतिवाद की उपयोगिता यह है कि उसे स्वेच्छा से स्वीकार कर लेने पर मानसिक शान्ति प्राप्त हो जाती है। इससे ईश्वर का शाश्वत ध्यान बना रहता है। चूँकि नियतिवाद नैतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से मानसिक संतोष की ओर उन्मुख करता है,

इसलिए, इससे स्वतः मानसिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यहाँ पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि नियतिवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य की स्वतंत्रता बाधित हो जाती है। यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, तो वह अपने दृष्टिकोण में, जीवन में परिवर्तन कैसे ला सकता है? वह नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की ओर कैसे अग्रसर हो सकता है? स्पिनोजा ने इस समस्या पर गंभीर अनुशीलन किया है। उसके अनुसार आध्यात्मिकता की ओर मनुष्य का उन्नयन और हृदय-परिवर्तन उसके संकल्प की स्वतंत्रता के दंभ से नहीं हो सकता है। यह परिवर्तन ज्ञान से (ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम) से ही हो सकता है। आध्यात्मिक व्यक्ति का नैतिक उत्कर्ष सहज (स्वाभाविक) होता है। उसमें स्वतंत्रता का अहंकार नहीं होता है। हमारी मुक्ति अथवा स्वतंत्रता ईश्वरीय अनुकम्पा (Blessedness), ईश्वर के प्रति शाश्वत और स्थिर प्रेम से ही संभव है। यह ईश्वरीय कृपा मन की शान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो ईश्वर साक्षात्कार से उत्पन्न होती है।¹

✓ नियतिवादी दृष्टिकोण से साधक में स्वतंत्रता का अहंकार नहीं होता है क्योंकि वह ज्ञानी है। स्वतंत्र संकल्प पर आधारित और प्रयत्न-साध्य नैतिकता अहंकार की ओर ले जाती है। नियतिवाद के द्वारा अहंकार को दूर करके नैतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन में रूपान्तरित किया जा सकता है। इस अवस्था में मनुष्य की चेतना का अहंभाव नहीं, बल्कि ईश्वर-प्रेम का उद्भूत होता है। यही मनुष्य के जीवन का अंतिम आदर्श, अर्थात् पूर्णता है। इसी में मानव-जीवन की सच्ची मुक्ति निहित है।

ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम (Intellectual Love of God)

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम करना ही मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य (परम श्रेय) है। वस्तुओं और विचारों को ईश्वर के गुणों के संदर्भ में समझने का प्रयास करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा सदगुण है। चूँकि ईश्वर पूर्ण है, इसलिए उसके लिए प्रत्येक कर्म स्वाभाविक है। उल्लेखनीय है कि स्पिनोजा नियतिवादी है, प्रयोजनवादी नहीं। अस्तु सृष्टि में प्रत्येक वस्तु और क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। ईश्वर के 'विचार' (Thought) नामक गुण के माध्यम से निरपेक्ष बुद्धि और संकल्प आदि विकारों की स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य की आत्मा ईश्वर की निरपेक्ष-बुद्धि का एक अंश है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर स्वयं को मानवात्मा में अभिव्यक्त करता है। इसका ज्ञान प्रातिभ अनुभूति (Intuitive Experience) से होता है। इस अनुभूति से ही ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय होता है। स्पिनोजा ने 'प्रेम' शब्द का प्रयोग सामान्य मानव-प्रेम से भिन्न अर्थ में किया है। वह भावात्मक प्रेम नहीं, बल्कि दैवी तत्त्व के प्रति प्रेम है। यहाँ पर ईश्वर के प्रति प्रेम अनासक्ति भाव का द्योतक है। इस प्रेम का लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। स्पिनोजा के अनुसार बौद्धिक प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य प्रेम नित्य और स्थिर नहीं है। अनंत ईश्वर का अनंत स्वरूप असीम आनंद की अनुभूति प्रदान करता है। ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम की अवस्था में मनुष्य का मन ईश्वरीय बन जाता है।

1 Blessedness is nothing but the peace of mind which springs from the intuitive knowledge of God. Ethics Part — IV, — 4.

बुद्धि के द्वारा वासनाओं को नियमित करके तटस्थ भाव से ईश्वर का साक्षात्कार करना ही सच्चा बौद्धिक प्रेम है। दूसरे शब्दों में, सब में ईश्वर को और ईश्वर में सबको अनुभूति करना ही ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम करना है। इसी में आत्मा की स्वतंत्रता और मुक्ति निहित है।¹

ईश्वर प्रेम की साधना सर्वजन सुलभ नहीं है। केवल कुछ सदाचारी एवं पुण्यात्मा व्यक्ति (साधक) ही इस अवस्था के अधिकारी हैं। इसीलिए स्पिनोजा को ईश्वरप्रेमोन्मत्त (God-Intoxicated) अर्थात् ईश्वर के प्रेम में उन्मत्त (दीवाना) दार्शनिक कहा गया है।

सर्वोत्तम आचरण ईश्वर-प्रेम से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य अपने अधिष्ठान के रूप में ईश्वर की अनुभूति करता है, तो ईश्वर-प्रेम (Amor-dei) से युक्त हो जाता है। इसकी तुलना भारतीय दर्शन में प्रचलित ज्ञान मार्गी भक्ति से की जा सकती है। यहाँ ज्ञान और प्रेम का संगम हो जाता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य अपने नित्य अंश को जान लेता है। मनुष्य की अमरता उसके अधिष्ठान ईश्वर में निहित है। इस अवस्था में मनुष्य का 'आत्म-प्रेम' (Self-love) और 'ईश्वर-प्रेम' (Love of God) एक हो जाता है, क्योंकि मनुष्य यह जान लेता है कि ईश्वर ही उसकी सच्ची आत्मा है। ऐसा ईश्वर-प्रेम केवल साक्षात् अनुभूति से ही संभव है। जो लोग ईश्वर को व्यक्ति-विशेष (सगुन) मानकर प्रेम करते हैं वे संवेगालसक प्रेम से ऊपर नहीं उठ पाते हैं। इसलिए स्पिनोजा ईश्वर की निर्विशेषता पर बल देता है। ऐसा ईश्वर-प्रेम अहेतुक (Unconditional) होता है। ऐसा ईश्वर-प्रेमी यह नहीं चाहता है कि उसके प्रेम के बदले में ईश्वर भी उससे प्रेम करे। स्पिनोजा का ईश्वर-प्रेम सत्य-प्रेम नहीं है, अपितु तत्त्व-प्रेम है। बिना इस तत्त्व-प्रेम के आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता है। तत्त्व-प्रेम की अवस्था सत्य के प्रति प्रेम से अधिक उत्कृष्ट होती है। वस्तुतः सत्य के प्रति प्रेम वैज्ञानिक भी रखते हैं किन्तु तत्त्व-प्रेम की अवस्था सर्वसुलभ नहीं है। यह ज्ञान और अनुभूति की तदाकारता (एकता की अवस्था) है। इस अवस्था में यह ज्ञात हो जाता है कि शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी उसका एक अंश (द्रव्य) नित्य है। यह आत्मा के मोक्ष एवं अमरत्व की अवस्था है। यही एक सदाचारी मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य और परम शुभ है। यद्यपि स्पिनोजा की तत्त्वमीमांसा की आलोचना की गई है, तथापि मानव-जीवन के परमश्रेय और उसकी प्राप्ति के साधनों के बारे में उसने जो कुछ कहा है, वह उसके दार्शनिक चिन्तन के साथ सामंजस्य रखता है।

स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा

स्पिनोजा के दर्शन में तत्त्वमीमांसीय विवेचन प्राथमिक महत्त्व रखता है। उसने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर दिया है। उसकी ज्ञानमीमांसा उसके तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम है। वह ज्ञान की सत्यता को विचार का आन्तरिक लक्षण मानता है। सत्य और असत्य विचारों के बीच में बाह्य कसौटियों के आधार पर अंतर नहीं किया जा सकता है। वह सत्यता के सुसंगति सिद्धान्त को एक पर्याप्त कसौटी के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु वह ऐकान्तिक रूप से न तो संवादित सिद्धान्त को और न सुसंगति सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वस्तुतः वह डेकार्ट के ही समान स्पष्टता और विवेकपूर्णता को सत्य प्रत्ययों के आंतरिक लक्षण के रूप में स्वीकार करता है। सत्यता का असत्यता से भेद केवल आंतरिक

1 यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च नपि पश्यति। (गीता).

गुणों के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। सत्य अपने आप स्पष्ट हो जाता है, किन्तु असत्य अपने आप स्पष्ट नहीं होता है।¹

वह असत्यता और अज्ञान में भेद करता है। असत्य प्रत्यय वे हैं जिनमें ज्ञान की पूर्णता का अभाव होता है। उसके अनुसार केवल बाह्य कसौटियों के आधार पर सत्यता और असत्यता में भेद नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से ज्ञान की आंतरिक और बाह्य कसौटियों को स्वीकार किया जा सकता है। स्पिनोजा ने स्पष्टता और विवेकपूर्णता के साथ-साथ निश्चितता को भी सत्यता की आंतरिक कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त संवादिता को सत्यता की बाह्य कसौटी माना गया है। यहाँ संवाद का अर्थ प्रत्यय का वस्तु के अनुरूप होना है। बाह्य कसौटी होने के कारण संवादिता अपर्याप्त है। स्पष्टता, विवेकपूर्णता और निश्चितता तीनों संयुक्त रूप से सत्यता की पर्याप्त कसौटियाँ हैं। इनमें से निश्चितता को सत्यता की आंतरिक कसौटियों के अन्तर्गत सम्मिलित करना स्पिनोजा के दर्शन की मौलिक देन है। वस्तुतः पर्याप्तता की कसौटी के बिना सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः पर्याप्तता को किसी प्रत्यय के सत्य होने की तार्किक प्रागपेक्षा कहा जा सकता है।

स्पिनोजा ने ज्ञान की तीन अवस्थाओं का उल्लेख अपने नीतिशास्त्र में किया है, जो अधोलिखित हैं—

(1) **काल्पनिक ज्ञान (Imaginatio)** — इसके अंतर्गत इन्द्रियानुभव एवं लोकपरंपराओं पर आधारित ज्ञान आते हैं। जैसे — इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान, लोक-परंपराओं पर आधारित ज्ञान, जनश्रुति इत्यादि। यह सबसे निम्न स्तर का ज्ञान है। इसे अज्ञान और परतंत्रता का स्तर कहा जा सकता है। इसे ज्ञान का अस्पष्ट, अविवेकपूर्ण और अपर्याप्त स्तर कहा जा सकता है। इस स्तर पर तत्त्व के विश्व रूप (Natura-naturata) का ज्ञान होता है। इसकी तुलना प्लेटो की ज्ञानमीमांसा में उल्लिखित 'मत' (Opinion) से की जा सकती है।²

(2) **बौद्धिक ज्ञान (Intellectus)** — बौद्धिक ज्ञान काल्पनिक ज्ञान से उच्चस्तरीय होता है। तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण हम इस स्तर पर भेदों में अनुस्यूत अभेद का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसे वैज्ञानिक ज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि इसके अंतर्गत वस्तुओं के पारस्परिक संबंधों तथा उनके प्रमुख गुणों का ज्ञान होता है। इस स्तर पर मनुष्य वस्तुओं और मनुष्यों में व्याप्त ईश्वर के कुछ गुणों को जान लेता है। मानव-बुद्धि वस्तुओं को क्रम देने वाले मन से संबंध स्थापित करती है। यह ईश्वर के विश्वात्म रूप (Natura-naturans) का ज्ञान है। इसके अंतर्गत सामान्य तत्त्वों और निगमन से प्राप्त ज्ञान आता है। स्पिनोजा के अनुसार इन्द्रियानुभव से वस्तुओं के परिवर्तनशील स्वरूप का सतही ज्ञान होता है। इसके विपरीत बुद्धि से वस्तुओं के स्थिर और सामान्य स्वरूप का ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि यह विशेष वस्तुओं का ज्ञान नहीं है, बल्कि यह उन वस्तुओं के सर्वगत लक्षणों का ज्ञान है। इसे स्पिनोजा ने द्वितीय स्तर का अथवा बौद्धिक ज्ञान कहा है।³

1 Ethics, Part-II, Prop. XXXIV.

2 Ethics, Part-II, proposition XL, Note-II.

3 (वही.).

(3) **प्रातिभ ज्ञान अथवा प्रज्ञात्मक ज्ञान (Intuition)**— स्पिनोजा ने इसे सर्वोच्च कोटि का ज्ञान कहा है। यह आत्मा के नित्य अंश पर आधारित ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान ईश्वर के कुछ गुणों के पर्याप्त ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के सारतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना है।¹

यह अनंत एवं नित्य तत्त्व की साक्षात् अनुभूति है। ऐसा ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण होने के साथ-साथ पर्याप्त भी होता है। यह स्वयंसिद्ध ज्ञान है। इसकी प्रामाणिकता न तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर और न बौद्धिक ज्ञान पर आधारित होती है। चूँकि मानव-बुद्धि ईश्वर की अनंत बुद्धि का एक अंश है। इसलिए प्रातिभ ज्ञान स्वाभाविक रूप से बुद्धि में ही उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रातिभ ज्ञान अनुमानजन्य नहीं, बल्कि साक्षात् होता है। इस अवस्था में विचार और विस्तार की भिन्नता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने आदि कारण (ईश्वर) के द्वारा बोधगम्य हो जाती है। हम इस अवस्था में वस्तुओं को आसन्न (निकटवर्ती) कारण के माध्यम से नहीं जान सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान सत्ता का अव्यवहित साक्षात्कार है। वस्तुतः इसे बौद्धिक विमर्श पर आधारित दार्शनिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। यह स्पिनोजा की धार्मिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। इस ज्ञान की प्राप्ति के परिणामस्वरूप मनुष्य स्वयं पूर्ण एवं आनंदमय हो जाता है। प्रकृति को एक पूर्ण इकाई के रूप में न समझने के कारण पूर्वाग्रह, भ्रम और अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप हम वस्तुओं से पृथक् सामान्य विचारों की सत्ता, प्रकृति में प्रयोजन, संकल्प की स्वतंत्रता, व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में विश्वास करने लगते हैं। प्रातिभ ज्ञान की अवस्था में ये विश्वास समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान के इस स्तर पर स्पिनोजा ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम की बात करता है। प्रातिभ ज्ञान से युक्त होने पर मनुष्य का दैवीकरण हो जाता है। वह दिव्य दृष्टि से आलोकित हो उठता है। पूर्णता की यह अवस्था एक प्रकार से ज्ञान और प्रेम पूर्ण अनुभूति (प्रेमाभक्ति) की एकता का स्तर है। सी० डी० ब्रॉड ने स्पिनोजा के ज्ञान की इस अवस्था को एक प्रकार से स्पिनोजा के कतिपय धार्मिक और रहस्यात्मक अनुभवों की दार्शनिक अभिव्यक्ति माना है। वस्तुतः सी० डी० ब्रॉड ने स्पिनोजा के मत की आलोचना इन्द्रियानुभविक प्रेक्षणों के आधार पर किया है। सामान्य अनुभवों के आधार पर प्रातिभ या अपरोक्ष अनुभवों का मूल्यांकन करना एक प्रकार का अज्ञानमूलक दोष है। वास्तव में स्पिनोजा के द्वारा प्रयुक्त प्रातिभ ज्ञान सामान्य मानव-अनुभूति और बुद्धि से परे है।²

स्पिनोजा के दर्शन का मूल्यांकन

स्पिनोजा का दार्शनिक चिन्तन अपने आविर्भाव से लेकर अब तक विवादास्पद रहा है। स्पिनोजा के युग में रूढ़िवादी धर्मशास्त्रियों ने उसे निरीश्वरवादी और प्रकृतिवादी कहकर उसकी निन्दा की। हेगल, एर्डमन, शेलिंग, एच.एच. जोखिम ने उसके दर्शन के प्रत्ययवादी एवं आदर्शवादी पक्ष पर विशेष बल दिया। इसके विपरीत कुनोफिशर, वुल्फसन इत्यादि विचारकों ने उसके दर्शन की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की। प्रो० वुल्फसन ने स्पिनोजा के रहस्यवादी होने

- 1 It proceeds from an adequate idea of the absolute essence of certain attributes of God to the adequate knowledge of the things. Ethics, Part-II, prop.40, Note-II.
- 2 Broad's criticism of spinoza in Five types of ethical theory, quoted by S.S. Barlingay. in 'A Critical Survey of Philosophy', p. 85 & 87.

का निराकरण किया, जबकि सी० डी० बॉड ने उसे रहस्यवादी घोषित किया। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक दार्शनिकों में से स्पिनोजा एक ऐसा विचारक है जिसके दार्शनिक मन्तव्य को लेकर अत्यंत विवाद रहा है। वुल्फसन जैसे आलोचकों ने स्पिनोजा को अनुभववाद के निकट ला दिया है। उसे अरस्तू और मध्ययुगीन दार्शनिकों के समान कठोर मस्तिष्क और स्पष्ट बुद्धि से युक्त अनुभववादी कहा गया है।

इस प्रकार वुल्फसन के द्वारा स्पिनोजा के दर्शन की प्रकृतिवादी व्याख्या करने का प्रयास किया गया। स्पिनोजा की ज्ञानमीमांसा के विवेचन से स्पष्ट है कि वह प्रत्यक्ष ज्ञान को अत्यंत निम्न स्तरीय अथवा तुच्छ ज्ञान कहता है। यद्यपि प्रातिभ ज्ञान की अवस्था में ईश्वर का साक्षात् ज्ञान होता है, तथापि इस अवस्था की साक्षात् अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष अनुभूतियों से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न होती हैं। अतः स्पिनोजा के दर्शन को प्रकृतिवादी कहना एकांगी होगा। समकालीन भारतीय दर्शन में कुछ विद्वानों ने स्पिनोजा के दर्शन की व्याख्या वेदान्त की दृष्टि से की है तो कुछ आलोचकों ने उसके दर्शन को अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य के निकट ला दिया है। वस्तुतः स्पिनोजा का दर्शन उसके सहज चिंतन का परिणाम है। वह किसी धार्मिक मताग्रह एवं दार्शनिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त विचारक नहीं है। स्पिनोजा मुख्य रूप से एक बुद्धिवादी दार्शनिक है। उसकी जीवन-पद्धति उसके दार्शनिक अनुशीलन के अनुरूप थी। प्लेटो, काण्ट आदि के समान उसका भी दर्शन बहुआयामी है। यही कारण है कि उसके दर्शन से अनेक आलोचकों ने भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को निगमित करने का प्रयास किया। वास्तव में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर एवं एक-दूसरे से विपरीत विचारधाराएँ स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद में सामंजस्यपूर्ण ढंग से विलीन हो जाती हैं। अतः उसे किसी एक मताग्रह तक सीमित करना तर्कसंगत नहीं है।

स्पिनोजा का लक्ष्य दर्शन के क्षेत्र में गणित की ज्यामितीय पद्धति का प्रयोग करके उसे (दर्शन को) एक निश्चित आधार पर प्रतिष्ठित करना रहा है, ताकि दर्शन के क्षेत्र में एक निश्चित निष्कर्ष को प्राप्त किया जा सके। वस्तुतः गणित एक संप्रत्ययात्मक विज्ञान (Conceptual Science) है। इसके विपरीत दर्शनशास्त्र संप्रत्ययात्मक होने के साथ-साथ वास्तविक तथ्यों और मूल्यों से भी संबंधित होता है। अतः कोरी नीरस ज्यामितीय पद्धति दर्शन के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है। कुछ आलोचकों के अनुसार स्पिनोजा का नियतिवाद संकल्प-स्वातन्त्र्य का विरोधी होने के कारण नैतिक जीवन के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। वह एक यांत्रिक जीवन-पद्धति और नियतिवादी नैतिक दर्शन को प्रोत्साहित करके मनुष्य को उत्तरदायित्व-विहीन बना देता है। किन्तु ये आक्षेप अतिशयोक्तिपूर्ण और पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। वस्तुतः स्पिनोजा ने द्रव्य को विचार और विस्तार नामक दोनों गुणों से युक्त कह करके चेतन और जड़ तत्त्व के आत्यंतिक विरोध को दूर करने का प्रयास किया। इस प्रकार उसने सृष्टि की क्रियाओं को निष्प्रयोजन और यांत्रिक मान करके प्रकृति की एकरूपता में आने वाली बाधा को दूर करने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप प्रकृति की एकरूपता के मार्ग में आने वाली बाधाएँ दूर हो जाती हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि स्पिनोजा का नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है। यह इस ब्रह्माण्ड की सर्जनात्मक शक्ति की अनिवार्यता है। संकल्प-स्वातन्त्र्य के निषेध का लक्ष्य मनुष्य को भाग्यवादी एवं अकर्मण्य बनाना नहीं है, बल्कि संकल्प-स्वातन्त्र्य से जनित

अहंकार का निराकरण करना है। वस्तुतः वह नियतिवाद के माध्यम से स्वतन्त्रेच्छा के अहंकार का निराकरण करके मनुष्य के आध्यात्मिक उन्नयन का प्रयास करता है।

किन्तु स्पिनोजा के द्वारा प्रतिपादित द्रव्य की अवधारणा निर्दोष नहीं है। अनंत एवं सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण ईश्वर को पूर्ण द्रव्य कहा गया है। दूसरी ओर उसे निर्विशेष और निर्गुण कहा गया है। हम देख चुके हैं कि स्पिनोजा के वस्तुवादी समीक्षकों के अनुसार अनंत गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर को निर्गुण कहा जा सकता है क्योंकि गुणों के द्वारा उसका निर्वचन (वर्णन) करना असंभव है। इस प्रकार एक ओर द्रव्य को निर्गुण और अनिर्वचनीय कहा जा रहा है, तो दूसरी ओर उसके कुछ गुणों का वर्णन भी किया जा रहा है। इन परस्पर विरोधी विचारों के कारण स्पिनोजा को हेगल की कटु आलोचना का कोपभाजन बनना पड़ा। इसके अतिरिक्त स्पिनोजा विस्तार को द्रव्य का एक गुण मानता है अर्थात् द्रव्य के अन्दर विस्तार पाया जाता है। यदि विस्तार को भौतिक माना जाय तो ईश्वर में रहने वाला भौतिक विस्तार उसके एक अंश को अवश्य ही भौतिक बना देगा। प्रश्न उठता है कि भौतिक विस्तार से युक्त ईश्वर को निर्विशेष और निर्गुण कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि स्पिनोजा के अनेक आलोचकों ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है, तथापि उनके द्वारा दिए गए समाधान तार्किक दृष्टि से संतोषजनक नहीं कहे जा सकते हैं।

स्पिनोजा ने अपने द्रव्य के अंतर्गत विचार (चेतन) और विस्तार (अचेतन) नामक परस्पर विरोधी गुणों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। किन्तु स्पिनोजा यह व्याख्या नहीं कर पाता है कि ये परस्पर विरोधी गुण एक ही द्रव्य में किस प्रकार संभव हैं? विस्तार से युक्त ईश्वर कैसे भौतिक गुणों से रहित हो सकता है? यदि इन प्रश्नों का उत्तर देना तार्किक दृष्टि से संभव न हो और इसलिए प्रातिम अनुभूति (Intuitive experience) का सहारा लिया जाय या इन प्रश्नों को अनिर्वचनीय कहा जाय तो स्पिनोजा का बुद्धिवाद रहस्यवाद में परिणत हो जायेगा। यदि ईश्वर और सृष्टि में अभेद संबंध माना जाय तो सृष्टि के समस्त दोषों, अपूर्णताओं और जगत् में व्याप्त अशुभ से ईश्वर भी ग्रस्त हो जाता है। स्पिनोजा के कुछ समालोचकों ने उसके दर्शन की व्याख्या अद्वैत-वेदान्त के मॉडल पर करने का प्रयास किया है। किन्तु जहाँ अद्वैत वेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, वहाँ स्पिनोजा सृष्टि को वास्तविक मानता है। सृष्टि को विवर्त या मिथ्या मान लेने के कारण शंकर का ब्रह्म सांसारिक दोषों से मुक्त हो जाता है। शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म में अध्वस्त है। इस प्रश्न के उत्तर में, कि ब्रह्म तथा जगत् में क्या संबंध है? शंकराचार्य कहते हैं कि यह प्रश्न ही असंगत है। जगत् और ब्रह्म के संबंध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है (नहि सदसतो सम्बन्धः)। वस्तुतः शंकराचार्य ब्रह्म और जगत् में अनन्यत्व संबंध मानते हैं। किन्तु स्पिनोजा केवल यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि सृष्टि ईश्वर का स्वभाव है। यह ईश्वर से तर्कतः निगमित होती है। स्पष्ट है कि ज्यामितीय आधार पर जीवन और जगत् से संबंधित मूल्यों और सत्ता की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती है।

(स) लाइबनिज (Leibnitz : 1646-1716 ई०)

गॉडफ्रिज विल्हेल्म लाइबनिज स्पिनोजा का समकालीन था। उसका जन्म सन् 1646 ई० में लीपजिग (जर्मनी) में हुआ था। उसके पिता लीपजिग विश्वविद्यालय में नीतिशास्त्र

(Moral Philosophy) के आचार्य थे, परन्तु लाइबनिज के बाल्यकाल में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई। उसके विद्यार्थी जीवन में ही उसकी माँ का देहान्त हो गया। लाइबनिज ने विधिशास्त्र, दर्शनशास्त्र और गणित का उच्चस्तरीय अध्ययन किया। उसकी शिक्षा मुख्य रूप से जेना विश्वविद्यालय और अल्टडोर्फ में हुई। उन्होंने अल्पायु में ही कानून में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। सन् 1700 में उसने बर्लिन में 'एकेडेमी ऑफ साइन्सेज' की स्थापना की।

उल्लेखनीय है कि लाइबनिज डेकार्ट और स्पिनोजा की भाँति शुद्ध सत्यान्वेषी नहीं था। वह राजनैतिक, सामाजिक और दुनियादारी के मामलों में गहरी रुचि रखता था। मेन्ज के पादरी के द्वारा उसे राजनीतिक विभाग में काम करने के लिए नियुक्त किया गया। सन् 1672 में लाइबनिज को फ्रांस के सम्राट लुई XIV (चौदहवें) के पास मिस्र पर हमला करने की परामर्श देने के लिए भेजा गया। यद्यपि उसे राजनीतिक सफलता तो नहीं मिली, तथापि इस दौरान उसे चार वर्ष तक पेरिस में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह समय उसके लिए ज्ञानार्जन की दृष्टि से उपयोगी रहा। इस दौरान उसने फ्रांसीसी दार्शनिक और डेकार्ट के अनुयायी मेलेब्रांश (Melebranche), अर्नाल्ड ग्यूलिक्स और भौतिकशास्त्री ह्यूरोम्स के साथ वार्तालाप किया। आगे चलकर उसके दार्शनिक चिन्तन पर किसी न किसी रूप में इन सबके विचारों का प्रभाव पड़ा। लाइबनिज के द्वारा आविष्कृत गणना-परिकलन मशीन (Calculating Machine) उसकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। सन् 1676 ई० में उसने चलन-कलन (Differential Calculus) का भी आविष्कार किया। कुछ समीक्षकों ने उसे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र (Symbolic Logic) का प्रवर्तक भी कहा है, जिसका विकास आगे चलकर जार्ज बूल एवं अन्य तर्कशास्त्रियों ने किया। राजनीति और प्रशासनिक कार्यों में गहरी रुचि लेने के कारण उसे दर्शन और अन्य विधाओं में लेखन कार्य के लिए बहुत कम समय मिल पाता था। किन्तु उसकी दार्शनिक अभिरुचि का पता उसके पत्राचारों में उल्लिखित दार्शनिक परिचर्चाओं से चलता है। इसके अतिरिक्त उसके अनेक लेख हेनोकर के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। उल्लेखनीय है कि लाइबनिज ने अपने जीवन के अंतिम चालीस वर्ष हेनोवर के राजकीय पुस्तकालय के अध्यक्ष के रूप में व्यतीत किया। अंत में हेनोवर में ही सन् 1716 ई० में उसका देहान्त हुआ।

प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र से संबंधित उसकी हस्तलिखित पांडुलिपि को बर्ट्रेन्ड रसल ने खोजा। उसकी रचनाओं में 'थियोडिसी' (Theodicy) महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन लाइबनिज के ही जीवनकाल में हुआ था। उसने इसकी रचना द्वैतवादी पिअरे बेयले को उत्तर देने के लिए की थी। लाइबनिज के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में 'चिदणुशास्त्र' (Monadology), 'प्रकृति और कृपा' का सिद्धान्त (Principles of Nature and Grace), 'तत्त्वमीमांसा पर विमर्श' (Discourse on Metaphysics) इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा विरचित ग्रंथ 'नूतन निबन्ध' (Nouveaux) में लॉक की प्रसिद्ध रचना 'मानव-बुद्धि पर निबन्ध' (Essay on Human Understanding) की समालोचना की गई है। इस संदर्भ में लॉक और लाइबनिज के बीच में एक महत्त्वपूर्ण पत्र-व्यवहार उल्लेखनीय है। लॉक के अनुसार, 'बुद्धि में कोई ऐसी चीज नहीं है, जो पहले इंद्रियानुभव में न रही हो।' लॉक के कहने का निहितार्थ यह है कि ज्ञान का स्रोत इंद्रियानुभव है। लॉक के इस मत का खंडन करने के लिए लाइबनिज ने लॉक के इस कथन में यह वाक्यांश जोड़ दिया — 'बुद्धि को छोड़कर बुद्धि के पास ऐसा कुछ भी

नहीं है जो पहले अनुभव में न रहा हो।¹ इस कथन के द्वारा लाइबनिज ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बुद्धि के मूल तत्त्व अनुभवजन्य नहीं है। वस्तुतः लाइबनिज के दर्शन में आधुनिक बुद्धिवादी विचारधारा अपने चरमोत्कर्ष पर विराजमान है। दर्शन के क्षेत्र में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान 'चिदणुवाद' है।

लाइबनिज के पूर्ववर्ती बुद्धिवादियों (डेकार्ट और स्पिनोजा) ने केवल कुछ प्रत्ययों को जन्मजात माना था, किन्तु लाइबनिज के अनुसार समस्त मानव-ज्ञान जन्मजात प्रत्ययों के विश्लेषण से ही प्राप्त हो सकता है। दूसरे शब्दों में, सभी प्रत्यय जन्मजात हैं। लाइबनिज की ज्ञानमीमांसा विशेष रूप से स्पिनोजा के दर्शन के अधिक निकट है। हम देख चुके हैं कि स्पिनोजा ने डेकार्ट के चेतन और अचेतन द्रव्यों के द्वैत को स्वीकार नहीं किया। उसने डेकार्ट के दर्शन में मान्य द्रव्यों के द्वैत को विचार और विस्तार नामक गुणों में बदल दिया। स्पिनोजा के समक्ष एक समस्या यह है कि विचार और विस्तार नामक दो परस्पर विरोधी गुण एक ही द्रव्य में कैसे पाये जाते हैं? एक-दूसरे के समानान्तर पाये जाने वाले इन परस्पर विरोधी गुणों से संबंधित समस्या का स्पिनोजा के दर्शन में तर्कतः संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद का तार्किक परिणाम नियतिवाद है। इसके फलस्वरूप स्पिनोजा संकल्प-स्वातन्त्र्य की व्याख्या नहीं कर पाता है। लाइबनिज ने डेकार्ट और स्पिनोजा के दर्शन की इन विसंगतियों को दूर करने के लिए अपने चिदणुवाद की स्थापना की।

चिदणुवाद (Monadology)

लाइबनिज के चिदणुवाद में चेतन और जड़तत्त्व के भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। वह भौतिक परमाणुओं की अवधारणा का खंडन करता है क्योंकि प्रत्येक भौतिक तत्त्व विस्तार से युक्त होता है। यदि परमाणुओं को भौतिक माना जाय तो विस्तार से युक्त होने के कारण वे विश्लेष्य (विभाज्य) होंगे। अतः तार्किक दृष्टि से भौतिक परमाणुओं को अविभाज्य नहीं कहा जा सकता है। इसके फलस्वरूप विभाज्य परमाणु अविनाशी द्रव्य नहीं हो सकते हैं। अतः जड़तत्त्व को वास्तविक तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उसके अनुसार केवल चैतन्य ही वास्तविक तत्त्व हो सकता है। चूँकि चेतना विस्तार से रहित होती है, इसलिए उसका विभिन्न अवयवों में विभाजन और विश्लेषण नहीं हो सकता है। अपने इस अविभाज्य एवं चेतन तत्त्व को लाइबनिज ने 'चिदणु' (Monad) कहा है। लाइबनिज के चेतन अणु ही निरवयव, सरल, अविभाज्य और अविनाशी तत्त्व हो सकते हैं। इन्हीं चेतन तत्त्वों (चिदणुओं) के द्वारा संपूर्ण सृष्टि की रचना हुई है। लाइबनिज के चिदणु निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी गणितीय विन्दुओं के समान अमूर्त (काल्पनिक) संप्रत्यय नहीं हैं। ये वास्तविक तत्त्व, अर्थात् वस्तु सत् हैं।

चिदणुओं की प्रमुख विशेषताएँ

लाइबनिज ने द्रव्य की परंपरागत परिभाषा पर आपत्ति की है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट और स्पिनोजा ने द्रव्य की परिभाषा में उसकी 'स्वतंत्र सत्ता' पर विशेष बल दिया। किन्तु लाइबनिज के अनुसार द्रव्य की परिभाषा के संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र अस्तित्व नहीं

1 'Nothing can exist in the intellect that did not first exist in sensation except the intellect itself'

है। उसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्र क्रिया-शक्ति है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य वह है जो स्वतंत्र क्रिया से युक्त हो। इस प्रकार वह स्वतंत्रता और क्रियाशीलता को अभिन्न मान लेता है। इस दृष्टि से द्रव्य के अंतर्गत वे सभी तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं जिनमें स्वतंत्र क्रियाशीलता पायी जाती है। इस दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ क्रियाशक्ति एवं गतिशीलता पाई जाती है। इस आधार पर लाइबनिज ने डेकार्ट और स्पिनोजा की मान्यताओं के विपरीत अनेक स्वतंत्र, सक्रिय और विशिष्ट चिदणुओं को द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया।

लाइबनिज के चिदणु गवाक्षहीन (Windowless) हैं। चिदणुओं को आलंकारिक भाषा में गवाक्षहीन कहने का तात्पर्य यह है कि वे किन्हीं बाह्य वस्तुओं से प्रभावित नहीं होते हैं। चूँकि प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण है, इसलिए वह आत्मनिर्भर है। इस आधार पर लाइबनिज प्रत्येक चिदणु को अन्य चिदणुओं से स्वतंत्र मानता है। इससे सिद्ध होता है कि चिदणुओं में कोई पारस्परिक संबंध नहीं हो सकता है। वास्तव में सभी चिदणु पूर्ण हैं। उनमें सब कुछ अन्तर्निहित है। अतः उन्हें एक-दूसरे से संबंधित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिए लाइबनिज ने चिदणुओं को पूर्णक (Entelechy) कहा है। वे अपनी सत्ता के लिए ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर नहीं हैं। यहाँ एक समस्या यह है कि लाइबनिज के चिदणु किस अर्थ में पूर्ण हैं? उसके अनुसार चिदणुओं में संपूर्ण विश्व बीज रूप (अविकसित रूप) में निहित है। उनमें पूर्ण होने की क्षमता पायी जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संपूर्ण विश्व चिदणुओं में विकसित रूप में निहित है।

लाइबनिज के अनुसार चिदणुओं में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं — प्रथम प्रत्यक्ष (Perception) एवं द्वितीय चरिष्णुता या प्रवृत्ति (Appetition)।

प्रत्यक्ष (Perception) का स्वरूप — यह चिदणुओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया चिदणु की वह आंतरिक शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने अंदर से संपूर्ण विश्व को विकसित करने की अपार क्षमता रखती है। इसीलिए वह कहता है, 'प्रत्येक चिदणु विश्व का दर्पण है।' दूसरी प्रक्रिया चरिष्णुता या प्रवृत्ति है जिसके द्वारा प्रत्येक चिदणु एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होता है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण ही चिदणु प्रत्यक्ष की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक गति करता है। प्रत्येक चिदणु में प्रत्यक्ष (Perception) की स्पष्टता और विवेकपूर्णता की भिन्नता पाई जाती है। लाइबनिज के अनुसार प्रत्यक्ष स्पष्ट और अस्पष्ट दो प्रकार के होते हैं। वह अस्पष्ट प्रत्यक्षों को 'लघु प्रत्यक्ष' (Pitite perception) कहता है। निम्न कोटि के चिदणुओं में प्रत्यक्ष अस्पष्ट और अस्त-व्यस्त होते हैं। निम्न कोटि के चिदणु अत्यंत सुसावस्था में हैं। इन्हें संज्ञाहीन, अचेतन एवं तामसी निद्रा से युक्त कहा जाता है। किन्तु विश्व में कहीं भी जड़ता, मृत्यु, निष्क्रियता एवं अगतिशीलता नहीं है। स्थिरता या विराम (Rest) भी सूक्ष्म गति है, अंधकार भी सूक्ष्म प्रकाश है और जड़ता भी अल्पतम प्रकाश है। जन्म और मृत्यु केवल रूपान्तरण (Metamorphosis) हैं। चूँकि प्रत्येक चिदणु चेतन है, इसलिए उसका कार्य संपूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करना है। इसे ही लाइबनिज ने चिदणुओं का प्रत्यक्ष कहा है। सभी चिदणु प्रत्यक्ष करते हैं। प्रश्न उठता है कि चिदणुओं के प्रत्यक्षीकरण का क्या अर्थ है? यदि वे गवाक्षहीन हैं तो दूसरे चिदणुओं से कैसे प्रभावित हो सकते हैं? यदि वे

1 Every monad is a mirror of the universe according to its own fashion.

अन्य चिदणुओं से प्रभावित नहीं होते हैं तो उनका प्रत्यक्ष कैसे संभव है? लाइबनिज के अनुसार चिदणुओं का प्रत्यक्षीकरण उनके बाहर नहीं होता है। वे स्वयं अपना ही प्रत्यक्ष करते हैं। सर्वोच्च कोटि के चिदणु स्वयं अपना ही प्रत्यक्ष करते हैं, क्योंकि उनमें संपूर्ण विश्व बीजरूप में निहित है। इससे सिद्ध होता है कि चिदणुओं का यह प्रत्यक्ष सार्वभौमिक है। यहाँ पर एक समस्या यह है कि निम्न कोटि के चिदणु, जैसे — पत्थर, पेड़-पौधे (वनस्पतियाँ) इत्यादि किस अर्थ में प्रत्यक्ष करते हैं? लाइबनिज ने प्रत्यक्ष की अनेक अवस्थाओं एवं विभिन्न मात्राओं का उल्लेख किया है। प्रत्यक्ष अनिवार्यतः संवेदन ही नहीं है। पत्थर, पेड़-पौधों और मनुष्यों में न तो एक ही प्रकार की आत्मा है और न एक ही प्रकार का प्रत्यक्ष होता है।

चिदणुओं की शाश्वत शृंखला से सिद्ध होता है कि उनकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं, अर्थात् उनमें अवस्था-भेद पाया जाता है। लाइबनिज के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उच्चकोटि के आत्मचेतन चिदणुओं (मनुष्यों) में भी चेतना का स्तर सदैव समान नहीं होता है। उदाहरण के लिए, विभिन्न व्यक्तियों की सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्थाओं को लिया जा सकता है। लाइबनिज के अनुसार विभिन्न चिदणुओं में प्रत्यक्ष की विभिन्न श्रेणियाँ और भिन्न-भिन्न स्तर हो सकते हैं। यद्यपि सभी चिदणुओं का स्वभाव प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति है और सभी चिदणु मिलकर प्रत्यक्ष के सभी संभावित विकास स्तरों को व्यक्त करते हैं, तथापि वे सब एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। सभी चिदणु अपने-अपने दृष्टिकोण से समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। उनके द्वारा किए गए इस प्रतिबिम्बन में स्पष्टता की अलग-अलग श्रेणियाँ होती हैं। संवेदनशीलता, भावना, स्मृति, कल्पना, तार्किक चिन्तन आदि प्रत्यक्ष के ही विभिन्न स्तर (अवस्थाएँ) हैं। प्रत्यक्ष की ये विभिन्न अवस्थाएँ जड़ जगत्, वनस्पति जगत् और मानव-जगत् को एक-दूसरे से पृथक् करती हैं।

चिदणुओं में जो निहित है, उसी की अभिव्यक्ति ज्ञान के रूप में होती है। सभी प्रकार का ज्ञान चिदणुओं में जन्मजात (निगूढ़) होता है। जन्मजात होने का अर्थ यह है कि सभी प्रत्यय स्पष्ट या विकसित रूप में नहीं, बल्कि प्रवृत्ति के रूप में आत्मा या चिदणु के अंदर विद्यमान है। वस्तुतः चिदणुओं में ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वे बिना किसी बाह्य सहायता के समस्त ज्ञान को विकसित कर लेते हैं। हमें सभी जन्मजात प्रत्ययों की चेतना नहीं रहती है। हमें उनकी चेतना तब होती है, जब ये अविकसित प्रत्यय विकसित हो जाते हैं। अतः विकसित ज्ञान के लिए किसी बाह्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं, बल्कि अपने अंदर में निहित बीजों को अंकुरित करने की आवश्यकता है। ज्ञान के विकास के लिए अनुभव सहायक होता है। किन्तु यह अनुभव किसी बाह्य वस्तु से उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि यह बुद्धि की स्वतंत्र क्रिया का परिणाम है। समस्त ज्ञान को जन्मजात मानने के कारण लाइबनिज के अनुसार — आत्मा किसी कोरे कागज के समान नहीं है, बल्कि वह एक पत्थर के टुकड़े के समान है जिसमें मूर्ति बनने की क्षमता पहले से ही विद्यमान होती है। वस्तुतः वह संवेदन और विचार में केवल परिमाण (मात्रा) का भेद मानता है। संवेदन अस्पष्ट विचार है। ज्ञान आत्मा का कोई आंगंतुक गुण नहीं है, बल्कि अनिवार्य लक्षण है। उसने प्रातिभ ज्ञान को सर्वोच्च कोटि का ज्ञान माना है। यह पूर्ण ज्ञान है। इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए लाइबनिज ने सार्वभौम गणित की परिकल्पना की थी।

लाइबनिज के अनुसार विभिन्न कोटि के चिदणुओं में प्रत्यक्ष की स्पष्टता और विवेकपूर्णता की भिन्न-भिन्न मात्राएँ पाई जाती हैं। इनमें से निम्न मात्रा की स्पष्टता वाले प्रत्यक्षों को संदिग्ध एवं भ्रान्त प्रत्यक्ष कहा गया है। इसके विपरीत स्पष्ट और विवेकपूर्ण प्रत्यक्षों को

‘स्पष्ट प्रत्यक्ष’ कहा जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए लाइबनिज ने समुद्र की गर्जन-ध्वनि का उदाहरण दिया है। समुद्र की जो गर्जना सुनाई पड़ती है, वह समुद्र की अनेक तरंगों की सामूहिक ध्वनि है। यदि हम किसी एक तरंग (लहर) की आवाज सुनें तो वह क्षीण एवं अस्पष्ट संवेदन मात्र है। इसके विपरीत संपूर्ण तरंगों की सामूहिक ध्वनि की गर्जना का स्पष्ट ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्रत्येक चिदणु में प्रत्यक्षीकरण की शक्ति होती है।

इन चिदणुओं में परस्पर भौतिक या दैशिक संबंध नहीं है, बल्कि उनमें तार्किक और आध्यात्मिक संबंध पाया जाता है। इस दृष्टि से वह प्रत्येक चिदणु को ‘सूक्ष्म विश्व’ (Microcosm) कहता है। इस प्रकार समस्त चिदणुओं में घटित होने वाली घटनाओं की प्रत्येक चिदणु में अभिव्यक्ति को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। लाइबनिज के अनुसार डेकार्ट का द्वैतवाद यहीं पर असफल हुआ है क्योंकि उसने चिंतनशील मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं और पक्षियों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। वस्तुतः डेकार्ट का आत्मा संबंधी सिद्धान्त मध्ययुगीन-दार्शनिकों के धार्मिक मतग्रहों से प्रभावित है।¹

चिदणुओं में सातत्य का नियम — लाइबनिज के अनुसार चिदणुओं में किसी प्रकार की रिक्तता नहीं पाई जाती है। प्राकृतिक नियमों में आकस्मिकता, अंतराल और विषमता नहीं होती है। चिदणुओं की एक व्यवस्थित श्रृंखला है। एक चिदणु से दूसरे चिदणु के बीच में किसी भी प्रकार का अन्तराल नहीं पाया जाता है। चिदणुओं के सातत्य को संख्याओं के सातत्य के माध्यम से समझा जा सकता है। जैसे — एक से लेकर नौ तक की संख्याओं में एक सातत्य है। इनमें से एक संख्या से दूसरी संख्या के बीच में किसी प्रकार की रिक्तता नहीं पाई जाती। एक से दो के बीच में क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ते हुए हम दो तक पहुँचते हैं। इस प्रकार एक और दो के बीच में भी असंख्य संख्याएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार चिदणुओं के सातत्य का क्रम भी कभी टूटता नहीं है। लाइबनिज के अनुसार — रिक्त काल और रिक्त देश भ्रामक अवधारणाएँ हैं। काल घटनाओं की एक व्यवस्था (Order of events) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसी प्रकार देश वस्तुओं की एक व्यवस्था (Arrangement of things) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काल के द्वारा अनुक्रम (Succession) की और देश के द्वारा एक चिदणु के प्रत्यक्षों के सह-अस्तित्व (Co-existence) की व्याख्या की जाती है। अतः काल और देश अमूर्त और अयथार्थ प्रत्यय हैं। वे द्रव्य नहीं हैं, बल्कि सम्बन्ध हैं।

चूँकि सभी चिदणु चेतन हैं, इसलिए उनमें किसी प्रकार का गुणात्मक भेद नहीं पाया जाता है। गुणात्मक दृष्टि से सभी चिदणु एक प्रकार के हैं। किन्तु चेतना की अभिव्यक्ति को लेकर चिदणुओं में परिमाणात्मक भेद पाया जाता है। इस दृष्टि से चिदणुओं का वर्गीकरण मुख्य रूप से अधोलिखित अवस्थाओं में किया गया है —

(1) नग्न चिदणु (Naked monads) — इनमें चेतना की मात्रा बहुत कम होती है। अतः इन्हें सुप्त चिदणु भी कहा जाता है। यह अचेतन जड़-जगत् की अवस्था है। उपनिषदों की सृष्टिमीमांसा के अंतर्गत जड़-जगत् को ‘अब्रमय कोश’ कहा गया है। लाइबनिज के नग्न चिदणुओं के समान उपनिषदों में भी इस सृष्टि का मूलाधार चेतन तत्त्व (ब्रह्म) को माना गया है।²

1 Monadology, Sect 4.

2 तैत्तिरीयोपनिषद्.

(2) उपचेतन चिदणु (Sub-Conscious or dreaming monads) — इस श्रेणी के चिदणुओं में चेतना का स्फुरण तो होता है, किन्तु उनमें संचरण-शक्ति या स्पष्ट क्रियाशीलता का अभाव पाया जाता है। इसे वनस्पति जगत् कहा जाता है। वनस्पतियों में संचरण-शक्ति (Locomotion) का अभाव पाया जाता है। पेड़-पौधे एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में वनस्पति जगत् को 'प्राणमय कोश' की संज्ञा दी गई है।

(3) चेतन चिदणु (Conscious Monads) — इसके अंतर्गत पशु-पक्षियों का संसार आता है। चिदणुओं की इस अवस्था में चेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति पाई जाती है। पशुओं में संवेदनशीलता के साथ-साथ संचरण शक्ति एवं स्पष्ट क्रियाशीलता पाई जाती है। उपनिषदों में सृष्टि के विकास की इस अवस्था को मनोमय कोश कहा गया है।

(4) आत्मचेतन चिदणु (Self-conscious monads) — लाइबनिज ने मानव-जगत् को आत्मचेतन चिदणु कहा है क्योंकि मनुष्यों में संवेदन शक्ति, घ्राणशक्ति, संचरण शक्ति के साथ-साथ, ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति भी होती है। वस्तुतः मानव-जगत् के चिदणुओं की अवस्था स्पष्ट प्रत्यक्ष की अवस्था है। इसे उपनिषदों की भाषा में 'विज्ञानमय कोश' की संज्ञा दी जा सकती है।

(5) परम चिदणु अथवा रानी चिदणु (Supreme monad or Queen monad) — लाइबनिज ने सर्वोच्च चिदणु को ही ईश्वर कहा है। इसे चिदणुओं का चिदणु (Monad of monads) एवं चिदणुओं की आत्मा कहा गया है। ईश्वर का ज्ञान पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है। ईश्वर ही समस्त चिदणुओं का स्रष्टा और अंतिम प्रयोजन है। प्रत्येक चिदणु का लक्ष्य परम चिदणु होना है। ईश्वर पूर्ण रूप से क्रियाशील चिदणु है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि लाइबनिज अरस्तू के विकासवाद से प्रभावित है। इसी प्रकार अरस्तू के दर्शन में ईश्वर को परम आकार (Absolute Form), विशुद्ध आकार, आकारों का आकार आदि नामों से विभूषित किया गया है। अरस्तू के ही समान लाइबनिज के दर्शन में भी ईश्वर विकास का अंतिम लक्ष्य है। वस्तुतः अरस्तू और लाइबनिज दोनों विकासवादी दार्शनिक हैं। प्रत्येक चिदणु का लक्ष्य परम चिदणु बनना है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू और लाइबनिज के दर्शन में विकास प्रक्रिया का सूत्रधार ईश्वर ही है। लाइबनिज ने प्रत्येक चिदणु की विशिष्टता पर विशेष बल दिया है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व पर चिदणु निर्भर नहीं है। चिदणुओं के इस-श्रेणी विभाजन में निम्न श्रेणी के चिदणुओं के आदर्श उच्चस्तरीय चिदणुओं में पाये जाते हैं। लाइबनिज के दर्शन में हम चिदणुओं की शाश्वत शृंखला का एक विकास देखते हैं। इस प्रक्रिया में जैसे-जैसे उच्च स्तर की ओर विकास होता है, चिदणुओं की क्रियाशीलता बढ़ती जाती है। इसी के कारण उनमें श्रेणी भेद पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि लाइबनिज के ये सभी चिदणु चेतन होने के कारण एक ही जाति के हैं। जड़ तत्त्व से लेकर वनस्पति जगत्, पशु-जगत् और मानव-जगत् तक सभी चिदणु एक ही प्रकार के हैं। इससे सिद्ध होता है कि सभी चिदणु 'सादृश्य नियम' (Law of Similarity) के द्वारा नियमित और अनुशासित होते हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि सभी चिदणु एक ही नियम से अनुशासित हैं और चेतन होने के कारण वे सजातीय हैं तो उनमें चेतना का विकास समान रूप से क्यों नहीं होता है? लाइबनिज के अनुसार यद्यपि प्रत्येक चिदणु क्रियाशील है, तथापि ईश्वर को छोड़कर अन्य सभी चिदणुओं में एक

‘गति अवरोधक शक्ति’ विद्यमान है। इसे ‘सूक्ष्म जड़ता’ अथवा ‘मैटेरिया प्राइमा’ (Materia Prima) कहा जाता है। यह सूक्ष्म जड़ता ही चेतन शक्ति के विकास को बाधित करती है। यह सूक्ष्म जड़ता चिदणुओं के स्वरूप में निहित ‘निष्क्रियता का सिद्धान्त’ है। इस जड़ता के कारण ही चिदणुओं के स्वभाव में सीमितता, अपूर्णता और निष्क्रियता पाई जाती है। वस्तुतः चिदणुओं के तारतम्य अर्थात् चेतन शक्ति की विभिन्न अवस्थाओं की क्रमिक अभिव्यक्ति की व्याख्या के लिए लाइबनिज ने ‘सूक्ष्म जड़ता’ का सहारा लिया है। चिदणुओं के विकास और सूक्ष्म जड़ता में प्रतिलोम संबंध पाया जाता है। जिन चिदणुओं में यह जड़ता अधिक है, उनमें चेतना का विकास उसी अनुपात में बहुत कम है। इसके विपरीत जिन चिदणुओं में सूक्ष्म जड़ता कम है, वे चिदणु अधिक विकसित हुए हैं। ईश्वर में यह जड़ता विलकुल नहीं है। अतः ईश्वर पूर्ण सक्रिय (Porus Actus) एवं चेतन है। लाइबनिज ने सूक्ष्म जड़ता के अतिरिक्त एक ‘स्थूल जड़ता’ (Materia-secunda) का भी उल्लेख किया है। जहाँ सूक्ष्म जड़ता विशिष्ट चिदणुओं से संबंधित होती है, वहाँ स्थूल जड़ता चिदणुओं के समूह से संबंधित होती है। यह चिदणुओं का एक ऐसा संबंध है जो अपूर्ण वस्तुओं के समूह के रूप में जानी जाती हैं।

यद्यपि सभी चिदणु सजातीय हैं, फिर भी प्रत्येक चिदणु की अपनी विशिष्टता है, अर्थात् प्रत्येक चिदणु की अपनी अलग पहचान है। कोई भी दो चिदणु एक नहीं हैं। प्राकृतिक जगत् में कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं है। इतिहास की किन्हीं भी दो घटनाओं में अभेद नहीं पाया जाता है। यह कहना असंगत है कि इतिहास अपने को दोहराता है। प्रायः लोग दो घटनाओं में भेद न कर पाने के कारण यह समझ लेते हैं कि इतिहास अपने को दोहराता है। लाइबनिज के दर्शन में इसे ‘अदृश्यों का अभेद’ (Identity of indiscernibles) कहा गया है। यह मान्यता उसके दर्शन में ‘अ-सादृश्य (असमानता) नियम’ के नाम से जानी जाती है। इसका निहितार्थ यह है कि यदि हम दो व्यक्तियों, दो घटनाओं अथवा दो चिदणुओं को परस्पर अभिन्न रूप में देखते हैं, तो इसका कारण यह है कि उनकी भिन्नता अथवा उनकी अलग पहचान हमसे अदृश्य हो जाती है। हम उनके न दिखाई पड़ने वाले भेदों को समझ नहीं पाते हैं। अतः हम उन्हें एक मान लेने की भूल करते हैं।

लाइबनिज ने चिदणुओं की विशिष्टता एवं वैयक्तिकता (Individuality) पर विशेष बल दिया है। इसके बीज डेकार्ट के द्वारा प्रस्तुत ‘विवेक-पूर्णता या सुभिन्नता (Distinctness) की कसौटी में निहित है। ‘सुभिन्नता’ की कसौटी का लक्ष्य वस्तुओं को सुभिन्न (पृथक्) रूप में देखना है। एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करके उसके सरल एवं विभक्त रूप में जानने के लिए डेकार्ट ने ‘सुभिन्नता’ को ही उपयुक्त कसौटी माना है। यदि इस ज्ञानमीमांसीय संप्रत्यय को सत्तामीमांसीय (Ontological) रूप में परिणत कर दिया जाय तो लाइबनिज के द्वारा प्रतिपादित ‘अदृश्यों का अभेद’ सिद्धान्त मिल जाता है। इसका निहितार्थ यह है कि चिदणुओं के अवस्था-भेद में कोई रिक्तता भले ही न हो, किन्तु एक चिदणु दूसरे चिदणु का स्थान नहीं ले सकता है। एक चिदणु दूसरे से पृथक् है। कोई भी दो चिदणु परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते हैं। वास्तव में ‘अदृश्यों का अभेद’ सिद्धान्त चिदणुओं में सातत्य के सिद्धान्त का पूरक है। सातत्य-सिद्धान्त के अनुसार चिदणुओं की श्रृंखला शाश्वत है। प्रकृति में कहीं भी रिक्तता नहीं पायी जाती है। चिदणुओं की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के बीच में कोई अन्तराल (रिक्तता)

नहीं है। अदृश्यों के अभेद-सिद्धान्त में इस बिन्दु पर बल दिया गया है कि चिदणुओं की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के बीच में भले ही रिक्तता न हो, किन्तु कोई भी दो चिदणु अभिन्न नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्येक चिदणु की वैयक्तिकता (Individuality) पर बल दिया गया है। यह सिद्धान्त लाइबनिज के बहुत्ववाद अथवा अनेकतत्त्ववाद (Pluralism) की भी पुष्टि करता है।

लाइबनिज 'शक्ति के संरक्षण के नियम' (Law of the conservation of energy) में विश्वास करता है। उसके अनुसार चिदणुओं की शक्ति का योग सदा एक बना रहता है। इससे पहले डेकार्ट ने 'गति के संरक्षण के नियम' का प्रतिपादन किया था। लाइबनिज ने इसका खंडन करके 'शक्ति के संरक्षण-नियम' का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार गतिज ऊर्जा (Kinetic energy) का योग सदा एक बना रहता है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक इससे असहमत हैं। वर्तमान समय में गतिज ऊर्जा और संभाव्य ऊर्जा (Potential energy) के योग को स्थिर माना जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समस्त विश्व चिदणु समूहों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व में कहीं भी जड़ता, स्थिरता, मृत्यु, अंधकार, निराशा, पुनरावृत्ति, अव्यवस्था, दुःख, अशुभ आदि नहीं हैं। ये सब केवल भ्रान्त प्रतीतियाँ हैं। यह जगत् चेतन, गतिशील, शुभ एवं सभी संभावित विश्वों में सर्वोत्तम है।

पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का नियम (Doctrine of Pre-established Harmony)

लाइबनिज के दर्शन में चिदणु गवाक्षहीन हैं। सभी चिदणु स्वतन्त्र और क्रियाशील हैं। लाइबनिज के समक्ष यह एक जटिल समस्या है कि यदि सभी चिदणु एक दूसरे से स्वतंत्र हैं तो उनमें कोई सम्बन्ध कैसे संभव है? सृष्टि में एकरूपता, व्यवस्था और नियमबद्धता कैसे हो सकती है? आत्मा और शरीर के चिदणुओं में परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए लाइबनिज ने 'पूर्व स्थापित सामञ्जस्य के नियम' का प्रतिपादन किया। इस नियम के अनुसार ईश्वर ने सभी चिदणुओं को स्वतन्त्र बनाया है। ईश्वर ने उन्हें इस प्रकार बनाया है कि वे एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं। चिदणुओं की यह एकता अथवा सामंजस्य ईश्वर ने उनमें पहले से ही स्थापित कर दिया है। इस सार्वभौम पूर्वस्थापित सामञ्जस्य नियम के कारण प्रत्येक चिदणु स्वतन्त्र होते हुए भी विश्व की एकता और सामञ्जस्य को बनाये रखता है। जब ईश्वर ने चिदणुओं को बनाया तो उसी समय उनमें परस्पर सामञ्जस्य को भी स्थापित कर दिया। यह सामञ्जस्य चिदणुओं के स्वभाव में ही निहित है। लाइबनिज ने इसकी उपमा आर्केस्ट्रा (Orchestra) से दी है। यद्यपि प्रत्येक वाद्ययन्त्र की अपनी अलग-अलग स्वर-लहरी (सुरीली अवाज) होती है, तथापि इन वाद्ययन्त्रों का विशिष्ट स्वर परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण होता है। इसके परिणामस्वरूप एकतान संगीत की उत्पत्ति होती है।

लाइबनिज के अनुसार, यद्यपि ईश्वर ने सभी चिदणुओं को स्वतन्त्र बनाया है, तथापि उन्हें ऐसा बनाया गया है कि वे स्वभावतः सामञ्जस्यपूर्ण हों। वे पारस्परिक सामञ्जस्य के साथ-साथ अपनी चेतन शक्ति का विकास करते हैं। चिदणुओं का अन्तिम लक्ष्य परम चिदणु (ईश्वर) की अवस्था को प्राप्त करना है। इससे स्पष्ट है कि चिदणुओं की वैयक्तिकता (विशिष्टता) और अनेकता के होते हुए भी उनमें लक्ष्य की एकरूपता है। प्रत्येक चिदणु का परम

श्रेय सर्वोच्च चिदणु बनना है। यहाँ पर लाइबनिज का दर्शन स्पिनोजा से भिन्न हो जाता है। स्पिनोजा के नियतिवाद के विपरीत लाइबनिज प्रयोजनवादी है।

अपने पूर्वस्थापित सामञ्जस्य-नियम के द्वारा लाइबनिज डेकार्ट और स्पिनोजा के दर्शन की एक अत्यन्त जटिल समस्या-आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का भी समाधान करता है। लाइबनिज के अनुसार आत्मा और शरीर में किसी प्रकार का यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं है। द्वैतवादी होने के कारण डेकार्ट आत्मा और शरीर में अन्तर्क्रिया (क्रिया-प्रतिक्रिया) का सम्बन्ध मानता है। स्पिनोजा ने आत्मा और शरीर के द्रव्यात्मक द्वैत को गुणात्मक द्वैत में बदल दिया। वह विचार और विस्तार को परस्पर समानान्तर मानता है। लाइबनिज ने इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। वह डेकार्ट के अनुयायियों के द्वारा प्रतिपादित संयोगवाद को भी नहीं स्वीकार करता है। लाइबनिज कहता है कि आत्मा के चिदणुसमूहों और शरीर के चिदणुओं में उनकी सर्जना के समय से ही सामञ्जस्य एवं साहचर्य पाया जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बन्ध पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के नियम पर आधारित है।¹

लाइबनिज विश्व की जैविक अवयवी (Organic) अवधारणा पर विशेष बल देता है। ईश्वर ने विश्व की व्यवस्था इस प्रकार किया है कि उसे विश्व में हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता है। विश्व में पूर्ण सामञ्जस्य है।² यद्यपि विश्व में प्रत्येक वस्तु की व्याख्या यान्त्रिक ढंग से की जा सकती है क्योंकि उसमें एक व्यवस्था, नियम और एकता है, किन्तु यह नियम, व्यवस्था और एकरूपता किसी न किसी उच्च लक्ष्य की ओर संकेत करती है। यह परम लक्ष्य ईश्वर ही हो सकता है जिसे सृष्टि का मूल आधार कहा जा सकता है। ईश्वर ही समस्त घटनाओं का परम कारण और अन्तिम लक्ष्य है। जगत् की सभी वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। जगत् में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का प्रभाव संसार के हर एक पिण्ड में देखा जा सकता है। जब लाइबनिज चिदणुओं को गवाक्षहीन कहता है तो इसका निहितार्थ यह नहीं है कि वे परस्पर एक-दूसरे से पूरी तरह असम्बद्ध हैं। लाइबनिज के कहने का निहितार्थ यह है कि चिदणुओं में किसी प्रकार का दैशिक और कालिक सम्बन्ध नहीं है। देश और काल के अन्तर्गत आने वाले यान्त्रिक सम्बन्धों से चिदणु मुक्त हैं क्योंकि वे स्वरूपतः आध्यात्मिक (चेतन) हैं। पूर्वस्थापित सामञ्जस्य चिदणुओं के बीच में आध्यात्मिक (आन्तरिक) सम्बन्ध का विधान करता है क्योंकि यह सम्बन्ध ईश्वर के द्वारा स्थापित किया गया है। लाइबनिज के अनुसार जिसे यान्त्रिक सम्बन्ध समझा जा रहा है वह एक उच्च स्तरीय आन्तरिक सम्बन्ध पर निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि एक चिदणु पर अन्य चिदणुओं का प्रभाव तार्किक दृष्टि से पड़ता है। वस्तुतः यह प्रभाव ईश्वरकृत है। अतः विश्व की व्यवस्था आध्यात्मिक है।

लाइबनिज ने प्रकृति की यान्त्रिक व्यवस्था और दैवी कृपा पर आधारित नैतिक व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। ईश्वर इस विश्व रूपी मशीन (चिदणुओं की सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था) का स्रष्टा है। वह व्यष्टि रूप में एक-एक चिदणु का रचियता नहीं है, बल्कि संपूर्ण विश्व की सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था का स्रष्टा है। अतः प्रत्येक चिदणु अपने जन्म से

1 हम आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की सविस्तृत समीक्षा इसी खण्ड में आगे करेंगे। अतः यहाँ पर उसकी अतिरिक्त व्याख्या अपेक्षित नहीं है।

2 A History of Philosophy, Frank Thilly p. 372.

पहले ही विद्यमान है। उसका स्रष्टा होने के साथ-साथ ईश्वर इस व्यवस्था का नियामक और सर्वोच्च शासक है। चूँकि चिदणुओं का आविर्भाव ईश्वरीय चमत्कार से हुआ है, इसलिए वे ईश्वरीय इच्छा से ही नष्ट हो सकते हैं। ईश्वर के द्वारा बनायी गयी यह व्यवस्था चिदणुओं में निहित हैं, जिसे 'पूर्व-स्थापित सामंजस्य का नियम' कहा जाता है।

यह सिद्धान्त अत्यंत विवादास्पद है। ईश्वर पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम का स्रष्टा होते हुए भी चिदणु होने के कारण स्वयं भी इस नियम से बँधा हुआ है। अतः रसल ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उसके अनुसार गवाक्षहीन चिदणुओं के लिए इस नियम की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती है। चिदणुओं की गवाक्षहीनता, उनकी शाश्वत शृंखला एवं उनके सामंजस्यपूर्ण संबंध इत्यादि मान्यताएँ परियों की कहानियों जैसा तिलिस्मी गल्प प्रतीत होता है। इस प्रकार उसका दर्शन एक मानसिक व्यायाम मात्र प्रतीत होता है। रसल के अनुसार चिदणुवाद और ईश्वरवाद दोनों सिद्धान्त साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। यदि ईश्वर को चिदणुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का स्रष्टा माना जाय तो ईश्वर स्वयं चिदणु कैसे हो सकता है? यदि चिदणुवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो ईश्वर को चिदणुओं की व्यवस्था का स्रष्टा नहीं माना जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक चिदणु अपने विकास की अंतिम अवस्था में ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके दर्शन में ईश्वर बलात् थोप दिया गया हो। रसल के अनुसार ईश्वरवाद लाइबनिज के दर्शन का एक ढोंग है। उसका वास्तविक दर्शन चिदणुवाद है।¹

किन्तु यदि रसल की इस आलोचना को स्वीकार कर लिया जाय तो लाइबनिज का सम्पूर्ण दर्शन ही ध्वस्त हो जायेगा। उल्लेखनीय है कि पूर्व स्थापित सामंजस्य-नियम के बिना चिदणुवाद की स्थापना नहीं की जा सकती है। चूँकि इस सार्वभौम नियम का सूत्रधार ईश्वर है, इसलिए ईश्वर के अभाव में सामंजस्य-नियम की व्याख्या नहीं की जा सकती है। वस्तुतः लाइबनिज के चिदणुवाद में ईश्वर की अवधारणा अपरिहार्य हो जाती है। अतः यह आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि ईश्वरवाद लाइबनिज के दर्शन का पाखंड है।²

ईश्वर (God)

लाइबनिज के दर्शन में प्रतिपादित ईश्वर की अवधारणा ईसाई धर्मशास्त्र की संकीर्ण सीमाओं तक ही सीमित नहीं है। वह भले ही एक प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था, तथापि उसमें किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता न थी। कहा जाता है कि रुढ़िवादी ईसाइयों को उसके धार्मिक होने के बारे में भी संदेह होने लगा था क्योंकि वह चर्च में नहीं जाता था। अतः लाइबनिज का ईश्वर संबंधी विचार अत्यंत विवाद का विषय रहा है। वह स्वरूपतः ईश्वर को एक 'परम चिदणु' (Supreme Monad) मानता है, किन्तु इसके साथ-साथ ईश्वर गवाक्षहीन चिदणुओं की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था का सूत्रधार भी है। उसके अनुसार ईश्वर की तुलना में अन्य सभी चिदणु अपूर्ण, अपेक्षाकृत कम क्रियाशील एवं कम शक्तिशाली होते हैं। ईश्वर पूर्ण रूप से सक्रिय (Actus Porus) चिदणु है। वह विकास के सर्वोच्च शिखर पर है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य

1 Philosophy of Leibnitz. Russell, Preface of the Second edition.

2 लाइबनिज के दर्शन की कुछ विस्तृत समालोचना के लिए आगे लाइबनिज के दर्शन का मूल्यांकन देखें।

चिदणु कुछ न कुछ निष्क्रिय और सूक्ष्म जड़ता से ग्रस्त हैं। किन्तु ईश्वर अशरीरी, पूर्ण रूप से गतिशील और सूक्ष्म जड़ता से पूर्णतया मुक्त चिदणु है। अतः लाइबनिज का ईश्वर चिदणु होते हुए भी अन्य चिदणुओं से भिन्न है।

लाइबनिज के दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई युक्तियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है — प्रथम प्रागनुभविक (Apriori) युक्ति एवं द्वितीय आनुभविक (Aposteriori) युक्ति।

प्रागनुभविक युक्ति के अंतर्गत मुख्य रूप से सत्तामूलक तर्क आता है। यद्यपि लाइबनिज ने नित्य सत्तों पर आश्रित युक्ति एवं पूर्व-स्थापित सामंजस्य नियम पर आधारित युक्ति का भी उल्लेख किया है, तथापि इन तर्कों का अंतर्भाव किसी न किसी रूप में सत्तामूलक तर्क और सृष्टि वैज्ञानिक तर्क के अंतर्गत हो जाता है।

सत्तामूलक तर्क — इसके अनुसार ईश्वर सबसे अधिक पूर्ण सत्ता है, क्योंकि सर्वाधिक पूर्ण तत्त्व का संप्रत्यय संभव है। उसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। सबसे पूर्ण सत् के रूप में ईश्वर को मानना आवश्यक है क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों का परम लक्ष्य है। चूँकि ईश्वर अनेक पूर्णताओं का आदर्श है, इसलिए उसकी सत्ता तर्कतः सिद्ध होती है। 'ईश्वर ही समस्त पूर्णताओं का आधार है,' इस दृष्टि से लाइबनिज ने उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि लाइबनिज ने डेकार्ट के द्वारा दिए गए सत्तामूलक तर्क को अपूर्ण माना है। उसके अनुसार डेकार्ट के द्वारा दी गई युक्ति से यह नहीं सिद्ध होता है कि ईश्वर का प्रत्यय संभव है। डेकार्ट की युक्ति से केवल यह सिद्ध होता है कि यदि पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय संभाव्य है तो ईश्वर का अस्तित्व है। लाइबनिज कहता है कि डेकार्ट ने यह नहीं दिखाया है कि सत्ता का प्रत्यय और सर्वाधिक पूर्ण तत्त्व का प्रत्यय सामंजस्यपूर्ण है। उसके इन दोनों प्रत्ययों का संयोजन व्याघाती हो सकता है। इसे एक युक्ति के रूप में प्रस्तुत करना सुविधाजनक होगा।

सभी संभव वस्तुओं का अस्तित्व है। (मुख्य आधार वाक्य)

ईश्वर संभव है। (अमुख्य आधार वाक्य)

अतः ईश्वर का अस्तित्व है। (निष्कर्ष)

लाइबनिज के अनुसार, चूँकि सत्ता का प्रत्यय और सर्वाधिक पूर्ण तत्त्व के प्रत्यय का सह-संयोजन व्याघाती हो सकता है क्योंकि डेकार्ट ने दोनों के सामंजस्यपूर्ण होने की व्याख्या नहीं की है, इसलिए पूर्वोक्त आधारवाक्यों को स्वीकार करने पर भी डेकार्ट की मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष (ईश्वर का अस्तित्व है) को निगमित नहीं किया जा सकता है। अतः डेकार्ट का साक्ष्य अपूर्ण है।¹ सत्तामूलक युक्ति के अनुसार केवल ईश्वर के संदर्भ में ही विधेय पद, उद्देश्य पद के अंतर्गत निहित हो सकता है। किन्तु अन्य संदर्भों में ऐसा संभव नहीं है। रसल के अनुसार यह युक्ति 'ईश्वर है', इस वाक्य को विश्लेषणात्मक मान लेती है। अन्य चिदणुओं के संबंध में लाइबनिज ने अस्तित्व को विधेय नहीं माना है।² इस प्रकार लाइबनिज दो परस्पर विरोधी बातें स्वीकार कर लेता है। यदि यह कहा जाय कि 'ईश्वर का अस्तित्व' ईश्वर की परिभाषा से फलित होता है तो यह मान्यता तर्कवाक्यों के अस्तित्ववादी दृष्टिकोण (सत्तात्मक पूर्वमान्यता) को स्वीकार कर लेती है।² यदि सभी तर्कवाक्य किसी न किसी अस्तित्वयुक्त वस्तु

1 'The Monadology and other Philosophical Writings, Robert Latta, p. 274-276.

2 'A Critical Exposition of the Philosophy of Leibnitz' — Russell, p. 182.

की ओर संकेत करते हैं तो संभाव्यता और वास्तविकता में अंतर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार लाइबनिज के लिए आपातिकता और अनिवार्यता में अंतर करना कठिन होगा।

सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति — समस्त आनुभविक तर्कों को सृष्टि वैज्ञानिक तर्क के अंतर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। वस्तुतः सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति आनुभविक साक्ष्य के अंतर्गत आती है। लाइबनिज के अनुसार विश्व में प्रत्येक वस्तु आकस्मिक है। यदि यह कहा जाय कि विश्व सदैव से अस्तित्वयुक्त रहा है तो भी इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता है कि विश्व की सत्ता क्यों है? लाइबनिज का दावा है कि केवल उसी वस्तु को सत्य माना जा सकता है जिसका कोई 'पर्याप्त कारण' (Sufficient Reason) हो! इसी प्रकार इस सृष्टि का भी कोई न कोई पर्याप्त कारण अवश्य होगा। सृष्टि का यह पर्याप्त कारण ईश्वर ही हो सकता है। यद्यपि ईश्वर का अस्तित्व है, तथापि वह इस सृष्टि की रचना करने के लिए बाध्य नहीं हो सकता है। यह जगत् ईश्वर के शुभ-संकल्प पर आधारित है।

लाइबनिज के द्वारा दी गई यह युक्ति प्रथम कारण की मान्यता से भिन्न है। प्रथम कारण की मान्यता पर आधारित युक्ति के अनुसार कारण-कार्य की श्रृंखला में आदि कारण पर विशेष बल दिया जाता है। लाइबनिज के द्वारा दिया गया तर्क प्रथम कारण के स्थान पर पर्याप्त कारण की मान्यता पर आधारित है।

इस संदर्भ में लाइबनिज ने नित्य सत्त्यों पर आधारित एक तर्क दिया है। उसके अनुसार कुछ कथन आपातिक रूप से सत्य होते हैं (जैसे — गुलाब लाल है) और कुछ कथन शाश्वत रूप से सत्य होते हैं (जैसे — त्रिभुज त्रिकोणात्मक होता है)। आपातिक सत्य का आधार भी नित्य सत्य में खोजना चाहिए। लाइबनिज के अनुसार यदि नित्य द्रव्य न हो तो नित्य सत्य भी नहीं होगा। ईश्वर ही नित्य सत्य का आधार हो सकता है। वस्तुतः नित्य सत्त्यों पर आधारित तर्क भी सृष्टि वैज्ञानिक तर्क के समान है। ईश्वरीय बुद्धि ही नित्य सत्त्यों की आश्रय अथवा पर्याप्त कारण हो सकती है। वस्तुतः यह सृष्टि वैज्ञानिक तर्क का ही एक दूसरा रूप है।

यदि पर्याप्त कारण की मान्यता को अस्वीकार कर दिया जाय तो यह तर्क स्वतः खंडित हो जाता है। यदि प्रत्येक वस्तु का पर्याप्त कारण माना जाय तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर का पर्याप्त कारण क्या है? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर का कोई भी पर्याप्त कारण नहीं हो सकता है तो पर्याप्त कारण पर आश्रित इस युक्ति का स्वतः निराकरण हो जाता है। रसल के अनुसार स्वयं लाइबनिज भी ईश्वर और नित्य सत्य में भेद करता है। यदि दोनों को एक न माना जाय तो ईश्वर की सत्ता के अभाव में भी नित्य सत्य संभव हो सकता है। अतः अनुभवमूलक साक्ष्य पर आधारित सृष्टि वैज्ञानिक तर्क भी ईश्वर की सत्ता को निर्दोष रूप में प्रमाणित नहीं करता है।

इन तर्कों के अतिरिक्त लाइबनिज ने 'पूर्व-स्थापित सामंजस्य नियम' के आधार पर भी ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया है। ईश्वर ही चिदणुओं में सामंजस्य के नियम का व्यवस्थापक है। यह युक्ति जगत् की व्यवस्थाओं को प्रयोजन पर आश्रित मानती है। रसल के अनुसार यह युक्ति चिदणुओं की पूर्णता और स्वतंत्रता का अपहरण कर लेती है। यदि ईश्वर ही समस्त चिदणु-व्यवस्था का स्रष्टा है तो चिदणुओं को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है।

अतः चिदणुवाद और ईश्वरवाद लाइबनिज के दर्शन में संगतिपूर्ण नहीं है। ईश्वरत्व को प्राप्त करने की प्रेरणा से विकासशील चिदणुओं को तर्कतः न तो गवाक्षहीन कहा जा सकता है और न ही पूर्ण कहा जा सकता है। रसल के अनुसार वास्तव में, लाइबनिज चिदणुवादी है। किन्तु वह एक दार्शनिक होने के साथ-साथ एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। वह स्पिनोजा की सामाजिक दुर्दशा से परिचित था। अतः ईश्वर को स्वीकार करना लाइबनिज की विवशता प्रतीत होती है। यद्यपि रसल की यह आलोचना कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण है, तथापि चिदणुवाद के साथ-साथ ईश्वरवाद को स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। चिदणुवाद या तो सर्वेश्वरवाद में परिणत हो जाता है, या फिर अन्तर्विरोध से ग्रस्त हो जाता है। लाइबनिज अपने दर्शन में ईसाई धर्म की ईश्वरवादी मान्यताओं को समाविष्ट करना चाहता था। वह स्पिनोजा के समान सर्वेश्वरवादी नहीं हो सकता था क्योंकि ऐसी मान्यता ईसाई धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। अतः उसका ईश्वर सृष्टि से अभिन्न नहीं, बल्कि सृष्टिकर्ता और सृष्टि का व्यवस्थापक है। लाइबनिज का ईश्वर स्वतंत्र होते हुए भी निरंकुश नहीं है। उसके कार्य तार्किक नियमों के अनुसार संचालित होते हैं।

तार्किक दृष्टि से अशुभ भी आवश्यक है। यदि अशुभ न होता तो केवल शुभ जगत् इस सृष्टि से श्रेष्ठ न होता। उच्च स्तरीय शुभ अशुभ के अभाव में अर्थपूर्ण नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति गर्मी के ताप से व्याकुल होता है, वृक्षों की शीतल छाया उसे ही समुचित मात्रा में सुख प्रतीत होती है।¹ वास्तव में लाइबनिज ने सन्त आगस्टाइन और थामस एक्विनास के समान यह स्वीकार किया है कि ईश्वर ने विश्व में व्याप्त अशुभ को शुभ के पक्ष में दिया है।² लाइबनिज अशुभ को शुभ और सौन्दर्य की सीमा मानता है। अशुभ शुभ के संवर्धन में महत्वपूर्ण होता है। अशुभ के बिना शुभ के महत्त्व और सार्थकता का बोध नहीं होता है। अशुभ का स्रोत ईश्वर नहीं है, बल्कि उन वस्तुओं की प्रकृति है, जिसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। लाइबनिज ने अशुभ की समस्या का समाधान नव्य प्लेटोवादी और ईसाई दार्शनिकों के ही समान ही किया है। लाइबनिज के अनुसार यद्यपि इस जगत् में अशुभ है, किन्तु इसकी तुलना में शुभ की मात्रा अधिक है। अतः यह जगत् सभी संभव जगत्ओं में सर्वोत्तम है।³

बुद्धिवाद में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या आधुनिक यूरोपीय दर्शन की एक जटिल समस्या है। यह समस्या डेकार्ट के द्वैतवाद से प्रारंभ होती है। उसके अनुसार आत्मा और शरीर दोनों एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र हैं। आत्मा चैतन्य से युक्त है। इसके विपरीत शरीर एक भौतिक तत्त्व है जिसमें केवल विस्तार पाया जाता है। डेकार्ट आत्मा को चेतन द्रव्य और शरीर को जड़ द्रव्य मानता है जो परस्पर विरोधी गुणों से युक्त हैं। आत्मा केवल चिन्तनशील है। उसमें लेशमात्र भी विस्तार नहीं है। इसके विपरीत शरीर केवल विस्तारवान् है और उसमें चिन्तन (विचार) का नितान्त अभाव है। डेकार्ट के अनुसार मनुष्य न केवल मन है और न केवल शरीर

1 जो अति आतप आतुर होई,

तरु छाया सुख जानत सोई।। — तुलसीदास..

2 The Principles of Nature and of Grace, Section No. 10.

3 This is the best possible world. — Leibnitz.

है। वह आत्मा (मन) और शरीर अर्थात् विचार और विस्तार दोनों का संयुक्त रूप है। प्रश्न उठता है कि दो परस्पर विरोधी गुणों वाले द्रव्य (आत्मा और शरीर) परस्पर कैसे संबंधित हो सकते हैं? यही डेकार्ट के द्वैतवाद की मूलभूत समस्या है। गिल्बर्ट राइल ने इसे 'अधिकृत सिद्धान्त' (Official Theory) कहा है। प्रश्न उठता है कि आत्मा और शरीर को दो अलग-अलग द्रव्य मानने से उत्पन्न समस्या का द्वैतवादी दर्शन में क्या समाधान हो सकता है?

डेकार्ट का अन्तर्क्रियावाद — आत्मा और शरीर में संबंध स्थापित करने के लिए डेकार्ट ने अंतर्क्रियावाद या क्रिया-प्रतिक्रियावाद (Interactionism) का प्रतिपादन किया है। अंतर्क्रियावाद के अनुसार आत्मा और शरीर एक-दूसरे के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। एक तत्त्व की क्रिया से दूसरे तत्त्व में प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्रश्न उठता है कि चेतन और अचेतन तत्त्व एक-दूसरे को क्यों प्रभावित करते हैं? यदि वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तो उन्हें एक-दूसरे से स्वतंत्र कैसे कहा जा सकता है? इन प्रश्नों का डेकार्ट के दर्शन में कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। वह कहता है कि आत्मा और शरीर में अंतर्क्रिया एक 'पीनियल ग्लैंड' (Pineal Gland) के माध्यम से होती है। पीनियल ग्लैंड शारीरिक है क्योंकि यह मस्तिष्क (Brain) का सूक्ष्मतम मध्य भाग है। डेकार्ट ने इसे आत्मा का आसन कहा है। यद्यपि आत्मा संपूर्ण शरीर में व्याप्त होता है, तथापि उसका प्रमुख स्थान पीनियल ग्लैंड है। शारीरिक परिवर्तनों और गतियों के कारण पीनियल ग्लैंड भी गतिशील हो जाता है, जिसके कारण वहाँ पर स्थित आत्मा भी हिल जाता है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा संवेदनाओं और भावनाओं का अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार ऐच्छिक कार्यों, संकल्पों, भावनाओं, इच्छाओं आदि के अवसर पर आत्मा के क्रियाशील (चिंतनशील) होने पर पीनियल ग्लैंड भी गतिशील हो जाती है। इसके फलस्वरूप संपूर्ण शरीर में गति पैदा हो जाती है। इस प्रकार आत्मा और शरीर क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। डेकार्ट ने आलंकारिक भाषा में पीनियल ग्लैंड को आत्मा और शरीर का मिलन-केन्द्र (मिलन-शय्या) कहा है।

डेकार्ट का यह अंतर्क्रियावाद दर्शन जगत् में कटु आलोचना का विषय रहा है। उन्होंने इस समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह तार्किक दृष्टि से आपत्तिजनक है। समस्या यह है कि यदि आत्मा और शरीर का तथाकथित मिलन-केन्द्र (पीनियल ग्लैंड) शारीरिक है तो उसे विस्तार-युक्त कहा जायेगा। यदि पीनियल ग्लैंड विस्तारवान् है तो वह विस्तार से रहित आत्मा का मिलन-केन्द्र कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यदि मन और शरीर एक-दूसरे से नितान्त भिन्न स्वभाव वाले हैं तो उनमें अंतर्क्रिया (संबंध) कैसे हो सकती है? यही समस्या भारतीय दर्शन में सांख्य के द्वारा प्रतिपादित पुरुष और प्रकृति के संबंध को लेकर है। अद्वैत वेदान्तियों ने परस्पर विरोधी गुणों वाली दो स्वतंत्र सत्ताओं में किसी प्रकार के संबंध को तर्कतः असंतोषप्रद कहा है। द्वैतवाद के विरुद्ध उठाए गए समस्त आक्षेप डेकार्ट पर भी लागू होते हैं। संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाले चेतन तत्त्व को शरीर के एक भाग विशेष तक सीमित करना एवं मस्तिष्क के इस अंश विशेष को आत्मा व शरीर का मिलन-केन्द्र कहना, डेकार्ट के मन की कल्पना मात्र है। वस्तुतः अंतर्क्रियावाद आत्मा को दैशिक बना देता है जो असंभव है। यदि आत्मा और शरीर एक-दूसरे से भिन्न और परस्पर विरोधी द्रव्य हैं, तो दोनों के पारस्परिक संबंधों का तार्किक विवेचन नहीं किया जा सकता है।

राइल ने आत्मा और शरीर अथवा चेतन और जड़तत्त्व के इस द्वैत का खंडन किया है। उसने डेकार्ट के द्वैतवाद की आलोचना करते हुए व्यंगालक शैली में इसे 'मशीन' (शरीर) में प्रेत (आत्मा) का पूर्वाग्रह' कहा है।¹ राइल इसे एक 'अधिकृत सिद्धान्त' कहता है जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का जनक है। चेतन और जड़तत्त्व दोनों को पृथक्-पृथक् प्रकार की सत्ता मानने में एक विशेष प्रकार की भूल हुई है। राइल ने इसे 'कोटि-भ्रम' (Category-Mistake) कहा है। इस भ्रम का कारण यह है कि मानसिक जीवन के तथ्यों को एक वर्ग के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है, जबकि वे किसी अन्य कोटि के अंतर्गत आते हैं।² इस प्रकार शरीर से भिन्न अभौतिक तत्त्व को मानना 'मशीन में प्रेत' का पूर्वाग्रह है। राइल ने इस मताग्रह को दार्शनिक गल्प (Philosopher's myth) कहा है।³ इस प्रकार राइल यह प्रश्न करता है कि मशीन (शरीर) के अंदर में बन्द प्रेत (आत्मा) मशीन के बाहर की दुनिया को कैसे जान सकता है? इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर देना डेकार्ट के लिए असंभव है। राइल के कहने का तात्पर्य यह है कि विचार और विस्तार का यह वर्गीकरण गलत है।

डेकार्ट के आत्मा विषयक सिद्धान्त का तार्किक परिणाम यह है कि मनुष्येतर प्राणियों में आत्मा नहीं है, क्योंकि वे विचारशील नहीं हैं। जो विचारशील हैं, केवल वे ही आत्मा से युक्त हैं। इस दृष्टि से पशु-पक्षी, कीट-पतंगे आदि अविचारशील होने के कारण आत्मा से रहित भौतिक द्रव्य की कोटि में आ जाते हैं। वे मशीनों के समान हैं और उनके व्यवहार तथा क्रियाएँ यांत्रिक हैं। डेकार्ट के दर्शन की ये मान्यताएँ उस समय में प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों से प्रभावित हैं। ईसाई धर्म शास्त्रियों के अनुसार पशु-पक्षियों में आत्मा नहीं पायी जाती है। मध्यकालीन दार्शनिकों के समान डेकार्ट भी वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों में आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है।

डेकार्ट के द्वारा उठाई गई इस समस्या के संबंध में अनेक परवर्ती दार्शनिकों ने पर्याप्त चिंतन किया। इस संदर्भ में डेकार्ट के दो प्रमुख अनुयायियों ऑरनाल्ड ग्यूलिक्स और निकोलस मेलेब्रॉश के नाम उल्लेखनीय हैं। आत्मा और शरीर के संबंध की समस्या को हल करने के लिए डेकार्ट के अनुयायियों ने 'ईश्वर निमित्तवाद' (Occasionalism) का प्रतिपादन किया। वे आत्मा और शरीर के संबंध की व्याख्या करने के लिए ईश्वर का आश्रय लेते हैं। मानसिक क्रियाओं एवं शारीरिक क्रियाओं के बीच संबंध का सूत्रधार ईश्वर है। ईश्वर ही मानसिक संकल्पों और इच्छाओं के अनुसार शारीरिक व्यवहार उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वह शारीरिक व्यवहार के अनुरूप इन शारीरिक क्रियाओं का ज्ञान मन (आत्मा) को प्रदान करता है। डेकार्ट के अनुयायियों के अनुसार मनुष्य के संकल्प, इच्छाएँ, भावनाएँ आदि ईश्वर के उपकरण मात्र हैं। इनकी सहायता से ही ईश्वर मन और शरीर में संबंध स्थापित करता है। चूँकि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, इसलिए वह आत्मा की समस्त इच्छाओं और संकल्पों को जानता है। इसके साथ-साथ ईश्वर को शारीरिक क्रियाओं की भी जानकारी रहती है। ईश्वर निमित्तवाद का आधार डेकार्ट का दर्शन है। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट आत्मा और शरीर को द्रव्य मानते हुए भी उन्हें ईश्वर पर आश्रित मानता है। ग्यूलिक्स और मेलेब्रॉश के अनुसार निमित्तवाद ही डेकार्ट

1 Dogma of the Ghost in the machine.

2 It represents the facts of mental life as if they belong to one logical type or category, when they actually belong to another. Ryle in 'The Concept of Mind' — p. 16.

3 बही

का वास्तविक मत है। किन्तु इसे डेकार्ट का वास्तविक मत मानने में विवाद है। कुछ आलोचकों के अनुसार डेकार्ट आत्मा और शरीर के संबंध को द्रव्यवत् मानता है, अर्थात् आत्मा और शरीर के साथ-साथ दोनों के बीच का संबंध भी द्रव्य है।¹ किन्तु यदि आत्मा और शरीर के संबंध को द्रव्यवत् मान लिया जाय तो यह संबंध कभी भी नष्ट नहीं हो सकता है। चूँकि द्रव्य अविनाशी होता है, इसलिए आत्मा और शरीर का अलगाव नहीं हो सकता है। यह मत न केवल अतार्किक है, बल्कि सामान्य अनुभव के भी विरुद्ध है। हम देखते हैं कि आत्मा और शरीर का संबंध मृत्यु के द्वारा समाप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस समस्या का संतोषजनक समाधान डेकार्ट के दर्शन में नहीं मिलता है।

स्पिनोजा का समानान्तरवाद — स्पिनोजा ने डेकार्ट के द्रव्यात्मक द्वैत का निराकरण करके उसे गुणात्मक द्वैत में परिणत कर दिया। उसके अनुसार मानसिक और भौतिक घटनाएँ एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं। विचार और विस्तार दोनों एक ही द्रव्य के दो समानान्तर गुण हैं। मनुष्य विकारों का एक पुँज है। मानसिक और भौतिक गुणों से युक्त होते हुए भी मनुष्य स्वरूपतः भौतिक नहीं है। मनुष्य ईश्वर के गुणों (विचार एवं विस्तार) अथवा उनके माध्यम से अभिव्यक्त विकारों की संरचना है। प्रश्न उठता है कि एक ही व्यक्ति में दो परस्पर विरोधी गुणों के विकार कैसे रहते हैं? यद्यपि स्पिनोजा ने इसका स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि इसकी व्याख्या करने के लिए उसके दर्शन में विचार और विस्तार दोनों को एक-दूसरे के समानान्तर माना गया है। इसी प्रकार मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ एक-दूसरे के समानान्तर रूप में घटित होती हैं। मन और शरीर दोनों एक द्रव्य की दो समानान्तर किरणें हैं। अतः एक-दूसरे से भिन्न होने पर भी वे एक ही व्यक्ति से संबंधित रहती हैं। स्पिनोजा के द्वारा उठायी गयी इस समस्या पर समकालीन दर्शन में भी विचार किया गया है। समकालीन दर्शन में इसे 'द्विपक्षीय सिद्धान्त' *The Double Aspect Theory* के नाम से जाना जाता है। स्पिनोजा के अनुसार मानसिक और भौतिक घटनाएँ एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं। स्पिनोजा आत्मा और शरीर के संबंध को लेकर डेकार्ट के अंतर्क्रियावाद के स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना करता है। चूँकि चेतन और अचेतन दोनों को डेकार्ट ने एक-दूसरे से स्वतंत्र द्रव्य मान लिया है, इसलिए उनमें अंतर्क्रिया का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है। वे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया-प्रतिक्रिया क्यों करेंगे? डेकार्ट समस्या के इस पक्ष की व्याख्या नहीं कर पाता। इस कठिनाई के कारण ही स्पिनोजा ने द्रव्यों के द्वैतवाद का निराकरण करके दो समानान्तर गुणों के द्वैत को स्वीकार किया। दूसरे शब्दों में, विचार और विस्तार दो परस्पर विरोधी द्रव्य नहीं हैं। इन दोनों का अधिष्ठान एक पूर्ण द्रव्य है, जिसके स्वभाव से ये दोनों गुण समानान्तर रूप से प्रकाशित होते हैं। विचार और विस्तार दोनों का आधार एक ही द्रव्य को मान लेने के कारण स्पिनोजा उनके विरोधी स्वभाव में सामंजस्य स्थापित कर देता है। इस प्रकार वह डेकार्ट के दर्शन की इस महत्वपूर्ण समस्या को हल करने का प्रयास करता है। अब आत्मा और शरीर के संबंध के लिए उनमें अंतर्क्रिया मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है क्योंकि प्रत्येक घटना मानसिक और शारीरिक दोनों है। मानसिक और शारीरिक दोनों क्रियाओं का एक ही आश्रय है।

1 New Studies in the Philosophy of Descartes — p.256: आधुनिक दर्शन की भूमिका में उद्धृत, p. 69.

आत्मा और शरीर में कोई संयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि वे स्वभावतः एक ही द्रव्य से संबंधित होने के कारण वे एक-दूसरे के सहयोगी हैं। आत्मा शरीर का विचार है और शरीर आत्मा का विस्तार है। जो विचार हमारे मन में उठता है, उसके समानान्तर ही शरीर में कोई क्रिया, गति अथवा घटना घटित होती है। इसी प्रकार यदि हमारे शरीर में कोई क्रिया या घटना घटित होती है तो उसके ठीक समानान्तर ही मन में उस क्रिया या घटना का विचार उत्पन्न हो जाता है। डेकार्ट और उसके अनुयायियों ने भ्रमवश इसे ही एक दूसरे के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया समझने की भूल की। वस्तुतः मनुष्य का मन ईश्वर की अनंत बुद्धि का एक अंश है और उसका शरीर ईश्वर के विस्तार नामक गुण से उत्पन्न अनंत गति एवं स्थिरता का एक अंश है। इस प्रकार मन और शरीर क्रमशः विचार और विस्तार के विकार हैं। मनुष्य एक ही द्रव्य के इन समानान्तर गुणों से उत्पन्न विकारों की रचना है। स्पिनोजा के अनुसार प्रत्येक मानसिक प्रत्यय के अनुरूप एक शारीरिक घटना और प्रत्येक शारीरिक घटना एवं कर्म के अनुरूप एक मानसिक प्रत्यय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जगत् में वस्तुओं के अनुरूप प्रत्ययों का क्रम और प्रत्ययों के अनुरूप ही वस्तुओं का क्रम है। वस्तुओं और घटनाओं का यह क्रम प्रत्ययों और विचारों के समानान्तर पाया जाता है।

प्रश्न उठता है कि क्या मन (आत्मा) शरीर से अलग हो सकता है? स्पिनोजा के अनुसार शरीर का ज्ञान ही आत्मा का प्रत्यय है। आत्मा ज्ञाता और शरीर ज्ञेय है। इस दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, मन और शरीर परस्पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार से दोनों में से किसी भी तत्त्व का कभी भी पूर्ण अभाव नहीं हो सकता है। आत्मा कभी भी अशरीरी नहीं हो सकता है। इसका संबंध सदैव शरीर के साथ पाया जाता है। अतः दोनों का संबंध शाश्वत (नित्य) है। किन्तु क्या मृत शरीर नहीं देखा जाता है? क्या व्यक्ति अमर है? स्पिनोजा के अनुसार, चूँकि मानव बुद्धि ईश्वर की अनंत बुद्धि का ही एक अंश है, इसलिए मन अविनाशी है। मृत्यु न तो शरीर का नाश कर सकती है और न आत्मा का नाश कर सकती है। मृत्यु केवल शरीर का रूपान्तरण करती है। मृत्यु के द्वारा शरीर का स्थूल रूप सूक्ष्म हो जाता है। निरपेक्ष द्रव्य के रूप में प्रत्येक वस्तु नित्य और अमर है। इस प्रकार आत्मा के प्रत्यय और शरीर की क्रियाएँ, अर्थात् वैचारिक प्रत्यय और वैस्तारिक घटनाएँ एक-दूसरे के समानान्तर हैं।

स्पिनोजा का यह मत भगवद्गीता की तत्त्वमीमांसा से तुलनीय है। गीता के अनुसार, जो असत् है उसका कभी अस्तित्व नहीं हो सकता है (जैसे— बंध्यापुत्र) और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता है। गीता में इसे एक स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

गीता के अनुसार प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें क्रमशः अव्यक्त, व्यक्त और अंत में तीसरी अवस्था पुनः अव्यक्तता से संबंधित होती है। तीसरी अवस्था में वस्तु पुनः विलीन (अव्यक्त) हो जाती है। इस तीसरी अवस्था को ही साधारण लोग उसका नाश मान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि वस्तु का आदि और अंत दोनों अव्यक्त अवस्था से संबंधित हैं। केवल उसकी मध्यवर्ती अवस्था ही व्यक्त होती है, जिसे कार्य कहा जाता है। इस दृष्टि से गीता के समान स्पिनोजा भी कहता है कि जन्म और मृत्यु केवल परिवर्तन हैं, न कि आत्यंतिक अभाव।

- 1 इसकी तुलना गीता के इस सिद्धान्त से की जा सकती है — 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता 2/16), अर्थात् असत् का अस्तित्व और सत् का आत्यंतिक अभाव असंभव है। गीता में पुरुष और प्रकृति को क्रमशः ईश्वर का 'पर' और 'अपर' स्वभाव (प्रकृति) कहा गया है। अतः ये दोनों अविनाशी हैं। इसी प्रकार स्पिनोजा विचार एवं विस्तार के विकारों को भी अविनाशी मानता है।

प्रत्येक असत् वस्तु का अभाव सदा अभाव ही बना रहता है। दूसरे शब्दों में, केवल असत् का ही आत्यन्तिक अभाव हो सकता है।

सामञ्जस्य-नियम पर आधारित आत्मा और शरीर का संबंध

लाइबनिज के अनुसार आत्मा और शरीर में न तो अंतर्क्रिया का संबंध है और न ही संयोगवाद है। वह स्पिनोजा के समानान्तरवाद को भी स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार चेतन और जड़ अथवा विचार और विस्तार का द्वैत असंगत है। शरीर चिदणुओं का समूह है। चिदणुओं के इस समूह में सर्वाधिक क्रियाशील चिदणु को आत्मा कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि सर्वाधिक विकसित और सक्रिय चिदणु ही आत्मा है। ईश्वर के अतिरिक्त प्रत्येक चिदणु शरीरी है। सभी चिदणु अपने आंतरिक नियमों के अनुसार विकास की प्रक्रिया में हैं। अल्प विकसित चिदणु अपेक्षाकृत अधिक विकसित चिदणुओं की ओर आकर्षित होते हैं। शरीरी चिदणु आत्मचिदणु के द्वारा अनुशासित होते हैं क्योंकि आत्मा उनका साध्य है। शरीर चिदणुओं का पारस्परिक संघात (Compossibility) है। किन्तु चिदणुओं का कोई संघात स्थिर नहीं होता। चिदणुओं के इस समूह को 'स्थूल जड़ता' (Materia Secunda) कहा गया है। यह स्थूल जड़ता वास्तविक नहीं, बल्कि आभास मात्र है। चिदणु समूहों के परिवर्तन से स्थूल जड़ता अदृश्य हो जाती है और दूसरी स्थूल जड़ता प्रकट हो जाती है। लाइबनिज के अनुसार जन्म और मृत्यु भी एक प्रकार के आत्यन्तिक परिवर्तन हैं। इससे स्पष्ट है कि जन्म और मृत्यु चिदणु समूहों के रूपान्तरण के अंतर्गत आते हैं। इससे किसी तत्त्व का आत्यन्तिक नाश नहीं होता है। मूल तत्त्व अविनाशी चिदणु हैं। शरीर के चिदणु-समूह स्थूल जड़ता के कारण निष्क्रिय प्रतीत होते हैं। इस प्रकार चिदणुवाद की दृष्टि से आत्मा और शरीर दोनों अमर हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लाइबनिज के अनुसार आत्मा और शरीर दोनों न तो परस्पर विरोधी द्रव्य हैं (जैसा कि डेकार्ट ने माना) और न दूसरे के समानान्तर गुण हैं (जैसा कि स्पिनोजा ने माना है)। वह ग्यूलिक्स और मेलेब्रोश जैसे निमित्तेश्वरवादियों के समान आत्मा और शरीर के संबंध के लिए सदैव ईश्वरीय हस्तक्षेप को भी नहीं स्वीकार करता है। चूँकि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इसलिए आत्मा और शरीर में संबंध स्थापित करने के लिए उसे बार-बार हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता है। आत्मा और शरीर क्रमशः चिदणुओं की क्रियाशील और अल्प-क्रियाशील दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओं में कोई गुणात्मक भेद नहीं है। ईश्वर ने इन दोनों में इस प्रकार सामंजस्य स्थापित कर दिया है कि एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी चिदणुओं में संबंध बना रहता है। ईश्वर ने चिदणुओं के स्वभाव में ही यह सामंजस्य स्थापित कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि लाइबनिज के दर्शन में डेकार्ट के द्वैतवाद से उत्पन्न आत्मा और शरीर के संबंध की समस्या कोई विशेष महत्व नहीं रखती है। चूँकि लाइबनिज विस्तार को विभाज्य मानता है, इसलिए जड़ (विस्तार) को वास्तविक सत्ता नहीं कहा जा सकता। वह अपने पूर्ववर्ती सभी सिद्धान्तों का निराकरण कर देता है। इस संदर्भ में उसके द्वारा प्रतिपादित दो घड़ियों का प्रसिद्ध सादृश्यानुमान उल्लेखनीय है। उसने इसकी व्याख्या तीन प्रकार से की है। इनमें से प्रथम मत डेकार्ट का है, जिसके अनुसार दोनों घड़ियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। दूसरा मत डेकार्ट के अनुयायियों का है, जिसके अनुसार दोनों घड़ियाँ किसी कुशल कारीगर की देखरेख में हैं। तीसरा मत स्वयं लाइबनिज का है जिसके अनुसार दोनों घड़ियाँ एक कुशल

कारीगर के द्वारा पहले से ही इस प्रकार बनाई गयी हैं कि प्रत्येक घड़ी अपने आप ठीक-ठीक समय बता रही है।

लाइबनिज पूर्वोक्त मतों को स्वीकार नहीं करता है। वह आत्मा और शरीर के बीच में संबंध स्थापित करने के लिए अपने द्वारा प्रतिपादित पूर्व-स्थापित सामंजस्य-नियम का सहारा लेता है। चिदणुओं के स्वभाव में ही यह पूर्व-स्थापित सामंजस्य निहित है। आत्मा और शरीर के संबंध की व्याख्या के लिए किसी ईश्वरीय हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।¹ इससे स्पष्ट है कि लाइबनिज के अनुसार प्रत्येक चिदणु अपने स्वभाव के अनुसार प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति से युक्त है। शरीर और उसकी क्रियाओं के सूक्ष्म तत्त्व ईश्वर के द्वारा पूर्व निर्मित होते हैं। आत्मा और शरीर के बीच में पूर्ण सामंजस्य है। यद्यपि भौतिक शरीर चिदणुओं की अभिव्यक्ति है, तथापि प्रत्येक चिदणु पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम से संचालित होता है। आत्माएँ इच्छाओं, उद्देश्यों आदि के माध्यम से अन्तिम कारणों (Final Causes) के नियमानुसार कार्य करती हैं। शरीर गतियों या निमित्त कारणों के नियमानुसार कार्य करते हैं। इस प्रकार आत्मा और शरीर दोनों के चिदणु-समूह एक दूसरे से सामंजस्य रखते हैं।²

लाइबनिज का यह दावा है कि उसने आत्मा और शरीर के द्वैत से उत्पन्न समस्या एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों का समाधान अपने पूर्व स्थापित सामंजस्य-नियम के आधार पर कर दिया है। किन्तु उसने इस समस्या को हल करने के स्थान पर इसे अत्यधिक जटिल बना दिया है। उसके द्वारा प्रतिपादित सातत्य-नियम से चिदणुओं की शृंखला के अन्तर्गत विभिन्न चिदणुओं में भले ही अन्तराल (रिक्तता) न हो, तथापि दूरस्थ चिदणुओं (निम्न कोटि एवं उच्च कोटि के चिदणुओं) में भेद बना रहता है। यदि इस भेद को न स्वीकार किया जाय तो ईश्वर को चिदणु कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में अचेतन शरीर को अल्पतम चेतन मान लेने से भी आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो पाती है क्योंकि चेतन और अचेतन के बीच में भेद बना रहता है। मेलेब्रांश और ग्यूलिक्स द्वारा आत्मा और शरीर में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मान्य 'ईश्वरीय हस्तक्षेप' के स्थान पर लाइबनिज ने चिदणुओं की समस्त व्यवस्था को ही 'ईश्वरीय चमत्कार' पर आश्रित बना दिया। इससे स्पष्ट है कि वह आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की समस्या को हल नहीं कर पाता है।

यद्यपि डेकार्ट के द्वैतवाद से उत्पन्न आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या का कोई भी समाधान पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है, तथापि स्पिनोजा के द्वारा इन दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों में समन्वय करने का प्रयास सराहनीय है। स्पिनोजा ने आत्मा और शरीर को एक ही मूलतत्त्व (द्रव्य) के दो पक्षों (aspects) के रूप में स्वीकार किया। परम्परागत रूप में इसे 'द्विपक्षीय सिद्धान्त' कहा जाता है। ये दोनों पक्ष एक ही पुरुष (व्यक्ति) से सम्बद्ध होते हैं। आगे चलकर समकालीन दर्शन में इसका विकास पी. एफ. स्ट्रासन के द्वारा प्रतिपादित 'व्यक्ति-सिद्धान्त' (Theory of Person) के रूप में हुआ। स्ट्रासन के व्यक्ति-सिद्धान्त अथवा द्विपक्षीय सिद्धान्त की अपनी अलग कठिनाइयाँ हो सकती हैं।³ किन्तु निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्पिनोजा के द्वारा इस (आत्मा एवं शरीर में सम्बन्ध) समस्या का दिया गया

1 Leibnitz, H.W. Carr, p. 107-108.

2 Monadology, sect. 79.

3 इस समस्या पर कुछ विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये, Philosophy of Mind, J. Shafer. pp. 40-57 एवं The Central Questions of Philosophy, A.J. Ayer, pp. 179-80.

समाधान डेकार्ट और लाइबनिज के द्वारा प्रस्तुत किये गये समाधानों की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक है क्योंकि स्पिनोजा के द्वारा मन और शरीर के सम्बन्ध के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह उसकी दार्शनिक मान्यताओं से सामंजस्य रखता है।

लाइबनिज के दर्शन का मूल्यांकन

लाइबनिज का दर्शन अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय करने का प्रयास है। एक ओर तो वह डेकार्ट के द्वैतवाद एवं निमित्तेश्वरवाद के तार्किक दोषों को दूर करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर वह स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद से भी वचना चाहता है। स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद यहूदी, ईसाई और इस्लामी धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के विपरीत है। किन्तु लाइबनिज ईसाई धर्मशास्त्रियों को असंतुष्ट नहीं करना चाहता था। वह डेकार्ट के समान ईश्वर को सृष्टि का कारण तो मानता है, किन्तु उसने ईश्वरवाद की स्थापना डेकार्ट से भिन्न अर्थ में की है। डेकार्ट का ईश्वर इस जगत् से परे है। लाइबनिज के दर्शन में ईश्वर मानव-बुद्धि से परे है क्योंकि वह मानव से अधिक ज्ञानी है। लाइबनिज का ईश्वर एक ओर चिदणुओं का स्रष्टा है, दूसरी ओर वह स्वयं भी एक चिदणु है। रसल के अनुसार यह लाइबनिज के दर्शन की सबसे बड़ी विसंगति है। एक ओर तो उसने द्रव्यों (चिदणुओं) के बहुत्ववाद (Pluralism) का प्रतिपादन किया, तो दूसरी ओर एक परम चिदणु (ईश्वर) की सहायता से परस्पर असम्बद्ध चिदणुओं में सामंजस्य स्थापित करने का असफल प्रयास किया। वस्तुतः चिदणुओं की पूर्णता (गवाक्षहीनता) एवं स्वतंत्रता और उनका सामंजस्यपूर्ण होना तर्कसंगत नहीं हो सकता है। ईश्वर के द्वारा स्थापित चिदणुओं का परस्पर सामंजस्य लाइबनिज के दर्शन पर ऊपर से थोपा गया प्रतीत होता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए लाइबनिज के द्वारा दिए गए तर्कों की समीक्षा हम पहले ही कर चुके हैं। अतः यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

लाइबनिज ने चिदणुओं को गुणात्मक दृष्टि से समान माना है क्योंकि सभी चिदणु चेतन हैं। प्रत्येक चिदणु प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति से युक्त हैं। किन्तु लाइबनिज ने उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। वस्तुतः चिदणुओं की यह अनेकता गौण एवं उनकी एकता प्राथमिक प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि चिदणुओं की अनेकता वास्तविक नहीं है। प्रश्न उठता है कि चेतन शक्ति के विकास में विभिन्न सोपान (अवस्था-भेद) क्यों हैं? इस समस्या का समाधान करने के लिए वह 'सूक्ष्म-जड़ता' (Materia-Prima) का सहारा लेता है। किन्तु यह सूक्ष्म जड़ता कहाँ से आयी? यदि चेतना ही एकमात्र सत् है, तो चिदणुओं में यह जड़ता क्यों है? लाइबनिज के दर्शन में इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। यदि सभी चिदणु स्वरूपतः चेतन हैं, वे प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति से युक्त हैं तो उन्हें सूक्ष्म जड़ता से ग्रस्त मानना लाइबनिज के चिदणुवाद से संगत नहीं है। इस जड़ता को चिदणुओं के स्वभाव में निहित नहीं माना जा सकता क्योंकि यह उनके स्वभाव के विरुद्ध निष्क्रियता है।

सतही तौर पर यह प्रतीत होता है कि लाइबनिज एक विकासवादी दार्शनिक है, किन्तु उसे वास्तविक अर्थ में विकासवादी नहीं कहा जा सकता है। विकास की अवधारणा के अंतर्गत विकास की विविध अवस्थाओं को क्रमिक माना जाता है। किन्तु लाइबनिज के दर्शन में मूलतः ऐसी मान्यता स्थापित नहीं हो पाती है। चिदणुओं में चेतना की अभिव्यक्ति का आधार सूक्ष्म जड़ता है। यदि यह जड़ता न होती तो सभी चिदणु समान स्तरीय होते। इसके अतिरिक्त

विभिन्न श्रेणियों वाले चिदणुओं की सृष्टि ईश्वर ने एक साथ कर दी है। अतः प्रचलित अर्थ में इसे विकासवाद नहीं कहा जा सकता है।

लाइबनिज ने आत्मा और शरीर के संबंध की समस्या को अपने प्रसिद्ध 'पूर्व-स्थापित सामंजस्य के नियम' के द्वारा हल करने का प्रयास किया। किन्तु इस समस्या को हल करने के स्थान पर उन्होंने समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। अचेतन शरीर को चेतना की अल्प मात्रा मान लेने से चेतन और अचेतन का भेद समाप्त हो जाता है। उसके सातत्य नियम के अनुसार निकटवर्ती चिदणुओं का भेद भले ही अल्प हो, किन्तु दूरस्थ चिदणुओं की कोटियों में भेद बना रहता है। यदि इस भेद को न माना जाय, तो ईश्वर को परम चिदणु कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि लाइबनिज ने आत्मा और शरीर के संबंध की व्याख्या करने के लिए निमित्तेश्वरवादियों के प्रतिक्षण चमत्कार को स्वीकार नहीं किया है, तथापि उसने प्रत्येक क्षण के चमत्कार के स्थान पर संपूर्ण चिदणु तंत्र (सृष्टि) को ही चमत्कारिक बना दिया।

'पूर्व स्थापित सामंजस्य-नियम' का रचयिता होते हुए भी ईश्वर स्वयं ही इस नियम से बँधा हुआ है। वस्तुतः लाइबनिज यांत्रिकतावाद और प्रयोजनवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। रसल के अनुसार चिदणुवाद लाइबनिज के तर्कशास्त्र का तार्किक परिणाम है। प्रत्येक चिदणु 'उद्देश्य' (Subject) है। उसके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह उसमें अंतर्निहित रहता है। प्रत्येक चिदणु बाहर से एक विश्व है, किन्तु वह आंतरिक रूप से विकासशील एवं क्रियाशील है। वस्तुतः लाइबनिज का चिदणुवाद एक संभावना मात्र है। वह तात्त्विक संभावना को वास्तविक मान लेता है। किन्तु गणित एवं तर्कशास्त्र जैसे संप्रत्ययात्मक विज्ञानों का संबंध प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों से होता है, न कि यथार्थ सत्ता से। वस्तुतः दर्शनशास्त्र का संबंध वास्तविक तथ्यों से होता है। अतः तर्कशास्त्र के आधार पर तात्त्विक सत्ता को सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं हो सकता है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी लाइबनिज का बहुआयामी दार्शनिक अनुशीलन दर्शन-जगत् को प्रभावित करता रहा है। अनेक विचारकों ने उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की। उसके बुद्धिवादी दर्शन से प्रभावित होकर काण्ट ने ह्यूम की अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की आलोचना किया। हेगल का गतिशील प्रत्ययवाद और नीत्शे का व्यक्तिवाद लाइबनिज से प्रभावित है। विभिन्न दार्शनिकों और आलोचकों ने लाइबनिज के दर्शन के पृथक्-पृथक् पक्षों पर बल दिया। रसल की आलोचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि लाइबनिज की दार्शनिक मान्यताएँ उसके उद्देश्य-विधेय परक तर्कशास्त्र से तर्कतः फलित होती हैं। किन्तु वास्तव में, तार्किक सत्य और तात्त्विक सत्य अभिन्न नहीं हो सकते हैं। लाइबनिज के प्रत्ययवादी समीक्षकों (जैसे-काण्ट) के अनुसार उसकी मान्यताएँ हेगल और क्रोचे के समान हैं। धर्मशास्त्रीय दृष्टि से लाइबनिज ने अपने दर्शन का समन्वय ईसाई धर्म से करने का प्रयास किया। किन्तु यह दोनों का असंगत मेल था। इस प्रकार लाइबनिज का दर्शन अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों एवं विभिन्न प्रवृत्तियों के समन्वय का प्रयास प्रतीत होता है। यद्यपि उसका दार्शनिक चिंतन अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त है, तथापि यह आधुनिक बुद्धिवादी विचारधारा की पराकाष्ठा है।

आधुनिक दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्ति

अनुभववादी विचारधारा के अनुसार समस्त ज्ञान का स्रोत इन्द्रियानुभव है। मानव-मन में कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) जन्मजात (Innate) नहीं होता है। वास्तविक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दर्शन-शास्त्र को अनुभव पर आधारित होना चाहिए। जन्म के समय मानव-मन में किसी प्रकार का ज्ञान विद्यमान नहीं रहता है। समस्त ज्ञान जन्म लेने के पश्चात् अनुभव के द्वारा उत्पन्न और विकसित होता है। आधुनिक अनुभववाद मानव-मस्तिष्क की तुलना रिक्त प्लेट, कोरी पाटी, सफेद कागज आदि से करते हैं। अनुभववाद की पहचान जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त की विरोधी दार्शनिक प्रवृत्ति के रूप में की जाती है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की वैधता, दार्शनिक पद्धति और ज्ञान के प्रतिमान अथवा आदर्श के विषय में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा बुद्धिवाद से भिन्न है। अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान का आदर्श गणित को मानना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि गणित एक संप्रत्ययात्मक विज्ञान (conceptual science) है। संप्रत्ययात्मक विज्ञान वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व की स्थापना नहीं कर सकते हैं। संप्रत्ययात्मक विज्ञान केवल निगमन पद्धति के द्वारा निगमित निष्कर्षों की तार्किक सुसंगति का मूल्यांकन करते हैं। वे केवल यह परीक्षण करते हैं कि उनकी अनुमान-प्रक्रिया निर्दोष है अथवा नहीं। इसके विपरीत तथ्यात्मक विज्ञानों (Factual Sciences) के निष्कर्ष अनुभव पर आश्रित होते हैं। उनके निष्कर्ष गणित के समान सार्वभौम और अनिवार्य नहीं होते हैं। वस्तुतः अनुभव विशेषों से सम्बन्धित होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य इन सभी कालों का अनुभव मनुष्य के लिए संभव नहीं है। अतः अनुभवजन्य ज्ञान संभाव्य होता है। अनुभववादी दार्शनिक गणितीय ज्ञान के आदर्श का परित्याग करके तथ्यात्मक ज्ञान को ही ज्ञान का प्रतिमान मानते हैं। उनके अनुसार गणितीय ज्ञान भले ही सार्वभौमिक और अनिवार्य हो, किन्तु यह काल्पनिक होता है। यह मानव-जीवन के लिए तथ्यात्मक ज्ञान के समान उपयोगी अथवा महत्वपूर्ण नहीं हो सकता है। अतः अनुभववादियों के लिए ज्ञान के आदर्श तथ्यात्मक विज्ञान हैं।

ज्ञान की दार्शनिक पद्धति के विषय में अनुभववादी आगमनात्मक तर्क पद्धति पर विशेष बल देते हैं। चूँकि ज्ञान का एक मात्र स्रोत अनुभव है और अनुभव से केवल विशेषों का ही ज्ञान हो सकता है, इसलिए हमारे ज्ञान का प्रारम्भ विशेषों से होता है। विशेषों के ज्ञान के आधार पर आगमनात्मक पद्धति के द्वारा सामान्य नियमों की स्थापना की जाती है। आनुभविक निरीक्षण (प्रेक्षण) और परीक्षण (Experiment) पर आधारित होने के कारण 'आगमन' को दर्शन की उपयुक्त पद्धति के रूप में स्वीकार करना अनुभववादियों के लिए स्वाभाविक है। अतः अनुभववादियों के अनुसार दार्शनिक ज्ञान की उपयुक्त पद्धति आगमन (Induction) है। अनुभव से उत्पन्न होने के कारण समस्त मानव-ज्ञान अर्जित है, जन्मजात नहीं। बुद्धि स्वरूपतः निष्क्रिय है

क्योंकि सर्वप्रथम आनुभविक प्रत्यय मानव-मन के लिए प्रदत्त होते हैं, अर्थात् मानव-बुद्धि अनुभवजन्य प्रत्ययों को स्वभावतः ग्रहण कर लेती है, उसे बाद में भले ही सक्रिय होना पड़े।

यद्यपि दर्शन के क्षेत्र में अनुभववादी परम्परा का प्रारम्भ सोफिस्टों (प्रोटागोरस एवं उसके अनुयायियों) के समय से ही माना जा सकता है, तथापि आधुनिक दर्शन में ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में इसे लॉक ने विकसित किया। डेकार्ट के पूर्ववर्ती फ्रांसिस बेकन और हाक्स का झुकाव भी अनुभववाद की ओर था, किन्तु उसे एक व्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा के रूप में स्थापित करने का श्रेय लॉक, बर्कले और ह्यूम को जाता है। आधुनिक युग में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रवर्तक जान लॉक है। वस्तुतः लॉक के द्वारा स्थापित अनुभववादी मान्यताओं के आधार पर ही बर्कले और ह्यूम ने भी अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। किन्तु अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को स्वीकार करने पर भी लॉक, बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक निष्कर्ष एक दूसरे से भिन्न हैं। इन तीनों विचारकों के दार्शनिक सिद्धान्तों एवं उनके पारस्परिक मतभेदों का विवेचन और मूल्यांकन करना अत्यन्त रोचक है। इस अध्याय में हम क्रमशः लॉक, बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक सिद्धान्तों का समालोचनात्मक विवेचन करेंगे।

(अ) जॉन लॉक (John Locke : 1632-1704)

लॉक का जन्म 1632 ई० में रिंगटन (समरसेट) में हुआ था। उसके पिता ब्रिस्टल के निकट एक कस्बे में एटार्नी (Attorney) थे। लॉक ने प्राथमिक शिक्षा अपने पिता से प्राप्त किया, जिनकी याद वे श्रद्धापूर्वक करते हैं। अपनी चौदह वर्ष की आयु से लेकर 1684 ई० तक लॉक आक्सफोर्ड में रहे। इस अवधि में उन्होंने चिकित्साशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों का गहन अध्ययन किया। उल्लेखनीय है कि 1672 ई० में लार्ड शैफ्ट्सबरी के इंग्लैण्ड का चांसलर बनने पर लॉक उनके सचिव नियुक्त हुए। वह लार्ड ऐशले के पुत्र का गृह शिक्षक भी रहा। जब लार्ड शैफ्ट्सबरी को इंग्लैण्ड छोड़ना पड़ा तो विद्रोहियों की सूची में नाम होने के कारण उन्हें भी हालैण्ड में प्रवास करना पड़ा। किन्तु बाद में इंग्लैण्ड की परिस्थितियों के अनुकूल हो जाने पर लॉक पुनः इंग्लैण्ड वापस आ गया। प्लेटो-दर्शन के प्रमुख समर्थक कडवर्थ की पुत्री राल्फ कडवर्थ से अच्छे संबंध होने के कारण उसी परिवार के साथ लॉक ने अपने जीवन के अंतिम समय व्यतीत किए। राल्फ कडवर्थ सर फ्रांसिस मैशम की पत्नी थी, जिसके सान्निध्य में रहते हुए 1704 ई० में लॉक की मृत्यु हुई।

लॉक के दर्शन पर भौतिकवादी और अनुभववादी विचारधारा के पोषक गैसेण्डी के दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। लॉक ने अपनी आयु के पाँच वर्ष (1675-1680) फ्रांस में व्यतीत किया। इस अवधि में उसका परिचय गैसेण्डी के एक प्रमुख अनुयायी फ्रांसिस बर्नियर से हुआ।¹ वस्तुतः लॉक को गैसेण्डी के विचारों की जानकारी बर्नियर के माध्यम से हुई। इंग्लैण्ड के कैम्ब्रिज प्लेटोवादियों ने जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का समर्थन किया था। लॉक ने अपने दर्शन में इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की। इस संबंध में लॉक का प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग' (The Essay Concerning Human Understanding)² अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ का प्रकाशन 1690 ई० में हुआ। इसके अतिरिक्त लॉक की प्रमुख रचनाओं में 'टू ट्रीटाइजेज ऑन गवर्नमेंट' (Two Treatises on Government) अर्थात् 'सरकार से संबंधित दो निबन्ध', 'सम

- 1 उल्लेखनीय है कि बर्नियर ने शाहजहाँ के शासनकाल में भारत की यात्रा की थी। वह एक विद्वान और चिकित्सक था जिसने भारत के साथ-साथ अनेक देशों की यात्राएँ की थी।
- 2 मानव-बुद्धि से संबंधित निबन्ध।

थाट्स कन्सर्निंग एजुकेशन' (Some Thoughts concerning Education) अर्थात् 'शिक्षा से संबंधित कुछ विचार' तथा 'दि. रीजनेबुलनेस ऑफ क्रिश्चियनिटी' (The Reasonableness of Christianity) अर्थात् 'ईसाइयत की युक्तियुक्तता' उल्लेखनीय हैं। वह मानव-स्वतंत्रता का समर्थक और एक व्यक्तिवादी विचारक है।

जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का निराकरण (Refutation of Innate Ideas)

'समस्त ज्ञान अनुस्मरण मात्र है', प्लेटो का यह कथन जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का प्रमुख आधार है। आधुनिक युग में इस सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनिज को जाता है। किन्तु लॉक के कुछ आलोचकों के मतानुसार अपने निबंध के प्रथम भाग में लॉक ने जन्मजात प्रत्ययों के जिस सिद्धान्त का खंडन किया है, वह उसकी कल्पनामात्र है। अपने मत को स्पष्ट करने के लिए उसने जन्मजात प्रत्ययों के तार्किक सिद्धान्त को खोज लिया।¹ प्लेटो के दर्शन में जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धान्त भले ही निहित हो, किन्तु उसने इसका व्यवस्थित वर्णन नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त की आलोचना का प्रमुख आधार आधुनिक बुद्धिवादियों (डेकार्ट एवं उसके अनुयायियों) की ज्ञानमीमांसा रही है। जन्मजात प्रत्ययों का सिद्धान्त मध्ययुग के कैम्ब्रिज प्लेटोवादियों के द्वारा भी किसी न किसी रूप में अपनाया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि अपनी विषय-वस्तु को ग्रहण करके उसे एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की क्षमता रखती है। लॉक ने इस सिद्धान्त का खंडन करने के लिए अधोलिखित तर्क दिए हैं —

(1) सर्वसम्मति पर आधारित तर्क — बुद्धिवादियों का दावा है कि कुछ प्रत्ययों एवं सिद्धान्तों को लेकर प्रायः लोगों में सामान्य रूप से सहमति पायी जाती है। जैसे — अभेद का नियम, व्याघात का नियम इत्यादि। यदि ये प्रत्यय जन्म से आत्मा में निगूढ़ न होते तो इन पर सर्वसम्मति न होती। अतः ऐसे प्रत्यय आपातिक माने जाते। किन्तु हम देखते हैं कि इन प्रत्ययों के बारे में सर्वसम्मति पायी जाती है। इस प्रकार सर्वसम्मति (General Assent) प्रत्ययों के जन्मजात होने का प्रमाण है। इस तर्क का खंडन करते हुए लॉक कहता है कि 'सर्वसम्मति' प्रत्ययों के जन्मजात होने का प्रमाण नहीं हो सकती है। सर्वसम्मति को अनुभव के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का प्रत्यय उसके प्रत्यक्ष से पूर्व ही आत्मा में निगूढ़ है। प्रायः किसी भी प्रत्यय के स्वरूप पर सभी लोगों की सर्वसम्मति नहीं होती है। पागलों, मूर्खों और बच्चों को उन नियमों एवं प्रत्ययों के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है, जिसके संदर्भ में सर्वसम्मति का दावा किया जाता है। यही बात नैतिक और धार्मिक प्रत्ययों के बारे में भी लागू होती है। लॉक के कहने का आशय यह है कि नैतिक और धार्मिक सिद्धान्तों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे सर्वमान्य नहीं हैं। जो कुछ लोगों के लिए शुभ है वही दूसरों के लिए अशुभ हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण है वही दूसरे लोगों के लिए अन्यायपूर्ण हो सकता है। कुछ लोग नैतिक नियमों को निरपेक्ष तो कुछ लोग उन्हें सापेक्ष मानते हैं। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट ने ईश्वर के प्रत्यय को भी जन्मजात माना था। लॉक के अनुसार संसार में निरीश्वरवादियों की कमी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो लोग ईश्वर को मानते भी हैं, उनमें ईश्वर के प्रत्यय और स्वरूप को लेकर मतभेद हैं। इससे सिद्ध होता है

कि किसी भी प्रत्यय के स्वरूप पर सर्वसम्पत्ति असंभव है। पुनश्च, यदि सर्वसम्पत्ति को मान भी लिया जाय तो इससे उसका (सर्वसम्पत्ति का) जन्मजात होना नहीं सिद्ध होता है।

(2) अनिवार्यता एवं स्वयंसिद्धियों पर आधारित तर्क — बुद्धिवादियों ने अनिवार्य प्रत्ययों एवं कुछ स्वयंसिद्धियों के आधार पर जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनके अनुसार कुछ प्रत्यय अनिवार्य रूप से सत्य हैं। यदि वे जन्मजात न होते तो आपातिक रूप में सत्य होते, अर्थात् यदि वे आत्मा में जन्म से ही निगूढ़ न होते तो कभी सत्य होते और कभी असत्य होते। ज्यामिति और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में कुछ नियम स्वतः सिद्ध होते हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिए किसी अन्य नियम का सहारा नहीं लेना पड़ता। वस्तुतः ये नियम जन्म से ही आत्मा में निहित होते हैं।

इस तर्क का खंडन करते हुए लॉक कहता है कि किसी प्रत्यय की अनिवार्य सत्यता के आधार पर भी उसे जन्मजात नहीं माना जा सकता है। हमें इन प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी वैसा ही प्रयास करना पड़ता है, जैसा कि आपातिक कथनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए। अतः यह तर्क एक मिथ्या दृष्टिकोण पर आधारित है। ज्यामिति या तर्कशास्त्र के किसी कथन का स्वयंसिद्ध होना निरपेक्ष रूप से नहीं माना जा सकता है। कोई स्वयंसिद्धि एक दृष्टि विशेष से ही स्वयंसिद्धि मानी जा सकती है। उसे सभी दृष्टियों से स्वयं सिद्ध नहीं माना जा सकता है। उदाहरण के लिए अनेक ज्यामितिकारों ने यूक्लिड की अनेक स्वयं सिद्धियों को स्वीकार नहीं किया है। लॉक के अनुसार हमें अनिवार्य एवं स्वयं सिद्ध कथनों का ज्ञान भी आपातिक कथनों, प्रत्ययों, नियमों और वस्तुओं के ज्ञान के समान ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी कथन की अनिवार्यता एवं स्वयंसिद्धि जन्मजात नहीं होती है।

(3) जन्मजात प्रत्ययों के समर्थकों का दावा है कि किसी प्रत्यय को जन्मजात कहने का अर्थ उसका स्पष्ट ज्ञान होना नहीं बल्कि आत्मा में उसका अव्यक्त रूप में निहित होना है। कोई ज्ञान आत्मा में जन्म से ही निहित है, इस कथन का अर्थ यह है कि जो ज्ञान आत्मा में निगूढ़ है, उसको विकसित करने की आवश्यकता है। बुद्धिवादियों के अनुसार इन्द्रियानुभव का उपयोग केवल आत्मा में अन्तर्निहित ज्ञान को अभिव्यक्त करने में ही किया जा सकता है।

लॉक के अनुसार यह एक भ्रामक दृष्टिकोण है। ज्ञान कभी भी आत्मा में अव्यक्त नहीं हो सकता है। कोई प्रत्यय मानव-बुद्धि में जन्म से निहित हो, फिर भी उसका ज्ञान न हो, यह बात समझ में नहीं आती। जो प्रत्यय आत्मा में व्यक्त है और आत्मा उसे जानता भी नहीं है, उसके ज्ञान का दावा किस प्रकार किया जा सकता है? ऐसी मान्यता बेतुकी (Absurd) है। अतः आत्मा ज्ञान से रहित है। लॉक ने उसे आलंकारिक भाषा में कोरी पाटी (Tabula Rasa), रिक्त प्लेट (Empty Plate), अंधेरी कोठरी (Dark Chamber) इत्यादि के समान कहा है। इस प्रकार अनुभव से रहित ज्ञान की कल्पना का खंडन हो जाता है।

(4) बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा की एक अन्तःशक्ति है, जिसका आत्मा से अवियोज्य संबंध होता है। यह उसके स्वभाव में जन्म से ही निहित होती है। लाइबनिज के अनुसार यदि आत्मा को स्वरूपतः ज्ञान से युक्त न माना जाय, तो वह जड़ होगा और उसे आत्मा कहना ही आत्मव्याघाती होगा। इस दृष्टि से ज्ञान आत्मा का आकस्मिक गुण नहीं है, बल्कि यह आत्मा में शक्ति के रूप में अन्तर्निहित होता है। चूँकि लाइबनिज के अनुसार आत्मा एक सक्रिय चिदणु है, इसलिए इसमें बीजरूप में समस्त विश्व का ज्ञान निगूढ़ होता है।

लॉक के अनुसार यह सत्य है कि आत्मा में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित होती हैं, जैसे — मनुष्य स्वभावतः दुःख से दूर भागता है और सुख के प्रति आकर्षित होता है।¹ इसके अतिरिक्त भूख, निद्रा, भय, कामुकता (Sexual desires) इत्यादि सहज क्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ पशुओं-पक्षियों एवं मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। किन्तु लॉक के अनुसार उन्हें ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।² आत्म-रक्षण, जाति-रक्षण, अनेक प्रकार के संवेगों इत्यादि को ज्ञान कहना ज्ञान के स्वरूप की गलत समझ के कारण है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों और स्वाभाविक क्रियाओं को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

(5) लॉक के अनुसार तथाकथित अनेक जन्मजात प्रत्ययों का ज्ञान बालकों, मूर्खों (idiots), पागलों, बर्बर एवं असभ्य आदिम जाति के लोगों (Savages) आदि को नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं होता है क्योंकि जन्मजात प्रत्ययों को लेकर सार्वभौमिक सम्मति नहीं पायी जाती है।³ ईश्वर-प्रत्यय के साथ-साथ अनेक सार्वभौम नियमों का ज्ञान बहुत से लोगों को नहीं होता है। अतः ईश्वर के प्रत्यय को सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर का प्रत्यय, उसकी उपासना इत्यादि का ज्ञान जन्मजात नहीं है और यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात नहीं है तो अन्य प्रत्ययों को भी जन्मजात नहीं कहा जा सकता है।⁴ इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे प्रत्यय हैं जिनका ज्ञान सभी मनुष्यों को है, जैसे — सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, गर्मी, शीतलता इत्यादि के प्रत्ययों का ज्ञान। यद्यपि इन्हें सभी लोग जानते हैं, तथापि कोई व्यक्ति इन प्रत्ययों को जन्मजात नहीं कहता है। इस प्रकार लॉक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कोई भी ज्ञान आत्मा में जन्मजात नहीं होता है। समस्त ज्ञान अनुभवजन्य है।

यद्यपि लॉक अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान को स्वीकार नहीं करता है, तथापि वह कुछ अनिवार्य संबंधों के ज्ञान को सार्वभौम मानता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ ज्ञान अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंधों से संबंधित होते हैं, परन्तु उनका ज्ञान न तो इन्द्रियानुभव से होता है और न आगमनात्मक तर्क-प्रक्रिया से। किन्तु उन्हें भी जन्मजात प्रत्यय नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः उनकी जानकारी यौक्तिक और प्रातिभ ज्ञान से होती है।⁵

लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का निराकरण एकांगी है। वस्तुतः यह निराकरण उसकी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के पूर्वाग्रहों पर आधारित है। यद्यपि यह सच है कि बुद्धिवादियों ने ज्ञान की संरचना में अनुभव की भूमिका की उपेक्षा किया, तथापि केवल अनुभव को ही ज्ञान का आधार मान लेना तर्कसंगत नहीं है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल देने के कारण बुद्धिवाद का पर्यावसान (अंत) रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास में हुआ। इसी प्रकार लॉक ने सार्वभौम और अनिवार्य नियमों का आधार बुद्धि के स्थान पर अनुभव को मानकर गंभीर भूल की। इसके परिणामस्वरूप अनुभववाद का अंत संशयवाद में हुआ। लॉक के अनुसार मानव-बुद्धि केवल ज्ञात नियमों के आधार पर अज्ञात नियमों का निगमन करती है। उसमें कोई भी ज्ञान जन्मजात नहीं हो सकता है। लॉक के द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का खंडन और

1 दुःखादुद्धिजते सर्वः सर्वस्य सुखमीक्षितम्। महाभारत, शान्तिपर्व, 139/69..

2 'आहारनिद्राभयमैशुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्'.

3 An Essay Concerning Human Understanding 1.2.3.4.

4 वही, 1.4.18.

5 John Locke, Richard I. Aaron, p. 97-98.

अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक है। लॉक कहता है कि मनुष्य के अचेतन मन में कोई भी ज्ञान अन्तर्निहित नहीं होता है। उसके अनुसार यदि कोई सिद्धान्त जन्मजात होता तो इसे हम जानते होते।¹

आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के मन में बहुत-सी ऐसी चीजें विद्यमान हैं, जिन्हें हम नहीं जानते। कुछ संदर्भों में वे हमेशा अज्ञात होती हैं। लॉक के अनुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि अचेतन मन में पाये जाने वाले प्रत्यय जन्मजात हैं। ये ऐसे प्रत्यय हैं जो अचेतन स्तर पर दबा दिए जाते हैं। अतः लॉक का यह कथन गलत है कि यदि कोई प्रत्यय हमारे मन में अन्तर्निहित होता तो हम उसे अनिवार्यतः जानते होते। वस्तुतः कुछ सार्वभौम एवं अनिवार्य नियमों को तार्किक दृष्टि से जन्मजात कहा जा सकता है, क्योंकि उनकी प्राप्ति बुद्धि के प्रागनुभविक नियमों से होती है। जब तक इन सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की सत्यता को स्वीकार न किया जाय तब तक कोई भी सामान्य अवधारणा संभव नहीं हो सकती। वस्तुतः ज्ञान की सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता बुद्धि के प्रागनुभविक नियमों से ही संभव है। यही मानव-बुद्धि का ज्ञान की संरचना में योगदान है। यद्यपि लॉक ने मानव-बुद्धि (आत्मा) को अंधेरी कोठरी या कोरी पाटी (Tabula rasa) कह करके मन में अन्तर्निहित जन्मजात प्रत्ययों का निराकरण किया, तथापि उसकी आलोचना से मानव-बुद्धि में अन्तर्निहित प्रत्यय-व्यापारों की क्षमता का निराकरण नहीं हो पाता है। यद्यपि उसे अपने निबन्ध के प्रथम खंड में जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का खंडन करने में पर्याप्त श्रम और समय व्यय करना पड़ा, तथापि वह अपने प्रयास में सफल न हो सका। किन्तु उसका यह कहना सही है कि अनुभव के अभाव में हमें बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः लॉक ने ज्ञान के निर्माण में अनुभव के महत्त्व का अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट ने ज्ञान की संरचना में बुद्धि के अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों (बुद्धि-विकल्पो) के साथ-साथ इन्द्रियानुभव की भूमिका का सम्यक् विवेचन और मूल्यांकन किया।

लॉक की ज्ञानमीमांसा

जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का निराकरण करने के बाद अपने निबन्ध के द्वितीय खंड में लॉक अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन करता है। तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का विवेचन करने से पूर्व उसने ज्ञान की उत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के मूल स्रोतों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसके बाद वह ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की वैधता और ज्ञान की सीमाओं का विवेचन करता है। उसकी रुचि मुख्य रूप से ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के विवेचन में थी। आधुनिक यूरोपीय दर्शन में लॉक ऐसा प्रथम दार्शनिक है जिसने दार्शनिकों का ध्यान ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की ओर आकर्षित किया। वह तत्त्वमीमांसीय चिन्तन से पूर्व ज्ञानमीमांसीय चिंतन को आवश्यक मानता है। अतः वह मानव-बुद्धि के विषय और वैचारिक प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। किन्तु लॉक ने ज्ञान-मीमांसीय समस्याओं के साथ अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं को भी मिला दिया। वास्तव में, लॉक के समय में ज्ञानमीमांसा और मनोविज्ञान में कोई अलंघ्य भेद न था। यद्यपि लॉक ज्ञान की वैधता का भी विवेचन करता है, तथापि उसने ज्ञान के प्रामाण्य की अपेक्षा उसकी उत्पत्ति पर विशेष बल दिया। अतः अनुभववाद के अधिकांश आलोचक उसकी ज्ञानमीमांसा को मनोवैज्ञानिक कहते हैं। लॉक के अनुसार ज्ञान के मौलिक स्वरूप, निश्चितता एवं सीमाओं का निर्धारण ज्ञान की उत्पत्ति का भली-भाँति विश्लेषण करके ही किया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा ज्ञान से रहित द्रव्य है तो उसमें ज्ञान कहाँ से उत्पन्न होता है? लॉक के अनुसार ज्ञान का मूल स्रोत अनुभव है। उसने अनुभव के अंतर्गत संवेदन (Sensation) और स्वसंवेदन (Reflection) को ज्ञान का प्रमुख स्रोत माना है। आत्मा स्वभावतः ज्ञान से रहित होता है। संवेदन और स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। बाह्य वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। हमारी इन्द्रियाँ उद्दीप्त होकर आत्मा में जो कुछ प्रेषित करती हैं, उसे संवेदन कहते हैं। दूसरे शब्दों में, बाह्य वस्तुओं के प्रभावों से उत्पन्न उत्तेजना मानव-मस्तिष्क में पहुँचकर संवेदनों को उत्पन्न करती है। यहाँ पर लॉक ने मानव-बुद्धि में संवेदनाओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया का एक विवरण प्रस्तुत किया है। अतः उसका दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक है। संवेदनों के अतिरिक्त लॉक ने स्वसंवेदनों को अनुभव का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत माना है। स्वसंवेदन मन की आन्तरिक क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण है। आधुनिक मनोविज्ञान में इसे अंतर्निरीक्षण (Introspection) कहा जाता है। किन्तु लॉक का स्वसंवेदन इसकी (अन्तर्निरीक्षण) अपेक्षा अधिक व्यापक है क्योंकि इसके अंतर्गत स्मृति, यौक्तिक प्रक्रियाएँ एवं प्रतिभान आदि भी सम्मिलित हैं। इसके द्वारा आत्मा में आन्तरिक क्रियाओं के प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। मानव-मन में भय, क्रोध, सुख-दुःख आदि की मनःस्थितियों का ज्ञान स्वसंवेदनों से ही होता है। संक्षेप में, संवेदनों के द्वारा आत्मा में बाह्य वस्तुओं के गुणों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार मन की आन्तरिक अवस्थाओं का ज्ञान स्वसंवेदनों से होता है, जैसे — संदेह करना (Doubting), विश्वास करना (Believing), तर्क करना (Reasoning) इत्यादि। उदाहरण के लिए — मेरा मन बहुत दुःखी है, वह प्रसन्न है, मैं अमुक विषय में संशय करता हूँ इत्यादि अनुभूतियाँ स्वसंवेदनों से उत्पन्न होती हैं। लॉक के अनुसार संवेदन (Sensation) स्वसंवेदन (Reflection) का पूर्ववर्ती है, अर्थात् संवेदन पहले होता है और स्वसंवेदन उसके बाद में होता है। आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति इन्हीं दो स्रोतों (संवेदनों एवं स्वसंवेदनों) से होती है। इससे स्पष्ट है कि लॉक के अनुसार ज्ञान के मूलतत्त्व अनुभवजन्य हैं। अनुभव के इन मूल तत्त्वों को ही ज्ञान की मूल इकाई कहा जा सकता है। लॉक इसे प्रत्यय (Idea) कहता है। लॉक ने प्रत्ययों को दो वर्गों में विभक्त किया है — प्रथम सरल प्रत्यय एवं द्वितीय जटिल प्रत्यय।

सरल प्रत्यय वे हैं जो संवेदन और स्वसंवेदन दोनों से प्राप्त होते हैं। ये सरल प्रत्यय चार प्रकार के होते हैं। कुछ सरल प्रत्यय किसी एक इन्द्रिय के संवेदन से उत्पन्न होते हैं, जैसे — सुगंध, मिठास, शीतलता का स्पर्श, ध्वनि के संवेदन आदि। एक से अधिक इन्द्रियों के संवेदनों से उत्पन्न होने वाले सरल प्रत्यय, जैसे — गति, विराम, आकार, विस्तार आदि के प्रत्यय चक्षु और स्पर्श इन दो प्रकार के संवेदनों से बने हैं। इसी प्रकार स्वसंवेदन से उत्पन्न होने वाले प्रत्यय, जैसे — संशय करना, स्मरण करना, चिन्तन करना आदि हैं। इसके अतिरिक्त संवेदनों और स्वसंवेदनों के संयुक्त व्यापार से उत्पन्न होने वाले प्रत्यय भी उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिए सुख-दुःख, शक्ति, सत्ता, एकता, अनुक्रम इत्यादि के प्रत्यय संवेदन और स्वसंवेदन दोनों से उत्पन्न होते हैं। लॉक के अनुसार ये चार प्रकार के सरल प्रत्यय ही समस्त ज्ञान के घटक हैं। सरल प्रत्यय हमारी आत्मा के लिए प्रदत्त हैं। उनको ग्रहण करने के लिए आत्मा को सक्रिय होने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु आत्मा इन सरल प्रत्ययों को उत्पन्न नहीं कर सकता है। इन प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली संवेदनाएँ बाह्य वस्तुओं से आती हैं। इससे स्पष्ट है कि ये प्रत्यय हमारी आत्मा की उपज नहीं हैं। अतः लॉक को वस्तुवादी कहना तर्कसंगत है।

लॉक के अनुसार सरल प्रत्ययों को प्राप्त करने के लिए आत्मा को सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों की रचना में मानव-बुद्धि को कई

सोपानों से गुजरना पड़ता है। इसके लिए बुद्धि का सक्रिय होना आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों के निर्माण की प्रक्रिया में लॉक ने छः सोपानों का उल्लेख किया है —

(i) प्रत्यक्षीकरण (Perception), अर्थात् आत्मा के द्वारा सरल प्रत्ययों को ग्रहण किया जाना।

(ii) प्रत्यक्ष करने के बाद कुछ समय तक इन सरल प्रत्ययों को इस प्रकार धारण करना (Retention) ताकि उनको भूला न जा सके।

(iii) विभिन्न प्रत्ययों की पृथक्ता का ज्ञान होना (Discernment) ताकि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् रूप में पहचाना जा सके।

(iv) बुद्धि के द्वारा इन प्रत्ययों की परस्पर तुलना करना (Comparison)।

(v) संयोजन (Composition) अर्थात् इन सरल प्रत्ययों को एक साथ संयुक्त करना।

(vi) अमूर्तीकरण और नामकरण (Abstraction and naming)। इस प्रक्रिया के द्वारा कुछ सरल प्रत्ययों के सर्वगत लक्षणों को ग्रहण करके और विशिष्ट लक्षणों का निराकरण करके सामान्य प्रत्ययों की रचना की जाती है। लॉक की ज्ञानमीमांसा में अमूर्तीकरण बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा ही सामान्य प्रत्ययों को बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसके बाद ही नामकरण संभव होता है। लॉक के अनुसार अमूर्तीकरण और नामकरण की शक्ति मनुष्य की एक मौलिक विशेषता है, जो उसे पशुओं से पृथक् करती है। पशु-पक्षी अमूर्तीकरण और नामकरण की शक्ति से रहित होते हैं। सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों की संरचना में आत्मा की सक्रियता आवश्यक होती है। इसके बिना तुलना, संयोजन (सम्मिश्रण) और अमूर्तीकरण की प्रक्रिया संपन्न नहीं हो सकती है। इस प्रकार लॉक के अनुसार सरल प्रत्ययों से जटिल प्रत्ययों की रचना संभव होती है। जटिल प्रत्यय तीन प्रकार के होते हैं —

(1) विकार के जटिल प्रत्यय (Complex ideas of modes) — लॉक के अनुसार विकार के जटिल प्रत्ययों की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। वे द्रव्यों पर निर्भर होते हैं। विकार के प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं —

(अ) सरल विकारों के जटिल प्रत्यय — जो एक ही प्रकार के सरल प्रत्ययों से बनते हैं। जैसे — एक दर्जन, एक कोड़ी आदि जो इकाई के सरल प्रत्यय से बने हैं। इसी प्रकार महीना, सप्ताह, घंटा, क्षण आदि काल के सरल प्रत्यय से बने हुए विकार हैं।

(ब) दूसरे प्रकार के जटिल विकार वे हैं जो अनेक सरल प्रत्ययों के सम्मिश्रण से बनते हैं। जैसे — सौन्दर्य (Beauty) का प्रत्यय रंग (Colour), आकृति की संरचना आदि के प्रत्ययों के सम्मिश्रण से बना है।

(2) संबंधों के प्रत्यय (Ideas of Relations) — संबंधों के जटिल प्रत्यय किसी बाह्य वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। वे सरल प्रत्ययों के आधार पर बुद्धि के द्वारा स्वयं बना लिए जाते हैं। संबंध के प्रत्यय स्वयं अपना ही प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे — कारण-कार्य एक संबंध का प्रत्यय है। इसके अतिरिक्त आनुपातिक संबंध, प्राकृतिक संबंध (पिता-पुत्र का संबंध), सामाजिक संबंध (सेना एवं सेनाध्यक्ष का संबंध) एवं नैतिक संबंधों के प्रत्यय भी उल्लेखनीय हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार संबंध का प्रत्यय जटिल प्रत्यय नहीं है क्योंकि यह सरल प्रत्ययों के संयोजन से नहीं

बनता है। लॉक ने अपने निबन्ध में एक स्थल पर कहा है कि संबंध प्रत्ययों का रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु वे मानसिक कल्पना मात्र नहीं हैं।¹

यद्यपि लॉक ने जटिल प्रत्ययों के अंतर्गत संबंधों के प्रत्यय को भी सम्मिलित किया है, किन्तु उसने पूर्वोक्त निबंध के चतुर्थ संस्करण में एक दूसरा वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है जिसमें संबंध सम्मिलित नहीं है। वस्तुतः इस बारे में लॉक का कोई स्पष्ट विचार नहीं प्रतीत होता है।

(3) **द्रव्य के जटिल प्रत्यय (Complex ideas of substance)** — द्रव्य के जटिल प्रत्यय स्वतंत्र वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करने वाले सरल प्रत्ययों के सम्मिश्रण से बनते हैं। इसका लॉक के दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य गुणों के जटिल प्रत्ययों से बनता है जो विशिष्ट वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आकार के प्रत्यय में गति, विचारशीलता आदि प्रत्ययों को मिलाकर उसमें द्रव्य को संयुक्त कर दिया जाय तो मनुष्य का प्रत्यय बन जाता है। मनुष्य का प्रत्यय व्यक्तिगत द्रव्य का प्रत्यय है। व्यक्तिगत द्रव्य के प्रत्ययों के पुनः दो उपभेद किए गए हैं — जिन्हें क्रमशः भौतिक द्रव्य का प्रत्यय और अभौतिक द्रव्य का प्रत्यय कहा गया है। इसके अतिरिक्त अनेक द्रव्यों के सामूहिक प्रत्यय भी होते हैं। जैसे — सेना या झुण्ड का प्रत्यय। लॉक के अनुसार द्रव्य का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। हमारा साक्षात् सम्पर्क द्रव्य से नहीं, बल्कि द्रव्य के गुणों से होता है।

प्रत्ययों के स्वरूप और उत्पत्ति को समझने के लिए गुणों के स्वरूप को जानना आवश्यक है। लॉक ने गुणों के स्वरूप पर गंभीर अनुशीलन किया है। वस्तुतः लॉक के द्वारा प्रतिपादित मूलगुणों एवं उपगुणों की अवधारणा विवादास्पद रही है। अतः मूलगुणों एवं उपगुणों के स्वरूप पर विचार करना प्रासंगिक हो जाता है।

मूलगुण एवं उपगुण (Primary and Secondary Qualities)

गुण द्रव्य की वह शक्ति है जिसके कारण आत्मा में प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। लॉक के अनुसार मूलगुण द्रव्य की वह शक्ति है जो द्रव्य में वास्तव में पाया जाता है। इसे भौतिक द्रव्य का अनिवार्य लक्षण कहा जा सकता है। जब हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष वस्तुओं के मूलगुणों से होता है तो ये मूलगुण आत्मा में अपनी संवेदना उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार संवेदनाओं के माध्यम से हमारी आत्मा में मूलगुणों का एक प्रतिबिम्ब अंकित हो जाता है। इस प्रतिबिम्ब को ही प्रत्यय (Idea) कहते हैं। घनत्व (Solidity), विस्तार (Extension), आकार (form), आकृति (Figure), गति (Motion), विराम (Rest), संख्या (Number) आदि मूलगुण हैं। ये मूलगुण भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ पाये जाते हैं। अतः लॉक मूलगुणों को वस्तुनिष्ठ कहता है। ये हमारी आत्मा की कल्पना नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मूलगुण वस्तुओं में पाये जाते हैं, आत्मा में नहीं। ये मूलगुण हमारी आत्मा में अपना प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। लॉक के अनुसार इन मूलगुणों को मापा जा सकता है। इनके गणितीय होने के कारण इनका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः इन्हें परिमाणालक दृष्टि से व्यक्त किया जा सकता है।

मूलगुणों की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका हमारी आत्मा में उपगुणों के प्रत्यय उत्पन्न करने में है। उपगुणों का ज्ञान परोक्ष रूप से होता है। रंग, स्वाद, गन्ध, शीतलता, उष्णता इत्यादि को उपगुण कहा जा सकता है। लॉक के अनुसार उपगुण वास्तव में वस्तुओं में नहीं पाये जाते हैं। ये आलसिष्ठ

हैं। किन्तु उपगुणों के आलनिष्ठ होने पर भी उनको उत्पन्न करने की शक्ति हमारी आत्मा में नहीं है। उपगुणों को उत्पन्न करने की शक्ति भी वस्तुओं के मूलगुणों में ही होती है। लॉक उपगुणों का आश्रय वस्तुओं को नहीं मानता है, किन्तु उपगुणों के संवेदन वस्तुओं के वास्तविक गुणों के द्वारा ही उत्पन्न किए जाते हैं। हम अपनी आत्मा में स्वेच्छानुसार सफेदी, लालिमा, मीठापन, सुगन्ध, सुरीली ध्वनि इत्यादि उपगुणों को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। किन्तु एक ही वस्तु (जैसे — मिठाई अथवा चाय) किसी व्यक्ति को अधिक मीठी तो किसी को कम मीठी, किसी व्यक्ति को अधिक गर्म तो किसी व्यक्ति को कम गर्म प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि उपगुण आलनिष्ठ (Subjective) होते हैं। लॉक के अनुसार यदि ये उपगुण वस्तुनिष्ठ (Objective) होते तो सभी लोगों को समान रूप से अनुभूत होते। उपगुण वस्तुओं के गुणात्मक पक्षों से संबंधित होते हैं। लॉक ने उपगुणों को संवेद्य (sensible) और मूलगुणों को असंवेद्य (Unsensible) कहा है। इन उपगुणों के प्रत्यय बाह्य वस्तुओं को प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं। किन्तु बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत अवश्य करते हैं। वस्तुतः उपगुण वस्तुओं की उस शक्ति की ओर संकेत करते हैं, जो हमारे मन में उपगुणों के प्रत्ययों को उत्पन्न करती है। उपगुणों के प्रत्यय 'प्रत्यक्ष के कारणात्मक सिद्धान्त' की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार मूलगुणों के प्रत्यय जो वस्तुओं में पाये जाने वाले वास्तविक गुणों के प्रतिबिम्ब हैं, 'प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद' का प्रतिपादन करते हैं।

उपगुणों के ही समान वस्तुओं की शक्ति के रूप में लॉक ने तृतीयक गुणों (Tertiary quality) का भी उल्लेख किया है। ये तीसरे प्रकार के गुण वस्तुओं की संरचना में परिवर्तन उत्पन्न करके हमारी आत्मा में किसी उपगुण का नया प्रत्यय पैदा करते हैं। जैसे — अग्नि के प्रभाव से द्रवित होकर मोमबत्ती के टुकड़े के परिवर्तित हो जाने पर इस परिवर्तन को देखने वाले व्यक्ति की आत्मा में एक नये रंग का प्रत्यय उत्पन्न होता है। अग्नि की उष्णता से पिघलने वाली मोमबत्ती के 'द्रवत्व' गुण की स्थापना अग्नि में नहीं, बल्कि मोमबत्ती में की जाती है। तीसरे प्रकार के गुणों के प्रत्यय दो वस्तुओं (अग्नि और मोमबत्ती) के पारस्परिक संपर्क के कारण उत्पन्न होते हैं। उनमें कारण-कार्य का संबंध है। तृतीयक गुणों को केवल वस्तुओं की शक्ति के रूप में माना जाता है। किन्तु मूलगुणों से उपगुण किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? हमें इसका ज्ञान नहीं होता है। यही कारण है कि वस्तुनिष्ठ न होते हुए भी हम उपगुणों को वस्तुओं का वास्तविक धर्म समझ बैठते हैं। जैसे — अग्नि से संपर्क होने पर अथवा अंलाव जलाने पर जब हमारा शरीर गर्मी का अनुभव करता है तो हम उष्णता का आरोपण अपने शरीर में नहीं, बल्कि अग्नि के गुण के रूप में करते हैं। इसके विपरीत अग्नि के प्रभाव से द्रवित होने वाली मोमबत्ती के द्रवत्व का आरोपण अग्नि में नहीं करते हैं। हम केवल यह कहते हैं कि अग्नि में मोमबत्ती को द्रवित करने की शक्ति है। यदि हमें मूलगुणों एवं उपगुणों के बीच में कारण-कार्य संबंध का ज्ञान होता तो उन उपगुणों को भी वस्तु की शक्ति माना जाता। इस प्रकार हम उन्हें वस्तुओं का वास्तविक गुण समझने की भूल न करते। अतः लॉक का दावा है कि उपगुण वास्तविक नहीं हैं। इस दृष्टि से उष्णता, शीतलता, मधुरता, कड़वाहट, राग का सुरीलापन एवं कर्णकटु ध्वनि, प्राकृतिक सौन्दर्य एवं कुरूपता इत्यादि वास्तविक गुण नहीं हैं। वस्तुतः उपगुण वास्तविक अर्थों में गुण नहीं हैं। अज्ञानवश लोग इन्हें गुण समझने की भूल करते हैं। लॉक के दर्शन में मूलगुणों एवं उपगुणों के बीच में किया गया यह भेद दर्शन की एक महत्वपूर्ण समस्या है। आधुनिक दर्शन में इसका दूरगामी प्रभाव रहा है। इस समस्या ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में 'प्रतिनिधित्ववादी सिद्धान्त' को जन्म दिया।

प्रत्यक्ष का प्रतिनिधित्ववादी सिद्धान्त (The Representationist Theory of Perception)

लॉक के अनुसार भौतिक वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षों से स्वतंत्र हैं। हमें वस्तुओं का ज्ञान साक्षात् रूप से नहीं होता है। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान उनके मूलगुणों के प्रत्ययों के माध्यम से होता है। जब द्रष्टा की इन्द्रियों का वस्तुओं के मूलगुणों से संपर्क होता है तो द्रष्टा के मानस-पटल में इन मूलगुणों की एक छाप या प्रतिलिपि अंकित हो जाती है, जिसे प्रत्यय कहा जाता है। इस प्रकार हमें वस्तुओं का ज्ञान इन प्रतिबिम्बरूपी प्रत्ययों के माध्यम से होता है। हमारे ज्ञान के साक्षात् विषय प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के बिम्बों या मूलगुणों के आश्रय के रूप में हम वस्तु का अनुमान कर लेते हैं। लॉक के ही समान डेकार्ट भी प्रत्ययों को ही ज्ञान का स्रोत मानता है। किन्तु दोनों दार्शनिकों की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित हैं। डेकार्ट के अनुसार ज्ञान बौद्धिक अन्तर्दृष्टि या प्रतिमान पर आधारित है। इसके विपरीत लॉक के दर्शन में ज्ञान की मूल इकाई प्रत्यय है जिसका स्रोत अनुभव है। वे प्रागनुभविक रूप से निगमित नहीं किए जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि डेकार्ट भी प्रतिनिधित्ववादी है, किन्तु उसके प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद का आधार अन्तर्दृष्टि है। वह विस्तार के प्रत्यय को जन्मजात मानता था, जिसका लॉक ने खंडन किया है।

लॉक के प्रतिनिधित्ववाद में ज्ञान के तीन प्रमुख कारक माने गए हैं —

1. ज्ञाता या आत्मा (Mind)
2. बाह्य वस्तुएँ या भौतिक पिण्ड
3. आत्मा (ज्ञाता) और बाह्य वस्तुओं (ज्ञेय) के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले प्रत्यय।

ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में संबंध स्थापित करने वाली मध्यवर्ती कड़ियों के रूप में प्रत्ययों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इन प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों से ही ज्ञान की संरचना संभव होती है। इसीलिए लॉक कहता है कि ज्ञान हमारे प्रत्ययों के संबंधों का और उनकी अनुकूलता या प्रतिकूलता (सहमति अथवा असहमति) का प्रत्यक्ष है।¹

लॉक के अनुसार सत्य संकेतिक वस्तुओं की सहमति अथवा असहमति के अनुरूप संकेतों की संगति या असंगति है। यह वाक्य 'अर्थ' (Meaning) और 'जगत्' के बारे में एक सिद्धान्त का संकेत करता है। आगे चलकर विद्गेन्सटाइन ने 'ट्रैक्टेटस' (Tractatus) में इस सिद्धान्त का समर्थन किया। किन्तु विद्गेन्सटाइन की रुचि ज्ञानमीमांसा की परंपरागत समस्याओं में नहीं थी। वह मुख्य रूप से भाषा और अर्थ तथा भाषा और सत्ता के संबंध का ही प्रतिपादन करता है। लॉक का यह सिद्धान्त प्राकृतिक वस्तुवाद और नव्य-वस्तुवाद की मान्यताओं से भिन्न है। नव्य-वस्तुवादी ज्ञाता और ज्ञेय में साक्षात् संबंध मानते हैं। किन्तु प्रतिनिधित्ववाद 'ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद' (Epistemological dualism) पर आधारित है, क्योंकि उसके अनुसार बाह्य वस्तुएँ मन (ज्ञाता) के साक्षात् विषय नहीं हैं। हमारे ज्ञान के साक्षात् विषय प्रत्यय हैं। लॉक के प्रतिनिधित्ववाद की तुलना सर्वास्तिवादी बौद्धों के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय की ज्ञानमीमांसा से की जा सकती है। उल्लेखनीय है कि सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में वैभाषिकों के बाह्य-प्रत्यक्षवाद का खण्डन किया गया है। लॉक के समान सौत्रान्तिक बाह्य जगत् के ज्ञान को परोक्ष मानते हैं। उनके अनुसार हम मानसिक आकारों के माध्यम

1 Knowledge is the perception of the connection of agreement or disagreement and repugnancy of only of our ideas. — Essay IV; 1.2..

से वस्तु का अनुमान कर लेते हैं, अतः इस मत को 'बाह्यानुमेयवाद' कहा जाता है। सौत्रान्तिक विचारक बाह्य जगत् की सत्ता को मानसिक आकारों से पृथक् मानते हैं। हमें बाह्य जगत् का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता है, बल्कि मानसिक आकारों के आधार पर हम बाह्य जगत् के पदार्थों की सत्ता का अनुमान कर लेते हैं। यह मत लॉक के प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद के समान है क्योंकि लॉक भी यह स्वीकार करता है कि बाह्य पदार्थों (जड़ द्रव्य) की सत्ता अवश्य होनी चाहिए। वस्तुतः लॉक बाह्य जड़ द्रव्य को ही संवेदनों का मूल स्रोत मानता है। हमारे प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के मूलगुणों से उत्पन्न होते हैं। हम वस्तुओं को साक्षात् रूप से नहीं, बल्कि इन मानसिक प्रत्ययों के माध्यम से जानते हैं। स्पष्ट है कि लॉक और सौत्रान्तिकों का यह मत क्रमशः बर्कले के 'पुरोधानवाद' (Presentationism) और वैभाषिकों के 'बाह्य-प्रत्यक्षवाद' से भिन्न है।

वस्तुतः लॉक के सामने प्रमुख समस्या दैनिक जीवन में घटित होने वाली भ्रान्तियों (Illusions) के विश्लेषण को लेकर है। यदि बाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्ष का साक्षात् विषय माना जाय तो भ्रम की व्याख्या कैसे की जा सकती है? अनेक भ्रम ऐसे हैं जिनमें वस्तुएँ हमारे समक्ष विकृत रूप में प्रस्तुत होती हैं। इन विसंगतियों के कारण प्रत्ययों के माध्यम से वस्तु-ज्ञान की प्राप्ति का औचित्य समझा गया। किन्तु लॉक इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता है कि यदि एकमात्र प्रत्यय ही हमारे ज्ञान के विषय हैं और हमारा सीधा संपर्क वस्तुओं (मूल बिम्बों) से नहीं हो सकता है; तो प्रश्न उठता है कि मूल बिम्बों (वस्तुओं) के ज्ञान के बिना प्रत्ययों को यथार्थ कैसे कहा जा सकता है? लॉक के प्रतिनिधित्ववाद के विरुद्ध बर्कले के द्वारा उठाई गई आपत्तियों का सफलतापूर्वक निराकरण नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, लॉक के प्रत्यय चित्र या प्रतिबिम्ब के समान हैं। कोई व्यक्ति प्रतिबिम्ब (चित्र) और बिम्ब (मूल वस्तु) की तुलना तब तक नहीं कर सकता है, जब तक कि उसे दोनों का अनुभव न हो; विशेष रूप से जब मूलबिम्ब अनुभव के बाहर हो। इससे स्पष्ट है कि सत्यता के संवादिता सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई गई सभी आपत्तियाँ लॉक के प्रतिनिधित्ववाद पर भी लागू होती हैं। लॉक के अनुसार मूलगुण ऐसे द्रव्य से संबंधित हैं जो हमारे लिए अज्ञेय है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि द्रव्य संवेदनों को उत्पन्न करता है? इससे प्रत्ययों और बाह्य-वस्तुओं के बीच संवादिता कैसे स्थापित हो सकती है? इन प्रश्नों का लॉक के दर्शन में कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। किस अर्थ में प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के अनुरूप हैं? इसे जानने के लिए प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन को अपनाना चाहिए। किन्तु प्रत्ययों से स्वतंत्र रूप में बाह्य जगत् के ज्ञान के लिए किसी अन्य साधन का आश्रय लेना एक प्रकार से प्रतिनिधित्ववाद का परित्याग कर देना होगा। चूँकि मनुष्य के पास प्रत्ययों के अतिरिक्त बाह्य जगत् को जानने का कोई अन्य साधन नहीं हो सकता है, इसलिए प्रत्ययों से भिन्न किसी अन्य साधन को स्वीकार करना इस सिद्धान्त के विपरीत होगा। उल्लेखनीय है कि यह समस्या डेकार्ट के सामने भी थी। डेकार्ट ने दैवी प्रकाशना का सहारा लेकर इस विसंगति से मुक्त होने का प्रयास किया। किसी भी ज्ञानमीमांसक के लिए ऐसी मान्यता दोषपूर्ण है क्योंकि यह तथ्यों तक पहुँचने के लिए एक उच्च स्तरीय साधन की पूर्वमान्यता पर आधारित है। इसे लॉक की ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत समाहित नहीं किया जा सकता है।¹

मूर के अनुसार प्रत्यय (Idea) ज्ञाता और ज्ञेय (वस्तु) के बीच की (मध्यवर्ती) अवस्था नहीं हो सकता है। लॉक के तथाकथित प्रत्यय जानने की प्रक्रिया मात्र हैं। जानने की प्रक्रिया (Process of knowing) को स्वतः ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता है। मूर 'ज्ञान के पारदर्शिता-सिद्धान्त'

1 इसे एक प्रकार का ज्ञानमीमांसीय दोष (Epistemologist's fallacy) कहा गया है। Fundamentals of Philosophy; p. 199-200.

(Transparency Theory of Knowledge) को स्वीकार करके 'प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद' का निराकरण कर देता है।¹

लॉक के प्रतिनिधित्ववाद का आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में व्यापक प्रभाव रहा है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है। मन और विषय के संबंध में प्रतिनिधित्ववाद के द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के कारण वर्कले के दर्शन से लेकर समकालिक विश्लेषी दर्शन तक अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। वर्कले ने लॉक के प्रतिनिधित्ववाद का खंडन करके 'ज्ञानमीमांसीय एकतत्त्ववाद' का प्रतिपादन किया। इसके अतिरिक्त लॉक के प्रतिनिधित्ववाद से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए बीसवीं शताब्दी के कुछ विश्लेषी दार्शनिकों ने 'इन्द्रिय-प्रदत्तों के सिद्धान्त' (Theory of Sense-data) का सहारा लिया। इन्द्रिय-प्रदत्तों का सिद्धान्त समकालिक पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए वहस और उलझन का विषय रहा है। यद्यपि लॉक का प्रतिनिधित्ववाद तर्कतः दोषपूर्ण है, तथापि कोई भी परवर्ती दार्शनिक लॉक के इस सिद्धान्त की उपेक्षा न कर सका।

ज्ञान का स्वरूप

लॉक भी अपने युग के बुद्धिवादी दार्शनिकों के समान गणित से बहुत प्रभावित हुआ था। वह इस बात से विशेष रूप से प्रभावित हुआ था कि गणित मानव-चिन्तन के एक निश्चित और पूर्णतया असंदिग्ध क्षेत्र से संबंधित है। अपने निबन्ध के चतुर्थ भाग में लॉक बुद्धिवादी परम्परा के निकट प्रतीत होता है। डी० जे० ओ० कोनर ने यहाँ तक कह दिया कि लॉक ने अपने निबन्ध के दूसरे भाग में जो कुछ लिखा था, वह उसे भूल गया अर्थात् वह अनुभववादी मान्यताओं से विचलित होते हुए प्रतीत होता है। उसने ज्ञान की जो परिभाषा दी है, वह अनुभववादी परंपरा के अनुकूल नहीं प्रतीत होती है। ज्ञान को परिभाषित करते हुए लॉक कहता है — "ज्ञान हमारे प्रत्ययों के संयोग और उनके बीच सहमति अथवा असहमति तथा असंगति के प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" ज्ञान की इस परिभाषा में बुद्धिवादी दृष्टि का प्रभाव है। यहाँ पर 'प्रत्यक्ष' (Perception) का प्रयोग आनुभविक अर्थ में नहीं, बल्कि प्रातिभ (Intuitive) अर्थ में किया गया है, क्योंकि पूर्वोक्त परिभाषा में 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग मानसिक सहमति के अर्थ में किया गया है। स्पष्ट है कि सहमति या असहमति बौद्धिक शक्ति के संदर्भ में ही संभव है। वस्तुतः ज्ञान का विषय न तो एक प्रत्यय है और न ही प्रत्यय और वस्तुओं का संबंध है। इस परिभाषा से व्यंजित होता है कि प्रत्ययों के पारस्परिक संबंध ही ज्ञान के विषय हैं। अतः यह संवादिता सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान परामर्शात्मक (Judgemental) होता है। इस दृष्टि से ज्ञान को आत्मा या मन और विषय के बीच का संबंध नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लॉक इस प्रत्ययों की सहमति अथवा असहमति का प्रत्यक्षीकरण कहता है। पुनश्च प्रत्यक्षीकरण भी आनुभविक अर्थ में नहीं है, बल्कि बौद्धिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु लॉक-दर्शन के एक प्रकाण्ड विद्वान आर० आई० एरॉन (R.I. Aaron) के अनुसार लॉक को बुद्धिवादी कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः लॉक को डेकार्ट की परंपरा से प्रभावित बुद्धिवादी कहना लॉक-दर्शन की गलत समझ पर आधारित है। अनुभव की आत्मनिष्ठ दृष्टि से लॉक और डेकार्ट में भले ही समानता हो, किन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से दोनों में कोई सामंजस्य नहीं है।²

1 ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पृ० 101, 102 एवं 104..

2 John Locks, Aaron R.I., p. 224.

वास्तव में लॉक के द्वारा प्रयुक्त 'प्रतिभान' डेकार्ट के 'प्रतिभान' से मौलिक रूप में भिन्न है। जहाँ डेकार्ट का 'प्रतिभान' पूर्णरूप से बौद्धिक है, अथवा बुद्धि का एक स्वाभाविक प्रकाश है, वहाँ लॉक का 'प्रतिभान' विशुद्ध रूप से बौद्धिक नहीं हो सकता है। यद्यपि लॉक के द्वारा उसे सहज कहा गया है, तथापि वह अनुभव से स्वतंत्र नहीं है। प्रश्न उठता है कि प्रत्ययों की सहमति अथवा असहमति क्या है? लॉक के अनुसार प्रत्ययों की सहमति और असहमति चार प्रकार की होती है —

(1) अभेद अथवा भेद (Identity or Difference) — जब दो प्रत्यय परस्पर अभिन्न होते हैं, जैसे — लाल लाल है, तो इसे अभेद संबंध कहा जाता है। इसके विपरीत, लाल काला नहीं है, यह भेद पर आधारित संबंध है।

(2) प्रत्ययों के अमूर्त सम्बन्ध जो मुख्य रूप से गणितीय होते हैं। जैसे — $2 + 2 = 4$ ।

(3) सह-अस्तित्व (Co-existence) — किसी निर्णय या परामर्श के उद्देश्य में दो प्रत्ययों का साथ-साथ होना या न होना। जैसे — सेब स्वादिष्ट और चिकना है अथवा मेज भूरी और चिकनी नहीं है।

(4) यथार्थ अस्तित्व (Real existence) के अनुरूप या प्रतिकूल प्रत्ययों का होना। जैसे — ईश्वर की सत्ता है। यह चौथे प्रकार की सहमति यथार्थ अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण है। यहाँ पर 'अस्तित्व' (सत्ता) का प्रयोग एक विधेय के रूप में किया गया है। इसके कारण दर्शन जगत् में पर्याप्त विवाद और बहस प्रारंभ हुई। अस्तित्व को विधेय के रूप में स्वीकार करने पर आपत्ति की गई।

वास्तव में, लॉक के द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष' पद भ्रामक है। 'प्रत्ययों का प्रत्यक्ष' और 'प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का प्रत्यक्ष' दोनों एकार्थक नहीं है। इस संदर्भ में प्रत्यक्ष का अर्थ मानसिक स्वीकृति (सहमति) है। लॉक के अनुभववाद की एक प्रमुख मान्यता यह है कि हमारा ज्ञान प्रत्ययों तक ही सीमित है। यहाँ पर समस्या यह है कि किस कसौटी या मानदण्ड के आधार पर यह निर्धारित किया जाय कि अमुक ज्ञान 'वैध' है अथवा 'अवैध' है? यदि मानव-ज्ञान प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों की सहमति या असहमति तक ही सीमित है तो हम कैसे कह सकते हैं कि हमारा ज्ञान यथार्थ सत्ता के अनुरूप है अथवा नहीं? यह प्रश्न मानव-ज्ञान की सत्यता या वैधता (Validity of Knowledge) से संबंधित है। अतः ज्ञान की वैधता (प्रामाण्य) पर विचार करना अपेक्षित है।

ज्ञान की वैधता या प्रामाण्य (Validity of Knowledge)

लॉक के अनुसार संवेदन और स्वसंवेदन ही ज्ञान के मूल स्रोत हैं। इनके द्वारा प्राप्त सरल प्रत्ययों से ही हमारी आत्मा सक्रिय होकर जटिल प्रत्ययों की रचना करती है। अब प्रश्न यह है कि किस आधार पर इन प्रत्ययों को वास्तविक अथवा अवास्तविक कहा जाय? लॉक के अनुसार वास्तविक प्रत्यय वे हैं जिनके मूल रूप (बिम्ब) बाह्य-जगत् में हों। इसके विपरीत, जिन प्रत्ययों के अनुरूप बाह्य जगत् में कोई बिम्ब (वस्तु) न हो, वे प्रत्यय काल्पनिक हैं। इसे 'सत्यता का संवादित सिद्धान्त' कहा जाता है। सरल प्रत्ययों की रचना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है। सरल प्रत्यय बाह्य जगत् में स्थित वस्तुओं की शक्तियों के कार्य हैं, किन्तु इनमें से सभी प्रत्यय वस्तुओं के प्रत्यय नहीं होते हैं। लॉक केवल मूलगुणों के प्रत्ययों को ही वस्तुओं के मूलगुणों का प्रतिबिम्ब कहता है। हम अपनी इच्छानुसार आत्मा में इन सरल प्रत्ययों (जैसे — सफेदी, लालिमा, विस्तार, मिठास, आकार, संख्या आदि) को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। किन्तु यदि हमारे सामने उष्णता, शीतलता, विस्तार, आकृति इत्यादि से युक्त वस्तुएँ हों तो हम उनका प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ये सरल प्रत्यय

हमारे लिए प्रदत्त हैं, अर्थात् हम उन्हें जानने के लिए बाध्य होते हैं। उनकी वास्तविकता प्राकृतिक जगत् में स्थित यथार्थ वस्तुओं अथवा उनकी शक्तियों (गुणों) पर आश्रित होती है।

इसके अतिरिक्त विकार और संबंध के प्रत्यय भी वास्तविक होते हैं, किन्तु वे बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। लॉक के अनुसार वे (विकार और संबंध) बिम्बरूप हैं जिनके अनुरूप प्रतिबिम्ब जगत् में हो सकते हैं, किन्तु उन्हें सरल प्रत्ययों के समान वास्तविक नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में, उनका प्रामाण्य इस दृष्टि से है कि उनके अनुरूप प्राकृतिक जगत् में स्थित वस्तुओं के अस्तित्व की संभावना हो सकती है। लॉक के अनुसार यद्यपि द्रव्य के जटिल प्रत्यय का प्रत्यक्ष अनुभव से नहीं हो सकता, तथापि द्रव्य का अस्तित्व अवश्य है। लॉक द्रव्य के प्रत्यय को बाह्य जगत् में स्थित द्रव्य का प्रतिनिधि मानता है। वास्तव में, वह सरल प्रत्ययों के सह-अस्तित्व और संगठन के रूप में द्रव्य के जटिल प्रत्यय को बाह्य जगत् में विद्यमान मानता है। द्रव्य की सत्ता में उसका दृढ़ विश्वास है। यदि किसी द्रव्य का प्रत्यय बाह्य जगत् में स्थित किसी वस्तु (द्रव्य) के अनुरूप नहीं है तो उसे काल्पनिक कहा जायेगा। जैसे — क्षीरसागर, सुवर्णगिरि (सुमेरू), दशानन, पेगशस¹ आदि।

इस प्रकार जो प्रत्यय बाह्य जगत् में स्थित बिम्बों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें 'पर्याप्त' और जो प्रत्यय अपने मूल बिम्बों का अपूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें 'अपर्याप्त' कहा जाता है। पर्याप्तता की इस कसौटी की दृष्टि से सरल प्रत्ययों तथा विकारों एवं संबंधों के प्रत्ययों को पर्याप्त कहा जा सकता है, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में अपने मूल बिम्बों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु द्रव्य के प्रत्यय इस दृष्टि से पर्याप्त नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे अपने मूलबिम्बों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। प्रत्ययों की सत्यता और असत्यता का संबंध परामर्शों (Judgements) से है। वास्तव में कोई प्रत्यय स्वयं में सत्य या असत्य नहीं होता है। सत्यता और असत्यता निर्णयों के बाह्य लक्षण हैं। जो निर्णय बाह्य जगत् में स्थित तथ्यों के अनुरूप होता है, उसे सत्य निर्णय कहा जाता है। इसके विपरीत यदि निर्णय मूलबिम्बों के अनुरूप नहीं होते हैं तो उसे सत्य नहीं कहा जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि लॉक निर्णयों के अन्तर्गत साक्ष्यों का मूल्यांकन करता है। निर्णयों में पूर्ण निश्चितता का अभाव होता है। इस दृष्टि से निर्णयों की सत्ता प्रायिक होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि निर्णय और ज्ञान में अंतर है। वस्तुतः ज्ञान के अंतर्गत प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का प्रतिमान होता है। इस दृष्टि से ज्ञान की अवस्था निर्णयों से उच्चस्तरीय है। निर्णयों को प्रायिक विश्वासों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

लॉक की ज्ञानमीमांसा में तीन प्रकार के प्रामाणिक ज्ञान का उल्लेख मिलता है —

(1) इन्द्रियानुभविक ज्ञान (Sensitive Knowledge) — यह ज्ञान संवेदनों से प्राप्त होता है। जटिल विकारों और संबंधों के प्रत्यय बाह्य जगत् में स्थित किसी वस्तु के अनुरूप होने का दावा नहीं करते हैं। अतः उनके ज्ञान को असत्य नहीं कहा जा सकता है। किन्तु द्रव्यों के जटिल प्रत्यय और सरल प्रत्ययों के मूलबिम्बों का अस्तित्व बाह्य जगत् में स्थित होता है। अतः उनका सत्य या असत्य होना स्वाभाविक हो जाता है। चूँकि मूलगुण वस्तुनिष्ठ होते हैं इसलिए वस्तुओं के वास्तविक गुण होने के कारण उनके द्वारा हमारी आत्मा में अंकित किए गए प्रत्यय सत्य होते हैं। उपगुण भले ही वस्तुनिष्ठ न हों, किन्तु वे मूल गुणों के द्वारा हमारी आत्मा में उत्पन्न किए जाते हैं, इसलिए उनके

1. एक ग्रीक देवता का नाम जो भारतीय पौराणिक परंपरा में उल्लिखित राहु और केतु के समान है। इस प्रकार के नाम केवल शाब्दिक होते हैं जिनके अनुरूप कोई वस्तु नहीं होती है। योग दर्शन में इस प्रकार की सत्ताओं को 'विकल्प' कहा गया है — वस्तुशून्यो शब्दज्ञानानुपाती विकल्पः।

प्रत्यय भी यथार्थ (real) होते हैं। अतः लॉक के अनुसार हमारा बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तविक होता है। हमें प्राकृतिक जगत् का ज्ञान इन्द्रियानुभव (प्रत्यक्ष) से होता है। इसे ज्ञान का सबसे निम्न स्तर कहा जा सकता है।

(2) प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge) — इसे ज्ञान का सर्वोच्च स्तर कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत दो प्रत्ययों की सहमति या असहमति का ज्ञान बिना किसी अन्य प्रत्यय के माध्यम से अर्थात् साक्षात् रूप से हो जाता है। यह किसी वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान है। जैसे — श्वेत रंग काला नहीं होता है; तीन दो से अधिक होता है, इत्यादि। प्रातिभ ज्ञान सबसे अधिक स्पष्ट और निश्चित होता है। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती है। दूसरे शब्दों में, प्रातिभ ज्ञान स्वतःसिद्ध, आदर्श और निश्चायक ज्ञान है।

उल्लेखनीय है कि लॉक ने प्रातिभ ज्ञान को भी आनुभविक माना है। यह संवेदन और स्वसंवेदन से स्वतंत्र नहीं है। इससे स्पष्ट है कि लॉक का 'प्रातिभ ज्ञान' डेकार्ट के 'प्रतिभान' से भिन्न है। डेकार्ट का प्रतिभान किसी ऐन्द्रिक अनुभूति पर निर्भर नहीं है। वह विशुद्ध रूप से इन्द्रियातीत और बौद्धिक है। डेकार्ट ने इसे बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश कहा है। इसके विपरीत, लॉक किसी ज्ञान को प्रातिभ इसलिए कहता है क्योंकि ऐसा ज्ञान उत्पन्न होते ही तत्काल (immediately) स्वीकार कर लिया जाता है। किन्तु डेकार्ट के समान लॉक भी आत्मा और उसकी मौलिक अवस्थाओं के ज्ञान को प्रातिभ मानता है। दूसरे शब्दों में, लॉक के अनुसार प्रातिभ ज्ञान का विषय आत्मा है।

(3) उपपत्तिमूलक अथवा निदर्शनात्मक ज्ञान (Demonstrative Knowledge) — लॉक की ज्ञानमीमांसा में इसे परोक्ष ज्ञान कहा गया है, जो एक प्रकार का अनुमान है। इसके अंतर्गत दो प्रत्ययों की सहमति या असहमति का ज्ञान एक तीसरे प्रत्यय पर आश्रित होता है। वस्तुतः उपपत्तिमूलक ज्ञान भी प्रातिभ ज्ञान पर आधारित होता है। यद्यपि इस ज्ञान की वैधता निश्चित होती है, तथापि यह प्रातिभ ज्ञान जैसा असंदिग्ध और अव्यवहित नहीं होता है। यह एक प्रकार का निगमनात्मक अनुमान है। वस्तुतः ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली युक्तियाँ उपपत्ति मूलक ज्ञान के ही अंतर्गत आती हैं, अतः इसे 'यौक्तिक ज्ञान' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के ज्ञान में कई सोपान होते हैं। इससे निश्चितता को निर्धारित करने के लिए प्रत्येक सोपान (मध्यस्थ सोपान) का प्रातिभ ज्ञान होना आवश्यक होता है। अतः इसके लिए सम्यक् स्मृति, मानसिक एकाग्रता और सावधानी आवश्यक होती है। चूँकि यह ज्ञान मध्यस्थ सोपानों पर निर्भर है, इसलिए इसमें साक्षात्कारित्व का अभाव होता है। भ्रान्त स्मृति की संभावना इस ज्ञान को संदेहास्पद बना देती है। अतः यह ज्ञान भले ही प्रातिभ ज्ञान पर आश्रित हो, तथापि यह उसके (प्रातिभ के) समान असंदिग्ध नहीं हो सकता है।

ज्ञान की ये तीनों कोटियाँ सत्यता की मात्रा पर आधारित हैं। इन्द्रियानुभविक ज्ञान की सत्यता और निश्चितता सबसे कम होती है। इसके विपरीत प्रातिभ ज्ञान की प्रामाणिकता सबसे अधिक होती है। उपपत्तिमूलक (यौक्तिक) ज्ञान प्रातिभ ज्ञान पर आधारित होने के कारण वैध होता है। इसकी सत्यता प्रातिभ ज्ञान से कम और इन्द्रियानुभविक ज्ञान से अधिक होती है। इस प्रकार प्रामाण्य और सत्यता की मात्रा की दृष्टि से उपपत्ति मूलक ज्ञान की स्थिति दोनों (इन्द्रियानुभविक और प्रातिभ ज्ञान) के बीच की (मध्यवर्ती) होती है।

जिस ज्ञान के सत्य होने की संभावना हो, किन्तु जिसकी निर्णायक (Conclusive) सत्यता का निर्धारण न किया जा सके, उसे 'प्राथिक ज्ञान' कहा जा सकता है। लॉक इसे 'निर्णय'

(Judgement) कहता है जो ज्ञान से भिन्न होता है। वास्तव में, इस प्रकार के प्रायिक ज्ञान को विश्वास की कोटि में रखा जा सकता है। लॉक के अनुसार जो प्रातिभ और उपपत्तिमूलक ज्ञान से परे है, वह आस्था (Faith) का विषय होता है।¹ किन्तु अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से आस्था को ज्ञान कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः लॉक ने अपनी ज्ञानमीमांसा के आधार पर ही तत्त्वमीमांसा को सिद्ध करने का प्रयास किया। वह तीन प्रकार के ज्ञान के आधार पर तीन तत्त्वों की सत्ता का प्रतिपादन करता है। ज्ञान के ये तीनों भेद सत्यता और निश्चितता के परिमाण (मात्रा-भेद) के अनुसार किए गए हैं। इन्द्रियानुभविक ज्ञान से बाह्य जगत्, प्रातिभ ज्ञान से आत्मा और उपपत्तिमूलक ज्ञान से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

ज्ञान की सीमाएँ (Limits of Knowledge)

आधुनिक दर्शन में ज्ञान की सीमाओं के निर्धारण का प्रयास सबसे पहले लॉक ने किया। उसके अनुसार तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर विचार करने से पहले हमें अपनी बुद्धि तथा अनुभव की सीमा और क्षमता पर विचार करना चाहिए। हमारी बौद्धिक क्षमता क्या है? ज्ञान का स्रोत क्या है? ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है? इत्यादि प्रश्नों को उसने मौलिक रूप में प्रस्तुत किया। किसी तत्त्वमीमांसीय समस्या पर विचार करने से पूर्व हमें अपनी बुद्धि और क्षमता का आकलन करना चाहिए कि विचारणीय समस्या हमारी बुद्धि एवं अनुभव की सीमा के अंतर्गत आती है अथवा नहीं? इन प्रश्नों पर विचार करना तत्त्वमीमांसीय चिंतन की प्रागपेक्षा (Presupposition) है। लॉक के अनुसार बुद्धिवादियों की भूल यह है कि वे अपनी बौद्धिक क्षमता का बिना आकलन किए ही अतीन्द्रिय सत्ताओं (जैसे — आत्मा, ईश्वर, द्रव्य आदि) के ज्ञान का दावा करने लगे। यहाँ तक कि स्पिनोजा जैसे 'ईश्वर-प्रेमोन्मत्त' दार्शनिक ने ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम का दावा किया। यदि हम अनंत गुणों से युक्त अनंत ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तो ज्ञान की कोई सीमा नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्त को सबसे पहले लॉक ने चुनौती दी। उसके अनुसार हमारे अनुभव की सीमा ही ज्ञान की सीमा है।

चूँकि समस्त मानव-ज्ञान अनुभवजन्य होता है, इसलिए मानव-ज्ञान इंद्रिय-संवेदनों से प्राप्त सूचनाओं तक ही सीमित है। हम प्रत्ययों की रचना अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकते। यहाँ तक कि हम जितने प्रत्ययों को प्राप्त करते हैं, उससे भी कम जानते हैं, क्योंकि हम जितना देखते हैं (अनुभव करते हैं), उतना भी नहीं समझ पाते हैं। इस प्रकार मानव-ज्ञान केवल प्रत्ययों तक ही सीमित है। संवेदन और स्वसंवेदन के अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं हो सकता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ संख्या में केवल पाँच हैं, इसलिए केवल पाँच प्रकार के संवेदन (रूप, रस, स्पर्श, गंध और शब्द) ही सुलभ हैं। इसके अतिरिक्त हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी अत्यंत सीमित है। बहुत से ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि इन्द्रियों की शक्ति से परे हैं। उनका निरीक्षण असंभव है। यहाँ तक कि अनुभव के ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनके द्वारा सार्वभौम और स्वयंसिद्ध सत्य का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। स्वसंवेदनों के द्वारा भी केवल मन की कुछ आंतरिक क्रियाओं का ही ज्ञान हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि उद्भव और विकास की दृष्टि से मानव-ज्ञान अत्यंत सीमित है।

ज्ञान की वैधता (प्रामाणिकता) की दृष्टि से भी केवल तीन प्रकार के ज्ञान वैध होते हैं। यद्यपि प्रातिभ ज्ञान निश्चित और स्वतः सिद्ध होता है, तथापि इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। सभी प्रत्ययों की

सहमति या असहमति का प्रातिभ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान पर आधारित उपपत्तिमूलक ज्ञान के कुछ सोपानों को हम साक्षात् रूप से नहीं जान सकते हैं। वस्तुतः उपपत्तिमूलक ज्ञान केवल सीमित क्षेत्रों में ही हो सकता है, जैसे — ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान और गणितीय निर्णय। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि लॉक के अनुसार इन्द्रियानुभविक प्रत्यक्ष के द्वारा केवल कुछ विशेष वस्तुओं को ही वर्तमान काल में जाना जा सकता है। अतः ज्ञान की निश्चितता और वैधता की दृष्टि से भी मानव-ज्ञान का क्षेत्र अत्यंत संकुचित है। लॉक के अनुसार प्रत्ययों के पारस्परिक संबंध केवल चार प्रकार के होते हैं — अभेद और भेद, अमूर्त संबंध, सह-अस्तित्व और यथार्थ-अस्तित्व। ये संबंध प्रत्ययों पर आश्रित हैं। अतः प्रत्ययों के सीमित होने से उनके पारस्परिक संबंध भी सीमित होंगे।

किन्तु लॉक के अनुसार मानव-ज्ञान भले ही सीमित हो, तथापि प्रामाणिक ज्ञान संभव है। अतः लॉक ज्ञान को अत्यंत सीमित मानते हुए भी संशयवादी नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में उसने वास्तविकता, पर्याप्तता और सत्यता पर विशेष बल दिया। इनके द्वारा ज्ञान को प्रामाणिक बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक और तकनीकी उपकरणों की सहायता से मनुष्य अपने अनुभव की सीमा में वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार लॉक निश्चित, प्रामाणिक एवं बहुआयामी ज्ञान को संभव मानता है। जो निर्णय हमारे अनुभव और ज्ञान में वृद्धि नहीं करते हैं, उनका जीवन में विशेष महत्त्व नहीं है। इस दृष्टि से उसने अभेद नियम पर आधारित विश्लेषणात्मक निर्णयों की अपेक्षा आनुभविक और संश्लेषणात्मक निर्णयों को अधिक महत्त्व दिया है। इससे स्पष्ट है कि मानव-ज्ञान को सीमित मानते हुए भी लॉक अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत प्रामाणिक और निश्चायक ज्ञान को सिद्ध करने का प्रयास करता है।

लॉक की तत्त्वमीमांसा

यद्यपि लॉक के दर्शन में ज्ञानमीमांसा का प्राथमिक महत्त्व है; तथापि वह तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा नहीं करता है। वस्तुतः वह तत्त्वमीमांसा को ज्ञानमीमांसा के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करता है। लॉक के दर्शन की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि उसकी ज्ञानमीमांसा से उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा तर्कतः सिद्ध नहीं हो पाती है। यद्यपि लॉक और डेकार्ट की ज्ञानमीमांसा में मौलिक अंतर है, परन्तु तत्त्वज्ञान से संबंधित विचारों में दोनों दार्शनिकों में पर्याप्त समानता है। लॉक की तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत तीन प्रमुख तत्त्व हैं — भौतिक द्रव्य, आत्मा और ईश्वर। लॉक के अनुसार जगत् द्रव्यों से निर्मित है। द्रव्य मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं — (1) भौतिक द्रव्य और (2) अमौलिक द्रव्य।

भौतिक द्रव्य के छः प्रमुख मूलगुण हैं — विस्तार, (Extension), ठोसपन (Solidity), आकार (Form) गति (Motion), विराम (Rest) एवं संख्या (Number)। ये गुण भौतिक वस्तुओं में पाये जाते हैं जो भूततत्त्व या जड़ (Matter) से निर्मित हैं। हमें द्रव्य का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु लॉक भौतिक द्रव्य में दृढ़ विश्वास करता है। वह कहता है, 'द्रव्य सर्वत्र एक-सा, किन्तु मैं नहीं जानता क्या?' (The same everywhere, but I know not what?) भौतिक द्रव्य निष्क्रिय है। द्रव्य के अज्ञेय होते हुए भी लॉक कुछ समुचित साक्ष्यों के आधार पर द्रव्य के अस्तित्व में विश्वास करता है। उसके अनुसार अधोलिखित साक्ष्यों के आधार पर जड़द्रव्य (भौतिक द्रव्य) के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है —

हमें जो संवेदन प्राप्त होते हैं, इनका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अंधा, बहरा, लंगड़ा अथवा किसी अन्य इंद्रिय से रहित है तो वह उस ज्ञानेन्द्रिय से संबंधित संवेदनों को नहीं प्राप्त कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि भूतत्त्व ही संवेदनों का कारण है, जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हमारे मन में उन्हें (संवेदनों को) उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त भूतत्त्व के कारण ही प्रत्यक्ष और स्मृति में भेद किया जाता है। हमारे प्रत्यक्ष स्पष्ट और पर्याप्त होते हैं क्योंकि वे जड़ तत्त्व के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इसके विपरीत किसी बाह्य जड़तत्त्व से उत्पन्न न होने वाली स्मृति अस्पष्ट और धुँधली होती है। स्मृति मन के आंतरिक संस्कारों से उत्पन्न होती है। लॉक के समान नैयायिकों ने भी स्मृति को संस्कारजन्य ज्ञान कहा है।

हमारे इन्द्रिय संवेदन बाह्य भौतिक द्रव्य के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। कोई मनुष्य जिस वस्तु (जैसे-सेब) को देखता है, उसे चख सकता है, सूँघ सकता है, उसके चिकनेपन आदि का स्पर्श कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य का प्रत्यय यथार्थ है। उल्लेखनीय है कि लॉक द्रव्य के प्रत्यय को यथार्थ मानते हुए भी उसे पर्याप्त नहीं मानता है। द्रव्य का कोई भी जटिल प्रत्यय उसके सभी पहलुओं अथवा उसके मूल स्वरूप का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

लॉक के अनुसार हम जिन मूलगुणों का प्रत्यक्ष करते हैं, उनका कोई न कोई आश्रय अवश्य होना चाहिए। निश्चित रूप से उन मूलगुणों का अधिष्ठान भौतिक द्रव्य है। यही कारण है कि लॉक ने मूलगुणों को वस्तु का वास्तविक धर्म कहा है। दूसरे शब्दों में, मूलगुण वस्तुनिष्ठ है। इसके विपरीत उपगुण आत्मनिष्ठ होते हैं, जो हमारे मन में हैं। वे वस्तुओं में नहीं पाये जाते हैं। मूलगुणों का विवेचन पहले ही इस अध्याय में किया जा चुका है, अतः इस स्थल पर उसका विवेचन करना अपेक्षित न होगा।

इस प्रकार लॉक ने संवेदनों के स्रोत और समस्त प्रत्यक्षों के आधार के रूप में जड़द्रव्य की सत्ता का प्रतिपादन किया। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्टता और निश्चायक वैधता का आधार भौतिक द्रव्य है। इसी प्रकार मूलगुणों के आश्रय के रूप में लॉक जड़ द्रव्य की सत्ता का प्रतिपादन करता है। संक्षेप में, प्रत्यक्ष ज्ञान की स्पष्ट प्रतीति और उसकी तुलना में स्मृतिजन्य ज्ञान की अस्पष्ट और मंद प्रतीति का कारण भौतिक (जड़) द्रव्य है। उल्लेखनीय है कि लॉक के समान नैयायिकों ने स्मृति को संस्कारजन्य कहा है जिसमें वस्तु का साक्षात् अनुभव नहीं होता। यह वस्तु के ज्ञान की पुनरभिव्यक्ति मात्र है।

लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्यों की संख्या अनेक है। उनकी अनेकता से सिद्ध होता है कि वे विशेष हैं। विशेष द्रव्य एक-दूसरे के प्रति अंतर्क्रिया करते हैं। इस प्रकार वे कारण-कार्य की शृंखला में बँधे हुए हैं। किन्तु लॉक इस द्रव्य को अज्ञेय मानता है। हम देख चुके हैं कि वह भौतिक द्रव्य के प्रत्यय को एक जटिल प्रत्यय कहता है जिसके अनुरूप प्राकृतिक जगत् में भौतिक द्रव्य का अस्तित्व अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि लॉक भौतिक द्रव्य को अनुमान का विषय मानता है। किन्तु यह लॉक-दर्शन की अत्यंत उलझी हुई समस्या है। यदि कोई वस्तु अज्ञात और अज्ञेय है तो केवल उस वस्तु के प्रत्यय के आधार पर वस्तु के यथार्थ स्वरूप और अस्तित्व का निर्धारण कैसे किया जा सकता है? चूँकि लॉक प्रत्यय और वस्तु में भेद करता है, इसीलिए वह वस्तुवादी है। द्रव्य की सत्ता द्रव्य के ज्ञान से स्वतंत्र है। किन्तु वस्तु के प्रत्यय और वस्तु की सत्ता में संवादिता (अनुरूपता) कैसे स्थापित की जाय? लॉक इस समस्या को हल करने में असफल रहा है। यही कारण है कि आगे चलकर उसे अनुभववादी परंपरा के ही एक दार्शनिक विशप वर्कले की

आलोचना का कोपभाजन होना पड़ा। उसका अनुभववाद विसंगतियों के ऐसे भँवरजाल में उलझ जाता है कि वह उससे निकलने में असमर्थ रहता है। इसके परिणामस्वरूप वह पूरी अनुभववादी परंपरा को ही डुबो देता है, जो कभी ह्यूम के संशयवाद के रूप में तो कभी वर्कले के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है। यदि वह यह मान लेता कि भौतिक द्रव्य का ज्ञान प्रत्ययात्मक नहीं है तो अनुभववाद की यह मान्यता ही ध्वस्त हो जाती कि समस्त ज्ञान आनुभविक प्रत्ययों तक सीमित है। इससे स्पष्ट है कि उसके दर्शन में भौतिक द्रव्य की अवधारणा सामंजस्यपूर्ण नहीं है।

आत्मा का स्वरूप

भौतिक द्रव्यों के साथ-साथ लॉक अभौतिक द्रव्यों के रूप में अनेक जीवात्माओं की सत्ता को मानता है। किन्तु जहाँ भौतिक द्रव्य निष्क्रिय हैं, वहीं आत्मा क्रियाशील, संकल्पों से युक्त और विचारशील द्रव्य है। डेकार्ट के विपरीत लॉक चिंतन को आत्मा का नित्यगुण नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा की अनेक क्रियाओं में से चिंतन करना एक व्यापार मात्र है। आत्मा स्वरूपतः ज्ञान-शून्य द्रव्य है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान आत्मा का आकस्मिक लक्षण है। आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव के द्वारा होती है। आत्मा के व्यापारों का ज्ञान स्वसंवेदन से होता है। यहाँ पर लॉक का आत्मा संबंधी सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के आत्मा संबंधी सिद्धान्त से बहुत साम्य रखता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगंतुक गुण है, न कि आत्मा का स्वरूप लक्षण। लॉक के समान जयन्तभट्ट भी यह मानते हैं कि बाह्य वस्तुओं के संपर्क में आने के बाद ही प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। जब तक आत्मा में ज्ञान न उत्पन्न हो, तब तक आत्मा जड़ द्रव्य के समान होता है।¹ न्याय दर्शन भी लॉक के समान आत्मा को एक अभौतिक द्रव्य मानता है। इस प्रकार लॉक और न्याय का आत्मा संबंधी सिद्धान्त कांट, हेगल, टी. एच. ग्रीन, सांख्य और अद्वैत वेदान्त के आत्मा संबंधी सिद्धान्त से भिन्न है। उल्लेखनीय है कि काण्ट और अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार आत्मा और चैतन्य में द्रव्य और गुण का सम्बंध नहीं है। वे आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानते हैं। यद्यपि लॉक आत्मा को देश-काल के अंतर्गत मानता है, तथापि वह उसके अभौतिक स्वरूप को स्वीकार करता है।

आत्मा को ज्ञान-शून्य द्रव्य मानकर लॉक बुद्धिवादी परंपरा को चुनौती देता है। वस्तुतः वह आत्मा के अस्तित्व के बारे में तो निश्चित है, किन्तु वह आत्मा के स्वरूप की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता है। अपने निबंध के चतुर्थ खण्ड में वह कहता है कि आत्मा क्या है? इसके बारे में किये जाने वाले संशय उसके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। यह किस प्रकार का अस्तित्व है? हमें इसके अज्ञान पर ही संतोष करना पड़ता है। लॉक के विपरीत डेकार्ट ने चिंतन को आत्मारूपी द्रव्य के एक अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु लॉक कहता है कि चिंतन या चेतना आत्मा का सारतत्त्व (Essence) नहीं है, बल्कि यह आत्मा का एक कार्य है। चिंतन करने के अतिरिक्त भी आत्मा की अनेक आकस्मिक क्रियाएं होती हैं। आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण यह है कि चिंतन करना, संशय करना, तर्क करना, डरना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका संबंध न तो शरीर से माना जा सकता है और न इन क्रियाओं को स्वयं अस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है। अतः ये समस्त कार्य किसी अन्य द्रव्य के हैं, जिसे 'आत्मा' कहा जाता है।

यद्यपि लॉक डेकार्ट के सूत्र 'मैं सोचता हूँ, इसलिए, मैं हूँ' का प्रयोग नहीं करता है, तथापि परोक्ष रूप से वह भी इस सूत्र को अपनाता है। वह कहता है कि बाह्य जगत् में शरीर द्रव्य की सत्ता

के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। यदि हमें अपने अंदर के किसी द्रव्य का अत्यंत निश्चित ज्ञान है जो देखत है, सुनता है अर्थात् प्रत्यक्ष करता है, तो वह द्रव्य आत्मा ही है। हमारे विचारों का स्रष्टा और समस्त गतियों का उत्पादक जड़तत्त्व नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि इन सबके मूल में एक आध्यात्मिक तत्त्व है। लॉक इस आध्यात्मिक तत्त्व को ही 'आत्मा' कहता है।

लॉक के द्वारा आत्म-ज्ञान का आधार अनुभव-सापेक्ष प्रातिभ ज्ञान को मानना दोषपूर्ण है। इससे आत्मा प्रातिभ ज्ञान का विषय हो जाता है। आत्मा स्वरूपतः ज्ञाता और विषयी है। अतः उसे विषय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। यद्यपि लॉक आत्मा को अभौतिक द्रव्य कहता है, तथापि चिंतनशून्य और चेतना से रहित आत्मा के मूल में इसकी जड़ता प्रच्छन्न है। यदि आत्मा एक ज्ञानशून्य द्रव्य है, अर्थात् अन्य वस्तुओं के समान आत्मा भी एक वस्तु है, तो आत्मा के द्वारा अन्य वस्तुओं का ज्ञान कैसे संभव होगा? डेकार्ट के समान लॉक का तात्त्विक सिद्धान्त मूलतः द्वैतवादी है। वह भौतिक और मानसिक इन दो द्रव्यों को स्वीकार करता है। प्लेटो से लेकर डेकार्ट और लॉक-पर्यन्त सभी द्वैतवादियों के लिए मानसिक और शारीरिक तत्त्वों के संबंध की समस्या एक चुनौती रही है। वस्तुतः लॉक आत्मा को ज्ञानस्वरूप न मानकर उसे एक विषय जगत् की वस्तु बना देता है जिसमें अनुभव के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा भी एक विषय है तो उस आत्मा का ज्ञान कैसे होगा? जिसमें अभी ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इससे स्पष्ट है कि वह आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप की तार्किक व्याख्या नहीं कर पाता है।

ईश्वर की अवधारणा

लॉक भौतिक जड़द्रव्य एवं अभौतिक आत्मा के साथ-साथ ईश्वर को एक सक्रिय आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु ईश्वर का ज्ञान साक्षात् रूप से नहीं हो सकता है। यह एक उपपत्तिमूलक (यौक्तिक) ज्ञान है। ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात नहीं होता है। इस संबंध में वह डेकार्ट के मत का निराकरण करता है। लॉक ईश्वर के पूर्णता विषयक जन्मजात प्रत्यय से उसकी सत्ता को नहीं सिद्ध करता है। उसके अनुसार वास्तविक सत्ता को काल्पनिक प्रत्यय के आधार पर नहीं सिद्ध किया जा सकता है। वास्तविक तत्त्व (ईश्वर) के अस्तित्व को अन्य वस्तुओं की वास्तविक सत्ता के आधार पर ही निगमित किया जा सकता है। मनुष्य यह जानता है कि उसकी सत्ता है क्योंकि आत्मज्ञान प्रातिभ होने के कारण स्पष्ट और निश्चित है। हम यह जानते हैं कि जगत् में स्थित वस्तुओं की उत्पत्ति शून्य (असत्) से नहीं हो सकती है।¹ अतः सत् वस्तुओं की उत्पत्ति किसी निष्क्रिय भौतिक द्रव्य से नहीं हो सकती है। समस्त सत् वस्तुओं का आधार एक सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर को होना चाहिए। विचार से रहित जड़तत्त्व विचारशील प्राणियों की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। लॉक के अनुसार ईश्वर ने विचारशील प्राणियों को उत्पन्न करने के साथ-साथ इस सुखद और सुन्दर विश्व की रचना भी किया है। ये सब ईश्वर की असीम बुद्धि, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और उसके दैवी स्वरूप को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। लॉक एक प्रकार से कारणमूलक तर्क अथवा सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करता है। वह कहता है "चूँकि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और एक सत् तत्त्व

1 लॉक असत् से सत् की उत्पत्ति को नहीं मानता है। यह मत ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने भी स्वीकार किया है — Ex Nihilo Nihil fit. यह सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के समान है — कथम् असत्ः सत् जायेत्।

है, तो इससे यह सिद्ध होता है कि अनादि काल से ही कोई सत् तत्त्व है क्योंकि जो अनादि काल से नहीं है, उसका आरंभ होगा और जिसका आरंभ होगा, उसकी उत्पत्ति किसी न किसी वस्तु से अवश्य हुई है।¹ लॉक के कहने का निहितार्थ यह है कि कारणात्मक श्रृंखला में अंतिम कारण ईश्वर ही हो सकता है। जिसकी भी सत्ता है, वह ईश्वर से संबंधित है।

अन्य दार्शनिकों के समान लॉक विश्व की व्यवस्था को प्रयोजन मूलक मानता है। विश्व की इस व्यवस्था के मूल में ईश्वर है। किन्तु डेकार्ट के समान लॉक के दर्शन में भी ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण ही कहा जा सकता है। वह भले ही ईश्वर को वस्तुओं एवं आत्माओं का स्रष्टा मानता है, किन्तु उसके दर्शन में ईश्वर, आत्माएँ और भूततत्त्व ये तीनों मौलिक द्रव्य के रूप में माने गए हैं। ईश्वर आत्माओं को विचारशील और भौतिक पदार्थों को गतिशील बनाता है। इससे स्पष्ट है कि वह इन उपादान कारण को मूलतत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। अतः ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण ही हो सकता है। इस दृष्टि से लॉक को निमित्तेश्वरवादी कहा जा सकता है। वस्तुतः उसकी ईश्वर संबंधी अवधारणा पर ईसाई धर्म और उसकी मान्यताओं का प्रभाव प्रतीत होता है। उसका ईश्वरवाद अनेक चमत्कारिक मान्यताओं और अंधविश्वासों का पिटारा बन गया। एक ओर वह द्रव्य को अज्ञेय कहता है तो दूसरी ओर ईश्वर के ज्ञान को निश्चायक मानता है। वह ईश्वर में आत्मचिंतन के आधार पर अभीष्ट समझे जाने वाले गुणों को अपरिमित (असीमित) रूप में निहित मानता है। इस प्रकार लॉक की ईश्वर संबंधी अवधारणा भी धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित हुई है। वह अनुभववाद के आधार पर ईसाई धर्म की तार्किक व्याख्या करने का असफल प्रयास करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लॉक द्रव्य के प्रत्यय को जन्मजात नहीं मानता है, किन्तु इसका ज्ञान संवेदन और स्वसंवेदन से भी नहीं हो सकता है। अतः यह एक अस्पष्ट, संदिग्ध और अनिश्चित प्रत्यय है। लॉक अस्तु की द्रव्य विषयक अवधारणा से प्रभावित है। वह द्रव्य की भौतिकशास्त्रीय व्याख्या नहीं करता है। वस्तुतः उसने द्रव्य के विषय में एक सामान्य बुद्धिपरक दृष्टिकोण (Common-sense point of view) अपनाया है। वह इसे गुणों के आश्रय के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु इसके यथार्थ स्वरूप को ठीक-ठीक रूप से जानने का दावा नहीं करता है। यद्यपि वह अज्ञेयवादी है, तथापि वह अन्य अज्ञेयवादियों के समान परम सत्ता (ultimate reality) के ज्ञान का निषेध नहीं करता है। यद्यपि उसकी दार्शनिक पद्धति गणित की अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानों के अधिक निकट है, तथापि वह अपने दार्शनिक चिंतन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त तार्किक निष्कर्ष का प्रतिपादन नहीं कर पाता है।

सामान्यों का स्वरूप

साधारण रूप से सामान्य का अर्थ किसी वर्ग की वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में पाये जाने वाले सर्वगत लक्षणों से है। जैसे — विभिन्न गायों में पाया जाने वाला सामान्य लक्षण गोत्व है। विभिन्न गायों के आकार, रंग, संरचना आदि अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु उन सब गायों में कुछ सर्वगत लक्षण होते हैं जिनके आधार पर 'गोत्व' सामान्य का प्रत्यय प्राप्त किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनेक विशिष्ट वस्तुओं के विशिष्ट गुणों का परित्याग करके उनकी सर्वगत विशेषताओं को ग्रहण कर लिया जाता है। इसी के आधार पर गाय का वर्ग-संप्रत्यय प्राप्त किया जाता है। लॉक के अनुसार

सामान्यों का अस्तित्व एक मानसिक संप्रत्यय के रूप में ही संभव है। इस दृष्टि से सामान्य एक मानसिक अवधारणा है। मानसिक अवधारणाएँ अमूर्त प्रत्यय हैं। लॉक इसे सामान्य प्रत्यय भी कहता है। व्यक्ति वाचक नामों के अतिरिक्त अन्य शब्द संप्रत्ययों के नाम हैं। हमारे मन में संप्रत्यय रहते हैं, न कि प्रतिमा (image)। लॉक के अनुसार प्रतिमा मानसिक नहीं होती है। इसके विपरीत सामान्य प्रत्यय मानसिक हैं। वे बौद्धिक अमूर्तीकरण से प्राप्त किए जाते हैं। लॉक सामान्य संप्रत्ययों को वर्ग-घोटक भी मानता है। वस्तुतः इस मत का आदि प्रवर्तक सुकरात को माना जा सकता है क्योंकि सुकरात ने ज्ञान को संप्रत्ययात्मक माना था। सुकरात के अनुसार संप्रत्ययों की रचना किसी वर्ग के सदस्यों में अन्तर्निहित सामान्य लक्षणों को ग्रहण करके और विशिष्टताओं का परित्याग करके की जाती है। इस दृष्टि से संप्रत्यय प्रतिमा से भिन्न होती है क्योंकि प्रतिमा का संबंध विशेष वस्तुओं से होता है। अरस्तू के अनुयायियों ने भी संप्रत्ययवाद (conceptualism) को अपनाया था। किन्तु उनका मत लॉक से भिन्न है। लॉक के अनुसार सामान्य एक जाति-तत्त्व है जो स्थिर और अपरिवर्तनशील है। इस विशेष अर्थ में सामान्य वस्तुनिष्ठ है, न कि काल्पनिक। किन्तु लॉक के सामान्य प्लेटो या अरस्तू के सामान्यों के सदृश यथार्थ नहीं है। वे मानसिक हैं जिन्हें अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त किया जाता है।

भारतीय दर्शन में जैनियों और अद्वैत-वेदान्तियों के अनुसार सामान्य विशेष का आंतरिक स्वरूप है, जिसका ज्ञान बुद्धि के द्वारा होता है। वे सामान्य को वस्तुसत् नहीं, बल्कि एक मानसिक संप्रत्यय मानते हैं। यद्यपि यह मत संप्रत्ययवाद के कुछ निकट प्रतीत होता है, तथापि यह लॉक की सामान्य विषयक अवधारणा से भिन्न है; क्योंकि लॉक के सामान्य प्रत्ययों की रचना विशेष प्रत्ययों की सर्वगत विशेषताओं के आधार पर की जाती है, विशेष व्यक्तियों या वस्तुओं के आधार पर नहीं।

लॉक के संप्रत्ययवाद के समक्ष भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। सामान्यों को मानसिक मानने के कारण कुछ आलोचक लॉक को नामवादी कहते हैं। उसके अनुसार सामान्यों की वस्तुजगत् में कोई सत्ता नहीं है। किन्तु यह मत भ्रामक है। लॉक स्वयं को नामवादी नहीं मानता है। लॉक ने नामवाद की आलोचना की है। सामान्य प्रत्यय और नाम में भेद है। सामान्य हमारे मन की स्वेच्छिक रचना नहीं है। विशेष प्रत्ययों की समानता के आधार पर ही सामान्य प्रत्ययों की रचना की जाती है। वस्तुतः लॉक सामान्यों को अर्थ (Meaning) के रूप में ग्रहण करता है। अतः इसे वर्ग संप्रत्यय अथवा जाति-तत्त्व भी कहा जा सकता है। यह जाति तत्त्व स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है। अतः लॉक को नामवादी नहीं कहा जा सकता है।

अमूर्त सामान्यों के द्वारा विशेष वस्तुओं में निहित सामान्य विशेषताओं की व्याख्या करने में कठिनाई होती है। दो वस्तुओं के कोई भी गुण हू-ब-हू एक कैसे हो सकते हैं? यदि दो या दो से अधिक वस्तुएँ दैशिकरूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं तो उनके गुण भी एक दूसरे से भिन्न होने चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि एक वस्तु के गुण को दूसरी वस्तु के गुण से भिन्न क्यों न माना जाए? यही बात संबंधों के विषय में भी लागू होती है। कुछ आलोचकों के अनुसार संबंध एवं गुण उत्तने ही विशिष्ट होते हैं, जितनी कि वे वस्तुएँ जिन्हें ये गुण विशेषित करते हैं। अतः इस मान्यता का आधार निर्वल हो जाता है कि सामान्यों की रचना किसी वर्ग की सर्वगत विशेषताओं के द्वारा की जाती है। यदि वस्तुओं और गुणों दोनों को सामान्य मान लिया जाय तो सामान्य किसे कहा जा सकता है? स्पष्ट है कि यह आलोचना सिद्ध करती है कि सामान्य केवल नाम हैं। वस्तुतः यह कुछ पूर्व मान्यताओं और

पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं। कुछ समकालीन दार्शनिकों ने सामान्यों की समस्या का समाधान करने के लिए सादृश्यतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। लॉक की सामान्य विषयक अवधारणा को 'संप्रत्ययवाद' के नाम से जाना जाता है।

लॉक के दर्शन का मूल्यांकन

लॉक की ज्ञानमीमांसा में तार्किक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को इस प्रकार मिला दिया गया है कि उसके दर्शन में स्पष्टता और सुसंगति का अभाव उत्पन्न हो गया। उसने ज्ञान की उत्पत्ति का एक विवरण प्रस्तुत किया है, जिसमें इस बात पर बल दिया गया कि ज्ञान प्राप्ति के अवसर पर आत्मा या मन में क्या घटित होता है? वह ज्ञान की व्याख्या मनोवैज्ञानिक (मानसिक) क्रियाओं के आधार पर करता है। इन मानसिक क्रियाओं को निर्धारित करने के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया गया है। अतः लॉक को मनोवैज्ञानिक अनुभववादी कहा जाता है। उसके अनुसार ज्ञान के स्वरूप, वैधता और सीमाओं का निर्धारण मुख्य रूप से ज्ञान की उत्पत्ति के सम्यक् विश्लेषण के द्वारा ही किया जा सकता है। वस्तुतः उसने ज्ञान की वैधता की अपेक्षा ज्ञान के उद्भव पर अधिक बल दिया। संवेदनों और स्वसंवेदनों को ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानना लॉक के अनुभववाद की प्राथमिक भूल है। संवेदनाएँ (अनुभव) केवल ज्ञान का उपादान हो सकती हैं, किन्तु इन्द्रियानुभव के द्वारा ज्ञान को व्यवस्थित, नियमित और प्रामाणिक नहीं बनाया जा सकता है। लॉक का दोष यह है कि उसने ज्ञान की सार्वभौमिकता और अनिवार्यता को बौद्धिक आकारों के आधार पर निगमित करने का प्रयास नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप अनुभववाद दिशाहीन हो गया। उल्लेखनीय है कि लॉक सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान को संभव मानते हुए भी उसे प्रागनुभविक नहीं कहता है। किन्तु अनुभव के आधार पर ज्ञान के सार्वभौम और अनिवार्य नियमों को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

लॉक की भूल यह है कि वह ज्ञान या चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण नहीं मानता। आत्मा में ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान (चेतना) आत्मा का आकस्मिक लक्षण है। जगत् में स्थित आत्मा की व्याख्या एक ज्ञान-रहित द्रव्य के रूप में करना उसे विषय के स्तर पर लाने का प्रयास है। वस्तुतः आत्मा समस्त ज्ञान और प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की तार्किक प्रागपेक्षा है। अतः आत्मा को विषय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। पुनश्च, लॉक की यह मान्यता कि आत्मा निष्क्रिय है, आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से सामंजस्य नहीं रखता है। आधुनिक-मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन (Mind) और बाह्य पर्यावरण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा सक्रिय है। वस्तुतः सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने के लिए आत्मा को निष्क्रिय मानना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंभव है। यदि आत्मा ज्ञान से रहित एक द्रव्य है तो इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान एक नया आरंभ है। इन्द्रियानुभव के द्वारा आत्मा को न पकड़ पाना ह्यूम के लिए स्वाभाविक है। रसल के अनुसार यदि लॉक की ज्ञानमीमांसा को ही दार्शनिक चिंतन का आधार मान लिया जाय तो ह्यूम का संशयवाद तर्कतः स्वाभाविक हो जाता है।

लॉक के अनुसार आत्मा का साक्षात् संबंध न तो जड़ तत्त्व से है और न उसके मूलगुणों से। उसका साक्षात् संबंध केवल प्रत्ययों से है। प्रश्न उठता है कि यदि द्रव्य और गुण दोनों को न जाना जाय तो द्रव्य और गुण के बीच में भेद का ज्ञान कैसे हो सकता है? इसका तार्किक दृष्टि से कोई संतोषजनक उत्तर लॉक ने नहीं दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मानव-ज्ञान केवल प्रत्ययों

तक ही सीमित है तो हमें प्रत्ययों का ज्ञान नहीं हो सकता है। एक ओर तो लॉक कहता है कि भौतिक द्रव्य अज्ञेय है; किन्तु दूसरी ओर वह ईश्वर नामक आध्यात्मिक द्रव्य के यौक्तिक ज्ञान का दावा भी करता है। इससे स्पष्ट है कि उसकी ज्ञानमीमांसा से उसके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा तर्कतः सिद्ध नहीं होती है। लॉक ने ईश्वर, आत्मा और जड़ द्रव्य की सत्ता को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है जो उसकी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अनुकूल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने ज्ञानमीमांसा का प्रतिपादन अन्य लोगों के लिए किया है क्योंकि वह स्वयं इसके तार्किक निष्कर्ष का पालन नहीं कर पाता है।

लॉक ने सत्यता की कसौटी के रूप में संवाद सिद्धान्त को अपनाया है। यदि हमारे पास प्रत्यक्षों और प्रत्ययों के अतिरिक्त बाह्य जगत् को जानने का कोई अन्य साधन न हो तो यह नहीं कहा जा सकता है कि हमारे प्रत्यय किस वस्तु के अनुरूप (प्रतिनिधि) हैं? इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्ययों और वस्तुओं की पारस्परिक सहमति को जानने के लिए प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन को अपनाना चाहिए। इसके आधार पर ही प्रत्यय और वस्तु के बीच में संबंध स्थापित किया जा सकता है। किन्तु आनुभविक प्रत्ययों से स्वतंत्र रूप में बाह्य जगत् को जानने के लिए किसी अन्य साधन का आश्रय लेने पर प्रतिनिधित्ववाद का परित्याग करना पड़ेगा।

लॉक के द्वारा मूलगुणों एवं उपगुणों में किया गया भेद भी दोषपूर्ण है। मुख्य विसंगति यह है कि मूल गुणों से स्वतंत्र रूप में उपगुणों और उपगुणों से स्वतंत्र रूप में कहीं भी मूलगुणों को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इस संदर्भ में बर्कले ने लॉक की कटु आलोचना की है। जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। संक्षेप में, विसंगति का मुख्य कारण यह है कि लॉक ने उपगुणों के प्रत्ययों के अनुरूप किसी बाह्यवस्तु को स्वीकार नहीं किया है। लॉक की आलोचना करते हुए ए० एन० हाइटडेड ने यह व्यंग्य किया कि “गुलाब के सौन्दर्य के लिए, मोर की मधुर वाणी के लिए, बुलबुल के सुमधुर स्वर (संगीत) के लिए, कवियों को स्वयं अपने को धन्यवाद देना चाहिए, प्रकृति को नहीं।” कहने का निहितार्थ यह है कि लॉक के द्वारा उपगुणों को आत्मनिष्ठ मानना अनुभव एवं सामान्य बुद्धि के सर्वथा विरुद्ध है। इसी प्रकार लॉक के द्वारा मूलगुणों को असंवेद्य और वस्तुनिष्ठ एवं उपगुणों को संवेद्य एवं आत्मनिष्ठ कहना भी एकांगी है। इस संदर्भ में जॉन हास्पर्स का यह मत उल्लेखनीय है — संवेद्य विस्तार और संवेद्य रंग एक कोटि के हैं। इसके विपरीत भौतिक विस्तार और भौतिक रंग ये दोनों समान कोटि के हैं। लॉक की भूल यह है कि उसने विस्तार (मूलगुण) को असंवेद्य मान लिया और रंग (उपगुण) को अभौतिक एवं आत्मनिष्ठ मान लिया। मूलगुण का संवेद्य रूप उसके असंवेद्य रूप से भिन्न होता है। इसी प्रकार उपगुण (रंग) का संवेद्य रूप उसके असंवेद्य (भौतिक) रूप से भिन्न होता है।¹

लॉक के द्वारा की गई द्रव्य के स्वरूप की व्याख्या भी अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। यदि द्रव्य अज्ञात है तो उसे अनुभव से परे होना चाहिए, किन्तु यदि द्रव्य अनुभव से परे है तो एक अनुभववादी दार्शनिक इसे कैसे प्रमाणित कर सकता है? यदि द्रव्य अज्ञेय है तो हम न तो भौतिक द्रव्य और न अभौतिक द्रव्य को जान सकते हैं। लॉक का द्रव्य वैशेषिकों के द्रव्य के समान गुणों का आश्रय है, किन्तु द्रव्य का प्रत्यय न तो जन्मजात है और न ही संवेद्य है। अतः यह एक अस्पष्ट, संदिग्ध, दुर्बोध और अनिश्चित कल्पना मात्र है। इसके स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। उसके दर्शन की ये विसंगतियाँ अनुभववाद को संशयवाद की ओर ले जाती हैं।

किन्तु लॉक स्वयं संशयवादी नहीं है। वह दैवी प्रकाशना में दृढ़ आस्था रखता है। लॉक के अनुसार दैवी-प्रकाशना का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त विवेक-बुद्धि (Reason) है।

इन विसंगतियों के होते हुए भी लॉक का ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में इतना अधिक प्रभाव है कि उसके बाद सम्पूर्ण आंग्ल-दर्शन की धारा ही अनुभववादी हो गयी। बुद्धिवादी होते हुए भी काण्ट ने ज्ञान की संरचना में अनुभव के महत्त्व को स्वीकार किया। यदि लॉक को आधुनिक युग में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का जनक कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उसने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुभववादी मान्यताओं का विश्लेषण किया। उसकी अभिरुचि विशेष विषयों के विश्लेषण में जतनी अधिक न थी, जितनी कि विशिष्ट विषयों के विश्लेषण में थी। अपने विश्लेषण का प्रारंभ एक विशिष्ट ज्ञाता से करना मनोविज्ञान की एक प्रमुख विशेषता है। लॉक का दर्शन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। मनोविज्ञान में इसे मनोविज्ञान का आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण (Subjective stand point of psychology) कहा जाता है। इस दृष्टि से लॉक को आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता कहा जा सकता है। यद्यपि लॉक से पूर्व अरस्तू, बेकन और हॉब्स भी अनुभववादी थे, तथापि इन दार्शनिकों में से किसी ने भी ज्ञान की उत्पत्ति का लॉक जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। लॉक के समय से अनुभववाद आंग्ल-दर्शन (English-Philosophy) की एक प्रमुख विशेषता के रूप में स्थापित हुआ। आगे चलकर समकालीन दर्शन में ए० जे० एयर और अन्य तार्किक अनुभववादियों (भाववादियों) ने संशोधित और परिमार्जित रूप में अनुभववादी मान्यताओं के आधार पर ही अपने तार्किक अनुभव को स्थापित किया। तार्किक भाववादियों ने परंपरागत अनुभववाद की आलोचना की क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित है। किन्तु तार्किक भाववादियों ने भी लॉक के द्वारा स्थापित अनुभववाद के दार्शनिक ऋण को स्वीकार किया। इस प्रकार लॉक ने पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन को एक नयी दिशा दी। उसके अनुभववाद से प्रभावित होकर हा बर्कले और ह्यूम का दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ। वस्तुतः लॉक का महत्वपूर्ण योगदान पाश्चात्य विचारधारा को एक नयी दिशा देने और दार्शनिकों को एक नूतन दृष्टि से दार्शनिक चिंतन करने के लिए प्रेरित करने में है, भले ही उसके चिंतन की विसंगतियों के परिणामस्वरूप संदेहवाद का जन्म हुआ।

(ब) जार्ज बर्कले (George Berkeley : 1685-1763)

धर्मपरायण एवं मृदुभाषी जार्ज बर्कले का जन्म आयरलैंड में 12 मार्च, 1685 ई० में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने ट्रिनिटी कालेज में तर्कशास्त्र, गणित, दर्शन और लैटिन भाषा का अध्ययन किया। सर्वप्रथम वे डबलिन कालेज में अध्यापक हुए। उन्होंने पादरी के रूप में धर्म का प्रचार करते हुए रोहड द्वीप में ईसाई मिशन की स्थापना किया। क्लोपन में उसे विशप के पद पर नियुक्त किया गया। 1724 ई० में डीन बनने पर बर्कले ने अध्यापन कार्य छोड़ दिया। वे अपना संपूर्ण समय पादरी के कार्य में व्यतीत करने लगे। उनका जीवन साधारण और उनके विचार अत्यंत उदात्त थे। बर्कले का अधिकांश समय धार्मिक प्रचार और रोगियों की सेवा में व्यतीत होता था। सन् 1753 ई० में बर्कले ऑक्सफोर्ड गये, जहाँ चाय पीते हुए एक दिन उनका आकस्मिक रूप से देहान्त हो गया।

25 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने कुछ रचनाओं का प्रकाशन आरंभ कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि वे असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में से 'ए ट्रीटाइज कन्सर्निंग दि प्रिन्सिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' (A Treatise concerning the principles of human

knowledge, 1710) अर्थात् मानव ज्ञान के सिद्धान्तों से संबंधित एक निबंध महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'थ्री डायलॉग्स बिटवीन हाइलस एण्ड फिलोनाउस' (Three dialogues between Hylas and Philonous, 1713) अर्थात् 'हाइलस और फिलोनाउस के तीन संवाद'; 'अल्सिफ्रोन' अथवा सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक (Alciphron or the minute Philosopher) एवं 'सिरिस' (Siris) महत्त्वपूर्ण हैं। बर्कले की प्रसिद्ध रचना 'मानव-ज्ञान' का मुख्य लक्ष्य अनीश्वरवाद एवं संशयवाद के मूल में निहित भ्रान्तियों का निराकरण करना है। दार्शनिक दृष्टि से बर्कले डेकार्ट, लॉक, हॉब्स एवं न्यूटन के ग्रन्थों से प्रभावित थे। बर्कले के द्वारा प्रतिपादित दर्शन और दार्शनिक समस्याओं का विवेचन लॉक एवं ह्यूम के दार्शनिक चिंतन से भिन्न है। उनका मुख्य लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि ईश्वर, आत्मा और प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सत् नहीं है। वे डेकार्ट की संदेह-पद्धति और ह्यूम के संशयवाद का परित्याग करके आस्तिकता, अभीतिकता तथा अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु ईश्वरवादी, अभीतिकवादी और प्रत्ययवादी होते हुए भी बर्कले तर्क तथा अनुभव को अपने दर्शन में सम्यक् महत्त्व देते हैं। उन्होंने लॉक की ज्ञानमीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार किया, किन्तु लॉक की ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा में जो अंतर्विरोध थे, बर्कले ने उन्हें दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने लॉक के जड़वाद (Materialism), प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद (Representative theory of Ideas), मूलगुण और उपगुण के भेद एवं अमूर्त प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन करके प्रत्ययवाद, पुरोधानवाद एवं नामवाद का प्रतिपादन किया। यद्यपि बर्कले ने लॉक की अनुभवमूलक पद्धति को स्वीकार किया, तथापि वह ज्ञानमीमांसा की अपेक्षा तत्त्वमीमांसीय समस्याओं में अधिक रुचि रखता था। उसकी अभिरुचि ज्ञान की उत्पत्ति और विकास के विवेचन में न थी। वस्तुतः वह मूल रूप से तत्त्वदार्शनिक है।

अमूर्त प्रत्ययों का निराकरण

बर्कले के अनुसार भौतिक अथवा जड़द्रव्य के अस्तित्व में विश्वास का प्रमुख आधार अमूर्त प्रत्ययों का सिद्धान्त है। बर्कले अमूर्त प्रत्ययों के सिद्धान्त का खण्डन करता है। बर्कले के अनुसार हमारा मन अमूर्त प्रत्ययों की रचना नहीं कर सकता है। मन के द्वारा केवल उन्हीं विशिष्ट वस्तुओं के प्रत्ययों की रचना की जा सकती है जो अनुभव के विषय हैं। हम किसी सामान्य सत् की कल्पना नहीं कर सकते हैं। यहाँ सामान्य सत् से उसका तात्पर्य समस्त गुणों से रहित तत्त्व से है। ऐसा सामान्य सत् जो गुणों से रहित हो, शून्य (असत्) होगा। अतः ऐसा सामान्यसत् (द्रव्य) भ्रान्त, निरर्थक अचिन्त्य और असत् होगा। वस्तुतः उसका मन (आत्मा) से कोई संबंध नहीं हो सकता है। बर्कले के अनुसार गतिशील पिण्ड (Body) के अतिरिक्त गति के सामान्य प्रत्यय की कल्पना करना असंभव है। इसी प्रकार सभी सार्वभौम सत्तों की सिद्धि किसी न किसी विशेष प्रत्यय के आधार पर ही हो सकती है। उनकी सिद्धि में भले ही किसी विशेष प्रत्यय की विशेषता का उपयोग न होता हो, तथापि प्रत्येक प्रकार की तर्कयुक्त विशेष प्रत्यय से विशेष प्रत्यय की ओर ही अग्रसर होती है। उसमें अमूर्त प्रत्ययों का कोई योगदान (उपयोग) नहीं होता है। ज्यामिति का यह प्रमेय कि, 'त्रिभुज के तीनों अन्तःकोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है, एक सार्वभौम सिद्धान्त है। किन्तु इसकी सिद्धि किसी न किसी विशेष त्रिभुज (जैसे — समबाहु, समद्विबाहु या विषमबाहु इत्यादि) के सापेक्ष रूप में ही हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि अमूर्त प्रत्यय काल्पनिक हैं। वास्तविक सत् केवल मूर्त प्रत्यय ही हो सकते हैं। इस प्रकार अमूर्त प्रत्यय नाम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सामान्यों

का अस्तित्व न तो प्रकृति में है और न मन में है। इसका अस्तित्व केवल नाम के रूप में है। यह मत बौद्धों के 'अपोहवाद' से तुलनीय है। बौद्धों के अनुसार केवल स्वलक्षणों (विशेषों) की ही सत्ता है। सामान्य लक्षण असत् एवं काल्पनिक हैं। सामान्यों की सत्ता शाब्दिक है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक भी पाश्चात्य नामवादियों के समान सामान्यों को वस्तुसत् नहीं मानते हैं।¹

यह मत लॉक के संप्रत्ययवाद से भिन्न है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी सामान्य सत् का संकेत करता है। लॉक के अनुसार हमारी वैचारिक शृंखला में सामान्य प्रत्ययों का विशेष महत्त्व है। उनके बिना हम चिन्तन नहीं कर सकते हैं। सामान्य प्रत्यय अमूर्तीकरण से प्राप्त होते हैं। लॉक के अनुसार अमूर्तीकरण और नामकरण की शक्ति के कारण ही मनुष्य पशुओं से भिन्न है। किन्तु इसके विपरीत बर्कले का दावा है कि अमूर्तीकरण की शक्ति पशुओं में नहीं होती है। यदि हम मनुष्य के विषय में विचार करते हैं तो हमारे सामने किसी विशेष मनुष्य की प्रतिमा (image) आ जाती है। मनुष्य की कोई भी प्रतिमा या प्रत्यय ऐसा नहीं हो सकता है जो काले, गोरे, लम्बे, छोटे, स्वस्थ, दुर्बल आदि गुणों से युक्त न हो। इसी प्रकार गति और विस्तार के प्रत्यय बिना गतिशील पिण्ड अथवा विस्तृत वस्तु के संभव नहीं है। उनके किसी सामान्य अमूर्त प्रत्यय की रचना करने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। बर्कले के अनुसार मैं दो सिरों वाले मनुष्य अथवा उसके अग्रभाग का संयोजन घोड़े के शरीर से करने की कल्पना कर सकता हूँ। किन्तु मैं जो भी कल्पना करता हूँ, उसकी एक विशेष आकृति और आकार अवश्य होना चाहिए इत्यादि।²

बर्कले के अनुसार भाषा से भी अमूर्त प्रत्ययों की भांति उत्पन्न होती है। यदि भाषा के शब्द सामान्य संकेत न होते, तो अमूर्त प्रत्ययों का विचार न पैदा होता। प्रायः यह समझा जाता है कि शब्दों का एक स्थिर और निश्चित अर्थ होता है। इसी से इस धारणा को बल मिलता है कि शब्दों के वास्तविक अर्थ अमूर्त प्रत्यय हैं। अमूर्त प्रत्ययों के माध्यम से ही कोई सामान्य शब्द विशेष वस्तुओं का संकेत करते हैं। इसके फलस्वरूप हम वस्तुओं से भिन्न अमूर्त प्रत्ययों की सत्ता को मान लेते हैं जो वस्तुओं से भिन्न होते हैं। उल्लेखनीय है कि बर्कले सामान्य प्रत्ययों को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करता है। उसका दावा केवल इतना है कि किसी शब्द का कोई नपा-तुला निश्चित और स्थिर अर्थ नहीं होता है। उसके कहने का निहितार्थ यह है कि शब्दों से निर्दिष्ट प्रत्यय एक ओर तो विशेष होते हैं, दूसरी ओर उनके द्वारा परस्पर समानता रखने वाले अनेक विषयों का ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से

1 पाश्चात्य नामवाद अरस्तू के दर्शन की इस मान्यता से विकसित हुआ कि 'सामान्यों' का प्रयोग किसी निर्णय में विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता है। सामान्य अनेक वस्तुओं को सामूहिक रूप से अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त एक नाम या शब्द है। बौद्धों के अनुसार भी सामान्य एक नाम है जो स्वरूपतः निषेधात्मक होता है। किसी पशु (जैसे गाय) को नाम के द्वारा अभिहित करना उसके किसी सर्वगत सारतत्त्व को सूचित नहीं करता है जो सभी गायों में अन्तर्व्याप्त है। इसका अर्थ केवल यह है कि यह अन्य पशुओं से भिन्न है, अर्थात् गाय वह है जो अ-गाय न हो। इस संदर्भ में रत्नकीर्ति का दावा है कि अपोह न केवल विध्यात्मक है और न केवल निषेधात्मक है, बल्कि यह अन्यापोहविशिष्ट विधि है। 'नास्माभिरपोहशब्देन विधेरेव केवलोऽभिप्रेतः नाप्यन्यव्यावृत्ति मात्रं, किन्तु अन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दनामर्थः।'।

अपोहसिद्धिः, पृ० 3, रत्नकीर्ति निबन्धावली, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना, 1957 में उद्धृत।

2 I can imagine a man with two heads or the upper parts of a man joint to the body of a horse, but whatever I imagine must have a particular shape and colour etc. Quoted in — 'A Critical Survey of Western Philosophy; S.S. Barlinghe. pp. 151-152..

प्रत्ययों को सामान्य कहा जा सकता है। आगे चलकर समकालीन दर्शन में परवर्ती विद्गेन्स्टाइन ने भाषिक प्रयोगों पर विशेष बल दिया। उसके अनुसार भिन्न-भिन्न संदर्भों में शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। शब्दों का कोई अपरिवर्तनशील और निश्चित अर्थ नहीं होता है। वर्कले के अनुसार भी अमूर्त प्रत्ययों की भ्रांति का कारण भाषा है।

उल्लेखनीय है कि वर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करता है, किन्तु वह सामान्यों का खण्डन नहीं करता है। इस संदर्भ में वर्कले ने प्रत्यय (Idea) और 'अन्तर्बोध' (Notion) में स्पष्ट अन्तर किया है। वर्कले के प्रत्यय आनुभविक हैं। इसके विपरीत अन्तर्बोध आनुभविक नहीं है। अन्तर्बोध के द्वारा आत्मा एवं सामान्यों का बोध होता है। वास्तव में वर्कले समस्त ज्ञान को प्रत्ययात्मक नहीं मानता है। संवेग-प्रत्ययों के विपरीत, अन्तर्बोध बौद्धिक है। प्रत्ययों का सम्बन्ध विशेषों के ज्ञान से है, किन्तु अन्तर्बोध का सम्बन्ध सामान्यों के ज्ञान, प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं आत्म-ज्ञान से है। अन्तर्बोध से प्राप्त ज्ञान प्रत्ययों से प्राप्त ज्ञान से परे और उच्चस्तरीय होता है। किन्तु वर्कले का 'अन्तर्बोध' न तो विशेष प्रत्यय है और न तो अमूर्त प्रत्यय है। यह सामान्य और विशेष दोनों से सम्बन्धित हो सकता है। वर्कले के प्रत्यय प्लेटो के प्रत्ययों से भी भिन्न हैं। प्लेटो के प्रत्यय सामान्य और बौद्धिक हैं। इसके विपरीत वर्कले के प्रत्यय विशेष और अनुभव-सापेक्ष हैं। इसी प्रकार वर्कले का 'अन्तर्बोध' लॉक के स्वसंवेदन से भी भिन्न है। जहाँ लॉक का स्वसंवेदन अनुभवजन्य प्रत्यय है, वहीं वर्कले का 'अन्तर्बोध' अनुभव-निरपेक्ष है। यद्यपि वर्कले का अन्तर्बोध बौद्धिक है, तथापि यह काण्ट के बुद्धि-विकल्पों से भिन्न है। काण्ट के बुद्धि-विकल्प अनुभवों के अभाव में रिक्त हैं। बुद्धि के विमर्शात्मक होने के कारण काण्ट बुद्धि-विकल्पों को परोक्ष मानता है क्योंकि बुद्धि किसी वस्तु को साक्षात् रूप से जानने का साधन नहीं है। इसके विपरीत वर्कले का अन्तर्बोध अनुभव-निरपेक्ष होने के साथ-साथ अपरोक्ष ज्ञान का आधार है। इस सिद्धांत के आधार पर वर्कले के कुछ आलोचकों ने उसे (वर्कले) अपूर्ण काण्ट कहा है।¹

यह सिद्धांत वर्कले को अनुभववादी विचारधारा से विचलित कर देता है। संभवतः इसीलिए प्रो० ए० सी० मुर्कजी कहते हैं कि वर्कले का दर्शन लॉक और ह्यूम की अनुभववादी परम्परा के बीच में फिट नहीं बैठता है, अर्थात् यह अनुभववादी मान्यताओं से पूर्णतया सामन्जस्यपूर्ण नहीं है।² वस्तुतः प्रत्ययों का सिद्धांत अनुभववादी मान्यताओं पर आधारित है। इसके विपरीत वर्कले के द्वारा प्रतिपादित 'अन्तर्बोध का सिद्धांत' ईश्वरवाद एवं अध्यात्मवाद के अनुकूल है। इसी के आधार पर वह सामान्यों के ज्ञान का भी दावा करता है।

वर्कले के दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह विचारणीय है कि वर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करते हुए भी 'सामान्यों को किस आधार पर स्वीकार करता है?' वर्कले का विशेषवाद और संवेदनावाद अमूर्त प्रत्ययों के निषेध का प्रमुख आधार है। इस दृष्टि से जगत् में केवल विशेषों की ही सत्ता है। अतः अमूर्त प्रत्यय जो सामान्य संप्रत्ययों का संकेत करते हैं, स्वीकार्य नहीं हो सकते हैं। वर्कले के अनुसार सभी प्रत्यय विशेष होते हैं। जो विशेष है वह मूर्त (Concrete) होगा। अतः किसी प्रत्यय को अमूर्त कहना आलम्बाघाती है। किन्तु वर्कले के द्वारा अमूर्त प्रत्ययों का निषेध एक दूषित मनोविज्ञान पर आधारित है। वस्तुतः 'सामान्य प्रत्ययों' को अमूर्त प्रत्ययों से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः अमूर्त प्रत्ययों के खण्डन के साथ ही सामान्यों का भी खण्डन हो जाता है।

¹ Berkley, A.C. Frazer, p. 128..

² Self, Thought and Reality, p. 283.

यद्यपि बर्कले के द्वारा अमूर्त प्रत्ययों का निराकरण उसकी प्रारंभिक रचनाओं में पाया जाता है, तथापि वह अपनी परवर्ती रचना 'सिरिस' (Siris) में प्लेटो के इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि 'ज्ञान अनिवार्यतः सामान्यपरक होता है।' यह सामान्य से विशेष की ओर सामान्यों के माध्यम से ही अग्रसर होता है, अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया सामान्यों के माध्यम से ही विशेषों की ओर अग्रसर होती है। उसने सामान्य प्रत्ययों को प्रतिमा (Image) और अर्थ (Meaning) के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु इसे स्वीकार कर लेने पर भी बर्कले सामान्यों की समस्या का समुचित समाधान नहीं कर पाता है। यदि यह मान लिया जाय कि हमारे मन में विशेषों की एक प्रतिमा होगी तो प्रश्न उठता है कि कोई प्रतिमा अमूर्त कैसे हो सकती है? यदि सामान्यों को मानसिक प्रतिमा मान भी लिया जाय, तो सामान्य विशेष में परिणत हो जायेगा। जिसे हम सामान्य कहते हैं वह सार्वभौमिक होता है, न कि विशेष। यदि सामान्य प्रत्ययों को विशेष प्रत्ययों का अर्थ मान लिया जाये तो अर्थ-सिद्धांत (Theory of meaning) के बारे में भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रश्न उठता है कि विशेष प्रत्ययों का अर्थ सामान्य क्यों होता है? इस प्रकार सामान्यों को विशेषों का अर्थ मान लेने पर हम मूल समस्या से ही विचलित हो जाते हैं। केवल विशिष्ट संवेदनों के आधार पर किसी ज्ञान की संरचना नहीं की जा सकती है। वस्तुतः बर्कले के इस सिद्धांत की विसंगति का कारण लॉक के द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद है। अस्त-व्यस्त एवं परमाणविक संवेदनार्थ स्वतः एकता के सूत्र में बँधकर ज्ञान का स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकती हैं। यही कारण है कि एल्सिफ्रोन (Alciphron) और सिरिस (Siris) में बर्कले को बाध्य होकर कलाओं और विज्ञानों के क्षेत्र में सामान्य नियमों (सामान्यों) के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ा।¹

इन सामान्य नियमों को प्राप्त करने के साधन के रूप में बर्कले कुछ चिन्हों (Signs) और प्रतीकों (Symbols) को स्वीकार करता है। वस्तुतः वह 'सिरिस' (Siris) में ज्ञान प्राप्त की प्रक्रिया में उपयोगी सार्वभौमिक नियमों के महत्त्व को स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि किसी चीज को स्वीकार करना केवल प्रत्यक्ष अनुभव तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उसकी निर्णायक व्याख्या करना भी आवश्यक होता है। इसके लिए बुद्धि ही सर्वोत्तम निर्णायक हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि बर्कले किसी न किसी रूप में सामान्य नियमों (सामान्यों) को स्वीकार करता है। किन्तु ये सामान्य प्रत्यय आनुभविक नहीं, बल्कि अन्तर्बोध के विषय हैं। वस्तुतः सामान्यों को अमूर्त प्रत्ययों से पृथक् नहीं कहा जा सकता है। बर्कले के अनुसार सामान्य वे हैं, जो बहुत से विशेष प्रत्ययों का संकेत करते हैं। सामान्यों का ज्ञान न तो अनुभव से हो सकता है और न ही अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से हो सकता है। बर्कले-भले ही सामान्यों को अन्तर्बोध का विषय मानता है, तथापि उसका यह मत तर्कसंगत नहीं है। प्रश्न उठता है कि इन्द्रियानुभव के साथ अन्तर्बोध का मेल कैसे हो सकता है? यदि समस्त ज्ञान का स्रोत अनुभव है, तो सामान्यों के ज्ञान का आधार अन्तर्बोध को मान करके बर्कले अपने मूल सिद्धांत (अनुभववाद) का परित्याग कर देता है। वस्तुतः अमूर्तीकरण की प्रक्रिया के बिना सामान्य प्रत्ययों को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में अमूर्त प्रत्यय सामान्य प्रत्यय हैं। अतः अनुभव के द्वारा किसी सामान्य प्रत्यय को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अमूर्त प्रत्ययों के खंडन के साथ ही सामान्य प्रत्ययों का भी निराकरण हो जाता है। इस आधार पर बर्कले के सिद्धांत को भी

1 To trace things from their original, it seems that the human mind, naturally furnished with the ideas of things particular and concrete, stands in need of certain general rules or the theorems to direct her operations in this pursuit, the supplying which is the true, original, reasonable end of studying the arts and sciences." Berkley, Alciphron, seventh dialogue, Sec. II..

‘नामवाद’ के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वस्तुतः बर्कले सम्प्रत्ययवादी लॉक एवं यथार्थवादी प्लेटो के सामान्य विषयक सिद्धांतों के विपरीत सामान्यों के नामवादी सिद्धांतों के अधिक निकट हैं। वास्तव में वह विशेषवादी है।

इससे स्पष्ट है कि बर्कले के द्वारा संप्रत्ययवाद, अर्थात् अमूर्त प्रत्ययों का निराकरण उसे व्यक्तिवाद, विशेषवाद एवं संवेदवाद की ओर ले जाता है। यदि विश्व विशेष इकाइयों (विशिष्ट प्रत्ययों) का पुञ्ज है तो अमूर्त प्रत्ययों को न स्वीकार करना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। इस मान्यता से सिद्ध होता है कि बर्कले के अनुसार ज्ञान का सम्बन्ध विशेषों से ही हो सकता है क्योंकि यह एक सार्वभौम मान्यता है कि वास्तविक सत्ता विशेषों की ही हो सकती है।¹ इस प्रकार बर्कले का सम्पूर्ण दर्शन विशेषवाद से अन्तर्व्याप्त हो जाता है। किन्तु बर्कले के दर्शन की यह मान्यता कि ज्ञान एवं विचार सदैव विशेषोन्मुख होता है, मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से समर्थन करने योग्य नहीं है। वास्तव में, बर्कले की प्रारम्भिक रचनाओं में विशेषवाद, व्यक्तिवाद, संवेदवाद एवं परमाणुवाद पर विशेष बल दिया गया है। किन्तु वह अपने दार्शनिक चिन्तन की परवर्ती अवस्था में सामान्य नियमों के महत्त्व को स्वीकार करता है। वह एल्सिफ्रोन एवं सिरिस में ज्ञान और सत्ता, अर्थात् ज्ञानमीमांसीय और तात्त्विक दोनों दृष्टियों से सामान्य नियमों के मूल्य (महत्त्व) का अनुभव करता है। यद्यपि मानव-मन स्वभावतः विशेष और मूर्त प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करता है एवं उनसे युक्त होता है, तथापि उन्हें व्यवस्थित एवं संगठित करने के लिए कतिपय सामान्य नियमों की आवश्यकता होती है।² ऐसा प्रतीत होता है कि बर्कले अपनी परवर्ती रचनाओं में सामान्य तत्त्वों के महत्त्व को समझने लगता है। किन्तु ए.ए. ल्यूस के अनुसार ऐसा निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं है।³ वस्तुतः वह अपनी परवर्ती रचनाओं में किसी विषय के ज्ञान का निरूपण उसके कारणों की समझ (बोध) के रूप में करता है। उसने अपने दार्शनिक चिन्तन के प्रारम्भ में ज्ञान को बुद्धि का कार्य माना था। वह सामान्य नियमों, प्रतीकों, चिन्हों के महत्त्व को भले ही अपने परवर्ती रचनाओं में महत्त्व देता है, तथापि वह विशेषवाद का परित्याग नहीं करता है।

जड़वाद का खण्डन

बर्कले के दर्शन का लक्ष्य सृष्टि की यांत्रिकतावादी, भौतिकवादी और वस्तुवादी व्याख्या का खंडन करना है। वह जगत् की प्रयोजनवादी, आध्यात्मवादी और प्रत्ययवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस क्रम में वह सबसे पहले जड़ द्रव्य (Matter) का निराकरण करता है। लॉक के दर्शन में जड़ तत्त्व के अस्तित्व में विश्वास का प्रमुख आधार जड़ द्रव्य के अमूर्त प्रत्यय की अवधारणा है। इसके लिये बर्कले ने सर्वप्रथम अमूर्त प्रत्ययों के सिद्धांत का खण्डन किया। इसका उल्लेख किया जा चुका है। चूँकि जड़तत्त्व का आधार अमूर्त प्रत्ययों का सिद्धांत है, इसलिए बर्कले के द्वारा अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करने के साथ-साथ जड़ तत्त्व का भी निराकरण हो जाता है। बर्कले के अनुसार प्रत्येक सत्ता विशेष है। यद्यपि लॉक ने भी अनुभव के आधार पर केवल विशेषों के ज्ञान को संभव माना है, तथापि उसने विशेषों के आधार पर ही सामान्य सत् का प्रतिपादन किया। जैसे— अनेक विशेष गायों को देख करके, उनके सर्वगत लक्षणों को ग्रहण करके और विशिष्ट लक्षणों का परिहार करके गोत्व सामान्य की कल्पना कर ली जाती है। इसी प्रकार लॉक ने विभिन्न गुणों के आश्रय के रूप में

1 Three Dialogues between Hylas and Philonous, dialouge No. I.
2 Alciphron Seventh dialogue, Section. 2.
3 The works of George Berkley, (Ed). A.A. luce, Vol V, P. 15.

द्रव्य सामान्य की अवधारणा का प्रतिपादन किया। बर्कले के अनुसार, इन्द्रियानुभव के द्वारा केवल विशेष वस्तुओं, प्रत्ययों आदि की कल्पना की जा सकती है। सामान्य की कल्पना करते ही हमारे मन में किसी न किसी विशेष गाय, विशेष मनुष्य त्रिभुज इत्यादि की प्रतिमा अंकित हो जाती है। अतः समस्त प्रत्यय विशेष और मूर्त (वास्तविक) होते हैं। किसी प्रत्यय को अमूर्त कहना आलस्याघाती है। इस प्रकार बर्कले अमूर्त प्रत्ययों की मान्यता के आधार पर लॉक के द्वारा प्रतिपादित बाह्य जड़ द्रव्य के अस्तित्व का निराकरण करता है। अतः उसके अनुसार सृष्टि की यांत्रिकतावादी व्याख्या असंगत है।

इससे स्पष्ट है कि अनुभवगम्य वस्तुओं के आधार पर अनुभव से परे किसी अदृश्य जड़ तत्त्व का अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं है। यदि कोई वस्तु अनुभव का विषय है, तो या तो वह प्रत्यय है अथवा प्रत्ययों का संघात है। यदि लॉक का जड़ तत्त्व अदृश्य (अनुभव से परे) है तो वह असत् होगा। यदि तथाकथित जड़ वस्तुओं का विश्लेषण किया जाये तो वे किसी न किसी रूप में स्पर्श, गंध, स्वाद, ध्वनि, रंग इत्यादि के पुंज (संघात) मात्र है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु (जैसे — मेज) विभिन्न प्रत्ययों का एक संघात है। इसे 'वस्तु-प्रत्यय' कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि बर्कले के अनुसार स्वाद, गंध, ध्वनि, रंग आदि के प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई जड़ तत्त्व ज्ञात नहीं हो सकता है। अतः अनुभवों से परे अदृश्य जड़ तत्त्व कुछ नहीं है।

उल्लेखनीय है कि लॉक ने जड़तत्त्व की परिकल्पना हमारे संवेदनों के स्रोत के रूप में की थी। उसके अनुसार जड़ पदार्थ ही हमारे संवेदनों के कारण हैं। यद्यपि हम जड़तत्त्व का साक्षात् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं, तथापि संवेदनों के कारण के रूप में जड़तत्त्व का अनुमान किया जा सकता है। बर्कले ने लॉक के इस सिद्धांत को चुनौती दी। बर्कले के अनुसार, चूँकि लॉक का जड़ तत्त्व निष्क्रिय है, इसलिए निष्क्रिय जड़तत्त्व हमारे संवेदनों का कारण नहीं हो सकता है। अतः जड़ तत्त्व की अवधारणा अनौचित्यपूर्ण है। इसके अतिरिक्त बर्कले के अनुसार हमारी संवेदनाएँ चेतन हैं। प्रश्न उठता है कि इन चेतन संवेदनाओं का कारण अचेतन जड़ तत्त्व कैसे हो सकता है। वस्तुतः कार्य के गुणों के आधार पर ही कारण के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। चूँकि हमारे संवेदन और स्वसंवेदन कार्य हैं, इसलिए उनका आधार (स्रोत या कारण) भी कोई चेतन तत्त्व ही हो सकता है। अतः लॉक का अचेतन तत्त्व चेतन प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकता है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि बर्कले ने 'प्रत्यय' पद का प्रयोग लॉक के द्वारा प्रयुक्त प्रत्यय से भिन्न अर्थ में किया है। बर्कले के अनुसार प्रत्यय किसी भौतिक वस्तु का प्रतिविम्ब (प्रतिनिधि) नहीं हो सकता है। उसके अनुसार, जो अनुभव का विषय है वह प्रत्यय है। हम केवल विशेषों का ही अनुभव कर सकते हैं। अतः सभी प्रत्यय विशेष हैं। जो प्रत्यय विशेष हैं, वे मूर्त (Concrete) होंगे। इससे सिद्ध होता है कि अमूर्त प्रत्ययों के आधार पर जड़द्रव्य की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है।

लॉक ने गुणों के अधिष्ठान के रूप में बाह्य जड़तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किया था, किन्तु द्रव्य गुणों का कैसा अधिष्ठान है? इसे नहीं जाना जा सकता है। लॉक उसे अज्ञेय मानता है। बर्कले के अनुसार संवेद्य गुणों का अधिष्ठान असंवेद्य जड़तत्त्व को कैसे माना जा सकता है? जो असंवेद्य है वह असत् है, इसलिए असंवेद्य जड़ तत्त्व असत् है। द्रव्य गुणों का अधिष्ठान इस दृष्टि से नहीं है, जिस प्रकार मकान का आधार उसकी नींव होती है। वस्तुतः लॉक के द्वारा मान्य अधिष्ठान की अवधारणा ही भ्रामक है। निष्क्रिय, अदृश्य अथवा असंवेद्य जड़तत्त्व असत् से अधिक कुछ नहीं हो सकता है। ऐसा जड़तत्त्व हमारी आत्मा में किसी प्रकार का प्रत्यय या संवेदन नहीं उत्पन्न कर सकता है। वस्तुतः ईश्वर ही हमारी आत्मा में प्रत्ययों को उत्पन्न कर सकता है। बर्कले लॉक के अज्ञेय एवं अदृश्य जड़द्रव्य

को एक मूर्खतापूर्ण अवधारणा कहता है। लॉक की भूल यह है कि एक ओर तो वह जड़ द्रव्य को आत्मा से स्वतन्त्र मानता है, किन्तु दूसरी ओर वह कहता है कि हम प्रत्ययों एवं उनके सम्मिश्रण तथा प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। लॉक की ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी हैं। यदि हम प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व को नहीं जान सकते हैं तो ऐसे अज्ञेय जड़द्रव्य की बात करना ही निरर्थक है।

जड़द्रव्य का खंडन करने के साथ-साथ बर्कले मूल गुणों और उपगुणों के भेद का निराकरण करता है। वस्तुतः मूलगुणों और उपगुणों के बीच में भेद करने का प्रमुख कारण अमूर्तीकरण की भ्रामक प्रवृत्ति है। वस्तुओं के सर्वगत लक्षणों के आधार पर कुछ गुणों को अन्य गुणों से पृथक् रूप में सोचा जा सकता है। उसे मान लेने पर मूलगुण एवं उपगुण में भेद करना सरल हो जाता है। बर्कले के अनुसार मूलगुणों के आश्रय के रूप में जड़द्रव्य की सत्ता को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। सभी गुण संवेद्य हैं। जो संवेद्य है, वह प्रत्यय है। अतः किसी भी गुण को आत्मा से स्वतन्त्र रूप से नहीं जाना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि लॉक ने मूलगुणों को वास्तविक माना है। विस्तार, गति, संख्या, ठोसपन, आकार आदि मूलगुणों का अधिष्ठान जड़द्रव्य है। इसके विपरीत रंग, स्वाद, गंध, ध्वनि, शीतलता, उष्णता आदि उपगुण द्रव्य में नहीं हैं। वे आत्मनिष्ठ हैं।

बर्कले ने मूलगुण और उपगुण के इस भेद को अतार्किक एवं भ्रामक मान्यताओं पर आधारित माना है। बर्कले के अनुसार मूलगुण और उपगुण दोनों आत्मनिष्ठ हैं। चूँकि ये दोनों गुण (मूलगुण एवं उपगुण) समान रूप से अनुभव के विषय हैं, इसलिए ये दोनों गुण प्रत्ययात्मक हैं। वास्तव में मूलगुणों से स्वतन्त्र और पृथक् रूप में कहीं भी उपगुणों का अनुभव नहीं होता है। रंग, ध्वनि, उष्णता, शीतलता, सुगंध आदि उपगुण संवेद्य एवं आत्मनिष्ठ हैं। किन्तु ये उपगुण मूलगुणों (जैसे — विस्तार, संख्या, गति आदि) से पृथक् रूप में कहीं भी अनुभूत नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में, मूलगुण और उपगुण परस्पर अवियोज्य हैं। जैसे — ऐसे रंग का अनुभव नहीं हो सकता है जो विस्तार-हीन, आकार-हीन, गतिहीन आदि हो। इसी प्रकार ऐसे विस्तार का अनुभव नहीं हो सकता है, जो रंगहीन, गंधहीन एवं स्वादहीन हो। इससे स्पष्ट है कि मूलगुण और उपगुण दोनों समान रूप से संवेद्य हैं। जो संवेद्य हैं, अर्थात् जो अनुभव के विषय हैं, वे प्रत्यय हैं। इस प्रकार मूलगुण और उपगुण संवेद्य होने के कारण समान रूप से हमारी आत्मा के प्रत्यय हैं। अतः दोनों समान रूप से आत्मनिष्ठ अथवा मानसिक हैं। इस युक्ति के आधार पर बर्कले ने मूलगुण और उपगुण दोनों के पारस्परिक भेद का खण्डन करते हुये उन्हें एक दूसरे से अवियोज्य माना है। इस प्रकार उसके अनुसार इन दोनों गुणों का अधिष्ठान एक ही तत्त्व होना चाहिए। यह अधिष्ठान कोई जड़ द्रव्य नहीं, बल्कि चेतन तत्त्व ही हो सकता है।

लॉक ने उपगुणों को मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों के आधार पर आत्मनिष्ठ माना था। उसके अनुसार वस्तुओं के अपरिवर्तित रहने पर भी उनका स्वाद, रंग आदि बदलता रहता है। जैसे — बुखार के रोगी को मीठी और स्वादिष्ट वस्तुयें कड़ई और खराब स्वाद वाली प्रतीत होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वाद एवं अन्य संवेद्य उपगुण आत्मनिष्ठ होते हैं। बर्कले के अनुसार लॉक का यह मनोवैज्ञानिक तर्क उपगुणों के साथ-साथ मूलगुणों पर भी लागू हो सकता है। किसी वस्तु के विस्तार और आकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर पृथक्-पृथक् रूपों में दिखायी पड़ते हैं। कोई वस्तु जैसे (भेज) सामने से देखने पर आयताकार, बगल से देखने पर अण्डाकार, निकट से देखने पर बड़ी और दूर से देखने पर छोटी प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि विस्तार, आकार, गति, संख्या आदि गुण भौतिक वस्तुओं में नहीं होते हैं। उनकी आकृतियाँ एवं स्वरूप व्यक्ति (द्रष्टा) की दृष्टि के

सापेक्ष रूप में परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की दृष्टि के परिवर्तन के साथ-साथ वस्तुओं के तथाकथित मूलगुण और उपगुण समान रूप से परिवर्तित होते हुए प्रतीत होते हैं। अतः मूलगुण और उपगुण दोनों आत्मनिष्ठ प्रत्यय हैं। बर्कले के अनुसार मूलगुण और उपगुण के बीच में कोई मौलिक अंतर नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार मूलगुण और उपगुण का अन्तर समाप्त हो जाने पर उनके आधार पर बाह्य जड़ तत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास स्वतः असफल हो जाता है।

प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद का निराकरण

लॉक के प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद के अनुसार ज्ञान के तीन प्रमुख कारक हैं —

(1) मन में स्थित प्रत्यय (2) बाह्य वस्तुएँ, जो प्रत्ययों के मूलरूप या विम्ब हैं।

(3) मानसिक प्रत्ययों और विम्बों (बाह्य वस्तुओं) के बीच में संवादिता या सहमति का होना। उल्लेखनीय है कि आधुनिक विज्ञान के प्रभाव के कारण विश्व की व्याख्या एक मशीन (यंत्र) के रूप में की गयी है। जगत् का ज्ञान तभी हो सकता है जब ज्ञाता के मन में इसका किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व हो।¹ लॉक का यह सिद्धान्त बर्कले के लिये कटु आलोचना का विषय रहा है। यदि लॉक के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय, तो हमें इसकी सत्यता का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि हमारा ज्ञान केवल प्रत्ययों तक सीमित है। अतः हमें प्रत्ययों और बाह्य वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान नहीं सकता है। बर्कले के अनुसार इस विसंगति का प्रमुख कारण लॉक के द्वारा एक अदृश्य जड़ जगत् में विश्वास करना है। हमारे लिये वास्तविक जगत् वह है जो अनुभवगम्य है। अनुभव के विषय एकमात्र प्रत्यय हैं। अतः ज्ञाता आत्मा और उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु सत् नहीं हो सकती है। बर्कले के अनुसार, ज्ञाता को ज्ञेय (विषय) का ज्ञान साक्षात् रूप से होता है।

लॉक के प्रतिनिधित्ववाद का दोष यह है कि वह प्रत्ययों को वस्तुओं के अनुरूप मान लेता है। किन्तु प्रत्यय चेतन या मानसिक हैं। इसके विपरीत वस्तुएँ अचेतन या अमानसिक हैं। अतः प्रत्यय वस्तुओं के अनुरूप नहीं हो सकते हैं। बर्कले का दावा है कि जो मानसिक है वह अमानसिक के समान नहीं हो सकता है। किन्तु यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लिया जाए कि मानसिक (चेतन) प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के अनुरूप होते हैं तो दोनों के बीच में समरूपता (संवादिता) का ज्ञान कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देना प्रत्यय प्रतिनिधित्ववादी लॉक के लिये असंभव है।

प्रत्ययों एवं उनके मूल विम्बों (वस्तुओं) के बीच समरूपता का ज्ञान तभी संभव है जब किसी न किसी रूप में प्रत्ययों और वस्तुओं का अलग-अलग ज्ञान हो सके, ताकि उन दोनों की एक-दूसरे से तुलना की जा सके। दूसरे शब्दों में, जब तक प्रत्यय और वस्तु का अलग-अलग ज्ञान न हो तब तक हम यह नहीं कह सकते हैं कि अमुक प्रत्यय और अमुक वस्तु में समरूपता है अथवा नहीं। प्रत्ययों को वस्तुओं का चित्र (Picture) या उनकी प्रतिलिपि (Copy) भी कहते हैं। किन्तु यदि प्रत्ययों को वस्तुओं की प्रतिलिपि मान लिया जाय तो भी लॉक के प्रतिनिधित्ववाद की समस्या पूर्ववत् बनी रहती है। हम प्रत्ययों को वस्तुओं की प्रतिलिपि (Copy) तभी कह सकते हैं जब प्रत्ययों से स्वतन्त्र रूप में उनके अनुरूप वस्तुओं को भी जाना जा सके। किन्तु लॉक प्रत्ययों से स्वतन्त्र रूप में बाह्य वस्तुओं को जानने के लिये किसी अन्य साधन का सहारा नहीं ले सकता है। बर्कले के अनुसार प्रत्ययों से स्वतन्त्र

रूप में बाह्य जगत् को जानने के लिये किसी अन्य वस्तु का सहारा लेने पर प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद युक्तिसंगत तरीके से ज्ञाता और ज्ञेय के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर पाता है।

फाल्कैन वर्ग के अनुसार बर्कले का लॉक से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध है जो स्पिनोजा का डेकार्ट की दार्शनिक मान्यताओं से है। इसका निहितार्थ यह है कि प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद की विसंगतियों का उद्घाटन बर्कले के पुरोधानवाद (Presentationism) में होता है। बर्कले का दर्शन लॉक के अनुभववाद की विसंगतियों से ही विकसित होता है।¹

बर्कले चेतन मानसिक प्रत्ययों के कारण के रूप में अचेतन और निष्क्रिय जड़ पदार्थों को मानने के विरुद्ध हैं। हम देख चुके हैं कि बर्कले मूलगुण और उपगुण के भेद का निराकरण कर देता है। दोनों ज्ञाता (द्रष्टा) के अनुभव पर आश्रित हैं। उनको एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः सभी गुण आत्मनिष्ठ और प्रत्ययात्मक हैं। ज्ञाता और ज्ञान के विषय प्रत्ययों के अतिरिक्त उनके बीच में अन्य कोई मध्यवर्ती अवस्था नहीं हो सकती है। इस प्रकार बर्कले लॉक के 'ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद' (Epistemological Dualism) का खण्डन करके ज्ञानमीमांसीय एक तत्त्ववाद (Epistemological Monism) की स्थापना करता है। बर्कले ने लॉक की ज्ञानमीमांसा में निहित वस्तु और इन्द्रिय-प्रदत्त अथवा मूलविषय और प्रत्यय के द्वैत का निराकरण किया है। वह (बर्कले) ज्ञान के विषय के रूप में केवल प्रत्ययों (इन्द्रिय-प्रदत्तों) को ही मान लेता है। आगे चलकर संवृत्तिवादियों ने बर्कले से प्रभावित होकर वस्तु को इन्द्रिय-प्रदत्तों की तार्किक संरचना मान लिया। उल्लेखनीय है कि बर्कले ने भी वस्तु को प्रत्ययों का संघात कहा है। किन्तु बर्कले के विपरीत, समकालिक संवृत्तिवादी प्रदत्तों के स्रोत के रूप में किसी दैवी या आध्यात्मिक सत्ता का सहारा नहीं लेते हैं।

बर्कले का पुरोधानवाद बौद्धों के वैभाषिक सम्प्रदाय के ज्ञान सिद्धान्त से तुलनीय है। वैभाषिकों के अनुसार बाह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से बिना किसी माध्यम (मानसिक आकार) के होता है। यदि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष या साक्षात् रूप से न हो सके तो बाह्य वस्तुओं का ज्ञान असंभव हो जायेगा। अनुमान से किसी वस्तु का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसका कभी न कभी प्रत्यक्ष हुआ हो। इस प्रकार वैभाषिक मत में बर्कले के ही समान 'बाह्यानुमेयवाद' (सौत्रान्तिक मत) एवं प्रतिनिधित्ववाद (लॉक) का निराकरण किया गया है। किन्तु बर्कले और वैभाषिकों में मौलिक अंतर है। बर्कले मन और प्रत्ययों की सत्ता को ही मानता है। इसके विपरीत वैभाषिक सर्वास्तिवादी हैं। वे मन के साथ-साथ बाह्य जगत् को भी सत्य (यथार्थ) मानते हैं। वैभाषिक वस्तुवादी हैं क्योंकि वे बाह्य जगत् को मन से स्वतन्त्र मानते हैं। यह अवश्य है कि वैभाषिक भी बर्कले के समान ज्ञानमीमांसीय एकतत्त्ववाद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'ज्ञात वस्तु' और 'यथार्थ वस्तु' अभिन्न हैं। वास्तव में वैभाषिकों का मत नव्य वस्तुवादियों के अधिक निकट प्रतीत होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि बर्कले ने लॉक की परोक्ष ज्ञानमीमांसा के स्थान पर अपरोक्ष ज्ञानमीमांसा का समर्थन किया। वह ज्ञाता और ज्ञेय के बीच किसी प्रकार की मध्यवर्ती अवस्था (जैसे, प्रत्यय या प्रतिबिम्ब) को स्वीकार नहीं करता है। किन्तु प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद के विरोधी बर्कले का मत भी निर्दोष नहीं है। यदि हमारे ज्ञान के विषयों (प्रत्ययों) के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सत् नहीं है तो ईश्वर एवं आत्मा की सत्ता का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। किन्तु बर्कले ईश्वर एवं अन्य आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये बेचैन प्रतीत होते हैं। वे ईश्वर एवं

आत्मा की सिद्धि के लिये अनुभववाद को तिलांजलि देकर अन्तर्बोध का सहारा लेते हैं। इसके अतिरिक्त परोक्ष ज्ञान को स्वीकार न करने के कारण वे भ्रम की सम्यक् व्याख्या भी नहीं कर पाते हैं। यदि ज्ञान अपरोक्ष रूप से ज्ञाता को प्राप्त होता है, तो समस्त ज्ञान को वैध होना चाहिए। भ्रम एवं अवैध ज्ञान की कोई संभावना नहीं हो सकती है। परन्तु हम दैनिक जीवन में भ्रम एवं अवैध ज्ञान को घटित होते हुये देखते हैं। इससे स्पष्ट है कि बर्कले का पुरोधानवाद अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की विसंगतियों का कोई संतोषप्रद समाधान नहीं कर पाता है। विपरीततः यह लॉक के अनुभववाद की विसंगतियों को उद्घाटित कर देता है। इसके फलस्वरूप ह्यूम के संशयवाद का मार्ग प्रशस्त (स्पष्ट) हो जाता है।

बर्कले का प्रत्ययवाद

जड़वाद का खण्डन करने के बाद बर्कले अपने प्रत्ययवाद की स्थापना करता है। उसके अनुसार ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (प्रत्यय) के अतिरिक्त कोई जड़वस्तु सत् नहीं है क्योंकि जो अनुभव का विषय है, केवल वह ही सत् हो सकता है। अनुभव के विषय प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों का अनुभव करने वाला आत्मा है। इस प्रकार आत्मा और ज्ञान के विषय प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सत् नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वर भी एक परमात्मा या अनन्त मन (Infinite Mind) है। प्रत्यय स्वरूपतः अमौलिक (Immaterial) हैं। लॉक के प्रत्यय तो बाह्य वस्तुओं के मूल गुणों के प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि थे। किन्तु बर्कले के प्रत्यय आत्मनिष्ठ (Subjective) हैं। वे (प्रत्यय) न तो बाह्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब हैं और न वस्तुनिष्ठ हैं क्योंकि तथाकथित जड़ वस्तुओं की कोई सत्ता नहीं है। इस सिद्धान्त की पुष्टि बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' (Esse est percipi) अथवा सत्ता अनुभव मूलक है, सिद्धान्त से होती है। बर्कले के अनुसार किसी वस्तु के अस्तित्वयुक्त होने का अर्थ उसका अनुभव का विषय, अर्थात् दृश्य होना है।

आत्मा के बिना वस्तुओं की सत्ता नहीं हो सकती है। जब तक वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव न हो, तब तक उनकी सत्ता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। बाह्य वस्तुएँ (जैसे — मेज कुर्सी, घट, सेव आदि) हमारे मन के आन्तरिक प्रत्यय हैं। बर्कले कहता है — "कोई चीज सुगंधित है, का अर्थ है कि वह सूँधी गयी। वहाँ एक ध्वनि है, का अर्थ है कि वह सुनी गयी, वहाँ एक रूप या रंग है का अर्थ यह है कि वह स्पर्श या चाक्षुष संवेदन का विषय है।¹ बर्कले के कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के सत् होने का अर्थ उनका दृश्य (अनुभव का विषय) होना है। इस प्रकार कोई भी वस्तु या गुण बिना अनुभव का विषय हुए सत् नहीं हो सकता है। बर्कले की इस मान्यता को सूत्र रूप में 'सत्ता दृश्यता है' कहा जाता है, अर्थात् वस्तुओं की सत्ता उनकी दृश्यता पर निर्भर है। इस दृष्टि से तथाकथित बाह्य वस्तुएँ अनेक संवेद्य प्रत्ययों के संघात हैं। भौतिक वस्तुएँ रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि गुणों के समूह हैं। ये समस्त गुण अनुभवकर्ता आत्मा के अनुभव पर आश्रित हैं। जो संवेद्य है वह प्रत्यय है। अतः बाह्य वस्तुएँ आत्मा के प्रत्यय हैं।

बर्कले 'सत्ता दृश्यता है', इस सूत्र के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि वस्तुएँ स्वरूपतः भौतिक या जड़ नहीं हैं, बल्कि प्रत्ययों के परिवार (Family of ideas) हैं। चूँकि तथाकथित बाह्य वस्तुएँ (प्रत्ययों के संघात) ज्ञाता (आत्मा) के मन के प्रत्यय हैं, इसलिए बर्कले को आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी (Subjective Idealist) कहा जाता है। आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के अनुसार

1 "There was an odour, that is, it was smelled; there was a sound, that is to say, it was heard, a colour or figure, and it was perceived by sight or touch. Their esse est percipi." Principles of Human Knowledge, Sect. 3.

आत्मा और उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व वस्तु की सत्ता नहीं है। अतः बर्कले को अहंमान्यवादी (Solipsist) कहा जाता है। बर्कले का यह सिद्धांत दर्शन जगत् में कटु आलोचना का विषय रहा है। प्रश्न उठता है कि क्या बाह्य जगत् ज्ञाता आत्मा के मन की कल्पना है? यदि किसी वस्तु की सत्ता उसकी दृश्यता (अनुभव का विषय) पर निर्भर है तो क्या जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, तो उसकी सत्ता नहीं होती है? बर्कले के अनुसार किसी वस्तु की सत्ता और उसकी दृश्यता में अभेद-सम्बन्ध है। यह असंभव है कि किसी वस्तु की सत्ता हो और हम उसका अनुभव न करते हों। हाँ, यह अवश्य है कि जब वस्तु का प्रत्यक्ष मुझे नहीं होता है तो अन्य लोगों (आत्माओं) को उसका प्रत्यक्ष होता रहता है। यदि अन्य लोगों (Others minds) को भी वस्तु (जैसे कमरे रखी हुई मेज) का अनुभव नहीं हो रहा है, तो उसका अनुभव स्वयं ईश्वर (God) को सदैव होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि वस्तु की सत्ता है तो किसी न किसी रूप में उसका अनुभव हो रहा है। वास्तव में, बर्कले ज्ञाता आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने के साथ-साथ ईश्वर और अन्य आत्माओं के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है।

वास्तव में, बर्कले ने 'सत्ता दृश्यता है,' का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में किया है। दृश्यता अथवा अनुभव केवल वर्तमान कालिक संवेदनों तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रयोग वर्तमान के साथ-साथ भूत काल और भविष्य काल सम्बन्धी अनुभूतियों पर भी किया जा सकता है। यदि कोई कहता है कि अनुक मेज कल कमरे में थी, तो इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति (ज्ञाता) कमरे में गया होता तो वह वहाँ मेज का अनुभव कर सकता था। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि कल कमरे में मेज होगी तो इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति कल कमरे में जाता है तो वह मेज का प्रत्यक्ष कर सकेगा। इससे स्पष्ट है कि 'सत्ता दृश्यता है' का प्रयोग वर्तमान कालिक अनुभूतियों के साथ-साथ 'अनुभव का विषय होने की संभावना' (Esse est percipi posse) पर भी लागू होता है। बर्कले के इस सिद्धान्त का प्रभाव समकालिक पाश्चात्य दर्शन में संवृत्तिवाद (Phenomenalism) पर भी पड़ा है। संवृत्तिवादी अनुभवों से स्वतन्त्र और पृथक् रूप में भौतिक जगत् की सत्ता को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार चेतना का विषय वास्तविक और संभावित अनुभवों का संघात है। किन्तु संवृत्तिवादी बर्कले के ईश्वर का परित्याग कर देते हैं।¹ बर्कले के अनुसार प्रत्ययों के लिये बाह्य वस्तुओं का होना आवश्यक नहीं है। कुछ प्रत्ययों की रचना हमारा मन स्वयं कर लेता है। जैसे — स्वप्न के प्रत्यय, भ्रम एवं विभ्रम के प्रत्यय इत्यादि। हम स्वप्न में जिन वस्तुओं को बहुत दूरी पर स्थित देखते हैं, उनका अस्तित्व मन के बाहर नहीं होता है। वास्तव में वे मन में ही स्थित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिये बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती है।² इसी प्रकार बौद्ध विज्ञानवादियों ने भी स्वप्नों पर आधारित तर्क दिया है। वे एकमात्र विज्ञानों की सत्ता को स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार हमारे आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं।³ बौद्ध विज्ञानवादी स्वप्न और जाग्रत अवस्था के विषयों में कोई नैतिक भेद नहीं मानते हैं। उल्लेखनीय है कि बौद्ध विज्ञानवादी अनादि वासना के कारण विज्ञानों की विविधता को

1 ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न पृ० 119-127.

2 श्रीगणेशाचार्य ने भी स्वप्न और जागरण की अवस्थाओं में भेद का निराकरण किया है — स्वप्नजागरण स्थाने होकमाहुमनीषिणः। भेदानां समत्वेन प्रतिष्ठनैव हेतुना।

3 यदन्तर्ज्ञेयत्वं तद्विद्वद्भवमासते, शंकराचार्य द्वारा दिग्नाग की आत्मन्य परीक्षा से शारीरिक भाष्य में उद्धृत।

स्वीकार करते हैं¹, किन्तु बर्कले के अनुसार आत्मा केवल स्वप्न, कल्पना, भ्रम आदि के प्रत्ययों को ही उत्पन्न कर सकता है।

इन प्रत्ययों के अतिरिक्त आत्मा के लिये कुछ प्रत्यय केवल प्रदत्त होते हैं, अर्थात् कुछ प्रत्यय आत्मा के अनुभव के विषय हैं। उल्लेखनीय है कि बर्कले बौद्ध विज्ञानवादियों के विपरीत बाह्य वस्तुओं, जैसे — नदी, पर्वत, एवं अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्ययों का जनक (स्रष्टा) ईश्वर को मानता है। इन वस्तुओं के प्रत्यय जीवात्माओं (Finite minds) के लिये अनुभव के विषय तो हैं, किन्तु वे जीवात्माओं के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। उनका रचयिता परमात्मा या ईश्वर है। इससे स्पष्ट है कि बर्कले जगत् की वस्तुओं को सीमित मानव के मन की कल्पना नहीं कहता है। वह बाह्य वस्तुओं के स्वरूप का एक अभीतिकवादी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसकी पुष्टि बर्कले के इस कथन से भी होती है — 'मैं वस्तुओं को प्रत्यय नहीं बना रहा हूँ, बल्कि प्रत्ययों को वस्तु बना रहा हूँ'। बर्कले के कहने का निहितार्थ यह है कि प्रत्यय ही वास्तविक विषय हैं।

प्लेटो के समान बर्कले भी प्रत्ययों को ज्ञान का वास्तविक विषय मानता है, किन्तु प्रत्ययों के स्वरूप को लेकर प्लेटो और बर्कले के मतों में कुछ मौलिक अन्तर है। प्लेटो के प्रत्यय बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के विषय हैं। जहाँ प्लेटो के प्रत्यय इस जगत् से परे एक भिन्न जगत् (प्रत्यय-जगत्) में रहते हैं, वहाँ बर्कले के प्रत्यय लौकिक जगत् की सत्ता हैं। ये प्रत्यय वस्तु सत् हैं। अतः बर्कले के प्रत्ययों को 'वस्तु-प्रत्यय' भी कहा जा सकता है। प्लेटो के अतीन्द्रिय प्रत्ययों के विपरीत बर्कले के प्रत्यय आनुभविक हैं। किन्तु बर्कले के अनुसार ज्ञान आनुभविक प्रत्ययों तक ही सीमित नहीं है। वह अनुभव के साथ-साथ बुद्धि को भी ज्ञान का स्रोत मानता है। इस संदर्भ में बर्कले अन्तर्बोध को आत्मज्ञान और सामान्यों के ज्ञान का मूल स्रोत मानता है। इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि बर्कले 'दृश्यता' पद का प्रयोग शाब्दिक और संकुचित अर्थ में नहीं करता है। वह कभी-कभी इसके अन्तर्गत 'जो चिन्तन का विषय है' उसे भी सम्मिलित कर लेता है। दूसरे शब्दों में जो चिन्तन का विषय है वह भी सत् के अन्तर्गत सम्मिलित हो जाता है।² बर्कले के अनुसार 'सत्ता चिन्त्य है', इस सूत्र का निहितार्थ यह है कि 'सत्ता वह है जो दृश्य होने के साथ-साथ चिन्तन का भी विषय हो सके।' इस प्रकार 'सत्ता अनुभवमूलक है', के अन्तर्गत 'साक्षात् अनुभव' के साथ-साथ 'अनुभव का विषय होने की संभावना' एवं 'जो चिन्तन का विषय है' उसे भी सम्मिलित किया जा सकता है।

बर्कले का प्रत्ययवाद अपने प्रारम्भकाल से ही विवादास्पद रहा है। अनेक आलोचकों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। कहा जाता है कि बर्कले के इस सिद्धान्त से असन्तुष्ट होकर हैमिल्टन जॉनसन ने जमीन पर पैर पटक कर यह बताना चाहा कि यदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं है, तो जमीन पर पैर पटकने से आवाज क्यों आयी? जॉनसन ने जमीन से उत्पन्न ध्वनि के आधार पर जड़तत्त्व की सत्ता को सिद्ध करना चाहा। यदि जड़तत्त्व न होता, तो बर्कले को उसका खंडन करने की आवश्यकता क्यों होती। जी० जे० बार्नाक जैसे आलोचकों ने जॉनसन की आलोचना का समर्थन किया है। किन्तु बर्कले के दर्शन की यह आलोचना सारगर्भित नहीं है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि बर्कले ने 'प्रत्यय' पद का प्रयोग 'अनुभव के विषय' के रूप में किया है। जमीन पर पैर पटकना एक प्रकार का स्पर्श-संवेदन और उसके फलस्वरूप उत्पन्न ध्वनि श्रवण-संवेदन के अंतर्गत आते हैं। बर्कले ने इसी अर्थ में 'प्रत्यय' पद का प्रयोग किया है। वस्तुतः वह बाह्य जगत् की वस्तुओं को सीमित आत्मा के

1 वासना वैधियात्, अर्थात् विषयों की अनेकता का कारण अनादि अविद्या से उत्पन्न वासना एवं संस्कार हैं।

2 Esse est concipi.

मन की कल्पना नहीं मानता है। अतः जॉनसन और वार्नाक के द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ बर्कले की प्रत्ययवादी मान्यताओं का खंडन नहीं कर पाती हैं। प्रत्ययवाद के विरुद्ध एक दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि यदि सभी बाह्य वस्तुएँ प्रत्यय या प्रत्ययों के संघात हैं तो क्या हम प्रत्ययों को ही खाते हैं, प्रत्ययों को ही पीते हैं, प्रत्ययों को ही पहनते हैं, प्रत्ययों में ही रहते हैं (क्या रोटी, कपड़ा और मकान आदि प्रत्ययात्मक हैं) इत्यादि? बर्कले के अनुसार रोटी, कपड़ा और मकान आदि सीमित जीवात्मा के मन की काल्पनिक सृष्टि नहीं हैं। उनके प्रत्यय हमारी आत्मा में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। वस्तुओं को प्रत्यय कहने का अर्थ यह नहीं है कि वे सीमित मन की कल्पना हैं। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि बर्कले वस्तुओं को मानसिक प्रत्यय नहीं कहता है, बल्कि प्रत्ययों को ही वस्तु बनाता है। वास्तव में वह वस्तुओं के केवल जड़स्वरूप का निराकरण करता है। वस्तुएँ स्वरूपतः आध्यात्मिक हैं। उनका आधार कोई जड़-तत्त्व नहीं है।

सत्ता को अनुभवमूलक मानने के कारण बर्कले को 'अहंमात्रवादी' (Solipsist), 'दृष्टिसृष्टिवादी' एवं 'आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी' कहा जाता है। जो आलोचक बर्कले के विरुद्ध ऐसा आक्षेप करते हैं, उनके कहने का निहितार्थ यह है कि संपूर्ण बाह्य जगत् सीमित जीवात्मा (Empirical Ego) के मन की कल्पना है। जब तक वस्तुएँ सीमित आत्मा के अनुभव के विषय हैं, तब तक उनकी सत्ता है। किन्तु यह आक्षेप कुछ पूर्वाग्रहों पर आधारित है। उल्लेखनीय है कि बर्कले सीमित जीवात्मा के साथ-साथ ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। यह जगत् ईश्वर की रचना है। इसके अतिरिक्त इस जगत् में मेरे साथ-साथ कुछ अन्य जीवात्माएँ भी हैं। वह अनुभवजन्य प्रत्ययों के साथ-साथ बौद्धिक अंतर्बोध को भी स्वीकार करता है। हमें इन्द्रियानुभव के द्वारा प्राकृतिक जगत् का ज्ञान होता है। इसके विपरीत अंतर्बोध के द्वारा आत्मज्ञान एवं सामान्य नियमों (जैसे — कारण-कार्य नियम एवं अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों) का ज्ञान होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि बर्कले के ऊपर लगाए गए आक्षेप अतिरंजित हैं। अतः उसे न तो-अहंमात्रवादी और न दृष्टिसृष्टिवादी कहा जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि उसके विरुद्ध जो आक्षेप लगाए गए हैं, उसके लिए किसी न किसी रूप में बर्कले भी उत्तरदायी हैं। उसके ग्रंथों में कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनसे यह व्यंजित होता है कि बर्कले आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी है। यह जगत् भले ही सीमित जीवात्माओं के मन का प्रत्यय न हो, किन्तु यह (जगत्) ईश्वर के मन का प्रत्यय अवश्य है। बर्कले के अनुसार ईश्वर भी एक परमात्मा ही है। यह जगत् चाहे सीमित आत्मा के अनुभव का विषय हो अथवा ईश्वर (असीमित आत्मा) के अनुभव का विषय हो, इससे बर्कले आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के आक्षेपों से नहीं बच पाता है।

बर्कले से सहानुभूति रखने वाले कुछ उदारवादी आलोचकों ने बर्कले को आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी कहने की अपेक्षा ईश्वरनिष्ठ प्रत्ययवादी कहना अधिक युक्तिसंगत माना है। उनके अनुसार यह जगत् ईश्वर की रचना है, इसे मान लेने पर बर्कले का दर्शन आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद के आरोप से बच जाता है। उल्लेखनीय है कि बर्कले के परवर्ती निरपेक्ष प्रत्ययवादियों (जैसे—हेगल और नव्य-हेगलवादियों) ने भी बर्कले के प्रत्ययवाद की कटु आलोचना किया। टी० एच० ग्रीन के अनुसार बर्कले का प्रत्ययवाद अपरिपक्व मानसिकता का परिचायक और निम्नस्तरीय है।¹ इसी प्रकार बोसॉकि कहता है कि यदि कोई प्रत्ययवादी मुझसे यह कहे कि कुर्सी ऐसी वस्तु नहीं है, जिस रूप में हम उसे समझते हैं, तो उसकी यह

1 Subjective Idealism is the raw of undergraduate's conception of Idealism..

मान्यता दार्शनिक विवाद का विषय नहीं है, बल्कि उससे निम्नस्तरीय है। इस प्रकार वस्तुवादियों के साथ-साथ निरपेक्ष प्रत्ययवादियों ने भी बर्कले के प्रत्ययवाद की कटु आलोचना की है।

बीसवीं शताब्दी के एक प्रमुख दार्शनिक जी० ई० मूर ने भी प्रत्ययवाद का निराकरण किया, जो दर्शन जगत् में अत्यंत लोकप्रिय रहा है। सर्वप्रथम 1903 ई० में उसका एक प्रसिद्ध लेख 'प्रत्ययवाद का निराकरण' 'माइंड' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। मूर के द्वारा बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है। बर्कले का प्रत्ययवाद 'सामान्य बुद्धि' (Common-sense) के द्वारा स्थापित निष्कर्षों के विरुद्ध है। मूर ने विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेकर 'सत्ता दृश्यता है' के संभावित तीन अर्थों का विश्लेषण किया है। इस सूत्र में 'है' (is or Est) संयोजक का प्रयोग तीन अर्थों में किया जा सकता है —

(1) प्रथम अर्थ में, 'सत्ता दृश्यता है' में 'है' एक संयोजक के रूप में उद्देश्य (सत्ता) और विधेय (दृश्यता) के अभेद को व्यक्त करता है। इस दृष्टि से 'सत्ता' और 'दृश्यता' परस्पर एकार्थक हैं। 'सत्ता' से 'दृश्यता' और 'दृश्यता' से 'सत्ता' का बोध होता है। इस अर्थ में 'सत्ता दृश्यता है' यह एक पुनर्कथन है। पुनर्कथन के द्वारा किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती है। अतः यह अर्थ प्रत्ययवादी के लिए अभीष्ट नहीं हो सकता है।

(2) दूसरे अर्थ में 'दृश्यता' को 'सत्ता' का एक अंश माना जा सकता है। इसे स्वीकार करने पर 'सत्ता' का समीकरण 'दृश्यता' से नहीं हो सकता है, अर्थात् 'सत्ता' के अन्तर्गत 'दृश्यता' से कुछ न कुछ अधिक अवश्य सम्मिलित हो जाता है। (सत्ता = दृश्यता + कुछ और)। इससे सिद्ध होता है कि 'सत्ता' केवल 'दृश्यता' नहीं है। अतः प्रत्ययवादी इस अर्थ को भी स्वीकार नहीं कर सकता है।

(3) तृतीय अर्थ के अनुसार, 'है' पद के द्वारा 'सत्ता' तथा 'दृश्यता' की पूर्ण या आंशिक समानता नहीं बतायी गयी है। इस दृष्टि से 'दृश्यता' न तो 'सत्ता' का अर्थ है और न उसके अर्थ का अंश है, बल्कि 'दृश्यता' 'सत्ता' का एक अनिवार्य लक्षण है, जो सत्ता के साथ-साथ पाया जाता है। मूर के अनुसार यह तीसरा अर्थ ही सभी प्रत्ययवादी मान्यताओं का आधार है।

पहले तथा दूसरे अर्थ में 'सत्ता दृश्यता' है का प्रयोग एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य के रूप में किया गया है। इन दोनों अर्थों में उद्देश्य (सत्ता) के पूर्ण या आंशिक लक्षण को विधेय (दृश्यता) के द्वारा व्यक्त किया गया है। किन्तु तीसरे अर्थ में दृश्यता सत्ता का एक नया लक्षण है। अतः तीसरे अर्थ में 'सत्ता दृश्यता है' एक संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य (कथन) है। इस दृष्टि से 'सत्ता' तथा 'दृश्यता' में अनिवार्य संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती है क्योंकि अनिवार्यता स्वतः सिद्ध विश्लेषणात्मक तर्क वाक्यों में पाई जाती है। किन्तु ऐसे स्वतः सिद्ध तर्क वाक्यों को सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति नहीं दी जाती है। इसके विपरीत प्रत्ययवादी दार्शनिक इसे सिद्ध करने के लिए युक्ति देते हैं। मूर के कहने का भाव यह है कि यदि 'सत्ता दृश्यता है', इसे एक विश्लेषणात्मक वाक्य माना जाय तो उसके आधार पर किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती है। इसके विपरीत यदि इसे एक संश्लेषणात्मक तर्क वाक्य माना जाय तो इसके उद्देश्य (सत्ता) और विधेय (दृश्यता) में अनिवार्य संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, वस्तु और ज्ञान में अनिवार्य संबंध नहीं, बल्कि आपातिक और बाह्य-संबंध है। अतः इस सिद्धान्त के द्वारा प्रत्ययवाद की स्थापना नहीं की जा सकती है।¹ मूर के द्वारा किया गया 'सत्ता दृश्यता है' का खंडन

1 Refutation of Idealism, Mind, 1903 (Included in Moore's philosophical studies.).

उसकी वस्तुवादी मान्यताओं पर आधारित है। वास्तव में मूर बर्कले के दर्शन में ईश्वर के महत्त्व की उपेक्षा कर देता है। यदि बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' सूत्र का प्रयोग विस्तृत परिप्रेक्ष्य में किया जाय तो यह 'सत्यं दृश्यं कार्यम्' (Esse Est Percipi Causari) में परिणत हो जाता है। वास्तव में 'सत्ता दृश्यता है' का प्रयोग केवल सीमित जीवात्माओं पर ही किया गया है। ईश्वर के संदर्भ में 'सत्यं दृश्यं कार्यम्' का सिद्धान्त लागू होता है। इस दृष्टि से जो ईश्वर का कार्य है, वह आत्मा के लिए अनुभव का विषय है। इस प्रकार बर्कले सत्ता और दृश्यता को अभिन्न नहीं मानता है क्योंकि इसका संबंध अन्तर्बोध से भी है। यद्यपि 'दृश्यता सत्ता' का अनिवार्य लक्षण है, तथापि इसे पर्याप्त लक्षण नहीं कहा जा सकता है। 'सत्ता' का पर्याप्त लक्षण ईश्वर का कार्य होना है। इससे सिद्ध होता है कि जो ईश्वर का कार्य है, वह सीमित आत्माओं के लिए अनुभव का विषय है। इस प्रकार ईश्वर का आश्रय लेकर बर्कले के प्रत्ययवाद की विसंगतियों को दूर किया जा सकता है।

ईश्वर की अवधारणा

कहा जाता है कि बर्कले ने आलनिष्ठ प्रत्ययवाद, दृष्टि सृष्टिवाद और अहंमात्रवाद से बचने के लिए ईश्वर का सहारा लिया। वास्तव में, बर्कले के समय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति के कारण भौतिकतावाद, यान्त्रिकतावाद और उसके फलस्वरूप नास्तिकतावाद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। बर्कले का प्रमुख लक्ष्य अनीश्वरवादी प्रवृत्ति का खंडन करके ईश्वर के प्रति श्रद्धा को दृढ़ करना था। वस्तुतः यान्त्रिकतावाद और भौतिकतावाद में विश्वास के परिणामस्वरूप अनीश्वरवादी प्रवृत्ति को बल मिलता है। वह समस्त सृष्टि को आध्यात्मिक और सप्रयोजन सिद्ध करने का प्रयास करता है। उसके अनुसार समस्त सृष्टि एक विवेकपूर्ण और परम शुभ ईश्वर की रचना है। ईश्वर के बिना प्रकृति में कोई व्यवस्था, सुनियोजन और प्राकृतिक जगत् में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं में कोई सामंजस्य नहीं हो सकता है। बर्कले के अनुसार प्राकृतिक वस्तुएँ प्रत्ययों के संघात हैं। इन वस्तुओं के रचयिता को असीम बुद्धिमान होना चाहिए। सृष्टि के विभिन्न घटकों की उत्कृष्ट रचना और संतुलित व्यवस्था पर विचार किया जाय एवं इसके साथ-साथ एक शाश्वत, अनंत विवेकयुक्त, शुभ और पूर्ण गुणों के अर्थ और निहितार्थ पर ध्यान दें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सब उस परमात्मा से संबंधित हैं, जो उनका संचालक है और जिसके अंतर्गत सभी प्राकृतिक वस्तुएँ समाविष्ट हैं।¹

यहाँ पर विश्व की व्यवस्था, संचालन और सृष्टि के प्रयोजन के मूल आधार के रूप में बर्कले ने ईश्वर (परम आत्मा) की सत्ता का प्रतिपादन किया है। परंपरागत रूप में इसे प्रयोजन मूलक युक्ति (Teleological Argument) कहा जा सकता है। लॉक ने प्रत्ययों के कारण के रूप में जड़-द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया था। इसके विपरीत बर्कले प्रत्ययों के कारण के रूप में अचेतन जड़-तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार निष्क्रिय और अचेतन जड़तत्त्व प्रत्ययों का कारण नहीं हो सकता है। हमारे प्रत्यय भी निष्क्रिय होने के कारण इन वस्तु-प्रत्ययों के कारण नहीं हो सकते हैं। सीमित जीवात्माओं के लिए ये 'वस्तु-प्रत्यय' अनुभव के विषय (दृश्य) हैं। हमारी आत्मा भी वस्तु-प्रत्ययों की रचना नहीं कर सकता है। अन्य आत्माएँ भी उनका कारण नहीं हो सकती हैं क्योंकि वे भी मेरे समान सीमित हैं। अतः उनका कारण कोई अन्य आत्मा ही हो सकता है। निश्चित रूप से इसे सीमित आत्मा नहीं कहा जा सकता है। बर्कले ने इसे ही 'अनंत आत्मा' (Infinite

Mind) अथवा ईश्वर कहा है। यह युक्ति प्रत्ययों के कारण या स्रष्टा के रूप में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करती है। अतः इसे सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति कहा जा सकता है। बर्कले की ईश्वर में आस्था अंतर्बोध पर आधारित एक तर्कसंगत विश्वास है।

बर्कले के अनुसार सृष्टि दैवी संकल्प से संचालित है। वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का संकेत देखता है। जिस प्रकार प्रत्ययों के विभिन्न संघात एक ज्ञाता (जीवात्मा) की ओर संकेत करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ईश्वर की दिव्य-शक्ति की ओर संकेत करती है। सृष्टि की समस्त वस्तुएँ ईश्वरीय संकल्प के परिणामस्वरूप ही अन्य आलाओं के लिए अनुभवगम्य हो जाती हैं।¹

बर्कले का दावा है कि ईश्वरीय बोध अन्य आलाओं के ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। हमें भले ही ईश्वर का इन्द्रियानुभव न हो सके, परन्तु हमें जिन वस्तुओं एवं क्रियाओं का अनुभव होता है, वे सब उस अदृश्य ईश्वर की ओर संकेत करती हैं क्योंकि वे ईश्वर के कार्य हैं। वह दैवी-तत्त्व जीवात्माओं की इन्द्रियों के माध्यम से ही कार्य करता है। वह प्राकृतिक जगत् को बुद्धि (अंतर्बोध) से देखता है, न कि इन्द्रियानुभव से। इस प्रकार प्राकृतिक व्यापार दैवी-बुद्धि से ओत-प्रोत है। ईश्वर के अभाव में किसी अनुभवगम्य विषय का पर्याप्त ज्ञान नहीं हो सकता है। बर्कले कभी-कभी प्रकृति को ईश्वर की भाषा भी कहता है। बर्कले कहता है — “प्रकृति का वह स्रष्टा (ईश्वर) मनुष्य की आँखों से निरंतर बोल रहा है।”²

प्रश्न उठता है कि ईश्वर और सृष्टि में क्या संबंध है? बर्कले के अनुसार सृष्टि की अवधारणा केवल मनुष्यों के लिए है, ईश्वर के लिए नहीं। ईश्वर के प्रत्यय सीमित जीवात्माओं के प्रत्ययों से भिन्न है। ईश्वर का प्रत्यय होने के कारण सृष्टि वास्तविक और शाश्वत है। जो ईश्वर का प्रत्यय है, उसकी नित्यता संदेह से परे है। किन्तु बर्कले स्पिनोजा के समान सर्वेश्वरवादी नहीं है, बल्कि वह अति-ईश्वरवादी (Panentheist) है। अपने अति ईश्वरवाद के कारण बर्कले प्रत्ययवादी होने के साथ-साथ आध्यात्मवादी भी हो जाता है। उसका प्रत्ययवाद केवल ‘सत्ता दृश्यता है’ तक सीमित है। वह हेगल और नव्य-हेगलवादियों के प्रत्ययवाद से भिन्न आध्यात्मिक प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करता है। कुछ आलोचकों ने इसे ‘ईश्वरपरक प्रत्ययवाद’ (Theological Idealism) भी कहा है। इसकी पुष्टि बर्कले के इस कथन से भी हो जाती है — “हम ईश्वर में ही रहते हैं, विचरण करते हैं और आल- लाभ करते हैं। किन्तु ईश्वर से सीमित आलाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? इसकी व्याख्या बर्कले के दर्शन में नहीं की गई है। उसका दावा है कि सीमित जीवात्माओं और ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। प्रत्ययों के संघात रूपी प्राकृतिक जगत् की सत्ता ईश्वराधीन है। किन्तु बर्कले ईश्वर से उत्पन्न प्रत्ययों और सीमित आलाओं के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या नहीं कर पाता है। यदि यह कहा जाय कि सीमित जीवात्माओं और प्रत्ययों में ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध है, तो पुनः यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि की रचना में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? वस्तुतः इन समस्याओं का बर्कले के दर्शन में कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिलता है।

संक्षेप में, मानव-ज्ञान और अनुभव का विवेचन ईश्वर और अन्य आलाओं के द्वारा ही किया जा सकता है। बर्कले के अनुसार इसके लिए किसी जड़तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। ये प्रत्यय-समूह किसी न किसी आला से संबंधित होते हैं, किन्तु उनकी रचना किसी सीमित जीवात्मा के द्वारा नहीं हुई है। उनका रचयिता परमात्मा है। सीमित जीवात्मा प्रत्यय-समूहों का ज्ञाता

1 Berkeley, Frazee, A.C., p.73.

2 बर्कले संग्रह, से उद्धृत, पृ० 228 एवं 229, 230 भी देखें।

मात्र है। इस प्रकार बर्कले जड़वाद, निरीश्वरवाद, संदेहवाद आदि का खंडन करके ईश्वरवाद अभैतिकतावाद और श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है।

आत्मा की अवधारणा

बर्कले के दर्शन में आत्मा की अवधारणा एक सक्रिय तथा अभैतिक तत्त्व के रूप में की गयी है। यही समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है। बर्कले इसे ज्ञाता, मन (Mind), आत्मा (Soul), मनोवैज्ञानिक जीव (Empirical ego) आदि नाम देता है। उसके अनुसार ज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। संकल्प, कल्पना, स्मरण, चिन्तन आदि ज्ञान के ही विविध रूप हैं। ये सब एक ज्ञाता की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार हमारी स्मृतियाँ, कल्पनाएँ, चिन्तन, संकल्प आदि निराधार नहीं हो सकते हैं। बर्कले के अनुसार निष्क्रिय जड़तत्त्व को चेतन संवेदनाओं का कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह कर्तव्य की क्षमता से रहित होता है। प्रत्यय स्वतः अपना कारण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यय भी निष्क्रिय होते हैं। एक निष्क्रिय प्रत्यय दूसरे निष्क्रिय प्रत्यय का कारण कैसे हो सकता है? इसका निहितार्थ (Implication) यह है कि इन प्रत्ययों का कारण कोई चेतन, अभैतिक एवं सक्रिय द्रव्य होना चाहिए। यह चेतन एवं सक्रिय द्रव्य आत्मा है। दूसरे शब्दों में, आत्मा सक्रिय एवं अभैतिक द्रव्य है। इसके विपरीत प्रत्यय निष्क्रिय एवं पराश्रित हैं। उनकी सत्ता आध्यात्मिक द्रव्यों पर निर्भर है।

आत्मज्ञान प्रत्ययात्मक नहीं है क्योंकि आत्मा अनुभव का विषय (प्रत्यय) नहीं है, बल्कि वह प्रत्ययों का सक्रिय ज्ञाता है। इसका ज्ञान अंतर्बोध (Notion) से होता है। आत्मा ही प्रत्ययों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। एक प्रत्यय, दूसरे प्रत्यय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, जैसे — स्पर्श का प्रत्यय, गंध के प्रत्यय का अथवा रंग का प्रत्यय, स्वाद के प्रत्यय का अनुभव नहीं कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा इन सभी प्रत्ययों से भिन्न एक अलग सत्ता है। डेकार्ट और लॉक के समान बर्कले भी आत्मज्ञान को साक्षात् (immediate) और प्रज्ञात्मक (intuitive) रूप से बोधगम्य मानता है। उल्लेखनीय है कि ब्रूम और विज्ञानवादी बौद्धों ने आत्मा को प्रत्ययों का पुंज अथवा परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का संघात माना है। किन्तु बर्कले इससे असहमत है। उसके अनुसार दो प्रत्ययों अथवा अनुभूतियों की तुलना करने के लिए उनसे भिन्न सत्ता की आवश्यकता होती है। यही सत्ता आत्मा है। आत्मा एक नित्य चेतन तत्त्व है। यह चैतन्य ही उसकी पहचान का मुख्य आधार है। चूँकि आत्मा संकल्प से युक्त है, इसलिए वह कर्ता है। उसकी पहचान ज्ञाता होने के साथ-साथ उसके संकल्प एवं सक्रियता से भी है। इस दृष्टि से ज्ञाता होने के साथ-साथ कर्ता होना भी आत्मा का एक प्रमुख लक्षण है। बर्कले के अनुसार यद्यपि आत्मा सीमित है, तथापि वह मृत्यु से रहित है। किन्तु ईसाई धर्म से प्रभावित होने के कारण विशप बर्कले ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानता है। अतः वह ईसाई धर्म के मतानुसार से बच नहीं पाता है। वह कहता है — 'असीम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सृष्टिकर्ता परमात्मा (ईश्वर) सीमित आत्माओं को नष्ट कर सकता है।

बर्कले ने अन्य आत्माओं के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। इसके लिए वह अनुमान का सहारा लेता है। यदि 'सत्ता दृश्यता है और 'दृश्यता' आत्मा पर आश्रित है, तो प्रश्न यह है कि क्या प्राकृतिक जगत् भी सीमित जीवात्मा पर आश्रित है? दूसरे शब्दों में, यदि मैं और मेरे प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है तो क्या इससे बर्कले आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं हो जाता है? इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए बर्कले ईश्वर के साथ-साथ अन्य आत्माओं का सहारा लेता है। वह कहता है कि हमें अपनी आत्मा का अनुभव तो अंतर्बोध से होता है, किन्तु अन्य आत्माओं का ज्ञान

अनुमान के द्वारा ही हो सकता है। उसके अनुसार मेरी आत्मा के साथ-साथ अन्य आत्माएँ भी हैं क्योंकि सभी प्रत्ययों को अकेले मैं ही नहीं उत्पन्न कर सकता हूँ। विश्व में प्रतीत होने वाली अनेक गतियों, परिवर्तनों और प्रत्यय-समूहों का प्रत्यक्ष करने में मैं यह अनुमान करता हूँ कि मेरे सदृश कुछ अन्य सीमित आत्माएँ भी होनी चाहिए, जो इन प्रत्यय-समूहों में से कुछ को उत्पन्न करते हैं एवं कुछ के प्रत्यक्षकर्ता हैं; क्योंकि इन समस्त प्रत्ययों को न तो केवल मैं उत्पन्न करता हूँ और न केवल मैं उनका प्रत्यक्षकर्ता हूँ।¹

इसके अतिरिक्त जब मैं समाज में रहता हूँ तो अन्य आत्माओं का ज्ञान होता है। अन्य लोगों का रूप, रंग, आचार-विचार इत्यादि का अनुभव एक प्रकार से मेरे अपने मन के प्रत्ययों का ही प्रत्यक्ष है। वस्तुतः अन्य लोग भी मेरे ही समान सीमित (अपूर्ण) अन्य लोगों (आत्माओं) के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। अन्य मनस् के अस्तित्व की सिद्धि के लिए बर्कले के द्वारा दी गई यह युक्ति एक प्रकार का साम्यानुमान (Argument from analogy) है। बर्कले अन्य लोगों के अस्तित्व को उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयास करता है। उनके आचार-विचार, रूप-रंग आदि के साथ-साथ उनसे वार्तालाप करना और उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा आदि भी अन्य आत्माओं के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि बर्कले मुख्य रूप से अनुमान के आधार पर अन्य आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है।

बर्कले के दर्शन का मूल्यांकन

दर्शन जगत् में बर्कले को अनुभववादी परंपरा के अंतर्गत लॉक और ह्यूम के बीच की एक कड़ी माना जाता है। यह सत्य है कि बर्कले लॉक-दर्शन की विसंगतियों को उद्घाटित करके उसे दूर करने का प्रयास करता है। किन्तु बर्कले भी अनुभववाद की विसंगतियों को पूरी तरह से दूर नहीं कर पाता है। बर्कले लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करता है। किन्तु यदि संवेदन और स्वसंवेदन ही हमारे ज्ञान के मूल स्रोत हैं, तो जड़तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी लॉक के द्वारा जड़तत्त्व की सत्ता को मानना दोषपूर्ण है। लॉक का यह जड़वाद ही संशयवाद का मूल कारण है। भौतिक जगत् को प्रत्यय जगत् में रूपान्तरित करके बर्कले लॉक के द्वैतवाद को समाप्त कर देता है। बर्कले के आध्यात्मवाद को स्वीकार कर लेने पर निरीश्वरवाद समाप्त हो जाता है। भौतिकवाद की मान्यतानुसार स्व-अस्तित्ववान् भौतिक तत्त्व ही समस्त वस्तुओं एवं संवेदनाओं का कारण है। यदि इसे मान लिया जाय तो वस्तुओं की संरचना में हमारी स्वतंत्रता, सप्रयोजनता एवं बौद्धिकता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मा एवं जड़वाद का द्वैत ईश्वर की सत्ता के समक्ष एक गंभीर चुनौती है। इसके परिणामस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में जड़वाद, निरीश्वरवाद और संशयवाद की प्रवृत्तियाँ बलवती होने लगती हैं। अतः बर्कले ने इस चुनौती का सामना किया। किन्तु वह अनुभववाद में निहित अंतर्विरोधों को न समझ सका। वह अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की विसंगतियों के तार्किक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता है, इसलिए उसे 'अपूर्ण ह्यूम' कहा गया है। ह्यूम के दर्शन में अनुभववाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ह्यूम के अनुसार अनुभव के द्वारा न तो लॉक के जड़वाद और न बर्कले के आध्यात्मवाद का प्रतिपादन किया जा सकता है। बर्कले ने भले ही अनुभववाद का सामंजस्य प्रत्ययवाद एवं आध्यात्मवाद से करके उसे जड़वाद से बचाने का प्रयास किया है, परन्तु वह इसे संशयवाद से नहीं बचा पाता है। वास्तव में, बर्कले ने अनुभववाद एवं आध्यात्मवाद का असंगत मेल करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप उसके दर्शन में अनेक विसंगतियाँ आ गयीं।

यद्यपि बर्कले की गणना लॉक और ह्यूम की परंपरा के अंतर्गत एक अनुभववादी विचारक के रूप में की जाती है, तथापि वह परंपरागत अनुभववादी मान्यता से विचलित हो जाता है। वह अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के साथ-साथ अंतर्वोध को आत्मज्ञान और सामान्यों के ज्ञान का आधार मान लेता है। इससे स्पष्ट है कि बर्कले के अनुसार मानव-ज्ञान केवल अनुभव-सापेक्ष प्रत्ययों तक ही सीमित नहीं है। अंतर्वोध को स्वीकार कर लेने से ज्ञान का स्वरूप बौद्धिक और पारमार्थिक हो जाता है। इस प्रकार बर्कले का प्रत्ययवाद और तात्त्विक आध्यात्मवाद लॉक और ह्यूम के अनुभववाद के बीच में सामंजस्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। संभवतः इसीलिए प्रो० अनुकल चन्द्र मुखर्जी कहते हैं कि बर्कले का अंतर्वोध सिद्धान्त लॉक और ह्यूम के बीच में संगत नहीं प्रतीत होता है। बर्कले के अनुसार हमारे प्रत्यय भले ही अनुभवजन्य हों, किन्तु इसे सर्वोच्च ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति बौद्धिक अंतर्वोध से होती है।

बर्कले के द्वारा अनेक अभौतिक आत्माओं को स्वीकार करना भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। विभिन्न चेतन आत्माओं को एक-दूसरे से कैसे अलग किया जा सकता है? वस्तुतः अनेक इकाइयों की परिकल्पना केवल जड़ वस्तुओं के बारे में ही उपयुक्त हो सकती है। यदि सभी अभौतिक द्रव्य चेतन हों तो उनमें किसी प्रकार का गुणालक भेद नहीं किया जा सकता है।

बर्कले के अनुसार केवल वे प्रत्यय ही यथार्थ हैं जो ईश्वर के मन में हैं। जो प्रत्यय सीमित जीवात्माओं के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, वे अयथार्थ एवं काल्पनिक हैं। प्रश्न उठता है कि सीमित (अपूर्ण) जीवात्माओं को ईश्वर के मन में स्थित प्रत्ययों का ज्ञान कैसे हो सकता है? बर्कले इसका युक्तिसंगत विवेचन नहीं कर पाता। उसके दर्शन की यह मान्यता कि केवल वे प्रत्यय ही सत्य होते हैं जो हमारी आत्मा में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, ठीक नहीं है। इससे मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य का अपहरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hallucination), स्वप्न (dreams) इत्यादि के प्रत्यय हमारी आत्मा में स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं; अर्थात् हम उनको उत्पन्न करने की इच्छा नहीं करते हैं। किन्तु ये स्वप्न, भ्रम आदि के प्रत्यय काल्पनिक एवं असत् होते हैं। अतः बर्कले के द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों की यथार्थता एवं अयथार्थता का मानदण्ड (कसौटी) तर्कसंगत नहीं है।

नव्य-वस्तुवादियों ने बर्कले के 'ज्ञानमीमांसीय एकतत्त्ववाद' (Epistemological Monism) का समर्थन किया है। किन्तु वस्तुवादियों के विपरीत बर्कले वस्तुओं को प्रत्ययों का संघात मान लेता है। नव्य-वस्तुवादी उसके प्रत्ययवाद का निराकरण करके नव्य-वस्तुवाद की स्थापना करते हैं। नव्य-वस्तुवादियों के अनुसार प्रत्यय का तात्पर्य 'जानने की प्रक्रिया' (Process of Knowing) है। जानने की प्रक्रिया स्वतः ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। वे 'ज्ञात वस्तु' (Object as it is known) और 'यथार्थ वस्तु' (object as it is) को एक मान लेते हैं। इस संदर्भ में जी० ई० मूर ने 'सत्ता दृश्यता है' के विश्लेषण के आधार पर बर्कले के प्रत्ययवाद का खंडन किया है। मूर के द्वारा प्रत्ययवाद का किया गया यह खंडन कितना न्यायोचित है? यह वहस और विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इतना निश्चित है कि मूर ने 'सत्ता दृश्यता है' के जो संभावित अर्थ किए हैं, वे बर्कले के प्रत्ययवाद पर लागू नहीं होते हैं। बर्कले के समर्थक आलोचकों के अनुसार 'दृश्यता' 'सत्ता' का अनिवार्य हेतु एवं कार्यम् (Causari) उसका पर्याप्त हेतु है। चूंकि मूर वस्तुवादी है, इसलिए वह 'दृश्यता' को 'सत्ता' से भिन्न मान लेता है। इसके विपरीत, बर्कले 'दृश्यता' को

‘सत्ता’ की अनिवार्य विशेषता मानता है। अतः मूर का आक्षेप बर्कले के प्रत्ययवाद पर पूरी तरह से लागू नहीं होता है।

इसी प्रकार अमेरिकी दार्शनिक आर० बी० पेरी ने प्रत्ययवाद के विरुद्ध तीन आक्षेप लगाए हैं।

(1) आरंभिक विधेयता का दोष (The fallacy of initial predication) — पेरी के अनुसार यह दोष तब होता है, जब किसी वस्तु के आरंभिक लक्षण को ही वस्तु का संपूर्ण लक्षण मान लिया जाय। प्रत्ययवादियों ने अनुभव या ज्ञान से संबंधित होने अर्थात् दृश्यता को ही वस्तु (सत्ता) का संपूर्ण लक्षण मान लेने की भूल की है।

(2) ऐकान्तिक विशिष्टता का दोष (The fallacy of exclusive particularity) — यदि कोई वस्तु एक व्यवस्था या निकाय (System) से संबंधित है तो उसके संदर्भ में अन्य संभावनाओं की उपेक्षा करने से यह दोष उत्पन्न होता है। प्रत्ययवादियों की भूल यह है कि उन्होंने वस्तु को केवल ज्ञान-संबंध (दृश्यता) से ही संबंधित कर दिया है। वे अन्य संभावनाओं की उपेक्षा करते हैं। ज्ञान या दृश्यता से संबंधित होना वस्तु का एक लक्षण मात्र है। ज्ञान से स्वतंत्र रूप में वस्तु के अन्य लक्षण भी हो सकते हैं।

(3) अहंकेन्द्रित विषम स्थिति (Ego-centric Predicament) — यह असुखकर स्थिति है। प्रत्ययवादी इसका दुरुपयोग करता है। चूँकि कोई वस्तु ज्ञाता के चिन्तन (अनुभव) से संबंधित हुए बिना ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है, इसलिए ज्ञान या अनुभव (दृश्यता) से स्वतंत्र रूप में उसकी सत्ता नहीं हो सकती है। प्रत्ययवादी इस स्वाभाविक विवशता का गलत लाभ उठाना चाहता है। इस प्रकार बर्कले के प्रत्ययवाद की कटु आलोचना की गई है।¹

बर्कले यह नहीं स्पष्ट कर पाता है कि यदि प्रत्यक्षकर्ता (आत्मा) और प्रत्यक्ष के विषय (प्रत्यय) ये दो चीजें ही सत् हैं तो वनस्पति जगत् (जो प्रत्यक्ष नहीं करते हैं) और पत्थर तथा अन्य जड़-वस्तुएँ किस अर्थ में एक-दूसरे से भिन्न हैं? इसके अतिरिक्त यदि वनस्पतियाँ और जड़ वस्तुएँ प्रत्ययों के संघात हैं तो उन्हें समान स्तरीय होना चाहिए। इस संदर्भ में लाइबनिज ने चिदणुओं के श्रेणी भेद का प्रतिपादन करके इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। किन्तु बर्कले इसकी व्याख्या नहीं कर पाता है कि विभिन्न प्रकार के प्रत्यय-समूहों में परस्पर क्या संबंध है? इसके अतिरिक्त वह ईश्वर और अन्य सीमित आत्माओं के बीच पारस्परिक संबंधों की व्याख्या भी नहीं कर पाता है। ईश्वर से जीवात्माएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? इत्यादि प्रश्नों का तर्कसंगत विवेचन बर्कले के दर्शन में नहीं मिलता है।

किन्तु इन आक्षेपों के होते हुए भी बर्कले एक विचारोत्तेजक दार्शनिक विचारधारा का प्रवर्तक है। इससे उसके परवर्ती दार्शनिकों को बहुत प्रेरणा मिली। उसका ईश्वरपरक प्रत्ययवाद रैशडल, प्रिंगल, पैटसन एवं अन्य आध्यात्मवादी और मूल्यवादी दार्शनिकों के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है। उसके द्वारा किया गया अमूर्त प्रत्ययों का निराकरण एवं उसकी भाषिक मान्यताएँ किसी न किसी रूप में समकालिक दर्शन को भी प्रभावित करती हैं। ह्यूम ने बर्कले की दार्शनिक मान्यताओं का सहारा लेकर उसके तार्किक विकास के रूप में संशयवाद का प्रतिपादन किया। इससे स्पष्ट है कि

1 विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पृ० 107-109..

वर्कले अपने युग का एक क्रांतिकारी दार्शनिक है। शायद ही उसके बाद आने वाला कोई विचारक उसके दर्शन के प्रभाव से बच सका हो।

(स) डेविड ह्यूम (David Hume : 1711-1776 ई०)

अनुभववादी विचारधारा को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने वाले डेविड ह्यूम का जन्म 26 अप्रैल, 1711 ई० को स्कॉटलैण्ड के एक मध्यमवर्गीय साधारण परिवार में हुआ था। वाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु हो जाने से उन्हें अपनी शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु अपने परिश्रम से उन्होंने लैटिन, फ्रांसीसी एवं अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया। वे एडिनबर्ग विश्वविद्यालय के छात्र थे। उन्हें कानून का भी अच्छा ज्ञान था। 25 वर्ष की अल्पायु में ही उनका एक ग्रंथ 'ए ट्रीटाइज ऑन ह्यूमन नेचर' (A Treatise on Human Nature), अर्थात् 'मानव-स्वभाव पर एक निबन्ध प्रकाशित हुआ।' किन्तु इस ग्रंथ को यथोचित महत्त्व न मिलने से ह्यूम को बहुत निराशा हुई। उन्होंने इस ग्रंथ में आत्मा का निराकरण और संशयवाद का प्रतिपादन किया। दर्शन के क्षेत्र में सम्मान न मिलने के कारण ह्यूम का झुकाव राजनीतिक ग्रंथों के लेखन की ओर हुआ। उन्होंने नैतिक और राजनैतिक निबंध लिखे जिनका प्रकाशन 1741 ई० में हुआ। यद्यपि ह्यूम ने एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन का अध्यापक बनने का प्रयास किया, तथापि वह इस दिशा में सफल न हो सका। उस समय के एक अन्तःप्रज्ञावादी विचारक हचिसन ने ह्यूम की नियुक्ति का विरोध किया। इसके फलस्वरूप ह्यूम के मन में दर्शन के प्रति अरुचि पैदा हो गई। अब उसका झुकाव इतिहास और राजनीतिशास्त्र की ओर हो गया। उसके द्वारा लिखित 'इंग्लैण्ड का इतिहास' (History of England) एक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त 'मानव-बुद्धि से संबंधित दार्शनिक निबंध' (Philosophical Essays Concerning Human Understanding), 'धर्म का प्राकृतिक इतिहास' (The Natural History of Religion), 'नैतिकता के सिद्धान्तों से संबंधित एक गवेषणा' (An Enquiry Concerning the Principles of morals) तथा 'राजनैतिक विमर्श' (Political Discourses) प्रमुख हैं। उल्लेखनीय है कि ह्यूम रूसो का मित्र था। जब रूसो फ्रांस से निकाल दिया गया तो इंग्लैण्ड में ह्यूम ने रूसो की पर्याप्त सहायता की। अपने जीवन के अंतिम दिनों में ह्यूम ने कुछ समय के लिए पेरिस में राजदूत के सचिव के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त वह स्कॉटलैण्ड में सहायक मंत्री भी रहा। अंत में 25 अगस्त, 1776 ई० में ह्यूम का देहावसान हो गया।

ह्यूम की ज्ञानमीमांसा

लॉक और वर्कले की अनुभववादी परंपरा में ह्यूम का दर्शन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वह लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करता है। लॉक के दर्शन की मान्यता है कि समस्त मानव-ज्ञान अनुभवजन्य है। संवेदनों से बाह्य जगत् का और स्वसंवेदन से मन के आंतरिक व्यापारों एवं सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि अनुभूतियों का ज्ञान होता है। लॉक के अनुसार हम बाह्य वस्तुओं को प्रत्ययों के माध्यम से जानते हैं। किन्तु बाह्य वस्तुएँ मन से स्वतंत्र हैं। इसके विपरीत वर्कले ने भौतिक वस्तुओं के स्वतंत्र अस्तित्व का निराकरण करके उन्हें प्रत्ययों का संघात बना दिया। इस प्रकार लॉक का जड़वाद, वर्कले के अभौतिकवाद एवं प्रत्ययवाद में रूपान्तरित हो गया। इसी प्रकार लॉक का ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद वर्कले के ज्ञानमीमांसीय एकतत्त्ववाद में रूपान्तरित हो जाता है। लॉक के अनुसार प्रत्यय हमारे साक्षात् ज्ञान के विषय हैं। प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी जड़तत्त्व की

सत्ता नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य अज्ञात है और उसका कोई संवेदन नहीं प्राप्त हो सकता है तो उसके अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसकी सत्ता को मानना अनुभववादी दृष्टि से असंगत है। ह्यूम ने लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करते हुए उसके तार्किक निष्कर्ष का प्रतिपादन किया है।

उसके अनुसार यदि हम केवल संवेदनों को ही जानते हैं तो हमें न तो भौतिक द्रव्य का और न ही आध्यात्मिक द्रव्य का ज्ञान हो सकता है। यदि जड़तत्त्व, आत्मा और ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है तो उनके अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यदि ज्ञान का एकमात्र स्रोत इंद्रियानुभव है तो इंद्रियानुभव से परे किसी तत्त्व का सत्ता को स्वीकार करना एक प्रकार से अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का परित्याग करना होगा। लॉक के अनुभववाद का संबंध वस्तुवाद से और बर्कले के अनुभववाद का संबंध प्रत्ययवाद से हो जाता है। किन्तु ह्यूम का अनुभववाद इनमें से किसी भी सिद्धान्त से संबंधित नहीं है। उसका दावा है कि अनुभव के आधार पर किसी भी तत्त्व की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि लॉक और बर्कले की ज्ञानमीमांसा के आधार पर उनके तात्त्विक सिद्धान्तों की स्थापना नहीं हो पाती है। ह्यूम का अनुभववाद विशुद्ध रूप से ज्ञानमीमांसीय है, जिसके द्वारा किसी तत्त्वमीमांसा को तार्किक दृष्टि से स्थापित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः किसी प्रत्यय के द्वारा वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती है। ह्यूम के दार्शनिक मंतव्य को समझने के लिए उसके द्वारा किए गए ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण का उल्लेख करना आवश्यक है। ह्यूम ने परंपरागत दर्शन में प्रचलित विश्व की अंतिम व्याख्या और निश्चायक सत्य को व्यक्त करने वाले असाधारण ज्ञान की अवधारणा का निराकरण किया। उसके अनुसार किसी अलौकिक ज्ञान में विश्वास एवं बुद्धि को मनुष्य की दैवी शक्ति मानना एक अंधविश्वास एवं मिथ्या दंभ है। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ह्यूम का दर्शन केवल निषेधात्मक अथवा ध्वंसात्मक है, किन्तु ऐसी मान्यता केवल एक भूल है। वह मनुष्य की बोध-शक्ति और ज्ञान की सीमाओं का विश्लेषण करता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह समस्त पूर्वाग्रहों और परंपरागत मान्यताओं को अस्वीकार कर देता है। लॉक और बर्कले के समान ह्यूम का अनुभववाद भी मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अनुसार मनुष्य के मन की संरचना ही ऐसी है कि उसे वस्तुओं एवं उनसे संबंधित तथ्यों का ज्ञान अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। ह्यूम मन की क्षमताओं और अक्षमताओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ह्यूम के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को समझने के लिए उसकी ज्ञानमीमांसा का विवेचन करना आवश्यक है।

ह्यूम के अनुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है— संस्कार (impressions) एवं प्रत्यय (ideas)।

संस्कार और प्रत्यय

बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त संवेदनों तथा स्वसंवेदनों को ह्यूम संस्कार कहता है। संस्कार अधिक सजीव और स्पष्ट प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों से संबंधित होता है। जैसे — किसी वस्तु को देखने, सूँघने, स्पर्श करने, चखने, प्रेम एवं घृणा करने से मन में जो तात्त्विक प्रभाव पड़ते हैं, उन्हें संस्कार कहा जाता है। इसके विपरीत, प्रत्यय संस्कारों की अपेक्षा धुँधले, निर्बल और कम स्पष्ट होते हैं। इस दृष्टि से प्रत्यय संस्कारों के ही प्रतिविम्ब हैं। वास्तव में, संस्कार मौलिक होता है और यह मन के लिए प्रदत्त हैं। इसके विपरीत, प्रत्यय गौण और रचित हैं। संस्कार अपना जो प्रतिविम्ब मन में छोड़ जाते हैं,

उसे ही प्रत्यय कहा जाता है। जब हम शीत, उष्ण, सुख-दुःख, सौन्दर्य, गंध आदि का साक्षात् अनुभव करते हैं तो इसे संस्कार कहा जाता है। किन्तु जब इन अनुभूतियों का स्मरण करते हैं तो हमारे मन में इनका अंकित प्रतिबिम्ब प्रत्यय कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्यय संस्कारों पर आश्रित होते हैं। संक्षेप में, संवेदनों और अंतःकरण के स्वसंवेदनों को ह्यूम ने संस्कार कहा है। ये संस्कार प्रत्ययों के पूर्ववर्ती होते हैं। प्रत्ययों की अपेक्षा संस्कार अधिक प्रगाढ़, गहन और तीव्र होते हैं। किन्तु कभी-कभी कुछ प्रत्यय भी अधिक प्रगाढ़, सजीव और तीव्र हो सकते हैं, जिनकी तुलना में संस्कारों को क्षीण और मंद माना जा सकता है। ह्यूम के अनुसार सुषुप्ति की अवस्था, दुखार एवं पागलपन की अवस्था इत्यादि में हमारे प्रत्यय संस्कारों के ही समान हो सकते हैं। कभी-कभी हमारे संस्कार इतने धुँधले एवं मंद होते हैं कि हम उन्हें प्रत्ययों से अलग नहीं कर पाते हैं। किन्तु इसके बावजूद संस्कार और प्रत्यय एक-दूसरे से भिन्न हैं।¹

ह्यूम के अनुसार प्रत्येक प्रत्यय के अनुरूप उसका एक संस्कार होता है। इसी प्रकार प्रत्येक शुद्ध संस्कार के अनुरूप उसके प्रतिनिधि के रूप में एक प्रत्यय होता है। ह्यूम ने संस्कारों को दो प्रकारों का माना है — संवेदनों के संस्कार और स्वसंवेदनों के संस्कार। संवेदनों के संस्कार आत्मा में कैसे उत्पन्न होते हैं? इसका कारण नहीं जाना जा सकता है। किन्तु दूसरे प्रकार के अर्थात् स्वसंवेदनों के संस्कार प्रायः हमारे प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। जब हमारी इंद्रियाँ संस्कारों से प्रभावित होती हैं तो सुख-दुःख, गर्मी, शीतलता आदि के प्रत्यय अनुभूत होते हैं। इस संस्कार के लुप्त हो जाने के बाद भी उसकी एक छाप हमारे मन में अंकित हो जाती है। इस छाप (प्रतिलिपि) को ही ह्यूम प्रत्यय कहता है। ह्यूम के अनुसार प्रत्यय भी पुनः दो प्रकार के होते हैं — प्रथम स्मृति के प्रत्यय जो अपने मूल संस्कार के प्रतिबिम्ब हैं। स्पष्ट है कि स्मृति के प्रत्यय अपने मूल संस्कारों की प्रतिलिपि होने के कारण उनसे स्वतंत्र नहीं हो सकते हैं। वे अपने मूल संस्कारों के अनुरूप होने पर ही सत्य हो सकते हैं। इसके विपरीत, दूसरे प्रकार के प्रत्यय कल्पना से संबंधित होते हैं, जो मूल संस्कारों के अनुरूप होने के लिए बाध्य नहीं हैं। वस्तुतः कल्पना के प्रत्यय अपने मूल संस्कारों से स्वतंत्र होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्मृति के प्रत्यय कल्पना के प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक प्रगाढ़ और सजीव होते हैं, क्योंकि स्मृति के प्रत्यय कल्पना के प्रत्ययों की तुलना में अपने मूल संस्कारों के अधिक अनुरूप होते हैं।²

लॉक के समान ह्यूम भी प्रत्ययों का वर्गीकरण सरल और जटिल इन दो वर्गों में करता है। किन्तु ह्यूम के द्वारा किया गया यह वर्गीकरण लॉक से भिन्न है। लॉक के सरल प्रत्यय संवेदनों एवं स्वसंवेदनों दोनों से उत्पन्न होते हैं, किन्तु ह्यूम के अनुसार सरल प्रत्यय मूल संस्कारों के प्रतिबिम्ब हैं। ह्यूम के अनुसार जटिल प्रत्ययों के अनुरूप उनके मूल संस्कारों का होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए, हम सुवर्णगिरि (सुमेरु) एवं क्षीरसागर (दूध का समुद्र) की कल्पना कर सकते हैं। यहाँ पर जल के सागर की स्मृति और क्षीर (दुग्ध) की कल्पना के द्वारा जटिल प्रत्ययों की संरचना की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार जटिल प्रत्ययों का अपने मूल संस्कारों के अनुरूप प्रतिबिम्ब होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, कुछ जटिल प्रत्यय अपने मूल संस्कारों के प्रतिबिम्ब हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु संस्कारों के अभाव में सरल प्रत्ययों की रचना नहीं की जा सकती है।

1 A Treatise on Human Nature, 1/1.

2 वही 1/3.

प्रश्न उठता है कि संस्कारों (प्रत्यक्षों) के कारण क्या हैं? ह्यूम के अनुसार संवेदनों और स्वसंवेदनों के संस्कारों का हमें प्रत्यक्ष अनुभव तो होता है, किन्तु इन अनुभूतियों के मूल स्रोत को नहीं जाना जा सकता है। लॉक ने संवेदनों के कारण के रूप में जड़द्रव्य एवं वर्कले से प्रत्ययों के कारण के रूप में आध्यात्मिक तत्त्व की कल्पना की है। किन्तु ह्यूम संवेदनों के स्रोत के रूप में किसी तत्त्व (भौतिक या आध्यात्मिक) की सत्ता को चुनौती देता है। उसके अनुसार प्रत्यक्ष अनुभूतियों के स्रोत का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। हम यह भी नहीं जान सकते हैं कि संस्कार प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक प्रगाढ़ एवं सजीव क्यों होते हैं? इस दृष्टि से वह लॉक की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत अनुभववादी है। उसका दावा है कि ज्ञान का स्रोत भले ही अनुभव है, किन्तु इन अनुभूतियों के अतिरिक्त उनके किसी मूल स्रोत को तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार ह्यूम के अनुसार प्रत्येक प्रत्यय अपने संस्कार पर आश्रित होता है। जिस व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार का अनुभव नहीं होता है, वह व्यक्ति उस अनुभव से संबंधित प्रत्यय भी नहीं प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, अंधा व्यक्ति लालिमा का अनुभव न प्राप्त कर सकने के कारण लालिमा का प्रत्यय नहीं बना सकता है। ह्यूम के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अनुसार कोई भी अनुभव अतीन्द्रिय, दैवी अथवा अलौकिक नहीं हो सकता है। प्रत्येक अनुभव साधारण मानव-अनुभव है। इस प्रकार वह प्लेटो की बुद्धिवादी परंपरा को चुनौती देता है। साधारण मानव-अनुभव से स्वतंत्र रूप में किसी प्रकार का चिंतन, कल्पना आदि असंभव है। जो कल्पनीय और चिन्त्य है, वह अनुभव की सीमा में समाविष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जो अनुभवगम्य नहीं है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः किसी प्रकार के अलौकिक अनुभव अथवा प्रत्ययों के अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना एक मिथ्या बकवास है। ह्यूम के अनुभववाद की समकालिक तार्किक भाववाद के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। तार्किक भाववादियों के अनुसार वस्तुओं, तथ्यों इत्यादि से संबंधित भाषा तभी सार्थक हो सकती है जब अनुभव के द्वारा उसका सत्यापन किया जा सके। किन्तु ह्यूम का अनुभववाद मनोवैज्ञानिक है। कुछ विचारकों के अनुसार ह्यूम के अनुभववाद में तार्किक अनुभववाद के बीज निहित हैं। यदि इसे विकसित कर लिया जाय तो ह्यूम के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को तार्किक अनुभववाद में रूपान्तरित किया जा सकता है। वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के तार्किक अनुभववादी ह्यूम को अपना दार्शनिक पूर्वज मानते हैं।¹

साहचर्य नियम (Law of Association)

ह्यूम के अनुसार समस्त मानव-ज्ञान संस्कारजन्य है। ये संस्कार बौद्ध दार्शनिकों के स्वलक्षणों (Sense-data) के समान मौलिक एवं विशिष्ट इकाइयाँ हैं। हमारा मन प्रत्ययों के प्रवाह से युक्त है। ये प्रत्यय परस्पर व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध होते हैं। उनमें परस्पर साहचर्य पाया जाता है, किन्तु इन प्रत्ययों के पारस्परिक साहचर्य को अनिवार्य एवं सार्वभौमिक नियम कहना ठीक नहीं है। प्रत्ययों का यह साहचर्य नियमित, क्रमबद्ध और व्यवस्थित होता है। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय स्वभावतः आ जाता है। ह्यूम ने इसे 'आनन्तर्य संबंध' कहा है। ह्यूम के अनुसार प्रत्ययों की इस क्रमबद्धता के तीन प्रमुख आधार हैं, जिनके द्वारा साहचर्य नियम संपन्न होता है। ये तीनों नियम अधोलिखित हैं—

(1) सादृश्य का नियम (Law of Resemblance)

1 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' में देखिए प्रो० राजेन्द्र प्रसाद का लेख, पृ० 201.

(2) दैशिक एवं कालिक संबंध (Law of Contiguity in space and time)

(3) कारण-कार्य संबंध (Law of Causation)

यदि दो प्रत्यय परस्पर समान होते हैं, तो इस सादृश्य के कारण एक वस्तु के प्रत्यय के स्मरण से दूसरी वस्तु के प्रत्यय की स्मृति हमारे मन में सजीव हो उठती है। जैसे — किसी मनुष्य का चित्र देखने से उस मनुष्य का प्रत्यय स्वाभाविक रूप से हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है।

इसी प्रकार दैशिक एवं कालिक संबंधों की दृष्टि से एक ही स्थान अथवा एक ही काल में एक घटना दूसरी घटना के बाद घटित होती है। यहाँ पर भी एक घटना के प्रत्यय के बाद दूसरी घटना का प्रत्यय उपस्थित हो जाता है। जैसे — किसी भवन के एक भाग के प्रत्यय से उस भवन के अन्य मिले-जुले भागों का प्रत्यय भी सजीव हो उठता है। यहाँ पर भी प्रत्ययों में दैशिक अथवा कालिक साहचर्य पाया जाता है।

यदि हम किसी व्यक्ति के घाव (wound) का स्मरण करते हैं तो उसके ठीक बाद उसके दर्द का प्रत्यय भी मानस-पटल पर आ जाता है। घाव और दर्द में कारण-कार्य संबंध है। इस प्रकार कारण-कार्य नियम के अनुसार भी एक घटना के प्रत्यय के बाद दूसरी घटना का प्रत्यय उपस्थित हो जाता है।

ह्यूम के अनुसार इन तीनों नियमों में से किसी भी एक नियम के आधार पर दो प्रत्ययों में पारस्परिक साहचर्य हो सकता है। ये सभी नियम अनुभवजन्य एवं मनोवैज्ञानिक हैं। उनमें कोई तार्किक संबंध नहीं है जिसे अनिवार्य एवं सार्वभौमिक कहा जा सके। ह्यूम साहचर्य नियम का आधार आगमनात्मक सामान्यीकरण को मानता है। ये तीनों नियम किसी अन्य सिद्धान्त के आधार पर निगमित नहीं किए जा सकते हैं। ह्यूम साहचर्य नियम को संपादित करने वाले इन तीनों संबंधों को 'प्राकृतिक संबंध' कहता है। इन नियमों के अंतर्गत स्वाभाविक रूप से एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय के साथ उपस्थित होता रहता है, किन्तु हमारे प्रत्ययों की तुलना सदैव प्राकृतिक संबंधों पर ही निर्भर नहीं होती है। वह प्राकृतिक संबंधों के साथ-साथ कतिपय अन्य संबंधों को भी स्वीकार करता है, जो इस प्रकार हैं — सादृश्य संबंध, अभेद संबंध, देश-काल पर आश्रित संबंध, परिमाणालक संबंध, गुण की मात्रा का संबंध, विपरीत संबंध और कारण-कार्य संबंध।

इनमें से पूर्वोक्त तीनों प्राकृतिक संबंध भी दार्शनिक संबंध के अंतर्गत आते हैं। यद्यपि ह्यूम ने प्राकृतिक और दार्शनिक संबंधों में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया है, तथापि उसके कुछ आलोचकों ने दोनों के बीच में अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्राकृतिक संबंध वे हैं जो प्रत्ययों के साहचर्य को उत्पन्न करते हैं, किन्तु दार्शनिक संबंध प्राकृतिक संबंधों से अधिक व्यापक होते हैं। वे प्रत्ययों के साहचर्य को उत्पन्न करने वाले संबंधों के साथ-साथ अन्य संबंधों को भी उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टि से प्रत्ययों का साहचर्य एक प्राकृतिक संबंध है। कारण-कार्य का संबंध, देश-काल का संबंध एवं सादृश्य संबंध 'प्रत्ययों के साहचर्य' के साथ-साथ 'वस्तुओं के पारस्परिक संबंध' भी है।¹

इन संबंधों में से प्राकृतिक संबंध परिवर्तनीय हैं, जबकि अन्य संबंध अपरिवर्तनीय हैं। अपरिवर्तनीय संबंध केवल प्रत्ययों की स्थिरता एवं एकरूपता पर निर्भर होते हैं। वस्तुतः ह्यूम के दर्शन में इन संबंधों की स्थापना किसी तार्किक आधार पर नहीं की गई है। अतः यह ह्यूम के दर्शन का एक अत्यंत निर्बल पक्ष है।

मानव-ज्ञान का वर्गीकरण (Classification of Human Knowledge)

ह्यूम ने मानव-ज्ञान को दो वर्गों में बाँटा है —

(1) आकारिक ज्ञान (Formal Knowledge) — इसका संबंध प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों से है। तर्कशास्त्रीय एवं गणितीय ज्ञान इसी कोटि में आते हैं। यह ज्ञान निश्चित एवं असंदिग्ध होता है। जैसे — त्रिभुज त्रिकोणात्मक होता है, दो और दो का योग चार होता है, इत्यादि कथन आकारिक ज्ञान के अंतर्गत आते हैं। उनके ज्ञान के लिए अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसे प्रागनुभविक ज्ञान कहा जाता है। चूँकि इसका संबंध वस्तु-जगत् से नहीं है, इसीलिए यह अनिवार्य एवं सार्वभौमिक होता है। गणित एक निदर्शनात्मक विज्ञान है, जो काल्पनिक प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर आधारित है। यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि ह्यूम ज्यामिति की अनुभववादी व्याख्या करता है। ज्यामिति के कथन दैशिक संबंधों को व्यक्त करते हैं और देश अनुभवगम्य विषयों की एक व्यवस्था है। आगे चलकर जे० एस० मिल ने गणितीय कथनों की अनुभववादी व्याख्या की। मिल के अनुसार गणितीय कथन आगमनात्मक सामान्यीकरण (Inductive Generalization) से प्राप्त होते हैं। तथाकथित अनिवार्य एवं सार्वभौम कथन भी प्राधिक (संभाव्य) सत्य की कोटि में आते हैं, किन्तु उनके समर्थक उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक होती है कि हमें उनका कोई अपवाद नहीं मिलता है। इसी कारण हम उन्हें अनिवार्य एवं सार्वभौम समझने लगते हैं। किन्तु मिल के विपरीत, ह्यूम ने गणितीय कथनों की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। बीसवीं शताब्दी के विश्लेषी दार्शनिकों एवं तार्किक भाववादियों ने मिल के मत का खंडन करके ह्यूम के मत का समर्थन किया। उनके अनुसार गणित के कथन विश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभाविक होते हैं। वे पुनरुक्तियाँ हैं। उनका तथ्यों से कोई संबंध नहीं है।

(2) तथ्यात्मक ज्ञान (Factual Knowledge) — इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। तथ्यात्मक ज्ञान का संबंध वस्तु जगत् से है। चूँकि यह ज्ञान इंद्रियानुभव पर आधारित होता है, इसलिए इसे सार्वभौम और अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। अनुभव के द्वारा केवल विशेषों का ही ज्ञान हो सकता है। हमारा वस्तु जगत् का ज्ञान संभाव्य या प्राधिक सत्य की कोटि में आता है। ह्यूम के अनुसार सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की स्थापना अनुभव के द्वारा नहीं हो सकती है। अतः हमारा वस्तु जगत् का ज्ञान अनिवार्य एवं सार्वभौम रूप से सत्य नहीं हो सकता है। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों की स्थापना नहीं की जा सकती है। हमारा यह विश्वास कि 'अग्नि जलाती है', 'पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति है' इत्यादि सामान्य नियमों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इनमें विश्वास का आधार आगमनात्मक सामान्यीकरण है।

आगमन की मुख्य समस्या यह है कि विशेषों के आधार पर सार्वभौम नियमों को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? दर्शनशास्त्र में इसे 'ह्यूम की समस्या' के नाम से जाना जाता है। ह्यूम के अनुसार हमारा तथ्यात्मक कथनों की अनिवार्य एवं सार्वभौम सत्ता में विश्वास कामचलाऊ, तदर्थ और मनोवैज्ञानिक है। हमारा प्राकृतिक जगत् का ज्ञान कारण-कार्य नियम पर आधारित है, किन्तु कारण-कार्य की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता भी एक मनोवैज्ञानिक विश्वास मात्र है। इस प्रकार कारण-कार्य नियम की सत्यता भी संभाव्य (प्राधिक) है। कारण-कार्य नियम के आपातिक एवं संदिग्ध होने के कारण हमारा वस्तु जगत् का ज्ञान भी अप्रामाणिक, अनिश्चित एवं संभाव्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु जगत् का ज्ञान संदेहास्पद है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि निश्चित और अनिवार्य-ज्ञान केवल विशुद्ध गणित और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में ही संभव है। समस्त तथ्यात्मक ज्ञान संभाव्य, अनिश्चित और संदेहास्पद है। ज्ञान के इन रूपों के अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञान सार्थक नहीं होता है। ह्यूम के इस मत की पुष्टि उसके इस कथन से होती है — “यदि हम धर्मशास्त्र अथवा ज्ञानमीमांसा की कोई पुस्तक लेते हैं तो हमें यह पूछना चाहिए कि क्या इसमें परिमाण या संख्या से संबंधित कोई अमूर्त चिन्तन है? नहीं। (तो पुनः प्रश्न उठता है) क्या इसमें वस्तु-तथ्य और अस्तित्व संबंधी कोई प्रायोगिक चिन्तन है? नहीं। तो इसे आग में जला दो क्योंकि इसमें कुतर्क या वितण्डा (Sophistry) और भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता है।”¹

ह्यूम के कहने का तात्पर्य यह है कि आकारिक एवं तथ्यात्मक, ये दो प्रकार के ज्ञान ही सार्थक हैं। धर्मशास्त्र एवं दैवी तत्त्वों का विवेचन करने वाले अन्य शास्त्र ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से निरर्थक और अविचारणीय हैं। गणितीय ज्ञान आकारिक और भौतिकी, मनोविज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के कथन तथ्यात्मक होते हैं। वे आनुभविक होने के कारण संभाव्य सत्य की कोटि में आते हैं। उनके असत्य होने की कल्पना करना व्याघाती नहीं है। इसके विपरीत, प्रागनुभविक कथन अनिवार्य सत्य होते हैं। उनका असत्य होना आल-व्याघाती होता है। संक्षेप में, पहले प्रकार का ज्ञान प्रागनुभविक एवं दूसरे प्रकार का ज्ञान आनुभविक होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ह्यूम के इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगे चलकर समकालिक दर्शन में विश्लेषी दार्शनिकों ने इसी आधार पर विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक एवं संश्लेषणात्मक आनुभविक कथनों में भेद किया।

कारण-कार्य संबंध का विश्लेषण

ह्यूम ने कारणता-सिद्धान्त की नये ढंग से व्याख्या की है। उसके द्वारा किया गया कारणता का विश्लेषण दर्शन-जगत् में अत्यंत विवादास्पद रहा है। कारण-कार्य संबंध की व्याख्या भौतिकी के साथ-साथ धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी एक सार्वभौम और अनिवार्य नियम के रूप में की जाती रही है। ह्यूम के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने इसी नियम के आधार पर अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना की थी। स्पिनोजा ने एक निरपेक्ष द्रव्य को जगत् के कारण के रूप में स्वीकार किया है। लॉक ने संवेदनों के कारण के रूप में जड़ तत्त्व को और बर्कले ने प्रत्ययों के कारण के रूप में आत्मा और ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। अनेक वैज्ञानिकों ने भौतिकी के क्षेत्र में इसी नियम के आधार पर विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की है। बाह्य जगत् के विषय में प्रायः समस्त ज्ञान कारण-कार्य नियम पर आश्रित हैं। वस्तुतः इसी नियम के द्वारा आगमनात्मक अनुमान भी संभव होता है। संक्षेप में दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में कारणता को वस्तु जगत् का एक सार्वभौम और अनिवार्य संबंध माना गया है। किन्तु ह्यूम ने परंपरागत रूप से प्रचलित कारणता के संप्रत्यय का खण्डन किया। उसने लॉक के जड़वाद और बर्कले के आध्यात्मवाद का खण्डन करने से पूर्व कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता के तार्किक औचित्य को चुनौती दी। वस्तुतः इसी नियम के आधार पर जड़वाद, प्रत्ययवाद, ईश्वरवाद आदि सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है।

1 If we take in our hand any volume of divinity or school metaphysics, for instance; let us ask, Does it contain any abstract reasoning concerning quantity or number? No, does it not contain any experimental reasoning concerning matter of fact and existence? No. commit it then to the flames: for it can contain nothing, but sophistry and illusion. [Quoted from 'Philosophy in Britain Today, (ed), S.G. Shankar — Hume's Enquiry Concerning Human. Understanding, p.p. 154-155.]

ह्यूम के अनुसार प्रत्येक कार्य सकारण है, इसे तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है। कारणता का सिद्धान्त कोई आकारिक संप्रत्यय नहीं, बल्कि वस्तु जगत् का एक संबंध है। अतः इसका ज्ञान प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर निर्भर नहीं है। चूँकि यह एक तथ्यात्मक अवधारणा है, इसलिए इसका ज्ञान केवल अनुभव से ही हो सकता है। कारण और कार्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, इसलिए कारणता से संबंधित प्रतिज्ञप्तियाँ संश्लेषणात्मक होती हैं। कारण और कार्य कही जाने वाली घटनाएँ तथ्यात्मक जगत् से संबंधित होती हैं। ह्यूम ने कारण-कार्य नियम के प्रचलित संप्रत्ययों की समीक्षा की है। उसके अनुसार दैशिक और कालिक समीपता को कारण-कार्य का अनिवार्य घटक नहीं कहा जा सकता है। समीपता एक दैशिक संबंध है। कुछ संवेगों और भावनाओं में कारण-कार्य संबंध की स्थापना की जाती है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि एक भावना अथवा संवेग दूसरी भावनाओं या संवेगों से दैशिक सामीप्य रखता है। अतः समीपता को कारणता का अनिवार्य घटक नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार कालिक अनुक्रम (Succession) या आनन्तर्य भी कारणता की व्याख्या नहीं कर पाता है। संसार में घटित होने वाली अनेक घटनाओं में आनन्तर्य संबंध पाया जाता है, किन्तु वे एक-दूसरे से कारणात्मक संबंध नहीं रखती हैं। दूसरे शब्दों में, दो वस्तुएँ या दो घटनाएँ एक-दूसरे के समीप और परस्पर एक-दूसरे से पूर्ववर्ती एवं अनुवर्ती होते हुए भी एक-दूसरे से कारणात्मक संबंध नहीं रखती हैं। कारणता की प्रचलित मान्यता के अनुसार कारण और कार्य कही जाने वाली घटनाओं में अनिवार्य संबंध पाया जाता है। यहाँ पर अनिवार्य संबंध का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अनिवार्यतः अपने कारण से उत्पन्न होता है। किन्तु ह्यूम कारण-कार्य संबंध के बीच अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि अनिवार्यता के प्रत्यय के अनुरूप हमें कोई संस्कार नहीं प्राप्त होता है।

प्रश्न उठता है कि यदि कारण-कार्य संबंध अनिवार्य नहीं है तो अनिवार्यता की अवधारणा कहाँ से आती है? अर्थात् हम कारण-कार्य संबंध पर अनिवार्यता का आरोपण क्यों करते हैं? ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य संबंध पर आरोपित अनिवार्यता वास्तविक नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक भावना मात्र है। ह्यूम की इस मान्यता का आधार यह है कि प्रत्येक सरल प्रत्यय संस्कारजन्य होता है। ह्यूम यह प्रश्न करता है कि कारणता के प्रत्यय के अनुरूप कौन-सा संस्कार है? क्या कारणता 'कारण' कही जाने वाली वस्तुओं अथवा घटनाओं का कोई गुण (शक्ति) है? हमें ऐसी किसी शक्ति या गुण का संस्कार नहीं प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, अग्नि का स्पर्श करने पर हमें केवल अग्नि और उसके बाद हाथ-पैर जलने का अनुभव मात्र होता है। अग्नि की किसी दाहक शक्ति का अनुभव नहीं होता है। जब कोई बालक पहली बार अग्नि का प्रत्यक्ष करता है तो उसे देखने मात्र से वह बालक यह नहीं सोचता है कि अग्नि में दाहक शक्ति है। वस्तुतः अग्नि के ज्वलनशील गुण का हमें इंद्रियानुभव होता है। किन्तु बार-बार अग्नि का स्पर्श करने और हाथ-पैर जलने से हम इन घटनाओं में कारण-कार्य संबंध की कल्पना कर लेते हैं। कोई भी व्यक्ति यह प्रमाणित नहीं कर सकता है कि कारण में कार्य को उत्पन्न करने की कोई क्षमता अन्तर्निहित है। ह्यूम के अनुसार दो घटनाओं के नियत (शाश्वत) संयोग के अतिरिक्त हमें अन्य किसी प्रकार के अनिवार्य संबंध का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार अनिवार्यता के प्रत्यय की उत्पत्ति किसी संस्कार से नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार अनेक उदाहरणों के द्वारा ह्यूम यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि कारण और कार्य में अनिवार्य संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए, मैं इच्छा करता हूँ कि

अपने दायें हाथ से कलम पकड़ लूँ। 'पहले मैं इच्छा करता हूँ' और उसके ठीक बाद 'हाथ से कलम पकड़ लेता हूँ', हमें इन दो बातों का ही अनुभव होता है। किन्तु इस अनुभव के अतिरिक्त संकल्प या इच्छा में किसी शक्ति के होने का कोई अनुभव नहीं होता है। ह्यूम के कहने का निहितार्थ यह है कि किसी इच्छा या संकल्प के द्वारा मानसिक क्रिया भले ही संपन्न हो जाए, किन्तु उसके आधार पर किसी आंतरिक शक्ति का बोध नहीं हो सकता है।

इस विश्लेषण के आधार पर ह्यूम ने कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता का निराकरण किया। चूँकि कारण में अन्तर्निहित किसी अनिवार्य शक्ति का प्रत्यय किसी अनुभव या संस्कार से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, इसलिए अनिवार्यता का प्रत्यय यथार्थ नहीं है। ह्यूम कारण और कार्य के अनिवार्य संबंध को एक काल्पनिक अथवा मनोवैज्ञानिक अवधारणा मात्र कहता है।

ह्यूम के अनुसार कारणता एक आनुभविक संबंध है। कारण-कार्य का संबंध प्रत्ययों के बीच का कोई तार्किक संबंध नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक संबंध है। अग्नि से गर्मी पैदा होती है, सर्प दंश से मृत्यु हो जाती है, वर्ष शीतल होती है इत्यादि का ज्ञान अनुभव (संस्कार) से होता है। क्या आनुभविक संस्कारों से अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों की स्थापना की जा सकती है? ह्यूम इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देता है। उसके अनुसार कारण-कार्य संबंध दो घटनाओं या वस्तुओं में पाया जाने वाला एक नियमित अनुक्रम (Regular Succession) है। जब दो घटनाओं के नियमित अनुक्रम की पुनरावृत्ति हमारे अनुभव में बार-बार होती है तो हम इसे एक अनिवार्य और सार्वभौम संबंध के रूप में स्वभावतः स्वीकार कर लेते हैं। कालक्रम की दृष्टि से कारण पहले और कार्य बाद में आता है। कभी-कभी कारण का अनुभव करने के तुरन्त बाद कार्य का अनुभव होता है तो कभी-कभी कुछ अन्तराल के बाद। इसके विपरीत कभी-कभी कारण का अनुभव करने के पर्याप्त अन्तराल के बाद कार्य का अनुभव होता है। इस प्रकार ह्यूम कारण-कार्य संबंध की अनुभववादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार कारणता हमारे प्रत्ययों का एक मनोवैज्ञानिक संबंध है, न कि तार्किक संबंध। संक्षेप में, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कारण-कार्य संबंध दो प्रत्ययों के नियमित संयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

कारणता और आगमन की समस्या — इस परिप्रेक्ष्य में, ह्यूम के द्वारा उठाई गई आगमन की समस्या भी विचारणीय है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि किस साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अग्नि कल भी जलायेगी, सूर्य भविष्य में भी पूरव में निकलेगा, कोई वस्तु ऊपर फेंकने पर सदैव नीचे गिरेगी? इत्यादि। परंपरागत रूप से इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'प्रकृति की एकरूपता' का सहारा लिया गया है। कारण-कार्य नियम और प्रकृति की एकरूपता में क्या संबंध है? यह प्रश्न विवादास्पद है। जे० एस० मिल० और बेन जैसे तर्कशास्त्री कारण-कार्य नियम को 'प्रकृति की एकरूपता' (Uniformity of Nature) का एक अंग मानते हैं, किन्तु सिगबर्ट और बोसांके कारण-कार्य नियम और प्रकृति की एकरूपता को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इनमें से कौन सा सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत है? इस विवाद में उलझना ह्यूम के द्वारा उठाई गई समस्या के लिए प्रासंगिक नहीं है। वस्तुतः प्रकृति की एकरूपता और कारण-कार्य नियम दोनों के परिप्रेक्ष्य में समस्या का स्वरूप एक ही है। 'प्रकृति की एकरूपता' का अर्थ यह है कि — 'प्रकृति समान परिस्थितियों में समान कार्य करती है।' ऐसा अतीत (Past) या भूतकाल में सदैव होता रहा है, इसलिए भविष्य में भी ऐसा ही होगा। इस संदर्भ में ह्यूम की समस्या यह है कि "अतीतकाल में प्रकृति की एकरूपता के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि भविष्य भी अतीत के समान होगा?" प्रकृति की एकरूपता

स्वयं एक प्रकार के आगमनात्मक अनुमान पर आधारित है। अतः आगमन के आधार पर इसको सिद्ध नहीं किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी सर्वव्यापी कथन या प्रतिज्ञाति (Universal Proposition) की सत्यता को उसके अंतर्गत आने वाले प्रत्येक उदाहरण की सत्यता का बिना परीक्षण किये ही स्वीकार किया जा सकता है। हम उसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वास कर सकते हैं। वास्तव में, ह्यूम आगमन की समस्या के मनोवैज्ञानिक समाधान को स्वीकार करता है। किन्तु समस्या का मनोवैज्ञानिक समाधान दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः समस्या का स्वरूप तार्किक है, किन्तु ह्यूम आगमन की समस्या के तार्किक समाधान को संभव नहीं मानता है।¹

वस्तुतः आगमन से प्राप्त ज्ञान संभाव्य सत्य की कोटि में आता है। उसके आधार पर किसी अनिवार्य संबंध का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। अतः आगमनात्मक दृष्टि से भी कारण-कार्य में किसी अनिवार्य एवं सार्वभौमिक संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, अनुभव के आधार पर कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता को तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अनुभव के द्वारा केवल वर्तमान कालिक घटनाओं को एवं स्मृति के आधार पर अतीत काल की घटनाओं को जानने का दावा किया जा सकता है। किन्तु अनुभव के आधार पर यह नहीं जाना जा सकता है कि भविष्य में घटित होने वाली घटनाएँ भी अनिवार्यतः अतीतकाल की घटनाओं के समान ही होंगी।² इस विवेचन से स्पष्ट है कि नियत संयोग और आगमनात्मक अनुमान के द्वारा हमारे मन में अनिवार्यता की एक प्रत्याशा (Expectation) उत्पन्न हो जाती है। यह एक भावना मात्र है जिसकी पुष्टि परंपरा के द्वारा होती है। यह वाद में एक विश्वास (Belief) के रूप में बदल जाती है। इसी से अनिवार्यता के प्रत्यय को बल मिलता है। ह्यूम के अनुसार कारण और कार्य कही जाने वाली घटनाएँ बार-बार घटित होती हुई दिखाई पड़ती हैं। इसीलिए हम उनमें कारण-कार्य के अनिवार्य संबंध की कल्पना कर लेते हैं।³

ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता को स्वीकार न करना अठारहवीं शताब्दी के दर्शन की एक ऐसी क्रांति है जिसका दूरगामी प्रभाव रहा है। प्रसिद्ध दार्शनिक रसल को बाध्य होकर यह कहना पड़ा कि ह्यूम का दर्शन अठारहवीं शताब्दी के तार्किक औचित्य के दिवालियापन का प्रतिनिधित्व करता है। अतः इसकी खोज करना महत्वपूर्ण है कि अनुभववादी दर्शन के अंतर्गत ह्यूम की समस्या का कोई समाधान हो सकता है अथवा नहीं? यदि ह्यूम के समान आगमनात्मक सिद्धान्त को न माना जाय तो विशेष तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य वैज्ञानिक नियमों को स्थापित करना दोषपूर्ण होगा। इस प्रकार ह्यूम के संशयवाद से कोई भी अनुभववादी बच नहीं सकता है।³⁾

ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य सिद्धान्त को एक अनिवार्य संबंध के रूप में स्वीकार न करने का प्रभाव आगे चलकर जर्मन दार्शनिक काण्ट पर पड़ा। काण्ट ने ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित कारणता की अनुभव-सापेक्ष एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणा का खण्डन किया। उसके अनुसार कारण-कार्य नियम कोई अनुभवजन्य प्रत्यय नहीं, बल्कि एक बुद्धि-विकल्प है। चूँकि कारणता एक बुद्धि-विकल्प है, इसलिए यह स्वरूपतः प्रागनुभविक संप्रत्यय है। इसे मनोवैज्ञानिक विश्वास नहीं माना जा सकता है। यद्यपि

1 Problems of Justifying Inductive Inference, Essays in Analysis, (Ed.) Elice Ambrose, p. 182-185.

2 विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पृ० 183-186.

3 A History of Philosophy, Russell p. 698.

काण्ट भी यह स्वीकार करता है कि कारण-कार्य संबंध हमारे वस्तु-जगत् के ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण है, तथापि वह कारणता को आनुभविक अथवा मनोवैज्ञानिक संबंध नहीं मानता है। दूसरे शब्दों में, ह्यूम कारणता को अनुभव-सापेक्ष और काण्ट उसे एक अनुभव-निरपेक्ष अवधारणा मानता है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित कारणता की अवधारणा अनुभववाद का तार्किक परिणाम है जो अनुभववादी मताग्रहों पर आधारित है। इसके विपरीत, काण्ट की कारणता-विषयक मान्यता बुद्धिवादी है। वह अनुभववाद के अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करके उसका खण्डन करता है। वास्तव में ह्यूम अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को उसके तार्किक निष्कर्ष संशयवाद तक पहुँचा देता है। ह्यूम कारण-कार्य नियम में अविश्वास नहीं करता है, बल्कि वह केवल कारणता की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के तार्किक औचित्य को चुनौती देता है। अतः यह कहना कि ह्यूम कारणता को नहीं मानता है, एक भूल है। वस्तुतः वह कारण-कार्य के नियम का एक नये तरीके से विश्लेषण करता है। उसके द्वारा कारण-कार्य नियम की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के निषेध का निहितार्थ केवल यह है कि इसे अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है।)

द्रव्य का निराकरण

ह्यूम के पूर्ववर्ती दार्शनिक लॉक ने संवेदनों के स्रोत के रूप में जड़ द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया। जड़ द्रव्य के साथ-साथ उसने आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिपादन किया। लॉक के दर्शन में जड़ द्रव्य अनुमान का विषय है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। इसके विपरीत बर्कले ने अनुभववाद को स्वीकार करते हुए जड़ द्रव्य की सत्ता का निराकरण कर दिया। उसके अनुसार हमारा अनुभव संवेध गुणों तक ही सीमित है। वह संवेध प्रत्ययों के आश्रय ज्ञाता आत्मा और ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करता है। इस संदर्भ में बर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। लॉक और बर्कले के विपरीत ह्यूम किसी भी तत्त्व की सत्ता को नहीं स्वीकार करता है। वह जड़ द्रव्य के साथ-साथ आत्मा और ईश्वर की सत्ता का भी खंडन करता है। ह्यूम के अनुसार हम बाह्य जड़ द्रव्य की सत्ता को संवेदनों के कारण के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते हैं। कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता को न तो तर्कबुद्धि के आधार पर और न इन्द्रियानुभव के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। मन में प्रत्यक्षों के अतिरिक्त अन्य कोई चीज प्रतीत नहीं हो सकती है। यदि हम जड़ द्रव्य से मूलगुणों एवं उपगुणों को हटा दें तो वह एक अज्ञात और अवर्णनीय 'कुछ नहीं' अथवा असत् (Nothing) रह जाता है। इस अज्ञात जड़द्रव्य का कोई अर्थ नहीं रह जाता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। कारणात्मक अनुमान के द्वारा हम संवेदनाओं से बाह्य जड़ द्रव्य का अनुमान नहीं कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके आधार पर संवेदनाओं की उत्पत्ति अज्ञात जड़ द्रव्य अथवा चेतन आत्मा एवं परमात्मा के द्वारा मानी जा सके। हमारी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ सामान्यतः आती हैं और जाती हैं, किन्तु इन अनुभूतियों से परे किसी अतीन्द्रिय तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है। ह्यूम के अनुसार हम अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही इन्द्रियों पर विश्वास करते हैं। बिना किसी सम्यक् चिंतन अथवा ज्ञान के ही हम बाह्य जगत् के अस्तित्व में विश्वास करने लगते हैं। हम अपने संस्कार एवं प्रत्यय के द्वारा किसी प्रकार के द्रव्य का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार रूप, स्वाद, स्पर्श, गंध आदि के संवेदनों के द्वारा द्रव्य का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। यदि द्रव्य की प्रतीति आँखों से होती तो उसका कोई रूप होता। यदि उसकी प्रतीति जिह्वा से होती तो उसका कोई स्वाद होता, इत्यादि। किन्तु

कोई भी व्यक्ति द्रव्य को न तो रूपवान, न स्वाद से युक्त और न शब्द से युक्त मानता है। इसी प्रकार स्वसंवेदनों एवं उनके संस्कारों से भी द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि स्वसंवेदन संस्कार एक भावना (मनोवेग) है। इस प्रकार ह्यूम का दावा है कि द्रव्य का ज्ञान आंतरिक अनुभूतियों, संवेगों और भावनाओं से नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य का प्रत्यय काल्पनिक है।¹

ह्यूम के अनुसार प्रत्येक वस्तु विभिन्न गुणों का संघात मात्र है। रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि गुणों का अनुभव करने पर हम इन सब गुणों के समूह को ही द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य को ही विभिन्न गुणों का आश्रय मान लिया जाता है। किन्तु संवेद्य गुणों के अतिरिक्त किसी गुणी की सत्ता को मानने का कोई तार्किक आधार नहीं है। अतः द्रव्य की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तर्कबुद्धि के आधार पर द्रव्य संबंधी विश्वासों का परित्याग करना ही समीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में, हमारे मन में एक सहज प्राकृतिक विश्वास है जो द्रव्य में विश्वास करने की प्रेरणा प्रदान करता है। किन्तु तार्किक दृष्टि से मानव-मन संशयग्रस्त हो जाता है, अर्थात् तर्कबुद्धि के आधार पर बाह्य जगत् में विश्वास युक्तिपूर्ण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति इस जगत् में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हम बाह्य जगत् में विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

आत्मा का निराकरण

दर्शन-जगत् में आत्मा की अवधारणा एक अभौतिक द्रव्य के रूप में की गई है। अनेक दार्शनिक आत्मा को हमारे अनुभवों का आश्रय, ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता इत्यादि मानते हैं। समस्त ज्ञान, अनुभव एवं प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। किन्तु ह्यूम आत्मा संबंधी इन सभी सिद्धान्तों को चुनौती देता है। उसके अनुसार अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत किसी ऐसे आत्म-तत्त्व के अस्तित्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता है, जो इन्द्रियानुभव-से परे है। बर्कले ने जड़ तत्व का निराकरण करने के लिए जिन तर्कों का सहारा लिया था, ह्यूम ने उन्हीं तर्कों के आधार पर आत्मा के अस्तित्व का निराकरण किया। यदि अज्ञात भौतिक द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है तो आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो सकता है? हम अभौतिक, नित्य और अविभाज्य आध्यात्मिक द्रव्य को कैसे जान सकते हैं? उल्लेखनीय है कि अनुभववादी होते हुए भी बर्कले ने आत्मा को साक्षात् अनुभूति (अन्तर्बोध) का विषय मान लिया। इस मत का खण्डन करते हुए ह्यूम कहता है — 'जो दार्शनिक यह दावा करते हैं कि उन्हें आत्मा के प्रत्यय की प्रतीति होती है, उन्हें यह बताना चाहिए कि आत्मा का प्रत्यय संवेदन अथवा स्वसंवेदन इनमें से किस संस्कार से मिला है? प्रश्न उठता है कि यह सुख रूप है अथवा दुःख रूप है अथवा सुख और दुःख दोनों से तटस्थ रूप है? पुनश्च आत्मा नित्य है अथवा अनित्य है? ह्यूम के अनुसार इन्द्रियानुभव के आधार पर इन प्रश्नों का कोई सार्थक उत्तर नहीं दिया जा सकता है। कुछ दार्शनिक यह दावा करते हैं कि उन्हें आत्मा की प्रत्येक समय जीवंत अनुभूति होती है अथवा उन्हें आत्मा की सत्ता का साक्षात् ज्ञान होता है। ह्यूम के अनुसार ये सारी मान्यताएँ भ्रामक और रूढ़िवादी हैं।

इस संदर्भ में ह्यूम का यह कथन प्रसिद्ध है — 'मैं जब-जब इस (तथाकथित) आत्मा का अनुभव करने के लिए इसके अंदर गहराई से प्रवेश करता हूँ, तब-तब किसी न किसी संस्कार अथवा

प्रत्यय से टकराकर रह जाता है। ये संवेदनाएँ अथवा प्रत्यय गर्मी-ठण्डी, प्रकाश-छाया, प्रेम-मृणा आदि से संबंधित होते हैं।¹ ह्यूम के कहने का निहितार्थ यह है कि आत्मा की प्रतीति किसी संवेदन अथवा स्वसंवेदन एवं उनसे उत्पन्न प्रत्ययों के द्वारा नहीं हो सकती है। वस्तुतः आत्मा की एकता, सरलता आदि में विश्वास भ्रामक है। हमें संस्कारों और प्रत्ययों के अतिरिक्त उनसे परे किसी अन्य तत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती है। विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों अथवा संस्कारों के न होने पर आत्मा नामक किसी तत्त्व का हमें कोई अनुभव नहीं होता है। यदि मृत्यु के द्वारा मेरे समस्त संस्कार और प्रत्यय नष्ट कर दिये जायें तो मैं (अर्थात् आत्मा) पूर्ण रूप से असत् हो जाता हूँ। ह्यूम के अनुसार, संवेदनों, स्वसंवेदनों एवं उनके प्रत्ययों के समूह के अतिरिक्त उनके आश्रय के रूप में किसी स्थिर, नित्य और कूटस्थ आत्मा की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि बर्कले ने जड़ द्रव्य का विश्लेषण प्रत्ययों के रूप में किया था, अर्थात् लॉक का तथाकथित जड़ द्रव्य प्रत्ययों का संघात मात्र है। किन्तु ह्यूम ने बर्कले की इस युक्ति के आधार पर आत्मा को भी संवेदनों या संस्कारों एवं प्रत्ययों के पुंज के रूप में विघटित कर दिया। इन संवेदनों के समूहों के अतिरिक्त उसके आश्रय के रूप में किसी आध्यात्मिक द्रव्य को मानने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार आत्मा संस्कारों एवं प्रत्ययों अथवा परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अनुभव के आधार पर क्षणिक संस्कारों एवं प्रत्ययों के आश्रय के रूप में किसी कूटस्थ एवं नित्य आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। वह विभिन्न अनुभूतियों को समन्वित करने वाली एक इकाई के रूप में आत्मा की सत्ता का खण्डन करता है।

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा नाम की कोई स्थिर इकाई नहीं है तो एक नित्य, स्थिर और अपरिणामी आत्मा की अवधारणा कैसे की जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में ह्यूम कहता है कि परिवर्तनशील संस्कारों एवं प्रत्ययों के तीव्र और अविच्छिन्न प्रवाह (Constant flux) के कारण आत्मा की एकता का भ्रम पैदा हो जाता है। जिस प्रकार बहती हुई नदी के जल-कण (जल की बूँदें) पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु जल के तेज प्रवाह के कारण हमें उसमें एकता और स्थायित्व दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा की स्थिरता भी एक कल्पनाजन्य भ्रान्ति है। स्मृति के द्वारा हमें प्रत्यक्षों के अनुक्रम अथवा आनन्तर्य की अविच्छिन्नता (Continuity) का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अनात्मवादी बौद्धों ने आत्मा की उपमा दीप-शिखा एवं जल-प्रवाह से दी है। ह्यूम के समान बौद्ध भी आत्मा को परिवर्तनशील एवं क्षणिक चित्तवृत्तियों का प्रवाह मानते हैं। ह्यूम के अनुसार आत्मा की एकता की भ्रान्ति का कारण हमारी कल्पना है। हमारे प्रत्ययों में समानता और सुसंगति पाई जाती है जिसे भ्रमवश तादात्म्य और निरन्तरता समझ लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्ययों के शाश्वत प्रवाह को भूल से एक नित्य तत्त्व मान लिया जाता है। किन्तु यह भ्रम कैसे उत्पन्न होता है? ह्यूम के अनुसार इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। वस्तुतः कारण-कार्य नियम के समान आत्मा की एकता भी प्रत्ययों के अनुक्रम तथा अविच्छिन्नता से उत्पन्न एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा मात्र है।

इस दृष्टि से आत्मा एक नाम है, किन्तु इस नाम के अनुरूप प्राकृतिक जगत् में कोई वस्तुसत् तत्त्व नहीं है। आत्मा की सरलता और स्थायित्व का खण्डन करते हुए ह्यूम आत्मा की उपमा एक ऐसे थियेटर (रंगशाला) से करता है जहाँ अनेक प्रत्यक्ष बार-बार आते-जाते रहते हैं। ये प्रत्यक्ष अनंत

1. "When I enter most intimately into what I call myself, I always stumble on some particular perception or the other, or heat or cold, light or shade, love or hatred, pleasure or pain. I never catch myself at any time, without a perception and never observe any things, but the perception." — Hume's Treatise, p. 252.

स्थितियों और मुद्राओं में मिलते हैं, किन्तु हम न तो उस स्थान को जान सकते हैं जहाँ ये दृश्य (Scenes) हैं और न हम उन तत्त्वों को जानते हैं जिनसे आत्मा की रचना हुई है।¹

इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार आत्मा प्रत्यक्षों की एक प्रवाहमान शाश्वत धारा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ह्यूम के दर्शन की एक अन्य समस्या यह है कि यदि कोई नित्य आत्मा नहीं है तो वैयक्तिक अनन्यता (Personal Identity) की व्याख्या कैसे की जा सकती है? ह्यूम के अनुसार हमारे संस्कारों एवं प्रत्ययों का कोई स्वामी नहीं है। अंतर्निरीक्षण (Introspection) से भी किसी कूटस्थ, नित्य तथा संस्कारों के आश्रयरूपी आत्मा का ज्ञान नहीं होता है। ह्यूम के इस मत को 'अ-स्वामित्व-सिद्धान्त' (No ownership theory) के नाम से जाना जाता है। उसके अनुसार वैयक्तिक अनन्यता (व्यक्तिगत पहचान) केवल एक काल्पनिक विचार है। यह हमारे संस्कारों और प्रत्ययों के साहचर्य से उत्पन्न होता है। वह आत्मा की उपमा एक ऐसे गणराज्य से देता है जिसमें सभी सदस्य शासक और शासित हैं। वस्तुतः ह्यूम प्रत्ययों का अधिरचनात्मक विश्लेषण (Superstructural analysis) प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत सभी प्रत्यय समान स्तरीय हैं। इसका प्रारंभ लॉक ने किया था, जिसकी पराकाष्ठा ह्यूम का दर्शन है। सैमुअल अलेक्जेंडर ने आलंकारिक भाषा में इसे 'प्रत्ययों का प्रजातंत्र' (Democracy of Ideas) कहा है। प्रत्ययों के इस प्रजातंत्र में ऊँच-नीच का भेद नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा भी संस्कारों और प्रत्ययों के शाश्वत प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अलेक्जेंडर के इस मत की पुष्टि ह्यूम के इस कथन से भी होती है — "मैं आत्मा की तुलना एक गणराज्य के अतिरिक्त अन्य किसी चीज से उपयुक्त ढंग से नहीं कर सकता हूँ, जिसमें सभी सदस्य शासक और शासित के पारस्परिक बंधनों से जुड़े हुए हैं।"²

इस उद्धरण में ह्यूम के कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की एकता प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर निर्भर है। ये संबंध कारणता और सादृश्य के द्वारा एकता को उत्पन्न करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार वैयक्तिक अनन्यता कारणात्मक संबंध के द्वारा संपन्न होती है। आत्मा की इस अवधारणा के अंतर्गत आत्मा की अमरता का प्रश्न ही नहीं उठता है। मृत्यु के बाद संस्कारों और प्रत्ययों के प्रवाह के समाप्त हो जाने पर कुछ भी शेष नहीं बचता है। अतः मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व असंभव है। इस संदर्भ में बॉसवेल के द्वारा पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में ह्यूम का यह कथन प्रसिद्ध है — 'यह संभव है कि आग पर रखने से कोयला का टुकड़ा न जले,' इस कथन का निहितार्थ यह है कि यदि मृत्यु के बाद कारणात्मक संबंध आज के समान ही है, तो मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता है। इस प्रकार ह्यूम के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का निराकरण पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी घटना है। उसके बाद ह्यूम से प्रभावित होकर विलियम जेम्स और रसल ने भी आत्मा की एकता का आधार सादृश्य और वैयक्तिक अनन्यता का आधार स्मृति को माना। विलियम जेम्स ने आत्मा के सक्रिय एवं चयनात्मक पक्ष पर बल देते हुए उसे चेतना के शाश्वत प्रवाह के रूप में ग्रहण किया। यद्यपि जेम्स का मत ह्यूम के मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद से भिन्न है, तथापि वह ह्यूम से प्रभावित है। रसल के अनुसार आत्मा एक तार्किक गल्प (Logical fiction) है।

1 They are the successive perceptions only that constitute the mind, nor have we the most distant notion of the place where these scenes are represented, nor of the materials of which it is composed; — Treatise 1/4/6/.

2 I cannot compare the soul more properly to anything than to republic or common-wealth in which the several members are united by reciprocal ties of government and subordination and give rise to other persons who propogate the same republicTreatise on Human Nature. 1/4/5,

आत्मवाची पदों का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से उपयोगी होता है क्योंकि इन पदों को किसी वाक्य के उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक ए० जे० एयर एवं अन्य तार्किक भाववादियों ने भी आत्मा की परंपरागत अवधारणा का खण्डन किया। यद्यपि इन दार्शनिकों के द्वारा आत्मा के निराकरण के लिए अपनायी गयी पद्धति ह्यूम के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद की मान्यताओं से भिन्न है, तथापि इन सब के मूल में ह्यूम के दर्शन की महती प्रेरणा रही है।

ह्यूम के द्वारा किया गया आत्मा का निराकरण कटु आलोचना का विषय रहा है। वह आत्मा को ज्ञान के अन्य विषयों के समान ही एक विषय के रूप में जानने का प्रयास करता है। यदि आत्मा को क्षणिक प्रत्ययों एवं संस्कारों का पुंज माना जाय तो किसी चैतन्य की एकता के अभाव में स्मृति (memory) और प्रत्यभिज्ञा (recognition) की व्याख्या नहीं की जा सकती है।¹ क्षणिक चित्तवृत्तियों के प्रवाह के रूप में आत्मा को मानने से किये हुए कर्म का नाश एवं न किये हुए कर्म का भोग करना पड़ेगा। इससे भव, मोक्ष और स्मृति-भंग का प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार टी० एच० ग्रीन, केयर्ड आदि ने ह्यूम के द्वारा मान्य संस्कारों एवं प्रत्ययों के प्रवाह रूप (पुंज) आत्मा के द्वारा स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा को असंभव माना है। यदि आत्मा को संस्कारों एवं प्रत्ययों का प्रवाह माना जाय, तो अनुक्रम की चेतना का ज्ञान नहीं हो सकता है। यद्यपि ह्यूम ने इसकी व्याख्या कल्पना (imagination) के आधार पर करने का प्रयास किया है, तथापि इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि वैयक्तिक अनन्यता को कल्पना का खेल (कल्पनाजन्य) माना जाय तो प्रश्न उठता है कि बुद्धि में इसकी कल्पना कैसे उत्पन्न हुई? क्या कल्पना का स्रोत संस्कारों में ढूँढा जा सकता है? यदि कल्पना की उत्पत्ति संस्कारों से मानी जाय तो संस्कार जनित कल्पना, कल्पना नहीं रह जायेगी। इससे कल्पना और प्रत्यक्ष का भेद समाप्त हो जाता है। यदि कल्पना का स्रोत किसी अन्य चीज को माना जाय तो यह ह्यूम के अनुभववाद के विरुद्ध होगा। ह्यूम समस्या को टालने के लिए वैयक्तिक अनन्यता को काल्पनिक मान लेता है। वास्तव में, ह्यूम यह स्वीकार करता है कि हम उन तत्त्वों को नहीं जान सकते हैं जिनसे आत्मा रचित है। इससे स्पष्ट है कि किसी नित्य एवं शाश्वत इकाई के बिना अस्त-व्यस्त एवं परमाणविक संस्कारों एवं प्रत्ययों को एकता के सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता है। किन्तु बिना किसी एकता के सूत्र में बँधे हुए ह्यूम के द्वारा मान्य संस्कार और प्रत्यय ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त बिना किसी विषयी के इनकी विषयता असंभव है।

वस्तुतः आत्मा ही समस्त विषय-ज्ञान अर्थात् प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की तार्किक प्रापेक्षा (Logical Presupposition) है। प्रो० एस० सी० मुकर्जी के अनुसार आत्मा को अनुभवजन्य विषय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। उन्होंने इसे 'अतीन्द्रिय विस्थापन-दोष' (The fallacy of Transcendental Dislocation) कहा है।² टी० एच० ग्रीन के अनुसार अतीत (Past), वर्तमान एवं भविष्य काल की अनुभूतियों को संबंधित करने वाले एक शाश्वत सिद्धान्त के अभाव में स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं की जा सकती है। वस्तुतः ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षों का पुंज भी ज्ञान का एक विषय मात्र है। केवल क्षणिक संस्कारों एवं प्रत्ययों के प्रवाह को

1 इसी प्रकार बीडों के अनात्मवाद का खण्डन अद्वैतवेदान्तियों एवं जैनियों ने भी किया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने बीडों के अनात्मवाद का खण्डन करते हुए कहा है —

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।

उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन् अहो! महासाहसिकापरस्ते ।।

2 Self, Thought and Reality. p. 288-289 and 305..

मानने से लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता है। अतः किसी विषय के ज्ञान के लिए एक ज्ञाता (आत्मा) की सत्ता को स्वीकार करना तर्कतः अनिवार्य हो जाता है। वास्तव में, लॉक के द्वारा आत्मा को ज्ञान से रहित एक द्रव्य मान लेने की भूल का ही तार्किक परिणाम ह्यूम का अनात्मवाद है। लॉक के द्वारा मान्य ज्ञान से रहित अभौतिक द्रव्य आत्मा का एक विषय मात्र है। इसीलिए आगे चलकर काण्ट, हेगल एवं नव्य-हेगलवादियों ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप मान लिया। इससे सिद्ध होता है कि ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित आत्मा की दोषपूर्ण अवधारणा अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का ही तार्किक परिणाम है।

ईश्वर का निराकरण

ह्यूम की अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत बौद्धिक सृष्टिमीमांसा और बौद्धिक मनोविज्ञान के साथ-साथ बौद्धिक धर्मशास्त्र (Rational Theology) की स्थापना असंभव है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनेक तर्क दिये हैं। ह्यूम के अनुसार अनुभव के आधार पर ईश्वर को जाना नहीं जा सकता है। यद्यपि अनेक लोग ईश्वर में श्रद्धा रखते हैं, तथापि तथाकथित ईश्वर की सत्ता अनुभव का विषय नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप, गुण, शक्ति तथा प्रयोजन के विषय में कुछ नहीं प्रदर्शित किया जा सकता है। वस्तुतः मानव-बुद्धि ईश्वर से संबंधित समस्याओं का उत्तर देने में असमर्थ है।

ह्यूम ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली परंपरागत युक्तियों का खण्डन किया है। इस दृष्टि से वह काण्ट का पूर्वगामी है। सत्तामूलक तर्क का खण्डन करते हुए ह्यूम कहता है कि किसी वस्तु के अस्तित्व को उस वस्तु के प्रत्यय के द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्ययों के विश्लेषण से केवल प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ही ज्ञान हो सकता है। ह्यूम की ज्ञानमीमांसा में इसे (प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान) आकारिक ज्ञान की कोटि में ही रखा जा सकता है। इसका वास्तविक तथ्यों से कोई संबंध नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर आधारित अनुमान (आकारिक ज्ञान) किसी वस्तु की यथार्थ सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता है। अतः किसी वस्तु के प्रत्यय के आधार पर उसके यथार्थ अस्तित्व को नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

ह्यूम के अनुसार कारणतामूलक अथवा सृष्टिमूलक युक्ति के आधार पर भी ईश्वर के अस्तित्व को नहीं सिद्ध किया जा सकता है। सृष्टि के प्रारंभिक कारण के रूप में ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। हम ईश्वर पर पूर्णता और असीमित होने का विशेषण आरोपित कर देते हैं, किन्तु विश्व को कार्य मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि इस विश्व रूपी कार्य का कारण ईश्वर ही होगा। ह्यूम के अनुसार, चूँकि हमें ईश्वर के गुणों एवं चमत्कारों का अनुभव नहीं हो सकता है, इसलिए अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः संस्कारों से परे ईश्वर के प्रत्यय को वास्तविक नहीं कहा जा सकता है।

विश्व की भौतिक व्यवस्था, सौन्दर्य और सामंजस्यपूर्ण प्राकृतिक व्यापारों के आधार पर भी ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इसे दर्शन के क्षेत्र में प्रयोजन मूलक तर्क कहा जाता है। इस तर्क का खण्डन करते हुए ह्यूम कहता है कि जब तक दो चीजों में समानता न हो, तब तक हम अनुमान की वैधता को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते हैं। संपूर्ण विश्व की व्यवस्था का सादृश्य किसी महल, जहाज एवं यंत्र (Machine) से करना एक दूषित साम्यानुमान है। किसी मकान को देखकर यह कहा जा सकता है कि उसका कोई निर्माता है, किन्तु संपूर्ण विश्व के निर्माता का अनुमान भवन-निर्माता की समानता के आधार पर कैसे लगाया जा सकता है? वस्तुतः एक भवन और संपूर्ण विश्व में पर्याप्त अंतर है। अतः ह्यूम ने इस असमानता के आधार पर साम्यानुमानिक

युक्ति को अस्वीकार कर दिया। वास्तव में, मानवारोपित गुणों के आधार पर ईश्वरीय गुणों का अनुमान करना मनुष्य की कल्पना मात्र है। यहाँ तक कि यह विश्व भी अपूर्ण है। यदि विश्व को पूर्ण भी माना जाय तो इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि विश्व (कार्य) की समस्त विशेषताएँ उसके कारण (ईश्वर) में अनिवार्यतः निहित हैं। ह्यूम के अनुसार यदि विश्व की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था के आधार पर ईश्वर का अनुमान किया जाय तो यह एक सीमित और अपूर्ण सत्ता का ही अनुमान हो सकता है। अतः ह्यूम के अनुसार किसी सीमित कार्य की रचना के लिए एक असीमित कारण को मानने का कोई औचित्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त साम्यानुमान का निराकरण करते हुए ह्यूम कहता है कि विश्व की रचना और एक भवन की रचना में सादृश्य को माना भी जाय तो हम एक ऐसी विसंगति में उलझ जाते हैं जिसका कोई भी समाधान नहीं मिल सकता है। किसी भवन की रचना के लिए अनेक कारीगरों और मजदूरों (अर्थात् अनेक मनुष्यों) की आवश्यकता होती है। प्रश्न उठता है कि क्या इस विश्व की रचना के लिए भी अनेक ईश्वरों (Gods) की आवश्यकता का अनुमान नहीं किया जा सकता है? वस्तुतः इस साम्यानुमान के आधार पर अनेक ईश्वरों को जगत् की व्यवस्था का नियामक और रचनाकार माना जा सकता है। स्पष्ट है कि अनेक ईश्वरों की मान्यता तर्कतः दोषपूर्ण है। ह्यूम ने नैतिक तर्क के आधार पर ईश्वर की सत्ता को मानने से इनकार किया है। हम ऐसी सत्ता का अनुमान नहीं लगा सकते हैं जिसमें मनुष्य के सदृश नैतिक गुण हों। विश्व में सुख की अपेक्षा अधिक दुःख एवं संताप का होना यह सिद्ध करता है कि या तो ईश्वर करुणामय (Merciful) नहीं है अथवा वह सर्वशक्तिमान नहीं है। विश्व में व्याप्त अशुभ ईश्वर की दयाशीलता और सर्वशक्तिमत्ता का निषेध करने के लिए पर्याप्त है। अतः ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क और उसमें अनेक सदगुणों का आरोपण मनुष्य के मन की कल्पना मात्र है। हमारा अनुभव सीमित, अपूर्ण और संदिग्ध होता है। अतः अनुभव के आधार पर ईश्वर के बारे में कोई निश्चित एवं निर्णायक निष्कर्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः ईश्वर में आस्था, सत्य के प्रति निष्ठा, सृष्टि की रचना को प्रयोजनपूर्ण मानना इत्यादि मनुष्य के सुख की आकांक्षा, भविष्यकालिक दुःख के भय, मृत्यु की विभीषिका का भय एवं भूख, प्यास, अन्न-जल आदि आवश्यकताओं पर आश्रित हैं। धार्मिक मान्यताओं को मनुष्य अपने अनुभव एवं बुद्धि के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकता है। अतः अनुभववाद हमें संशयवाद की ओर ले जाता है।

संशयवाद (Scepticism)

ह्यूम के संशयवाद पर विचार करने से पूर्व 'संशयवाद' के स्वरूप को समझना उपयोगी होगा। परंपरागत रूप से संशयवादी की पहचान एक ऐसे व्यक्ति के रूप में की गयी है जो किसी चीज को असंदिग्ध और निश्चायक रूप में जानने से इनकार करता है। उग्र संशयवाद के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान असंभव है। ऐतिहासिक दृष्टि से जार्जियस और प्रोटागोरस को संशयवाद का आदि प्रवर्तक माना जा सकता है। व्यवस्थित संशयवाद एक हेल्नेस्टी घटना है। इसका प्रतिनिधित्व एलिया के पायरो एवं एनेसिडेमस-सम्प्रदाय करते हैं। यद्यपि संशयवादी तार्किक बहस में भाग ले सकता है, तथापि वह किसी सिद्धान्त को तार्किक दृष्टि से निश्चित नहीं मानता है। जिस प्रकार किसी सिद्धान्त के पक्ष में तर्क दिया जा सकता है, उसी प्रकार उसके विपक्ष में भी तर्क दिया जा सकता है। उग्र संशयवाद के अनुसार किसी सिद्धान्त की प्रायिकता (सत्य होने की संभावना) भी तर्कतः सिद्ध नहीं की जा सकती है। ऐसा संशयात्मा एक उभयतोपाश की स्थिति में फँसा रहता है। वह कोई स्पष्ट

निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार का संशयवाद किसी प्रकार की दार्शनिक स्वीकृति नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि कोई संशयवादी यह दावा भी नहीं कर सकता है कि वह हमेशा संशयवादी ही रहेगा। इस दृष्टि से संशयवाद एक तदर्थ (Ad-hoc), कामचलाऊ और अस्थायी विचारधारा है।¹ किन्तु ह्यूम का संशयवाद इस प्रकार के उग्र संशयवाद से भिन्न है।

दर्शन-जगत् में ह्यूम के संशयवाद को अनुभववाद का तार्किक परिणाम माना जाता है। वस्तुतः वह लॉक और बर्कले की अपेक्षा अधिक सक्षम और युक्तिसंगत तर्कशास्त्री है। यदि ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियानुभव को ही स्वीकार किया जाय तो वस्तुओं के आंतरिक स्वरूप का ज्ञान असंभव हो जायेगा। इन्द्रियानुभव के आधार पर केवल भौतिक जगत् के बाह्य स्वरूप का सतही ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। हमारा ज्ञान केवल वर्तमान काल और विशेष वस्तुओं एवं घटनाओं तक ही सीमित है। उसमें सार्वभौमिकता और अनिवार्यता की स्थापना नहीं की जा सकती है। भूतकालीन घटनाओं एवं तथ्यों के ज्ञान का आधार स्मृति है। किन्तु स्मृति सदैव सत्य नहीं होती है। अतः स्मृति के द्वारा निश्चायक ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती है। बीजगणित और अंकगणित संबंधी कथनों के निश्चायक और अनिवार्य होने का कारण यह है कि वे वस्तु जगत् से संबंधित नहीं हैं। वे प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों पर आश्रित होते हैं। उनका निषेध करना आत्मव्याघाती होता है। उदाहरण के लिए, दो और दो का योग चार ($2+2=4$) नहीं होता है, यह कथन आत्म-व्याघाती है। गणित संबंधी कथन इकाई के स्पष्ट प्रतिमान पर आधारित होते हैं। हम अपनी बुद्धि की तार्किक शक्ति और तर्क-प्रक्रिया पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि हमारी बुद्धि ने गणित एवं तर्कशास्त्र के नियमों का यथोचित रूप से पालन किया ही हो। यदि यह कहा जाय कि निरीक्षण एवं परीक्षण (Observation and Experiment) की पद्धति का प्रयोग करके गणितीय नियमों की जाँच की जा सकती है तो भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। निरीक्षण एवं परीक्षण की आगमनात्मक पद्धति केवल प्रायिक या संभाव्य सत्य प्रदान कर सकती है।

इसी प्रकार वस्तु-तथ्य के विषय में भी हमारा ज्ञान निश्चायक या निर्णयक रूप से सत्य नहीं हो सकता है। हमें भौतिक जगत् के विषय में भी पूर्ण सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रायिकता (Probability) में अनिश्चितता (Uncertainty) की कुछ मात्रा विद्यमान होती है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ह्यूम ज्ञान को पूर्ण निश्चितता के अर्थ में लेता है। जो कथन संभाव्य हैं, वे केवल विश्वास के विषय हैं। हम भौतिक जगत् में केवल विश्वास कर सकते हैं, किन्तु इस विश्वास को तर्क-प्रक्रिया के द्वारा असंदिग्ध रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। किसी अनुभव की अनेक बार पुनरावृत्ति होने से उसके प्रति हमारे मन में विश्वास उत्पन्न हो जाता है। ह्यूम के अनुसार आगमनात्मक तर्क-पद्धति की प्रामाणिकता को तर्कबुद्धि और अनुभव के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। उस पर आश्रित हमारे विश्वास अंधविश्वासों से भिन्न नहीं है। ये विश्वास मनोवैज्ञानिक हैं। बुद्धि और अनुभव के आधार पर बाह्य जगत् में हमारा विश्वास दोषपूर्ण और भ्रामक होता है।²

प्रश्न उठता है कि यदि बाह्य जगत् के विषय में हमारा विश्वास त्रुटिपूर्ण और भ्रान्त है, तो क्या हमें अपने विश्वासों और तर्कों को छोड़कर बाह्य जगत् की सत्ता का निराकरण करना चाहिए? बाह्य जगत् हमारी कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है, इसलिए हम बाह्य जगत् में अपने विश्वास का परित्याग नहीं कर सकते हैं। एक ओर-जगत् में हमारा विश्वास सहज और स्वाभाविक है, किन्तु

1 Scepticism, Arne Naess, p. 29.

2 Fundamentals of Philosophy, p. 253-62..

दूसरी ओर हम जगत् के विषय में चाहे जिस तरह विचार करें, उसका ज्ञान संभव नहीं प्रतीत होता है। सम्पूर्ण तथ्यात्मक ज्ञान प्रायिक, अनिश्चित और इसलिए संशयग्रस्त होता है। हम के अनुसार किसी विषय पर गंभीर चिन्तन करने से संशय बढ़ता ही जाता है। इसलिए असावधानी और किसी विषय पर ध्यान न केन्द्रित करना (Carelessness and Inattention) ही संशयवाद का एकमात्र उपचार है।¹

किन्तु हम का संशयवाद उग्र संशयवाद नहीं है। वह मानव के ज्ञान-शक्ति की असमर्थता की अपेक्षा उसकी सीमा पर बल देता है। वह आत्यंतिक संशयवाद का परित्याग कर देता है क्योंकि वह जर्जियस एवं पायरो के समान ज्ञान को असंभव नहीं मानता है। तथ्यात्मक ज्ञान जो कारणात्मक संबंध पर आधारित है, अनुभविक होता है। ऐसा ज्ञान अनिवार्य नहीं, बल्कि संभाव्य होता है। ऐसा ज्ञान भले ही सत्य हो, किन्तु इसे अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। जैसे — 'अग्नि पर काँज का दुकड़ा रखने से वह जल जाता है' यह कथन यदि असत्य भी हो जाए तो कोई व्याघात नहीं हो सकता है। आत्मा, जगत् और ईश्वर में विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं हो सकता है। वास्तव में, हम का संशयवाद 'शास्त्रीय संशयवाद' (Academic scepticism) है। इससे हमारे चिन्तन और दृष्टिकोण में निष्पक्षता आती है। हम अनेक प्रकार के अंधविश्वासों एवं पूर्वाग्रहों से बच जाते हैं। वह पायरोवाद या आत्यन्तिक संशयवाद को एक दुराग्रह कहता है। हम कुछ विश्वासों को तार्किक मानता है, जो भावात्मक विश्वासों से भिन्न होते हैं। बाह्य जगत् के अस्तित्व और कारणता में विश्वास प्राकृतिक (सहज) है। इन दोनों विश्वासों के अतिरिक्त अन्य विश्वास कृत्रिम हैं। प्राकृतिक विश्वास कृत्रिम विश्वासों से भिन्न होते हैं। प्राकृतिक विश्वासों का कारण स्वयं मानव-स्वभाव है। ये विश्वास ही समस्त पुस्तियों के आधार हैं। यद्यपि हम तार्किक दृष्टि से संशयवादी है, तथापि वह विश्वास और कल्पना के कारण बाह्य जगत् की सत्ता को मान लेता है। इन प्राकृतिक विश्वासों के कारण हम का उग्र संशयवाद विनम्र संशयवाद में रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु इसे प्रामाणिक विश्वास नहीं कहा जा सकता है। जगत् के ज्ञान के लिए हमारे पास कोई तार्किक प्रमाण नहीं है। अतः हम अंत में भी संशयवादी बना रहता है। उसके संशयवाद का महत्त्व इस बात में है कि वह परंपरागत अनुभववाद की विसंगतियों को तार्किक दृष्टि से अभिव्यक्त कर देता है। उसका संशयवाद हमारे ज्ञान को संस्कारों और प्रत्ययों तक सीमित कर देता है। अतः उसके आधार पर बाह्य जगत्, कारणता, आत्मा, ईश्वर आदि में से किसी के भी अस्तित्व के ज्ञान को सैद्धान्तिक दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

हम के संशयवाद का प्रभाव समकालिक दर्शन में तार्किक भाववादियों पर भी पड़ा। तार्किक भाववादी हम के अनुभववाद से प्रभावित होकर तार्किक अनुभववाद का प्रतिपादन करते हैं। तार्किक भाववादियों के अनुसार हम की यह मान्यता भ्रामक है कि तथ्यात्मक ज्ञान को भी अनिवार्य रूप से सत्य होना चाहिए। यदि तथ्यात्मक ज्ञान का संभाव्य रूप से सत्य होना स्वाभाविक है तो उसके निश्चायक और असंदिग्ध रूप से सत्य न होने को संशयवाद समझना हम की एक गंभीर भूल है। तार्किक भाववादियों ने तथ्यात्मक कथनों के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण किया। इन कथनों को संभाव्य (प्रायिक) मानने पर भी तार्किक भाववादियों को संशयवादी नहीं कहा गया। यद्यपि तार्किक अनुभववादी हम के संशयवाद का खण्डन करते हैं, तथापि वे संशयवाद के एक नये रूप को जन्म देते हैं।

¹ Treatise, Part I/4/2 कहने का तात्पर्य यह है कि संशयवाद से बचने का एक ही उपाय है, वह यह कि संशय की उपेक्षा की जाए एवं संशय करने से बचा जाए।

उनका संशय अनुभव के विभिन्न तरीकों के प्रति अविश्वास, ईश्वर एवं आत्मा आदि से संबंधित है। वे परंपरागत अनुभव के तरीकों एवं अतीन्द्रिय सत्ताओं में अविश्वास करते हैं। ऐसा संशय संशयवाद का सूचक नहीं है। वस्तुतः वह उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। इसके फलस्वरूप दर्शनशास्त्र की एक नयी दिशा का बोध होता है। वास्तव में कोई सच्चा दार्शनिक पूर्ण संशयवादी नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि ह्यूम ने भी पायरोवाद का खण्डन किया है। ह्यूमी संशयवाद हमारे ज्ञान की सीमा और बौद्धिक क्षमता का बोध कराता है। उसका लक्ष्य हमारे विश्वासों को नष्ट करना नहीं, प्रत्युत मिथ्या अंधविश्वासों एवं पूर्वाग्रहों आदि को दूर करना था। उसने न केवल काण्ट की रूढ़िवादी मोहनिद्रा को भंग किया, बल्कि समकालीन दार्शनिकों को भी प्रभावित किया। ह्यूम की असफलता का कारण अनुभववाद में निहित दोष है। वस्तुतः संशयवाद ज्ञानमीमांसा के लिए कितना घातक या उपयोगी है? यह संशयवाद की प्रकृति (स्वरूप) पर निर्भर है। यदि संशय का लक्ष्य पूर्वाग्रहों से रहित होकर चिन्तन करना है तो ऐसा संशय कोई रोग नहीं है, बल्कि स्वस्थ मानसिकता और जागरुकता का परिचायक है। इसके विपरीत यदि संशयवाद की कोई रचनात्मक भूमिका न हो (जैसे-पायरोवाद) तो वह त्याज्य है।

ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन

रसल के अनुसार ह्यूम के दर्शन का खण्डन करना दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है। उसका संशयवाद लॉक के अनुभववाद का तार्किक निष्कर्ष है। यदि अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को स्वीकार कर लिया जाय तो ह्यूम के द्वारा स्थापित निष्कर्षों को मानना होगा। वस्तुतः ह्यूम अपनी परंपरा के दार्शनिकों (लॉक और बर्कले) की तुलना में अधिक युक्तिसंगत अनुभववादी है। वह अपने पूर्ववर्ती अनुभववादियों की अपेक्षा अधिक प्रखर और सक्षम तर्कशास्त्री है। उसके तीक्ष्ण तर्कों के प्रहारों से जड़ द्रव्य, आत्मा एवं ईश्वर आदि सभी प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व ध्वस्त हो जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उसे संशयवादी कहा गया है। उसने भी स्वयं को संशयवादी कहा है क्योंकि अनुभव से प्राप्त संस्कारों के द्वारा किसी अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर, आत्मा, जड़-जगत्, कारणता आदि के ज्ञान की निश्चितता को तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इन सबके मूल में यह मान्यता है कि समस्त ज्ञान का स्रोत अनुभव है।

इन्द्रियानुभव को समस्त ज्ञान का स्रोत मानना अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की गंभीर भूल है। इसके फलस्वरूप ह्यूम का दर्शन संशयवादी हो जाता है। ह्यूम की भूल यह है कि उसने ज्ञान के स्वरूप का सम्यक् विवेचन, तार्किक विश्लेषण और मूल्यांकन नहीं किया। वह ज्ञान की संरचना में बुद्धि की भूमिका का समुचित मूल्यांकन न कर सका। केवल अनुभव के आधार पर कोई निश्चायक और व्यवस्थित दर्शन की स्थापना नहीं की जा सकती है। यदि ज्ञान को केवल इन्द्रियानुभव तक सीमित कर दिया जाय तो ऐसी संवेदनाएँ तो पशुओं को भी प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ तक कि अनेक पशु-पक्षियों की संवेदन-शक्ति तो मनुष्यों से भी अधिक होती है। जैसे — कुत्तों की घ्राणशक्ति और गिद्धों की चक्षुशक्ति मनुष्यों से भी अधिक होती है, किन्तु उन्हें ज्ञानी नहीं कहा जा सकता है। अतः अनुभववाद एक एकांगी सिद्धान्त बनकर रह जाता है। बुद्धि और उसके अनुभव-निरपेक्ष आकारों (बुद्धि-विकल्पों) के अभाव में कोई भी संवेदन अथवा संस्कार ग्राह्य नहीं हो सकता है। बुद्धि-विकल्पों के द्वारा ग्राह्य होने पर ही प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ ज्ञान के स्वरूप को ग्रहण कर सकती हैं। इन्द्रियानुभव के द्वारा केवल विशेषों की ही प्रतीति हो सकती है। बौद्धिक कोटियों के अभाव में बाह्य जगत् की विषयता का बोध नहीं हो सकता है।

(ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य संबंध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दोषपूर्ण है। कारण-कार्य नियम की सार्वभौमिकता, अनिवार्यता और निश्चितता की सिद्धि इन्द्रियानुभव के द्वारा नहीं की जा सकती है। वस्तुतः कारण-कार्य संबंध एक बुद्धि-विकल्प है। उसे अनुभवजन्य अथवा संस्कारजन्य प्रत्ययों का मनोवैज्ञानिक संबंध नहीं कहा जा सकता है। कारण-कार्य नियम आनुभविक अथवा प्रत्ययों का मनोवैज्ञानिक संबंध नहीं, बल्कि मानव-बुद्धि का एक प्रागनुभविक आकार है। विशुद्ध संवेदन बुद्धि के प्रागनुभविक आकारों के अभाव में ज्ञान के स्तर को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। केवल विशिष्ट संवेदनों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अस्त-व्यस्त एवं बिखरे हुए संवेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करने के लिए उनको व्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। विभिन्न अस्त-व्यस्त अनुभूतियों को एकता के सूत्र में अनुस्यूत करने के लिए बुद्धि-विकल्पों की आवश्यकता है। ह्यूम ने ज्ञान के इन अनुभव-निरपेक्ष आकारों की उपेक्षा करके समस्त ज्ञान को अनुभवजन्य मान लिया। इसके फलस्वरूप अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत ज्ञान के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की उत्पत्ति को बुद्धि के अनुभव-निरपेक्ष आकारों में न खोजना ह्यूम के दर्शन का एक निर्वल पक्ष है। यही कारण है कि उसके पृथक्-पृथक् एवं आणविक (atomic) संस्कारों एवं प्रत्ययों का पारस्परिक साहचर्य केवल आपातिक एवं संभाव्य ज्ञान ही दे सकता है।)

ह्यूम ने जिस रूप में आगमन की समस्या को प्रस्तुत किया है, उसका कोई भी तार्किक समाधान संभव नहीं प्रतीत होता है। किन्तु आगमनात्मक प्रमाणीकरण के लिए निगमनात्मक युक्ति के समान निर्णायक वैधता की माँग करना आगमन के स्वरूप की गलत समझ पर आधारित है। वास्तव में, यह आगमन का स्वभाव है कि उसकी वैधता निगमन के समान नहीं हो सकती है। ह्यूम की यह एक भूल है कि वह आगमनात्मक अनुभव के क्षेत्र में निगमन जैसी पूर्ण निश्चितता और वैधता की आशा करता है। अतः उसका निराश होना स्वाभाविक है।

ह्यूम के दर्शन का एक अन्य गंभीर दोष आत्मा को संस्कारों एवं प्रत्ययों के संघात के रूप में विषय के स्तर पर ला देना है। किन्तु, आत्मा को विषय के रूप में जानने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है। वह आत्मा को अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु (विषय) बना देता है, किन्तु आत्मा एक विषयी या ज्ञाता है। वह समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। ह्यूम के द्वारा मान्य तथाकथित संस्कारों एवं प्रत्ययों का पुंज अपना ज्ञाता स्वयं नहीं हो सकता है। प्रत्ययों का यह समूह भी ज्ञान का एक विषय है। उसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब कोई ज्ञाता हो। किन्तु यह ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकता है। अतः उसे ज्ञेय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। आत्मा ही वह स्थिर एवं एकताबद्ध तत्त्व हो सकता है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य काल की अनुभूतियों, संस्कारों एवं प्रत्ययों को एकता के सूत्र में पिरो (बाँध) देता है। इसी के कारण स्मृति-ज्ञान एवं वैयक्तिक अनन्यता संभव है। इस ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञान इन्द्रियानुभव के आधार पर एक विषय के रूप में नहीं हो सकता है। वास्तव में, आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वह समस्त ज्ञान की आधारशिला है।

जिस अनुभववाद का विकास ह्यूम के दर्शन में होता है, उसके तीन परिणाम हैं — (1) अहंमात्रवाद (Solipsism)—अहंमात्रवाद को मानकर ह्यूम संस्कारों एवं प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का निराकरण कर देता है, किन्तु किसी आश्रय के बिना ये संस्कार और प्रत्यय कैसे संभव हैं? अनुभव के द्वारा ऐसा संस्कार या प्रत्यय नहीं प्राप्त हो सकता है, जो स्वयं अपना आश्रय

हो। (2) मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद (Psychological Atomism)—ह्यूम के प्रत्यय परमाणुओं की तरह असम्बद्ध हैं। वे बाद में साहचर्य नियम से परस्पर संबंधित होते हैं। किन्तु जब आत्मा की ही सत्ता नहीं है, तो उन्हें कौन संबंधित करेगा। ह्यूम का मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यताओं से भी मेल नहीं रखता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेदन या उनसे प्राप्त प्रत्यय परस्पर असम्बद्ध नहीं, बल्कि परस्पर संबंधित होते हैं। (3) संदेहवाद (Scepticism)—ह्यूम का संदेहवाद व्यावहारिक और तार्किक दोनों दृष्टियों से असंगत प्रतीत होता है। व्यावहारिक जीवन के व्यवस्थित संचालन के लिए विश्वास आवश्यक होता है, किन्तु संदेहवाद इसे नष्ट कर देता है। संशय विश्वास का विरोधी होता है। यदि हमें इसका निश्चित ज्ञान नहीं है कि भविष्य में वस्तुओं का स्वभाव वर्तमान के अनुकूल होगा तो दैनिक जीवन नहीं चल सकता है। तार्किक दृष्टि से संदेहवाद आलसघाती होता है। बाह्य जगत् के विषय में ह्यूम संशयवादी है क्योंकि वह तथ्यात्मक ज्ञान को सार्वभौम एवं अनिवार्य नहीं मानता है। ह्यूम के संदेह का आश्रय लेकर यह कहा जा सकता है कि ह्यूमी संदेहवाद की सत्यता भी सार्वभौमिक एवं अनिवार्य नहीं हो सकती है, क्योंकि संदेहवाद भी बाह्य जगत् के विषय में एक आनुभविक दृष्टिकोण है। अतः संदेहवाद की सत्यता भी संदिग्ध हो जाती है। यदि अनुभववाद को आधारवाक्य माना जाय तो ये तीनों सिद्धान्त उसके संयुक्त निष्कर्ष होंगे। स्पष्ट है कि अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का तार्किक निष्कर्ष अग्राह्य है। इससे सिद्ध होता है कि स्वयं अनुभववाद भी दोषपूर्ण है। किन्तु ह्यूम उग्र संशयवादी नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक ज्ञान को असंभव नहीं मानता है।

वह गणित और तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञासियों को सार्वभौम एवं अनिवार्य सत्य मानता है। वह केवल आनुभविक ज्ञान के विषय में संदेहवादी है। उसके अनुसार कोई भी आनुभविक प्रतिज्ञाति अनिवार्य और सार्वभौम सत्य नहीं हो सकती है। आनुभविक प्रतिज्ञासियाँ आपातिक एवं संभाव्य सत्य की कोटि में आती हैं। वह व्यवहार का संचालन सहज प्रवृत्तियों पर आश्रित बना देता है, किन्तु यह मत एकांगी है। कुछ परिस्थितियों में मनुष्य का व्यवहार बुद्धि के द्वारा भी संचालित होता है।

(यद्यपि ह्यूम के दर्शन पर अनेक आक्षेप किए गए हैं, तथापि परवर्ती दार्शनिकों पर उसके दर्शन का एक अमिट प्रभाव पड़ा है। ह्यूमी अनुभववाद के प्रभाव से थामस रीड के नेतृत्व में स्काटिश दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने ह्यूम के संशयवाद का उत्तर देने का प्रयास किया। ह्यूम के द्वारा जड़-जगत्, आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता का निराकरण करने के बाद केवल मौलिक संस्कारों की ही सत्ता अवशेष रह जाती है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं एवं आत्मा की सत्ता का निराकरण हो जाने के बाद संबृत्तिवाद (Phenomenalism) का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यद्यपि ह्यूम के बाद अनेक परवर्ती आलोचकों और दार्शनिकों ने उसके संशय को आलसघाती कहा, तथापि न तो उसके दर्शन का महत्त्व कम हुआ और न ही कोई विचारक उसकी उपेक्षा कर सका। उसके द्वारा उठाई गई दार्शनिक समस्याएँ उसके समय से लेकर आज तक दर्शन-जगत् में बहस, विवाद, परिचर्चा एवं चिन्तन के विषय रही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ह्यूम न केवल यूरोप का, अपितु विश्व का एक महान दार्शनिक है।)

8.

काण्ट का आलोचनात्मक दर्शन (The Critical Philosophy of Kant)

इमैनुएल काण्ट (Immanuel Kant : 1724-1804) का जन्म जर्मनी के कोनिंग्सबर्ग नगर में 22 अप्रैल, सन् 1724 ई० में हुआ था। काण्ट के पिता जे. सी. काण्ट की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। वह अपने जीविकोपार्जन के लिए जीनपोशी का कार्य करता था, किन्तु इन परिस्थितियों में भी उन्होंने काण्ट की शिक्षा का प्रबन्ध किया। काण्ट ने कोनिंग्सबर्ग में गणित, विज्ञान और दर्शन की शिक्षा प्राप्त किया। दुर्भाग्यवश इस दौरान काण्ट के पिता की मृत्यु हो गई। अतः उन्हें अपने जीविकोपार्जन के लिए परिश्रम करना पड़ा। काण्ट अपने ग्यारह भाई-बहनों में चौथे स्थान पर था, किन्तु केवल इसी ने शिक्षा प्राप्त की। 1755 ई० में काण्ट कोनिंग्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हुए। सन् 1770 ई० में काण्ट की नियुक्ति तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा के प्रोफेसर पद पर हुई। उनका देहान्त 28 फरवरी, 1804 ई० को 80 वर्ष की आयु में हुआ।

काण्ट के जीवन के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कहा जाता है कि वह अपने संपूर्ण जीवन-काल में कोनिंग्सबर्ग से 40 मील की दूरी से अधिक नहीं गया। दुबले-पतले, छोटे कद, सुन्दर शारीरिक संरचना वाले काण्ट खाने-पीने के शौकीन थे। वे आजीवन अविवाहित रहे। कहा जाता है कि जब सुबह के समय वह टहलने जाता था तो उसे देखकर लोग अपनी घड़ियाँ मिलाते थे। कर्त्तव्यनिष्ठ एवं आत्म-संयमी होने के साथ-साथ काण्ट एक सहृदय और उदार व्यक्ति थे। एक दिन अपने हठी और झगड़ालू नौकर मार्टिन लैम्पे की आँखों में आँसू देखकर उन्होंने कहा, 'वृद्ध लैम्पे के लिए ईश्वर आवश्यक है, अन्यथा वह सुखी नहीं हो सकता है।' किंवदन्ती है कि काण्ट ने अपनी द्वितीय आलोचना लैम्पे की दीन-हीन दशा से प्रभावित होकर उसके लिए लिखी।

जर्मनी के इस युगांतकारी महान् विचारक का जीवन सादगी और नैतिक आदर्श की साक्षात् मूर्ति था। उसका दर्शन सभी प्रकार के चमत्कारिक रहस्यवादों से मुक्त है। प्रारंभ में उसके दर्शन पर वुल्फ के रुढ़िवादी दर्शन का बहुत प्रभाव था, किन्तु ह्यूम के अनुभववाद ने काण्ट की रुढ़िवादी मोहनिद्रा को भंग कर दिया।

इस प्रकार ह्यूम के अनुभववाद से काण्ट के बुद्धिवादी दर्शन को एक नई दिशा मिली। इसके अतिरिक्त काण्ट की विचारधारा पर फ्रांसीसी विचारक रूसो के चिंतन का भी प्रभाव है। उल्लेखनीय है कि 1749 ई० में डिज़ोन अकादमी के द्वारा रूसो को 'क्या विज्ञान और कला की

प्रगति ने नैतिकता (नैतिक मूल्यों) को भ्रष्ट किया है अथवा उसका परिमार्जन किया है?'¹ विषय पर निबन्ध लिखने के कारण पुरस्कार दिया गया। रूसो के अनुसार सांस्कृतिक जीवन प्राकृतिक जीवन की अपेक्षा निम्न स्तरीय होता है। चिंतनशील मनुष्य (बुद्धजीवी) एक बदमाश पशु है (Thinking man is a depraved animal)। जब से तथाकथित विद्वान मनुष्यों की संख्या बढ़ी है, तब से ईमानदार लोगों का अभाव हो गया है। वे कहीं पर भी नहीं मिल रहे हैं। आधुनिक युग की बौद्धिक शिक्षा ने लोगों को चालाकी एवं धूर्ततापूर्ण-आचरण की ओर अग्रसर किया है। रूसो का विशेष बल इस पर था कि आधुनिक शिक्षा बुद्धिजीवियों को संवेदनशून्य, अनुदार और हृदयहीन बनाती जा रही है। अतः आज बुद्धि की अपेक्षा सहृदय एवं समाज के प्रति संवेदनशील मनुष्यों की आवश्यकता है। 1762 ई० में रूसो का शिक्षा पर सुप्रसिद्ध निबंध संग्रह 'एमिली' (Emile) का प्रकाशन हुआ। इस ग्रंथ में रूसो ने बुद्धि के स्थान पर आस्था (faith) और अनुभूतियों के महत्व को रेखांकित किया। कहा जाता है कि जब काण्ट ने रूसो की 'एमिली' को पढ़ा तो उसने अपना दैनिक भ्रमण छोड़ दिया। उसने पूरी पुस्तक शीघ्र ही पढ़ डाली।²

रूसो के इन विचारों को काण्ट ने अपने दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। वस्तुतः रूसो फ्रांसीसी क्रांति का अग्रदूत है। उसका लक्ष्य मानव-मात्र को स्वतंत्रता प्रदान करके मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा करना था। अल्प शिक्षित और साधारण मनुष्य आस्था एवं विश्वास में निष्ठा रखता है। अतः वह अधिक संवेदनशील होता है, जिसकी आज आवश्यकता है। काण्ट की प्रथम समालोचना में आस्था को विशेष महत्व दिया गया है। निश्चित रूप से यह काण्ट के दर्शन पर रूसो के प्रभाव का द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के अतिरिक्त काण्ट पर जिन विचारकों का गंभीर प्रभाव पड़ा, उनमें से रूसो प्रमुख हैं। किन्तु फ्रांस के एक अन्य महत्वपूर्ण विचारक और प्रबोधकाल (The Centenary of Enlightenment) के प्रतिनिधि बाल्टेयर के मत को काण्ट ने स्वीकार नहीं किया। बाल्टेयर के अनुसार मानव-बुद्धि के पास अपार क्षमता है। अतः उसके द्वारा प्रकृति के गहन रहस्यों को समझा जा सकता है। यद्यपि यह मत फ्रांस में लोकप्रिय हुआ, तथापि काण्ट ने इसे स्वीकार नहीं किया।

वस्तुतः काण्ट और काण्टोत्तर दर्शन (Post-Kantian Philosophy), आधुनिक दर्शन और समकालिक दर्शन के बीच की एक कड़ी है। अतः इसमें आधुनिक दर्शन की बौद्धिकता के साथ-साथ समकालीन दर्शन की वैज्ञानिकता का भी समन्वय है। दार्शनिक दृष्टि से काण्ट की तीन सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें से शुद्ध बुद्धि की आलोचना (The Critique of Pure Reason) का प्रथम संस्करण 1781 ई० में और द्वितीय संस्करण 1789 ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ को पढ़कर उस युग के प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक मोजेज मेण्डेलसान ने काण्ट को 'सर्वविनाशी' (All Samsher) कहकर संबोधित किया था क्योंकि काण्ट ने समस्त परंपरागत तत्त्वज्ञान को नष्ट कर दिया था। यहाँ पर मेण्डेलसान का संकेत काण्ट के द्वारा बौद्धिक मनोविज्ञान, सृष्टिविज्ञान और ईश्वर-मीमांसा का निराकरण करने की ओर है।³

1 Has the progress of the Sciences and the Arts contributed to corrupt or to purify morals?.

2 The Story of Philosophy, Will Durant, p. 259-62.

3 Bacon to Kant, (ed.) Walter Kaufmann, p. 416.

काण्ट की दूसरी रचना 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' (The Critique of Practical Reason) है, जो नीतिशास्त्र से संबंधित ग्रंथ है। इसका प्रकाशन 1788 ई० में हुआ था। काण्ट की तृतीय रचना का नाम 'परामर्श की आलोचना' (The Critique of Judgement) है। यह ग्रंथ सौन्दर्यशास्त्र से संबंधित है जिसका प्रकाशन सन् 1790 में हुआ था। इसके अतिरिक्त काण्ट ने 'प्रत्येक भावी तत्त्वमीमांसा का उपोद्घात' (Prolegomena to Every Future Metaphysics) की रचना 1783 ई० में सर्वप्रथम आलोचना को समझने के उद्देश्य से किया। यद्यपि काण्ट की अन्य रचनाएँ भी हैं, तथापि दार्शनिक दृष्टि से उसकी पूर्वोक्त तीनों आलोचनाओं का विशेष महत्व है। इन रचनाओं पर अनेक समीक्षाएँ लिखी गई हैं, जो काण्ट के दर्शन को समझने में उपयोगी हैं। वास्तव में पाश्चात्य दर्शन को समझने के लिए काण्ट के दर्शन का अध्ययन करना आवश्यक है। शोपेनहावर के अनुसार जिसने काण्ट के दर्शन को ठीक से नहीं समझा, वह व्यक्ति बाल-बुद्धि वाला ही रह जाता है। अतः दार्शनिक होने के लिए काण्ट के दर्शन को समझना अनिवार्य है।

काण्ट के दर्शन की एक प्रमुख प्रवृत्ति दो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य (समन्वय) स्थापित करना है। एडवर्ड केयर्ड ने इस प्रवृत्ति के मूल में काण्ट की उस शैक्षणिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है, जिसके अंतर्गत प्रोफेसर एफ० ए० शुल्ज (Prof. F.A. Schultz) ने उन्हें शिक्षा दी। उल्लेखनीय है कि काण्ट की प्रारंभिक शिक्षा प्रो० शुल्ज के निर्देशन में हुई थी। प्रो० शुल्ज ने उस समय जर्मनी में प्रचलित दो विरोधी आध्यात्मिक शक्तियों — पाइटिज्म (Peitism) और वुल्फवादी दर्शन (Wolfian Philosophy) में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।¹

काण्ट के दर्शन में पाइटिस्ट और बुद्धिवादी विचारधारा का प्रभाव प्रो० शुल्ज के माध्यम से विरासत में प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त काण्ट के माता-पिता भी पाइटिस्ट संप्रदाय से प्रभावित थे। काण्ट के नीतिशास्त्र पर इस संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से उपलक्षित होता है। उनका निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) पाइटिस्ट विचारधारा के प्रभाव का सूचक है। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने लाइबनिज के दर्शन का अध्ययन बुद्धिवादी वुल्फ की व्याख्या के अनुसार किया था। वुल्फ ने लाइबनिज के दर्शन को अनुभववाद के विरोधी दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया था। जब काण्ट ने स्वयं लाइबनिज के दर्शन का अध्ययन किया तो उसमें उन्हें बुद्धिवाद और अनुभववाद का समन्वय निहित प्रतीत हुआ। इस प्रकार वह लाइबनिज के समन्वयवाद से प्रभावित हुआ।

काण्ट का आविर्भाव ऐसे युग में हुआ जब विज्ञान और प्रौद्योगिकी का यूरोप के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव था। काण्ट के दार्शनिक चिन्तन पर उस युग की वैज्ञानिक खोजों का भी प्रभाव पड़ा। काण्ट को प्रभावित करने वाले वैज्ञानिकों में सर आइजेकट न्यूटन का प्रमुख स्थान है। न्यूटनीय भौतिकी के साथ-साथ काण्ट यूक्लिडीय ज्यामिति से भी प्रभावित है। काण्ट की गणना विश्व के प्रमुख दार्शनिकों में की जाती है। पाश्चात्य दर्शन में उसकी कोटि के बहुत कम विचारक हुए हैं। उसकी गणना केवल प्लेटो, अरस्तू एवं हेगल

जैसे युगप्रवर्तक दार्शनिकों की कोटि में की जाती है। दूसरे शब्दों में, इस श्रेणी में आने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों में से बहुत कम ही विचारक हुए हैं जो काण्ट के स्तर के हों।

आलोचनावाद (Criticism)

काण्ट-पूर्व पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद और अनुभववाद में ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के प्रतिमान (Paradigms of Knowledge), दार्शनिक पद्धति और ज्ञान की सीमा को लेकर गंभीर मतभेद था। बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा में जन्म से ही निगूढ़ होता है। मानव-बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की असीम क्षमता है। यहाँ तक कि स्पिनोजा ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम का प्रतिपादन करता है। यदि लाइबनिज के समान समस्त ज्ञान को मानव-बुद्धि में निगूढ़ (जन्मजात) मान लिया जाय तो हमारी बुद्धि के ज्ञान का सीमांकन नहीं हो सकता है। बुद्धिवादियों की भूल यह है कि वे अपनी बौद्धिक क्षमता और तर्क की सीमाओं का बिना मूल्यांकन और सम्यक् आकलन किए ही अतीन्द्रिय सत्ताओं (जैसे — ईश्वर, आत्मा और सृष्टि) के ज्ञान का दावा करने लगे। वास्तव में, बुद्धिवादियों ने धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति के आधार पर किया। मध्यकालीन दार्शनिकों ने जिन सत्ताओं को सिद्ध करने के लिए श्रुति अर्थात् बाइबिल का सहारा लिया था, आधुनिक बुद्धिवादियों ने उन्हें तर्क के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया। किन्तु बुद्धिवादी होते हुए भी डेकार्ट, स्पिनोजा एवं लाइबनिज के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त एक-दूसरे से भिन्न हैं।

बुद्धिवादियों ने गणित को ज्ञान का प्रतिमान (आदर्श) माना। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में भी गणितीय पद्धति को लागू करने का प्रयास किया। इसके लिए सबसे उपयुक्त पद्धति निगमन को अपनाना बुद्धिवादियों के लिए स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु जो पद्धति गणित के लिए उपयुक्त है वह आवश्यक नहीं है कि वह दर्शन के लिए भी उपयोगी हो। वस्तुतः बुद्धिवादियों का लक्ष्य दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी गणित जैसी निश्चितता लाना था। किन्तु गणित दर्शन नहीं हो सकता है और न दर्शनशास्त्र को गणित से अभिन्न माना जा सकता है। दर्शन का लक्ष्य वास्तविक तथ्यों की सत्ता का प्रतिपादन एवं मूल्यांकन करना है। इसके लिए इन्द्रियानुभव का सहारा लेना आवश्यक होता है। किन्तु बुद्धिवादियों ने अनुभव को समुचित महत्व नहीं दिया। यही कारण है कि वे अपने प्रयास में असफल रहे। काण्ट के अनुसार इन्द्रियानुभव को न स्वीकार करके समस्त ज्ञान के स्रोत के रूप में एकमात्र जन्मजात प्रत्ययों अथवा बुद्धि के स्वतः सिद्ध नियमों को मान लेना बुद्धिवादियों के एकांगी दृष्टिकोण का सूचक है। अनुभव तथा तर्कबुद्धि की परिधि में न आने वाली किसी पारमार्थिक सत्ता को मानना बुद्धिवादियों की काल्पनिक (बौद्धिक) अवधारणा मात्र है।

इस रूढ़िवादी विचारधारा के विरुद्ध आधुनिक दर्शन में तीक्ष्ण प्रतिक्रिया हुई। लॉक ने लोगों का ध्यान ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की ओर आकर्षित किया। उसने सर्वप्रथम बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा की मौलिक मान्यता जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त का निराकरण किया। उसने समस्त ज्ञान को अनुभवजन्य माना। उसके अनुसार आत्मा एक अंधेरी कोठरी, कोरी पाटी अथवा कोरे कागज के समान है। आत्मा में ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है। संवेदन और स्वसंवेदन ये दोनों अनुभव के दो मूल स्रोत हैं। समस्त ज्ञान अनुभव-सापेक्ष है। लॉक के अनुसार

तत्त्वमीमांसीय समस्याओं अर्थात् ईश्वर, आत्मा और जड़-पदार्थ के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व ज्ञानमीमांसीय चिन्तन आवश्यक है। इन तत्त्वों के बारे में कोई सार्थक बहस तब तक नहीं की जा सकती है, जब तक ज्ञान की उत्पत्ति, वैधता और ज्ञान की सीमाओं का सम्यक् विश्लेषण न कर लिया जाय। किन्तु लॉक ने ज्ञान की वैधता की अपेक्षा ज्ञान के उद्भव पर अधिक बल दिया। उसके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा से उसकी तत्त्वमीमांसा तर्कतः फलित नहीं होती है। लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करने वाले बर्कले और ह्यूम ने उसके तत्त्वमीमांसीय निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया। बर्कले ने जड़वाद का खण्डन करके प्रत्ययवाद का मण्डन किया, किन्तु ह्यूम ने जड़ और चेतन सभी प्रकार के तत्त्वों की सत्ता पर संशय व्यक्त किया। इसीलिए संशयवाद को अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की आत्मघाती प्रवृत्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लॉक के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को सुदृढ़ आधार पर स्थापित न किया जा सका।

लॉक की ज्ञानमीमांसा वस्तु को ज्ञान का केन्द्र मानती है। उसके अनुसार ज्ञान के ग्रहण करने में बुद्धि निष्क्रिय होती है। आत्मा ज्ञान-शून्य द्रव्य है। ज्ञान आत्मा का एक आकस्मिक गुण है। यदि ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण मान लिया जाय तो वह अन्य वस्तुओं के समान एक विषय हो जायेगा। प्रश्न उठता है कि हमें उस आत्मा का ज्ञान कैसे होगा जो स्वरूपतः ज्ञान से रहित है? यदि अन्य विषयों के समान बुद्धि को भी एक वस्तु मान लिया जाय तो उसको अन्य वस्तुओं के ज्ञान का आधार कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः अनुभववादी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान को विषय के अनुरूप माना जाता है, अर्थात् 'ज्ञान ज्ञेयाधीन'। यद्यपि बुद्धिवादियों ने ज्ञान को बुद्धि का जन्मजात अर्थात् अनिवार्य गुण माना, तथापि वे सभी ईश्वर को अपने दर्शन का मुख्य आधार मानते हैं। अपनी संदेह-पद्धति के होते हुए भी डेकार्ट ने ईश्वर तथा जगत् के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया। इस प्रकार बुद्धिवादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत ईश्वर की भूमिका प्रमुख और बुद्धि की भूमिका गौण हो जाती है।

काण्ट ने इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। उसके अनुसार ज्ञान की संरचना के लिए इन्द्रियानुभव और बौद्धिक आकार दोनों अनिवार्य हैं। अनुभव ज्ञान का उपादान (Matter) और बौद्धिक कोटियाँ ज्ञान के प्रागनुभविक आकार (Forms of Knowledge) हैं। इनमें से किसी भी घटक की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों एकांगी विचारधाराएँ हैं। अनुभववादियों के विपरीत, काण्ट विषय जगत् की संरचना को बुद्धि के अनुरूप मानता है। वह परंपरागत दर्शन में प्रचलित इस मान्यता का निराकरण करता है कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है। पुनश्च, वह बुद्धिवादियों के विपरीत ज्ञान की एकता का आधार ईश्वर को नहीं, बल्कि आत्मा को मानता है। इस प्रकार वह बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनों प्रकार की ज्ञानमीमांसा की आलोचना करता है। काण्ट के दर्शन को 'आलोचनावाद' (Criticism) के नाम से जाना जाता है। यद्यपि काण्ट बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों ही विचारधाराओं के गुण और दोष का विवेचन करता है, तथापि यह काण्ट के आलोचनावाद का प्रमुख लक्ष्य नहीं है। प्रश्न उठता है कि काण्ट का दर्शन किस अर्थ में आलोचनावाद है? वस्तुतः काण्ट ने 'आलोचनावाद' शब्द का प्रयोग शाब्दिक अर्थ में नहीं किया है। काण्ट की ज्ञानमीमांसा में आलोचनावाद का प्रयोग किसी सिद्धान्त विशेष का निराकरण करने के लिए नहीं किया गया है। बुद्धिवादियों का यह पूर्वाग्रह कि समस्त ज्ञान

जन्मजात है, रूढ़िवाद की ओर ले जाता है। इसके विपरीत, अनुभववाद संशयवाद की ओर ले जाता है। काण्ट के अनुसार ज्ञान के स्वरूप, स्रोत, वैधता और ज्ञान की सीमाओं का मूल्यांकन किये हुए बिना एकमात्र बुद्धि अथवा केवल अनुभव को ज्ञान का स्रोत और प्रतिमान मान लेना एक दुराग्रह है। इसी पूर्वाग्रह के कारण रूढ़िवाद और संशयवाद का जन्म हुआ। रूढ़िवाद और संशयवाद से बचने के लिए काण्ट समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ज्ञान के स्वरूप और प्रामाण्य का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट का आलोचनावाद स्वयं बुद्धि के स्वरूप एवं ज्ञान के प्रामाण्य का तार्किक अनुशीलन और मूल्यांकन है। इस प्रकार आलोचनावाद का प्रमुख लक्ष्य ज्ञान के मूल आधारों (Foundations of Knowledge) का तार्किक अनुसंधान करना है। उसके अनुसार दर्शनशास्त्र ज्ञानमीमांसा के रूप में ही संभव है। एक शास्त्र के रूप में तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की जा सकती है।

पुनश्च, काण्ट के दर्शन को आलोचनात्मक कहने के साथ-साथ 'अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद' (Transcendental Idealism) कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान की संरचना में संवेदनों के साथ-साथ बुद्धि-विकल्पों की प्रमुख भूमिका का मूल्यांकन करता है। उसके अनुसार बुद्धि-विकल्प मानव-ज्ञान की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ (Apriori Presuppositions) हैं। चूँकि बुद्धि-विकल्पों का निगमन अनुभव से नहीं हो सकता है, इसलिए उन्हें अतीन्द्रिय कहा गया है। प्रश्न यह है कि काण्ट को किस अर्थ में अतीन्द्रिय दृष्टि से प्रत्ययवादी कहा गया है? उसका प्रत्ययवाद हेगल और नव्य-हेगलवादियों के तत्त्ववैज्ञानिक या तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययवाद से पूर्णतया भिन्न है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से प्रत्ययवादी नहीं है। वह एक प्रकार के 'ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद' का प्रतिपादन करता है। उसके प्रत्ययवाद की प्रमुख मान्यता यह है कि ज्ञान का विषय ज्ञाता के ऊपर आश्रित है। ज्ञान न तो वस्तु-केन्द्रित है और न ईश्वर-केन्द्रित है, बल्कि आत्म-केन्द्रित है। उसके अनुसार मानव-बुद्धि की संरचना प्राकृतिक जगत् की संरचना के अनुरूप नहीं है। इसके विपरीत वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि प्राकृतिक जगत् की संरचना बुद्धि की संरचना के अनुरूप होती है। इस संदर्भ में उसका प्रसिद्ध कथन है, 'बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है' (Understanding makes nature)। उसके इस क्रांतिकारी ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त को पाश्चात्य दर्शन में 'कापरनिकसीय क्रांति' कहा गया है। यद्यपि काण्ट के अनुसार ज्ञान (बुद्धि) प्राकृतिक जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता है, तथापि उसके द्वारा प्रकृति के स्वरूप का निर्धारण अवश्य किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप प्रागनुभविक है और बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग करके मानव-बुद्धि ज्ञात वस्तुओं का स्वरूप अपने अनुरूप बना सकती है अर्थात् 'ज्ञेय ज्ञानाधीन'। किन्तु प्राकृतिक जगत् के ज्ञान के लिए वह अनुभव के महत्व का भी यथोचित मूल्यांकन करता है। मानव-बुद्धि भले ही विमर्शात्मक हो, किन्तु यह किसी वस्तु की साक्षात् अनुभूति का साधन नहीं है। बुद्धि अपनी कोटियों की सहायता से प्राकृतिक जगत् से प्राप्त अस्त-व्यस्त एवं बिखरे हुए संवेदनों को ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित और नियमित करती है। अतः काण्ट को आनुभविक दृष्टि से यथार्थवादी और अतीन्द्रिय दृष्टि से प्रत्ययवादी (Empirically Realist and Transcendentally Idealist) कहा गया है।

काण्ट का आलोचनावाद परंपरागत बुद्धिवाद, अनुभववाद और अंतःप्रज्ञावादी पद्धतियों से भिन्न है। बुद्धिवादियों का दावा है कि स्वतः सिद्ध सत्त्यों की प्राप्ति प्रतिभान के द्वारा होती है। इन स्वतः सिद्ध सत्त्यों के आधार पर प्राप्त किए गए निष्कर्ष भी प्रामाणिक होते हैं। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रतिभान के द्वारा उत्पन्न ज्ञान बाह्य जगत् के तथ्यों के अनुरूप कैसे हो सकता है? यहाँ तक कि अभेद-नियम तथा व्याघात-नियम पर भी कभी-कभी संदेह किया जाता है। काण्ट के अनुसार बुद्धि भले ही ज्ञान का एक प्रमुख आधार है, किन्तु वह किसी वस्तु को साक्षात् रूप से जानने का साधन नहीं है। बुद्धि के द्वारा उसी वस्तु के ज्ञान का मूल्यांकन एवं परीक्षण किया जा सकता है, जो अनुभव का विषय हो। किन्तु अनुभववादियों के द्वारा ज्ञान के अनिवार्य और सार्वभौम नियमों को अनुभव के आधार पर निगमित करना दोषपूर्ण है। काण्ट ने इसे 'उत्पत्ति-व्यतिक्रम दोष' (Fallacy of generatio aequivoca) कहा है।¹ प्रज्ञावादी पद्धति के स्वेच्छाचारी और आलसिष्ठ होने के कारण काण्ट उसे भी स्वीकार नहीं करता है। वह 'अतीन्द्रिय निगमन पद्धति' (Method of Transcendental Deduction) के आधार पर बुद्धि-विकल्पों को सिद्ध करता है। बुद्धि-विकल्पों की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता को न तो किसी मनोवैज्ञानिक पद्धति से और न किसी स्वैच्छिक तरीके से सिद्ध किया जा सकता है। अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि-विकल्पों की सिद्धि का आधार यह है कि उनके माध्यम से ही संवेदनों का ग्रहण संभव होता है। अनुभव का कोई भी विषय बुद्धि-विकल्पों के अभाव में जाना नहीं जा सकता है। किन्तु केवल अनुभव के द्वारा ही हमारा साक्षात् संपर्क बाह्य जगत् से हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद की कठिनाइयों से प्रभावित होकर आलोचनावाद का प्रतिपादन किया।

काण्ट के आलोचनावाद की प्रमुख समस्या यह है कि ज्ञान की सार्वभौमिकता और अनिवार्यता की व्याख्या कैसे की जाय? क्या बाह्य जगत् का ज्ञान यथार्थ और नवीन होने के साथ-साथ अनिवार्य और सार्वभौमिक नहीं हो सकता है? इन प्रश्नों को ज्ञानमीमांसा के केन्द्र में रखकर ही काण्ट ने आलोचनावाद का प्रतिपादन किया। ज्ञान के सार्वभौम एवं अनिवार्य लक्षणों की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान में अन्तर्निहित इन लक्षणों का कारण बुद्धि के स्वरूप और संरचना को माना जाय। अनुभव के आधार पर ज्ञान की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इन्द्रियानुभव के द्वारा वस्तु जगत् से संबंधित केवल कुछ विशिष्ट तथ्यों की संवेदना मात्र मिल सकती है। किन्तु अनुभव से सभी तथ्यों के बारे में कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः केवल विशुद्ध संवेदन को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। बुद्धि के प्रागनुभविक आकारों (बुद्धि-विकल्पों) के बिना संवेदन पशुवत् संवेदन मात्र हैं। ऐसे संवेदन बालकों तथा मूकों एवं बधिरों की क्षणिक अनुभूतियों के समान होते हैं। ऐसे संवेदनों को मीमांसकों ने 'आलोचन' और नैयायिकों ने 'निर्विकल्प-प्रत्यक्ष' कहा है। काण्ट के अनुसार हमारे प्रत्येक प्रत्यक्ष में बुद्धि के अनुभव-निरपेक्ष आकार निहित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि काण्ट की ज्ञानमीमांसा में शुद्ध संवेदन (निर्विकल्प-प्रत्यक्ष) को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान सविकल्प और संप्रत्ययात्मक होता है।

बुद्धि-विकल्पों के साथ-साथ देश (Space) और काल (Time) प्रत्येक अनुभव की प्रागपेक्षा हैं। वे मानव-बुद्धि के प्रागनुभविक आकार हैं क्योंकि देश और काल अनुभवजन्य प्रत्यय नहीं हैं, अर्थात् उन्हें अनुभव के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कोई घटना कहाँ और कब घटित हुई? इसे जानने से पहले ही हमारे प्रत्येक चिंतन और अनुभव में देश और काल अन्तर्निहित होते हैं। काण्ट देश और काल को संवेदना का आकार कहता है। देश और काल के माध्यम से ही बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनाएँ बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचती हैं। हमारे ज्ञान की नवीनता और यथार्थता इन्द्रियानुभव पर आश्रित है। यह अनुभव संवेदनों के रूप में ज्ञान की विषयवस्तु प्रदान करता है। किन्तु इसकी (विषयवस्तु की) व्याख्या के लिए बुद्धि के संप्रत्ययों (बुद्धि-विकल्पों) की आवश्यकता होती है। काण्ट का प्रसिद्ध कथन है, 'इन्द्रिय-संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प रिक्त हैं और बुद्धि-विकल्पों के बिना इन्द्रिय-संवेदन अन्धे हैं।'¹ काण्ट बुद्धिवादी और अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। जब वह कहता है — 'हमारा प्रत्येक ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता है' तो यह अनुभववाद के सत्यांश का समर्थन है। इसके साथ-साथ वह बुद्धिवाद के इस सत्यांश को भी स्वीकार करता है "यद्यपि ज्ञान का प्रारंभ अनुभव से होता है, तथापि इसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती है।"²

कालक्रम में ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता है। कालिक दृष्टि से अनुभव को ज्ञान का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संसार में जन्म लेने के बाद कुछ अनुभव करने से पहले बालक को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से अनुभव को ज्ञान की मनोवैज्ञानिक प्रागपेक्षा कहा जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुभव ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। अनुभववादियों की भूल यह है कि वे ज्ञान के स्वरूप की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं, किन्तु काण्ट के अनुसार ज्ञान के मूल आकार प्रागनुभविक हैं। ये प्रागनुभविक आकार बौद्धिक हैं। काण्ट बुद्धि के इन प्रागनुभविक आकारों को ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा (Logical Pre-supposition) कहता है। यहाँ पर काण्ट का झुकाव बुद्धिवाद की ओर है। वह लॉक के समान बुद्धिवादियों के जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन नहीं करता है। किन्तु काण्ट के बुद्धि-विकल्प परंपरागत बुद्धिवादियों (डेकार्ट, स्पिनोजा आदि) के जन्मजात प्रत्ययों से भिन्न हैं। उल्लेखनीय है कि जन्मजात प्रत्ययों के लिए अनुभव आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत काण्ट के बुद्धि-विकल्प संवेदनों के अभाव में रिक्त हैं। इसी प्रकार, बुद्धि-विकल्पों के अभाव में संवेदन भी अंधे हैं। इस संदर्भ में प्रो० ए० सी० मुकर्जी का यह कथन तर्कसंगत है कि काण्ट ने लाइबनिज के दर्शन का मूल्यांकन ह्यूम की दृष्टि से और ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन लाइबनिज की दृष्टि से करके आलोचनावाद का प्रतिपादन किया।³

(काण्ट ज्ञान को निर्णयात्मक (Judgemental) कहता है। ज्ञान कोई प्रत्यय नहीं है। पृथ्वी, मनुष्य, उष्णता आदि के प्रत्यय अपने आप में कोई ज्ञान नहीं है। यदि इन प्रत्ययों का संयोग अन्य प्रत्ययों के साथ एक निर्णय के रूप में होता है तो इनके द्वारा ज्ञान की संरचना हो सकती है। यद्यपि ज्ञान अनिवार्य रूप से परामर्शात्मक होता है, तथापि सभी परामर्श प्रामाणिक

1 Concepts without percepts are empty and percepts without concepts are blind.

2 Every knowledge begins with experience, but it does not originate out of experience.

3 Self, Thought and Reality, p. 116.

ज्ञान नहीं दे सकते हैं। काण्ट के अनुसार प्रामाणिक ज्ञान के आदर्श प्रतिमान संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय हैं। ऐसे निर्णयों में एक अंश बुद्धि से और एक अंश अनुभव से संबंधित होता है। इस दृष्टि से ज्ञान की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता बुद्धि-विकल्पों से आती है, किन्तु ज्ञान की नवीनता और यथार्थता का आधार अनुभव है। काण्ट के दर्शन की मुख्य समस्या यह थी कि ये निर्णय कैसे संभव हैं? अपने आलोचनावाद में काण्ट ने संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना का प्रतिपादन किया है। वास्तव में, उसने ज्ञान की परिभाषा संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय के रूप में दी है। अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों के बाह्य संबंधों पर आधारित होता है। इनमें से प्रत्येक घटक (प्रत्यय) का ज्ञान में समान स्थान और महत्व है। इसे ज्ञान का 'अधिरचनात्मक विश्लेषण' कहा जा सकता है। काण्ट के आलोचनावाद में ज्ञान के अतीन्द्रिय विश्लेषण पर विशेष बल दिया गया है। इसके अंतर्गत कुछ प्रत्यय आधार स्वरूप (Foundational) हैं। इन्हें प्रत्येक ज्ञान की तार्किक प्राग्पेक्षा कहा जा सकता है। यदि ज्ञान को दो प्रत्ययों के बीच का बाह्य संबंध माना जाय तो वे एक-दूसरे से पृथक् हो सकते हैं। परस्पर बाह्य संबंध रखने वाले दो प्रत्यय सहज भाव से एक-दूसरे से अलग हो सकते हैं। जिन दो वस्तुओं या प्रत्ययों में बाह्य संबंध होता है, उनकी सत्ता एक-दूसरे से पृथक् रूप में संभव है। काण्ट की दृष्टि से दो प्रत्ययों के बाह्य संबंधों पर आधारित ज्ञान स्थायी नहीं हो सकता है। कुछ संबंधों को बिना आंतरिक माने हुए न तो निश्चायक ज्ञान की कल्पना की जा सकती है और न संशयवाद को समुचित उत्तर दिया जा सकता है। अतः कुछ आंतरिक संबंधों को बाह्य संबंधों की प्राग्पेक्षा के रूप में मानना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त समस्त ज्ञान की प्राग्पेक्षा आत्मा है। इसे काण्ट 'विशुद्ध ज्ञाता' कहता है। हमारे समस्त ज्ञान की एकरूपता, अनिवार्यता और सार्वजनीनता का आधार स्वतः सिद्ध आत्मा है। यह विषयी है। इसके द्वारा ही बुद्धि-विकल्प सजीव हैं और वे संवेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार आत्मा समस्त ज्ञान-परिस्थिति की तार्किक प्राग्पेक्षा है। प्रत्येक ज्ञान में कुछ ऐसे प्रागनुभविक तत्त्व हैं, जिनके कारण ज्ञान की संप्रेषणीयता संभव होती है। ज्ञान का कोई अंश मेरे लिए इसलिए प्रागनुभविक है क्योंकि यह एक नियम के द्वारा निगमित किया गया है। इस प्रकार अपने आलोचनावाद में काण्ट ज्ञान के ऐसे प्रागनुभविक आकारों की खोज करता है, जो न केवल मेरे व्यक्तिगत अनुभवों से, अपितु सामान्य अनुभव से भी निरपेक्ष हों। इससे स्पष्ट है कि आलोचनावाद अनुभव का वर्णन और निरीक्षण नहीं, बल्कि उसकी पूर्व शर्तों और दशाओं का विवेचन और विश्लेषण है। इसके अन्तर्गत अनुभववाद और बुद्धिवाद का खंडन-मंडन नहीं, बल्कि स्वयं मानव-बुद्धि का विवेचन और मूल्यांकन किया गया है।

संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय (Synthetic Apriori Judgement)

काण्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों (बुद्धिवादियों और अनुभववादियों) ने ज्ञान का वर्गीकरण दो रूपों में किया था — (1) विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक एवं (2) संश्लेषणात्मक आनुभविक। प्रागनुभविक ज्ञान अनुभव से स्वतंत्र होता है। अनुभव से स्वतंत्र होने का अर्थ यह है कि ऐसा ज्ञान अनुभवजन्य नहीं है। इस ज्ञान की प्रमुख विशेषता अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता है।

इसके विपरीत आनुभविक ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। प्रागनुभविक और आनुभविक ज्ञान के भेद को समझने के लिए विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक निर्णयों में भेद किया गया है। विश्लेषणात्मक निर्णय यथार्थ और नवीन ज्ञान नहीं दे सकते हैं क्योंकि उनके विधेय पद उनके उद्देश्य पद के बारे में कोई नवीन सूचना नहीं देते हैं। विश्लेषणात्मक निर्णयों के विधेय उद्देश्य के अंतर्गत सम्मिलित होते हैं, जैसे — प्रत्येक भौतिक पिण्ड विस्तृत होता है। यहाँ पर विस्तृत होना प्रत्येक भौतिक पिण्ड की स्वरूपगत विशेषता होती है। इन निर्णयों के उद्देश्य पद से उनके विधेय पद तर्कतः फलित होते हैं। इसके विपरीत संश्लेषणात्मक निर्णयों में विधेय पद उद्देश्य पद के बाहर होते हैं। विधेय उद्देश्य की किसी विशेषता को बताता है जिसका ज्ञान अनुभव से प्राप्त किया जा सकता है, जैसे — 'गुलाब लाल है'। इस वाक्य में गुलाब की लालिमा का ज्ञान अनुभव के अभाव में नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'गुलाब' कह देने मात्र से 'लालिमा' का ज्ञान अनिवार्यतः नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि संश्लेषणात्मक निर्णयों में उनके उद्देश्य पद से विधेय पद तर्कतः फलित नहीं होते हैं। संश्लेषणात्मक निर्णय यथार्थ और नवीन ज्ञान दे सकते हैं, परन्तु उन्हें निरपेक्ष रूप से अनिवार्य और सार्वभौम नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः उनके उद्देश्य और विधेय में आपातिक संबंध पाया जाता है। काण्ट ने अपने आलोचनावाद में उद्देश्य-विधेय परक निर्णयों के इस वर्गीकरण को चुनौती दी। उसके अनुसार इन दोनों प्रकार के निर्णयों को ज्ञान का प्रतिमान (Paradigm) अथवा आदर्श नहीं कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि जिन निर्णयों के अंतर्गत उद्देश्य तथा विधेय में अभेद संबंध होता है, उन्हें विश्लेषणात्मक निर्णय कहा जाता है। ऐसे निर्णय अनुभव-निरपेक्ष होते हैं। इसके विपरीत जिन निर्णयों के अंतर्गत उद्देश्य और विधेय एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, उन्हें संश्लेषणात्मक निर्णय कहते हैं। इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक वाक्य स्वरूपतः पुनरुक्तियाँ हैं। इसके विपरीत संश्लेषणात्मक निर्णय तथ्यात्मक होते हैं।

काण्ट के पूर्व अनुभववादी और बुद्धिवादी दोनों निर्णयों के इस वर्गीकरण को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते रहे हैं। उदाहरण के लिए, जिस ज्ञान को ह्यूम ने प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान (आकारिक ज्ञान) कहा उसे लाइबनिज़ ने बौद्धिक सत्य (Truths of reason) की संज्ञा दी। प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों (Relations of Ideas) अथवा बुद्धि के सत्य (Truths of reason) का निषेध आत्म-व्याघाती होता है। सभी प्रकार के गणितीय निर्णय इसी प्रकार के होते हैं। लाइबनिज़ के अनुसार इसके अंतर्गत तत्त्वमीमांसीय कथनों तथा वैज्ञानिक कथनों के साथ-साथ सभी भावात्मक वाक्य (कथन) सम्मिलित हैं। इसके विपरीत बुद्धिवादियों और अनुभववादियों ने आनुभविक निरीक्षण पर आधारित तथ्यात्मक सत्य को संभाव्य या आपातिक ज्ञान के अंतर्गत सम्मिलित किया। इस प्रकार बुद्धिवादियों तथा अनुभववादियों ने किसी न किसी रूप में समस्त ज्ञान का अंतर्भाव विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक तथा संश्लेषणात्मक आनुभविक इन दो रूपों में कर लिया। इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक निर्णय अनुभव-सापेक्ष नहीं हो सकते हैं।

काण्ट के समक्ष प्रमुख समस्या यह है कि क्या ऐसे निर्णय संभव हैं, जो यथार्थ (वस्तुनिष्ठ) और नवीन ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ अनिवार्य एवं सार्वभौम भी हों। यही काण्ट के

आलोचनावाद की प्रमुख समस्या है। काण्ट के अनुसार ऐसे निर्णय संभव हैं, जिनके विधेय पद उद्देश्य पद में निहित नहीं होते हैं। इसके साथ-साथ वे अन्य निर्णयों से निरपेक्ष भी होते हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान की नवीनता और यथार्थता के साथ-साथ उसे सार्वभौम और अनिवार्य बनाने के लिए ऐसे निर्णयों की आवश्यकता है जो प्रागनुभविक (A priori) भी हों। काण्ट ने ऐसे निर्णयों को 'संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय' कहा है। उसने ज्ञान की परिभाषा संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों के रूप में दी है। गणित और भौतिकी के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव हैं। काण्ट के पूर्ववर्ती दार्शनिकों के अनुसार संश्लेषणात्मक निर्णय प्रागनुभविक नहीं हो सकते हैं। किन्तु काण्ट के अनुसार सभी संश्लेषणात्मक निर्णय भले ही प्रागनुभविक न हों, तथापि कुछ निर्णय ऐसे हैं जो संश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ प्रागनुभविक हो सकते हैं। प्रश्न उठता है कि गणित और भौतिकी के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय कैसे संभव हैं?

काण्ट के अनुसार संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों में उनके उद्देश्य और विधेय पदों के अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व (कारक) भी है, जो उद्देश्य और विधेय के संबंध को तर्कसंगत सिद्ध करता है। यह तीसरा तत्त्व क्या है? काण्ट के अनुसार यह तीसरा तत्त्व गणित, भौतिकी और तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में अलग-अलग है —

(1) गणित संबंधी निर्णयों में यह तीसरा तत्त्व देश और काल है।

(2) भौतिकी से संबंधित निर्णयों में यह तीसरा तत्त्व बुद्धि-विकल्प (Categories of Understanding) है।

(3) तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में यह तीसरा तत्त्व प्रज्ञा के संप्रत्यय (Concepts of Reason) हैं।

ये तीनों तत्त्व क्रमशः इन्द्रियानुभव, तर्कबुद्धि (Understanding) और प्रज्ञा (Reason) से संबंधित हैं। काण्ट यह स्वीकार करता है कि जो प्रागनुभविक रूप से ज्ञात है, वही अनुभव से स्वतंत्र, अनिवार्य और सार्वभौम हो सकता है। वह इस बिन्दु पर ह्यूम से सहमत है कि जो ज्ञान अनुभव पर आधारित है, वह अनिवार्य एवं सार्वभौम निर्णयों का आधार नहीं हो सकता है। किन्तु काण्ट यह नहीं स्वीकार करता है कि सब संश्लेषणात्मक निर्णय अनुभववाचित (A posteriori) हैं। उसका दावा है कि विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे निर्णय दिए जाते हैं जो अनिवार्य एवं सार्वभौम (प्रागनुभविक) होते हैं। यदि ह्यूम के अनुभववाद को सत्य मान लिया जाय तो संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की कोई संभावना नहीं हो सकती है। ह्यूम ऐसे निर्णयों को परंपराजन्य और मनोवैज्ञानिक मानता था। उसके अनुसार इन निर्णयों का तार्किक प्रमाणीकरण (Logical Justification) असंभव है। ह्यूम की इस विचारधारा ने ही संशयवाद को जन्म दिया। इसके विपरीत काण्ट वैज्ञानिक ज्ञान की अनिवार्यता, सार्वभौमिकता और वस्तुनिष्ठता में दृढ़ निष्ठा रखता है। उसने संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक निर्णयों के सिद्धान्त की स्थापना करके वैज्ञानिक ज्ञान को संशय-मुक्त करने का प्रयास किया। जब तक संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना को न सिद्ध कर दिया जाय, तब तक संशयवाद का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

काण्ट ने 'सात और पाँच का योग बारह होता है' पहले इस निर्णय को एक विश्लेषणात्मक निर्णय माना था, किन्तु बाद में उसने अपनी इस पूर्ववर्ती मान्यता को बदल दिया। वह विश्लेषणात्मक निर्णय की परिभाषा उसमें प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ के द्वारा नहीं देता है। तार्किक भाववादियों के विपरीत, वह इसे संप्रत्यय (Concept) के द्वारा परिभाषित करता है। उसके अनुसार '12' का संप्रत्यय केवल '7+5' के संप्रत्यय के द्वारा नहीं प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, केवल '7+5' के विश्लेषण से '12' को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। '12' के प्रत्यय को प्राप्त करने के लिए हमें '7+5' के संप्रत्यय से बाहर जाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त '12' के संप्रत्यय की प्राप्ति अन्य संयोजकों, जैसे '6+6=12', अन्य संख्याओं के गुणनफल, जैसे — '4x3' अथवा '6x2' इत्यादि के द्वारा भी हो सकती है। ये सब (जैसे — 6+6, 7+5, 4x3 इत्यादि) समान रूप से '12' होने का दावा करते हैं, अर्थात् '12' का संप्रत्यय '7+5' के संप्रत्यय में निहित नहीं है। बिना किसी ऐसे बिम्ब के जो '7+5' के बाहर हो, '12' की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। अतः '7+5=12' यह एक संश्लेषणात्मक निर्णय है। इसके अतिरिक्त यह अनिवार्य एवं सार्वभौम भी है क्योंकि इसके ज्ञान के लिए किसी अनुभव की आवश्यकता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह निर्णय प्रागनुभविक भी है। दूसरे शब्दों में, '7+5=12' यह एक संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय है।

काण्ट के अनुसार 'सात' और 'पाँच' तथा 'बारह' के बिम्ब किसी न किसी देश-काल में स्थित होते हैं। इन देश-काल रूपी चशमों के माध्यम से हमारी बुद्धि बाह्य जगत् में स्थित वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है। गणित के साथ-साथ भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव है।¹ इससे स्पष्ट है कि तथ्यात्मक निर्णय भी प्रागनुभविक और संश्लेषणात्मक होते हैं। भौतिकी के क्षेत्र में इन निर्णयों की संभावना का कारण बुद्धि-विकल्प हैं। उसने बुद्धि-विकल्पों को प्राकृतिक जगत् के ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा कहा है। जैसे — प्रत्येक कार्य सकारण होता है, प्राकृतिक जगत् में सभी परिवर्तनों के घटित होने के बाद भी जड़ तत्त्व (Matter) का परिमाण (मात्रा) अपरिवर्तित रहता है, इत्यादि। काण्ट के अनुसार जिस व्यक्ति को कारणता के संप्रत्यय का ज्ञान है, वह व्यक्ति यह जानता है कि एक घटना, दूसरी घटना की पूर्ववर्ती है। सार्थक अनुभव ग्रहण करने के लिए देश-काल और कारणता के संप्रत्ययों (बुद्धि-विकल्पों) से युक्त होना आवश्यक है। हम जिन घटनाओं का अनुभव करते हैं, वे देश-काल तथा बुद्धि-विकल्पों के ढाँचे के अंतर्गत हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं, अतः उनके संप्रत्यय अनुभव-सापेक्ष नहीं हैं। जो व्यक्ति देश का संप्रत्यय रखता है, वह जानता है कि देश अनंत और सजातीय (Homogeneous) है। इसी प्रकार जो व्यक्ति काल का संप्रत्यय रखता है, वह यह जानता है कि काल एकरेखीय क्रम (Linear order) में है।¹

काण्ट के अनुसार तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव नहीं है। तत्त्वमीमांसीय संप्रत्ययों, जैसे — आत्मा, सृष्टि एवं ईश्वर के अनुरूप कोई वस्तु देश-काल में स्थित नहीं है, अतः वे असंवेद हैं। इन्द्रियानुभव के अभाव में उनका ज्ञान संभव नहीं है। हमारे

1

The Critique of Pure Reason (English Translation) N.K. Smith, p. 238-41

(एक रेखीय क्रम से तात्पर्य यह है कि काल की व्याख्या सीधी रेखाओं में ही की जा सकती है, जैसे — 1990, 1991, 1992, 1993 इत्यादि।)

बुद्धि-विकल्पों की पहुँच केवल व्यावहारिक जगत् (Phenomena) तक है। इससे स्पष्ट है कि संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों का सिद्धान्त केवल व्यावहारिक जगत् पर ही लागू होता है। इस प्रकार काण्ट ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यावहारिक जगत् से संबंधित हमारा ज्ञान यथार्थ, नवीन, अनिवार्य और सार्वभौम हो सकता है। परमार्थ हमारे लिए अज्ञेय है, क्योंकि उसके संबंध में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की कोई संभावना नहीं है। शुद्ध तत्त्वमीमांसा (Pure Metaphysics) एक मिथ्या शास्त्र है। उसके संप्रत्यय स्वयं को मूर्त (यथार्थ) रूप में प्रस्तुत करते हैं, जबकि वे अमूर्त (काल्पनिक) होते हैं। अतः वास्तविक विज्ञान के रूप में तत्त्वमीमांसा असंभव है। दूसरे शब्दों में, यदि तत्त्वमीमांसा या दर्शनशास्त्र परमार्थ का विवेचन है तो यह असंभव है। शुद्ध गणित संभव है, क्योंकि उसकी स्थापना अनुभव-निरपेक्ष संवेदना आकारों (देश-काल) से होती है। यदि गणित के प्रत्ययों के विषय देश-काल में न हों तो गणित एक शास्त्र के रूप में संभव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान संभव है, क्योंकि उसकी अवधारणा बुद्धि के संप्रत्ययों (बुद्धि-विकल्पों) के द्वारा होती है। यदि बुद्धि-विकल्प प्रागनुभविक न होते तो भौतिक विज्ञान संभव न होता। इस आधार पर काण्ट के आलोचनावाद का निष्कर्ष यह है कि दर्शनशास्त्र केवल ज्ञानमीमांसा के ही रूप में संभव है। एक विज्ञान या शास्त्र के रूप में तत्त्वमीमांसा असंभव है।

काण्ट के द्वारा प्रतिपादित संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की अवधारणा मानव-ज्ञान के आधार स्वरूप बौद्धिक चिन्तन के सामान्य ढाँचे की ओर संकेत करती है। किन्तु काण्ट के द्वारा प्रस्तुत संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक निर्णयों के विरुद्ध समकालीन दर्शन में प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। समकालिक विश्लेषी दार्शनिकों के अनुसार 'संश्लेषणात्मक' और 'प्रागनुभविक' इन दोनों पदों का संयोजन असंगत है। इस संदर्भ में लाइबनिज़ और ह्यूम के दर्शन की मान्यताओं को काण्ट की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत मानते हैं। उनके अनुसार विश्लेषणात्मक कथन अनिवार्यतः प्रागनुभविक होते हैं। इसी प्रकार संश्लेषणात्मक कथनों को अनिवार्य रूप से अनुभव-सापेक्ष माना गया है।

काण्ट ने '7 + 5 = 12' को संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय माना है। ह्यूम ने इसे 'प्रत्ययों का संबंध' (Relation of Ideas) तथा लाइबनिज़ ने इसे 'बुद्धि का सत्य' (Truth of Reason) कहा है। समकालीन दार्शनिक ह्यूम के मत को सही मानते हैं क्योंकि आधुनिक तर्क गणित में गणित के सभी नियमों को पुनर्कथन मात्र माना गया है।¹ ए० जे० एयर के अनुसार,

¹ इस संदर्भ में जर्मन गणितज्ञ और तर्कशास्त्री फ्रेगे का तर्कान्तर्भूतगणितवाद (Logicism) उल्लेखनीय है। फ्रेगे के अनुसार विश्लेषणात्मक कथन तर्कशास्त्रीय सत्य हैं अथवा इसे परिभाषा की सहायता से तर्कशास्त्रीय सत्य के रूप में निगमित किया जा सकता है। फ्रेगे के इस सिद्धान्त का आधार मुख्य रूप से लाइबनिज़ के द्वारा प्रतिपादित तादात्म्य और व्याघात के नियम हैं। इसके अनुसार प्रागनुभविक सत्य को कुछ प्रत्ययों की परिभाषा की सहायता से तार्किक सत्य के रूप में परिणत किया जा सकता है। जैसे — 'सब ब्रह्मचारी अविवाहित पुरुष हैं', इस कथन में यदि 'ब्रह्मचारी' को परिभाषित करके उसके स्थान पर 'अविवाहित पुरुष' को रख दिया जाय तो उसे तार्किक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है — 'सब अविवाहित पुरुष, अविवाहित पुरुष हैं।' फ्रेगे की यह व्याख्या कुछ समकालिक दार्शनिकों के लिए आकर्षण का विषय रही है। देखिए, 'Knowledge and justification', p. 306-307 और 'Philosophical Logic' (ed.) P.F. Strawson, p. 108-9.

काण्ट संश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक निर्णयों के बीच में ठीक-ठीक विभेद नहीं कर पाता है। इस संदर्भ में काण्ट ने दो मानदण्डों का प्रयोग किया है, किन्तु भूल से उसने दोनों मानदण्डों को एक मान लिया है। जब वह कहता है कि 'सात' और 'पाँच' का योग 'बारह' होता है, यह कथन संश्लेषणात्मक है, तो वह एक मनोवैज्ञानिक मानदण्ड का प्रयोग करता है। दूसरे शब्दों में, वह 'सात' और 'पाँच' का योग 'बारह' होता है, इस कथन को मनोवैज्ञानिक मानदण्ड के आधार पर संश्लेषणात्मक कहता है। किन्तु जब वह कहता है कि 'सभी भौतिक पिण्ड विस्तृत होते हैं', यह एक विश्लेषणात्मक निर्णय है, तो यहाँ तार्किक मानदण्ड (Logical standard) का प्रयोग किया गया है। मनोवैज्ञानिक मानदण्ड के आधार पर कहा गया है कि ' $7 + 5$ ' का आत्मनिष्ठ भाव (Subjective Intension) ' 12 ' के आत्मनिष्ठ भाव से भिन्न है। अतः यह एक संश्लेषणात्मक निर्णय है। किन्तु एयर के अनुसार इस कथन का निषेध अर्थात् 'सात' और 'पाँच' का योग 'बारह' नहीं होता है, आत्म-व्याघाती है। अतः तार्किक मानदण्ड के आधार पर यह एक विश्लेषणात्मक निर्णय सिद्ध होता है। काण्ट ने इस भेद की उपेक्षा की है।¹

अमेरिकी दार्शनिक क्वाइन (W.V.O. Quine) ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक कथनों के बीच स्पष्ट सीमा-रेखा खींचने के औचित्य को चुनौती दी है। उसके अनुसार अनिवार्य सत्य को जानने के लिए अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं हो सकता है। वस्तुतः वह ज्ञान के क्षेत्र में तथाकथित प्रागनुभविक ज्ञान की किसी भूमिका को नहीं स्वीकार करता है। क्वाइन के इस सिद्धान्त को स्ट्रासन और ग्राइस ने चुनौती दी है। उनके द्वारा क्वाइन को दिया गया उत्तर कितना तर्कसंगत है, यह बहस और विवाद का विषय है। यहाँ स्थानाभाव के कारण इसका मूल्यांकन करना संभव नहीं है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि काण्ट के द्वारा प्रतिपादित संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों का सिद्धान्त आज सर्वमान्य नहीं है। किन्तु उसकी कुछ मान्यताएँ आज भी महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार समकालिक विश्लेषी दार्शनिकों के द्वारा संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों के सिद्धान्त का निराकरण काण्ट पर पूरी तरह लागू नहीं होता है। गणित और तर्कशास्त्र के क्षेत्र में भी काण्ट का मत सर्वथा गलत नहीं है। वस्तुतः तार्किक भाववादियों का सिद्धान्त कथनों और तर्कवाक्यों से संबंधित है। इसके विपरीत, काण्ट का मत निर्णयों के बारे में है। उल्लेखनीय है कि निर्णय तर्कवाक्य से भिन्न होता है। निर्णय का सम्बन्ध निर्णय करने वाले व्यक्ति के आत्मनिष्ठ भाव अथवा मानसिक अवस्था से होता है। काण्ट के पूर्वोक्त दृष्टान्त में ' $7 + 5$ ' और ' 12 ' के आत्मनिष्ठ भाव एक-दूसरे से भिन्न हैं। दोनों, अर्थात् ' $7 + 5$ ' एवं ' 12 ' अलग-अलग मानसिक अवस्थाएँ हैं। इसके विपरीत, तर्कवाक्य का संबंध वाक्यार्थ से होता है। यह किसी आत्मनिष्ठ भाव अथवा मानसिक अवस्था से संबंधित नहीं है। किन्तु काण्ट का मत भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। तार्किक भाववादियों का यह दावा सत्य है कि काण्ट ने संश्लेषणीयता और विश्लेषणीयता के वर्गीकरण में तार्किक मानदण्डों के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक मानदण्डों का भी सहारा लिया है। दार्शनिक दृष्टि से तार्किक मानदण्ड मनोवैज्ञानिक मानदण्ड की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। काण्ट का यह सिद्धान्त आधुनिक भौतिकी और गणित के क्षेत्र में हुई प्रगति पर लागू नहीं होता है, अर्थात् अब इसका खंडन हो चुका है। किन्तु काण्ट के इस मत से असहमत होना कठिन है

कि संप्रत्ययात्मक ज्ञान के लिए प्रतिज्ञासिद्ध्युक्त ज्ञान, अथवा काण्ट की भाषा में कहें तो निर्णयात्मक ज्ञान आवश्यक है। अतः उसके द्वारा प्रस्तुत निर्णयों का वर्गीकरण महत्वपूर्ण और दार्शनिक दृष्टि से उपयोगी है।

अतीन्द्रिय संवेदन-शक्ति की समीक्षा (Transcendental Aesthetic)

देश और काल (Space & Time)

संवेदन-शक्ति के विवेचन के अंतर्गत काण्ट ने देश और काल के स्वरूप की व्याख्या की है। उसके अनुसार हमारे ज्ञान का प्रारंभ संवेदनों से होता है, जो ज्ञान की सामग्री (विषय-वस्तु) हैं। इन संवेदनों को बुद्धि-विकल्पों के द्वारा ग्रहण करके नियमित और व्यवस्थित किया जाता है। ये संवेदनाएँ देश और काल रूपी प्रत्यक्ष के आकारों से होकर मानव-बुद्धि तक पहुँचती हैं। हमें किसी ऐसे विषय की संवेदना नहीं प्राप्त हो सकती है, जिसका अस्तित्व देश और काल के अंतर्गत न हो। अतः संवेदन-शक्ति के अंतर्गत देश और काल के स्वरूप को समझना महत्वपूर्ण है। हमारे प्रत्यक्ष के आकार स्वयं इन्द्रियानुभविक नहीं, बल्कि अनुभव-निरपेक्ष होते हैं। इसीलिए काण्ट देश और काल को प्रागनुभविक कहता है। वे प्रागनुभविक होते हुए भी बुद्धि-विकल्प नहीं हैं। काण्ट देश-काल को शुद्ध-संवेदन (Pure Intuition) तथा संवेदना के शुद्ध-आकार (Pure forms of Sensibility) कहता है। इसके अंतर्गत संवेदना के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप का विवेचन किया गया है। यदि मानव-ज्ञान से प्रागनुभविक पक्षों को निकाल दिया जाय तो केवल आनुभविक पक्ष ही शेष रह जाता है, जो संवेदन-शक्ति के द्वारा प्रागनुभविक रूप से प्राप्त होता है। हमारी संवेदनाओं के ये आकार देश और काल के नाम से जाने जाते हैं। काण्ट के दर्शन में देश और काल की दो व्याख्याएँ की गई हैं —

(1) देश और काल की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या (The Metaphysical Exposition of Space and Time)

इसके अंतर्गत देश-काल के स्वरूप का विवेचन अनुभव-निरपेक्ष दृष्टि से किया गया है। देश-काल के स्वरूप की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या के लिए काण्ट ने चार तर्क दिये हैं। इन तर्कों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि देश और काल स्वरूपतः आनुभविक न होकर, प्रागनुभविक हैं। किन्तु वे संप्रत्यय नहीं, बल्कि शुद्ध संवेदनाएँ (Pure Intuitions) हैं। इस संदर्भ में, काण्ट के द्वारा प्रस्तुत चारों तर्कों का संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है —

(i) काण्ट के अनुसार विभिन्न वस्तुओं का सह-अस्तित्व देश के अभाव में नहीं हो सकता है। इसी प्रकार एक घटना का दूसरी घटना के बाद घटित होना, अर्थात् अनुक्रम (Succession) काल के अभाव में असंभव है। इससे सिद्ध होता है कि देश और काल क्रमशः सह-अस्तित्व और अनुक्रम की तार्किक प्रागपेक्षा हैं। सह-अस्तित्व और अनुक्रम की सार्थकता देश और काल के कारण ही हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि वे अनुभव-सापेक्ष प्रत्यय नहीं हैं। वास्तव में, हमें वस्तुओं के अस्तित्व के द्वारा देश का ज्ञान नहीं होता है, बल्कि वस्तुओं का अस्तित्वयुक्त होना स्वयं देश की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार एक घटना का दूसरी घटना के बाद घटित होना स्वयं काल की अपेक्षा रखता है। इससे सिद्ध होता है कि देश और काल अनुभव से उत्पन्न प्रत्यय नहीं, बल्कि प्रागनुभविक प्रत्यक्ष हैं।

(ii) काण्ट के अनुसार ऐसे देश के बारे में सोचा जा सकता है जिसमें वस्तुएँ न हों, किन्तु वस्तुओं को देश से स्वतंत्र रूप में नहीं सोचा जा सकता। इसी प्रकार समस्त घटनाओं से शून्य (रहित) काल संभव है, किन्तु काल से रहित घटनाएँ असंभव हैं। दूसरे शब्दों में, रिक्त देश और रिक्त काल संभव हैं, किन्तु देश और काल से स्वतंत्र रूप में वस्तुओं और घटनाओं की संवेदना असंभव है। इस तर्क के द्वारा काण्ट ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि देश और काल संवेद वस्तुओं और घटनाओं के अनुभव की तार्किक प्रागपेक्षा हैं। इस प्रकार देश और काल हमारे प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित होते हैं। अतः वे प्रागनुभविक हैं।

(iii) देश और काल सामान्य नहीं, बल्कि विशेष हैं। काण्ट के अनुसार उन्हें सामान्य प्रत्यय नहीं कहा जा सकता है। सामान्य प्रत्ययों के अनेक विशेष उदाहरण पाये जाते हैं, जैसे — घट का एक सामान्य प्रत्यय है। उसके उदाहरण के रूप में अनेक विशिष्ट घटों को प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि देश एक सामान्य प्रत्यय होता तो उसके अंतर्गत अनेक विशेष देश उसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते। किन्तु विभिन्न देश किसी सामान्य देश के उदाहरण नहीं हैं। इसी प्रकार विभिन्न काल (जैसे — ग्रीष्म काल, वर्षा काल इत्यादि) सामान्य काल के विशिष्ट उदाहरण नहीं हैं, प्रत्युत ये सब काल के अंश हैं। इसी प्रकार घटाकाश, कमरे के अंदर का आकाश इत्यादि विभिन्न देश, एक अविभाज्य और नित्य देश के अंश हैं। इससे सिद्ध होता है कि देश और काल सर्वव्यापक विशेष हैं। वे विशुद्ध संवेदन रूप हैं।

(iv) काण्ट ने देश और काल को व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ माना है। इस दृष्टि से वे अनंत, अखंड और अविभाज्य हैं। देश और काल का विश्लेषण क्रमशः विभिन्न देश-खण्डों या काल-खण्डों में करके उनको पूरी तरह विश्लेषित नहीं किया जा सकता है। चूँकि वे अनंत और अविभाज्य हैं, इसलिए देश और काल को किन्हीं सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता है। इस प्रकार देश और काल का असीमित, अविभाज्य और सर्वव्यापक होना यह सिद्ध करता है कि वे अनुभवजन्य प्रत्यय नहीं, बल्कि प्रागनुभविक प्रत्यक्ष हैं।

इन तर्कों से सिद्ध होता है कि देश और काल प्रागनुभविक और प्रत्यक्ष के आकार हैं। समस्त इन्द्रिय-प्रत्यक्ष देश-काल से परिच्छिन्न हैं। उनके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। यद्यपि रिक्त देश और रिक्त काल संभव है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि रिक्त देश और रिक्त काल का प्रत्यक्ष हो सकता है। वास्तव में, काण्ट न्यूटन के इस मत का खण्डन करता है कि निरपेक्ष देश और निरपेक्ष काल रिक्त होने पर भी अनुभव के विषय हो सकते हैं। काण्ट के अनुसार ज्यामिति के क्षेत्र में वस्तुओं से रहित देश और काल का निरूपण किया जा सकता है। किन्तु देश और काल का प्रत्यक्ष उनके अंतर्गत स्थित वस्तुओं और घटनाओं के संदर्भ में ही हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार देश और काल के विवेचन की सार्थकता उनके अंतर्गत अनुभूत की जाने वाली वस्तुओं के संदर्भों पर आश्रित है।

(2) देश और काल की अतीन्द्रिय व्याख्या (Transcendental Exposition of Space and Time)

देश और काल की अतीन्द्रिय व्याख्या के अंतर्गत काण्ट ने उसके प्रागनुभविक स्वरूप के आधार पर संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक ज्ञान की संभावना का प्रतिपादन किया है। विभिन्न विज्ञानों के अंतर्गत संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना का आधार देश और काल

हैं। काण्ट के अनुसार ज्यामिति के निर्णय रचना के द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं। काण्ट के पूर्व लाइबनिज ने उन्हें 'तादात्म्य-नियम' (Law of Identity) के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया था। किन्तु काण्ट के अनुसार ज्यामिति के निर्णयों या प्रमेयों को केवल तादात्म्य-नियम के आधार पर नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्यामिति के निर्णय संश्लेषणात्मक हैं। पुनश्च, उनकी वैधता सामान्य और अनिवार्य है, इसलिए वे अनुभव-निरपेक्ष हैं। इस प्रकार ज्यामिति के निर्णय संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक हैं। काण्ट के अनुसार ज्यामिति देश का विज्ञान है। ज्यामिति के निर्णयों का संश्लेषणात्मक होना यह सिद्ध करता है कि देश एक प्रत्यक्ष है। पुनश्च, चूँकि ज्यामिति के निर्णय अनुभव-निरपेक्ष हैं, इसलिए देश भी प्रागनुभविक है। इस प्रकार काण्ट ने ज्यामिति के निर्णयों के संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक होने के आधार पर यह सिद्ध किया कि देश भी प्रागनुभविक प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार काल को प्रागनुभविक प्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए काण्ट ने गति-विज्ञान (Dynamics) का सहारा लिया। ज्यामितीय निर्णयों के समान गति-विज्ञान के निर्णय भी संश्लेषणात्मक और अनुभव-निरपेक्ष हैं। अतः काल भी प्रागनुभविक प्रत्यक्ष है। काण्ट के अनुसार गति की व्याख्या के लिए काल अनिवार्य होता है। वस्तुतः गति की व्याख्या सदैव किसी न किसी काल के सापेक्ष रूप में ही की जा सकती है। गति-विज्ञान से संबंधित नियमों और उसके निर्णयों को संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक तभी कहा जा सकता है, जब उनका आधार काल भी प्रागनुभविक प्रत्यक्ष हो। काण्ट के अनुसार काल का आयाम पूर्वापरभाव है, अर्थात् काल केवल एकल आयामी (Single dimensional) है। इस प्रकार काण्ट ने देश और काल की अतीन्द्रिय व्याख्या प्रस्तुत की है।

संक्षेप में, देश-काल की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार देश और काल संप्रत्ययात्मक नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष के आकार अथवा संवेदन रूप हैं। उन्हें संप्रत्यय नहीं माना जा सकता है क्योंकि संप्रत्यय सामान्य होते हैं, जो अनेक विशेषों में पाये जाते हैं। सामान्यों की संवेदना नहीं प्राप्त हो सकती है। संवेदना विशेषों की ही हो सकती है। इसीलिए काण्ट कहता है कि देश और काल विशेष हैं। वे (देश-काल) व्यावहारिक अथवा आनुभविक दृष्टि से यथार्थ हैं, किन्तु अतीन्द्रिय अथवा पारमार्थिक दृष्टि से प्रत्ययात्मक (काल्पनिक) हैं।

देश और काल की आनुभविक यथार्थता तथा अतीन्द्रिय (पारमार्थिक) प्रत्ययात्मकता (Empirical Reality and Transcendental Ideality of Space and Time) —

काण्ट के द्वारा की गई देश-काल की इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि देश और काल व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ और पारमार्थिक (अतीन्द्रिय) दृष्टि से वैचारिक या काल्पनिक हैं। चूँकि सभी अनुभवगम्य वस्तुएँ देश-काल में स्थित हैं, इसलिए प्रत्येक विषय का ज्ञान देश-काल से परिच्छिन्न है। ज्ञान का कोई भी विषय देश-काल से परे नहीं हो सकता है। अतः आनुभविक दृष्टि से देश और काल वास्तविक हैं। इसके विपरीत देश और काल पारमार्थिक दृष्टि से काल्पनिक हैं। यदि उनकी सत्ता को पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया जाय तो वे पारमार्थिक स्वलक्षणों (Things in themselves) के समान काल्पनिक हो जायेंगे क्योंकि पारमार्थिक होने के कारण वे असंवेद्य आकार हो जायेंगे। यदि उनकी पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया जाय तो वे हमारी संवेदनाओं को उत्पन्न करने वाले स्वलक्षणों में स्थित होंगे। इसके परिणामस्वरूप

देश और काल व्यक्तिगत विचार या कल्पनामात्र हो जायेंगे। इससे उनका अनिवार्य और सार्वभौम ज्ञान नहीं हो सकता है। काण्ट के अनुसार यदि देश और काल को पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाय तो हमारे ज्ञान में सार्वभौमिकता और अनिवार्यता नहीं आ सकती है। अतः गणित के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार देश और काल की पारमार्थिक सत्ता असंभव है। एडवर्ड केयर्ड के अनुसार देश और काल की व्यावहारिक वास्तविकता (Empirical Reality) का एक मात्र आधार उनका पारमार्थिक दृष्टि से अवास्तविक होना है। उन्हें पारमार्थिक मानने पर वे स्वलक्षणों के समान काल्पनिक हो जाते हैं।¹

उल्लेखनीय है कि काण्ट ने अपने देश-काल संबंधी विवेचन में न्यूटन और लाइबनिज के मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। संभवतः काण्ट के आलोचनावाद की यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति उन्हें विरासत में प्रो० एफ०ए० शुल्ज से मिली थी। न्यूटन के अनुसार देश और काल पारमार्थिक दृष्टि से वास्तविक और स्वतंत्र सत्ता (Transcendentally Real) हैं। इसके विपरीत लाइबनिज के अनुसार देश और काल व्यावहारिक दृष्टि से अयथार्थ (Empirically Unreal) हैं। लाइबनिज उन्हें वस्तुओं का संबंध मानता है। उसने न्यूटन के विपरीत देश और काल को वस्तुसत् नहीं माना। लाइबनिज के समान बर्कले ने भी देश और काल को प्रत्ययात्मक माना है। लाइबनिज का दावा है कि देश और काल वस्तुओं को व्यवस्थित करने वाले संबंध मात्र हैं।

काण्ट ने न्यूटन और लाइबनिज के मतों का खण्डन करके दोनों में समन्वय करने का प्रयास किया। न्यूटन के देश-काल संबंधी मत पर एक आपत्ति यह है कि वह दो नित्य तथा अनंत निरपेक्ष द्रव्यों को वस्तुसत् मान लेता है। किन्तु निरपेक्ष देश और निरपेक्ष काल को भावात्मक सत्ता के रूप में स्वीकार करना असंगत है। वस्तुतः जो सत् है, वह स्वयं किसी न किसी देश में है। अतः देश को सत् मानने पर उसके आश्रय के रूप में एक अन्य सत् देश की कल्पना करनी पड़ेगी। काण्ट के अनुसार देश और काल स्वतंत्र सत्ता नहीं, बल्कि संवेदना के दो आकार हैं। पुनश्च, लाइबनिज के मत का खण्डन करते हुए काण्ट कहता है कि देश और काल व्यावहारिक दृष्टि से अवास्तविक नहीं हैं। वे अनुभवजन्य प्रत्यय न होकर प्रागनुभविक संवेदन हैं। वे सभी संवेद्य विषयों में व्याप्त रहते हैं। अतः काण्ट उनकी व्यावहारिक यथार्थता को स्वीकार करता है। किन्तु उन्हें असंवेद्य स्वलक्षणों के समान नहीं माना जा सकता है। यदि देश और काल को अनुभवगम्य विषयों से परे माना जाय तो वे काल्पनिक प्रत्यय मात्र होंगे। अतः काण्ट के अनुसार देश और काल पारमार्थिक दृष्टि से अवास्तविक (Transcendentally Unreal) हैं। दूसरे शब्दों में, काण्ट देश एवं काल को व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक और पारमार्थिक दृष्टि से वैचारिक (अवास्तविक) मानता है।

इससे स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार देश और काल न तो अपने आप में यथार्थ हैं और न वस्तुओं या घटनाओं के गुण अथवा संबंध हैं। वे संवेदनों के आकार हैं। देश (Space) बाह्य इन्द्रियानुभव का तथा काल (Time) आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही संवेदनों का आकार है। देश और काल हमारे मानसिक चक्षु हैं, जिनके द्वारा हम प्राकृतिक जगत् का प्रत्यक्ष करते हैं। उनके

माध्यम से ही हमें ज्ञात वस्तुओं की प्रतीति होती है। काण्ट के अनुसार वस्तुओं का ज्ञात स्वरूप हमारे द्वारा पहले से ही निर्धारित होता है। वस्तुओं का देश और काल से स्वतंत्र स्वरूप मनुष्य के लिए कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता है। हम देश-काल से परे वस्तुओं के स्वरूप को निर्धारित नहीं कर सकते हैं। अतः काण्ट का दावा है कि देश और काल आनुभविक दृष्टि से यथार्थ और अतीन्द्रिय दृष्टि से अयथार्थ हैं। इस प्रकार पारमार्थिक विषयों, जैसे — ईश्वर, आत्मा, ब्रह्माण्ड आदि के संबंध में देश और काल पूर्णतया काल्पनिक हो जाते हैं। वस्तुतः देश एवं काल की आलमिष्ठ शक्तों से स्वतंत्र रूप में किसी भी वस्तु के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता है।

काण्ट के देश और काल की तुलना अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य के देश-काल संबंधी मत से की जा सकती है। शंकराचार्य के अनुसार देश-काल और कारण-कार्य के नियमों से बंधा हुआ यह जगत् सत् नहीं हो सकता है। हमारा अनुभव भले ही देश से संबद्ध है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता को देश की आवश्यकता नहीं होती है। पारमार्थिक सत्ता अखंड और अनंत है। जो देश-काल में सीमित है, वह विभाज्य है। जो वस्तु विभाज्य है, उसका उद्भव, विकास, हास और विनाश होगा। अतः उसे वास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चूंकि पारमार्थिक सत्ता उत्पत्ति से रहित और अविभाज्य है, इसलिए उसमें देश का प्रतिबंध नहीं हो सकता है। शंकराचार्य के अनुसार देश की सर्वव्यापकता काल-सापेक्ष है। जो देश के अंतर्गत सीमित है वह काल के अंतर्गत भी सीमित है।¹

शंकराचार्य के समान काण्ट भी देश और काल को पारमार्थिक दृष्टि से अयथार्थ (अवास्तविक) मानता है। किन्तु दोनों विचारकों के दृष्टिकोण, में कुछ मौलिक अन्तर है। शंकराचार्य के विपरीत काण्ट देश और काल को परस्पर सापेक्ष नहीं मानता है, बल्कि उन्हें परस्पर एक दूसरे से स्वतंत्र मानता है। देश और काल दोनों दो भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष हैं। किन्तु शंकराचार्य के अनुसार देश की व्यापकता काल-सापेक्ष है। जो देश में सीमित है, वह काल में भी सीमित होगा। वास्तव में, देश और काल को एक-दूसरे से स्वतंत्र या परस्पर निरपेक्ष नहीं माना जा सकता है। वे प्रत्यक्ष के दो पृथक्-पृथक् आकार नहीं हैं। वस्तुतः देश और काल प्रत्यक्ष के एक ही आकार के अंतर्गत आते हैं। काल आंतरिक विषयों के साथ-साथ बाह्य विषयों का भी निर्धारक आकार है। आंतरिक विषय केवल काल में हैं। इसके विपरीत बाह्येन्द्रियों के विषय देश के साथ-साथ काल के भी अंतर्गत आते हैं।

काण्ट के बाद भौतिकी और गणित के क्षेत्र में पर्याप्त संशोधन, परिमार्जन और विकास हुआ है। उसकी देश-काल संबंधी अवधारणा यूक्लिडीय ज्यामिति और न्यूटनीय भौतिकी की मान्यताओं पर आधारित है। काण्ट ने देश के केवल तीन आयाम (लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई) माना था, किन्तु आइन्सटीन के द्वारा प्रतिपादित 'गति की सापेक्षता के सिद्धान्त' (Theory of Relativity) के अंतर्गत काल को देश का चौथा आयाम माना गया है।² इस प्रकार अब लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई के साथ-साथ काल को देश का चौथा आयाम माना जाता है। अतः देश और काल परस्पर समकक्ष नहीं हैं।

¹ शारीरक भाष्य, 2/3-7.

² Time is the fourth dimension of space.

उल्लेखनीय है कि यूक्लिड की ज्यामिति में देश को त्रिआयामी माना गया है। 'त्रिभुज के तीनों अन्तःकोणों का योग दो समकोण होता है' यूक्लिडीय ज्यामिति के इस वाक्य को काण्ट ने संश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक माना है। इसे 'अभेद-नियम' (Law of Identity) के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। काण्ट के अनुसार इसे देश के अन्तर्गत रचना के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु समकालीन विश्लेषी दार्शनिकों ने काण्ट के मत की अपेक्षा लाइबनिज और ह्यूम के मत का समर्थन किया है। अब ज्यामिति के नियम इतने अमूर्त रूप में प्रतिपादित किये जा रहे हैं कि उन्हें संश्लेषणात्मक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें रचना की उपयोगिता नहीं है। गणित के क्षेत्र में अधिगणितीय (Meta-Mathematical) सिद्धान्तों की स्थापना हुई है। इसमें रचना की उपयोगिता न होने से देश की उपयोगिता ही नहीं रह गई है।

पी० एफ० स्ट्रासन के अनुसार काण्ट की मौलिक भूल यह है कि उसने यूक्लिडीय ज्यामिति की सांवृतिक व्याख्या (Phenomenal interpretation) और भौतिक व्याख्या (Physical interpretation) में भेद नहीं किया है। काण्ट का सिद्धान्त केवल यूक्लिडीय ज्यामिति की सांवृतिक व्याख्या के संदर्भ में ही लागू हो सकता है। स्ट्रासन का कहना है कि संवेदनों के विषयों की दैशिक प्रतीति भले ही होती है, किन्तु दैशिक प्रतीति का भौतिक होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में यह आवश्यक नहीं है कि जो शुद्ध संवेदनों का विषय हो, वह अनिवार्य रूप से भौतिक हो।¹ यद्यपि भौतिकी और ज्यामिति के क्षेत्र में स्थापित समकालिक मानकों (Standards) ने काण्ट के दर्शन की कुछ मान्यताओं को असंगत सिद्ध कर दिया है, तथापि उसका दर्शन अपने युग के परिप्रेक्ष्य में समन्वयवादी और वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त रहा है। वस्तुतः किसी भी विचारधारा का निष्पक्ष मूल्यांकन उसके युग की वैज्ञानिक, गणितीय, साहित्यिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के सापेक्ष रूप में ही किया जा सकता है। विभिन्न युगों की वैज्ञानिक और सामाजिक मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्तन होने के कारण उसका प्रभाव दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में पड़ना स्वाभाविक हो जाता है। आज की वैज्ञानिक और गणितीय मान्यताओं में संशोधन होने के कारण काण्ट की कुछ मान्यताएँ भले ही असंगत सिद्ध हो गई हों, किन्तु उसके दर्शन की यह मान्यता एक शाश्वत सत्य है कि मनुष्य केवल उन्हीं विषयों को जान सकता है जो देश और काल में स्थित हों।

अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र (Transcendental Logic)

काण्ट के अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र के अंतर्गत ज्ञान के अनुभव-निरपेक्ष स्वरूप का विवेचन किया गया है। यह अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान के उद्भव का विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। इसका स्वरूप अनुभव के द्वारा नहीं, बल्कि बुद्धि के द्वारा निर्धारित होता है। इससे स्पष्ट है कि अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र सार्वभौम ज्ञान की संभावनाओं तथा उनके तार्किक आधारों का अनुसंधान करता है। वस्तुतः इसके अंतर्गत प्रागनुभविक ज्ञान की संभावनाओं पर विचार किया गया है। काण्ट के अनुसार ज्ञान एक जटिल संरचना है, जिसके निर्माण में संवेदनाओं और बुद्धि (Understanding) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यद्यपि ज्ञान की रचना में संवेदनों और बौद्धिक संप्रत्ययों की पृथक्-पृथक् भूमिका होती है, तथापि काण्ट की ज्ञानमीमांसा में इनमें से

प्रत्येक तत्त्व का समान महत्त्व है। अनुभवातीत तर्कशास्त्र का लक्ष्य बौद्धिक संप्रत्ययों के स्वरूप का अनुसंधान करना है। ये बौद्धिक संप्रत्यय मानव-बुद्धि के आकार हैं, जिन्हें काण्ट ने बुद्धि-विकल्प कहा है। यद्यपि अनुभवातीत तर्कशास्त्र में ज्ञान के प्रागनुभविक स्वरूप का विवेचन किया गया है, तथापि इसके अंतर्गत अनुभव की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वस्तुतः ज्ञान के अंतर्गत अनुभव और बौद्धिक संप्रत्ययों के बीच स्पष्ट सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से अनुभव और बौद्धिक संप्रत्ययों के स्वरूप और भूमिका का विवेचन और मूल्यांकन करने के लिए उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जा सकता है। संवेदनाओं के आकारों का विवेचन काण्ट ने अतीन्द्रिय संवेदन-आकार (Transcendental Aesthetic) के अंतर्गत किया है। इसी प्रकार बौद्धिक संप्रत्ययों के स्वरूप और भूमिका का विवेचन अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र के अंतर्गत किया गया है। काण्ट के दर्शन में अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का विभाजन मुख्य रूप से दो भागों में किया गया है — (i) अतीन्द्रिय विश्लेषकी या अतीन्द्रिय बोध का सिद्धान्त और (ii) अतीन्द्रिय द्वन्द्व-न्याय या प्रज्ञा का विवेचन।

अतीन्द्रिय बोध-सिद्धान्त के अन्तर्गत काण्ट ने बुद्धि के स्वरूप का विवेचन एवं परीक्षण किया है। ज्ञान के उपादान स्वरूप संवेदनों को व्यवस्थित एवं नियमित करने का श्रेय बुद्धि को जाता है। संवेदनाओं के स्वरूप का मूल्यांकन करने के बाद काण्ट बुद्धि के आकारों का परीक्षण करता है। इन्हें बौद्धिक संप्रत्यय कहा जाता है, जो अस्त-व्यस्त अर्थात् बिखरे हुए संवेदनों को ग्रहण करके उन्हें ज्ञान के रूप में परिणत करते हैं। संवेदन-शक्ति के रूप में देश और काल संवेदनाओं के प्रवेश-द्वार हैं। समस्त संवेदनाएँ देश और काल रूपी आकारों से होकर बुद्धि-प्राप्त होती हैं। मानव-बुद्धि ग्रहणशील होने के साथ-साथ सर्जनात्मक भी है। वह संवेदनों को ग्रहण करके उन्हें विषयों के रूप में परिणत करती है। संवेदनों के अभाव में किसी विषय की रचना नहीं की जा सकती है। किन्तु बौद्धिक संप्रत्ययों के बिना संवेदनों को ग्रहण नहीं किया जा सकता है। बुद्धि जिन संप्रत्ययों के द्वारा विषयों की रचना करती है, उन्हें बुद्धि का आकार या बौद्धिक कोटि कहा जाता है। बुद्धि के इन आकारों (Forms of Understanding) को काण्ट ने बुद्धि-विकल्प (Categories of Understanding) कहा है। अपनी प्रसिद्ध रचना 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' (Critique of Pure Reason) में वह 'बुद्धि की परीक्षा' (Transcendental analytic) के अंतर्गत बुद्धि-विकल्पों के स्वरूप का विश्लेषण और मूल्यांकन करता है।

बुद्धि-विकल्पों का तत्त्वमीमांसीय निगमन

(Metaphysical Deduction of Categories)

यद्यपि बुद्धि-विकल्प अनुभव-निरपेक्ष हैं, तथापि वे अनुभव के विषयों पर लागू होते हैं। बुद्धि-विकल्पों के अभाव में संवेदनाएँ ज्ञान का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकती हैं। उनके अभाव में प्रत्यक्ष अनुभव पशुवत संवेदनमात्र होंगे। काण्ट के द्वारा प्रतिपादित बुद्धि-विकल्पों का घनिष्ठ संबंध उस समय के तर्कशास्त्र में प्रचलित निर्णयों (तर्कवाक्यों) से है। बुद्धि-विकल्पों की संख्या का निर्धारण आकारिक तर्कशास्त्र में मान्य निर्णयों से किया गया है। अतः आकारिक तर्कशास्त्र में जितने निर्णय हैं, ठीक उतने ही बुद्धि-विकल्पों का निगमन किया गया है। उल्लेखनीय है कि उस समय आकारिक तर्कशास्त्र में कुल मिलाकर बारह निर्णय (तर्कवाक्य) प्रचलित थे। प्रत्येक

निर्णय किसी न किसी बुद्धि-विकल्प को अभिव्यक्त करता है। इन बुद्धि-विकल्पों के बिना निर्णय संभव नहीं हो सकते हैं। वास्तव में 'जानना' एक प्रकार से निर्णय करना है। इन निर्णयों के स्वरूप में बुद्धि की वे क्रियाएँ निहित हैं, जो समस्त ज्ञान की अनिवार्य शर्तें हैं। इन निर्णयों का स्रोत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि आनुभविक निर्णय सार्वभौम और अनिवार्य नहीं होते हैं। आकारिक तर्कशास्त्र के निर्णय सार्वभौम और अनिवार्य होते हैं। अतः उन्हें अनुभवजन्य मानना समीचीन नहीं होगा। काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों के निर्धारण में परंपरागत आकारिक तर्कशास्त्र का सहारा लिया है। वह आकारिक तर्कशास्त्र में प्रचलित निर्णयों का सहारा लेते हुए समस्त बुद्धि-विकल्पों की संख्या का निर्धारण करता है। बारह प्रकार के निर्णयों के आधार पर काण्ट ने बारह प्रकार के बुद्धि-विकल्पों का निगमन किया है, जिसे बुद्धि-विकल्पों का तात्त्विक निगमन कहा जाता है। निर्णयों के तार्किक स्वरूप के आधार पर बुद्धि-विकल्पों के निगमन की प्रक्रिया में कुछ प्रमुख सोपान उल्लेखनीय हैं।¹

- (1) मानव-बुद्धि संप्रत्ययों (बुद्धि-विकल्पों) के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की एक क्षमता है।
- (2) बुद्धि-विकल्पों के माध्यम से जानना, निर्णय लेना है।
- (3) निर्णय लेने का निहितार्थ प्रत्ययों में एकता स्थापित करना है।
- (4) आकारिक तर्कशास्त्र में मान्य विभिन्न निर्णयों के स्वरूप के द्वारा विभिन्न प्रत्ययों में एकता स्थापित की जाती है।
- (5) इससे सिद्ध होता है कि निर्णय के आकारों की संख्या ही बुद्धि-विकल्पों की संख्या है।

इन बारह प्रकार के निर्णयों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत तीन-तीन निर्णय रखे गए हैं। इसी प्रकार काण्ट ने इन बारह निर्णयों के आधार पर ही बारह बुद्धि-विकल्पों को भी चार वर्गों में विभाजित किया है। इनमें से प्रत्येक निर्णय से तदनुरूप एक-एक बुद्धि-विकल्प का निगमन किया गया है, जो अधोलिखित हैं —

निर्णय (Judgements)	बुद्धि-विकल्प (Categories of Understanding)
(अ) परिमाणवाचक (Quantitative)	(अ) परिमाणवाचक (Quantitative)
1. सर्वव्यापी — सब मनुष्य मरणशील हैं। (Universal)	1. एकता (Unity)
2. अंशव्यापी — कुछ मनुष्य श्वेत हैं। (Particular)	2. अनेकता (Plurality)
3. एकव्यापी — यह मनुष्य श्वेत है। (Singular)	3. समग्रता (Totality)
(ब) गुणवाचक (Qualitative)	(ब) गुणवाचक (Qualitative)
4. विध्यालक — देवता अमर हैं। (Affirmative)	4. सत्ता (Reality)

1 देखिए विस्तृत अध्ययन के लिए काण्ट का दर्शन, समाजीत मिश्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1988 पृ० 50; एवं
Kant's Metaphysics of Experience, Vol 1., P. 248-49.

- | | |
|---|--|
| 5. निषेधात्मक— मनुष्य पूर्ण नहीं हैं।
(Negative) | 5. निषेध या अभाव
(Negation) |
| 6. सीमित — आत्मा अमर हैं।
(Limited) | 6. सीमा
(Limitation) |
| (स) संबंधवाचक (Relational) | (स) सम्बन्धवाचक (Relational) |
| 7. निरपेक्ष — अग्नि उष्ण है।
(Categorical) | 7. द्रव्य-गुण संबंध
(Substance and Accidens) |
| 8. सापेक्ष — यदि सूखा पड़ता है
(Hypothetical) तो वस्तुओं का दाम बढ़ेगा। | 8. कारण-कार्य संबंध
(Cause and Effect) |
| 9. वैकल्पिक — या तो इस कमरे में
(Disjunctive) प्रकाश है या अन्धकार है। | 9. अन्योन्याश्रय संबंध
(Reciprocity between the active and the passive) |
| (द) प्रकारतावाचक (Modal) | (द) प्रकारतावाचक (Modal) |
| 10. संभाव्य — संभव है कि मंगल ग्रह
(Problematic) पर रहने वाले कुछ प्राणी मनुष्य हों। | 10. संभावना और असंभावना
(Possibility & Impossibility) |
| 11. प्रतिपन्न — पृथ्वी गोल है।
(Assertoric) | 11. अस्तित्व एवं अनस्तित्व
(Existence & non-existence) |
| 12. आवश्यक — प्रत्येक कार्य सकारण
(Apodictic) होता है। | 12. अनिवार्यता एवं आपातिकता
(Necessity & Contingency) |

इस प्रकार आकारिक तर्कशास्त्र के बारह निर्णयों के आधार पर काण्ट ने बारह बुद्धि-विकल्पों का तात्त्विक निगमन किया है। ये निर्णय विचार की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के परिणाम हैं। ज्ञान की विषयवस्तु बिना वैचारिक संप्रत्ययों के ग्रहण नहीं की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि संवेदनों को जानने के लिए आवश्यक है कि वे बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा ग्रहण करके एकता के सूत्र में अनुस्यूत कर दिये जायँ। बुद्धि की इस क्रिया को काण्ट ने संश्लेषण (Synthesis) कहा है। इससे स्पष्ट है कि मानव-ज्ञान की रचना में विश्लेषण और संश्लेषण दोनों का उपयोग होता है। विश्लेषण एक निर्णयात्मक क्रिया है। तार्किक दृष्टि से संश्लेषण, विश्लेषण का पूर्ववर्ती होता है। बुद्धि अपने प्रागनुभविक संप्रत्ययों के माध्यम से संवेदनों का संश्लेषण करती है। मानव-ज्ञान की निष्पत्ति का प्रारंभ संश्लेषण की प्रक्रिया से होता है। वस्तुतः विश्लेषण और संश्लेषण दोनों ही बुद्धि (Understanding) के दो व्यापार हैं। विश्लेषण के द्वारा निर्णयों (तर्कवाक्यों) की तार्किक एकता उत्पन्न होती है और संश्लेषण के द्वारा विशुद्ध संवेदनों की संश्लेषणात्मक एकता उत्पन्न होती है।

काण्ट के द्वारा निगमित बुद्धि-विकल्पों में से प्रथम छः बुद्धि-विकल्पों (परिमाणवाचक और गुणवाचक) को गणितीय (Mathematical) अथवा अचल कहा जाता है। ये वस्तुओं की प्रकृति को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत अंतिम छः बुद्धि-विकल्पों (संबंधवाचक एवं प्रकारवाचक) को गतिशील (dynamic) कहा जाता है। ये परस्पर द्वन्द्वात्मक हैं। ये बुद्धि और वस्तु के पारस्परिक संबंधों का निरूपण करते हैं।

काण्ट ने इन बुद्धि-विकल्पों का वर्गीकरण चार भागों में किया है। इनमें से प्रत्येक भाग में तीन-तीन बुद्धि-विकल्पों को रखा गया है। इनमें से प्रत्येक भाग के प्रथम और द्वितीय बुद्धि-विकल्प एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं। तीसरा बुद्धि-विकल्प प्रथम दो बुद्धि-विकल्पों के समन्वय से बनता है। किन्तु तीसरा बुद्धि-विकल्प प्रथम दो बुद्धि-विकल्पों का योग अथवा समन्वय मात्र नहीं है। प्रत्येक भाग का तीसरा बुद्धि-विकल्प प्रथम दो बुद्धि-विकल्पों के पारस्परिक समन्वय एवं सम्मिश्रण से एक नवीन स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अतः उसकी गणना अन्य दोनों विकल्पों से पृथक् रूप में की गई है। आगे चलकर हेगल के दर्शन में काण्ट के इन तीन बुद्धि-विकल्पों के आधार पर क्रमशः पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Antithesis) एवं समन्वय (Synthesis) की त्रयी का विकास हुआ। हेगल के द्वन्द्व-न्याय पर काण्ट के इन बुद्धि-विकल्पों की अवधारणा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

चूँकि बुद्धि का प्रमुख व्यापार संबंध स्थापित करना है, इसलिए काण्ट के द्वारा किए गए बुद्धि-विकल्पों के वर्गीकरण में संबंधात्मक बुद्धि-विकल्प सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इसके अंतर्गत द्रव्य-गुण, कारण-कार्य और अन्योन्याश्रय से संबंधित बुद्धि-विकल्प आते हैं। ह्यूम की यह एक गंभीर भूल थी कि उसने कारण-कार्य के संबंधात्मक बुद्धि-विकल्प को भी अनुभवजन्य प्रत्यय मान लिया। काण्ट के अनुसार ये बुद्धि-विकल्प प्रत्येक अनुभव की तार्किक प्रागपेक्षा हैं।

काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों के इस वर्गीकरण के आधार पर चार प्रकार की प्रचलित मान्यताओं का निराकरण करने का प्रयास किया। उसने परिमाणवाचक बुद्धि-विकल्पों से अनुवाद, गुणवाचक विकल्पों से असत्कार्यवाद या शून्यवाद का (Ex Nihilo Nihil fit) संबंधात्मक विकल्पों (जैसे कारण-कार्य संबंध एवं द्रव्य-गुण संबंध) से संयोगवाद एवं भाग्यवाद का तथा प्रकारतावाचक (Modality) बुद्धि-विकल्पों से दैवी-चमत्कारवाद का निराकरण किया।

काण्ट के अनुसार भौतिकी के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना का कारण बुद्धि-विकल्प हैं। वस्तुतः बुद्धि-विकल्प संवेदनों को व्यवस्थित और नियमित करने वाले बौद्धिक उपकरण हैं। बुद्धि-विकल्प ज्ञान के वे प्रागनुभविक आकार हैं; जिनके द्वारा मानव-ज्ञान की अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता निर्धारित होती है। स्वरूपतः बुद्धि-विकल्प ज्ञान के आकार या साँचे हैं और संवेदनाएँ मानव-ज्ञान की सामग्री हैं। अतः संवेदनों के अभाव में उनके द्वारा किसी विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि संवेदनों से रहित बुद्धि-विकल्प केवल शुष्क चिंतन कर सकते हैं। इसीलिए काण्ट कहता है कि 'संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प रिक्त है।' केवल बुद्धि-विकल्पों के द्वारा किया गया चिन्तन काल्पनिक होता है। वह इन बौद्धिक संप्रत्ययों का प्रयोग केवल प्राकृतिक जगत् की सीमा में ही करता है। चूँकि परमार्थ संवेद्य नहीं हो सकता है, इसलिए बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग असंवेद्य स्वलक्षणों पर नहीं किया जा सकता है। अद्वैत-वेदान्त की शब्दावली में कहें तो परमार्थ पर बौद्धिक संप्रत्ययों का प्रयोग करना एक प्रकार का अध्यास (Superimposition) है। वस्तुतः बौद्धिक संप्रत्ययों का प्रयोग परमार्थ पर करना बुद्धि-विकल्पों का दुरुपयोग है। इससे स्पष्ट है कि समस्त मानव-ज्ञान बुद्धि-विकल्पों पर आधारित है, क्योंकि प्राकृतिक जगत् से प्राप्त कोई भी अनुभव इनके बिना ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है।

कुछ आलोचकों के अनुसार बुद्धि-विकल्पों का तत्त्वमीमांसीय निगमन काण्ट के दर्शन का सबसे निर्बल पक्ष है। काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों की जो सूची प्रस्तुत की है, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता है। काण्ट ने अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत बौद्धिक कोटियों को अपूर्ण और अव्यवस्थित कहकर उसकी आलोचना की है। उसके अनुसार अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत कोटियाँ किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं। अतः अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत कोटियों की सूची अपूर्ण है। यद्यपि यह सच है कि काण्ट ने एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर बुद्धि-विकल्पों की सूची प्रस्तुत की है, तथापि उसके द्वारा निगमित बारह बुद्धि-विकल्प परंपरागत आकारिक तर्कशास्त्र के निर्णयों की संख्या पर निर्भर हैं। आधुनिक तर्कशास्त्र के क्षेत्र में पर्याप्त विकास और सर्वथा नूतन सिद्धान्तों की स्थापना हो जाने के कारण अनेक तर्कशास्त्रियों और आलोचकों ने काण्ट के द्वारा प्रस्तुत बुद्धि-विकल्पों की सूची को भी अपूर्ण और असंगत माना है। काण्ट के परवर्ती हेगल और नव्य-हेगलवादियों से लेकर विश्लेषी दार्शनिकों एवं साधारण भाषा दार्शनिकों (जैसे — राइल) तक ने काण्ट के द्वारा प्रस्तुत बारह बुद्धि-विकल्पों की सूची को पूर्ण नहीं माना है। आधुनिक युग में प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के विकसित हो जाने से तार्किक चिन्तन इतना अमूर्त हो गया है कि उसके द्वारा प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। अतः तर्कशास्त्रीय दृष्टि से काण्ट के तात्त्विक निगमन का समकालीन दर्शन में केवल ऐतिहासिक महत्व अवशेष है। यद्यपि काण्ट के द्वारा प्रस्तुत बुद्धि-विकल्पों की सूची अपूर्ण हैं, फिर भी उसकी यह मान्यता अकाट्य है कि बौद्धिक संप्रत्यय प्राकृतिक जगत् के अनुभव की तार्किक प्रागपेक्षा हैं। वस्तुतः काण्ट के बुद्धि-विकल्प उस युग में प्रचलित आकारिक तर्कशास्त्र के स्वरूप पर आश्रित हैं। अतः उसके दार्शनिक चिंतन की पारंपरिक तर्कशास्त्र पर निर्भरता स्वाभाविक है।

बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन

(Transcendental Deduction of Categories)

बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन काण्ट के दर्शन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसके अन्तर्गत काण्ट बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनों पर प्रागनुभविक संप्रत्ययों के प्रयोग का औचित्य प्रतिपादित करता है। यह अतीन्द्रिय निगमन आनुभविक निगमन से भिन्न है। आनुभविक निगमन के अंतर्गत आनुभविक प्रेक्षण के आधार पर संप्रत्ययों की प्राप्ति का निदर्शन किया जाता है। किन्तु अतीन्द्रिय निगमन के अंतर्गत आनुभविक सामग्री पर बौद्धिक संप्रत्ययों के प्रयोग की वैधता का विवेचन और मूल्यांकन किया गया है। अतः प्रागनुभविक संप्रत्ययों का अतीन्द्रिय निगमन अनुभववादियों के द्वारा प्रतिपादित प्रत्ययों के मनोवैज्ञानिक निगमन से भिन्न है। काण्ट के द्वारा प्रतिपादित बुद्धि-विकल्पों के अतीन्द्रिय निगमन के दो पक्ष हैं —

(1) बुद्धि विकल्पों का आत्मनिष्ठ निगमन (Subjective Deduction of Categories)

बुद्धि-विकल्पों का आत्मनिष्ठ निगमन कटु आलोचना का विषय रहा है। इस आधार पर काण्ट दर्शन के अनेक समीक्षकों ने उसके ऊपर अहंमात्रवाद और आत्मनिष्ठतावाद का आरोप लगाया है। इन आक्षेपों पर विचार करने से पूर्व आत्मनिष्ठ निगमन के स्वरूप का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। काण्ट ने आत्मनिष्ठ निगमन के अंतर्गत यह दिखाया है कि बुद्धि-विकल्प

विभिन्न संवेदनाओं के संश्लेषण का अनुशासित करने वाले प्रागनुभविक नियम हैं। ये नियम काल के माध्यम से प्राप्त होने वाली संवेदनाओं पर लागू होते हैं। बुद्धि-विकल्पों के आत्मनिष्ठ निगमन से सिद्ध होता है कि आकार-युक्त बुद्धि-विकल्प प्रागनुभविक होने के साथ-साथ हमारे अनुभव में अन्तर्निहित हैं। इसके अंतर्गत काण्ट के द्वारा तीन प्रकार के बौद्धिक संश्लेषण का विवेचन किया गया है। काण्ट के अनुसार ज्ञान एक प्रकार की एकता है, जिसमें विभिन्न संवेदनाएँ परस्पर संश्लिष्ट रूप से समाहित हो जाती हैं। यदि इन संवेदनाओं को एकता के सूत्र में अनुस्यूत न किया जाय तो ज्ञान की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। संवेदनाओं को ग्रहण करके बुद्धि उन्हें ज्ञान के रूप में परिणत करती है। इससे स्पष्ट है कि संवेदनाओं को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए बुद्धि का सक्रिय होना आवश्यक है। इस संदर्भ में बुद्धि के द्वारा तीन प्रकार का संश्लेषण संपादित किया जाता है। ये तीनों प्रकार के संश्लेषण प्रत्येक ज्ञान की संरचना के लिए आवश्यक होते हैं —

(i) प्रत्यक्ष में बोध का संश्लेषण (Synthesis of Apprehension is perception)

— काण्ट के अनुसार समस्त संवेदनाएँ अन्तःकरण से संबंधित होती हैं। अन्तःकरण का आकार काल है। अतः प्रत्येक संवेदना का काल के अंतर्गत नियमित और व्यवस्थित किया जाना आवश्यक हो जाता है। मनुष्य के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष विभिन्न संवेदनाओं की एकता पर निर्भर होता है। इन संवेदनाओं की एकता का ज्ञान तभी संभव है, जब पूर्ववर्ती और परवर्ती संवेदनाओं में पारस्परिक संबंध हो। अपने आप में प्रत्येक संवेदन क्षणिक एवं विशेष होता है। अतः वह एकाकी एवं अन्य संवेदनों से असम्बद्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष की एकता तभी संभव है जब विभिन्न पूर्ववर्ती और परवर्ती संवेदनाओं को परस्पर संबंधित किया जाय। विभिन्न संवेदनाओं को परस्पर संबंधित करने की इस प्रक्रिया को काण्ट संश्लेषण कहता है। चूँकि इस संश्लेषण का संबंध संवेदनाओं को एकता के सूत्र में बाँधकर प्रत्यक्ष का विषय बनाना है, इसलिए काण्ट इसे प्रत्यक्ष के अंतर्गत बोध का संश्लेषण कहता है।

(ii) कल्पना में पुनरभिव्यक्ति का संश्लेषण (Synthesis of Reproduction in Imagination) — यदि किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते समय पूर्ववर्ती क्षणों में ज्ञात अवस्थाओं की, बाद के क्षणों में पुनः अभिव्यक्ति न हो तो हमें उस विषय का ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि यदि प्रत्यक्ष की पूर्ववर्ती अवस्थाओं का विस्मरण हो जाय तो विषय की संश्लिष्ट एकता का ज्ञान असंभव होगा। वस्तुतः वस्तुओं का ज्ञान काल के अंतर्गत होता है। यदि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते समय हमारी संवेदनाओं में एक व्यवस्था या क्रम न हो तो हमें किसी वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती है। जैसे, यदि कोई वस्तु भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न रंग, गंध, स्वाद आदि गुणों से युक्त हो तो एक बार उस वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाने पर भी दूसरे क्षण उसके यथार्थ स्वरूप की अवधारणा नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार यदि किसी रेखा के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक पहुँचने पर पूर्ववर्ती बिन्दुओं की कल्पना के द्वारा पुनरभिव्यक्ति न की जाय तो एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में उस रेखा का ज्ञान नहीं हो सकता है।

(iii) संप्रत्यय में प्रत्यभिज्ञा का संश्लेषण (Synthesis of Recognition in Concept) — काण्ट के अनुसार केवल कल्पना के द्वारा ज्ञेय वस्तु की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की पुनरभिव्यक्ति मात्र से उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि हमें यह ज्ञात न हो कि विचारणीय

विषय पूर्व क्षण का ही विषय है तो कल्पना के द्वारा पूर्ववर्ती अवस्था की पुनरभिव्यक्ति भी निरर्थक हो जायेगी। किसी विषय के वास्तविक ज्ञान के लिए उसकी परवर्ती अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करने में उस वस्तु की परवर्ती अवस्थाओं की प्रत्यभिज्ञा का होना भी आवश्यक होता है। चूँकि हमारा विषय-ज्ञान क्रमिक और व्यवस्थित एकता के रूप में होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि ज्ञेय विषय की अंतिम अवस्था का ज्ञान प्राप्त करते समय ज्ञाता को ज्ञेय वस्तु की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की चेतना भी हो। काल के अंतर्गत संश्लेषण की विभिन्न क्रियाएँ चेतना की क्रियाएँ हैं। इस प्रकार काल के अंतर्गत अस्त-व्यस्त एवं एकाकी संवेदनों की एकता से किसी वस्तु का ज्ञान होता है।

काण्ट के अनुसार किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये तीनों प्रकार के बौद्धिक संश्लेषण अनिवार्य हैं। इस त्रिविध संश्लेषण का घनिष्ठ संबंध ज्ञाता आत्मा से है। संश्लेषण की इन तीनों अवस्थाओं में एक ही ज्ञाता का होना अनिवार्य है क्योंकि यदि इन तीनों अवस्थाओं में अलग-अलग ज्ञाता हों तो किसी विषय के ज्ञान के एकता और त्रिविध संश्लेषण असंभव होंगे। अतः काण्ट आत्मा की एकता का प्रतिपादन करता है।

काण्ट के द्वारा प्रस्तुत अतीन्द्रिय निगमन का आत्मगत पक्ष ज्ञान के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण नहीं करता है। वस्तुतः परंपरागत अनुभववादियों और काण्ट के मत में यह एक मौलिक अंतर है। काण्ट के कुछ भाष्यकारों ने भ्रमवश इसे आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक निगमन मान लिया था। किन्तु पेटन और ग्राहमबर्ड जैसे आलोचकों के अनुसार काण्ट का दृष्टिकोण न तो मनोवैज्ञानिक है और न बर्कले की तरह आत्मनिष्ठतावादी। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के द्वितीय संस्करण में आत्मगत निगमन का उल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः आत्मगत निगमन का लक्ष्य सक्रिय बुद्धि के विभिन्न पक्षों और क्षमताओं का उद्घाटन करना है जो समस्त ज्ञान में अंतर्निहित होते हैं।

(2) बुद्धि-विकल्पों का वस्तुनिष्ठ (अतीन्द्रिय) निगमन (Objective Deduction of Categories)— बुद्धि-विकल्पों के अतीन्द्रिय निगमन के अंतर्गत वस्तुनिष्ठ निगमन को काण्ट के दर्शन का सारतत्त्व कहा जाता है। इसके अंतर्गत बुद्धि-विकल्पों का निरूपण बुद्धि के द्वारा बाह्य जगत् पर लागू किए जाने वाले संश्लेषण के नियमों के रूप में किया गया है। बुद्धि-विकल्पों के द्वारा हम संवेदनों के माध्यम से विषयों को जानते हैं। अतः बाह्य जगत् के ज्ञान के लिए बुद्धि-विकल्पों की आवश्यकता है। काण्ट के अनुसार बुद्धि-विकल्प विषयों में निहित होते हैं, इसलिए हमें विषयों का ज्ञान होता है। बुद्धि-विकल्पों की उत्पत्ति अनुभव के द्वारा मानना दोषपूर्ण है क्योंकि वे स्वरूपतः अनुभव-निरपेक्ष हैं।

जब बुद्धि जगत् से प्राप्त संवेदनों को ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित करती है तथा बिखरे हुए संवेदनों को एकता के सूत्र में अनुस्यूत कर देती है तो हमें प्राकृतिक जगत् का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, बुद्धि-विकल्पों के बिना हमें बाह्य विषयों अथवा प्राकृतिक जगत् का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिए काण्ट कहता है — बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है।¹ उल्लेखनीय है कि काण्ट से पूर्व पाश्चात्य दर्शन में यह मान्यता थी कि मानव-ज्ञान बाह्य वस्तुओं की संरचना के अनुरूप होता है। इसे भारतीय दर्शन में 'मानं मेयाधीनम्' अथवा 'ज्ञानं ज्ञेयाधीनम्' (अर्थात्

यथावस्तु तथा ज्ञान) के नाम से जाना जाता है। पश्चिम में लॉक और कुछ भारतीय वस्तुवादी संप्रदाय (जैसे — न्याय-वैशेषिक) प्रायः इसी मत का समर्थन करते हैं। जैसे — घट का प्रत्यक्ष करने पर हमारी बुद्धि घटाकार हो जाती है। काण्ट ने इस सिद्धान्त को चुनौती दी। वस्तुतः उसने इस सिद्धान्त (मान्यता) को उलट दिया। उसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का दास नहीं है। विपरीततः मानव-बुद्धि प्रकृति को नियमित, व्यवस्थित और अनुशासित करती है। प्राकृतिक जगत् की संरचना बुद्धि की संरचना के अनुरूप होती है। 'बुद्धि प्रकृति का नियमन करती है' काण्ट के इस कथन का निहितार्थ यह नहीं है कि बुद्धि प्राकृतिक वस्तुओं के संवेदनों को उत्पन्न करती है। बुद्धि प्रकृति की रचना उस रूप में नहीं करती है, जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी से घट या बट्टई लकड़ी से मेज की रचना करता है। काण्ट के कहने का निहितार्थ यह है कि ज्ञान के सार्वभौम और अनिवार्य नियम न तो अनुभवजन्य प्रत्यय हैं और न प्रकृति के स्वरूप पर निर्भर हैं। वास्तव में, ज्ञान के विशिष्ट उदाहरणों में (जैसे — गुलाब लाल है) विशेष वस्तुओं के ज्ञान का आकार बाह्य वस्तुओं के स्वरूप के अनुरूप भले ही होता है, किन्तु ज्ञान के सभी विशिष्ट उदाहरण बुद्धि के कुछ मौलिक नियमों (बुद्धि-विकल्पों) पर आधारित होते हैं। काण्ट के इस सिद्धान्त को दर्शन जगत् में 'कापरनिकसी क्रांति' के नाम से जाना जाता है।

जिस प्रकार कॉपरनिकस ने टॉल्मी के इस सिद्धान्त कि 'पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर है' के विरुद्ध यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'पृथ्वी स्थिर नहीं है, बल्कि वह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करती है', उसी प्रकार काण्ट ने भी अपने युग की ज्ञानमीमांसीय मान्यता को बदल दिया। वह बुद्धि की संरचना को प्रकृति की संरचना के अनुरूप नहीं मानता है। इसके विपरीत काण्ट का दावा है कि स्वयं प्राकृतिक जगत् की संरचना का ज्ञान बुद्धि के सार्वभौम और अनिवार्य नियमों के संवाहक प्रागनुभविक संप्रत्ययों के अनुरूप होता है। वह अनुभववादियों के विपरीत वस्तु को अपनी ज्ञानमीमांसा का केन्द्र-बिन्दु नहीं मानता है। वस्तुतः उसकी ज्ञानमीमांसा आलोकित है, किन्तु उसे आलमिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह शंकराचार्य के समान ज्ञान के विशिष्ट आकारों को वस्तुनिष्ठ कहता है। जैसे — 'गुलाब लाल है' में 'लालिमा' का ज्ञान अनुभव से होता है। इस दृष्टि से वह मानता है कि ज्ञान वस्तुनिष्ठ है।¹

वास्तव में, काण्ट का कहना यह है कि यदि बुद्धि के प्रागनुभविक आकार (बुद्धि-विकल्प) प्राकृतिक जगत् से प्राप्त संवेदनों को नियमित और व्यवस्थित न करें, तो हमें एक विषय के रूप में बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं हो सकता है। बुद्धि-विकल्प ज्ञान के वे सार्वभौम एवं अनिवार्य नियम हैं, जिनके बिना बाह्य जगत् का कोई अनुभव नहीं प्राप्त हो सकता है। अतः ये बुद्धि-विकल्प प्रत्येक अनुभव को ग्रहण करने की तार्किक प्रागपेक्षाएँ हैं। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक जगत् का ज्ञेय होना बुद्धि के स्वरूप पर निर्भर है। काण्ट के इस मन्तव्य को सूत्र रूप में 'मेयं मानाधीनम्' अथवा 'ज्ञेयं ज्ञानाधीनम्' कहा जा सकता है।

भौतिक विज्ञान के सार्वभौम सत्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि बुद्धि-विकल्प बाह्य जगत् को नियमित करते हैं। ह्यूम ने कारण-कार्य के नियम को वस्तुजगत् का अनिवार्य और सार्वभौम संबंध न मानकर, प्रत्ययों का आनन्तर्त्य या मनोवैज्ञानिक संबंध बतलाया। इसके विपरीत काण्ट के अनुसार कारण-कार्य संबंध अनुभवजन्य प्रत्ययों का मनोवैज्ञानिक संबंध नहीं

है। चूँकि कारणता एक बुद्धि-विकल्प है, इसलिए यह एक अनुभव-निरपेक्ष संप्रत्यय है। काण्ट ने कारणता को बाह्य जगत् पर लागू होने वाला एक वस्तुनिष्ठ, अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंध माना है। उसके अनुसार बुद्धि-विकल्पों की आवश्यकता केवल सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की स्थापना के लिए ही नहीं, बल्कि बाह्य जगत् के ज्ञान के लिए भी है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धि-विकल्पों के अभाव में प्राकृतिक जगत् का एक विषय के रूप में ज्ञान नहीं हो सकता है। चूँकि अनुभव से निरपेक्ष बुद्धि-विकल्पों के अभाव में हमें विषयता की प्रतीति (अर्थात् विषय जगत् का ज्ञान) नहीं हो सकती है, इसलिए काण्ट ने इसे विषयता के आधार पर बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction of Categories) कहा है। इनके अभाव में बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनाएँ भी अनुभव के विषय नहीं हो सकती हैं। इस प्रकरण में काण्ट यह सिद्ध करना चाहता है कि बुद्धि अपने प्रागनुभविक आकारों (विकल्पों) को संवेदनों पर लागू करके उन्हें ज्ञान का विषय बनाती है। किन्तु बुद्धि इन संवेदनों को स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकती है। ये संवेदन पारमार्थिक स्वलक्षणों के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। अतः काण्ट अपने दर्शन की आलनिष्ठतावाद से रक्षा कर ले जाता है। उसके अनुसार इन संवेदनों को व्यवस्थित एवं संयोजित करके विषय के रूप में परिणत करने के लिए सक्रिय बुद्धि को अपने प्रागनुभविक नियमों का प्रयोग करना पड़ता है। इस विवेचन के आधार पर काण्ट के द्वारा प्रतिपादित बुद्धि-विकल्पों के अतीन्द्रिय निगमन का औचित्य स्थापित हो जाता है। अतः काण्ट के कुछ आलोचकों (जैसे — टी० डी० वेल्डन) के वे आक्षेप निरस्त हो जाते हैं, जो काण्ट के अतीन्द्रिय निगमन को निरर्थक और दुरुह कहकर उसकी आलोचना करते हैं।

प्रश्न उठता है कि बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग बाह्य वस्तुओं पर करने की प्रक्रिया क्या है? काण्ट के दर्शन में बुद्धि-विकल्पों और इंद्रिय-संवेदनों को एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न माना गया है। उल्लेखनीय है कि लाइबनिज ने संवेदनों को भी अस्पष्ट (Unclear) प्रत्यय मान लिया था। लाइबनिज के मत का खण्डन करके काण्ट ने संवेदनों और संप्रत्ययों (बुद्धि-विकल्पों) में गुणात्मक भेद माना है। संवेदन और संप्रत्यय एक-दूसरे से परिमाणात्मक दृष्टि से नहीं, बल्कि एक-दूसरे से गुण में भिन्न हैं। प्रश्न उठता है कि यदि संवेदन और संप्रत्यय एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं तो उनमें पारस्परिक संबंध कैसे हो सकता है? अर्थात् संवेदनों के ऊपर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग किस प्रकार संभव है? इस समस्या का समाधान करने के लिए काण्ट ने काल का सहारा लिया। चूँकि काल विशुद्ध संवेदन रूप होने के साथ-साथ अनुभव-निरपेक्ष और सर्वव्यापी है, इसलिए वह (काल) संवेदनों और बुद्धि-विकल्पों को जोड़ने वाली मध्यवर्ती कड़ी है। दूसरे शब्दों में, काल ही वह माध्यम है जिसके अंतर्गत प्रागनुभविक बुद्धि-विकल्पों का प्रत्यक्षात्मक संवेदनों पर प्रयोग हो सकता है। इसीलिए काण्ट ने काल को प्रागनुभविक प्रत्यक्ष कहा है। इस संदर्भ में काण्ट की ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत 'आकार-योजना का सिद्धान्त' उल्लेखनीय है।

आकार-योजना (Schematism)

आकार-योजना का सिद्धान्त काण्ट का विचार के लिए एक महत्वपूर्ण योगदान है। इसके माध्यम से वह बुद्धि-विकल्पों और प्रत्यक्षों में सम्बन्ध स्थापित करता है। बुद्धि-विकल्पों के अंतर्गत प्रत्यक्षों का सन्निवेशन आकार-योजना के माध्यम से सम्पन्न होता है। यह एक प्रकार से सामान्य के अंतर्गत विशेषों का सन्निवेशन है क्योंकि बुद्धि-विकल्प सार्वभौमिक और प्रत्यक्ष

विशिष्ट होते हैं। यह आकार-योजना एक ऐसे माध्यम से ही संभव है जो सार्वभौम प्रत्ययों और विशिष्ट संवेदनों, इन दोनों से ही संबंधित हो। जब तक बुद्धि-विकल्प आकार-योजना से युक्त नहीं होते, तब तक उन्हें विशुद्ध विकल्प (Pure Categories) कहा जाता है। काण्ट के अनुसार बुद्धि-विकल्प काल के द्वारा ही आकार-युक्त होते हैं। इस प्रकार काण्ट के दर्शन में 'काल' ही बुद्धि-विकल्पों और संवेदनों के बीच में संबंध स्थापित करने वाली कड़ी है, जो दोनों के बीच सेतु का काम करता है। चूँकि समस्त बाह्य एवं आन्तरिक विषय (अन्तःकरण के विषय) काल में स्थित हैं (काल से परिच्छिन्न हैं), इसलिए काल के आकारों से युक्त हुए बिना बुद्धि-विकल्पों के लिए कोई भी विषय ग्राह्य नहीं हो सकता है। यह आकार-योजना भी अनुभव की प्रागपेक्षा है क्योंकि बिना इस आकार-योजना के किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। काण्ट ने काल की आकार-योजना से युक्त बुद्धि-विकल्पों को आकार से युक्त बुद्धि-विकल्प (Schematised Categories) कहा है। इसकी तुलना सांख्य-दर्शन की आकार-योजना से की जा सकती है। सांख्य-दर्शन में चैतन्य स्वरूप पुरुष और अचेतन प्रकृति के बीच मध्यवर्ती कड़ी के रूप में महत् (बुद्धि) तत्त्व की परिकल्पना की गई है। सांख्य-दर्शन में पुरुष एक सार्वभौमिक या अमूर्त सत्ता है और प्रकृति को जड़ (विशेष) तत्त्व कहा जा सकता है। बुद्धि उनको आकार प्रदान करके मूर्त रूप में प्रस्तुत करती है। वस्तुतः आकार-योजना एक प्रकार से 'मूर्तिकरण का सिद्धान्त' (Principle of Concretisation) है। यह एक प्रकार से 'जाति' और 'व्यक्ति' को परस्पर सम्बद्ध करके एक आकृति प्रदान करने का प्रयास है। नैयायिकों ने आकृति के अंतर्गत जाति (सामान्य) और व्यक्ति (विशेष) को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया है।¹

काण्ट के अनुसार आकार-युक्त बुद्धि-विकल्पों का ही सार्थक प्रयोग संभव है। काण्ट के द्वारा निगमित बारह बुद्धि-विकल्पों को चार भागों में विभक्त किया गया है, जो परिमाण, गुण, संबंध और प्रकारता के रूप में हैं। इनमें से प्रत्येक विभाग के बुद्धि-विकल्पों को 'काल' ही संवेदनों से जोड़ता है। परिमाण संबंधी तीनों बुद्धि-विकल्पों की आकार-योजना संख्या है, जो अनेक इकाइयों की एकता की सूचक है। एक, अनेक तथा संपूर्ण, इनकी आकार-योजना 'काल' के कारण होती है। इसी प्रकार गुण संबंधी बुद्धि-विकल्पों की आकार-योजना मात्र है। काण्ट के अनुसार तारतम्यता (degree) का आधार 'काल' है क्योंकि किसी काल (क्षण) में संवेदनाएँ समान रूप से व्याप्त होती हैं तो किसी काल में व्याप्त नहीं होती हैं अथवा किसी काल में सीमित रूप से व्याप्त होती हैं। काल-प्रवाह के अंतर्गत तारतम्यता अनुभवजन्य प्रतिबिम्ब का गुण है। संबंध के अंतर्गत द्रव्य तथा गुण, कारण तथा कार्य एवं अन्योन्याश्रय संबंध, ये तीन बुद्धि-विकल्प आते हैं। इनमें से द्रव्य-गुण की आकार-योजना 'स्थायित्व' (Permanence) है, कारण-कार्य की आकार-योजना 'नियमित अनुक्रम' है तथा अन्योन्याश्रय संबंध की आकार-योजना 'सह-अस्तित्व' है। अंत में, प्रकारता के तीनों बुद्धि-विकल्पों की आकार-योजना भी काल के अंतर्गत है। संभावना और असंभावना की आकार योजना काल की शर्तों के अनुकूल होना अर्थात् किसी काल में सत्ता का होना है। अस्तित्व और अनस्तित्व की आकार-योजना 'एक निश्चित काल में होना' है। अनिवार्यता और आपातिकता की आकार-योजना 'सभी कालों में होना' अर्थात् किसी विषय का नित्य अस्तित्व है।

1 'व्यक्ताकृतिजात्यस्तु, पदार्थाः' — न्याय-सूत्र, II/2.65.

बुद्धि-विकल्प

(अ) परिमाण वाचक

1. एकता
2. अनेकता
3. समग्रता

(ब) गुण वाचक

4. सत्ता
5. निषेध

6. सीमा

(स) संबंधवाचक

7. द्रव्य-गुण संबंध
8. कारण-कार्य संबंध
9. अन्योन्याश्रय संबंध

(द) प्रकारतावाचक

10. संभावना एवं असंभावना
11. अस्तित्व एवं अनस्तित्व

12. अनिवार्यता एवं आपत्तिकता

आकार योजना

(अ) संख्या

1. काल का एक क्षण
2. काल के अनेक क्षण
3. काल के सभी लक्षण

(ब) मात्रा

4. सभी कालों में सत्ता
5. रिक्त काल अथवा काल में अनस्तित्व

6. सीमित काल में सत्ता

(स)

7. काल में स्थायित्व
8. काल में नियमित अनुक्रम
9. काल में सह-अस्तित्व

(द)

10. काल की शर्तों के अनुकूल होना
11. किसी निर्धारित काल में होना

12. सभी कालों में होना

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक बुद्धि-विकल्प की आकार-योजना काल है। इन आकारयुक्त बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग केवल व्यवहारिक जगत् अर्थात् आभास की सीमा के अन्तर्गत ही हो सकता है। काण्ट के अनेक आलोचकों ने आकार-योजना को काण्ट के दर्शन का एक निर्बल पक्ष कहा है। उनके अनुसार काण्ट ज्ञान के सह-सम्बद्ध घटकों में एक मिथ्या अलगाव उत्पन्न करने का प्रयास करता है। वस्तुतः ज्ञान के विभिन्न घटक एक-दूसरे से वियोज्य हैं। काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों को पूर्णतया सार्वभौमिक और इन्द्रिय प्रत्यक्षों को पूर्णतया विशिष्ट मान लिया। किन्तु ज्ञान के अन्तर्गत इनमें से कोई न तो पूर्णतया विशिष्ट है और कोई न तो कोई पूर्णतया अमूर्त है। वस्तुतः बुद्धि-विकल्पों और संवेदनों को मौलिक रूप से परस्पर भिन्न एवं विजातीय मान लेना काण्ट की एक भूल है। ये दोनों तत्त्व ज्ञान के दो विभिन्न पहलू हैं, जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। एक की दूसरे से भिन्न रूप में कोई सार्थकता नहीं हो सकती है। वास्तव में, ज्ञान एक ओर तो सामान्य संप्रत्ययों की एक व्यवस्था है तथा दूसरी ओर संवेदनों की एक जटिल संरचना है; परन्तु ये दोनों पक्ष न तो परस्पर अपरिचित हैं और न दो परस्पर विरोधी दिशाओं में आते हैं। वस्तुतः काण्ट द्वैतवादी है, जिसके कारण वह ज्ञान के दोनों परस्पर सम्बद्ध पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् कर देता है। ज्ञान के

स्वरूप की काण्ट के द्वारा की गई यह व्याख्या ज्ञान को एक यांत्रिक संरचना (Mechanical Construction) बना देती है। किन्तु इन आक्षेपों के बावजूद काण्ट के दर्शन में आकार-योजना की महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। वह आकारयुक्त बुद्धि-विकल्पों एवं विशुद्ध विकल्पों के बीच में भेद करना अति आवश्यक मानता है। दोनों के बीच का यह भेद काण्ट के दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए महत्वपूर्ण है। आकार-युक्त बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग प्राकृतिक जगत् की सीमा में ही किया जा सकता है। इसके विपरीत, विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग आभासों से परे नैतिक और धार्मिक जीवन की ओर संकेत करता है। प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठकर विशुद्ध बुद्धि-विकल्प पारमार्थिक सत्ता का संकेत करते हैं। इस प्रकार आकार-युक्त और आकारहीन बुद्धि-विकल्पों का यह भेद काण्ट की गहन दार्शनिक दृष्टि का द्योतक है।

विशुद्ध ज्ञाता (आत्मा)

काण्ट ने आत्मा को विशुद्ध ज्ञाता कहा है। विशुद्ध ज्ञाता के बिना कोई ज्ञान संभव नहीं है। आत्मा की अवधारणा विभिन्न दार्शनिकों की ज्ञान संबंधी अवधारणा से प्रभावित रही है। यदि ज्ञान के स्वरूप की अवधारणा त्रुटिपूर्ण हो तो आत्मा के स्वरूप का निर्धारण निर्दोष रूप से नहीं किया जा सकता है। स्पिनोजा को छोड़कर काण्ट-पूर्व पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान की प्रकृतिवादी व्याख्या की गई है। हम देख चुके हैं कि अधिकांश दार्शनिक आत्मा की अवधारणा शरीर से भिन्न एक आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में करते हैं। काण्ट पश्चिम का ऐसा युग-प्रवर्तक दार्शनिक है जिसने आत्मा का निरूपण 'विशुद्ध समाकल्पन की एक अतीन्द्रिय मौलिक संश्लेषणात्मक एकता' (The Transcendental Original Synthetic Unity of Pure Apperception) के रूप में किया है। यह समस्त ज्ञान और अनुभूति की तार्किक प्रागपेक्षा है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से आत्मा 'ज्ञान का आदि-सिद्धान्त' (The First Principle of Knowledge) है। काण्ट के अनुसार आत्मा कोई द्रव्य नहीं है। ज्ञान आत्मा का कोई आकस्मिक लक्षण नहीं है। वस्तुतः आत्मा समस्त बुद्धि-विकल्पों का स्रोत अथवा ज्ञान की सम्प्रत्ययात्मक संरचना का मूल आधार है। बुद्धि विकल्पों में संवेदनों को ज्ञान के रूप में परिणत करने की शक्ति विशुद्ध ज्ञाता से आती है। यद्यपि बुद्धि-विकल्प ही समस्त प्राकृतिक जगत् के ज्ञान के मुख्य आधार हैं, तथापि उनमें संवेदनों को ग्रहण करने की शक्ति आत्मा से आती है। किन्तु प्राकृतिक जगत् पर लागू होने वाले आकारयुक्त बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः आत्मा के संदर्भ में बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग करना एक प्रकार से उनका (बुद्धि-विकल्पों का) दुरुपयोग (Misuse) है। आत्मा पर बुद्धि-विकल्पों का यह दुरुपयोग तर्काभासों को जन्म देता है। अतः काण्ट ने तार्किक मनोविज्ञान की कटु आलोचना की है। आत्मा को द्रव्य-गुण, कारण-कार्य आदि बुद्धि-विकल्पों के द्वारा जाना नहीं जा सकता है।

आत्मा एक पारमार्थिक सत्ता है, इसलिए यह बौद्धिक कोटियों से परे है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार आत्मा अप्राकृतिक है। अतः प्राकृतिक जगत् पर लागू होने वाले बुद्धि-विकल्पों का आत्मा पर प्रयोग दोषपूर्ण है। संबंधात्मक बौद्धिक कोटियाँ समस्त संबंधों से निरपेक्ष आत्मा पर प्रयुक्त होने में असमर्थ हैं। यह इन समस्त कोटियों की प्रागपेक्षा है। चूँकि आत्मा स्वरूपतः अप्राकृतिक (पारमार्थिक) है, इसलिए प्राकृतिक जगत् पर प्रयुक्त होने वाले बुद्धि-विकल्पों का आत्मा पर प्रयोग, यदि मूल की शब्दावली का प्रयोग करें तो प्रकृतिवादी दोष होगा। वस्तुतः आत्मा पर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग उसे एक प्राकृतिक विषय बना देता है, किन्तु आत्मा विशुद्ध ज्ञाता अथवा विषयी है।

ज्ञान के विषय भले ही परिवर्तनशील हों, किन्तु विषयी अपरिवर्तनशील रहता है। ह्यूम और उसके अनुयायी अनात्मवादियों ने आत्मा की व्याख्या अनुभूतियों, संस्कारों, प्रत्ययों इत्यादि के एक पुंज के रूप में किया है। उनके अनुसार 'आत्मा का गत्य' साहचर्य नियम के कारण उत्पन्न होता है। ह्यूम, रसल, विलियम जेम्स इत्यादि आत्मा की एकता का आधार सादृश्य को और वैयक्तिक अनन्यता का आधार स्मृति को मानते हैं। स्मृति प्रत्ययों के साहचर्य पर आश्रित होती है। किन्तु प्रत्ययों का साहचर्य किसी वस्तुनिष्ठ संबंध पर आश्रित नहीं है। प्रश्न उठता है कि चैतन्य की एकता के अभाव में स्मृति (Memory) और प्रत्यभिज्ञा (Recognition) कैसे संभव है? यदि ह्यूम के समान आत्मा को अनित्य और अपरिवर्तनशील संस्कारों और प्रत्ययों का एक अजस्र (शाश्वत) प्रवाह माना जाय तो एक संश्लिष्ट और नित्य इकाई के बिना उनके अनुक्रम का ज्ञान नहीं हो सकता है। ह्यूम के दर्शन में आत्मा को भी प्रत्ययों के स्तर पर लाने का प्रयास किया गया है। इसके विपरीत, काण्ट ने आत्मा को अतीन्द्रिय और समस्त ज्ञान की आधारशिला माना है। प्रत्यय और संस्कार विषय-रूप हैं। उनकी प्रागपेक्षा स्वरूप एक संश्लिष्ट एकता के अभाव में इन प्रत्ययों और संस्कारों का ज्ञान नहीं हो सकता है और न स्मृति और प्रत्यभिज्ञा ही संभव है। संक्षेप में, आत्मा समस्त प्रत्ययों, संस्कारों और अनुभूतियों के ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। अतः ह्यूम के द्वारा आत्मा को अनुभव या विषय के स्तर पर लाने का प्रयास दोषपूर्ण है। प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी इसे 'अतीन्द्रिय विस्थापन का दोष' कहते हैं।¹

इसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों ने विज्ञानवादी बौद्धों के अनात्मवाद का निराकरण किया है। उनके अनुसार तथाकथित परिवर्तनशील विज्ञानों (चित्तवृत्तियों) का प्रवाह स्वयं एक अपरिवर्तनशील ज्ञाता (आत्मा) की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः काण्ट ने दार्शनिकों का ध्यान ज्ञान के विषय की ओर से हटाकर उसकी तार्किक प्रागपेक्षा विषयी (आत्मा) की ओर आकर्षित किया।

उल्लेखनीय है कि प्रत्ययवाद और वस्तुवाद के प्रचलित विवाद से भी आत्मा की यह अवधारणा प्रभावित नहीं होती है। यदि बाह्य जगत् और ब्रह्माण्ड में स्थित वस्तुओं को आत्मा से स्वतंत्र माना जाय तो भी उनके ज्ञाता आत्मा की सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता है। आगे चलकर नव्य-काण्टवादियों और नव्य-हेगलवादियों ने भी आत्मा की मनोवैज्ञानिक अवधारणा का खण्डन किया। टी० एच० ग्रीन के अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्य काल की

¹ Fallacy of Transcendental Dislocation; देखिए — Self, Thought and Reality, p. 304.

अनुभूतियों को संबंधित करने वाले एक शाश्वत सत्ता के बिना स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवं ज्ञान की एकता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। एक संश्लेषणात्मक एकता के बिना प्रत्ययों, संस्कारों एवं संबंधों का ज्ञान नहीं हो सकता है। तार्किक दृष्टि से इन संबंधों और प्रत्ययों को संश्लिष्ट करने वाले तत्त्व को इन संबंधों एवं प्रत्ययों से भिन्न होना चाहिए। ह्यूम के द्वारा प्रतिपादित संवेदनों का प्रवाह भी ज्ञान का विषय है। उसके ज्ञान के लिए भी एक ज्ञाता आवश्यक है। इस प्रकार ग्रीन ने ह्यूम के मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद की कटु आलोचना की।

शंकराचार्य के समान काण्ट, हेगल तथा ग्रीन आत्मा की द्रव्य विषयक अवधारणा का खण्डन करते हैं। किन्तु काण्टोत्तर-दर्शन में काण्ट के द्वारा प्रतिपादित आत्मा की अतीन्द्रिय समन्वयात्मक एकता एक शाश्वत चैतन्य के रूप में परिणत हो जाती है। टी० एच० ग्रीन के दर्शन में काण्ट का अतीन्द्रिय (तार्किक) आत्मा एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार ग्रीन तार्किक प्रागपेक्षा को तत्त्वमीमांसीय प्रागपेक्षा बना देता है। वस्तुतः यह ग्रीन के दर्शन की एक उलझी हुई समस्या है। इसके विपरीत काण्ट के दर्शन में आत्मा ज्ञान की एक तार्किक प्रागपेक्षा है। काण्ट के दर्शन में 'संश्लेषणात्मक एकता' (Synthetic Unity) और 'संवेदनाओं की अनेकता' में द्वैत पाया जाता है। केयर्ड के अनुसार काण्ट का लक्ष्य 'अतीन्द्रिय मौलिक एकता' का प्रतिपादन करना था। किन्तु द्वैतवाद में उलझ जाने के कारण उसके लक्ष्य और उपलब्धि में विरोध हो जाता है। वस्तुतः काण्ट की 'संश्लेषणात्मक एकता' बिखरे हुए अनेक संवेदनों की ही एकता है। अतः उसके द्वारा स्थापित संश्लेषणात्मक एकता अमूर्त नहीं हो सकती है। केयर्ड के अनुसार काण्ट का रहस्य हेगलीय दृष्टि से ही समझा जा सकता है। वास्तव में केयर्ड आत्मा-संबंधी अज्ञेयवाद से बचना चाहता है। इसलिए वह विषयी को एक विषय के रूप में परिणत कर देता है। प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक विषय का अस्तित्व आत्मा के लिए है तो आत्मा को एक विषय के रूप में कैसे समझा जा सकता है? वस्तुतः काण्टोत्तर दार्शनिकों के द्वारा काण्ट के तार्किक विषयी (आत्मा) को तत्त्वमीमांसीय अस्तित्व के रूप में परिणत कर देने के परिणामस्वरूप विषयी को विषय मान लेने की भूल की गई है।¹ किन्तु समस्त बौद्धिक कोटियों से परे विषय को विषयी के स्तर पर लाने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है।

काण्ट के अनुसार आत्मा पर बौद्धिक कोटियों का प्रयोग एक अतीन्द्रिय भ्रम है। बौद्धिक कोटियों और देश-काल से परे होने के कारण आत्मा अपरिभाष्य और अज्ञेय है। किन्तु काण्ट का यह मत भी एकांगी प्रतीत होता है। यद्यपि आत्मा सभी ज्ञात विषयों से भिन्न है, तथापि वह अज्ञात या निराकरणीय नहीं है क्योंकि आत्मा ही समस्त विधि-निषेध, खण्डन-मण्डन, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार आदि से परे होते हुए भी उनकी तार्किक मर्मपेक्षा है। अतः आत्मा का निराकरण वदतो-व्याघात है। शंकराचार्य के साक्षी के समान काण्ट आत्मा को 'अधिष्ठान चैतन्य' (Foundational Consciousness) के रूप में स्वीकार करता है। इसी दृष्टि से आत्मा को 'ज्ञान का प्रथम सिद्धान्त' (The First Principle of Knowledge) कहा जाता है। यदि आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य अधिष्ठान की कल्पना की जाय तो अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। काण्ट के अनुसार आत्म-चैतन्य प्रत्येक विषय के ज्ञान में निहित होता है। आत्म-ज्ञान की एकता विषयों के ज्ञान की एकता को तर्कतः प्रतिपन्न करती है। समस्त ज्ञान

इसी अतीन्द्रिय एकता (Transcendental Unity) पर आधारित है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा प्रत्येक ज्ञान की प्रागपेक्षा है। वस्तुतः आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। 'आत्मा है' इसका ज्ञान स्पष्ट है, किन्तु काण्ट के अनुसार आत्मा का स्वरूप क्या है? इसे जाना नहीं जा सकता है। यहाँ पर काण्ट की आत्मा विषयक अवधारणा उसे अज्ञेयवाद की ओर ले जाती है। प्लॉटिनस एवं स्पिनोजा जैसे कुछ दार्शनिक तत्त्वज्ञान के लिए शब्द-जाल और तर्कजाल का परित्याग करके अपरोक्षानुभूति पर बल देते हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार आत्मा साक्षात् अनुभूति का विषय है। हमारी चिन्तन-प्रक्रिया विमर्शात्मक बुद्धि से प्रारंभ होकर अंत में उससे भी परे हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य, प्लॉटिनस, स्पिनोजा आदि आध्यात्मवादी दार्शनिक अज्ञेयवाद से बचने के लिए आत्मा को समस्त तार्किक और भाषिक परिधियों और आकलनों से परे (Beyond logical and linguistic parameters) मानते हैं। काण्ट के कुछ आलोचकों के अनुसार बौद्धिक प्रतिभान (Intellectual Intuition) के अभाव में काण्ट को अज्ञेयवाद से नहीं बचाया जा सकता है।¹ किन्तु काण्ट का दृष्टिकोण बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक है। वह किसी रहस्यात्मक अनुभूति का दावा नहीं करता है। विपरीततः वह चमत्कारवाद और रहस्यवादी साधना का निराकरण करता है। वस्तुतः काण्ट का आत्मा संबंधी सिद्धान्त तार्किक और ज्ञानमीमांसीय है क्योंकि वह आत्मा को प्रत्येक ज्ञान और साक्ष्य की तार्किक प्रागपेक्षा मानता है। यही कारण है कि वह आत्मा को स्वतः सिद्ध मानता है। हमें विभिन्न विषयों का ज्ञान, स्मरण और प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन सबके ज्ञान का मूल आधार एक स्थायी और नित्य ज्ञाता है। उसके अनुसार आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान तो होता है, किन्तु आत्मा क्या है, अर्थात् इसका स्वरूप क्या है? इसे नहीं जाना जा सकता है।¹ इससे स्पष्ट है कि काण्ट का यह दृष्टिकोण उसकी तार्किक (बौद्धिक) ईमानदारी (Intellectual Honesty) का द्योतक है।

व्यवहार और परमार्थ (Phenomena and Noumena)

काण्ट की ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय मानव-ज्ञान के प्रतिमान हैं। संश्लेषणात्मक निर्णयों में एक अंश संवेदनों और दूसरा अंश बुद्धि-विकल्पों से संबंधित होता है। इसके अतिरिक्त जो संवेद है, वह देश-काल से परिच्छिन्न होता है। अनुभव का विषय आभास होता है। जो आभास नहीं है, वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता है। अतः मानव-बुद्धि अनुभव की उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है जिसके अंतर्गत वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं। काण्ट के अनुसार बुद्धि के प्रागनुभविक संप्रत्ययों का प्रयोग इन्द्रियानुभव पर करना ही तर्कतः उचित हो सकता है। अनुभव की सीमा से परे बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग अनुचित है। हमारी संवेदनाएँ पारमार्थिक स्वलक्षणों से उत्पन्न होती हैं और देश-काल रूपी संवेदना के आकारों से होकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचती हैं। किन्तु संवेदनों को उत्पन्न करने वाले पारमार्थिक स्वलक्षणों को काण्ट अज्ञेय मानता है। संवेदनाओं की स्रोत स्वलक्षण वस्तुएँ स्वतः असंवेद्य हैं। जो असंवेद्य है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। काण्ट के अनुसार स्वलक्षण वस्तुएँ देश-काल रूपी संवेदना के आकारों से परे होने के कारण असंवेद्य हैं। असंवेद्य होने के कारण बौद्धिक संप्रत्ययों के द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती हैं। अतः काण्ट उन्हें 'अज्ञेय'

(Unknowable) मानता है। हमारा ज्ञान केवल व्यावहारिक जगत् (Phenomena) अथवा आभासों तक ही सीमित है। हमारा व्यावहारिक जगत् का ज्ञान यथार्थ (Real), सार्वभौम (Universal) एवं अनिवार्य होता है। किन्तु देश-काल, अनुभव और बुद्धि-विकल्पो से परे होने के कारण पारमार्थिक स्वलक्षण हमारे लिए काल्पनिक हैं। काण्ट का दावा है कि निःसंदेह इस व्यावहारिक जगत् के परे कोई सत्ता है, जो व्यवहार का आधार है। किन्तु काण्ट का यह दावा आस्था पर आधारित है, न कि ज्ञान पर। हम इसे न तो दर्शन (ज्ञानमीमांसा) के द्वारा और न विज्ञान के द्वारा जान सकते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से व्यवहार (Phenomena) एक संवेद्य विषय और परमार्थ (Noumena) बौद्धिक चिंतन का विषय है, अर्थात् परमार्थ संवेद्य अनुभव का विषय नहीं है। काण्ट ने इन दोनों में ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से भेद किया है। यद्यपि व्यवहार और परमार्थ का यह विभाजन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से किया गया है, तथापि इससे तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ भी विचारणीय हो जाती हैं। काण्ट स्वयं यह कहता है कि पारमार्थिक स्वलक्षणों का अस्तित्व है, परन्तु उन्हें जाना नहीं जा सकता है। वास्तव में, स्वलक्षण वस्तुएँ हैं, इसे काण्ट श्रद्धा के आधार पर स्वीकार कर लेता है। ये स्वलक्षण वस्तुएँ स्वरूपतः अर्थात् अपने आप में कैसी हैं? इसे नहीं जाना जा सकता है। मनुष्य केवल उनका आभासी स्वरूप ही जान सकता है, जिसे काण्ट ने व्यवहार (Phenomena) कहा है। हम भौतिकी के क्षेत्र में विभिन्न सिद्धान्तों की रचना और प्राकल्पना इन्हीं आभासों के आधार पर करते हैं। यदि हमें वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप अर्थात् स्वलक्षणों का ज्ञान हो जाता, तो व्यावहारिक विज्ञानों की आवश्यकता ही न होती।¹

व्यावहारिक जगत् बुद्धि-विकल्पो से अनुशासित है, किन्तु उनका प्रयोग परमार्थों पर नहीं हो सकता है। व्यावहारिक जगत् इन्द्रिय संवेदनों से संबंधित है। इसके विपरीत परमार्थ बौद्धिक संवेदना के विषय हैं। किन्तु काण्ट के अनुसार मनुष्य में बौद्धिक संवेदना की शक्ति का अभाव है। मनुष्य में न तो बौद्धिक संवेदना (Intellectual Intuition) होती है और न उसको प्राप्त करने की कोई संभावना है। हाँ, यह अवश्य है कि हम बौद्धिक संवेदना की संभावना के बारे में सोच सकते हैं। काण्ट के कुछ आलोचकों के अनुसार परमार्थ की बौद्धिक संवेदना या प्रतिभान (Intellectual Intuition) संभव है, किन्तु वास्तव में, इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। पेटन के अनुसार काण्ट बाह्य जगत् की वस्तुओं के कारण के रूप में पारमार्थिक स्वलक्षणों का अनुमान नहीं करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्वलक्षणों को प्रत्येक वस्तु में उपस्थित या व्याप्त मानता है। काण्ट-दर्शन के मर्मज्ञ पेटन काण्ट में बौद्धिक प्रतिभान की संभावना को स्वीकार करते हैं। इसे आस्था का विषय भले माना जाय, किन्तु काण्ट ऐसे किसी ज्ञान का दावा नहीं करता है। देश-काल से परे होने के कारण असंवेद्य स्वलक्षणों की ऐन्द्रिक संवेदना नहीं प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार वे हमारी संवेदनाओं से स्वतंत्र हैं।

काण्ट के अनुसार यदि हमारे संवेदनों का कोई स्रोत न होता तो संवेदनाएँ केवल हमारे मन की रचना होतीं। इस प्रकार वे काल्पनिक हो जातीं। हमारा मन और बाह्य जगत्, ये दोनों व्यावहारिक (सांवृतिक) आभास हैं, अतः ये स्वयं इन्द्रिय-प्रदत्तों के स्रोत नहीं हो सकते हैं।

1. शंकराचार्य ने भी कहा है कि लौकिक विज्ञानों की आवश्यकता हमारे अज्ञान के कारण होती है।

“अध्यासपुरस्कृत्य सर्वप्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च” — ब्रह्मसूत्र भाष्य, p. 2.

इससे सिद्ध होता है कि हमारे इन्द्रिय-प्रदत्तों (संवेदनाओं) का स्रोत व्यावहारिक जगत् से स्वतंत्र है। इससे स्पष्ट है कि हमारी संवेदनाओं के स्रोत पारमार्थिक स्वलक्षण हैं, जो अज्ञेय होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। परमार्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। प्रत्यक्षों के अभाव में बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग पारमार्थिक स्वलक्षणों पर नहीं किया जा सकता है। असंवेद्य परमार्थों को देश-काल भी परिच्छिन्न नहीं कर सकते हैं। इस आधार पर काण्ट के दर्शन का निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्षों (संवेदनों) के अभाव में पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार परमार्थ हमारे लिए अज्ञेय है।

प्रश्न उठता है कि यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो हमें परमार्थ की अज्ञेयता का ज्ञान कैसे हो सकता है? दूसरे शब्दों में, हम यह कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ है? परन्तु उसे जान नहीं सकते हैं? क्या काण्ट का यह दावा न्यायोचित है कि परमार्थ की सत्ता है? यदि परमार्थ है, तो क्या यह अस्तित्व के बुद्धि-विकल्प का परमार्थ पर आरोपण नहीं है? क्या ऐसा दावा करके काण्ट परमार्थ को बुद्धि-विकल्पों से सम्बद्ध नहीं कर देता है? हेगल और उसके अनुयायियों ने काण्ट के अज्ञेयवाद और द्वैतवाद को चुनौती दी। हेगल के अनुसार अज्ञेयवाद स्वतः अंतर्विरोधग्रस्त है। यदि परमार्थ अज्ञेय है, तो हमें उसके अज्ञेय होने का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। काण्ट के दर्शन की हेगल के द्वारा की गई यह आलोचना अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः, जो बुद्धि स्वलक्षण वस्तु तथा आभास में भेद करती है और स्वलक्षण वस्तुओं को अज्ञेय मानती है, उसके द्वारा स्वलक्षण वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करना कुछ विचित्र-सी बात लगती है। आगे चलकर हेगल काण्ट की स्वलक्षण वस्तुओं तथा बौद्धिक चेतना के सिद्धान्तों में समन्वय करके एक निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है। वस्तुतः, स्वयं काण्ट ने भी ऐसी संभावना व्यक्त की है कि हो सकता है कि हमारे प्रत्यक्षों तथा प्रागनुभविक संप्रत्ययों के स्रोत एक हों। परन्तु काण्ट इस संभावना को संभावना ही रहने देता है। वह इसे जानने का दावा नहीं करता है। शोपेनहावर के अनुसार काण्ट के द्वारा पारमार्थिक स्वलक्षणों से आभासों का किया गया भेद उसके दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है।¹

वस्तुतः पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप के विषय में विज्ञान अथवा धर्म के द्वारा किया गया कोई भी प्रयास एक प्राक्कल्पना मात्र है, क्योंकि काण्ट के अनुसार तर्कबुद्धि संवेदना की सीमाओं से परे कभी भी नहीं जा सकती है।² याकोबी के अनुसार, बिना स्वलक्षण वस्तुओं को स्वीकार किए हुए काण्ट ने आलोचनावाद को नहीं समझा जा सकता है। किन्तु आलोचनावाद को समझ लेने पर स्वलक्षण वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करना असंभव हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि काण्ट के दर्शन में पारमार्थिक स्वलक्षण ऐसी सीढ़ी के समान है जिसकी उपयोगिता लक्ष्य तक पहुँच जाने पर समाप्त हो जाती है।

वास्तव में, काण्ट परमार्थ को अज्ञेय इसलिए कहता है, क्योंकि हमें इसका भावात्मक ज्ञान (Positive Knowledge) नहीं हो सकता है। काण्ट की ज्ञानमीमांसा से स्पष्ट है कि भावात्मक ज्ञान निर्णयात्मक होता है, जो बुद्धि-विकल्पों एवं प्रत्यक्षों दोनों के सम्मिलित व्यापार

1 Kant's greatest merit is the distinction of the Phenomenon from the Thing-in-itself, 'The World as Will and Idea', Schopenhaver, Vol-2, p. 7.

2 The Understanding can never go beyond the limits of sensibility. — Critique, p. 215, quoted by Will Durant in his 'The Story of Philosophy', p. 273.

और सम्मिश्रण से बनता है। असंवेद्य होने के कारण परमार्थ का भावात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः परमार्थ के विषय में कोई निर्णय संभव नहीं है। वस्तुतः सार्थक निर्णयों के दो महत्वपूर्ण पक्ष उद्देश्य और विधेय हैं। चूँकि समस्त ज्ञान निर्णयात्मक होता है और अस्तित्व का प्रयोग विधेय के रूप में नहीं हो सकता है, इसलिए 'परमार्थ है' यह कोई ज्ञान नहीं है। काण्ट के अनुसार अस्तित्व सदैव उद्देश्यवाचक होता है। 'परमार्थ है' यह कोई निर्णय नहीं है, बल्कि उद्देश्य मात्र है। दूसरे शब्दों में, पारमार्थिक स्वलक्षण हैं, अर्थात् अस्तित्वयुक्त हैं, यह कथन न तो कोई निर्णय है और न कोई विधिमूलक प्रामाणिक ज्ञान। इससे स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार पारमार्थिक स्वलक्षणों का निर्णयात्मक ज्ञान असंभव है। मानव-ज्ञान के आदर्श-स्वरूप संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय केवल व्यावहारिक जगत् की सीमा में ही संभव हैं। उनका प्रयोग स्वलक्षण वस्तुओं के संबंध में संभव नहीं है। इस विशेष (पारिभाषिक) अर्थ में ही काण्ट को अज्ञेयवादी कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट के दर्शन में अज्ञेयवाद का अर्थ ज्ञान का नितान्त अभाव नहीं है। पारमार्थिक स्वलक्षणों का अज्ञान केवल मानव-ज्ञान की सीमा का निर्धारण है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इन्द्रिय संवेदनों पर स्वलक्षणों का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि संवेदन स्वलक्षणों से उत्थापित (उत्पन्न) होते हैं। वास्तव में, मानव-ज्ञान के विषय व्यावहारिक जगत् की सीमा परमार्थों से ही निर्धारित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से स्वलक्षण ही व्यावहारिक जगत् के आधार है। व्यावहारिक जगत् की व्यवस्था का उद्घाटन बुद्धि करती है। चूँकि व्यावहारिक जगत् व्यवस्थित है, इसलिए व्यवहार के आधार स्वलक्षणों को भी व्यवस्था के अनुकूल होना चाहिए। हाँ, यह आशय है कि परमार्थ की व्यवस्था का उद्घाटन बुद्धि के परे है। अतः परमार्थ के तात्त्विक स्वरूप के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि काण्ट, आस्था के आधार पर व्यवहार जगत् के तात्त्विक आधार स्वरूप स्वलक्षणों को व्यवस्थानुकूल मानता है।

यद्यपि परमार्थ पर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, तथापि उनकी ओर विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों (Pure Categories) के द्वारा संकेत किया जा सकता है। काण्ट के अनुसार परमार्थ पर केवल आकारयुक्त बुद्धि-विकल्पों (Schematized Categories) का प्रयोग वर्जित है। इससे स्पष्ट है कि विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों के द्वारा परमार्थ का प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो सकता है। उनका निश्चायक ज्ञान भले ही न हो, फिर भी उनका अनिश्चित ज्ञान संभव है। यहाँ अनिश्चित ज्ञान का तात्पर्य कोरा-चिंतन है, जिसमें देश-काल और आकार-युक्त बुद्धि-विकल्प निहित नहीं हैं। इस प्रकार हमारे ज्ञान की सीमा और चिंतन की सीमा में मौलिक अन्तर है। पारमार्थिक स्वलक्षण हमारे ज्ञान की सीमा को निर्धारित करते हैं क्योंकि हमारा ज्ञान केवल व्यवहार तक सीमित है। पारमार्थिक स्वलक्षण ही व्यावहारिक जगत् के तात्त्विक आधार हैं। किन्तु हमारे चिन्तन की सीमा ज्ञान की सीमा से अधिक विस्तृत है। चिन्तन के लिए संवेदनाओं का होना आवश्यक नहीं है। अतः हम परमार्थ के बारे में भले ही न जान सकें, किन्तु उसके बारे में सोच सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि काण्ट पारमार्थिक स्वलक्षणों के बारे में चिंतन को संभव मानता है। इसके अतिरिक्त स्वलक्षणों का निषेधमूलक ज्ञान भी संभव है। यह निषेधमूलक ज्ञान मानव-ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। दूसरे शब्दों में, मानव-ज्ञान केवल व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित है। जो उससे परे है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से परमार्थ अनिर्वचनीय है, अर्थात् विध्यात्मक दृष्टि से उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता

है। उस पर किसी विधेय अथवा गुण का आरोपण नहीं किया जा सकता है। ऐसी ही मान्यता भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्तियों और बौद्धों की भी रही है। बौद्ध और अद्वैत-वेदान्ती परमार्थ को भाषा अथवा वाणी और तर्कबुद्धि दोनों से परे मानते हैं। बौद्ध दर्शन में पारमार्थिक चिन्तन से संबंधित प्रश्नों को अव्याकृत प्रश्नों की संज्ञा दी गई है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने परमार्थ को बुद्धि की चारों कोटियों से परे माना है।¹

बौद्ध और वेदान्ती 'नेति-नेति' पद्धति से ही परमार्थ का संकेत करते हैं। काण्ट और शंकराचार्य, ये दोनों विचारक आनुभविक जगत् को आभास मानते हैं। उनके अनुसार मानव-मस्तिष्क की रचना ही ज्ञान के सीमित होने के कारण है। मानव-बुद्धि से जिसका ज्ञान प्राप्त होता है, वह केवल आभास है। शंकराचार्य के अनुसार यह हमारी दृष्टि का एक बहुत बड़ा दोष है, जिसके कारण हम अद्वैत तत्त्व को अनेक रूपों में देखते हैं। वस्तुतः शंकर और काण्ट दोनों ही दार्शनिक ज्ञान की उपाधियों के प्रश्न को अनुभवमूलक विधि की अपेक्षा आलोचनात्मक विधि से हल करने का प्रयास करते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्ती पारमार्थिक सत्ता के साक्षात्कार के लिए अपरोक्षानुभूति का सहारा लेते हैं। यह अपरोक्षानुभूति रहस्यवाद की ओर ले जाती है। इस अपरोक्षानुभूति को भारतीय दर्शन में 'अशेष-प्रमाण' (पूर्ण-प्रमाण) कहा गया है। इसके विपरीत, अन्य प्रमाणों को अपूर्ण अथवा 'शेष-प्रमाण' कहा गया है।²

इसके विपरीत, काण्ट किसी रहस्यवादी साधना अथवा अपरोक्षानुभूति (प्रतिभान) का सहारा नहीं लेता है। 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' (The Critique of Pure Reason) में उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी है। इस ग्रंथ में वह बुद्धि एवं ज्ञान की संरचना का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। वह कहता है कि मानव-बुद्धि विमर्शालक (Discursive) होती है। चूंकि बुद्धि किसी चीज को अपरोक्ष रूप से जानने का साधन नहीं हो सकती है, इसलिए उसे प्रतिभानात्मक (Intuitive) नहीं कहा जा सकता है। विमर्शालक बुद्धि स्वलक्षणों के विषय में केवल चिन्तन कर सकती है, किन्तु उसे नहीं जान सकती है। काण्ट के द्वारा ज्ञान और चिन्तन में किया गया भेद महत्वपूर्ण है। हम इन्द्रियानुभव के अभाव में भले ही किसी वस्तु को न जान सकते हों, फिर भी उसके विषय में चिन्तन कर सकते हैं। परमार्थ के बारे में हमारा चिन्तन प्रामाणिक ज्ञान का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकता है। अतः परमार्थ को अज्ञेय कहने में कोई अन्तर्विरोध नहीं हो सकता है।

अतीन्द्रिय द्वन्द्व-न्याय (Transcendental Dialectic)

प्रज्ञा के संप्रत्यय (Concepts of Reason)

काण्ट के दर्शन में बुद्धि के व्यापारों का वर्गीकरण दो रूपों में किया गया है — (i) तर्कबुद्धि (Understanding) के व्यापार और (ii) शुद्ध-बुद्धि अथवा प्रज्ञा (Reason) का व्यापार। अतीन्द्रिय विश्लेषकी के अंतर्गत काण्ट ने तर्कबुद्धि के प्रागनुभविक संप्रत्ययों के द्वारा वैज्ञानिक अर्थ में ज्ञान की संभावना का निरूपण किया है। इस दृष्टि से संवेदन असंगठित

1 "न सन्नासन उभयात्मकं चाप्यनुभयात्मकम्।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वमाध्यमिकाः विदुः।।" नागार्जुन.

2 Problems of Depth Epistemology. (ed.) S.L. Pandey. p. 29-34.

उद्दीपक हैं, प्रत्यक्ष संगठित संवेदन हैं, संप्रत्यय व्यवस्थित प्रत्यक्ष हैं और विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान है। इसी क्रम में कहा जा सकता है कि विवेकपूर्ण जीवन व्यवस्थित जीवन है। इनमें से प्रत्येक अवस्था क्रमशः उत्तरोत्तर क्रम में उच्च स्तरीय है।¹

काण्ट ने बुद्धि और प्रज्ञा के व्यापारों में भेद किया है। बुद्धि का लक्ष्य अस्त-व्यस्त संवेदनों को व्यवस्थित करना है। किन्तु बुद्धि केवल उन्हीं विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। हमारा समस्त ज्ञान इन्द्रियानुभव से प्रारंभ होता है। वहाँ से (देश-काल रूपी दरवाजों से होकर) तर्क बुद्धि के पास पहुँचता है और प्रज्ञा में उसका अन्त होता है।² काण्ट के अनुसार बुद्धि नियमों (सम्प्रत्ययों) का संकाय है और प्रज्ञा सिद्धान्तों का संकाय है। बुद्धि-विकल्पों के द्वारा ही अनुभव को ग्रहण किया जा सकता है। बुद्धि के नियम वस्तु-जगत् पर लागू होते हैं। इससे स्पष्ट है कि तर्कबुद्धि रचनात्मक (Constitutive) है। मानव-बुद्धि केवल उन्हीं विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है, जो संवेद्य हों। इसके विपरीत प्रज्ञा के सिद्धान्त नियामक है। प्रज्ञा बुद्धि और अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है। जहाँ बुद्धि असफल हो जाती है, वहाँ से परमार्थ की सीमा प्रारंभ होती है। जब प्रज्ञा अनुभव की उपेक्षा करके उससे परे बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग करने के लिए तर्कबुद्धि को बाध्य कर देती है, तो 'अतीन्द्रिय भ्रान्ति' (Transcendental illusion) का जन्म होता है। अनुभव से परे बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग अनुचित है। किन्तु बुद्धि-विकल्पों का यह अनुचित प्रयोग ही अतीन्द्रिय तत्त्वमीमांसा का जनक है। इसीलिए काण्ट अतीन्द्रिय तत्त्वमीमांसा की सिद्धि को असंभव मानता है। उसका दावा है कि अतीन्द्रिय तत्त्वमीमांसा के रूप में दर्शनशास्त्र असंभव है। किन्तु तत्त्वमीमांसा को असंभव कहना न तो तत्त्वमीमांसा का निषेध है और न इससे यह सिद्ध होता है कि तत्त्वमीमांसा निरर्थक है। इससे केवल यह सिद्ध होता है कि अतीन्द्रिय तत्त्वमीमांसा का क्षेत्र तर्कबुद्धि के द्वारा ज्ञेय नहीं है। ईश्वर, आत्मा तथा सृष्टि मानव-ज्ञान के विषय नहीं है। मानव-ज्ञान केवल प्राकृतिक जगत् तक ही सीमित है। इससे परे नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का क्षेत्र है। अतः नैतिक और धार्मिक मूल्यों का आधार आस्था है।

इससे स्पष्ट है कि जब प्रज्ञा प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करके अतीन्द्रिय तत्त्वों के ज्ञान का दावा करती है, तो उसमें प्रत्यक्ष और विचार में भेद करने की क्षमता नहीं होती है। प्रज्ञा बुद्धि के नियमों को एक उच्चस्तरीय सिद्धान्त के अंतर्गत समाहित करने की शक्ति है। चूँकि प्रज्ञा किसी साक्षात् अनुभूति से सम्बद्ध नहीं है, इसलिए प्रज्ञा के नियम वस्तु जगत् पर लागू नहीं होते हैं। काण्ट के अनुसार प्रज्ञा न तो प्रत्यक्ष से और न बौद्धिक प्रतिभान से संबंधित है, इसलिए प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान वास्तविक नहीं होता है। प्रज्ञा के संप्रत्यय काल्पनिक तत्त्व मात्र हैं। प्रज्ञा, द्वारा चिन्त्य विषय (आत्मा, सृष्टि और ईश्वर) अज्ञेय हैं। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से पारमार्थिक संप्रत्ययों के क्षेत्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय असंभव हैं। हमें आत्मा, ईश्वर एवं सृष्टि

1 "Sensation is unorganized Stimulus, Perception is organized sensation, conception is organized perception, Science is organized Knowledge, Wisdom is organized life, each is a greater degree of order, and sequence, and unity." — Story of Philosophy, p. 271.

2 'All our knowledge begins with senses, proceeds thence to the understanding, ends with Reason.' — History of Modern Philosophy, Falkenberg, Progressive Publishers, Calcutta, 1977, p. 371.

के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिए काण्ट कहता है कि पारमार्थिक तत्त्वमीमांसा के रूप में दर्शनशास्त्र असंभव है। अतः इस रूप में केवल व्यावहारिक जगत् का ज्ञान ही संभव है। दूसरे शब्दों में, ज्ञानमीमांसा ही वास्तविक दर्शन है।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि प्रज्ञा के तीनों संप्रत्यय अज्ञेय हैं, तो हम इनकी कल्पना कैसे कर लेते हैं? काण्ट के अनुसार 'मनुष्य में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।' इसके फलस्वरूप इन पारमार्थिक तत्त्वों को जानने के लिए मनुष्य में एक नैसर्गिक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की बुद्धि स्वभावतः कुछ ऐसे पारमार्थिक विषयों पर चिन्तन करने के लिए विवश हो जाती है, जिनका उत्तर देना उसके लिए संभव नहीं है। जब प्रज्ञा (Reason) बलात् बुद्धि-विकल्पों को इन पारमार्थिक सत्ताओं पर लागू करने का प्रयास करती है, तो यह बुद्धि-विकल्पों का अनुचित प्रयोग या दुरुपयोग है। इसके परिणामस्वरूप अतीन्द्रिय भ्रमों (Transcendental Illusions) की उत्पत्ति होती है। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के अन्तर्गत प्रज्ञा के संप्रत्ययों के माध्यम से तत्त्व के विज्ञान (Science of Reality) को प्रस्तुत करने का दावा किया जाता है। काण्ट के अनुसार यह दावा भ्रामक है, क्योंकि एक विज्ञान के रूप में तत्त्वमीमांसा संभव नहीं है। इस बिन्दु पर वह ह्यूम से सहमत है, परन्तु काण्ट ह्यूम के विपरीत न तो संशयवादी है, और न यह कहता है कि धर्मशास्त्रीय एवं तत्त्वमीमांसीय ग्रंथों को आग में जला दीजिए। वस्तुतः काण्ट एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में तत्त्वमीमांसा को संभव मानता है, किन्तु तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ और उन पर आधारित नैतिक और धार्मिक मूल्य आस्था के विषय हैं। अतः उन्हें जानने का दावा खोखला है।

अतीन्द्रिय द्वन्द्व-न्याय के अंतर्गत काण्ट ने 'भ्रान्ति के तर्कशास्त्र' का निरूपण किया है, जो 'सत्य के तर्कशास्त्र' से भिन्न है। उसने सत्य के तर्कशास्त्र का विवेचन अतीन्द्रिय विश्लेषण की के अंतर्गत किया है। सत्य के तर्कशास्त्र का लक्ष्य प्रामाणिक ज्ञान की संरचना का विवेचन करना है। इसके विपरीत 'भ्रम के तर्कशास्त्र' का लक्ष्य अतीन्द्रिय भ्रमों के स्वरूप का उद्घाटन करना है, ताकि उनके स्वरूप को समझकर उनसे बचा जा सके। अतीन्द्रिय भ्रम का अधिष्ठान प्रज्ञा है। अतीन्द्रिय भ्रम 'आनुभविक भ्रम' (Empirical illusion) से भिन्न होता है। आनुभविक भ्रमों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष के क्षेत्र में कल्पना के दुष्प्रभाव से होती है। आनुभविक भ्रमों के अंतर्गत कल्पना के प्रभाव से हमारी निर्णय-शक्ति भ्रमित हो जाती है। जैसे — रज्जु सर्प का भ्रम अथवा पानी में पड़ी हुई छड़ी का तिरछा दिखाई देना एक अनुभवमूलक भ्रम है। इसके विपरीत अतीन्द्रिय भ्रमों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष की सीमा से परे पारमार्थिक स्वलक्षणों पर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग करने से होती है। अतीन्द्रिय भ्रम तार्किक भ्रमों से भी भिन्न है। तार्किक भ्रमों (Logical Illusions) की उत्पत्ति तार्किक नियमों के प्रति असावधानी करने से होती है। जब हम तार्किक नियमों का पालन करने में सावधानी करते हैं, तो तार्किक भ्रम दूर हो जाते हैं। किन्तु अतीन्द्रिय भ्रमों को जानते हुए भी उनसे बचा नहीं जा सकता है क्योंकि उनका अधिष्ठान स्वयं बुद्धि है। वे बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में निहित होते हैं। यही कारण है कि काण्ट के अनुसार अतीन्द्रिय भ्रमों के स्वरूप को समझ लेने पर भी उनको दूर नहीं किया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि अतीन्द्रिय भ्रमों के स्वरूप को समझ लेने पर उनके दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। उदाहरण के लिए कॉपरनिकस की 'हेलियो-सेन्द्रिक सिद्धान्त' (Heliocentric Theory)

अर्थात् 'ब्रह्माण्ड का केन्द्र सूर्य है' से परिचित व्यक्ति को भी पृथ्वी स्थिर और सूर्य भिन्न-भिन्न दिशाओं में बदलता हुआ दिखाई देता है, अथवा उदित होता हुआ चन्द्रमा बड़ा दिखाई पड़ता है। परन्तु वैज्ञानिक नियमों के जानकर लोग इससे भ्रमित नहीं होते हैं। इसी प्रकार अतीन्द्रिय भ्रमों को दूर तो नहीं किया जा सकता है, तथापि हम इन भ्रान्तियों के दुष्प्रभावों से बच सकते हैं।

काण्ट के अनुसार तर्कबुद्धि के विषय सोपाधिक (Conditional) होते हैं, क्योंकि उनका ज्ञान अनुभव पर आश्रित होता है। इसके विपरीत प्रज्ञा के विषय निरुपाधिक (Unconditional) होते हैं। काण्ट के अनुसार तर्कबुद्धि एक निर्णयात्मक शक्ति है, जो अपने बुद्धि-विकल्पों के द्वारा संवेदनों को निर्णयों के माध्यम से एकता प्रदान करती है। प्रज्ञा अनुमान का संकाय है, जिसके अंतर्गत न्यायवाक्यों के द्वारा विभिन्न निर्णयों में एकता स्थापित की जाती है। वस्तुतः काण्ट के दर्शन में अनुमान का स्थान निर्णय से ऊँचा है। तर्कबुद्धि के द्वारा स्थापित एकता पूर्ण नहीं हो सकती है। प्रज्ञा एक नियामक शक्ति है, जिसके अंतर्गत न्यायवाक्यों के द्वारा विभिन्न निर्णयों में एकता स्थापित की जाती है। न्याययुक्ति का संबंध प्रत्यक्ष अनुभूति से नहीं होता है। इसके विपरीत, बुद्धि-विकल्पों का संबंध संवेदनों से होता है। तर्कबुद्धि की जो भूमिका निर्णयों के द्वारा बुद्धि-विकल्पों की स्थापना करने में होती है, उसी प्रकार प्रज्ञा की भूमिका अनुमान के द्वारा संप्रत्ययों की स्थापना करने में होती है। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने न्याययुक्ति (Syllogism) के विभिन्न रूपों की स्थापना के लिए आकारिक तर्कशास्त्र का सहारा लिया है। इस तर्कशास्त्र के अंतर्गत तीन प्रकार की न्याययुक्तियों को स्वीकार किया गया है। —

(1) निरपेक्ष न्याययुक्ति (The Categorical Syllogism)

(2) हेतुफलाश्रित न्याय युक्ति (Hypothetical Syllogism)

(3) वैकल्पिक न्याययुक्ति (Disjunctive Syllogism)

प्रज्ञा एक निरपेक्ष विषयी (आत्मा) की मांग करती है, जिसका प्रयोग विषय के रूप में न किया जा सके। विषयी का प्रयोग किसी निर्णय के विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्रज्ञा निरपेक्ष विषयी के रूप में आत्मा की खोज कर लेती है। निरपेक्ष न्याययुक्ति के अंतर्गत उद्देश्य के बारे में कथन किया जाता है। हेतुफलाश्रित न्याययुक्ति (यदि 'अ' है तो 'ब' है) के अंतर्गत कारण-कार्य का निर्देश किया जाता है। इस कारण-कार्य की श्रृंखला के अंतर्गत प्रज्ञा समस्त कारणों के आश्रय स्वरूप एक अतीन्द्रिय कारण की खोज करती है। कारणता की आनुभविक श्रृंखला के आधार पर कारण-कार्य श्रृंखला के रूप में इस प्राकृतिक जगत् की खोज की गई है। इसी प्रकार वैकल्पिक न्याययुक्ति के अंतर्गत दो विकल्पों में से केवल एक विकल्प की संभावना व्यक्त की जाती है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण प्रज्ञा सभी प्रकार के विकल्पों को एक साथ सम्मिलित करके एक वास्तविक सत्ता को ढूँढ़ निकालती है, जिसे ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा तीन अतीन्द्रिय संप्रत्ययों— आत्मा (विषयी), सृष्टि और विचार के समस्त विषयों के कारणों की निरपेक्ष एकता (ईश्वर) को ढूँढ़ निकालती है। इससे स्पष्ट है कि आकारिक तर्कशास्त्र के निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक न्यायवाक्यों के अनुरूप प्रज्ञा के क्रमशः तीन संप्रत्यय हैं, जिन्हें आत्मा, सृष्टि और ईश्वर के नाम से जाना जाता है।

प्रज्ञा के इन तीन संप्रत्ययों के अनुरूप तीन शास्त्रों की स्थापना की गई है —

(1) बुद्धिपरक मनोविज्ञान (Rational Psychology) — प्रज्ञा समस्त मानसिक क्रियाओं के आश्रय-स्वरूप एक आत्मतत्त्व की परिकल्पना कर लेती है। इसका अध्ययन बुद्धिपरक मनोविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है।

(2) बुद्धिपरक सृष्टिविज्ञान (Rational cosmology) — इसके अंतर्गत समस्त भौतिक क्रियाओं को एक साथ समन्वित करके सृष्टि या ब्रह्माण्ड की परिकल्पना की जाती है। जिसका अध्ययन सृष्टि विज्ञान में किया जाता है।

(3) बुद्धिपरक ईश्वरमीमांसा (Rational Theology) — आत्मा और सृष्टि के बीच में समन्वय स्थापित करने के लिए बुद्धिपरक ईश्वरमीमांसा की स्थापना की गई है।

ये तीनों शास्त्र क्रमशः आत्मा, सृष्टि और ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु ये तीनों तत्त्व अतीन्द्रिय होने के कारण असंवेद्य हैं। अतः उनका ज्ञान नहीं हो सकता है। वे बुद्धि, अनुभव और भाषा से परे हैं। अतः इन तीनों शास्त्रों में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय संभव नहीं है। जब बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग इन पारमार्थिक तत्त्वों पर किया जाता है, तो ये तीनों शास्त्र अंतर्विरोधों से ग्रस्त हो जाते हैं। बुद्धिपरक मनोविज्ञान में इन अंतर्विरोधों को तर्काभास (Paralogisms), सृष्टि विज्ञान में इन्हें विप्रतिषेध (Antinomies) और ईश्वरमीमांसा में इन्हें व्याघात (Contradictions) कहा जाता है।

बुद्धिपरक मनोविज्ञान की आलोचना (Criticism of Rational Psychology)

काण्ट के अनुसार आत्मा विशुद्ध ज्ञाता और समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा होने के कारण स्वतः सिद्ध है। किन्तु इसका प्रयोग एक विषय के रूप में नहीं किया जा सकता है। अतीन्द्रिय आत्मा पर कोई भी आनुभविक विधेय लागू नहीं हो सकता है। चिन्तनशील द्रव्य के रूप में आत्मा की अवधारणा करने के कारण परंपरागत मनोविज्ञान अनेक तर्काभासों से ग्रस्त हो जाता है। यह दोष बुद्धि के स्वभाव में ही निहित होता है। अतः आत्मा के संबंध में इन तर्काभासों का पूरी तरह निराकरण तो नहीं किया जा सकता है, किन्तु उनसे बचा जा सकता है। इस संबंध में काण्ट ने चार तर्काभासों का उल्लेख किया है, जो अधोलिखित हैं —

(1) द्रव्यता का तर्काभास — काण्ट के अनुसार द्रव्य (Substance) का प्रयोग सदैव किसी निर्णय के निरपेक्ष उद्देश्य के रूप में ही किया जा सकता है। इसका प्रयोग किसी अन्य वस्तु के विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता है। एक विचारक के रूप में 'मैं' (I) सभी संभावित निर्णयों का निरपेक्ष उद्देश्य हूँ और मेरे प्रतिनिधित्व (Representation) का प्रयोग किसी निर्णय के विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता है।

काण्ट के अनुसार परंपरागत मनोविज्ञान का दोष यह है कि यहाँ तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) और तात्त्विक उद्देश्य (Metaphysical Subject) को एक मान लेने की भूल की गई है। डेकार्ट कहता है, 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।' काण्ट के अनुसार, 'मैं सोचता हूँ' का अर्थ यह है कि मैं अपने विचारों का तार्किक उद्देश्य हूँ। परन्तु इसके आधार पर यह अनुमान करना तर्कसंगत नहीं है कि मैं एक द्रव्य हूँ। वस्तुतः तार्किक उद्देश्य और तात्त्विक

उद्देश्य, दोनों एक-दूसरे से मौलिक रूप में भिन्न हैं। अतः परंपरागत मनोविज्ञान उद्देश्य पद की द्वयर्थकता के कारण द्रव्यत्व के तर्काभास में उलझ जाता है। डेकार्ट और उसकी परंपरा के दार्शनिक आत्मा के निरूपण में द्रव्यत्व के तर्काभास से ग्रस्त हैं। काण्ट के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से एक सत्ता के रूप में आत्मा को मैं कभी नहीं जान सकता हूँ। अतः 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' में 'मैं' का प्रयोग एक तार्किक विषयी के रूप में ही किया जा सकता है।

(2) सरलता का तर्काभास — गुण की दृष्टि से आत्मा को सरल (Simple) माना गया है। जो सरल है, वह निरवयव होगा क्योंकि उसका विभाजन नहीं किया जा सकता है। निरवयव होने के कारण आत्मा को निर्विकार (incorruptible) माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा एक सरल द्रव्य है, जिसका विनाश नहीं हो सकता है।

काण्ट के अनुसार सरल और निर्विकार तत्त्व जिसका अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है, एक ऐसा तत्त्व है जो देश और काल में स्थित है। किन्तु आत्मा निरवयव, सरल और अविश्लेष्य परमाणुओं के समान देश और काल में स्थित नहीं है। आत्मा देश और काल से परे है। काल से परे होने के कारण आत्मा के संदर्भ में स्थायित्व की आकार-योजना संभव नहीं है। किन्तु स्थायित्व के अभाव में द्रव्य को नित्य नहीं कहा जा सकता है। अतः आत्मा के ऊपर द्रव्य एवं गुण के बुद्धि-विकल्पों का आरोपण दोषग्रस्त है। 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' यह कोई अनुमान नहीं है, बल्कि साक्षात् बोध है।

शंकराचार्य ने भी काण्ट के समान आनुभविक निरवयवता को दैशिक माना है। वैशेषिक परमाणुवाद के खण्डन में शंकराचार्य ने कहा है कि अनुभूत निरवयवता दैशिक ही हो सकती है। जो दैशिक होता है, वह भौतिक होगा और इसलिए विभाज्य होगा। जो विभाज्य है, उसे अविनाशी नहीं कहा जा सकता है। अतः जिस रूप में परंपरागत मनोविज्ञान के अंतर्गत आत्मा को निरवयव माना गया है, उसके आधार पर उसकी अमरता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अनुभूत निरवयवता के दैशिक होने से इसका आरोपण देश और काल से परे आत्मा के ऊपर लागू नहीं हो सकता है। आत्मा के अतीन्द्रिय होने से प्रज्ञा के द्वारा उसका साक्षात्कार संभव नहीं है। आगे चलकर काण्ट ने अपनी द्वितीय समालोचना (Critique of Practical Reason) में नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में आत्मा की अमरता को स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि वह आत्मा की अमरता को तर्कबुद्धि के आधार पर नहीं, बल्कि व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर स्वीकार करता है।

(3) व्यक्तित्व का तर्काभास — काण्ट के अनुसार परंपरागत मनोविज्ञान में आत्मा पर व्यक्तित्व का आरोपण किया गया है। आत्मा विभिन्न क्षणों में अपनी एकता को बनाये रखता है, अर्थात् विभिन्न समयों में विषयों का अनुभव करने वाला व्यक्ति अपनी एकता के प्रति जागरूक होता है। जो आत्मा विभिन्न क्षणों में अपनी एकता के प्रति जागरूक है, उसे व्यक्तित्व प्रदान किया जा सकता है। अतः आत्मा व्यक्तित्व से युक्त है।

काण्ट के अनुसार जिस आत्मा की चर्चा मनोविज्ञान एक व्यक्ति के रूप में करता है, वह आत्मा काल-सापेक्ष है। यदि हम ऐसे व्यक्तित्वपूर्ण आत्मा के बारे में काल की दृष्टि से विचार करते हैं, तो उसकी एकता नष्ट हो जाती है। अतीन्द्रिय आत्मा काल से परे है। अतः मनोविज्ञान के द्वारा परिकल्पित व्यक्तित्वपूर्ण आत्मा की अवधारणा दोषपूर्ण है। यद्यपि विविध क्षणों में

जानने वाला आत्मा संख्या की दृष्टि से अपनी एकता को बनाये रखता है, तथापि आत्मा के इस व्यक्तित्व का ज्ञान आत्मा के किसी संवेदन से नहीं उत्पन्न होता है। 'आत्मा व्यक्तित्व-युक्त है' यह मान्यता हमारे ज्ञान और विचार की एक तार्किक शर्त है, किन्तु स्वयं इस शर्त के बारे में कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः परंपरागत मनोविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्वयुक्त आत्मा विशुद्ध ज्ञाता नहीं हो सकता है। अतः व्यक्तित्व का तर्काभास भी एक भ्रान्ति पर आधारित है।

(4) प्रत्ययात्मकता का तर्काभास — प्रत्ययवादी दृष्टि से आत्मा के अतिरिक्त अन्य विषयों का अस्तित्व संदिग्ध है। जिन वस्तुओं की सत्ता अनुभूतियों के कारण के रूप में अनुमेय हैं, उनका अस्तित्व संदेहास्पद है। आभासों की सत्ता का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान नहीं होता है, किन्तु प्रत्यक्षों के कारण के रूप में उनका अनुमान कर लिया जाता है। अतः समस्त बाह्य वस्तुओं की सत्ता संदेहास्पद है, अर्थात् वे प्रत्ययात्मक या काल्पनिक हैं। चूँकि आत्मा का अस्तित्व अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न है, इसलिए आत्मा अन्य सभी वस्तुओं से निरपेक्ष है।

इस तर्काभास के अंतर्गत काण्ट उन दार्शनिकों की आलोचना करता है जो आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को जानने का दावा करते हैं। यह तर्क कि हमें आत्मा के अस्तित्व का निश्चायक ज्ञान हो सकता है, एक काल्पनिक अवधारणा मात्र है। काण्ट के अनुसार जो अन्य विषयों से निरपेक्ष, भिन्न और पारमार्थिक है, वह देश और काल से परे होगा। अतः मनोविज्ञान उस पारमार्थिक आत्मा को नहीं जान सकता है। काण्ट के अनुसार यह सच है कि मेरा अस्तित्व बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व से भिन्न है, किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि मेरी सत्ता-मानव शरीर से रहित, मात्र वैचारिक रूप में संभव है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के विश्लेषण से उसका एक विषय के रूप में कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। बुद्धिपरक मनोविज्ञान का दोष यह है कि इसमें तार्किक सत्ता को तात्त्विक सत्ता से अभिन्न मान लेने की भूल की गई है। अतः काण्ट के अनुसार बुद्धिपरक मनोविज्ञान हमारे आत्मा संबंधी ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं कर सकता है। इसकी स्थापना एक शास्त्र या सिद्धान्त के रूप में नहीं की जा सकती है। काण्ट के अनुसार यह एक अनुशासन का शास्त्र है, जो परिकल्पनात्मक बुद्धि की सीमाओं को रेखांकित करता है। यह एक ओर हमें आत्मा से रहित भौतिकवाद से बचाता है, तो दूसरी ओर वर्तमान जीवन में सीमित, आधारहीन, आध्यात्मवाद से बचाता है।¹

इस प्रकार काण्ट के अनुसार इन तर्काभासों का आधार मानव-बुद्धि है। इसकी आलोचना के द्वारा काण्ट यह दिखाना चाहता है कि हम अधिक से अधिक एक निरपेक्ष ज्ञाता की अवधारणा कर सकते हैं। हम मानव-ज्ञान के विस्तार के लिए मनोवैज्ञानिक आत्मा के स्तर से परे नहीं जा सकते हैं।

बुद्धिपरक सृष्टिविज्ञान की आलोचना (Criticism of Rational Cosmology)

प्रज्ञा दृश्य जगत् की वस्तुनिष्ठ शर्तों को एक सर्वोच्च कारण के रूप में सम्मिलित करने का प्रयास करती है। हम प्राकृतिक जगत् के संप्रत्यय के अंतर्गत अन्य सभी सीमित और भौतिक

नियमों का अंतर्भाव कर लेते हैं। काण्ट के अनुसार संपूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए एक निरपेक्ष आधार की अवधारणा कल्पना मात्र है। एक वास्तविक सत्ता के रूप में इसे जाना नहीं जा सकता है। निरपेक्ष तत्त्व की अवधारणा अतीन्द्रिय है, परन्तु सृष्टि-विज्ञान इसे अनुभव का विषय मान करके भूल करता है। इसके परिणामस्वरूप दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ (तर्कवाक्य) निष्कर्ष के रूप में प्राप्त होती हैं। इन दोनों परस्पर विरोधी निष्कर्षों में से किसे सही माना जाय और किसे सही न माना जाय, इसका कोई सम्यक् समाधान तर्कबुद्धि के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। इन परस्पर विरोधी निष्कर्षों को विप्रतिषेध (Antinomis) कहा जाता है। ये दोनों परस्पर विरोधी निष्कर्ष समान रूप से सत्य प्रतीत होते हैं, अर्थात् पक्ष और विपक्ष का तार्किक बल समान प्रतीत होता है। जहाँ दो परस्पर विरोधी बातें समान रूप से प्रामाणिक प्रतीत हों, वहाँ गंभीर दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता होती है। काण्ट के अनुसार ये विप्रतिषेध किसी दार्शनिक चिन्तन के कारण नहीं उत्पन्न होते हैं, बल्कि प्रज्ञा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। काण्ट ने सृष्टिविज्ञान के क्षेत्र में चार प्रकार के विप्रतिषेधों का उल्लेख किया है। विप्रतिषेधों का अनुभव के आधार पर न तो निराकरण किया जा सकता है और न उनका प्रतिपादन ही किया जा सकता है।

प्रथम विप्रतिषेध

पक्ष — सृष्टि के बारे में यह कहा जाता है कि यह देश और काल से सीमित है। इसके अंतर्गत यह मान लिया जाता है कि सृष्टि का आदि और अंत दोनों हैं। इसकी उत्पत्ति काल में हुई है और यह दैशिक दृष्टि से सीमित है। इसके अंतर्गत जगत् का काल में प्रारंभ होना जगत् की सत्ता की अनिवार्य शर्त है। इसी प्रकार विस्तार की दृष्टि से जगत् को देश में सीमित मानना पड़ेगा, क्योंकि असंख्य वास्तविक वस्तुओं के समूह का अनुभव नहीं हो सकता है। अनंत वस्तुओं के संघात की गणना में अनन्त काल के समाप्त होने की गणना करनी पड़ेगी, जो कि असंभव है।

विपक्ष — प्रथम विप्रतिषेध के विपक्ष में यह कहा जाता है कि सृष्टि अनादि और अनंत है। इसका उद्भव न तो किसी काल में हुआ है और न यह किसी देश से सीमित है। इस प्रकार दैशिक व कालिक दोनों दृष्टियों से सृष्टि अपरिच्छिन्न है।

यदि यह मान लिया जाय कि काल के अंतर्गत सृष्टि का प्रारंभ हुआ है, तो इसका निहितार्थ यह होगा कि सृष्टि के आरंभ से पूर्व सृष्टि की सत्ता नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि उस समय रिक्त काल की सत्ता थी, किन्तु रिक्त काल के अंतर्गत किसी वस्तु का प्रारंभ नहीं हो सकता है। सृष्टि के अंतर्गत विभिन्न वस्तुओं की श्रृंखला का प्रारंभ हो सकता है, किन्तु स्वयं सृष्टि की श्रृंखला का प्रारंभ नहीं हो सकता है। यदि सृष्टि को देश में सीमित माना जाय तो इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि ऐसे देश में स्थित है, जिसके अंतर्गत सृष्टि का अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध है। किन्तु सृष्टिविज्ञान में सृष्टि की अवधारणा वस्तुओं की पूर्णता के रूप में की गई है। अतः उसका संबंध रिक्त देश में स्थित रिक्त देश से ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि की सीमा रिक्त देश होगी, जो कि कोई सीमा नहीं है। अतः सृष्टि असीमित है।

द्वितीय विप्रतिषेध

पक्ष — इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि सृष्टि अविभाज्य और सरल तत्त्वों से बनी है। ये सरल तत्त्व निरवयव परमाणु हैं। इस दृष्टि से संसार की समस्त वस्तुएँ सरल इकाइयों के संघात हैं। सरल इकाइयों का संघात होना इन वस्तुओं के बाह्य लक्षण हैं। यद्यपि इन सरल तत्त्वों को उनके संघातों से पृथक् करना संभव नहीं है, तथापि यह सोचना तर्कसंगत है कि ये सरल तत्त्व संघातों के पूर्ववर्ती हैं।

विपक्ष — इसके विपक्ष में यह कहा जाता है कि जगत् की संरचना अविभाज्य और नित्य परमाणुओं से नहीं हुई है। जगत् में प्रत्येक वस्तु सावयव, विभाज्य और क्षणिक है। यदि परमाणुओं को अविनाशी माना जाय तो वे किसी देश में स्थित होंगे, किन्तु सरल और निरवयव परमाणुओं का दैशिक अस्तित्व नहीं हो सकता है। अतः यह कहना तर्कतः असंगत है कि सृष्टि की रचना अविभाज्य परमाणुओं से हुई है। वस्तुतः निरपेक्ष सरल तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन अनुभव के आधार पर नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से सरल द्रव्य की अवधारणा काल्पनिक है, क्योंकि उसके अनुरूप देश और काल के अंतर्गत कोई संवेदन उपलब्ध नहीं होता है। वस्तुतः निरपेक्ष सरल तत्त्वों का न तो कोई अनुभव किया जा सकता है और न उनके विषय में कोई अनुमान लगाया जा सकता है।

तृतीय विप्रतिषेध

पक्ष — इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि सृष्टि की रचना सप्रयोजन है। प्राकृतिक जगत् में व्याप्त कारण-कार्य नियम ही एकमात्र नियम नहीं है। यदि जगत् की व्याख्या कारण-कार्य के नियमानुसार की जाय तो प्रत्येक घटना सकारण होगी। किन्तु इस क्रम का कोई अंत नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनवस्था दोष से बचने के लिए यह मानना पड़ेगा कि जगत् की सृष्टि एक स्वाधीन कारण से हुई है। इससे संकल्प की स्वतंत्रता भी सिद्ध हो जाती है।

विपक्ष — किन्तु इसके विपक्ष को भी सिद्ध किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य एवं स्वाधीन कारण जैसी कोई चीज नहीं हो सकती है। यदि किसी कारण को अन्य कारणों से स्वतंत्र माना जाय तो इसका निहितार्थ यह होगा कि यह कारण स्वयंभू (Self-caused) है। जो स्वयंभू है, वह अकारण होगा। स्वाधीन कारण को अकारण मानना कारण-कार्य नियम के विरुद्ध है। वस्तुतः सृष्टि में कारण-कार्य नियम का ही अनुशासन है। दूसरे शब्दों में, सब कुछ कारण-कार्य के यांत्रिक नियमानुसार संचालित हो रहा है। इस प्रकार तृतीय विप्रतिषेध का विपक्ष उसके पक्ष का निषेध कर देता है।

चतुर्थ विप्रतिषेध

पक्ष — सृष्टि का कारण एक अनिवार्य एवं निरपेक्ष सत्ता है। इस दृष्टि से सृष्टि के अंतर्गत कारणों की शृंखला में एक अनिवार्य सत्ता है।¹ इससे स्पष्ट है कि जगत् के अंतर्गत प्रत्येक परिवर्तन का एक कारण होता है। प्रत्येक कार्य या परिवर्तन का होना कारणों की एक पूर्ण शृंखला की ओर संकेत करता है। इससे सिद्ध होता है कि इन सबके मूल में एक निरपेक्ष और

1 In the series of the world-cause, there is some necessary being.

अनिवार्य कारण है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि के परिवर्तनों का आधार एक निरपेक्ष और अनिवार्य सत्ता है।

विपक्ष — इसके विपक्ष में यह कहा जाता है कि सृष्टि का कारण ऐसी कोई निरपेक्ष एवं अनिवार्य सत्ता नहीं है। इस प्रकार सृष्टि की प्रत्येक घटना और वस्तु आपातिक है, अनिवार्य नहीं।¹ यदि समस्त परिवर्तनों के मूल में एक ऐसे अनिवार्य और अपरिवर्तनशील कारण को माना जाय, जो स्वयं अकारण हो तो कारण-कार्य नियम का ही निराकरण हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि किसी परिवर्तन का कोई अनिवार्य कारण नहीं है तो कारण-कार्य की श्रृंखला आपातिक होगी। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि का कारण कोई अनिवार्य सत्ता नहीं है।

काण्ट के अनुसार इन चारों विप्रतिषेधों के पक्षों और विपक्षों दोनों को समान रूप से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि अनुभव के द्वारा उनका कोई भी समाधान नहीं हो सकता है। ये अंतर्विरोध बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति के परिणाम हैं, जिसके अंतर्गत प्रज्ञा निरपेक्ष पूर्णता को ग्रहण करना चाहती है। इन चारों विप्रतिषेधों के पक्ष बुद्धिवादी एवं अध्यात्मवादी विचारधारा की पुष्टि करते हैं। इसके विपरीत उनके विपक्ष अनुभववादी एवं भौतिकवादी मतों की पुष्टि करते हैं। बुद्धिवाद और अनुभववाद के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में काण्ट ने क्रमशः प्लेटो और एपिक्यूरस के नाम का उल्लेख किया है। काण्ट के अनुसार पक्ष तथा विपक्ष की यह लड़ाई गलत समझ पर आधारित पूर्वाग्रहों के कारण है। उसने इन दोनों विचारधाराओं में अन्तर्विरोध प्रदर्शित करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पक्ष और विपक्ष दोनों त्रुटिपूर्ण हैं। वे एक-दूसरे का खण्डन प्रस्तुत करते हैं, किन्तु पक्ष और विपक्ष किसी वैचारिक भ्रान्ति के कारण नहीं, बल्कि प्रज्ञा की स्वाभाविक उपज हैं। हमारी प्रज्ञा-संपूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बाँधना चाहती है। किन्तु उसका यह प्रयास काल्पनिक अवधारणा मात्र बनकर रह जाता है। काण्ट का यह मत शंकराचार्य के अध्यास का स्मरण कराता है। शंकराचार्य ने अपने अध्यास भाष्य में कहा है कि यह लोक-व्यवहार सत्य और असत्य के मिथुनीकरण के परिणामस्वरूप अनादिकाल से, नैसर्गिक (स्वाभाविक) रूप से चला आ रहा है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति जान-बूझकर इस अध्यास जन्य लोक-व्यवहार को वास्तविक नहीं मानता है। वस्तुतः यह अनादि-अविद्या के कारण मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाता है।²

काण्ट के अनुसार प्रथम दो विप्रतिषेध गणितीय हैं। उनके पक्ष और विपक्ष दोनों गलत हैं। इनमें से एक (पक्ष) रूढ़िवादी है क्योंकि वह बुद्धि और अनुभव के स्वरूप की गलत समझ पर आधारित है। बुद्धि की क्षमता का विना सम्यक् विश्लेषण और आकलन किए ही बुद्धिवादियों ने सृष्टि के बारे में मनमाने ढंग से निष्कर्षों की स्थापना किया। इसी प्रकार, दूसरा मत (विपक्ष) संशयवादी है। अनुभववाद अपनी मान्यताओं को प्रामाणिक मानकर बुद्धि की उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार वह व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी सैद्धान्तिक आधारों को नष्ट कर देता है। यद्यपि अनुभववादियों का यह दावा तर्कसंगत है कि बौद्धिक अंतर्दृष्टि को आवश्यकता से अधिक प्रामाणिक कहना समीचीन नहीं है, तथापि अनुभववादी उस समय स्वयं

1 There is nothing necessary in the world, but in the series, all is Contingent.

2 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदं नैसर्गिकोऽयम् लोक व्यवहारः' — देखिए 'शारीरक भाष्य' में अध्यास पर शंकराचार्य का भाष्य

रुढ़िवादी बन जाता है जब वह अनुभव के क्षेत्र से बाहर की मान्यताओं का खंडन करता है। इस प्रकार अनुभववाद का अंत संशयवाद में हो जाता है। चूँकि ये दोनों मत गलत हैं, इसलिए उनमें कोई विरोधाभास नहीं है। काण्ट के अनुसार पक्ष और विपक्ष के अतिरिक्त एक तीसरा विकल्प भी संभव है — जगत् न देश में है और न काल में है, बल्कि यह एक आभास है।

काण्ट के अनुसार अंतिम दोनों विप्रतिषेधों के पक्ष और विपक्ष में कोई वास्तविक अंतर्विरोध नहीं है। उनके पक्ष और विपक्ष क्रमशः पारमार्थिक और व्यावहारिक, इन दो दृष्टियों से प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार उनका विरोध दो पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों के कारण प्रतीत होता है। पारमार्थिक दृष्टि से पक्ष सही है और व्यावहारिक दृष्टि से विपक्ष सही है। वस्तुतः तृतीय और चतुर्थ विप्रतिषेधों का नैतिक और धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। उन्हें तर्क के द्वारा न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणित किया जा सकता है। वे आस्था के विषय हैं।

काण्ट ने तृतीय एवं चतुर्थ विप्रतिषेध में दर्शनशास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या की ओर संकेत किया है। यह समस्या संकल्प की स्वतन्त्रता और नियतिवाद से सम्बन्धित है। काण्ट के अनुसार कारणता-नियम और संकल्प-स्वातन्त्र्य दोनों अवधारणाएँ पृथक्-पृथक् दृष्टियों से तर्कसंगत हैं। कारण-कार्य के संप्रत्यय का प्रयोग केवल प्राकृतिक जगत् की सीमा में ही किया जा सकता है। किन्तु प्राकृतिक जगत् के अन्तर्गत किसी घटना या वस्तु के कारण की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती है। वस्तुतः जगत् के अन्तर्गत घटनाओं के कारणों की व्याख्या का क्रम समाप्त नहीं हो सकता है। किसी घटना की पूर्ण व्याख्या असंभव है। व्यावहारिक जगत् में किसी घटना की जाँ भी व्याख्या की जाय, वह अनुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। काण्ट के अनुसार सभी घटनाओं एवं वस्तुओं (सृष्टि) के किसी एक निरपेक्ष कारण की अवधारणा अनुभव के आधार पर नहीं की जा सकती है। पारमार्थिक दृष्टि से सर्वोच्च कारण की अवधारणा प्राकृतिक कारणों की श्रृंखला के बाहर है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि के सर्वोच्च कारण की अवधारणा पारमार्थिक दृष्टि से ही की जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य अथवा घटना एक प्रकार से दोहरी कारणता से सम्बद्ध हो जाता है (क्योंकि सर्वोच्च कारण को ही प्रत्येक घटना का अन्तिम कारण माना जाता है)। पारमार्थिक दृष्टि से प्रत्येक कार्य एक सर्वोच्च कारण पर आश्रित होने के कारण स्वतन्त्र है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्येक घटना कारण-कार्य की श्रृंखला से बँधी हुई है।

इससे स्पष्ट है कि हम पारमार्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता की अवधारणा कर सकते हैं। किन्तु स्वतन्त्रता की यथार्थता को पारमार्थिक एवं अतीन्द्रिय दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। नियतिवादियों के द्वारा दिये गये तर्कों का प्रयोग अतीन्द्रिय या पारमार्थिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं किया जा सकता है। हम व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र हैं। अतः अपने ऐच्छिक कर्मों के प्रति उत्तरदायी हैं। नियतिवादियों के द्वारा संकल्प की स्वतन्त्रता के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियाँ पारमार्थिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध हैं। किन्तु अनुभव की सीमा के बाहर, अर्थात् अतीन्द्रिय क्षेत्र में नियतिवादी तर्कों को प्रामाणिक (वैध) नहीं माना जा सकता है। वास्तव में व्यावहारिक दृष्टि से संकल्प-स्वातन्त्र्य को मानने में कोई समस्या नहीं है। समस्या तो केवल पारमार्थिक अथवा अतीन्द्रिय दृष्टि से स्वतन्त्रता की अवधारणा के बारे में है।¹ इस विवेचन से

स्पष्ट है कि तीसरे और चौथे विप्रतिपेधों के अन्तर्गत पक्ष और विपक्ष का विवाद व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि-भेद की उपेक्षा करने से उत्पन्न होता है। यदि इस दृष्टि-भेद को ठीक-ठीक समझ लिया जाय तो पक्ष और विपक्ष में सामञ्जस्य हो सकता है।

उल्लेखनीय है कि काण्ट ने अपनी द्वितीय आलोचना (Critique of Practical Reason) में संकल्प-स्वातन्त्र्य को नैतिकता की एक पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु आधुनिक भौतिकी और गति विज्ञान की अभिरुचि इन विप्रतिपेधों के विपक्षों को स्वीकार करने में है। आधुनिकता से प्रभावित प्राकृतिक विज्ञानों की विविध विधाएँ समस्त सृष्टि में यान्त्रिक नियमों, अर्थात् कारण-कार्य शृंखला का शासन स्वीकार करती हैं। इस दृष्टि से किसी एक निरपेक्ष सत्ता को जगत् के ऐकान्तिक स्रष्टा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार सृष्टि विज्ञान के अन्तर्गत विप्रतिपेधों के पक्ष और विपक्ष प्रज्ञा की कल्पना मात्र हैं। यदि पक्ष और विपक्ष की दृष्टि से सृष्टि के स्वरूप, उद्भव, प्रयोजन आदि के बारे में वहस, परिचर्चा और विवाद किए जाएँ तो पक्ष और विपक्ष के वक्ता एक-दूसरे को पराजित करने की अपेक्षा थकाते अधिक हैं। अतः काण्ट के अनुसार इन विप्रतिपेधों के पक्ष और विपक्ष को लेकर तार्किक वहस करना एक निरर्थक प्रयास है। वस्तुतः उनके बारे में जो भी समाधान प्रस्तुत किया जाय, वह सत्य से दूर और काल्पनिक होगा। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि विज्ञान एक मिथ्या शास्त्र है।

बुद्धिपरक ईश्वरमीमांसा की आलोचना (Criticism of Rational Theology)

ईश्वरमीमांसा के अन्तर्गत ईश्वर के संप्रत्यय को एक वास्तविक सत्ता के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। ईश्वर का संप्रत्यय प्रज्ञा का आदर्श है। ईश्वर की अवधारणा आत्मा और सृष्टि के बीच में समन्वय स्थापित करने के लिए भी अपेक्षित है। काण्ट के अनुसार प्रज्ञा आत्मा एवं सृष्टि के संप्रत्ययों में समन्वय स्थापित करके उनके नियन्ता एवं आदर्श के रूप में ईश्वर की संकल्पना कर लेती है। ईश्वरमीमांसा एक काल्पनिक संप्रत्यय को वास्तविक सत्ता समझकर उसे सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ देती है। ईश्वर के बारे में मन, वाणी, बुद्धि, भाषा आदि के द्वारा निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ईश्वर एक पारमार्थिक सत्ता है। वस्तुतः बुद्धि के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का न तो खण्डन किया जा सकता है और न मण्डन किया जा सकता है। जब प्रज्ञा की कल्पना से प्रसूत ईश्वर को एक वास्तविक सत्ता के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो ईश्वरमीमांसा के तर्क अंतर्विरोधग्रस्त हो जाते हैं। ईश्वरमीमांसा के क्षेत्र में इन अंतर्विरोधों को व्याघात (Contradiction) कहा जाता है।

दर्शन शास्त्र के इतिहास में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए परंपरागत रूप से तीन युक्तियाँ दी गई हैं। इन्द्रियानुभूतिक जगत् में निहित कारण-कार्य नियम के आधार पर इस जगत् से परे जगत् या सृष्टि के आदि कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के सामान्य अस्तित्व के आधार पर अनिवार्य सत्ता के अस्तित्व की स्थापना की जाती है। तीसरे तर्क के अन्तर्गत पूर्णता के प्रत्यय के आधार पर जगत् की सर्वोच्च सत्ता का अनुमान किया जाता है। इन्हें क्रमशः भौतिक-धार्मिक युक्ति अथवा प्रयोजन मूलक

युक्ति, सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति और प्रत्यय-सत्तामूलक युक्ति के नाम से जाना जाता है। काण्ट के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए केवल यही तीन युक्तियाँ प्रमुख हैं। वस्तुतः ईश्वर की अवधारणा के बारे में बुद्धि के विकास का यही स्वाभाविक क्रम भी है। किन्तु काण्ट ने सबसे पहले प्रत्यय-सत्तामूलक युक्ति पर विचार किया है। वह इस युक्ति को प्रागनुभविक प्रमाण या अतीन्द्रिय प्रमाण भी कहता है। इनमें से किसी भी युक्ति के द्वारा मानव-बुद्धि अपने अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती है, क्योंकि बुद्धि के संप्रत्ययों का प्रयोग केवल इन्द्रिय जगत् तक सीमित है। इससे परे उसका सारा प्रयास विफल हो जाता है।

प्रत्यय सत्तामूलक तर्क (Ontological Argument)

ऐतिहासिक दृष्टि से इस तर्क के प्रवर्तकों में सन्त एन्सेल्म, डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनिज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क के अन्तर्गत ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। ईश्वर की पूर्णता का तात्पर्य यह है कि ईश्वर सर्वगुण संपन्न है। उसकी पूर्णता के प्रत्यय में उसका अस्तित्व भी सम्मिलित हो जाता है। यदि ईश्वर के अस्तित्व को न माना जाय तो उसे पूर्ण या सर्वगुण संपन्न नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार यह युक्ति अस्तित्व को भी एक गुण मान लेती है।

काण्ट के अनुसार यह युक्ति दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें अस्तित्व को एक गुण मान लेने की भूल की गई है। किन्तु अस्तित्व कोई गुण नहीं है। वस्तुतः अस्तित्व गुण का पूर्ववर्ती होता है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसमें गुण-स्थापन की तार्किक प्रागपेक्षा है। यदि अस्तित्व को गुण मान लिया जाय तो उस अस्तित्वरूपी गुण के आश्रय के रूप में एक अन्य अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी। किन्तु इस क्रम का कोई अन्त नहीं हो सकता है। अतः अस्तित्व को गुण मान लेने पर अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। काण्ट के इस मत का समर्थन समकालिक विश्लेषी दार्शनिकों ने भी किया है। उनके अनुसार अस्तित्व का प्रयोग विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता है।¹

काण्ट के अनुसार किसी वस्तु के प्रत्यय मात्र से उसका वास्तविक अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। केवल प्रत्ययों (विचारों) से प्रत्ययों की सत्ता ही सिद्ध की जा सकती है। प्रत्यय के अनुरूप वास्तविक तत्त्व का होना अनिवार्य नहीं है। उसका यह कथन प्रसिद्ध है कि यदि कोई व्यक्ति अपने मन में सौ डालरों की कल्पना कर ले तो इससे उसकी जेब में, वास्तव में सौ डालर नहीं हो सकते हैं। यदि ऐसा होता (अर्थात् विचारों से वास्तविक वस्तु की सत्ता सिद्ध हो जाती) तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी जेब में सौ डालरों की कल्पना करके उन्हें वास्तव में प्राप्त कर लेता। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से उसके वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इस युक्ति के समर्थकों का दावा है कि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय को स्वीकार करना और पूर्ण ईश्वर के अस्तित्व को न स्वीकार करना उसी प्रकार वदतो-व्याघात है, जैसाकि त्रिभुज के प्रत्यय को स्वीकार करना, किन्तु उसे त्रिकोणालक न मानना आत्म-व्याघाती है। काण्ट के अनुसार यह युक्ति ऊपर से देखने में तो सबल है, किन्तु इसका परीक्षण करने पर इसकी निर्बलता स्पष्ट हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति त्रिभुज के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए भी उसमें अन्तर्निहित तीनों कोणों को न स्वीकार करे तो भले ही ऐसा मानना व्याघात हो, परन्तु यदि त्रिभुज के प्रत्यय और

1 Existence is not predicate.

उसके त्रिकोण, दोनों को स्वीकार न किया जाय तो कोई व्याघात नहीं होगा। इसी प्रकार यदि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय और पूर्ण ईश्वर के अस्तित्व, दोनों को स्वीकार न किया जाय तो किसी प्रकार का व्याघात नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाता है।

यदि दुर्जनतोष न्याय से ईश्वर को एक निर्दोष एवं सर्वशक्तिमान पूर्ण सत्ता के रूप में परिकल्पित कर लिया जाय, तो भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में है? यह स्पष्ट है कि हमारे अनुभव के अन्तर्गत ईश्वर की पूर्णता सिद्ध नहीं हो सकती है। काण्ट के अनुसार किसी वस्तु का प्रत्यय चाहे जितना पूर्ण हो, परन्तु उसके आधार पर किसी यथार्थ वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए उसकी 'पूर्णता के प्रत्यय' से बाहर निकलना होगा। किन्तु काण्ट के अनुसार यह असंभव है। अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के संदर्भ में तो यह संभव है क्योंकि उनके प्रत्ययों के अनुरूप संवेदन वस्तु जगत् में विद्यमान हैं। इसके विपरीत ईश्वर एक पारमार्थिक सत्ता है, जो असंवेद्य (देश-काल से परे) है। अतः ईश्वर के प्रत्यय से उसकी सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः यह युक्ति एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय को पहले से ही मान लेती है। उसके बाद उसकी अनिवार्यता का अनुमान किया जाता है।

प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क को एक युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो यह युक्ति आत्माश्रय दोष या चक्रक दोष से ग्रस्त हो जाती है। इसे युक्ति के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है —

जो पूर्ण है वह सत् है।

ईश्वर पूर्ण है।

अतः ईश्वर सत् है।

इस युक्ति में ईश्वर की सत्ता को मुख्य आधार-वाक्य में पहले से ही मान लिया गया है। अतः जो बात निष्कर्ष में प्रमाणित करनी है, उसे आधार वाक्य में पहले से ही मान लेना दोषपूर्ण है।

काण्ट के पूर्व मध्यकालीन दार्शनिक संत एन्सेल्म के समकालिक विचारक गैनिलो ने भी प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क का निराकरण किया था। काण्ट ने गैनिलो के द्वारा सत्तामूलक तर्क के खण्डन को स्वीकार करते हुए कहा कि इस युक्ति के द्वारा अधिक से अधिक ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय का अस्तित्व ही सिद्ध हो सकता है, न कि वास्तविक ईश्वर की सत्ता।

प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क के खण्डन का मूल्यांकन

काण्ट के पूर्ववर्ती रूढ़िवादी दार्शनिकों के द्वारा जिस रूप में सत्तामूलक तर्क को प्रस्तुत किया गया है उसके विरुद्ध काण्ट की युक्तियाँ वैध प्रतीत होती हैं। काण्ट के पूर्ववर्ती रूढ़िवादी दार्शनिकों के विचार और सत्ता में द्वैत स्थापित किया है। उनके अनुसार किसी वस्तु के सारतत्त्व और अस्तित्व को परस्पर अभिन्न नहीं कहा जा सकता। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय से उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः रूढ़िवादी-दार्शनिकों (जैसे डेकार्ट, स्पिनोजा आदि) के द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रत्यय सत्तामूलक

तर्क ही इस युक्ति का एकमात्र स्वरूप नहीं है। इस संदर्भ में सन्त एन्सेल्म ने अपने समकालीन दार्शनिक गैनिलो के द्वारा उठाए गए आक्षेप के प्रत्युत्तर में यह कहा कि ईश्वर के अस्तित्व और सारतत्त्व में अभेद है। अस्तित्व और सारतत्त्व का अलगाव सांसारिक वस्तुओं के संदर्भ में भले ही लागू हो, परन्तु इसे ईश्वर जैसी पूर्ण सत्ता के संदर्भ में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के अस्तित्व और सारतत्त्व में अभेद है। आगे चलकर जर्मन दार्शनिक हेगेल ने काण्ट के द्वारा उठायी गई आपत्तियों का निराकरण किया। हेगेल के अनुसार इस तर्क के विरुद्ध काण्ट के द्वारा उठायी गई आपत्तियाँ उसके द्वैतवाद पर आधारित हैं। काण्ट सोचने और होने तथा प्रत्यय और वस्तु में भेद करता है। काण्ट की ये मान्यतायें केवल सांसारिक वस्तुओं पर ही लागू होती हैं, ईश्वर पर नहीं। यह सच है कि किसी वस्तु के प्रत्यय मात्र से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। परन्तु ईश्वर कोई सांसारिक वस्तु नहीं है। ईश्वर का प्रत्यय अलौकिक और अद्वितीय है। अतः प्राकृतिक और अपूर्ण वस्तुओं के समान ईश्वर के अस्तित्व और प्रत्यय में भेद नहीं किया जा सकता है। आधुनिक युग में हेगल और केयर्ड के साथ-साथ कुछ नव्य हेगेलवादियों ने इस तर्क का समर्थन किया है।

केयर्ड के अनुसार ऐसा कोई विषय नहीं है जो विचार पर निर्भर न हो। समस्त सत्ता चेतना पर आश्रित है। इस तर्क में वस्तु की अपेक्षा प्रत्यय और चेतना को अधिक महत्त्व दिया गया है। ईश्वर और विश्व-सम्बन्धी चेतना का मूल केन्द्र आत्मा है। जिस प्रकार सोचने से होना अनिवार्यतः सिद्ध होता है उसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय से उसकी सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। प्रत्यय सत्ता मूलक तर्क इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है।

यद्यपि यह तर्क निर्णायक साक्ष्य के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाता है, तथापि दर्शन के इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क किसी अनुभूति पर आधारित नहीं है। अतः इसे एक प्रागनुभाविक तर्क कहा गया है। किन्तु समस्या यह है कि जब तक तत्त्व का साक्षात्कार अनुभूति के स्तर पर न कर लिया जाय, तब तक उसके अस्तित्व की बात करना द्रविड़ प्राणायाम (काल्पनिक) मात्र होगा। इस दृष्टि से काण्ट के द्वारा इस तर्क को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए न स्वीकार करना स्वाभाविक है। किन्तु कुछ आलोचकों ने इस युक्ति की व्याख्या मूल आलोचनात्मक दृष्टि से किया है। उनके अनुसार पूर्णता के प्रत्यय से किसी प्राकृतिक वस्तु के अस्तित्व को भले ही न सिद्ध किया जा सके, परन्तु उसके द्वारा चेतन तत्त्व के अस्तित्व को निगमित किया जा सकता है। ईश्वर की पूर्णता न तो भौतिक दृष्टि से है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से है, बल्कि मूल्य परक दृष्टि से है। जिरा पर आत्मा के प्रत्यय से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से समस्त सदगुणों (Virtues) के एकायन ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। सीमित इकाइयों के अस्तित्व और सारतत्त्व में भले ही भेद हो, परन्तु ईश्वर के सारतत्त्व और अस्तित्व एकार्थक हैं। किन्तु ईश्वर के अस्तित्व और एकता का बोध सहज बुद्धि से नहीं हो सकता है। इसका ज्ञान प्रतिभान अथवा अपरोक्षानुभूति से ही संभव है। उल्लेखनीय है कि काण्ट मानव-बुद्धि को प्रतिभान से रहित मानता है। यही कारण है कि वह ईश्वर के अस्तित्व और सारतत्त्व के ऐक्य का प्रतिपादन करने में असमर्थ है। आगे चलकर अपनी द्वितीय आलोचना में काण्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को नैतिकता की एक पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है।

सृष्टि वैज्ञानिक तर्क (Cosmological Argument)

इस युक्ति के अनुसार प्रत्येक कार्य या घटना अनिवार्यतः सकारण है। चूँकि सृष्टि अथवा जगत् भी एक कार्य है, इसलिए इसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इस युक्ति के अन्तर्गत जगत् की कारण-कार्य श्रृंखला के अन्तिम कारण के रूप में ईश्वर को सृष्टि का आदिकारण माना गया है। यदि सृष्टि का कारण एक स्वयंभू (Self-caused) ईश्वर को न माना जाय तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार यदि एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु को और दूसरी वस्तु का कारण पहली वस्तु को माना जाय तो इतरेतराश्रय दोष (Fallacy of Interdependence) उत्पन्न हो जायेगा।

इस युक्ति का प्रारम्भ इन्द्रियानुभव से होता है, किन्तु अन्त में यह युक्ति अनुभव की सीमा का परित्याग करके अनुभव से स्वतन्त्र रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करती है। इससे स्पष्ट है कि यह युक्ति पूर्ण रूप से अनुभव-निरपेक्ष नहीं है। इसके अन्तर्गत अनुभव के समस्त संभाव्य विषयों को एक साथ समाविष्ट करके सृष्टि की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। अतः इसे सृष्टि वैज्ञानिक तर्क कहा जाता है।

काण्ट के अनुसार यह युक्ति अनुभव का परित्याग करके बौद्धिक संप्रत्ययों के आधार पर अनिवार्य सत्ता के स्वरूप को निश्चित करने का प्रयास करती है। इस तर्क में यह पूर्व मान्यता निहित है कि निरपेक्ष सत्ता के अस्तित्व का अनुमान सत्ता (ईश्वर) के प्रत्यय के माध्यम से किया जा सकता है। इसलिए इस तर्क को प्रत्यय सत्तामूलक तर्क का ही एक छद्म रूप कहा जा सकता है। किन्तु सृष्टि वैज्ञानिक तर्क के समर्थकों ने इसे प्रत्यय सत्तामूलक तर्क से अलग करने के लिए इन्द्रियानुभव का सहारा लेने का प्रयास किया। चूँकि इन्द्रियानुभव के आधार पर हम केवल प्राकृतिक जगत् में स्थित आपातिक एवं अनिवार्य संप्रत्ययों को ही प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए इस तर्क के आधार पर किसी ईश्वर जैसी पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। काण्ट के अनुसार अनुभव के आधार पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि निरपेक्ष अनिवार्यता किसी सत्ता में वास्तव में पायी जाती है।

इस युक्ति की आलोचना करते हुए काण्ट ने कहा है कि ईश्वर एक पारमार्थिक सत्ता है, किन्तु कारण-कार्य का नियम एक बुद्धि-विकल्प है। बुद्धि-विकल्प होने के कारण कारणता का प्रयोग केवल प्राकृतिक अथवा व्यावहारिक जगत् की सीमा के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। अतः कारण-कार्य नियम के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर जैसी पारमार्थिक सत्ता के ऊपर कारणता का प्रयोग अनुचित है। इसी प्रकार नैयायिक उदयनाचार्य के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई युक्तियों का खण्डन वेदान्तियों और मीमांसकों ने भी किया है। अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से विचार किया जाय तो कारणता को परमार्थ पर प्रयुक्त करना एक अध्यास (Super-imposition) है।

इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को कारण-कार्य श्रृंखला की कड़ी के रूप में सृष्टि का आदि कारण माना जाय तो ईश्वर इस श्रृंखला का एक अभिन्न अंग हो जाता है। चूँकि कारणता भौतिक जगत् की सीमाओं में प्रयुक्त होने वाला एक नियम है, इसलिए इस संबंध की कड़ी के रूप में ईश्वर को ही भौतिक मानना पड़ेगा। किन्तु ईश्वर को भौतिक कहना वदतो-व्याघात है।

यदि इस आक्षेप से बचने के लिए यह दावा किया जाय कि ईश्वर स्वयं आदिकारण होते हुए भी अकारण है तो इस युक्ति का स्वतः खण्डन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि स्वयंभू ईश्वर का कोई कारण न माना जाय तो वह कारण-कार्य शृंखला की कड़ी नहीं हो सकता है। इससे यह युक्ति अन्तर्विरोध-ग्रस्त हो जाती है। यदि ईश्वर का कोई कारण नहीं है तो कारण और कार्य में अनिवार्य संबंध की स्थापना नहीं की जा सकती है। पुनश्च, ईश्वर को अकारण कहना स्वयं उस कारण-कार्य नियम का ही परित्याग करना होगा, जिस नियम पर यह युक्ति आधारित है। इस युक्ति के निराकरण का निहितार्थ यह है कि यदि ईश्वर को कारण-कार्य शृंखला की कड़ी न माना जाय तो वह इस सृष्टि का कारण नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त सृष्टि वैज्ञानिक तर्क ईश्वर के अस्तित्व को नहीं, बल्कि सृष्टि के कारण के रूप में एक अनिवार्य सत्ता के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है। यह संभव है कि यह अनिवार्य सत्ता ईश्वर न हो, बल्कि उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व हो। इस प्रकार यह युक्ति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर पाती है। काण्ट कहता है कि यह युक्ति प्रच्छन्न रूप से प्रत्यय-सत्तामूलक तर्क का ही एक रूप है। इस युक्ति में कारण-कार्य की अनिवार्यता के आधार पर सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। जबकि सत्तामूलक तर्क एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय से उसके अनिवार्य अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है। अतः सृष्टि वैज्ञानिक तर्क सत्तामूलक युक्ति के प्रायः सभी दोषों से ग्रस्त हो जाता है।

भौतिक-धार्मिक युक्ति

(The Physico-Theological Argument)

यह युक्ति प्राकृतिक जगत् में वस्तुओं की संरचना, व्यवस्था, नियमबद्धता एवं सौन्दर्य को देखकर उसके व्यवस्थापक या शिल्पी के रूप में ईश्वर की सत्ता का अनुमान करती है। हमें सृष्टि में एक व्यवस्था और प्रयोजन दिखाई पड़ता है। यह व्यवस्था, सौन्दर्य एवं प्रयोजन प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं में नहीं हो सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी निरपेक्ष सत्ता ने इस जगत् में व्यवस्था और प्रयोजन स्थापित किया है। यह सृष्टि किसी परम विवेकी तत्त्व की रचना है। इसका नियंता एवं रचनाकार कोई पूर्ण तत्त्व ही हो सकता है। यह पूर्ण तत्त्व ईश्वर है। इस संसार में अनेक आश्चर्यजनक एवं चमत्कारिक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। निश्चित रूप से इस विचित्र रचना के पीछे कोई दैवी सत्ता है।¹

अपने 'ब्रह्म सूत्र भाष्य' के 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य ने भी इस युक्ति की ओर संकेत किया है। 'जो प्रतिनियत देश, काल, निमित्त क्रिया तथा फल का आश्रय है एवं जो मन से अचिन्त्य रचना-रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का अधिष्ठान है, वह ब्रह्म है।'²

1 गोस्वामी तुलसीदास ने विश्व की इस विचित्रता को देखकर उसके रहस्य को स्वानुभूति का विषय माना है। वे कहते हैं — केशव कहि न जात का कहिए।

अति विचित्र रचना अनूप तब समुझि मनहि मन रहिए।।

इसी प्रकार प्लेटो भी कहता है कि दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है — Philosophy begins in wonder.

2 सत्यानंदी दीपिका (शारीरक भाष्य) पृष्ठ 35-36.

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए दी जाने वाली युक्तियों में से यह युक्ति सबसे प्राचीन है। अतः धर्मशास्त्र एवं दर्शन दोनों के क्षेत्र में इस युक्ति को विशेष महत्व दिया गया है। काण्ट के अनुसार यह युक्ति भी अन्ततः प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित अनुभव का परित्याग करके सत्तामूलक युक्ति के समान ही प्रागनुभविक रूप से अपने निष्कर्षों को स्थापित करने का प्रयास करती है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक जगत् की नियमबद्धता, सौन्दर्य आदि के सादृश्य के आधार पर विश्व के एक कुशल शिल्पी का अनुमान किया जाता है। किन्तु इसके आधार पर ऐसे सृष्टिकर्ता को नहीं सिद्ध किया जा सकता है जिसके संकल्प मात्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती हो। जिस प्रकार शिल्पी को एक महल के निर्माण के लिए उपादन (विषय-वस्तु) की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ईश्वर को भी सृष्टि-रचना के लिए उपादान पर आश्रित होना चाहिए। सादृश्यानुमान पर आश्रित होने के कारण यह युक्ति ईश्वर को सृष्टि-रचना के लिए उपादान-सापेक्ष बना देती है। इस प्रकार यह युक्ति ईश्वर के पूर्णत्व की स्थापना नहीं कर पाती है। वस्तुतः ईश्वर के ऊपर आरोपित किये जाने वाले समस्त गुण काल्पनिक हैं। समस्त विधेय मनुष्य की सापेक्षिक शक्ति और सापेक्षिक कौशल के सम्बन्ध में ही सार्थक हैं। काण्ट के अनुसार यह युक्ति अधिक से अधिक एक सृष्टिकर्ता के अस्तित्व को सिद्ध करती है। इससे केवल यह संकेत मिलता है कि इस विशाल सृष्टि का कारण कोई सीमित मनुष्य नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में, इस सृष्टि का आधार कोई ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य की अपेक्षा-अधिक पूर्ण एवं शक्तिमान है। काण्ट के अनुसार यह सम्भव है कि सृष्टि का रचयिता ईश्वर न हो। ऐसा सोचने में कि सृष्टि का रचयिता ईश्वर नहीं है, कोई व्याघात नहीं आता है। इस युक्ति से यह नहीं सिद्ध होता है कि सृष्टि की रचनात्मक शक्ति ईश्वर ही है। अतः यह युक्ति किसी विवेकशील प्राणी की सत्ता ही सिद्ध कर पाती है। इससे पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो पाता है।

ईश्वर की पूर्णता के अन्तर्गत जिन गुणों का आरोपण किया जाता है उससे केवल ईश्वर की प्रशंसा की अभिव्यक्ति होती है, न कि वास्तविक गुणों की सिद्धि। इसके अतिरिक्त एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक गुणों से युक्त ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने का दावा करना मनुष्य के लिए असम्भव है। वस्तुतः भौतिक-धार्मिक युक्ति एक कुशल शिल्पी की सहायता, शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता आदि का निर्देश करती है, किन्तु उसके आगे नहीं जा सकती है। अनुभव से आगे जाने के लिए यह युक्ति अनुभव की सीमा का उल्लंघन करके एक निरपेक्ष और अनिवार्य सत्ता को परिकल्पित कर लेती है। इस प्रकार यह युक्ति भी अन्त में अनुभव-निरपेक्ष हो जाती है।

भौतिक-धार्मिक युक्ति कारण-भेद पर आधारित एक साम्यानुमान है। साम्यानुमान आगमनात्मक युक्ति के अन्तर्गत आता है। आगमनात्मक युक्ति के द्वारा स्थापित सत्य केवल सम्भाव्य या प्रायिक सत्य की कोटि में आते हैं। वस्तुतः साम्यानुमान का प्रयोग आनुभविक जगत् की परिधि के अंतर्गत ही किया जा सकता है। चूँकि ईश्वर एक अतीन्द्रिय एवं पारमार्थिक सत्ता है, इसलिए भौतिक-धार्मिक युक्ति उसको सिद्ध करने में असफल हो जाती है। काण्ट के अनुसार व्यावहारिक जगत् की अनुभूतियों के आधार पर एक अतीन्द्रिय एवं पारमार्थिक सत्ता (ईश्वर) का अनुमान करना दोषपूर्ण है।

वस्तुतः भौतिक-धार्मिक युक्ति भी सृष्टि वैज्ञानिक युक्ति के समान व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं के अन्तिम कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करती है। अतः यह कारणता नामक बुद्धि-विकल्प का प्रयोग पारमार्थिक सत्ता पर करती है। किन्तु कारणता का प्रयोग अनुभव की सीमा के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। अतः ईश्वर के संदर्भ में कारणता नामक बुद्धि-विकल्प का प्रयोग अनुचित है।

इस प्रकार तार्किक युक्तियों का निराकरण करके काण्ट ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक युक्तियों के आधार पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। आत्मा, सृष्टि और ईश्वर प्रज्ञा के काल्पनिक सम्प्रत्यय मात्र हैं। उन्हें वास्तविक सत्ता अथवा ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता है। हमें प्रामाणिक (वैध), यथार्थ, सार्वभौमिक तथा अनिवार्य ज्ञान केवल व्यवहारिक जगत् का ही हो सकता है। प्रज्ञा के सम्प्रत्यय (आत्मा, जगत् और ईश्वर) आस्था के विषय है। यद्यपि वे ज्ञान के विषय नहीं हैं, तथापि उनकी उपयोगिता है क्योंकि इससे मानव को अपने ज्ञान की सीमा का बोध होता है। काण्ट के अनुसार उन्हें तर्क के द्वारा न तो सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध किया जा सकता है। जो बुद्धि से परे है वह श्रद्धा का विषय हो सकता है। इस संदर्भ में काण्ट का यह कथन प्रसिद्ध है — मैंने आस्था अथवा श्रद्धा (Faith) को स्थान देने के लिए शुद्ध बुद्धि की आलोचना की। यद्यपि ईश्वर को बुद्धि और अनुभव पर आश्रित ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता है तथापि उसके अस्तित्व को स्वीकार करना नैतिक नियमों की रक्षा के लिए आवश्यक है। काण्ट ईश्वर को शुद्ध बुद्धि (प्रज्ञा) के आधार पर नहीं, बल्कि व्यावहारिक बुद्धि या अंतरात्मा के आधार पर मानता है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता नैतिक जीवन की आधारशिला है। वह तार्किक दृष्टि से अज्ञेयवादी होते हुए भी नैतिक दृष्टि से ईश्वरवादी है क्योंकि वह ईश्वर में आस्था रखता है। उसने ईश्वर के अस्तित्व को नैतिक युक्ति के आधार पर स्वीकार किया है। उसके दर्शन में नैतिक युक्ति का विशेष महत्व है क्योंकि ईश्वर ही नैतिक प्रयत्नों का प्रतिफल एवं नैतिक प्रगति की पराकाष्ठा है। इससे स्पष्ट है कि काण्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए परम्परागत रूप से दी गयी तार्किक युक्तियों का भले ही खण्डन किया है, किन्तु वह नैतिक जीवन की पूर्व मान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उसका स्पष्ट मत है कि श्रद्धा के क्षेत्र में प्रज्ञा या बुद्धि को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क मानव-चिंतन के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को सूचित करते हैं। यदि सृष्टि वैज्ञानिक और प्रयोजनमूलक युक्तियों को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए केवल औपचारिक (Formal) साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो काण्ट के द्वारा उठायी गई सभी आपत्तियाँ इन तर्कों पर लागू होती हैं। उल्लेखनीय है कि ये तर्क धार्मिक चेतना के अन्तर्गत सीमा से भूमा की ओर मानव-चिंतन के विकास की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। अतः इन तर्कों का धार्मिक-चेतना के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि एक बार मानव-बुद्धि सीमित से असीमित अथवा पूर्णता की ओर उन्मुख हो जाती है तो उसका ईश्वर में विश्वास दृढ़ होने लगता है। काण्ट के द्वारा की गई यह आलोचना सच है कि असीम और पूर्ण होने के कारण ईश्वर को तर्क-बुद्धि और साधारण अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है। किन्तु सृष्टि वैज्ञानिक

और प्रयोजन मूलक युक्तियाँ औपचारिक तर्क मात्र नहीं हैं। ये युक्तियाँ वस्तुनिष्ठ मूल्य से सम्बन्धित हैं। ये मानव-चिंतन के ऐसे सोपान हैं जिनके द्वारा मानव-बुद्धि अनन्ता और पूर्णता की ओर अग्रसर होती है। भाषा और तर्क की सीमाओं को एक बार पार कर लेने के बाद बुद्धि आध्यात्मिक उत्कर्ष की अन्य अवस्थाओं को भी प्राप्त कर सकती है। अतः धार्मिक व्यक्ति के जीवन में ये युक्तियाँ ईश्वर में विश्वास को सुदृढ़ करने के लिए ये उपयोगी सिद्ध हो जाती हैं। यद्यपि काण्ट का यह मत सत्य है कि ईश्वर श्रद्धा का विषय है तथापि इन तर्कों का आश्रय लेकर ईश्वर में श्रद्धा को दृढ़ किया जा सकता है। वस्तुतः स्वस्थ धार्मिक चेतना के विकास के लिए धार्मिक श्रद्धा को युक्तिसंगत बनाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से श्रद्धा भी एक आस्तिक बुद्धि है। (आस्तिक बुद्धि: श्रद्धा)।

यद्यपि इनमें से कोई भी तर्क ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अन्तिम नहीं है, तथापि इन तर्कों से रहित ईश्वरीय आस्था अन्धविश्वास परक हो सकती है। समकालीन युग में इन तर्कों का महत्त्व विवादास्पद रहा है।

आधुनिक मानव ईश्वर के बारे में नवीन दृष्टिकोण से अनुशीलन करता है। यद्यपि काण्ट ने इन तर्कों का निराकरण किया है, तथापि उसने प्रयोजनमूलक तर्क का उल्लेख आदर के साथ किया है। काण्ट की आलोचना से यह सिद्ध होता है कि इनमें से कोई भी तर्क अपने आप में पूर्ण नहीं है। इन तर्कों के पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से इन तर्कों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की सकती है। अन्त में काण्ट ने भी नैतिकता की पूर्वमान्यता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वस्तुतः तार्किक युक्तियों के द्वारा मनुष्य की ईश्वर में आस्था दृढ़ होती है।

अतः स्वस्थ एवं युक्तिसंगत धार्मिक चेतना के विकास के लिए इन तर्कों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन

काण्ट न केवल यूरोप के, बल्कि विश्व के महान दार्शनिकों में से एक हैं। प्लेटो, अरस्तू और हेगल के अतिरिक्त काण्ट के स्तर (कोटि) का शायद ही कोई पाश्चात्य दार्शनिक हुआ हो। उसने अपने युग में प्रचलित विचारधाराओं का अनुशीलन करके यह निष्कर्ष स्थापित किया कि बुद्धिवाद और अनुभववाद की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। इन सीमाओं का अतिक्रमण करना एक अनधिकार प्रयास है। काण्ट से पूर्व समस्त यूरोपीय चिन्तन ह्यूम के संशयवादी प्रहारों से चिन्तित और हतप्रभ था। ह्यूम के द्वारा कारण-कार्य नियम की अनिवार्यता, सार्वभौमिकता और वस्तुनिष्ठता को तार्किक आधार पर न स्वीकार करने से दर्शनशास्त्र के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी हलचल मच गयी। काण्ट के आलोचनावाद में ज्ञानमीमांसा को तार्किक आधार पर स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया। उसने ह्यूम की आशंकाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। ह्यूम के संशयवाद का प्रमुख कारण यह अनुभववादी मताग्रह है कि समस्त ज्ञान अनुभवजन्य है। इसके विपरीत बुद्धिवादियों ने अनुभव की उपेक्षा करके समस्त ज्ञान का स्रोत जन्मजात प्रत्ययों को मान लिया। यह दूसरे प्रकार का रूढ़िवादी (Dogmatic) मताग्रह है। काण्ट ने इन दोनों विचारधाराओं का मूल्यांकन करके यह सिद्ध कर दिया कि दोनों मत एकांगी हैं। किन्तु वह एक निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि से इन दोनों

विचारधारों के विध्यात्मक (Positive) पक्षों को किसी न किसी रूप में अपनी ज्ञानमीमांसा में ग्रहण कर लेता है। काण्ट के द्वारा अनुभव को ज्ञान का उपादान (Matter) और बुद्धि-विकल्पों को ज्ञान का आकार (Form) कहना इसका परिचायक है। वह अपनी ज्ञानमीमांसा में सार्वभौमिकता, अनिवार्यता एवं निश्चितता के साथ-साथ नवीनता एवं यथार्थता को सम्मिलित करके बुद्धिवाद और अनुभववाद में समन्वय करता है। अतः काण्ट की ज्ञानमीमांसा का अपना एक ऐतिहासिक महत्व है।

उल्लेखनीय है कि काण्ट की अनेक मान्यताएं न्यूटनीय भौतिकी और यूक्लिडीय ज्यामिति से प्रभावित रही हैं। इनसे प्रभावित होकर काण्ट ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि सार्वभौम एवं अनिवार्य तथा यथार्थ एवं नवीन ज्ञान गणित, भौतिकशास्त्र आदि के क्षेत्र में संभव है। किन्तु काण्ट के युग की वैज्ञानिक मान्यताओं में आज संशोधन हो चुका है। आज भौतिकी के क्षेत्र में यह स्वीकार किया गया है कि भौतिक नियम अनिवार्य और सार्वभौम नहीं, बल्कि संभाव्य (प्रायिक) होते हैं। भविष्य में इन नियमों के असत्य होने की संभावना बनी रहती है। यद्यपि गणित के निर्णय अनिवार्य और सार्वभौम होते हैं, तथापि वे आनुभविक (Empirical) नहीं होते हैं। अतः गणितीय नियमों के लिए अनुभव आवश्यक नहीं होता है। इसके अतिरिक्त समसामयिक युग में ज्यामिति (गणित) के क्षेत्र में बहुत विकास हुआ है। आज ऐसे अनेक गणितीय सिद्धान्तों की स्थापना हो चुकी है जिसमें देश (Space) का कोई उपयोग नहीं रह गया है। उदाहरण के लिए हिल्बर्ट के अधिगणित (Metamathematics) में रचना का कोई उपयोग नहीं है। रचना की उपयोगिता न होने से देश का कोई उपयोग नहीं होता है। इस प्रकार आधुनिक गणित पर्याप्त रूप में अमूर्त हो गया है। अतः उसका परिमाण या मात्रा (Quantity) और देश (Space) से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं रह गया है।¹

अतः विज्ञानों के स्वरूप और ज्ञान के आदर्श संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों के बारे में काण्ट का मत अब असत्य हो चुका है। आज लाइबनिज़ के इस मत को पुनः सत्य माना जा रहा है कि गणित के कथन विश्लेषणात्मक और प्रागनुभविक होते हैं। किन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी काण्ट के इस मत से असहमत होना कठिन है कि मानव की प्रत्यक्षमूलक चेतना में बुद्धि के कुछ प्रागनुभविक संप्रत्यय (बुद्धि-विकल्प) निहित होते हैं। ये प्रागनुभविक संप्रत्यय ज्ञान के अतीन्द्रिय कारक हैं।

काण्ट के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि उसके आलोचनावाद का तार्किक परिणाम द्वैतवाद है। इस द्वैतवाद का पर्यवसान अज्ञेयवाद में होता है। उसने ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के बीच में एक द्वैत स्थापित कर दिया। आगे चलकर हेगल और उसके अनुयायियों ने काण्ट के अज्ञेयवाद को चुनौती दी। हेगल के अनुसार अज्ञेयवाद स्वतः अन्तर्विरोधग्रस्त है। यदि परमार्थ अज्ञेय है तो हमें उसकी अज्ञेयता का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। तत्त्व को अज्ञेय कहने का अर्थ यह है कि हमें उसके बारे में कम से कम इतना ज्ञान है कि वह है। यदि कोई वस्तु वास्तव में अज्ञेय है तो उसे अज्ञेय नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अज्ञेयवाद के कारण काण्ट का दर्शन अन्तर्विरोधों से आक्रान्त हो जाता है। एक ओर तो काण्ट यह दावा करता है कि 'स्वलक्षण वस्तुएँ' (Things in themselves) अज्ञेय हैं, वहीं दूसरी ओर यह कहा जाता है कि

स्वलक्षण वस्तुएं हमारे संवेदनों के कारण हैं। प्रश्न उठता है कि उन्हें एक साथ अज्ञेय एवं 'संवेदनों का कारण' कैसे कहा जा सकता है? काण्ट-दर्शन के कुछ आलोचकों के अनुसार, पारमार्थिक स्वलक्षणों का बौद्धिक प्रतिभान (Intellectual Intuition) संभव है। काण्ट के एक प्रमुख अनुयायी (शिष्य) एच. जे. पेटन के अनुसार, काण्ट बाह्य जगत् की वस्तुओं के कारण के रूप में पारमार्थिक स्वलक्षणों का अनुमान नहीं करता है, बल्कि वह स्वलक्षणों को प्रत्येक वस्तु में व्याप्त मानता है। इससे स्पष्ट है कि पेटन काण्ट के दर्शन में बौद्धिक प्रतिभान की संभावना को स्वीकार करते हैं। किन्तु काण्ट के दर्शन की प्रस्तुत विवेचना से स्पष्ट है कि वह संवेदनावाद और रहस्यवाद दोनों को अस्वीकार कर देता है। मनुष्य न तो विशुद्ध संवेदनों (संप्रत्ययों के अभाव में) को ग्रहण कर सकता है और न स्वलक्षणों का साक्षात्कार कर सकता है क्योंकि काण्ट के अनुसार प्रज्ञा प्रतिभान से युक्त नहीं होती है। यही कारण है कि मानव स्वलक्षणों को नहीं जान सकता है।

जर्मन के महान दार्शनिक शोपेनहावर शेलिंग के प्रत्ययवाद से प्रभावित थे। किन्तु उन्होंने शेलिंग के दर्शन को काण्ट का ऋणी माना है। शोपेनहावर ने काण्ट के दर्शन को पढ़कर कहा था — जो अस्पष्ट अथवा गूढ़ (Obscure) है वह सदैव महत्वहीन नहीं होता है। फिक्टो और शेलिंग इसका लाभ लेकर ही तत्त्वमीमांसा का भव्य प्रासाद खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित हुए।¹ काण्ट के अनुसार स्वलक्षण भले ही ज्ञेय न हों, परन्तु वे चिन्त्य हैं। स्वलक्षणों के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि उनके बारे में उद्देश्य-विधेयपरक कथनों (निर्णयों) के माध्यम से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः वह मानव-बुद्धि को विमर्शालक मानता है, प्रतिभानयुक्त (Intuitive) नहीं। बुद्धि किसी चीज को साक्षात् रूप से जानने का साधन नहीं हो सकती है। हमारा वस्तु-तथ्य से साक्षात् सम्पर्क अनुभव के द्वारा ही संभव है। परमार्थ अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे होने के कारण अज्ञेय है। अतः परमार्थ को अज्ञेय कहने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वास्तव में, काण्ट ने 'शुद्ध बुद्धि' (प्रज्ञा) के विवेचन में निरीश्वरवाद, भाग्यवाद एवं चमत्कारिक ईश्वरवाद की मान्यताओं में असंगति दिखाकर आस्था के विषय (जैसे ईश्वर, आत्मा आदि) के लिए मार्ग-प्रशस्त कर दिया।

काण्ट ने आत्मा की द्रव्यवादी और अनुभववादी अवधारणा का खण्डन करके उसे एक विशुद्ध ज्ञाता (विषयी) कहा, जो समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। यह स्वतः सिद्ध है। समस्त बुद्धि-विकल्प आत्मा के आलोक से युक्त होकर संवेदनों को ज्ञान के रूप में रूपान्तरित करते हैं। यद्यपि विशुद्ध ज्ञाता स्वतः सिद्ध है, तथापि उसके स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। आत्मा एक पारमार्थिक सत्ता है। टी. एच. ग्रीन ने तो यहाँ तक कह दिया कि काण्ट के दर्शन में एक मात्र आत्मा ही सार्यक पारमार्थिक स्वलक्षण है। उसके ऊपर ही समस्त विषयों का ज्ञान एवं आभास आश्रित हैं। किन्तु आत्मा स्वयं कोई विषय नहीं है। इस दृष्टि से कुछ आलोचकों ने काण्ट की आत्मा सम्बन्धी अवधारणा को अद्वैतवादी शंकराचार्य के आत्मवाद के पर्याप्त निकट माना है।²

1 Story of Philosophy, p. 292.

2 दार्शनिक त्रयमासिक वर्ष 2, अंक-2 अप्रैल, 1956.

यद्यपि काण्ट की कुछ मान्यताएं अद्वैत वेदान्त से साम्य रखती हैं, तथापि उसका दृष्टिकोण अद्वैत वेदान्त से भिन्न है। वह व्यवहार और परमार्थ, आत्मा और प्रकृति, बुद्धि-विकल्प और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (संवेदन), ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के बीच में स्पष्ट रूप से भेद करता है, अर्थात् वह द्वैतवादी है। वह यहाँ तक कहता है कि संवेदनों के अभाव में रिक्त बुद्धि-विकल्पों के द्वारा आत्मा भी विषय-ज्ञान की संरचना नहीं कर सकता है। आत्मा को तार्किक विषयी (Logical Subject) एवं समस्त ज्ञान का आधार मानते हुए भी काण्ट विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में, आत्मा से भिन्न कोई भी वस्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत् नहीं हो सकती है।¹ वस्तुतः अद्वैत वेदान्त एक आत्मवादी तत्त्वमीमांसा है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा तार्किक एवं तात्त्विक दोनों दृष्टियों से सत् है। इसके विपरीत काण्ट, दार्शनिक दृष्टि से एक ज्ञानमीमांसक है। वह तत्त्वविज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र को असंभव मानता है। वह मनुष्य में रहस्यात्मक अपरोक्षानुभूति अथवा बौद्धिक प्रतिभान की शक्ति को नहीं स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ विन्दुओं पर भले ही काण्ट एवं शंकर में समानता मानी जाय, परन्तु दोनों विचारकों के दृष्टिकोण एक दूसरे से मौलिक रूप में भिन्न हैं। इनमें से पहला (काण्ट) द्वैतवादी और दूसरा (शंकराचार्य) अद्वैतवादी है।

काण्ट के द्वैतवाद के कारण उसके दार्शनिक चिन्तन में कुछ अन्तर्विरोधों का होना स्वाभाविक है। किन्तु उसके विरुद्ध उठायी गयी अधिकांश आपत्तियाँ आलोचकों के तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय पूर्वाग्रहों के कारण हैं। इसके अतिरिक्त काण्ट के युग की वैज्ञानिक मान्यताओं में संशोधन और परिवर्तन होने के कारण भी काण्ट के दर्शन की आलोचना की गयी है। वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन सदैव अपने युग की वैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं से प्रभावित होता रहता है। काण्ट का दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यदि काण्ट की दार्शनिक मान्यताओं का मूल्यांकन उस युग की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक परिस्थितियों के आलोक में किया जाय तभी उसके दार्शनिक योगदान का न्यायोचित निरूपण किया जा सकता है। इन सीमाओं के होते हुए भी पाश्चात्य विचारधारा के इतिहास में काण्ट के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उसके दर्शन का महत्व केअर्ड के इस कथन से ही आँका जा सकता है — “हो सकता है कि कोई आधुनिक दर्शन काण्टवादी न हो, परन्तु उसे काण्ट के आचोलनावाद से होकर ही गुजरना पड़ेगा, अन्यथा, वह अनिवार्य रूप से अराजकतावादी और अप्रासंगिक हो जायेगा।”²

1 ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्म भिन्नत्वात्। काण्ट स्वलक्षण वस्तुओं की अनेकता में विश्वास करता है। इसके विपरीत शंकराचार्य बलपूर्वक पारमार्थिक अनेकता का निराकरण करते हैं। देखिये — भारतीय दर्शन, भाग दो, एस. राधाकृष्णन्, पृ० 45.

2 A modern Philosophy may not be Kantian, but it must have gone through the fire of Kantian criticisms or it will almost necessarily be something of anarchism and ignorantia elenchi." The Critical Philosophy of Kant, Edward Caird, Vol II, pp. 50-51.

जर्मन प्रत्ययवाद और हेगल (German Idealism and Hegel)

जर्मन प्रत्ययवाद के विकास की कड़ी में फिक्टे और शेलिंग के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यद्यपि काण्ट के बाद यूरोप के द्वितीय महान् दार्शनिक हेगल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, तथापि हेगल के दार्शनिक चिन्तन के विकास में काण्ट के साथ-साथ फिक्टे और शेलिंग के दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। काण्ट के बाद जेना दर्शन के अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। शिलर, गेटे, वीथोवन, फिक्टे, शेलिंग और शोपेनहावर तथा दूसरे अनेक विचारक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से काण्ट के दर्शन से प्रेरित हुए। यद्यपि इन दार्शनिकों ने काण्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद से असहमति व्यक्त की, तथापि काण्ट की इन त्रुटियों की तुलना में उसकी उपलब्धि एक स्मारक के समान है। कुछ आलोचकों के अनुसार काण्ट के दर्शन की भूलें भी अन्य विचारकों की सफलताओं से अधिक मूल्यवान् थीं। वस्तुतः काण्ट ने जो कुछ कहा है, उसे चाहे हम स्वीकार करें अथवा स्वीकार न करें, परन्तु दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उसके विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। काण्ट के उत्तराधिकारियों ने उसकी ज्ञानमीमांसा के द्वैत और विसंगतियों को दूर करने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप जर्मनी में दार्शनिकों का एक युग ही आ गया। दार्शनिकों की इस शृंखला में फिक्टे, शेलिंग और हेगल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

फिक्टे (1762-1814)

काण्ट के द्वारा व्यवहार और परमार्थ में स्पष्ट रूप से भेद करने के बाद इसके विरुद्ध उस युग के विचारकों में प्रतिक्रिया हुई। उस समय के दार्शनिकों ने पारमार्थिक स्वलक्षणों को स्वीकार करने में असंतोष व्यक्त किया। इस दिशा में कार्ल लियोनार्ड रेन्होल्ड (1758-1823) का प्रयास उल्लेखनीय रहा है। उसके अनुसार काण्ट की ज्ञानमीमांसा किसी तत्त्वमीमांसा पर आधारित नहीं है। इसके लिए एक मौलिक दर्शन की आवश्यकता है, क्योंकि काण्ट का दर्शन 'प्रथम सिद्धान्त' (The first principle) अर्थात् तत्त्वमीमांसा से वंचित है। इस संदर्भ में प्राथमिक महत्व की चीज चेतना है। अनेक मतभेदों के होते हुए भी यह निर्विवाद है कि प्रत्येक विषय ज्ञान के लिए विषयी (Subject), विषय (Object) और इन दोनों के बीच संबंध आवश्यक है। इस संदर्भ में रेन्होल्ड ने विषयी और विषय के फलस्वरूप उत्पन्न आकारों के द्वारा प्रदत्त 'भौतिक विविधता' (Material Manifold) के प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके कुछ वर्षों के बाद जॉन गॉटलीब फिक्टे (1762-1814) के द्वारा प्रतिपादित 'ज्ञान के विज्ञान' (Science of Knowledge) में रेन्होल्ड के प्रयास को पूर्णता प्राप्त हुई। फिक्टे ने काण्ट की द्वैतवादी ज्ञानमीमांसा में निहित बुद्धि और इन्द्रियानुभव के भेद को दूर करने का प्रयास किया। फिक्टे भौतिकवाद का निराकरण करता है क्योंकि भौतिकवाद केवल

कारण-कार्य की दृष्टि से जगत् की व्याख्या करता है। इसके द्वारा जगत् के प्रयोजन का विवेचन नहीं किया जा सकता है। जगत् के विकास की व्याख्या केवल यानत्रिक नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती है। वस्तुतः नैतिक नियमों की व्याख्या भौतिक मान्यताओं के आधार पर करना असंगत है।

यद्यपि फिक्टे काण्ट की अनेक दार्शनिक मान्यताओं से प्रभावित है, तथापि वह काण्ट के दर्शन को अपूर्ण मानता है। फाल्केनबर्ग के अनुसार, फिक्टे लगभग उसी अर्थ में काण्टवादी है, जिस अर्थ में प्लेटो सुकरातवादी था।¹ वह काण्ट के दर्शन की अनेक मान्यताओं में उसी प्रकार संशोधन और परिमार्जन करने का प्रयास करता है, जिस तरह सुकरात के अनुयायी होते हुए भी प्लेटो ने सुकरात के दर्शन को नया आयाम दिया। फिक्टे के अनुसार काण्ट का द्वैतवाद उसके दर्शन का सबसे गंभीर दोष है। काण्ट के द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध ज्ञाता (आत्मा) की अवधारणा, बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है, हमारे बुद्धि-विकल्प आत्मा की चेतन शक्ति से बाह्य जगत् को नियमित एवं व्यवस्थित करते हैं, इत्यादि विचार महत्वपूर्ण हैं। किन्तु फिक्टे के अनुसार उसकी भूल यह है कि उसने व्यवहार और परमार्थ के बीच में एक अलंघ्य द्वैत (भेद) पैदा कर दिया। काण्ट के दर्शन में आत्मा और प्रकृति, बुद्धि-विकल्प और संवेदन एवं प्रज्ञा और तर्कबुद्धि के बीच में अमित भेद दिखाई पड़ता है। उसका अज्ञेयवाद इसी द्वैतवाद का तार्किक परिणाम है। फिक्टे के अनुसार काण्ट के पारमार्थिक स्वलक्षण ज्ञान की अभिव्यक्ति के परिणाम हैं। प्राकृतिक जगत् भी चेतन आत्मा की सृष्टि है। अतः आत्मा और प्राकृतिक जगत् में कोई भेद नहीं है।

फिक्टे के अनुसार काण्ट के नीतिशास्त्र का 'अहेतुक आदेश' (Categorical Imperative) नीतिशास्त्र का मौलिक सिद्धान्त नहीं हो सकता है। अहेतुक आदेश की अपेक्षा संकल्प-स्वातंत्र्य अधिक मौलिक है। आत्मा (Ego) स्वरूपतः संकल्प-शक्ति से युक्त है। किन्तु फिक्टे भी काण्ट के समान आत्मा को स्वतः सिद्ध और चैतन्य स्वरूप मानता है। वह आत्मा को 'आत्म-निर्धारक क्रिया' कहता है। उसके संकल्प-स्वातंत्र्य से अहेतुक आदेश फलित होता है। फिक्टे ने नैतिक मूल्यों को ही अपने दार्शनिक चिंतन का मुख्य केन्द्र बनाया। चूँकि दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य मानव-जीवन का कल्याण है और नैतिक जीवन ही लोक-कल्याणकारी हो सकता है, अतः नैतिक मूल्यों को केन्द्र में रखकर ही दार्शनिक चिन्तन करना चाहिए। ज्ञान और संकल्प में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। उसके अनुसार ज्ञान आत्मा के संकल्प का ही एक रूप है। अतः काण्ट के द्वारा 'शुद्ध बुद्धि' (Pure Reason) और 'व्यावहारिक बुद्धि' (Practical Reason) में किया गया भेद असंगत है।

फिक्टे के अनुसार मौलिक सत्ता चेतनस्वरूप है। यह 'संकल्प युक्त अहम्' अथवा 'आत्मा' (Ego) है, जिसे 'निरपेक्ष आत्मा' (Absolute Ego) कहा जाता है। अपनी संकल्प-शक्ति से आत्मा स्वयं को सीमित करके ज्ञाता के रूप में प्रकट करता है। पुनश्च, ज्ञेय विषय जगत् भी आत्मा का ही एक रूप है। दूसरे शब्दों में, निरपेक्ष आत्मा ही स्वयं को ज्ञाता और ज्ञेय, इन दोनों रूपों में प्रकट करता है। इस दृष्टि से उस चेतना का कोई महत्व नहीं है, जो किसी विषय की चेतना न हो, अर्थात् प्रत्येक चेतना किसी विषय की चेतना होती है। चूँकि आत्मा संकल्प-प्रधान है, इसलिए वह अपने द्वारा संकल्पित विषय से परिच्छिन्न या परिसीमित हो

जाता है। फिक्टे के अनुसार बाह्य जगत् की सृष्टि आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा होती है। निरपेक्ष आत्मा का साक्षात्कार विमर्शालक तर्कबुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता है। काण्ट की यह एक भूल है कि उसने प्रज्ञा को विमर्शालक मान लिया। दार्शनिक अनुशीलन कोरे काल्पनिक बौद्धिक चिन्तन तक ही सीमित नहीं है। चूँकि संकल्प-युक्त आत्मा नैतिक प्रतिभान से अनुप्राणित है, इसलिए उसका साक्षात्कार नैतिक प्रतिभान से ही हो सकता है। इसी आधार पर फिक्टे जगत् के प्रयोजन की व्याख्या भी करता है। वह बाह्य जगत् को एक बाधा मानता है, किन्तु आत्मा और बाह्य जगत् में आत्यन्तिक विरोध नहीं है। यहाँ पर फिक्टे का मत उन द्वैतवादी दार्शनिकों से भिन्न है, जो चेतन और अचेतन में आत्यन्तिक विरोध मान लेते हैं। डेकार्ट के दर्शन में विचार और विस्तार, आत्मा और जड़-जगत् एवं सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति को क्रमशः चेतन और जड़, अर्थात् परस्पर विरोधी तत्त्व माना गया है। इसीलिए डेकार्ट द्वैतवादी और वस्तुवादी हो जाता है। इसके विपरीत, फिक्टे बाह्य जगत् को 'निरपेक्ष आत्मा' (Absolute Ego) से स्वतंत्र नहीं मानता है। जगत् की सृष्टि का एक प्रयोजन है — यह प्रयोजन नैतिक उत्कर्ष को प्राप्त करना है। अतः फिक्टे नियतिवादी नहीं है। संकल्प-स्वातंत्र्य की सार्थकता और नैतिक जीवन के उत्कर्ष के लिए बाधाओं का होना आवश्यक होता है। इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में ही नैतिक जीवन का उत्कर्ष और गौरव निहित है।

फिक्टे के दर्शन में हेगलीय द्वन्द्व-न्याय की पूर्व पीठिका प्राप्त होती है। उसके अनुसार निरपेक्ष आत्मा ही एक मात्र परम सत्ता है, किन्तु यह अपनी संकल्प-शक्ति से स्वयं को तीन रूपों में अभिव्यक्त करता है, जो इस प्रकार हैं —

- (1) ज्ञाता अथवा विषयी (Ego-in-itself)।
- (2) ज्ञेय विषय अथवा बाह्य जगत् (Ego-outside-itself)।
- (3) समन्वयात्मक आत्मा (Ego-in and for-itself)।

निरपेक्ष आत्मा के इन तीनों रूपों को क्रमशः पक्ष (Thesis), विपक्ष (Anti-thesis) और समन्वय (Synthesis) कहा जाता है। फिक्टे पक्ष, विपक्ष और समन्वय की द्वन्द्वालक पद्धति के आधार पर तीन नियमों की स्थापना करता है, जो क्रमशः 'अभेद-नियम' (Law of Identity), 'व्याघात का नियम' (Law of contradiction) एवं 'पर्याप्त कारण का नियम' (Law of Sufficient Reason) के नाम से जाने जाते हैं। इन तीनों नियमों के आधार पर क्रमशः भाव अथवा सत्ता (Reality), अभाव (Negation) और परिसीमन (Limitation), इन तीनों संप्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है। फिक्टे के अनुसार आत्मा अपनी संकल्प-शक्ति से स्वयं को सीमित करके एक ओर जीव अर्थात् ज्ञाता के रूप में, तो दूसरी ओर ज्ञेय जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह जगत् विषय होने के कारण ज्ञाता अर्थात् विषयी के लिए एक बाधा है। किन्तु यह ऐसी बाधा नहीं है, जिस पर विजय न प्राप्त की जा सके। अन्त में इस बाधा पर विजय प्राप्त करके आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करता है। नैतिक उत्कर्ष की अवस्था में तत्त्व-साक्षात्कार होता है। उल्लेखनीय है कि फिक्टे का संकल्प-युक्त निरपेक्ष तत्त्व ज्ञाता होने के साथ-साथ स्रष्टा भी है। यह तार्किक होने के साथ-साथ तात्त्विक भी है। हम देख चुके हैं कि काण्ट के दर्शन में आत्मा को 'तार्किक विषयी' के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु फिक्टे के अनुसार निरपेक्ष आत्मा सक्रिय एवं आत्म-निर्धारक प्रक्रिया है। उसके संकल्प से स्वतंत्र रूप में कोई

भी ज्ञान संभव नहीं है। यहाँ तक कि इन्द्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष, प्रतिबिम्ब (Image), तर्कबुद्धि (Understanding), निर्णयात्मक-संकाय (Faculty of Judgement) और प्रज्ञा (Reason) ये सभी उस निरपेक्ष आत्मा के ही संकल्प के विविध सोपान हैं।

फिक्टे के परवर्ती दार्शनिकों (शेलिंग और हेगल) के अनुसार फिक्टे का दर्शन 'आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (Subjective Idealism)' है। चूँकि फिक्टे के अनुसार प्राकृतिक जगत् का आधार आत्म-चैतन्य है, इसलिए उसके दर्शन को 'अहंमात्रवाद' (Solipsism) और 'दृष्टिसृष्टिवाद' कहा गया है। फिक्टे के अहंमात्रवादी होने की व्यंजना उसके द्वारा अपने निरपेक्ष तत्त्व के लिए प्रयुक्त पद 'अहम्' (Ego) से भी होती है। किन्तु उसके दर्शन की यह व्याख्या न्यायोचित नहीं है। वह जगत् की उत्पत्ति जीवात्मा (Ego-in-itself) से नहीं मानता है। उसके अनुसार जीवात्मा और बाह्य जगत् (Ego-outside-itself) इन दोनों का मूल आधार निरपेक्ष आत्मा (Absolute Ego) है। इससे स्पष्ट है कि परंपरागत अर्थ में, फिक्टे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं है। बाह्य जगत् जीवात्मा के मन की सृष्टि नहीं है। यह एक चैतन्य स्वरूप एवं संकल्प-युक्त निरपेक्ष आत्मा की अभिव्यक्ति है। इससे सिद्ध होता है कि जगत् की सत्ता निरपेक्ष आत्मा से स्वतंत्र नहीं है। वस्तुतः जीवात्माएँ एवं बाह्य-विषय एक ही 'चैतन्य स्वरूप निरपेक्ष आत्मा' के संकल्प से अभिव्यक्त दो पृथक्-पृथक् पहलू हैं। जीव और जगत् दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, परन्तु इन दोनों का आधार एक ही निरपेक्ष आत्मा है। इस दृष्टि से फिक्टे को तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से प्रत्ययवादी कहा जा सकता है। अतः फिक्टे को अहंमात्रवादी अथवा आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी कहना एक अतिरंजित आक्षेप है। उसके अनुसार जीवन का परम लक्ष्य निरपेक्ष आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करना है। वासनाएँ मनुष्य को भौतिक सुखों (प्रेय) की ओर प्रेरित करती हैं। इसके विपरीत, प्रज्ञा तत्त्व प्रेम (श्रेय) की ओर ले जाती है। वासनाओं पर विजय प्राप्त करके तत्त्व-साक्षात्कार करने में ही मानव का नैतिक उत्कर्ष निहित है। यह सच है कि वासनाएँ हमें लौकिक एवं भौतिक सुखों की ओर ले जाती हैं। किन्तु मानव-जीवन में उनका पूर्ण निषेध नहीं किया जा सकता है। प्रज्ञा से उत्पन्न विवेक ही वासनाओं का नियमन करके मनुष्य को नैतिक प्रगति की ओर ले जाता है। इससे स्पष्ट है कि विवेकयुक्त नैतिक जीवन ही निरपेक्ष आत्मा के साक्षात्कार की आधारशिला है।

शेलिंग (1775-1854)

फिक्टे के बाद उसके एक मेधावी शिष्य एवं हेगल के सहपाठी जोसेफ शेलिंग ने फिक्टे की दार्शनिक मान्यताओं में संशोधन किया। शेलिंग के दार्शनिक चिन्तन पर प्लाटिनस, स्पिनोजा, लाइबनिज, काण्ट और फिक्टे के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ा है। वह यूरोप के स्वच्छन्दतावादी आंदोलन (Romantic Movement) और साहित्य से बहुत प्रभावित है। कुछ आलोचकों के अनुसार यूरोप के स्वच्छन्दतावादी कवियों एवं साहित्यकारों के प्रकृति-प्रेम का शेलिंग के दर्शन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने निरपेक्ष तत्त्व का नामकरण ही 'प्रकृति' (Nature) कर दिया। किन्तु शेलिंग की प्रकृति सांख्य-दर्शन एवं विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज की प्रकृति के समान नहीं है। सांख्य एवं रामानुज की प्रकृति अचेतन या जड़ है, परन्तु शेलिंग की प्रकृति चैतन्य स्वरूप है। शेलिंग के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति का स्वरूप यूरोप की आध्यात्मिक परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह फिक्टे द्वारा निर्दिष्ट चैतन्य स्वरूप आत्मा

को अपने दर्शन में समाहित करता है। शेलिंग के दर्शन की जानकारी उसके द्वारा प्रकाशित प्रकृति-विषयक ग्रंथों से मिलती है। उसका प्रकृति-विषयक विचार प्लेटो, प्लॉटिनस, स्पिनोजा और लाइबनिज के दार्शनिक ग्रंथों में निहित प्रकृति-विषयक विचारों से प्रभावित है। शेलिंग का दर्शन आगे चलकर अन्य दार्शनिकों के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बना। शेलिंग के दार्शनिक चिंतन के परवर्ती काल में प्रकृति के संप्रत्यय को एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ, जिसकी झलक उसके 'ऑफ ह्यूमन फ्रीडम' नामक ग्रंथ में मिलती है।

शेलिंग के अनुसार प्राकृतिक जगत् नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना के विकास में बाधक नहीं है। इस प्रकार वह फिक्टे के आत्म-दर्शन में मान्य विरोध को स्वीकार नहीं करता है। आत्मा और अनात्मा परस्पर सापेक्ष हैं। ज्ञाता के होने से ज्ञेय और ज्ञेय के होने से ज्ञाता की सिद्धि होती है। वस्तुतः फिक्टे यह निश्चय नहीं कर पाता है कि आत्मा से अनात्मा या अनात्मा से आत्मा कैसे उत्पन्न होता है। शेलिंग के अनुसार आत्मा और अनात्मा इन दोनों का आधार उनसे परे कोई तटस्थ तत्त्व है। शेलिंग इसे स्वयं-भू और परम स्वतंत्र मानता है। शेलिंग एक विकासवादी दार्शनिक है, परन्तु वह विकास के लिए किसी विरोध या बाधा का होना आवश्यक नहीं मानता है। फिक्टे के विपरीत शेलिंग चेतना के विकास की प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक नहीं मानता है। उसके अनुसार जड़ और चेतन न तो एक-दूसरे से भिन्न द्रव्य हैं (जैसा कि डेकार्ट ने माना था) और न ही समानान्तर गुण (जैसा कि स्पिनोजा ने माना था) हैं। उसके अनुसार जड़ और चेतन एक ही निरपेक्ष तत्त्व के विकास की दो अवस्थाएँ हैं। इस परिप्रेक्ष्य में वह लाइबनिज के सुप्त चिदणुओं के समान बाह्य प्रकृति को भी स्वरूपतः चेतन मान लेता है। शेलिंग जगत् को 'अचेतन प्रकृति' (Inorganic Nature) कहता है। इसके विपरीत जीवात्मा 'चेतन प्रकृति' (Organic Nature) है। उसने चैतन्य (Consciousness) का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। इसके अंतर्गत जड़-जगत् से लेकर मूल प्रवृत्तियों एवं प्रयोजन-मूलक क्रियाओं को भी सम्मिलित किया गया है। उल्लेखनीय है कि शेलिंग जीवात्मा के विकास की अवस्था अचेतन प्रकृति के बाद मानते हैं। चेतन तत्त्व का विकास पहले जगत् के रूप में होता है, जिसे 'प्राकृतिक जगत्' कहा जाता है। यद्यपि इसमें चेतना प्रसुप्त है, तथापि इसे अचेतन कहा जाता है। इसके बाद वनस्पति जगत् का विकास होता है। इस अवस्था में प्राण-शक्ति का संचार होता है। वनस्पतियों के बाद पशु-जगत् का स्थान आता है, जहाँ चेतना की अभिव्यक्ति होती है। यही चैतन्य मानव-जगत् में 'आत्म-चैतन्य' (Self-Consciousness) के रूप में विकसित हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि चेतन और अचेतन, जीव और जगत् एक ही चैतन्य-तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। शेलिंग ने इस चेतन तत्त्व को 'समन्वयात्मक प्रकृति' (Organized Nature) कहा है। वास्तव में, समन्वयात्मक प्रकृति ही जीव एवं जगत् दोनों का मूल आधार है। समस्त सृष्टि चेतन और अचेतन का व्यापार है। प्रकृति दृश्य आत्मा है और आत्मा अदृश्य प्रकृति है। इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन और जड़ में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। संसार में चैतन्य तत्त्व व्याप्त है, अतः कोई भी वस्तु निर्जीव नहीं है। शेलिंग ने स्पिनोजा के समान जड़ से लेकर आत्म-चैतन्य तक एक ही परम तत्त्व की अभिव्यक्ति माना है। वह ब्रूने एवं स्पिनोजा के समान इस तत्त्व को 'प्रकृति' (Nature) कहता है। व्यावहारिक जीवन में भले ही अनेकता, भेद एवं द्वैत विद्यमान है, परन्तु तात्त्विक (पारमार्थिक) दृष्टि से कोई भेद और द्वैत नहीं हो सकता है।

इस प्रकार समस्त सृष्टि एक समन्वयात्मक प्रकृति से आलोकित है। शेलिंग ने प्रकृति के दो रूपों का उल्लेख किया है। प्रथम, विषयनिष्ठ दृष्टि से प्रकृति के अन्तर्गत विषयी अव्यक्त होता है जो विकास के फलस्वरूप क्रमशः अभिव्यक्त होकर आत्म-साक्षात्कार करता है। दूसरी दृष्टि से प्रकृति ईश्वर के व्यक्तित्व-धारण के लिए उपकरण स्वरूप है। प्रकृति ईश्वरमय है। वस्तुतः प्रकृति की ये दोनों अवस्थाएँ शेलिंग के दार्शनिक चिन्तन की दो अवस्थाओं की द्योतक हैं। उसके दार्शनिक चिन्तन की पहली अवस्था फिक्टे से प्रभावित है। दूसरी अवस्था में वह फिक्टे के दार्शनिक प्रभावों से मुक्त है। अब प्रकृति उसके लिए एक कलात्मक और आदर्शोन्मुख अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में प्रकृति के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का आविर्भाव हो जाता है। शेलिंग के सकारात्मक (रचनात्मक) दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर, जगत् एवं प्रकृति इन सब को वास्तविक माना गया है। इसके विपरीत शेलिंग के निषेधात्मक दर्शन में प्रकृति को केवल एक प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु उसके दर्शन के इन दोनों रूपों में एक तारतम्य दिखायी पड़ता है। उसके दर्शन का निषेधात्मक पक्ष फिक्टे से प्रभावित है। वह अपने दर्शन के सकारात्मक पक्ष में इस प्रभाव से मुक्त होकर मौलिक चिन्तन करता है। अन्त में वह नैतिक अनुभूति से उच्च स्तरीय कलात्मक अनुभूति (धार्मिक अनुभूति) की अवस्था को तत्त्व-साक्षात्कार का आधार मान लेता है।¹

यद्यपि प्लॉटिनस और स्पिनोजा के समान शेलिंग के दर्शन में सर्वेश्वरवाद की झलक मिलती है, परन्तु उसके विकासवाद पर अरस्तू और लाइबनिज के प्रयोजनमूलक विकासवाद का स्पष्ट प्रभाव है। वस्तुतः सविकल्प बुद्धि के द्वारा निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। निरपेक्ष तत्त्व पूर्णतया अद्वैत सत्ता है। शेलिंग तत्त्व को संकल्प-युक्त मानता है। अपनी संकल्प शक्ति से ही निरपेक्ष तत्त्व (ईश्वर) स्वयं को विषयी और विषय के रूप में प्रकट करता है। किन्तु निरपेक्ष तत्त्व की अभिव्यक्ति सबसे पहले अजैविक अथवा अचेतन प्रकृति (Inorganic Nature) के रूप में होती है। चेतन प्रकृति (विषयी) की अभिव्यक्ति उसके बाद होती है। आत्म चैतन्य या समन्वयात्मक प्रकृति (Organized Nature) की अवस्था विकास की पराकाष्ठा है। प्राकृतिक जगत् और आत्मिक जगत् दोनों में त्रिक नियम के अनुसार ही विकास होता है।

प्रकृति में विकास का क्रम आकर्षण (Attraction), विकर्षण (Repulsion) और गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) है। ये तीनों क्रमशः चुम्बक, विद्युत और रासायनिकता से सम्बन्धित हैं। विकास का यह क्रम आत्मा में ही कार्य करता है। इसे क्रमशः संवेदन, प्रत्यक्ष और चिन्तन कहा जाता है। संवेदन, प्रत्यक्ष और चिन्तन एवं वाद, प्रतिवाद और संवाद ये सब बुद्धि के कार्य हैं। इस प्रकार आत्मा के विकास के क्रमिक सोपान इंद्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष और बुद्धि के विकल्प हैं। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेय का भेद विकास की अंतिम अवस्था में नहीं रहता है। शेलिंग बौद्धिक प्रतिमान से भी उच्च स्तरीय साक्षात् अनुभूति की अवस्था को स्वीकार करता है। वस्तुतः बुद्धि का पर्यावसान संकल्प में होता है। इस प्रकार बौद्धिक जीवन, नैतिक जीवन में रूपान्तरित हो जाता है। तात्त्विक अनुभूति नैतिक जीवन में ही संभव है। वस्तुतः परम सत्ता के साक्षात्कार के लिए बौद्धिक चिन्तन का उन्नयन संकल्प के रूप में होता है।

¹ मिलाइये — 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथवा तस्य भासासर्वमिदं विभाति। (कठोपनिषद्)

किन्तु नैतिक प्रतिभान (Moral Intuition) तत्त्व-साक्षात्कार की प्रारंभिक अवस्था मात्र है। कलात्मक अनुभूति (Artistic Intuition) का स्थान सबसे ऊँचा है। नैतिक विकास का भी रूपान्तरण दिव्य सौन्दर्यात्मक अनुभूति में हो जाता है। कलात्मक अनुभूति की रहस्यात्मक अवस्था में समस्त भेदों का लय हो जाता है। इसकी तुलना अद्वैत-वेदान्त की अपरोक्षानुभूति से की जाती है, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों अद्वैत अनुभूति में विलीन हो जाते हैं। यहाँ पर शेलिंग प्लॉटिनस के रहस्यवाद से प्रभावित है। इस अवस्था को प्लॉटिनस ने 'अद्वितीय की अद्वितीय की ओर उड़ान' (Flight of Alone to Alone) कहा है। शेलिंग के अनुसार इस कलात्मक अनुभूति के द्वारा ही अचेतन और चेतन प्रकृति के द्वैत से ऊपर उठकर समन्वयात्मक प्रकृति (Organized Nature) का साक्षात्कार किया जा सकता है। निरपेक्ष तत्त्व के प्रति उत्कट प्रेम की यह रहस्यात्मक अवस्था धार्मिक अनुभूति से संबद्ध हो जाती है। इसी रहस्य में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि जर्मन प्रत्ययवाद के विकास में फिक्टे और शेलिंग महत्वपूर्ण कड़ी हैं। यद्यपि हेगल ने फिक्टे और शेलिंग के दर्शन की मान्यताओं के आधार पर अपने दर्शन को स्थापित किया, तथापि वह अनेक बिन्दुओं पर फिक्टे और शेलिंग की कटु आलोचना करता है। हेगल ने फिक्टे के दर्शन में मान्य संकल्प-शक्ति को स्वीकार नहीं किया। हेगल के दर्शन में ज्ञान का सर्वोच्च महत्व है। यद्यपि उसने फिक्टे के द्वारा प्रतिपादित 'त्रिक नियम' (Triadic Law) अर्थात् पक्ष, विपक्ष एवं समन्वय की त्रयी को अपने द्वन्द्व-न्याय में स्वीकार किया है, तथापि वह बाह्य जगत् को निरपेक्ष तत्त्व के विकास में बाधक नहीं मानता है। इसी प्रकार हेगल ने शेलिंग के विकासवाद, प्रयोजनवाद इत्यादि सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में अपने दर्शन में स्थान दिया है। परन्तु वह शेलिंग के द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व के समस्त भेदों से रहित अद्वैत स्वरूप की कटु आलोचना करता है। हेगल शेलिंग के परम तत्त्व (निरपेक्ष प्रकृति) को वह कालरात्रि कहता है, जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त हेगल काण्ट के ही समान रहस्यात्मक अनुभूति को भी स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार हेगल और उसकी परंपरा के नव्य-हेगलवादियों ने किसी निर्विशिष्ट तत्त्व की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु उसने (हेगल ने) फिक्टे और शेलिंग के विचारों से लाभ उठाकर एक महान् दार्शनिक तन्त्र की स्थापना किया।

जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगल

(Georg Wilhelm Friedrich Hegel : 1770-1839)

हेगल का दर्शन जर्मन प्रत्ययवाद की पराकाष्ठा है। वस्तुतः जर्मन विचारधारा अपने मूल रूप में बुद्धिवादी रही है, किन्तु काण्ट ने अपनी द्वितीय आलोचना के अंतर्गत नैतिक जीवन पर विशेष बल दिया। इसके फलस्वरूप उसने ईश्वर, आत्मा और संकल्प की स्वतंत्रता को किसी तर्क के आधार पर नहीं, बल्कि नैतिकता की पूर्व मान्यता के रूप में उन्हें मान लिया था।

उसने (काण्ट ने) अपने दर्शन में आस्था को महत्व देकर बुद्धिवाद को सीमित कर दिया। किन्तु हेगल के दर्शन में बुद्धिवाद (Intellectualism) समस्त सीमाओं का अतिक्रमण करके पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। हेगल व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता को अस्वीकार कर देता है। उसने व्यावहारिक बुद्धि के स्थान पर प्रज्ञावाद का प्रतिपादन किया, जिसका पर्यवसान निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) में हुआ।

हेगल का जन्म जर्मनी के 'स्टुटगार्ट नगर' में 27 अगस्त सन् 1770 में हुआ था। जिनासियम नगर में शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होंने ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। उसके प्रमाण-पत्र में कोई उत्साहवर्धक टिप्पणी नहीं थी, बल्कि यह उल्लेख था कि वह दर्शन में अल्पज्ञ है। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय छोड़ने के पश्चात् उसने एक परिवार में शिक्षक का कार्य किया। स्विट्जरलैण्ड में रहते हुए उसने 'जीसस का जीवन' लिखा। वहीं पर शिक्षण-कार्य करते हुए हेगल ने काण्ट के दर्शन का अध्ययन किया। जब 1799 ई० में उसके पिता की मृत्यु हो गई, तो वह शेलिंग के संपर्क में आया और जेना में रहने लगा। इस दौरान वह शेलिंग के विचारों से बहुत प्रभावित हुआ। प्राचीन दार्शनिकों में से उसने प्लेटो के दर्शन का गहन अध्ययन किया था। यद्यपि वह अपने प्रारंभिक वर्षों में शेलिंग का अनुयायी रहा, तथापि सन् 1860 ई० तक उसके विचार शेलिंग के विचारों से भिन्न हो चुके थे। सन् 1807 में उसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'आत्मा का संवृत्तिशास्त्र' (The Phenomenology of spirit) प्रकाशित हुआ। हेगल इसके पूर्व सन् 1802 ई० में जेना विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए, किन्तु कुछ राजनीतिक कारणों से उन्हें यह पद छोड़ना पड़ा। सन् 1805 में जेना विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होने के पश्चात् वे पुनः एक प्रतिष्ठित प्रोफेसर के रूप में विख्यात हुए। सन् 1816 में हेगल हाइडलबर्ग में प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् 1812 में उसका ग्रंथ 'तर्कशास्त्र का विज्ञान' (Science of Logic) दो खंडों में प्रकाशित हो चुका था। हेगल की अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं में 'अधिकार के दर्शन की रूपरेखा' (Outlines of the Philosophy of the Right), 'दर्शन का इतिहास', 'इतिहास का दर्शन', 'धर्म का इतिहास', 'सौंदर्य-दर्शन' इत्यादि हैं। इनमें से 'अधिकार का दर्शन' उसके जीवन-काल में प्रकाशित अंतिम ग्रंथ है। उसकी अन्य अनेक कृतियाँ उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। सन् 1830 ई० में हेगल को यूनिवर्सिटी का रेक्टर बनाया गया। 7 नवम्बर सन् 1831 ई० को उसने अपने तर्कशास्त्र के द्वितीय संस्करण की भूमिका समाप्त की। उसके सात दिन बाद हैजे से पीड़ित हेगल का देहावसान हो गया।¹

हेगल का युग वैचारिक उपलब्धियों की दृष्टि से महान् था। उल्लेखनीय है कि काण्ट, फिक्टे और शेलिंग के साथ-साथ जर्मन कवि गेटे के विचारों से हेगल बहुत प्रभावित हुआ था। इसके अतिरिक्त प्रमुख संगीतज्ञ बीथोवेन और कवि बर्ड्सवर्थ हेगल के समय में पैदा हुए थे। कहा जाता है कि नेपोलियन जैसे महान् विजेता को जेना में अपनी आँखों से देखकर हेगल ने उसे 'विश्वात्मा' (World-soul) कहकर पुकारा। इससे स्पष्ट है कि हेगल का युग अतिशय महत्वाकांक्षा और नवीन क्रांति का युग था। अपने आध्यात्मिक समाजवाद के कारण उसने प्रशिया की सरकार का समर्थन किया था, जिसके फलस्वरूप हेगल के विरोधी उसे 'सरकारी दार्शनिक' कहा करते थे। वस्तुतः वह अपने ढंग का एक अनूठा दार्शनिक था, जो अपने प्रबल विरोधियों को भी इतना प्रभावित करता रहता था।

¹ हेगल की जीवनी, कार्ल रेसनक्रॉन्ज़ (Karl ResonKronz, 1844) के द्वारा लिखी गई है। उसने आर० हेम (R. Haym) के आक्षेपों के विरुद्ध हेगल के दर्शन की रचना करके हेगल को जर्मनी का राष्ट्रीय दार्शनिक (The National Philosopher of Germany) कहा है। देखिए, फाल्केन बर्ग, 'द हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न फिलॉसफी', पृष्ठ 488 पर पाद टिप्पणी।

हेगल का दार्शनिक चिंतन

हेगल का दर्शन निरपेक्ष प्रत्ययवाद और बुद्धिवादी चिंतन की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने काण्ट की व्यावहारिक बुद्धि और नैतिक दर्शन का निराकरण करके बौद्धिक चिंतन के वर्चस्व को स्थापित किया। लाइबनिज एवं हेगल, ये दोनों दार्शनिक जगत् की बुद्धिवादी विचारधारा के प्रतिनिधि माने जाते हैं। किन्तु लाइबनिज के द्वारा की गई विश्व की व्याख्या में आत्मगत दृष्टिकोण की प्रधानता है, क्योंकि वह आत्मा के प्रतिनिधित्ववादी स्वभाव से उसके ही समान एक ऐसी सृष्टि का प्रतिपादन करता है, जो चिदणु समूहों से निर्मित हो। इस प्रकार लाइबनिज के अनुसार संपूर्ण ब्रह्माण्ड एक चेतन बुद्धि के विकास का परिणाम है। इसके विपरीत, हेगल का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ मान्यताओं पर आधारित है। वह एकमात्र प्रज्ञा (Reason) को ही परम सत्ता मानता है। विश्व में विराजमान विभिन्न सत् इकाइयाँ प्रज्ञा या विचार को ही अभिव्यक्तियाँ हैं। 'ज्ञात वस्तु' और 'यथार्थ वस्तु' (सत् वस्तु) दोनों विचार में ही निहित हैं। चेतना का प्रत्येक स्तर अपने लिए एक कसौटी की सर्जना करता है। चेतना की परिधि से बाहर कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती है। प्राकृतिक जगत् से लेकर आत्म चैतन्य स्वरूप मानव, सामाजिक संस्थाएँ, कला, धर्म और दर्शन-पर्यन्त चेतन बुद्धि के प्रकाश से ही आलोकित हैं। विश्व की प्रयोजनमूलक प्रक्रिया का परम लक्ष्य दर्शन है। अतः हेगल के अनुसार दर्शन में ही परम तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। संवेदनाएँ, अनुभूतियाँ, संकल्प, प्रतिभान आदि ज्ञान की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। नीतिशास्त्र (संकल्प प्रधान), कला (प्रतिभान) और धर्म (अनुभूति प्रधान) दर्शनशास्त्र (बुद्धि प्रधान) की ही प्रारंभिक अवस्थाएँ हैं।

हेगल ने पाश्चात्य दार्शनिक संस्कृति के इतिहास का गंभीर एवं विशद अध्ययन और मूल्यांकन किया। दर्शन का लक्ष्य भूत, भविष्य और वर्तमान काल में व्याप्त विकासशील तत्त्व का निरूपण करना है। हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद पर फ्लेटो, अरस्तू, लाइबनिज, काण्ट, फिक्टे, शेलिंग आदि दार्शनिकों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। किन्तु हेगल को इस बात पर गर्व था कि उनके दर्शन में ही सत्ता का सम्यक् निरूपण हुआ है। हेगल की पूर्ववर्ती दार्शनिक विचारधाराओं में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य है। उसका दावा है कि अन्य दार्शनिकों के द्वारा किया गया तत्त्वानुसंधान अपूर्ण है और इसीलिए प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक तुलाने वाला हेगल (Lisping Hegel) है।¹ वह काण्ट के द्वैतवाद और अज्ञेयवाद का कटु आलोचक है। हेगल के अनुसार काण्ट का यह प्रसिद्ध कथन कि 'बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है,' (Understanding makes Nature) एक क्रांतिकारी विचारधारा है। किन्तु काण्ट इस कथन के निहितार्थ को समझ नहीं पाया। हेगल के अनुसार इस वाक्य का अर्थ यह है कि प्राकृतिक जगत् बुद्धि (ज्ञान) के विकास की एक पूर्ववर्ती अवस्था मात्र है। वस्तुतः हेगल की बुद्धि विषयक अवधारणा (Concept of Reason) काण्ट के मत से भिन्न है। काण्ट ने बुद्धि (Understanding) और प्रज्ञा (Reason) के बीच में एक विभाजक रेखा खींच दिया। बुद्धि

1 उल्लेखनीय है कि अरस्तू ने भी अपने पूर्ववर्ती ग्रीक दार्शनिकों को तुलनाता हुआ अरस्तू समझा था। इसी प्रकार हेगल का दावा है कि उसने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक विचारकों के मंतव्य को समझकर उसकी सफल अभिव्यक्ति अपने दर्शन में की है। देखिए — 'What is living and what is dead in Hegel's Philosophy' — Chroche, p. 110.

उपादानात्मक (रचनात्मक) और प्रज्ञा केवल नियामक है। किन्तु हेगल को यह द्वैत मान्य नहीं है। हेगल के अनुसार बुद्धि और प्रज्ञा में कोई गुणात्मक भेद नहीं है। प्रज्ञा नियामक होने के साथ-साथ उपादानात्मक भी है। काण्ट के बुद्धि-विकल्प बुद्धि के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं। इसी प्रकार काण्ट के द्वारा किया गया व्यवहार और परमार्थ का भेद भी औचित्यपूर्ण नहीं है। द्वैतवाद के कारण ही काण्ट के दर्शन में अज्ञेयवाद अपरिहार्य हो जाता है। अज्ञेयवाद अन्तर्विरोध से ग्रस्त अवधारणा है। यदि परमार्थ अज्ञेय है तो उसकी अज्ञेयता को भी नहीं जाना जा सकता है।

यद्यपि हेगल फिक्टे के द्वन्द्व-न्याय को संशोधित करके उसे व्यापक आयाम देते हैं, तथापि वे संकल्प-शक्ति को ज्ञान के विकास की एक पूर्ववर्ती अवस्था मात्र मानते हैं। जगत् ज्ञान का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है। प्राकृतिक जगत् ज्ञानस्वरूप आत्मा के विकास का एक प्रारंभिक सोपान है। वे शेलिंग के विकासवाद को स्वीकार करते हैं। किन्तु हेगल ने शेलिंग की अभेद स्वरूप निरपेक्ष प्रकृति एवं रहस्यवाद या कलात्मक अनुभूति (Artistic Intuition) की कटु आलोचना की है। इस दृष्टि से हेगल का दर्शन शंकराचार्य, स्पिनोजा आदि विशुद्ध अभेदवादियों के मत से भिन्न है। रहस्यवादी अनुभूतियों का हेगल के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार रहस्यवादी साधना विकृत चिन्तन का अंश है। जहाँ फिक्टे का प्रत्ययवाद नैतिक और शेलिंग की प्रकृति सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक अनुभूति की ओर उन्मुख है, वहीं हेगल का झुकाव तार्किक प्रत्ययवाद की ओर है।

निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism)

हेगल के युग में पाश्चात्य दर्शन में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। प्रथम प्रवृत्ति के अंतर्गत सत्ता के साक्षात्कार का एकमात्र आधार प्रतिभान (Intuition) को माना जाता था। इस मत के समर्थकों को अन्तः प्रज्ञावादी (Intuitionist) कहा जाता है। प्रतिभान में तत्त्व-साक्षात्कार हेतु अव्यवहितता (Immediacy) तो है, किन्तु इसमें तार्किकता, वैज्ञानिकता एवं वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। इसके विपरीत द्वितीय प्रवृत्ति के अंतर्गत विमर्शात्मक चिन्तन पर आधारित दर्शन आते हैं। विमर्शात्मक दर्शन (Philosophy of Reflection) में तार्किक दृष्टि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं सार्वभौमिकता तो है, परन्तु कोरा तार्किक चिन्तन किसी तत्त्व का साक्षात् बोध नहीं करा सकता है। बौद्धिक विमर्श या अनुचिन्तन में अव्यवहित अनुभूति का अभाव पाया जाता है। अतः हेगल एक ऐसे दार्शनिक निकाय की स्थापना करना चाहता है जिसमें वैज्ञानिकता एवं बौद्धिकता के साथ-साथ साक्षात्कारित्व भी हो। ऐसा दर्शन अमूर्त प्रत्ययों के शुष्क तर्कजाल पर आश्रित नहीं हो सकता है। ऐसा दर्शन तत्त्व-साक्षात्कार की अव्यवहितता के साथ-साथ सार्वभौमिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त भी होता है। हेगल के लिए दर्शन सब विज्ञानों का विज्ञान (Science of all sciences) है। इसी कारण हेगल ने प्रज्ञा (Reason) को उपादान स्वरूप मानने के साथ-साथ नियामक भी माना है। दर्शन का उद्देश्य निरपेक्ष प्रत्यय के विकास का सम्यक् मूल्यांकन करना है। जो कुछ सत् है वह बोधगम्य है। (All being is thought realized.)। समस्त संभूति विचार का ही विकास है (All becoming is a development of thought)।

इस दृष्टि से हेगल अधोलिखित निष्कर्षों का प्रतिपादन करता है —

(1) दर्शन के विषय की संरचना वस्तुओं के प्रत्ययों से होती है। दर्शन का लक्ष्य जगत् की विभिन्न सत् इकाइयों के प्रयोजन और महत्व की खोज करके ब्रह्माण्ड में उनकी समुचित स्थिति का निर्धारण और मूल्यांकन करना है। ज्ञान की एक व्यवस्था के अंतर्गत दर्शन वस्तुओं के सापेक्ष मूल्य और गन्तव्य लक्ष्य (स्थान) को निर्धारित करता है। उसकी पद्धति अथवा प्रक्रिया प्रयोजनमूलक, मूल्यात्मक और सौन्दर्यशास्त्रीय होती है। अतः दर्शन घटनाओं की कारणात्मक व्याख्या न करके उनका आदर्शपरक एवं मूल्यपरक विवेचन करता है।¹

(2) हेगल के दर्शन की द्वितीय मान्यता (निष्कर्ष) यह है कि यदि प्रत्येक सत् वस्तु बुद्धि (प्रत्यय) की अभिव्यक्ति है और प्रत्येक वस्तु विचार के विकास की एक अवस्था मात्र है, तो विचार और सत्ता या सत्ता और बोध अभिन्न हैं। इस संबंध में हेगल का यह प्रसिद्ध कथन है— 'सत्ता ही बोध है और बोध ही सत्ता है।'²

हेगल के अनुसार ज्ञान अमूर्त विचारों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सर्जनात्मक है। ज्ञान तत्त्व को जानने का साधन नहीं है, बल्कि ज्ञान ही सत्ता है। प्रत्यय और वस्तु, आत्मा और प्रकृति में अभेद है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तत्त्व के स्वरूप पर विचार करने से हेगल इस निष्कर्ष का निगमन करता है कि सत्ता बौद्धिक है, अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। पुनश्च, जब वह ज्ञानमीमांसीय एवं तार्किक दृष्टि से विचार करता है तो वह इस निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है कि ज्ञान या विचार ही सत्ता है (Rational is real)। इस प्रकार तत्त्वमीमांसा और तर्कशास्त्र या ज्ञानमीमांसा दोनों का प्रतिपाद्य विषय और लक्ष्य एक ही सत्ता अथवा ज्ञान का विवेचन एवं मूल्यांकन करना है। वस्तुतः हेगल तत्त्वमीमांसा और तर्कशास्त्र या ज्ञानमीमांसा को परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध (interlocked) कर देता है। इस प्रकार हेगल के दर्शनशास्त्र में दर्शन की ये दोनों विधाएँ एक ही निरपेक्ष प्रत्यय का विवेचन पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से करती हैं।

(3) हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में प्रत्यय ही वास्तविक सत्ता है। किन्तु यह कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है। प्रत्यय चेतन स्वरूप एवं ज्ञाता है। इसका निराकरण नहीं किया जा सकता है। सम्पूर्ण विश्व इसी का विकास है। जो कुछ है, वह चेतन प्रत्यय के विकास का ही मूर्त सोपान है। प्रत्ययों के नियम प्राकृतिक जगत् पर भी लागू होते हैं। इस प्रकार हेगल का सम्पूर्ण दर्शन निरपेक्ष प्रत्यय की विकास-यात्रा का इतिहास है। प्रत्यय अथवा बुद्धि न केवल एक आदर्श प्रतिमान है, अपितु यह एक विश्व शक्ति है जो स्वयं (अपनी) स्वानुभूति को परिपूर्णता प्रदान करता है।

(4) उल्लेखनीय है कि काण्ट ने बुद्धि को विश्लेषणात्मक या फेर्नूफ्ट कहा है। किन्तु हेगल के अनुसार विश्लेषणात्मक बुद्धि वैचारिक कोटियों (Categories) को पृथक्-पृथक् रूप में (खण्डों में) ग्रहण करने के प्रयास में विरोधाभासों का शिकार हो जाती है। सत्ता का सम्यक् ज्ञान संश्लेषणात्मक बुद्धि के स्तर पर ही प्राप्त हो सकता है। सत्ता का उसकी समग्रता में बोध और बुद्धि का संश्लेषणात्मक स्तर दोनों हेगल के दर्शन में आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। इसीलिए हेगल सत्ता और ज्ञान (बुद्धि) को अभिन्न मान लेता है।³

1 लॉट्ज ने इसे जर्मन प्रत्ययवाद की समुचित व्याख्या कहा है।

2 The Real is Rational and the Rational is Real.

3 The Phenomenology of spirit, p. 81.

इस दृष्टि से विचार का आकार और सत्ता का आकार परस्पर अभिन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, संश्लेषणात्मक प्रज्ञा स्वयं दैवी (ईश्वरीय) है। चूँकि यह सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए प्रत्येक वस्तु इसी का प्रकाश है। प्रत्यय और सत्ता (चित् एवं सत्) में कोई मौलिक अन्तर नहीं हो सकता है। हेगल के दर्शन में आभास और सत् अथवा व्यवहार और परमार्थ के भेद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु हेगल का परम तत्त्व (निरपेक्ष प्रत्यय) स्वरूपतः भेद से विशिष्ट अभेद होने के कारण स्वगत भेद से युक्त है। अतः वह अमूर्त सामान्य और विशुद्ध अभेद की कल्पना नहीं करता है। उसने शेलिंग की निरपेक्ष प्रकृति और स्पिनोजा के निरपेक्ष द्रव्य को अमूर्त इसलिए कहा था क्योंकि वे केवल अभेद हैं। हेगल के अनुसार शेलिंग की निरपेक्ष प्रकृति अर्द्धरात्रि (काली रात) के समान घोर अन्धकार से युक्त (विशुद्ध अभेद) है और स्पिनोजा का 'निरपेक्ष द्रव्य' (ईश्वर) ईसप की कथाओं में वर्णित 'शेर की गुफा' के समान (सर्वग्रासी) है, जहाँ जाकर कोई पुनः वापस नहीं लौटता है।

ज्ञान के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर विकास निषेध या विरोध के द्वारा होता है। हेगल ने अमूर्त प्रत्यय और अमूर्त निषेध दोनों का खण्डन किया है। प्रत्यय और निषेध दोनों मूर्त (Concrete) रूप में ही सार्थक हो सकते हैं। यह निषेध ही निरपेक्ष प्रत्यय के विकास का आधार है। ज्ञान के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर यह विकास तब तक होता रहता है, जब तक हम चेतना या ज्ञान के पूर्ण सामंजस्य को न प्राप्त कर लें। वस्तुतः हेगल ज्ञान या प्रत्यय और सत् या वस्तु के बीच में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने के लिए चेतना के अन्य उच्च स्तरों की खोज करता है।

(5) हेगल का प्रत्यय भेद से विशिष्ट अभेद है। उल्लेखनीय है कि हेगल विशुद्ध अभेद और विशुद्ध भेद दोनों को असंभव और अमूर्त (काल्पनिक) अवधारणा मात्र कहता है। इस दृष्टि से वह विशुद्ध अभेदवादी (जैसे — शंकराचार्य, प्लॉटिनस, स्पिनोजा एवं शेलिंग के दर्शन) दर्शनों की कटु आलोचना करता है। इसी प्रकार वह आत्यन्तिक रूप से द्वैतवादी (जैसे — डेकार्ट एवं भारतीय दार्शनिक मध्वाचार्य के दर्शन) दर्शनों का भी निराकरण करता है। उसके अनुसार ये दोनों ही मत काल्पनिक चिन्तन की उपज हैं। परम सत्ता भेद से विशिष्ट अभेद (Identity in difference) है। हेगल ने इसे तार्किक आधार पर भी स्थापित करने का प्रयास किया। यदि किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय पूर्णतया अभिन्न हों तो ऐसा निर्णय एक पुनर्कथन (Tautology) मात्र होगा। उसके आधार पर किसी वास्तविक सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती है। इसके विपरीत यदि किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय एक-दूसरे से पूर्ण रूप में भिन्न हों, तो उनमें किसी सार्थक सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती है। प्रत्येक निर्णय सदैव भेद से विशिष्ट अभेद का विधान करता है। किन्तु हेगल यह स्वीकार करता है कि अभेद प्रमुख और भेद गौण होता है, क्योंकि भेद बिना अभेद के आधारहीन हो जाता है। इस प्रकार 'अभेद' 'भेद' का विशेष्य एवं आधारभूमि है। हेगल का यह मत भारतीय दार्शनिक रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन से कुछ साम्य रखता है। रामानुजाचार्य के अनुसार चित्, अचित्, और ईश्वर की अपृथक् सिद्ध एकता ही ब्रह्म है। यद्यपि रामानुज ब्रह्म में सजातीय एवं विजातीय भेद नहीं मानते हैं, तथापि वे स्वगत भेद मानते हैं। इस दृष्टि से रामानुज भी हेगल की परम सत्ता के समान अपने ब्रह्म को भेद से विशिष्ट (चित् और अचित् से विशिष्ट) अभेद मानते हैं।

(6) हेगल निरपेक्ष प्रत्यय को सामान्य मानते हैं, क्योंकि यह अनेक भेदों और विशेषों में व्याप्त होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगल का प्रत्यय अमूर्त सामान्य नहीं है। वास्तव में, विशेषों और भेदों से पृथक् एवं निरपेक्ष रूप से सामान्य की वास्तविक सत्ता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। अतः हेगल का निरपेक्ष प्रत्यय मूर्त सामान्य (Concrete Universal) है। यदि इसे मूर्त सामान्य न माना जाय तो एक अमूर्त प्रत्यय के रूप में यह कोरी कल्पना होगा। यद्यपि प्लेटो के समान हेगल भी प्रत्यय को एक वास्तविक सत्ता कहता है, तथापि इन दोनों विचारकों में इस बिन्दु पर कुछ मौलिक अन्तर है। जहाँ प्लेटो के प्रत्यय स्थिर, कूटस्थ और अपरिवर्तनशील हैं, वहीं हेगल का प्रत्यय गतिशील, परिवर्तनशील और विकासशील है। हेगल के अनुसार परम सत्ता कोई स्थिर सुसंगति (Static coherence) नहीं, बल्कि एक गतिशील सुसंगति (Dynamic coherence) है।¹ प्लेटो के दिव्य लोक में रहने वाले प्रत्ययों के विपरीत हेगल का प्रत्यय इसी लोक में है। निरपेक्ष प्रत्यय जड़ से लेकर चेतन एवं समस्त सांस्कृतिक विकास-पर्यन्त अन्तर्व्याप्त है। बाह्य जगत् इस निरपेक्ष प्रत्यय का ही एक पूर्व रूप (अवस्था) है। इस प्रकार यह समस्त विशिष्ट इकाइयों में अन्तर्व्याप्त एक समष्टि तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक सत् इकाई में किसी न किसी रूप में हो रही है।

प्रश्न उठता है कि मन, जगत् या प्रकृति का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर काण्ट के अनुसार यह होगा — 'चूँकि प्राकृतिक जगत् की संरचना हमारी बुद्धि की संरचना के समान है, इसलिए हम प्राकृतिक जगत् को जानते हैं।' यहाँ पर काण्ट की युक्ति पूर्णतया प्रत्ययवादी नहीं है। काण्ट प्राकृतिक जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह एक प्रकार से प्रत्ययवाद और वस्तुवाद दोनों का समन्वित रूप है। इसीलिए काण्ट को अतीन्द्रिय दृष्टि से प्रत्ययवादी, परन्तु आनुभविक दृष्टि से वस्तुवादी कहा जाता है।² काण्ट के विपरीत हेगल निरपेक्ष प्रत्ययवादी है। हेगल यह नहीं कहता है कि बाह्य जगत् हमारे मन के अनुरूप है, बल्कि जगत् हमारे ज्ञान (बुद्धि) या प्रत्यय की ही एक बाह्य अवस्था है। इस प्रकार हेगल काण्ट के दर्शन में निहित द्वैतवादी मान्यताओं का अतिक्रमण करके निरपेक्ष प्रत्ययवाद की स्थापना करता है।

(7) एक व्यवस्थित साकल्य (Systematic Whole) होने के कारण हेगल के निरपेक्ष प्रत्यय को 'व्यक्ति' (Individual) कहा जा सकता है। यह एक 'जैविक अंगी' (Organism) है। इसके विभिन्न अवयवों में आंतरिक सम्बन्ध है, जो यान्त्रिक सम्बन्धों से भिन्न है। यान्त्रिक संबंध एक बाह्य संबंध है। जिन दो इकाइयों में बाह्य संबंध होता है, उनकी सत्ता एक-दूसरे से स्वतंत्र और पृथक् रूप से संभव है। इसके विपरीत, आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक संबंध से युक्त इकाइयों में अपृथक् सिद्ध संबंध होता है, अर्थात् उनकी सत्ता एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र रूप में संभव नहीं है। अवयव एवं अवयवी तथा एक अवयव अन्य अवयवों से परस्पर इस प्रकार संबंधित होते हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग एवं स्वतंत्र नहीं माना जा सकता है। आगे चलकर हेगल के आन्तरिक संबंधों के सिद्धान्त को प्रायः सभी नव्य-हेगलवादियों (ब्रैडले, ग्रीन, बोसके इत्यादि) ने स्वीकार किया। वस्तुतः संबंधों के स्वरूप को लेकर प्रत्ययवादियों और वस्तुवादियों में

1 'Coherence Vs. Dialectic', R.N. Kaul, Included in Problems of Depth Epistemology (ed.) S.L. Pandey, pp. 76-86

2 Transcendentally Idealist but Empirically (Critically) Realist).

गंभीर मतभेद रहा है। यदि यह कहा जाय कि संबंधों का स्वरूप ही इन दोनों विचारधाराओं के विवाद का केन्द्र-बिन्दु है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। किन्तु यहाँ पर इसका विवेचन करना विषयान्तर होगा।¹ यद्यपि हेगल का 'निरपेक्ष प्रत्यय' समस्त अवयवों में अन्तर्व्याप्त है, तथापि इसे अवयवों का समूह मात्र नहीं कहा जा सकता है। निरपेक्ष प्रत्यय के अवयवों में व्याप्त रहने का निहितार्थ यह है कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में निरपेक्ष प्रत्यय का ही प्रकाश है, क्योंकि सब कुछ निरपेक्ष प्रत्यय के ही विकास का परिणाम है।

चूँकि हेगल एक विकासवादी दार्शनिक है। इसलिए वह अपने निरपेक्ष प्रत्यय को स्वभावतः गतिशील और विकासशील मानता है। प्रश्न उठता है कि यह विकास किस प्रकार संभव है? हेगल के अनुसार विकास की प्रक्रिया विरोध या निषेध के द्वारा ही संचालित होती है। विरोध के स्वरूप का विवेचन हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का अभिन्न अंग है। यह विकास अपूर्णता का द्योतक है। निरपेक्ष प्रत्यय की अभिव्यक्ति सबसे पहले अमूर्त प्रत्यय (Abstract Idea) के रूप में होती है। यह विशुद्ध अभेद की वह काल्पनिक अवस्था है, जिसकी अपूर्णता को सूचित करता हुआ उसका विरोधी तत्त्व बाह्य जगत् अभिव्यक्त हो जाता है। हेगल के दर्शन में विषयी (Idea-in-itself) और विषय (Idea-outside-itself) दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि दोनों का मूल आधार आत्मचैतन्य स्वरूप निरपेक्ष प्रत्यय है। विषयी और विषय एक ही चैतन्य तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। शेलिंग ने विषयी और विषय को समान महत्व दिया है। इसके विपरीत, हेगल विषयी (ज्ञाता) को विषय (ज्ञेय) की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। जैसे-जैसे सीमित मानव ज्ञान पूर्णता की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे हम सत्ता का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हेगल की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इस प्रकार ज्ञान केवल वैचारिक क्रिया ही नहीं, अपितु सर्जनात्मक भी है। किन्तु ज्ञान का यह विकास विरोध के द्वारा ही संभव है। प्रत्येक अपूर्ण प्रत्यय में उसका विरोधी तत्त्व निहित होता है। किन्तु यह विरोधी तत्त्व (Anti-thesis) ज्ञान अथवा प्रत्यय का यथार्थ स्वरूप नहीं है। ज्ञान और सत्ता स्वरूपतः सामञ्जस्यपूर्ण होते हैं। अतः विकास की अंतिम अवस्था में विरोध का पूर्ण समन्वय हो जाता है।

हेगलीय दृष्टि से विचार किया जाय तो ईश्वर को अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक जगत् निरपेक्ष प्रत्यय का बाह्य रूप है। इसे भेदों अथवा विविधताओं से युक्त जगत् कहा जा सकता है। इस दृष्टि से जड़-जगत् चेतना की अभिव्यक्ति की एक पूर्ण अवस्था है। निरपेक्ष तत्त्व द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया में वनस्पति जगत् एवं पशु-जगत् से होते हुए मानव-जगत् में आकर आत्म-चैतन्य (self-conscious) हो जाता है। विकास की पराकाष्ठा (अंतिम अवस्था) में मूर्त्त प्रत्यय अपने समन्वयात्मक स्वरूप (Idea-in and for itself) को प्राप्त कर लेता है। इसकी सम्यक् अभिव्यक्ति कला और धर्म में होते हुए, उसे भी अपने में समेटे हुए, कला और धर्म से विशिष्ट दर्शन में होती है। इस प्रकार, हेगल के निरपेक्ष प्रत्यय की विकास-यात्रा का समापन (समन्वय) प्राकृतिक जगत् और मानव-जीवन का अध्ययन करने वाली ज्ञान-विज्ञान की विविध विधाओं (शाखाओं) को अपने में समेटे हुए उनसे विशिष्ट दर्शनशास्त्र में होता है।

¹ विस्तृत परिचर्चा के लिए देखिए — ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पृ० 132-37.

हेगलीय द्वन्द्व-न्याय (Hegelian Dialectic)

ऐतिहासिक दृष्टि से 'द्वन्द्व-न्याय' (Dialectic) सिद्धान्ततः विवादास्पद विषयों पर वाद-विवाद, बहस और परिचर्चा करने का एक शालीन और विनम्र तरीका है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इसका प्रयोग एक आलोचनात्मक वैचारिक पद्धति के अर्थ में किया जाता है। यह बुद्धि के द्वारा की गई स्वयं अपनी आलोचना है। हम देख चुके हैं कि काण्ट के दर्शन में इसे 'भ्रम का तर्कशास्त्र' (Logic of illusion) कहा गया है। इसके माध्यम से भ्रामक मतों को तर्काभास, विप्रतिषेध एवं आत्म-विरोध ग्रस्त (आत्म-व्याघाती) दिखाकर सत्य मत की स्थापना की जाती है। हेगल के दर्शन में विचार की अमूर्त तथा अपूर्ण अवस्थाओं से मूर्त एवं अधिक पूर्ण अवस्थाओं की ओर विकास (संक्रमण) को द्वन्द्व-न्याय कहा जाता है। यह संभूति की प्रक्रिया है जो पक्ष, विपक्ष और समन्वय के रूप में तब तक चलती रहती है, जब तक कि पूर्णता की अवस्था न प्राप्त हो जाय। पक्ष, विपक्ष और समन्वय के त्रिक नियम के द्वारा विचार पूर्णता को प्राप्त करता है। अपूर्णताओं का निराकरण द्वन्द्व-न्याय के द्वारा ही हो सकता है। इस क्रिया में सत् (Being), सारतत्त्व (Essence) और अन्तर्वोध (Notion), ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः उच्च, उच्चतर और उच्चतम स्थितियों को प्राप्त करके निरपेक्ष तत्त्व के समन्वयात्मक स्वरूप में अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेती हैं।

हेगल के दर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका विकासवाद है। विकास कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया निषेध (विरोध) के द्वारा संचालित होती है। हेगल के अनुसार निषेध स्वरूपतः अमूर्त नहीं, बल्कि मूर्त (Determinate Negation) होता है। निर्विशिष्ट (आत्यन्तिक) निषेध या विरोध का हेगल के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। चेतना के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर विकास इसी विरोध के कारण होता है। ज्ञान के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर यह विकास तब तक होता रहता है, जब तक सामञ्जस्यपूर्ण अवस्था को न प्राप्त कर लिया जाय। विकास की पराकाष्ठा में ज्ञान और सत्ता में पूर्ण समन्वय स्थापित हो जाता है। इस दृष्टि से विरोध या भेद विकास की प्रक्रिया में सहयोगी एक अवस्था मात्र है। यह स्थिरता या ठहराव नहीं, बल्कि टकराव या विरोध के परिणामस्वरूप गतिशीलता या समन्वय है। अतः हेगल के अनुसार सत्ता कोई स्थिर सुसंगति नहीं, बल्कि एक गतिशील एवं सामञ्जस्यपूर्ण निकाय है।

हेगल ने विरोध की व्याख्या परंपरागत तर्कशास्त्र में प्रचलित 'व्याघात' (Contradiction) से भिन्न अर्थ में किया है। उसके अनुसार परंपरागत तर्कशास्त्र में प्रचलित व्याघात एक अमूर्त और काल्पनिक अवधारणा मात्र है। इसका प्रयोग परंपरागत तर्कशास्त्र में आत्यन्तिक विरोध के अर्थ में किया गया है। हेगल के अनुसार आत्यन्तिक विरोध का वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्यन्तिक विरोध (व्याघात) कुछ तर्कशास्त्रियों की बौद्धिक क्रीड़ा का विषय मात्र है। हेगल के दर्शन में भेद का अर्थ है विरोध, जो सदैव समन्वय अथवा अभेद पर आधारित होता है। भेद या विरोध के द्वारा ही हेगल ज्ञान (चित्) और सत्ता (सत्) में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए चेतना के उच्च स्तरों की खोज करने का प्रयास करता है। इस प्रकार विरोध ही समस्त गति, जीवन और विकास-प्रक्रिया का आधार है। उसके अनुसार निरपेक्ष प्रत्यय के विकास के लिए अभेद (Identity) की अपेक्षा बिरोध (difference)

अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से परंपरागत तर्कशास्त्र की यह मान्यता कि कोई वस्तु एक साथ सत् और असत् दोनों नहीं हो सकती है, असंगत है। हेगल का दावा है कि प्रत्येक यथार्थ वस्तु में सदैव दो परस्पर विरोधी गुण विद्यमान होते हैं। यहाँ पर हेगल प्राचीन ग्रीक दार्शनिक 'एम्पीडॉक्लीज' के 'प्रेम' एवं 'घृणा' अथवा 'सामंजस्य' एवं 'संघर्ष' के सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होता है। एम्पीडॉक्लीज के अनुसार सृष्टि का संगठन (विकास) और विघटन (विनाश) परस्पर विरोधी शक्तियों के कारण होता है। उसने परिवर्तन की व्याख्या के लिए 'प्रेम' और 'घृणा' के सिद्धान्त का सहारा लिया। इसी प्रकार हेगल भी भेद, विरोध और निषेध को सभी प्रकार के परिवर्तन और विकास का आधार मानता है। हेगल के दर्शन में विकास भेद से विशिष्ट अभेद की ओर होता है। वह व्याघात-नियम के साथ-साथ तर्कशास्त्र के 'मध्यम परिहार-नियम' (Law of Excluded Middle) का भी निराकरण करता है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु या तो सत् है या असत् है। हेगल के अनुसार यह नियम भी व्याघात-नियम का ही एक परिवर्तित रूप है। अतः इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि हेगल ने परंपरागत आकारिक तर्कशास्त्र के अभेद-नियम, व्याघात-नियम और मध्यम परिहार-नियम का निषेध करके अपने दर्शन में 'मूर्त निषेध' (विरोध) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। 'मूर्त निषेध' की अवधारणा हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का मेरुदण्ड है।

इस प्रकार हेगल आत्यन्तिक विरोध का परित्याग करके विरोध को भेद के अर्थ में ग्रहण करता है। भेद या विरोध की सार्थकता उसके अभेद पर आश्रित होने में निहित है। उदाहरण के लिए अधोलिखित कथनों को लिया जा सकता है —

- (i) श्वेत रंग अश्वेत नहीं है।
- (ii) श्वेत रंग काला नहीं है।

हेगलीय दृष्टि से 'श्वेत' (White) और 'अश्वेत' (Non-White) परस्पर व्याघाती हैं। अतः वास्तविकता के धरातल पर इन दोनों पदों में कोई विरोध नहीं हो सकता है। वास्तव में 'अश्वेत', 'श्वेत' का पूरक-वर्ग (Complementary Class) है। 'अश्वेत' के अन्तर्गत 'श्वेत' को छोड़कर विश्व की सभी वस्तुएँ (नदी, पहाड़, मेज, कुर्सी, पशु-पक्षी आदि) सम्मिलित हो जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि श्वेत रंग पहाड़ नहीं है, श्वेत रंग विश्वविद्यालय नहीं है इत्यादि, तो इसे कोरा बकवास ही कहा जायेगा। इसके विपरीत, द्वितीय कथन (श्वेत रंग काला नहीं है) सार्थक है। यही सच्चा विरोध है क्योंकि यहाँ पर 'श्वेत' और 'कालापन' में विरोध (भेद) के होते हुए भी उसमें रंग की एकता (अभेद) है। अतः हेगल के अनुसार अभेदोन्मुख भेद ही वास्तविक विरोध हो सकता है। वस्तुतः इस मूर्त विरोध के अर्थ में ही निषेध की सार्थकता है।

हेगल निषेध के महत्व पर बल देते हुए कहता है — 'प्रत्येक निषेध विशेषीकरण है' (Every Negation is Determination.)। इसी प्रकार स्पिनोजा ने भी कहा था कि 'प्रत्येक विशेषीकरण निषेधीकरण है' (Every determination is negation.)। हेगल स्पिनोजा के इस कथन को स्वीकार करते हुए भी यह दावा करता है कि प्रत्येक निषेध किसी न किसी भावात्मक आधार पर टिका होता है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु सफेद नहीं है, तो इसका निहितार्थ

यह है कि वह वस्तु किसी दूसरे रंग की है, अर्थात् एक रंग का निषेध करने से उसमें अन्य रंगों का आरोपण हो जाता है। अतः निषेध स्वीकरण पर आधारित होता है।

निरपेक्ष प्रत्यय के विकास की प्रक्रिया 'त्रिक नियम' (Triadic Law) पर आधारित है। त्रिक नियम हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का अभिन्न अंग है। इसके अन्तर्गत पक्ष (Thesis), विपक्ष (Anti-Thesis) और समन्वय (Synthesis), द्वन्द्व-न्याय के ये तीनों पहलू सम्मिलित हैं। पक्ष और विपक्ष दोनों परस्पर सापेक्ष हैं क्योंकि वे अपने आप में अपूर्ण हैं। इनमें से किसी एक को स्वीकार करने पर उसकी अपूर्णता को सूचित करता हुआ उसका विरोधी तत्त्व विकसित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष के स्वरूप में ही उसका विरोधी तत्त्व निहित होता है। प्रत्येक वस्तु के इस विरोधी स्वभाव के कारण ही सृष्टि की प्रत्येक इकाई में गति, परिवर्तन और विकास होता रहता है। किन्तु तत्त्व के स्वरूप में कहीं भी आत्यन्तिक विरोध नहीं पाया जाता है। विरोध का सार्थक रूप है भेद। भेद सदैव अभेद पर आश्रित होता है। इसी स्वभाव के कारण पक्ष और विपक्ष का परस्पर समन्वय हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि समन्वय के अंतर्गत पक्ष और विपक्ष सामञ्जस्यपूर्ण रूप में स्थित हो जाते हैं और उनका विरोधी स्वभाव समन्वयात्मक रूप में विकसित हो जाता है। इसी कारण हेगल ने अपनी प्रथम त्रयी के अन्तर्गत तीसरी अवस्था, अर्थात् समन्वय को विपक्षों का अभेद (Identity of Opposites) कहा है। प्रश्न उठता है कि पक्ष और विपक्ष के परस्पर विरुद्ध होने से उनके बीच में अभेद कैसे संभव है? क्या यह तार्किक दृष्टि से आत्म-व्याघाती दृष्टिकोण नहीं है? हेगल के अनुसार वास्तव में पक्ष और विपक्ष के परस्पर भिन्न होने के कारण ही दोनों में समन्वय की आवश्यकता होती है। जहाँ सार्थक भेद या विरोध न हो, वहाँ समन्वय कैसा? वह विशुद्ध भेद और विशुद्ध अभेद दोनों को काल्पनिक संप्रत्यय मात्र कहता है। अतः परंपरागत तर्कशास्त्र के आधार पर हेगल-दर्शन के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियाँ स्वतः निरस्त हो जाती हैं।

पक्ष, विपक्ष और समन्वय की यह त्रयी बार-बार आती है। पक्ष और विपक्ष का यह विरोध जब तीसरी अवस्था में सामञ्जस्यपूर्ण होकर समन्वय को प्राप्त कर लेता है, तो यह तीसरी समन्वयात्मक अवस्था पुनः पक्ष बन जाती है। यद्यपि पक्ष और विपक्ष की अपेक्षा समन्वयात्मक अवस्था अधिक परिपूर्ण है, तथापि इसने अभी निरपेक्ष पूर्णता को प्राप्त नहीं किया है। त्रिक नियम के अंतर्गत पक्ष, विपक्ष एवं समन्वय का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक समन्वय (Synthesis) और पूर्णत्व के बीच की दूरी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाती है। यह क्रम तभी समाप्त हो सकता है, जब ज्ञान अपनी समग्रता में ऐसा स्वरूप ग्रहण कर ले, जहाँ प्रथम अवस्था अंतिम अवस्था हो जाय और अंतिम अवस्था प्रथम अवस्था हो जाय; अर्थात् जहाँ प्रथम त्रयी और अन्तिम त्रयी में पूर्ण सामंजस्य हो जाय। इससे सिद्ध होता है कि विकास की अन्तिम अवस्था में पूर्णता की दृष्टि से 'आरंभ' 'अन्त' हो जाता है और 'अन्त' 'आरंभ' हो जाता है। समन्वय की अवस्था में पक्ष और विपक्ष का नाश नहीं होता है, बल्कि पक्ष और विपक्ष ये दोनों अवस्थाएँ समन्वय की विशेषण बन जाती हैं। इसके फलस्वरूप पक्ष एवं विपक्ष परस्पर अविरुद्ध हो जाते हैं। तीसरी समन्वयात्मक अवस्था भी पक्ष और विपक्ष में अव्यक्त रूप से व्याप्त रहती है। अतः विकास का अर्थ इस अव्यक्त स्वरूप का व्यक्त हो जाना है। पक्ष और विपक्ष के समन्वय के फलस्वरूप विकसित सामंजस्यपूर्ण अवस्था को 'निषेध का निषेध' (Negation of

Negation) अथवा 'विरोध का विरोध' अर्थात् 'द्विधा-निषेध' कहा जा सकता है। हेगलीय द्वन्द्वन्याय की यह एक मौलिक मान्यता है कि परिणाम और प्रक्रिया एवं सिद्धान्त और व्यवहार दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वास्तव में परिणाम भी किसी तन्त्र की समग्र प्रक्रिया के अन्तर्गत ही सम्मिलित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि हेगल ने प्रक्रिया पर अधिक बल दिया है।¹

हेगल के दर्शन में प्रथम त्रयी विपक्षों का अभेद है। यह सत् (Being) और असत् (Nothing) के अभेद के फलस्वरूप विकसित संभूति (Becoming) है। सत्→पक्ष, असत्→विपक्ष, और संभूति→समन्वय है। हेगल ने 'संभूति' का प्रयोग त्रयी के एक घटक या अंग के रूप में नहीं किया है। वस्तुतः संभूति विकास की उस प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके अन्तर्गत पक्ष और विपक्ष परस्पर समन्वित होते हैं। अतः संभूति दो परस्पर विरोधी अन्तों की सामंजस्यपूर्ण अवस्था है। किन्तु हेगल इसे दैशिक और कालिक प्रक्रिया नहीं मानता है। यह एक तार्किक प्रक्रिया है, जो समस्त विकास का आधार है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अंतर्निहित उसका विरोधी तत्त्व ही सभी परिवर्तनों और क्रान्तियों का आधार है। इस संबंध में हेगल का यह कथन उल्लेखनीय है — 'विशुद्ध सत् विशुद्ध असत् है' (Pure Being is Pure Nothing.)। संभूति इन दोनों के समन्वित योग से ही संभव है। असत् (Nothing) ही वह जाति-व्यवच्छेदक लक्षण (Differentia) है, जो सत् (Being) रूपी जाति (Genus) को संभूति (Becoming) रूपी उपजाति (Species) में परिणत कर देता है।²

इसी प्रकार द्वन्द्वात्मक पद्धति से प्रत्येक कोटि या ज्ञान की अवस्था दूसरी अवस्थाओं से तर्कतः निगमित होती है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत विकास की प्रक्रिया जाति (Genus) से प्रारंभ होकर उपजाति (Species) की ओर अग्रसर होती है। इसके बाद विकास के फलस्वरूप प्राप्त उपजाति को पुनः एक नवीन जाति में रूपान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया का शमन समन्वयात्मक मूर्त प्रत्यय की अवस्था में हो जाता है।

विकास की अन्य अवस्थाएँ समन्वयात्मक प्रत्यय की अपेक्षा अपूर्ण समन्वय हैं। किन्तु विकास की प्रत्येक परवर्ती अवस्था पूर्ववर्ती अवस्थाओं की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक पूर्ण और मूर्त होती जाती है। हेगलीय तर्कशास्त्र में तार्किक प्रत्यय के तीन रूप उल्लेखनीय हैं — सत् (Being), सारतत्त्व (Essence) और अन्तर्बोध (Notion)। ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः पक्ष, विपक्ष और समन्वय की अवस्थाएँ हैं। हेगल के अनुसार सत् के भी तीन रूप हैं — गुण, परिमाण और माप। इन्हें क्रमशः पक्ष, विपक्ष और समन्वय कहा जा सकता है। सारतत्त्व के अन्तर्गत क्रमशः अधिष्ठान (Ground), अधिष्ठित (Grounded) और अस्तित्व (Existence) आते हैं। इन्हें क्रमशः पक्ष, विपक्ष और समन्वय कहा जाता है। अस्तित्व के अन्तर्गत पारस्परिक निर्भरता के संबंधों का समन्वय हो जाता है। अन्तर्बोध-सिद्धान्त (Theory of Notion) के अन्तर्गत सामान्यता (Universality), विशिष्टता और वैयक्तिकता के बीच समन्वय पाया जाता है। अन्तर्बोध सिद्धान्त में पक्ष, विपक्ष और समन्वय की त्रयी के अनेक रूपों

1 Logic of Hegel (Trans) W. Wallace, Sect. 237.

2 जिस प्रकार मनुष्य की परिभाषा के अंतर्गत प्राणी जाति और विचारशीलता नामक जाति-व्यवच्छेदक लक्षण के समन्वय से मनुष्य नामक उपजाति को प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार सत् (जाति) + असत् (व्यवच्छेदक गुण) = संभूति (उपजाति) को प्राप्त किया जाता है।

का समाहार अन्त में निरपेक्ष प्रत्यय के रूप में होता है। आत्मनिष्ठ प्रत्यय और वस्तुनिष्ठ प्रत्यय इन दोनों का पूर्ण समन्वय निरपेक्ष प्रत्यय के अन्तर्गत हो जाने पर विकास-प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। यही विकास की सर्वोच्च अवस्था और परम श्रेय है। इस प्रकार मानव इतिहास एवं संस्कृति, कला, धर्म एवं दर्शन में निरपेक्ष प्रत्यय की ही अभिव्यक्ति होती है। निरपेक्ष प्रत्यय की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति दर्शनशास्त्र में होती है। इस अवस्था में सभी भेद इस प्रकार समाहित हो जाते हैं कि वे परम सत् के बाहर नहीं रह सकते हैं क्योंकि निरपेक्ष प्रत्यय एक जैविक अंगी है। इन समस्त भेदों को अपने में समेटे हुए सदैव मूर्त प्रत्यय का बोध होता रहता है। चूँकि समन्वयात्मक प्रत्यय विकास की अन्तिम अवस्था में पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, इसलिए वह पुनः पक्ष नहीं बनता है। वास्तव में, इसका साध्य (पूर्णत्व की प्राप्ति) सिद्ध हो चुका है, अर्थात् प्रत्यय ने पूर्णता को प्राप्त कर लिया है। विश्व की प्रत्येक वस्तु, समस्त भेद, समस्त प्रत्यय आदि इसी निरपेक्ष प्रत्यय से अनुप्राणित हैं। इसी को प्राप्त करने के लिए समस्त सृष्टि में विकास, गति आदि का संचरण होता है अतः समन्वयात्मक प्रत्यय की पूर्णता ही विकास का अन्तिम लक्ष्य और श्रेय है।

प्रकृति का स्वरूप

हेगल के दर्शन में प्रकृति निरपेक्ष प्रत्यय का ही एक बाह्य रूप है। जहाँ काण्ट, सांख्य और रामानुजाचार्य की प्रकृति अचेतन है, वहीं हेगल की प्रकृति चैतन्य स्वरूप निरपेक्ष प्रत्यय का ही एक रूप है। हेगल के द्वारा प्रतिपादित त्रिक नियम के अन्तर्गत प्रकृति विपक्ष है। यह तार्किक प्रत्यय का विपक्ष और उसके विरुद्ध मूर्त स्वरूप वाली है। इस प्रकार प्रकृति चेतना के विकास की एक निम्न अवस्था है। चूँकि निरपेक्ष प्रत्यय की ये दोनों अवस्थाएँ उसके अपूर्ण सोपान हैं, इसलिए तार्किक प्रत्यय और प्रकृति दोनों निरपेक्ष प्रत्यय के ही विधेय हैं। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हेगल के अनुसार विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत निम्न स्तरीय सोपान उच्च स्तरीय सोपानों में नष्ट नहीं होते हैं, बल्कि एक उत्कृष्ट स्वरूप को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार निम्नतर सोपान विकास के परिणामस्वरूप उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। निरपेक्ष प्रत्यय के समन्वयात्मक स्वरूप की सम्यक् अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब प्रकृति स्वातिक्रमण करके अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त कर ले। प्रकृति आत्मा के विकास की पूर्ववर्ती अवस्था है, किन्तु यह स्वयं आत्मा नहीं है। प्रकृति से आत्मा के विकसित होने का अर्थ यह नहीं है कि जड़ से चेतना का विकास हो रहा है, वास्तव में हेगल की प्रकृति स्वरूपतः अभौतिक है। प्रकृति से आत्मा के विकसित होने का निहितार्थ यह है कि आत्मा ने प्रकृति को एक विषय के रूप में जान लिया है। वस्तुतः निरपेक्ष प्रत्यय (ईश्वर) को अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति की आवश्यकता होती है।

हेगल प्रकृति के क्षेत्र में भी द्वन्द्व-न्याय की प्रक्रिया को स्वीकार करता है। सभी प्राकृतिक वस्तुएँ संप्रति की प्रक्रिया में हैं। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए गतिशील एवं विकासशील है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में प्रयोजन (Nisus) निहित है। प्रकृति अपने लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रकृति का लक्ष्य स्वरूपतः दैवी है। अतः वह प्राकृतिक स्तर पर अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती है। इस दैवी स्वरूप (परम चैतन्य) का अनुभव करने के लिए उसे अपने

प्राकृतिक स्वरूप से परे जाना होगा। हेगल के दर्शन में अमूर्त प्रत्यय या तार्किक प्रत्यय और प्रकृति दोनों समन्वयात्मक परम तत्त्व के विशेषण के रूप में हैं। यदि परम सत् के स्वरूप पर शुद्ध वैचारिक (आकारिक) दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो वह तार्किक प्रत्यय के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसके विपरीत जब उसे विविधताओं से युक्त जगत् के रूप में देखते हैं तो वही तत्त्व प्रकृति कहलाता है। वस्तुतः प्रकृति अपने मौलिक स्वरूप में देवी है। किन्तु निरपेक्ष परम तत्त्व के देवी स्वरूप की उसमें पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हुई है। जब प्रकृति अपने प्राकृतिक स्वरूप का अतिक्रमण करके आत्मस्वरूप हो जाती है तभी उसमें परम (देवी) सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति आत्मा नहीं है, बल्कि उसकी पूर्ववर्ती अवस्था है। आत्मा स्वतन्त्रता का विधान करता है, जबकि प्रकृति के क्षेत्र में अनिवार्यता पायी जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति आपातिकता से मुक्त है। प्रकृति की वस्तुएँ एवं घटनाएँ सदैव तार्किक योजना के अनुरूप नहीं घटित होती हैं। अनेक प्राकृतिक घटनाओं की भौतिक व्याख्या की जा सकती है, जो बौद्धिक योजना के अनुरूप नहीं होती है। उल्लेखनीय है कि हेगल की 'प्रकृति' शेलिंग की 'प्रकृति' से भिन्न है। शेलिंग ने तो निरपेक्ष प्रकृति को परम सत्ता मान लिया है। किन्तु हेगल के अनुसार प्रकृति परम सत्ता का एक पक्ष (aspect) मात्र है। यह स्वयं निरपेक्ष सत्ता नहीं है।

हेगल के प्रकृति-दर्शन की एक प्रमुख समस्या है — प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने के साथ-साथ निरपेक्ष प्रत्यय के एक अंग (विशेषण) के रूप में प्राकृतिक जगत् में व्याप्त आकस्मिकता की व्याख्या कैसे की जा सकती है? कोपलेस्टन के अनुसार इस समस्या के परिणामस्वरूप हेगल को प्रकृति के आन्तरिक और बाह्य पक्षों में भेद करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रकृति के आन्तरिक पक्ष को तार्किक और बाह्य पक्ष को आपातिक मानना होगा। किन्तु इसके परिणामस्वरूप जो तार्किक है उसे वास्तविक और जो आपातिक है उसे अवास्तविक मानना होगा। यदि प्रकृति के बाह्य पक्ष को वास्तविक मान लिया जाय तो प्राकृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के द्वैत से नहीं बचा जा सकता है। अतः हेगल के दर्शन में प्रकृति के बाह्य (आपातिक) पक्ष को अयथार्थ मानना आवश्यक हो जाता है।¹

उल्लेखनीय है कि प्रकृति के क्षेत्र में भी द्वन्द्व न्याय या त्रिक नियम के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं का विकास होता है। किन्तु ये अवस्थाएँ दैशिक और कालिक नहीं, बल्कि तार्किक हैं, अर्थात् विकास की विभिन्न अवस्थाओं में तार्किक सम्बन्ध हैं। इसकी व्याख्या देश और काल की दृष्टि से नहीं की जा सकती। हेगल के अनुसार विकास के इन विभिन्न सोपानों में क्षैतिजिक (Horizontal) सम्बन्ध नहीं, बल्कि लम्बवत् सम्बन्ध (Vertical Relation) है। इसी कारण से हेगल विकास के अन्तर्गत अनेक स्तरों का प्रतिपादन करता है। सत्ता के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर निरन्तर संक्रमण होता रहता है। अतः उसके द्वारा प्रतिपादित कोटियाँ (Categories) न तो स्थिर हैं और न एक कोटि का अन्य कोटियों से कोई बाह्य सम्बन्ध है। सभी अवस्थाएँ निम्न स्तर से सदैव उच्च स्तर को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रकृति में भी विकास की तीन अवस्थाएँ हैं —

(1) यान्त्रिकी (Mechanics) — यह प्राकृतिक विकास की प्रथम अवस्था है, जिसे 'पक्ष' कहा जा सकता है। यह सुप्त चैतन्य की अवस्था है जिसे जड़-जगत् कहा जाता है। जड़-जगत् यान्त्रिक नियमों से संचालित होता है। इसके अन्तर्गत देश-काल, गति, जड़ द्रव्य (Matter), गुरुत्वाकर्षण-शक्ति आदि का अध्ययन किया जाता है। यह परिमाणात्मक भेद की अवस्था है।

(2) भौतिकी (Physics) — यह विकास की दूसरी अवस्था है जिसे प्रथम अवस्था का विरोधी या विपक्ष (Anti-thesis) कहा जा सकता है। धीरे-धीरे जड़ रूप रासायनिक रूप में विकसित होने लगता है। यह गुणात्मक भेद के आविर्भाव की अवस्था है। इस स्तर पर प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बकत्व, रासायनिकता आदि शक्तियों का विकास होता है।

(3) जैविकी अथवा प्राणिशास्त्र (Organics) — यह प्राकृतिक विकास की समन्वयात्मक अवस्था है। इसके अन्तर्गत प्राणि जगत् का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति-जगत् एवं पशु जगत् में होते हुए मानव-शरीर के विकास पर्यन्त यह अवस्था आती है। मानव-शरीर ही प्राकृतिक जगत् के विकास की अन्तिम अवस्था है। इसके बाद आत्मा का विकास प्रारम्भ हो जाता है।

कुछ आलोचकों के अनुसार हेगल का प्रकृति-दर्शन उसे भौतिकवाद की ओर ले जाता है। हेगल के प्रकृति-दर्शन के आधार पर उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी कहा गया है। इस सन्दर्भ में जे० एन० फिण्डले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फिण्डले के अनुसार, हेगल आत्मा को प्राकृतिक अवस्था के बाद विकसित मानता है, अर्थात् चेतना जड़ का उत्पाद है। कालिक दृष्टि से आत्मा का उद्भव सबसे बाद में हुआ है। हेगल यह नहीं सोचता है कि प्रकृति आत्मा का उत्पाद है, बल्कि आत्मा के विकास की अवस्था प्राकृतिक विकास की अवस्था के बाद में आती है। हेगल ऐसे भू-वैज्ञानिक युगों को स्वीकार करता है, जब इस जगत् में न जीवन था और न आत्मा। प्रयोजन मूलक दृष्टि से आत्मा प्रकृति का पूर्ववर्ती हो सकता है, परन्तु कालिक दृष्टि से यह सबसे अन्त में आता है। दूसरे शब्दों में, कालिक दृष्टि से आत्मा का उद्भव सबसे बाद में हुआ है, अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि हेगल द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विधान करता है।¹ किन्तु यह आलोचना हेगल-दर्शन के साथ न्याय नहीं करती है। यदि हेगल के प्रकृति-दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मान लिया जाय तो उसके दर्शन का मन्तव्य ही ध्वस्त हो जाता है। यह उसके दर्शन से असंगतिपूर्ण भी है। वास्तव में, हेगल न तो प्रकृति को भौतिक मानता है और न प्रकृति को मूल तत्त्व ही मानता है। प्रकृति से द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा भले ही क्रमशः प्राणतत्त्व, संवेदना और चेतना विकसित होती है, परन्तु स्वयं प्रकृति निरपेक्ष प्रत्यय की ही एक बाह्य अवस्था है। निरपेक्ष प्रत्यय (ईश्वर) को अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति की आवश्यकता होती है। इससे स्पष्ट है कि हेगल प्रकृति का आधार चैतन्यस्वरूप या ज्ञानस्वरूप निरपेक्ष प्रत्यय को ही मानता है। वह कहता है कि 'प्रकृति बुद्धिगम्य है,' इस कथन का निहितार्थ यह है कि प्रकृति में बुद्धि (चेतना) व्याप्त है। इस प्रकार हेगल के दर्शन में विकास के आदि और अन्त दोनों ही अवस्थाओं में चेतना ही मूल तत्त्व है। इसी विन्दु पर हेगल और कार्ल

1 Hegel, J.N, Findlay, Included in A Critical History of Western Philosophy. (ed.) D.J.O. Connor, p. 337.

मार्क्स में मतभेद रहा है। अतः हेगल के प्रकृति-दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहना युक्तिसंगत नहीं हैं।

हेगल के प्रकृति-दर्शन के विरुद्ध एक अन्य आक्षेप यह है कि उसका प्रकृति-दर्शन निरपेक्ष प्रत्ययवाद के अन्तर्गत सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। यदि चेतना ही एक मात्र सत्ता है तो प्रकृति की क्या आवश्यकता है? प्रश्न यह है कि यदि प्रकृति प्रत्यय से मूलतः भिन्न नहीं है तो प्रत्यय बाह्य प्रकृति के रूप में क्यों प्रतीत होता है? हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में प्रकृति के अस्तित्व को चैतन्य स्वरूप निरपेक्ष प्रत्यय से स्वतन्त्र रूप में नहीं माना गया है। हम इसका उल्लेख कर चुके हैं कि प्रकृति चेतना की ही एक अविकसित (किन्तु विकासशील) अवस्था है। प्रकृति भले ही बाह्यतः अचेतन (जड़) प्रतीत होती है, परन्तु उसमें आत्म चैतन्य होने की क्षमता निहित है। हेगल के दर्शन में विकास की प्रत्येक अवस्था आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में प्रकृति की कोई आवश्यकता ही नहीं है। निरपेक्ष प्रत्ययवादी होते हुए भी हेगल के लिए इसकी व्याख्या करना आवश्यक था कि सत्ता के अन्तर्गत प्रकृति का सापेक्ष मूल्य और स्थान क्या है? वह द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि निरपेक्ष प्रत्यय बाह्य प्रकृति का स्वरूप इसलिए धारण करता है, ताकि वह विषयी (Subject) और विषय (Object) के द्वैत का अतिक्रमण करके अपने समन्वयात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कर सके। वस्तुतः हेगल के दर्शन का मूल्यांकन उसके द्वन्द्व-न्याय के सापेक्ष रूप में ही किया जा सकता है। यद्यपि उसका द्वन्द्व-न्याय दोषपूर्ण है, तथापि उसके दर्शन के किसी भी पहलू का मूल्यांकन करते समय उसकी प्रत्ययवादी मान्यताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

आत्मा का प्रत्यय (Idea of Mind)

विकास-क्रम में चेतना की अवस्था प्राकृतिक जगत् के बाद आती है। आत्मा का विकास मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास है। प्रकृति आत्मा की एक अविकसित या अल्पविकसित अवस्था है। जिस प्रकार प्राकृतिक जगत् में विभिन्न अवस्थाओं का विकास त्रिक नियम के अनुसार होता है, उसी प्रकार यह नियम आत्मा के प्रत्यय पर भी लागू होता है। आत्मा के प्रत्यय के अन्तर्गत तीन अवस्थाएँ इस प्रकार हैं —

(1) आत्मनिष्ठ आत्मा (Subjective Mind) — यह पक्ष है।

(2) वस्तुनिष्ठ आत्मा (Objective-Mind) — यह विपक्ष है।

(3) निरपेक्ष आत्मा (Absolute Mind) — यह समन्वय है।

(1) आत्मनिष्ठ आत्मा (Subjective Mind) — इसके अन्तर्गत स्वतंत्रता को आत्मा का सारतत्त्व माना जाता है। जैसे-जैसे आत्मा प्रकृति से स्वतंत्र होता है, वैसे-वैसे उसका संकल्प और कर्म-स्वातन्त्र्य विकसित होता जाता है। एक विषयी के रूप में आत्मा के स्वरूप का विवेचन तीन शास्त्रों में किया जाता है —

(अ) मानवशास्त्र (Anthropology) — मानवशास्त्र में आत्मा का निरूपण एक जीव के रूप में किया जाता है। जीवात्मा के रूप में मनुष्य एक शरीरधारी जीव है। चूँकि मनुष्य का शरीर प्राकृतिक है, इसलिए इस अवस्था में आत्मा का प्रकृति से संबंध बना रहता है। इसके अन्तर्गत मानवीय अनुभूतियाँ (Feelings), मनुष्य की जाति (Race), राष्ट्रीयता, लिंग, आयु,

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि मानसिक अवस्थाओं, मानसिक रोगों और मनुष्य के गुणों आदि का अध्ययन किया जाता है।

(ब) इसके बाद संवृत्तिशास्त्र (Phenomenology) का स्थान आता है। इसे 'आत्मा का विज्ञान' (The Science of Ego) कहते हैं। इसके अंतर्गत आत्मा का अध्ययन शरीर से स्वतंत्र चेतना के रूप में किया जाता है। इस अवस्था में आत्मा शरीर एवं बाह्य पर्यावरण से अपने को अलग समझने लगता है। यहाँ अन्य आत्माओं से भी संबंध स्थापित किया जाता है।

(स) इसके बाद मनोविज्ञान (Psychology) का स्तर आता है; जो बौद्धिक है। इसके अन्तर्गत सैद्धान्तिक बुद्धि (संवेदन, ध्यान, प्रतिभान), प्रतिनिधान (Representation) (यह निष्क्रिय स्मृति, कल्पना एवं सजीव स्मृति का स्तर है) और विचार (निर्णयात्मक शक्ति एवं आनंद) आते हैं। जब चेतना का विकास इस मनोवैज्ञानिक स्तर पर हो जाता है तो मनुष्य अन्य लोगों की स्वतंत्रता, अधिकार आदि को स्वीकार कर लेता है। इसके परिणामस्वरूप समष्टिगत चैतन्य या वस्तुनिष्ठ आत्मा का विकास होने लगता है।

(2) वस्तुनिष्ठ आत्मा (Objective Mind) — इसके अंतर्गत आत्मा की अभिव्यक्ति बाह्य संस्थाओं के रूप में होती है। विधि का दर्शन (Philosophy of Law), नीतिशास्त्र (Ethics), राज्य, इतिहास आदि का हेगल ने विवेकपूर्ण और सारगर्भित विवेचन किया है। किसी विषय का इतिहास उस विषय के संप्रत्यय से अनिवार्यतः घनिष्ठ रूप से संबंधित होता है।¹ इसका वर्गीकरण अधोलिखित रूप में किया जा सकता है —

‘अधिकार’ (Right); अर्थात् संपत्ति, संविदा और दंड का विधान — अपनी स्वतंत्रता के प्रति जागरूक व्यक्ति इसकी अभिव्यक्ति अधिकार के रूप में करता है। हेगल के अनुसार व्यक्ति का अधिकार आत्मा के संकल्प-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है। अधिकार स्वतंत्र व्यक्तियों के ही हो सकते हैं, वस्तुओं के नहीं। संपत्ति के विषय में विभिन्न व्यक्तियों में समझौते होते हैं, जिसे संविदा (Contract) कहते हैं। किन्तु अधिकार प्राप्त करने के लिए कुछ अधिकारों को छोड़ना भी पड़ता है। इससे सामूहिक अधिकार की अवधारणा का विकास होता है। कभी-कभी समाज के कुछ सदस्यों के अनधिकार प्रयास करने से अधिकारों का निराकरण हो सकता है क्योंकि कुछ व्यक्ति संविदा का उल्लंघन कर सकते हैं। अतः इस अपराध के लिए दंड का विधान विकसित हो जाता है। हेगल दंड को विशेष महत्व देता है, क्योंकि दंड के माध्यम से अधिकारों की पुनर्स्थापना होती है। अपराधी को उसके अपराध के अनुपात में दंड मिलना आवश्यक होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ‘विधिशास्त्र’ (Jurisprudence) का विकास हुआ है। इस अवस्था में न्यायाधीश और अपराधी में द्वैत होता है। यहाँ पर कानून के शासन की स्थापना दंड का भय दिखाकर की जाती है। अतः यह बाह्य अनुशासन की अवस्था है। जब नैतिक चेतना का विकास होता है, तो बाह्य अनुशासन के स्थान पर आत्म-अनुशासन की अवस्था आती है। इसकी अभिव्यक्ति ‘नीतिशास्त्र’ (Ethics) के रूप में होती है। सामाजिक नैतिकता की अवस्था में विधि (Legality) और नैतिकता (Morality) के बीच में एकता स्थापित हो जाती है। नैतिक जीवन एकाकी रूप में संभव नहीं है। इसलिए नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति क्रमशः परिवार, समाज और राज्य के रूप में होती है। परिवार का

संबंध विवाह से है। हेगल के अनुसार विवाह न केवल कानूनी और न केवल भावात्मक संबंध है, अपितु यह नैतिक संबंध पर आधारित एक संस्था है। परिवार का आधार प्रेम और सहयोग है। इससे स्पष्ट है कि जिस परिवार में प्रेम और पारस्परिक सहयोग नहीं होता है, वह परिवार विघटित हो जाता है। किन्तु परिवार मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होता है। अतः परिवार भी अपूर्ण है। मनुष्य परिवार की सीमाओं का अतिक्रमण करके समाज की रचना करता है। हेगल ने इसे 'बुर्जुआ समाज' (Bourgeois Society) कहा है। समाज के निर्माण का आधार व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति और प्रतिस्पर्धा है। किन्तु सभ्य समाज (Civil Society) समष्टिगत कल्याण को संपन्न करता है। समाज का वर्गीकरण 'श्रम-विभाजन' के सिद्धान्त पर आधारित होता है, ताकि समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। हेगल 'वर्ग (Class) सम्मान' और सामुदायिक सम्मान को सामान्य नैतिकता का प्रमुख आधार मानता है। इससे स्पष्ट है कि यदि परिवार पंक्ष है तो समाज उसका विपक्ष है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति प्रायः अपने कल्याण की बात सोचता है। इसके फलस्वरूप आपसी हितों में टकराव होने के कारण समाज में संघर्ष और प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक संघर्ष समष्टिगत आत्मा के विकास में बाधक होता है। इसका नियमन करने के लिए 'राज्य' (State) का विकास होता है। इस प्रकार राज्य में परिवार और समाज का समन्वय हो जाता है। राज्य में जहाँ एक ओर परिवार और समाज की विशेषताएँ पाई जाती हैं, वहीं राज्य इन दोनों से उच्च स्तरीय संगठन है। यह समाज को व्यवस्थित करके आल-लाभ का मार्ग प्रशस्त करता है। राज्य की मर्यादा के अन्तर्गत समाज में एकता और समन्वय स्थापित हो जाता है। हेगल के अनुसार राज्य एक दैवी प्रत्यय है। वह राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का पदार्पण कहता है।¹ हेगल कहता है कि व्यक्ति की समस्त योग्यताएँ और मूल्य उसकी समस्त आध्यात्मिक यथार्थता, अर्थात् जो कुछ भी उसे प्राप्त है, वह सब राज्य के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है।

काण्ट के विपरीत हेगल न तो अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थक है और न विश्व-शान्ति के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का ही समर्थक है। हेगल 'राष्ट्र-राज्य' (Nation-State) को राजनीतिक संगठन का अन्तिम और परम विकसित रूप मानता है। वह राज्य के अस्तित्व और स्थिरता को बनाये रखने के लिए युद्ध को एक अनिवार्य साधन मानता है। राज्य को स्वेच्छानुसार युद्ध लड़ने का अधिकार होना चाहिए। वह युद्ध के महत्व को रेखांकित करते हुए कहता है, "युद्ध मनुष्यों में विभिन्न सद्गुणों का विकास करता है, उनके हृदय में साहस, राष्ट्र भक्ति, शौर्य एवं त्याग की भावना को जागृत और विकसित करता है। मानव-जाति के नैतिक उत्कर्ष और मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए युद्ध एक आवश्यक साधन है। युद्ध राज्य को सशक्त और सुदृढ़ बनाता है तथा राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करता है।"² राज्य का साध्य निरपेक्ष प्रत्यय है। हेगल के अनुसार राज्य उच्चतर साध्य के लिए व्यक्ति की उपेक्षा कर सकता है। राज्य सर्वोच्च सत्ता है क्योंकि यह निरपेक्ष प्रत्यय की निकटतम अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार राज-तन्त्र (Monarchy) प्रजातन्त्र की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। वह कहता है कि प्रगतिशील राज्य को निर्बल और पतनोन्मुख राज्यों पर अधिकार कर लेना चाहिए। किन्तु उनको अधिगृहीत करने का उद्देश्य पतनोन्मुख राज्यों का ही कल्याण होना चाहिए। इस प्रकार

1 State is a march of God on the Earth.

2 Philosophy of History.

हेगल के अनुसार निर्वल राज्यों का दमन करना वर्जित है। वस्तुतः राज्य ही सर्वोच्च नैतिकता का आधार है।

इतिहास बौद्धिक राज्य का ही विकास है। मानव-जाति का इतिहास व्यवस्थित है। इसमें भी द्वन्द्व-न्याय के अनुसार ही विकास का क्रम चलता रहता है। परवर्ती सभ्यता और संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सभ्यताओं और संस्कृतियों से अधिक प्रगतिशील और उत्कृष्ट होती है। विभिन्न संस्कृतियों और राज्यों के संघर्षों के मूल में विचारों, आदर्शों और मूल्यों का संघर्ष और टकराव होता है। इस प्रकार विकास की संचालक शक्ति मूलतः विश्वात्मा है। हेगल जर्मन-जाति (race) एवं संस्कृति (Culture) को अब तक की सबसे विकसित और सभ्य संस्कृति मानते थे। यद्यपि राज्य वस्तुनिष्ठ आत्मा (समष्टिगत चैतन्य) के विकास की पराकाष्ठा है, तथापि इसके आगे भी विकास का क्रम चलता रहता है। इसमें भी निरपेक्ष प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसके बाद आत्मा के विकास की अन्तिम अवस्था आती है, जिसे हेगल ने 'निरपेक्ष प्रत्यय' (Absolute Idea) कहा है।

(3) निरपेक्ष आत्मा (Absolute Mind) — निरपेक्ष आत्मा विकास की सर्वोच्च अवस्था है जिसके अंतर्गत आत्मा की दोनों पूर्ववर्ती अवस्थाओं, अर्थात् आत्मनिष्ठ आत्मा और वस्तुनिष्ठ आत्मा का समन्वय हो जाता है। यह पूर्ण समन्वय की अवस्था है, जिसमें अन्य सभी भेद, विरोध, विषयी, विषय, प्रकृति, आत्मा आदि का समावेश सामञ्जस्यपूर्ण रूप में हो जाता है। इस अवस्था में निरपेक्ष आत्मा आत्म-पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह पुनः पक्ष नहीं बनता है। किन्तु इस अवस्था में भी आत्मा की अभिव्यक्ति तीन रूपों में होती है —

(अ) सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) — हेगल के अनुसार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम कला (art) है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के रूप में सौन्दर्यशास्त्र सुन्दरता का एक प्रतिमान (मानदण्ड) प्रस्तुत करता है। सौन्दर्य का विकास सुन्दरता के स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप की ओर होता है। कलाओं में वास्तुकला (Architecture) मुख्य रूप से प्रतीकात्मक होती है। मूर्तिकला (Sculpture) शास्त्रीय आदर्श की विशुद्ध अभिव्यक्ति है। चित्रकला (Painting) संगीत (Music) और काव्य (Poetry) क्रमशः कल्पना-प्रधान, रुमानी एवं भावनात्मक (Romantic) होते हैं। हेगल ने सौन्दर्यशास्त्र पर दिये गए अपने प्रवचन (Lectures on Aesthetics) में विविध कलाओं का मूल्यांकन करके इन निष्कर्षों को स्थापित किया है। इस क्षेत्र में भी हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का त्रिक नियम लागू होता है। यहाँ पर कला पक्ष (Thesis), संगीत विपक्ष (Anti-Thesis) और काव्य समन्वय (Synthesis) है। काव्यों में महाकाव्य (Epic), गीत काव्य (Lyric) और नाटक (Drama) क्रमशः काव्य के बाल्यकाल, संक्रमणकाल (वयः संधि) और प्रौढ़ रूप हैं। किन्तु कला से भी ऊँचा स्थान धर्म का है।

(ब) धर्म-दर्शन (Philosophy of Religion) — कला की अपेक्षा धर्म अधिक अन्तर्मुखी होता है। हेगल के अनुसार धर्म के तीन प्रमुख पक्ष हैं — जीव, ईश्वर और जीव तथा ईश्वर का संबंध। ये तीनों तत्त्व धर्म के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। धर्म में सीमित जीव का असीमित ईश्वर अर्थात् सीमा का भूमा से संबंध स्थापित किया जाता है। पूर्वी धर्मों में ईश्वर का प्रमुख स्थान है। इसके विपरीत यूनानी धर्म में जीवों का प्रमुख स्थान है। अपनी निम्नतम अवस्था में धर्म तीन रूपों में विकसित होता है — मर्यादा का धर्म (Religion of Measure)

जैसे — चीन का धर्म, कल्पना प्रधान धर्म (Religion of Fantasy) जैसे — भारतीय ब्राह्मण धर्म और आत्मवादी धर्म (Religion of Being in itself) आदि। हेगल ने विश्व के विभिन्न धर्मों के सूक्ष्म पक्षों का अध्ययन और मूल्यांकन करके उनके स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया। जहाँ पूर्वी धर्म ईश्वर-प्रधान और यूनानी धर्म जीव-प्रधान हैं, वहीं ईसाई-धर्म में ईसा के रूप में जीव और ईश्वर दोनों में समन्वय हो जाता है। हेगल के अनुसार ईसाई धर्म सत्य का धर्म है, जो दैवी-प्रकाशना पर आधारित है। इसमें आत्मा और स्वतन्त्रता की सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है। यह दिव्य प्रकृति और मानव की एकता का संवाहक है। अतः ईसाई धर्म सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु धर्मों में अनेक रुढ़ियाँ पायी जाती हैं। जिससे बौद्धिक चिन्तन को पूर्ण परिपक्वता नहीं प्राप्त हो पाती है। अतः धर्म में आत्मा की स्वतन्त्रता की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। हेगल के अनुसार धर्म और दर्शन वस्तुगत रूप से समान होते हैं। उनमें केवल आकारगत भिन्नता पाई जाती है। जिस वैचारिक अन्तर्वस्तु को धर्म के अन्तर्गत आनुभविक और प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया जाता है, उसी अन्तर्वस्तु को दर्शनशास्त्र में संप्रत्ययों के परिपूर्ण आकार में प्रस्तुत किया जाता है। अतः दर्शन का स्थान धर्म से ऊँचा है।

(स) दर्शनशास्त्र (Philosophy) — कला तथा धर्म के समान दर्शन के भी अनेक रूप एवं अवस्थाएँ हैं। एक ओर तो दर्शन निरपेक्ष प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति का द्योतक है, दूसरी ओर उसका संबंध सीमित आत्मा को निरपेक्ष सत्ता के रूप में प्रस्तुत करने से भी है। कला एवं धर्म क्रमशः कल्पना प्रधान और भावनात्मक होते हैं। किन्तु दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत बौद्धिक अनुशीलन एवं ज्ञान का प्राथमिक महत्व होता है। अतः निरपेक्ष प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम दर्शनशास्त्र है। इससे स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र का संबंध आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था (निरपेक्ष आत्मा) से है। इस प्रकार निरपेक्ष आत्मा के क्षेत्र में भी त्रिक नियम (Triadic Law) लागू होता है। कला पक्ष, धर्म विपक्ष और दर्शन समन्वय है। हेगल ने दर्शनशास्त्र के विकास की अनेक अवस्थाओं का उल्लेख किया है। इनमें से हेगल का दर्शन इस क्रमिक विकास की पराकाष्ठा है। इसके बाद निरपेक्ष प्रत्यय पुनः पक्ष नहीं बनता है, क्योंकि यह प्रत्यय के पूर्णत्व की अवस्था है। प्लेटो के समान हेगल भी यह मानता है कि ज्ञान और विज्ञान की विभिन्न विधाओं और शाखाओं में दर्शनशास्त्र ही सर्वोच्च है। वस्तुतः दर्शन में ही निरपेक्ष प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इस समन्वयात्मक अवस्था को प्राप्त कर लेना ही विकास का अन्तिम लक्ष्य है।

निःसंदेह हेगल विश्व के एक महान् दार्शनिक और क्रांतिकारी विचारधारा के प्रवर्तक हैं। किन्तु वे स्वयं विभिन्न कलाओं, धर्मों और दार्शनिक प्रवृत्तियों के विवेचन में अनेक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। उनको अपने दर्शन की सफलता पर इतना अधिक गर्व था कि वह एक मिथ्या दंभ में बदल गया। उन्हें ईसाई धर्म, जर्मन जाति और अपना दर्शन ही सर्वोत्कृष्ट लगता था। अन्य धर्मों, जातियों, कलाओं और दर्शनों के प्रति हेगल के विचार निष्पक्ष और स्वस्थ नहीं प्रतीत होते हैं। एशिया के विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों के प्रति उसके विचार उपेक्षापूर्ण हैं। इससे प्रतीत होता है कि विश्व के विभिन्न धर्मों, जातियों और दार्शनिक प्रवृत्तियों की उनको सम्यक् समझ नहीं थी। सोरेन किर्केगार्ड और शोपेनहावर जैसे प्रबुद्ध दार्शनिकों ने उसके समय में ही उसकी (हेगल की) नासमझी का उद्घाटन करना प्रारंभ कर दिया था। किन्तु उस युग में हेगल के क्रांतिकारी, हृदयस्पर्शी, भावोत्तेजक एवं तार्किक उत्कृष्टता से युक्त विचारों के प्रभाव से उसके विरोधी दार्शनिकों की बातें दब गयीं। यद्यपि हेगल के दर्शन की अनेक मान्यताएँ कटु

आलोचना की विषय रही हैं, तथापि उसके विचारों ने न केवल यूरोप के, बल्कि संपूर्ण विश्व के दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, इतिहासकारों, धर्मशास्त्रियों और संस्कृतियों को प्रभावित किया है। उसके दर्शन की अमिट छाप का ऐतिहासिक महत्व है। संभवतः भावी शताब्दियों में भी उसके विचार मानव-सभ्यता और संस्कृति को निरन्तर प्रगति और विकास का संदेश देते रहेंगे।

हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का मूल्यांकन

काण्ट के दर्शन में मानव-बुद्धि एक ओर विश्लेषणात्मक तो दूसरी ओर अनुभव-सापेक्ष होने के कारण परमतत्त्व को जानने में असमर्थ है। वह अपने स्वाभाविक दोष के कारण तत्त्व-ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती है। काण्ट के द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत विचारों के द्वारा अतीन्द्रिय भ्रमों (Transcendental Illusion) का कोई समाधान नहीं हो सकता है। ये प्रज्ञा की स्वाभाविक उपज हैं। किन्तु हेगल ने काण्ट के अज्ञेयवाद के स्थान पर सर्वज्ञेयवाद की स्थापना किया। हेगल के अनुसार विचारों के द्वारा ही इन वैचारिक अन्तर्विरोधों को दूर किया जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि विचार और सत्ता परस्पर अभिन्न हैं। वस्तुतः हेगल सर्वचित्तवाद या सर्वबुद्धिवाद (Panlogicism) का प्रतिपादन करता है। वह एक प्रकार के अतिशय बुद्धिवाद से ग्रस्त दर्शन का विधान करता है। इससे स्पष्ट है कि हेगल आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। वह हमारे सामने एक शुष्क दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत होता है। उसका यह दावा न्यायोचित नहीं प्रतीत होता है — 'सत्ता ही विचार (बोध) है और विचार (बोध) ही सत्ता है।' वास्तव में, जीवन और जगत् की व्याख्या नीरस तर्कजाल (तार्किक युक्तियों) के द्वारा नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार सत्ता केवल बौद्धिक या वैचारिक ही नहीं, बल्कि बुद्धि और विचार के अतिरिक्त भी कुछ है। अतिशय बौद्धिकता से ग्रस्त होने के कारण हेगल का दर्शन सहजबुद्धिपरक (Commonsense) व्यावहारिक आधार को खोकर काल्पनिक लोक की वस्तु मात्र रह जाता है। इस प्रकार हेगल की अव्यवहारिक दार्शनिक पद्धति स्वयं उसके दर्शन का ही निषेध कर देती है क्योंकि परमार्थ का साक्षात्कार बिना अपरोक्षानुभूति के असम्भव है। यहाँ तक कि नव्य हेगलवादी परम्परा के एक प्रमुख विचारक एफ. एच. ब्रैडले भी वैचारिक स्तर पर तत्त्व साक्षात्कार को असम्भव मानते हैं। हेगलके द्वारा प्रातिपादित समन्वयात्मक अनुभूति (संश्लेषणात्मक बुद्धि) हमारी सविकल्प बुद्धि की सर्वोच्च अनुभूति भले ही हो, तथापि इसे परम सत्ता या परमार्थ की अपरोक्षानुभूति नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में, हेगल के द्वारा कल्पित तत्त्व न तो परम सत्ता हो सकता है और न उसका अन्तर्विरोध (या समन्वयात्मक के अनुभूति) रहस्यात्मक स्वरूप से युक्त अपरोक्षानुभूति हो सकती है।

ब्रैडले ने हेगलीय द्वन्द्वन्याय को अस्वीकार करके उसकी इसकी मान्यता का खण्डन किया कि विचार (Thought) और सत्ता (Reality) अभिन्न हैं। ब्रैडले के अनुसार, हेगल के द्वारा मान्य विचार और सत्ता की अवधारणा दोषपूर्ण है। विचार विश्लेषणात्मक और सम्बन्धात्मक होने के कारण साक्षात्कारित्व से रहित होता है। अतः वैचारिक स्तर पर तत्त्व-साक्षात्कार असंभव है। तत्त्व-साक्षात्कार की अवस्था में विचार को आलस्य कर लेना पड़ता है। ब्रैडले की द्वन्द्वन्याय का लक्ष्य यह दिखाता है कि विचार की सभी कोटियाँ (द्रव्य-गुण, सम्बन्ध-गुण, मूलगुण-उपगुण आदि) अन्तर्विरोध ग्रस्त हैं। अतः उनके द्वारा ज्ञात

तत्त्व सत् नहीं बल्कि आभास है। यहाँ तक ब्रैडले की द्वन्द्वन्याय निषेधात्मक या ध्वंसात्मक है। इस दृष्टि से उसकी द्वन्द्वन्याय माध्यमिक बौद्धों को चतुष्टोकिन्याय के निकट है।

यहाँ पर ब्रैडले का मत हेगल से भिन्न है। हेगल विचार के द्वारा प्रस्तुत अन्तर्विरोधों को विचार के द्वारा ही दूर करने का प्रयास करता है। वस्तुतः ब्रैडले ने अपनी द्वन्द्वन्याय में काण्ट और हेगल के बीच का रास्ता अपनाया है। वह न तो काण्ट के समान अज्ञेयवादी है और न हेगल के समान सर्वज्ञेयवादी है। यद्यपि विचार निरपेक्ष सत् को उसकी समग्रता में नहीं जान सकता है, तथापि हमारे समक्ष उसकी एक झलक अवश्य प्रस्तुत कर सकता है। इस दृष्टि से उसकी द्वन्द्वन्याय विध्यात्मक भी है। जो वैचारिक दृष्टि से अन्तर्विरोध ग्रस्त है। वह आभास है। इससे परोक्षतः सिद्ध होता है कि जो वैचारिक दृष्टि से अन्तर्विरोधों से मुक्त (Non-contradictory) है वह सत् है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले हेगल की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट है। शंकराचार्य के समान ब्रैडले भी सैद्धान्तिक दृष्टि से अपरोक्षानुभूति को स्वीकार करता है। किन्तु ब्रैडले के दर्शन में जहाँ विचार (तर्कबुद्धि) नष्ट होकर अथवा आलस्य करके अपरोक्षानुभूति में रूपान्तरित हो जाता है, वहीं शंकराचार्य के दर्शन में बुद्धि को अपरोक्षानुभूति में पूर्णता प्राप्त होती है।¹

हेगल की द्वन्द्वन्याय में निषेध या विरोध को सभी प्रकार के परिवर्तन, विकास और क्रान्तियों का आधार माना गया है। किन्तु सम्पूर्ण विश्व की विभिन्न संस्कृतियों और समाजों के सन्दर्भ में यह मान्यता सही नहीं है। वास्तव में मानव-जीवन की सामाजिक और राजनीतिक संरचना का आधार सदैव विरोध, निषेध एवं दमन को मानना अनिवार्य नहीं है। पक्ष (Thesis) और विपक्ष (Antithesis) भले ही अपूर्ण हों, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वे परस्पर विरोधी ही हों। चूँकि पक्ष और विपक्ष परस्पर अपूर्ण हैं, इसलिए उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता है। पक्ष एवं विपक्ष की अपूर्णता से तर्कतः यह निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता कि वे परस्पर विरोधी हैं। अपूर्णता के प्रत्यय से यह सिद्ध होता है कि वे परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। अतः त्रिक-नियम पर आधारित हेगलीय द्वन्द्वन्याय दोषपूर्ण है। वस्तुतः हेगल-दर्शन के विरुद्ध कटु प्रतिक्रिया हेगल के समय में ही व्यक्त की जाने लगी थी। शोपेनहावर ने हेगल के बारे में कहा था — “विशुद्ध रूप से अविवेक ग्रस्त, निरर्थक और व्यर्थ शब्द-जाल में उलझे रहने का जो दुस्साहस भले पागलखानों में देखा जाता था, (वह) हेगल के दर्शन में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसका ऐसा परिणाम निकला जो भावी पीढ़ियों को मिथ्या प्रतीत होगा और यह जर्मनी के अज्ञान का स्मारक (स्मृति-चिन्ह) बनकर रहेगा।”²

किन्तु हेगल के विरुद्ध शोपेनहावर की यह प्रतिक्रिया अतिशयोक्तिपूर्ण है। यद्यपि हेगल की द्वन्द्वन्याय की प्रणाली दोषग्रस्त है, फिर भी उसने वैचारिक जगत् को एक नयी दिशा प्रदान किया। इस विधि ने अधिकांश विचारकों को अपनी ओर आकर्षित किया। क्योंकि इसमें बुद्धिवाद के अमूर्तिकरण और अन्तः प्रज्ञावाद एवं रहस्यवाद की सरल कल्पनाओं का अभाव है। किन्तु उसकी त्रुटिपूर्ण द्वन्द्वन्याय को स्वयं हेगल के अनुयायियों ने भी स्वीकार नहीं किया।

1 “In Bradley reason is perisheth in intuition (Where as) in sahnkara it is perfected therein. Intution is not a different faculty, but reasnomy itself in its highest perfection.” An Idealist View of Life. S. Radha Krishanan. p. 146.

2 Quoted by will Durant in ‘the Story of Philosophy, p. 292.

हाँ यह अवश्य है कि त्रुटिपूर्ण होते हुए भी उसकी द्वन्द्वन्याय ने यूरोप के वैचारिक जगत् में महान क्रान्ति को जन्म दिया। आज के वैज्ञानिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व का संचालन अपरिवर्तनशील नियमों से नहीं, बल्कि निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील नियमों के अनुसार ही समझा जा सकता है। उसने विकास वादी प्रक्रिया से प्रगति के विचार पर बल देते हुए इस मान्यता को स्थापित किया कि किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को उसके विरोधी स्वरूप से तुलना करके ही सम्यक् रूप से जाना जा सकता है। महान विचारक कार्ल मार्क्स ने उसके द्वन्द्वन्याय का अनुसरण करते हुए संशोधित रूप में उसे अपनाया। किन्तु उसने हेगल के आध्यात्मवाद के विपरीत द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और समाजवादी विचारधारा का प्रवर्तन किया।

मार्क्स के अनुसार इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया भौतिक और आर्थिक है। विकास का अन्तिम लक्ष्य वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना है। इस प्रकार मार्क्स हेगल का एक कृतघ्न शिष्य सिद्ध हुआ। उसने हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि ऐतिहासिक विकास के क्रम में जो कभी तर्कसंगत एवं विवेकपूर्ण होता है, वही अन्य अवसरों पर अविवेकपूर्ण हो जाता है।

हेगल ने यह सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया कि विश्व का सांस्कृतिक इतिहास मानव-सम्भ्यता और समाज के निरन्तर विकास की प्रक्रिया का इतिहास है। विकास सदैव उच्चतर सोपानों और प्रगति की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार विकास का स्वरूप क्षैतिजिक नहीं, बल्कि लम्बवत् (Vertical) होता है। हेगल के ये विचार मानव सम्भ्यता एवं सांस्कृतिक जीवन के लिए उत्साहवर्धक रहे हैं।

मेकियावेली के विरुद्ध उसने मान्यता स्थापित किया कि राजनीति और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हेगल के अनुसार राज्य सर्वोच्च नैतिकता का प्रतीक है। अतः राजनीति नैतिकता का ही दूसरा नाम है। उसके दर्शन में नीतिशास्त्र के बाद राजनीतिशास्त्र के विकास को स्वीकार किया गया है। उसका यह सिद्धान्त आज भी कम मूल्यवान् नहीं है कि राज्य-व्यवस्था की स्थिरता के लिए पुलिस-बल की अपेक्षा मनुष्य का उच्चस्तरीय नैतिक विकास अधिक महत्वपूर्ण होता है। उसके विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि उसने व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर चढ़ा दिया। उसने सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थन करके राष्ट्रीय और जातीय दम्भ और अहंकार को अनुचित रूप से प्रोत्साहित किया। कुछ आलोचकों ने उसके राज्य-दर्शन को जर्मन की नाजीवादी और इटली की फासीवादी विचारधारा का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत माना है। किन्तु ये आलोचनाएं कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और हेगल के दर्शन के साथ न्याय नहीं करती हैं। उसने व्यक्ति और राज्य के अंगगमिभाव सम्बन्ध या जैविक सम्बन्ध (Organic Relation) पर बल दिया। उसके राज्य-दर्शन का निहितार्थ यह है कि व्यक्ति और राज्य में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए। व्यक्ति राज्य में रहकर ही आत्मकल्याण प्राप्त कर सकता है। वास्तव में हिटलर और मुसोलिनी के समर्थक (उस समय के) कुछ बुद्धिजीवियों ने हेगल के सिद्धान्तों की व्याख्या अपने स्वार्थ के अनुकूल करने का प्रयास किया। किन्तु हेगल के राज्य-दर्शन में कुछ ऐसी मान्यताएं अवश्य हैं, जिनसे प्रभावित होकर नाजीवादी और फासीवादी विचारधाराओं का उद्भयन हुआ। यहाँ तक कि जर्मन राजनीतिज्ञ और राष्ट्रवादी नेता बिस्मार्क हेगल से बहुत प्रभावित था।

हेगल के बाद पाश्चात्य दर्शन की प्रायः सभी विचारधाराएँ उसके दर्शन से प्रभावित रही हैं। यद्यपि इंग्लैण्ड की दार्शनिक प्रवृत्ति अनुभववादी एवं वस्तुवादी रही है, तथापि हेगल के प्रभाव से वहाँ टी.एच. ग्रीन, बोसांके एफ. एच. ब्रैडले आदि की प्रत्ययवादी विचारधारा विकसित हुई। हेगल अपने युग (उन्नीसवीं शताब्दी) का इतना महान विचारक हैं कि उसके विरोधी भी उसके दार्शनिक चिन्तन की उपेक्षा न कर सके। यहाँ तक कि रसल जैसा विचारक भी अपने दार्शनिक जीवन के प्रारम्भ में हेगल से प्रभावित था। हेगल को अपने दार्शनिक चिन्तन पर इतना दृढ़ आत्मविश्वास एवं गर्व था कि वह स्वयं को विश्व का सबसे महान दार्शनिक मानता था। उसकी मान्यता यहाँ तक थी कि अन्तिम दार्शनिक विचारधारा आने वाले सभी दार्शनिक मतों का सर्वोत्कृष्ट रूप होती है। अतः इस क्रम में हेगल का दर्शन ही अन्तिम सत्य हो सकता है। उसके कुछ समर्थकों ने यहाँ तक मान लिया कि अब दार्शनिक चिन्तन का आदर्श प्रतिमान (नमूना) प्राप्त हो चुका है। किन्तु स्वयं हेगल के अनुयायियों में उसके दार्शनिक चिन्तन को लेकर मतभेद हो गया। हेगल के दर्शन को विध्यात्मक रूप में ग्रहण करने वाले दार्शनिकों में ब्रैडले, बोसांके, मैक्टागार्ट, स्टर्लिंग, जोसिया रायस, जेन्टिले, क्रॉचे आदि प्रमुख हैं।

उसके दार्शनिक चिन्तन का रचनात्मक प्रभाव अधिक है। उसके दर्शन से प्रभावित इतिहासकारों से अर्डमन, कूनोफिशर, विण्डिलवैण्ड आदि प्रमुख हैं। यहाँ तक कि समसामयिक दर्शन में भी हेगल का प्रभाव शून्य नहीं हुआ। सैमुअल अलेक्जेन्डर, ए. एन. ह्याइटहेड, जान डिवी आदि ने हेगल के अनेक सुझावों को किसी न किसी रूप में अपने दर्शन में स्वीकार किया है। समकालीन पाश्चात्य चिन्तन के विकास में भी हेगल-दर्शन का निपेधात्मक प्रभाव रहा है।

किन्तु हेगल के दर्शन की न केवल कटु आलोचना की गयी, बल्कि फासीवादी और नाजीवादी राजनीतिक दर्शन के आधार के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उसकी उपेक्षा और निन्दा की जाने लगी। बीसवीं शताब्दी की प्रायः सभी विचारधाराओं ने हेगल-दर्शन पर प्रहार किया। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववाद, उत्कट अनुभववाद (विलियम जेम्स) वर्गसों का प्राणवाद (Elan Vitalism) आदि उल्लेखनीय हैं। इससे स्पष्ट है कि हेगल के दर्शन की उसके बाद के दर्शनों पर अमिट छाप है। उसके दर्शन के समर्थक और विरोधी कोई भी उसकी उपेक्षा न कर सके। यह उसके दार्शनिक चिन्तन के महत्व का जीवन्त प्रमाण है।

ब्रिटिश प्रत्ययवाद और ब्रैडले

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल में इंग्लैण्ड में अनुभववाद, विकासवाद, जड़वाद आदि विचारधाराओं का प्रचलन हो चुका था। ये विचारधाराएँ सैद्धान्तिक दृष्टि से आध्यात्मवाद के विरुद्ध थीं। इस अवधि में प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के अनुसंधानों से नये-नये तथ्य प्रकाशित हो रहे थे, जो धार्मिक आस्था के विरुद्ध थे। इसके फलस्वरूप धार्मिक मान्यताओं एवं आध्यात्मवाद के समक्ष गंभीर संकट उत्पन्न हो गया था। अनेक साहित्यकार और तत्त्व-चिंतक अपने-अपने ढंग से आध्यात्मवाद का समर्थन कर रहे थे। एस. टी. कालरिज और कार्लाइल जैसे साहित्य-प्रेमियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में आध्यात्मवाद का समर्थन किया, किन्तु साहित्य की अपनी एक मर्यादा होती है। विचारधारा के स्तर पर जड़वाद का प्रबल विरोध केवल साहित्य के माध्यम से संभव न था। इस कारण से दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर प्रत्ययवादी विचारधारा को नया आयाम देने का प्रयास किया गया। चूँकि हेगल का दर्शन जड़वाद के विरुद्ध था, इसलिए उसका उपयोग आध्यात्मवादी मान्यताओं को स्थापित करने के लिए किया गया। इसकी चरम परिणति नव्य-हेगलवाद के रूप में हुई।

नव्य-हेगलवाद की प्रत्ययवादी परम्परा का प्रारम्भ जे. एच. स्टर्लिंग की प्रसिद्ध रचना 'दि सेक्रेट ऑफ हेगल' (The Secret of Hegel) से माना जा सकता है। स्टर्लिंग के अनुसार हेगल के समस्त दार्शनिक चिन्तन का मूलाधार काण्ट का दर्शन है। किन्तु विडम्बना यह है कि हेगल ने काण्ट के इस ऋण को स्वीकार नहीं किया। स्टर्लिंग ने हेगल की उपमा अरस्तू से दी है। आधुनिक युग में हेगल के दर्शन का वही स्थान है जो प्राचीन ग्रीक दर्शन में अरस्तू का था। स्टर्लिंग के पूर्वोक्त ग्रंथ के प्रकाशन के बाद हेगल के दर्शन का पर्याप्त अनुशीलन प्रारंभ हो गया। स्टर्लिंग के अतिरिक्त एडवर्ड केयर्ड ने भी हेगल की प्रत्ययवादी परंपरा के प्रचार-प्रसार एवं समुन्नयन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। किन्तु केयर्ड ने स्टर्लिंग की इस मान्यता को उलट दिया कि 'हेगल का रहस्य काण्ट है।' केयर्ड के अनुसार 'काण्ट का रहस्य हेगल है।' काण्ट के दर्शन का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए हेगल के दर्शन को भली-भाँति समझना आवश्यक है क्योंकि काण्ट की दार्शनिक मान्यताओं को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि हेगल के दर्शन का ज्ञान न हो। काण्ट को भले ही अज्ञेयवादी कहा जाए, परन्तु उसने समस्त ज्ञान एवं अनुभव की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में विशुद्ध ज्ञाता (समाकल्पन की संश्लेषणात्मक एकता) को अपने दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। इस दृष्टि से काण्ट के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य समस्त ज्ञान एवं अनुभूति की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में विशुद्ध ज्ञाता की संश्लेषणात्मक एकता का प्रतिपादन करना है। काण्ट की भूल यह है कि वह इस निरपेक्ष आत्मा को अपने दर्शन का अंतिम निष्कर्ष नहीं मानता है। वह अनावश्यक विचारों में उलझ जाता है।

यही कारण है कि उसके लक्ष्य और उपलब्धि में अंतर है। वस्तुतः काण्ट के दर्शन की दिशा अद्वैतोन्मुख है, किन्तु उसका निष्कर्ष द्वैतवादी है। अतः काण्ट के दार्शनिक रहस्य को हेगल की दार्शनिक विचारधारा का अनुशीलन करने पर ही समझा जा सकता है। यद्यपि केयर्ड ने काण्ट की तुलना में हेगल को अधिक महत्त्व दिया, तथापि उसके मतव्य से स्पष्ट है कि हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रेरणा स्रोत काण्ट के द्वारा प्रतिपादित आत्मा की संश्लेषणात्मक एकता है। केयर्ड के इस विचार से भी यह सिद्ध होता है कि हेगल को काण्ट का ऋणी कहना अधिक युक्ति संगत है।

हेगल की प्रत्ययवादी परंपरा के प्रभाव से जर्मनी के साथ-साथ इंग्लैंड, इटली, अमेरिका आदि देशों में प्रत्ययवादी विचारधारा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। इंग्लैंड के प्रत्ययवादी दार्शनिकों में एडवर्ड केयर्ड (1835-1908), टी. एच. ग्रीन (1836-1882), एफ. एच. ब्रैडले (1846-1924), बर्नार्ड बोसॉके (1848-1923), जे. एम. ई. मैक्टागर्ट (1866-1925) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नव्य-हेगलवाद की चरम परिणति ब्रैडले के 'निरपेक्षतावाद' (Absolutism) में हुई। निरपेक्ष प्रत्ययवाद आंग्ल-दर्शन के लिए एक सर्वथा नवीन दार्शनिक चिन्तन का शुभारम्भ था। इसके फलस्वरूप इंग्लैंड की परंपरागत अनुभववादी विचारधारा कुछ दिनों के लिए हतोत्साहित हुई। इससे स्पष्ट है कि नव्य-हेगलवाद से प्रभावित प्रत्ययवादी चिन्तन इंग्लैंड की एक नूतन दार्शनिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इसने आंग्ल दर्शन को एक नयी दिशा दी। वस्तुतः प्रत्ययवाद आंग्ल दर्शन के लिए एक विदेशी विचारधारा थी। यही कारण है कि यह विचारधारा इंग्लैंड की दार्शनिक परम्परा में बहुत दिनों तक जीवन्त न रह सकी। प्रत्ययवाद इंग्लैंड के वैचारिक जीवन में आत्मसात् न हो सका। वास्तव में ब्रिटिश-दर्शन के अंतर्गत निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रारंभ हेगलीय विचारधारा (जर्मन प्रत्ययवाद) के व्यापक प्रभाव का द्योतक है। इसके पूर्व इंग्लैंड में निरपेक्ष प्रत्ययवाद की कोई दार्शनिक विरासत नहीं मिलती है।¹

नव्य-हेगलवाद के प्रतिनिधि दार्शनिकों में ग्रीन एवं ब्रैडले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे निरपेक्ष प्रत्ययवाद के प्रमुख समर्थक हैं। निरपेक्षतावाद के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय, चेतना और प्रकृति परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें से कोई भी अपने आप में निरपेक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु इन दोनों का मूल आधार एक निरपेक्ष सत्ता है। यह मान्यता ही हेगल के दर्शन का सारतत्त्व है। ग्रीन, ब्रैडले, बोसॉके आदि दार्शनिक अपने-अपने दर्शन की विशिष्टताओं के बावजूद एक अन्तर्व्याप्त निरपेक्ष सत्ता को मानते हैं। वे जगत् का मूल आधार चेतन सत्ता को मानते हैं। इस प्रकार सभी प्रत्ययवादी दार्शनिक परमतत्त्व की व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टि से करते हैं। यहाँ तक कि मूल्यमीमांसीय दृष्टि से भी चेतना के अस्तित्व को आवश्यक माना गया है, क्योंकि हमें मूल्यों का बोध चेतना एवं रचनात्मक कल्पना से ही हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्ययवाद के अनुसार चेतना ही मानव-समाज, संस्कृति एवं समस्त मूल्य-व्यवस्था (Value-System) का प्रमुख आधार है। इस प्रकार नव्य-हेगलवाद केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि उसके साथ-साथ यह एक महत्त्वपूर्ण जीवन-पद्धति भी है। इस दृष्टि से मूल्य-व्यवस्था अस्थायी,

तदर्थ एवं काम चलाऊ नहीं होती है, वल्कि यह एक निरपेक्ष चेतन सत्ता पर आधारित एवं उसके द्वारा नियमित है। निरपेक्ष तत्त्व ही सत्यं, शिवं और सुन्दरं का शाश्वत आधार है।

केयर्ड ने हेगल के प्रत्ययवाद का सहारा लेकर अज्ञेयवाद, संशयवाद और रहस्यवाद का खंडन किया। हेगलीय बुद्धिवाद से प्रभावित होकर उसने धार्मिक चेतना को भी बौद्धिक मान लिया। कोई धर्म अपने उद्भव की प्रारंभिक अवस्था में भले ही भावना प्रधान हो, परन्तु उसके परिपक्व हो जाने पर यह स्वतः बौद्धिक दृष्टि से युक्त हो जाता है। केयर्ड के दर्शन की एक प्रमुख उपलब्धि धर्म एवं विज्ञान का समन्वय है। हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का सहारा लेकर उसने कहा कि विज्ञान और धर्म का विरोध अंतिम नहीं है। ईश्वराश्रित धर्म विज्ञान के नियमों को स्वीकार कर सकता है। वस्तुतः वैज्ञानिक नियमों (प्राकृतिक नियमों) के द्वारा ही ईश्वर अपने को प्रकट करता है। अतः ईश्वर इस सृष्टि से परे कोई अलग सत्ता नहीं है। विज्ञान और धर्म के इस समन्वय के फलस्वरूप केयर्ड रहस्यवाद और चमत्कारवाद का निराकरण करता है।

इंग्लैण्ड के प्रत्ययवादी विचारकों में थॉमस हिल ग्रीन (1836-1882) महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रीन ने इंग्लैण्ड में प्रचलित अनुभववादी दार्शनिक प्रवृत्ति एवं उस पर आधारित प्रकृतिवादी एवं विकासवादी विचारधारा का खण्डन किया। ग्रीन के समय में जे. एस. मिल (1806-1873) के अनुभववाद का महत्त्व बढ़ रहा था। अनुभववाद धर्म विरोधी प्रवृत्ति का मूल आधार है। यद्यपि ग्रीन ह्यूमी अनुभववाद का कटु आलोचक है, तथापि उसने ह्यूमी अनुभववाद को दार्शनिक चिन्तन के विकास का एक प्रमुख स्तम्भ कहकर उसकी प्रशंसा की है। ग्रीन के अनुसार ह्यूम ने केवल दार्शनिक प्रश्नों को उठाया है, परन्तु वह उनका कोई तार्किक समाधान प्रस्तुत न कर सका। ह्यूम के द्वारा उठाए गए तार्किक प्रश्नों का समुचित उत्तर काण्ट और हेगल के दर्शन में मिलता है। किन्तु यदि ह्यूम ने दार्शनिक प्रश्नों को न उठाया होता तो शायद दर्शन के क्षेत्र में उनका समाधान खोजने की आवश्यकता ही न समझी जाती। इस दृष्टि से ह्यूम का दर्शन सराहनीय है। ह्यूम के द्वारा उठाई गई दार्शनिक समस्याओं का कोई समाधान ह्यूम के परवर्ती अनुभववादी न दे सके। ग्रीन के अनुसार ह्यूम के द्वारा उठाए गए दार्शनिक प्रश्नों का समाधान काण्ट के दर्शन में मिलता है। कुछ आलोचकों के अनुसार ग्रीन का दर्शन हेगल की अपेक्षा काण्ट के अधिक निकट है। यद्यपि ग्रीन ने ह्यूमी अनुभववाद का निराकरण करने के लिए काण्ट के दर्शन का सहारा लिया है, तथापि उसका प्रत्ययवाद हेगलीय विचारधारा से प्रभावित है। उसका दार्शनिक चिन्तन केवल काण्ट की ज्ञानमीमांसा तक ही सीमित नहीं है। उसने काण्ट के अज्ञेयवाद का निराकरण करके आध्यात्मवाद की स्थापना किया। वस्तुतः नव्य-हेगलवादी विचारधारा के संस्थापकों में ग्रीन एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। उनके प्रभाव से कई दशकों तक प्रत्ययवाद ब्रिटिश दर्शन की एक प्रमुख विचारधारा के रूप में लोकप्रिय रहा।

ग्रीन ने ह्यूम के मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद का खण्डन किया है। उसके अनुसार चेतना ही वह माध्यम है जिसके अन्तर्गत हमारे लिए सम्बन्धों की सत्ता है। चेतना के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है। संवेदनाओं के अस्तित्व और ज्ञान दोनों के लिए संबंध आवश्यक हैं। सम्बन्धों के अभाव में ज्ञान असंभव है। वस्तुतः किसी वस्तु की व्याख्या उसका अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध के द्वारा ही की जा सकती है। सभी सम्बन्धों और निर्धारकों से रहित वस्तु कुछ नहीं है। ह्यूम की भूल यह है कि उसने अनुभूतियों को परस्पर असम्बद्ध प्रत्ययों और संस्कारों का

अनुक्रम मान लिया है। ग्रीन के अनुसार किसी अनुक्रम के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तभी हो सकता है, जब उसके अन्तर्गत आने वाली संवेदनाएँ एक नित्य और स्थायी चेतना के विषय हों। संवेदनाओं का एकीकरण चेतना की संश्लेषणात्मक क्रिया का परिणाम है। इससे सिद्ध होता है कि किसी वस्तु की सार्थकता सम्बन्धों से युक्त होने में निहित है। इस प्रकार सम्बन्ध ही वस्तुनिष्ठता का निर्माता है। समस्त सम्बन्धों से रहित वस्तु के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। संवेदनाएँ और सम्बन्ध भिन्न प्रकार की कोटियाँ हैं। विभिन्न संवेदनाओं को एकता के सूत्र में अनुस्यूत करने वाली संश्लेषणात्मक एकता के अभाव में न तो संवेदनाओं की और न उनके सम्बन्धों की सार्थक कल्पना की जा सकती है। यह समन्वयात्मक एकता कोई चेतन शक्ति ही हो सकती है। ह्यूम की अनुभववादी मान्यताओं का निराकरण करने में वह काण्ट की ज्ञानमीमांसा से विशेष रूप से प्रभावित है। ग्रीन के अनुसार आत्मा सभी सम्बन्धों की प्रागपेक्षा होने के कारण उनसे (सभी सम्बन्धों से) भिन्न होता है। वह देश और काल से परे एक निरपेक्ष सत्ता है। संपूर्ण प्राकृतिक जगत् उस अनन्त और शाश्वत चैतन्य की देन है। ग्रीन के अनुसार संपूर्ण विश्व-व्यवस्था आध्यात्मिक है जो अनन्त एवं शाश्वत चैतन्य स्वरूप ईश्वर पर आश्रित है।

ग्रीन के दर्शन में नैतिक मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया गया है। उनका प्रमुख ग्रंथ 'नीतिशास्त्र का उपोद्घात' (Prolegomena to Ethics) इसकी पुष्टि करता है। जिस प्रकार ज्ञान के लिए संवेदनाओं से भिन्न एक समन्वयकारी आत्मा की अपेक्षा है, उसी प्रकार नैतिक जीवन के लिए विभिन्न प्रवृत्तियों एवं वासनाओं से भिन्न एक संकल्पयुक्त कर्त्ता (आत्मा) की आवश्यकता है। समन्वयात्मक आत्मा के समान यह संकल्पकर्त्ता भी अति-प्राकृतिक है। आत्मा के दो रूप हैं, जिन्हें क्रमशः आध्यात्मिक एवं जैविक (मानवीय) रूप कहा जा सकता है। मनुष्य के जीवन का परम श्रेय सर्वगत कल्याण (Common Good) है। मनुष्य को अपने अंतिम लक्ष्य, अर्थात् आदर्श एवं मूल्यवान् स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। यही पूर्णत्व की अवस्था है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का कर्त्तव्य पूर्णत्व को प्राप्त करना है। चूँकि सभी मनुष्य एक आध्यात्मिक व्यवस्था के अंग हैं, इसलिए वे सब समान हैं। कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों को साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं कर सकता है। मानवता को सदैव साध्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए, साधन के रूप में नहीं। इससे स्पष्ट है कि ग्रीन का नैतिक सिद्धान्त पूर्णतावादी होते हुए भी काण्ट के नीतिशास्त्र से प्रभावित है। वह सुखवादी, उपयोगितावादी और विकासवादी नीतिशास्त्र का खण्डन करके पूर्णतावादी एवं सर्वकल्याणवादी नीतिशास्त्र की स्थापना करता है। ग्रीन के अनुसार नैतिक आदर्श की प्राप्ति कभी भी एकाकी (Alone) एवं समाज-निरपेक्ष जीवन में नहीं हो सकती है। मनुष्य नैतिक आदर्श की प्राप्ति सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का अंग बनकर ही कर सकता है। वास्तव में, ग्रीन प्रत्ययवाद के आधार पर ही संपूर्ण जीवन मूल्यों एवं ज्ञानमीमांसा की व्याख्या करने का प्रयास करता है।

ग्रीन के अनुसार काण्ट के द्वारा पारमार्थिक स्वलक्षणों को संवेदनाओं का कारण मानना ठीक नहीं है। जो संवेदनाओं का कारण है, उसे अज्ञेय कैसे कहा जा सकता है? चूँकि कारणता केवल व्यावहारिक जगत् के अंतर्गत एक सम्बन्ध है, इसलिए उसे पारमार्थिक स्वलक्षणों पर आरोपित करना ठीक नहीं है। यदि पारमार्थिक स्वलक्षणों को अज्ञेय माना जाय तो उसे संवेदनाओं का कारण नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, काण्ट के अज्ञेयवाद की विसंगति

का कारण स्वलक्षण वस्तुओं को संवेदनों का स्रोत मानना है। किन्तु अनेक आलोचकों ने ग्रीन के दर्शन पर यह आरोप लगाया है कि उसने सम्बन्धों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया। इसके फलस्वरूप संपूर्ण विश्व सम्बन्धों की राशि में विगलित हो जाता है। किन्तु यह जगत् केवल सम्बन्धात्मक ही नहीं है, बल्कि उसके अतिरिक्त कुछ और भी है। जगत् के अंतर्गत कुछ विशिष्ट इकाइयाँ भी हैं। वह पदों और सम्बन्धों की सापेक्षता की उपेक्षा करता है। उसके अनुसार अनुभवातीत इकाई इस विश्व की संरचना सम्बन्धों के आधार पर करती है। वस्तुतः ग्रीन ज्ञान के उपादानों को यथोचित महत्त्व न दे सका। इस संदर्भ में कनिंघम ने काण्ट के द्वारा ज्ञान के उपादानों की पृथक् सत्ता को स्वीकार किये जाने के कारण उसकी (काण्ट की) प्रशंसा की है। वस्तुतः ग्रीन अनुभव-निरपेक्ष आकार एवं अनुभव-सापेक्ष उपादानों के भेद को स्वीकार नहीं करता है। इससे स्पष्ट है कि वह ज्ञान के अनुभव-सापेक्ष तत्त्वों की उपेक्षा करके उन्हें प्रागनुभविक तत्त्वों पर पूर्णतया आश्रित बना देता है। यह सच है कि अनुभूतियों की सार्थकता के लिए एक अतीन्द्रिय नियम आवश्यक है, परन्तु यह नियम स्वतः विश्व का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। ग्रीन की भूल यह है कि उसने उपादानों की उपेक्षा करके मात्र आकार को ही सर्वस्व मान लिया। वस्तुतः हेगलवादी आलोचक ग्रीन के दर्शन की समीक्षा हेगल के गतिशील प्रत्ययवाद और मूर्त सामान्य के आधार पर करते हैं। हीरालाल हालदार के अनुसार ग्रीन का परमतत्त्व कालातीत और स्थिर है। वास्तव में, निरपेक्ष सत्ता विविधताओं को एकता के सूत्र में बाँधने के साथ-साथ उनके माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त भी करती है।¹ किन्तु नव्य-हेगलवादी आलोचकों के द्वारा की गई ग्रीन के दर्शन की यह आलोचना अतिशयोक्तिपूर्ण है। निरपेक्ष सत्ता को विविधताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास करना एक प्रकार से आनुभविक कोटियों के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करने की भूल है। गति और स्थिरता दोनों ही बौद्धिक कोटियाँ हैं। अतः परस्पर सापेक्ष होने के कारण वे दोनों (गति और स्थिरता) निरपेक्ष तत्त्व के स्वरूप का बोध कराने में असमर्थ हैं। ग्रीन के दर्शन में परमात्मा (ईश्वर) और मानवात्मा के सम्बन्ध की समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं मिलता है। यदि मानवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद नहीं है तो दोनों में सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यदि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् मान लिया जाय तो परमात्मा, अर्थात् ईश्वर जीवात्मा से सीमित हो जाता है। इसके फलस्वरूप ईश्वर को अनंत और सार्वभौम नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि इस समस्या के संदर्भ में ग्रीन यह कहता है कि मानवात्मा परमात्मा के अंतर्गत सहभागी है, तथापि यह उत्तर भी संतोषजनक नहीं है। यह कहा जा सकता है कि परमात्मा ने स्वयं को शरीर की सीमाओं में बाँध दिया है, जिसके फलस्वरूप मानवात्मा की उत्पत्ति हुई है। किन्तु समस्या यह है कि परमात्मा ने स्वयं को मानवात्मा के रूप में सीमित क्यों कर लिया? ग्रीन इस प्रश्न का कोई युक्तिसंगत उत्तर न देकर ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध की समस्या को रहस्यात्मक बना देता है। ग्रीन के दार्शनिक चिन्तन की समाप्ति के बाद ब्रिटिश प्रत्ययवाद की दिशा में एक परिवर्तन आता है। इस संदर्भ में ब्रैडले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि ब्रैडले हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद से बहुत प्रभावित हैं, तथापि वे स्वयं को हेगल का अनुयायी नहीं मानते हैं। उन्होंने अपने दार्शनिक चिन्तन में हेगलीय द्वन्द्व-न्याय का प्रयोग नहीं किया। केयर्ड और ग्रीन के विपरीत, ब्रैडले जर्मन दार्शनिक काण्ट की दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख नहीं करता है।

एफ० एच० ब्रैडले (F.H. Bradley : 1846-1924)

फ्रांसिस हरवर्ट ब्रैडले अपने समय में इंग्लैण्ड के सबसे महान निरपेक्ष प्रत्ययवादी दार्शनिक माने जाते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा ऑक्सफोर्ड में हुई थी। मैट्रान कॉलेज में ब्रैडले को एक फेलोशिप प्रदान की गई, जिसके फलस्वरूप उन्हें दार्शनिक चिन्तन के लिए पर्याप्त समय मिल गया। ब्रिटिश प्रत्ययवादियों में उनका नाम अग्रगण्य है। वे टी. एच. ग्रीन से विशेष रूप से प्रभावित प्रतीत होते हैं। ब्रैडले के द्वारा विरचित ग्रंथ 'इथिकल स्टडीज' (Ethical Studies) अर्थात् 'नीतिशास्त्रीय अध्ययन' अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ब्रैडले ने इस ग्रंथ में उपयोगितावाद की सारगर्भित आलोचना की है। उसके तर्कशास्त्र में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा एवं परमाणविक संवेदनों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी निराकरण किया गया है। उल्लेखनीय है कि ब्रैडले आजीवन अविवाहित और अस्वस्थ होते हुए भी संगीत, व्यायाम और धार्मिक प्रवृत्तियों से युक्त सरस जीवन व्यतीत करते रहे। ब्रैडले की गणना विश्व के महान तत्त्वमीमांसकों में की जाती है। उनके लिए तत्त्वमीमांसीय लेखन एक धार्मिक साधना है। उन्होंने हेगलीय प्रत्ययवाद को एक नया आयाम देने का प्रयास किया। यद्यपि वे हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद की प्रशंसा करते हैं, तथापि वे स्वयं को हेगल का अनुयायी नहीं मानते हैं। उन्होंने काण्ट के दर्शन की भी कोई विशेष चर्चा नहीं की है। हम देख चुके हैं कि केयर्ड और ग्रीन काण्ट से प्रभावित होकर अपने दर्शन की स्थापना करते हैं। इन विचारकों ने हेगलीय विचारधारा को काण्ट के द्वैतवाद का परिणाम माना है। इसके विपरीत ब्रैडले ने काण्ट और हेगल के मत से हटकर अपने दार्शनिक चिन्तन को विकसित किया। उनकी रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'आभास और सत्' (Appearance and Reality) का प्रकाशन 1893 ई० में हुआ। इसके अतिरिक्त 'तर्कशास्त्र का सिद्धान्त' (Principles of Logic), 'सत्य और सत् पर निबन्ध' (Essays on Truth and Reality) इत्यादि उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

ब्रैडले के अनुसार तर्कशास्त्र के तीन प्रमुख नियम हैं, जिन्हें क्रमशः अभेद-नियम, व्याघात-नियम और मध्यम परिहार का नियम कहा जाता है। उसके अनुसार ये तीनों नियम केवल आकारिक ही नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ भी हैं। वह परंपरागत आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) की आलोचना करता है। ब्रैडले एक महान् तत्त्वमीमांसक हैं। उन्होंने प्रत्ययवाद और बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रचलित तत्त्वमीमांसा विरोधी युक्तियों का निराकरण किया है। उसके अनुसार तत्त्वमीमांसा आभासों से पृथक् रूप में निरपेक्ष सत्ता को समझने की चेष्टा है। दूसरे शब्दों में, दर्शनशास्त्र तत्त्वबोध का प्रयत्न है। इसे प्राथमिक सिद्धान्तों या अंतिम सत्यों का अध्ययन भी कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत सृष्टि का निरूपण खण्डों में नहीं, बल्कि उसे समग्र रूप में जानने का प्रयत्न किया जाता है।¹

यद्यपि ब्रैडले सर्वज्ञेयवादी नहीं है, तथापि वह तत्त्वज्ञान को असंभव नहीं मानता है। उसके अनुसार यह कहना कि 'तत्त्व' ज्ञान से परे है, आलोचकों को तत्त्वमीमांसक बना देता है।

¹ We may agree, perhaps, to understand metaphysics as an attempt to know reality as against mere appearance or the study of first principles or ultimate truths, or again the effort to comprehend the universe not simply piecemeal or by fragments, but somehow as a whole. Appearance and Reality, Introduction, p. 1.

यह कहना कि हम निरपेक्ष तत्त्व को नहीं जान सकते हैं, एक प्रकार से निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता को स्वीकार कर लेना है। यहाँ पर ब्रैडले के कथन का निहितार्थ यह है कि जो विचारक यह दावा करते हैं कि परमतत्त्व को नहीं जाना जा सकता है, वे कम से कम परमतत्त्व की सत्ता को अवश्य स्वीकार कर लेते हैं। अतः कोई भी विचारक तत्त्वज्ञान का निराकरण नहीं कर सकता है। ब्रैडले के अनुसार तत्त्वज्ञान चाहे संभव हो अथवा असंभव हो, चाहे उपयोगी हो अथवा अनुपयोगी हो, परन्तु एक बौद्धिक प्राणी इससे बच नहीं सकता है। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन एवं जिज्ञासा मनुष्य के लिए अपरिहार्य होती है। यह मनुष्य की एक नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रवृत्ति है। वास्तव में मानव अपूर्ण एवं सीमित होता है। किन्तु वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए प्राकृतिक रूप से बाध्य होता है। ब्रैडले कहता है कि प्रत्येक सीमित इकाई में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की एक अदम्य इच्छा (Nisus for whole) पायी जाती है। अतः वह अपने से परे तात्त्विक सत्ता के स्वरूप पर चिन्तन करने के लिए स्वाभाविक रूप से बाध्य हो जाता है।

तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध एक आक्षेप यह है कि तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ प्राचीन काल से लेकर आज तक हल नहीं हो पायी हैं। ये समस्याएँ भविष्य में भी इसी प्रकार बनी रहेंगी, अर्थात् उनका कोई समुचित समाधान संभव न हो सकेगा। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वमीमांसीय चिन्तन के क्षेत्र में नवीनता का सर्वथा अभाव रहा है। प्राचीन काल में तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत ईश्वर, आत्मा एवं सृष्टि से सम्बन्धित जिन समस्याओं को उठाया गया, वे समस्याएँ आज भी दार्शनिकों के लिए बहस, विवाद एवं परिचर्चा के विषय बनी हुई हैं। अतः तत्त्वमीमांसीय चिन्तन में नवीनता का नितान्त अभाव रहा है।

ब्रैडले के अनुसार ये आक्षेप तत्त्वमीमांसीय समस्याओं की गलत समझ पर आधारित हैं। दर्शनशास्त्र के इतिहास का अवलोकन (मूल्यांकन) करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-चिन्तन एवं स्वभाव के परिवर्तन के साथ-साथ तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहता है। उसके परिणामस्वरूप तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ भले ही पुरानी हों, परन्तु उनके प्रति विभिन्न युगों में दार्शनिकों का दृष्टिकोण नवीन होता है। सच तो यह है कि प्राचीन समस्याओं के प्रति नवीन दृष्टि ही मानव-चिन्तन को मौलिकता प्रदान करती है। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन समाज, साहित्य, धर्म एवं विज्ञान के घात-प्रतिघात से प्रभावित होने के साथ-साथ उन्हें प्रभावित भी करता रहता है। इसलिए प्रत्येक युग में तत्त्वमीमांसीय समस्याएँ भिन्न-भिन्न एवं नवीन कलेवर तथा आयामों के साथ उपस्थित होती हैं। जिस प्रकार युगानुरूप नवीन काव्य (साहित्य) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समय-परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक संस्कृति के मार्ग-दर्शन हेतु लोगों को नवीन तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः यह कहना न्यायोचित नहीं है कि दार्शनिक चिन्तन के प्रारम्भ से लेकर आज तक तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के स्वरूप, उनके समाधान एवं इन समस्याओं के प्रति मानव-चिन्तन में कोई नवीनता नहीं पायी जाती है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के प्रति हमारे चिन्तन में नवीनता पायी जाती है। ब्रैडले का दावा है कि चुनाव अच्छी अथवा खराब, उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त तत्त्वमीमांसा के बीच में भले ही किया जाय, अर्थात् तत्त्वमीमांसा के स्वरूप, क्षेत्र एवं प्रामाण्य के बारे में भले ही विवाद हो, परन्तु तत्त्वमीमांसा की

असंभावना नहीं सिद्ध की जा सकती है। वर्तमान युग में तत्त्वमीमांसीय चिन्तन की दिशा क्या होनी चाहिए? किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा ग्राह्य है? इत्यादि प्रश्नों पर दार्शनिकों में मतभेद हो सकता है। हो सकता है कि कोई दार्शनिक किसी विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसा को न स्वीकार करता हो, परन्तु यह असंभव है कि वह किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा को न स्वीकार करे। वस्तुतः एक तत्त्वमीमांसा के निषेध में ही दूसरी तत्त्वमीमांसा निहित होती है। दूसरे शब्दों में, किसी तत्त्वमीमांसा का निराकरण एक दूसरी तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा रखता है। इसीलिए ब्रैडले कहता है कि, 'सत्ता ज्ञान से परे है,' इस कथन मात्र से तत्त्वमीमांसा का निषेध करने वाला विचारक तत्त्वमीमांसक बन जाता है।¹ संक्षेप में, ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा का निराकरण नहीं किया जा सकता है। ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा विचार के माध्यम से सत्ता के स्वरूप को जानने का प्रयास है। यद्यपि तत्त्व को जानने के अनेक मार्ग हैं, जैसे — संकल्प, भावना आदि। फिर भी तत्त्वमीमांसीय जिज्ञासा विचार के माध्यम से ही संतुष्ट हो सकती है। ब्रैडले विचार के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करता है। विचार के माध्यम से किया जाने वाला तत्त्वमीमांसीय चिन्तन हमें अनेक पूर्वाग्रहों से मुक्त करके स्वतंत्र अनुशीलन के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार ब्रैडले तत्त्वमीमांसा को अनेक आक्षेपों से सुरक्षित करने का प्रयास करता है। तत्त्वज्ञान के मूल में मनुष्य की यह सहज जिज्ञासा है कि जगत् के आधार के रूप में कौन सी सत्ता है? ब्रैडले के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा का विशद् विवेचन उसकी सुप्रसिद्ध रचना 'आभास और सत्' (Appearance and Reality) में किया गया है। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड आभास में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि बौद्धिक कोटियों के द्वारा निरपेक्ष सत् को उसकी समग्रता में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, बौद्धिक कोटियाँ तत्त्व को जानने में असमर्थ हैं। उनके द्वारा तात्त्विक चिन्तन करने पर मानव-बुद्धि ऐसे अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हो जाती है जिसका कोई समाधान उसके पास नहीं हो सकता है। जो अन्तर्विरोध से ग्रस्त है, वह आभास है। इससे स्पष्ट है कि निरपेक्ष सत् वह है जो स्वरूपतः अन्तर्विरोधों से रहित हो। अपने पूर्वोक्त ग्रंथ के प्रथम खण्ड में ब्रैडले ने मूलगुण और उपगुण, द्रव्य और गुण, सम्बन्ध और गुण, जीवात्मा का स्वरूप, देश और काल, कारणता, संवृत्तिवाद आदि के स्वरूप का तार्किक विश्लेषण किया है। इन कोटियों के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्पों पर विचार करने से प्रत्येक कोटि तार्किक अंतर्विरोध से ग्रस्त हो जाती है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कोटियों से सम्बन्धित विसंगतियों का उद्घाटन इस प्रकरण में किया गया है।

मूलगुण और उपगुण का निराकरण

भौतिकवादियों और लॉक जैसे वस्तुवादियों ने जगत् की वस्तुओं से सम्बन्धित दो गुणों का उल्लेख किया है। इनमें से मूलगुणों (Primary Qualities) को वस्तुनिष्ठ और उपगुणों (Secondary Qualities) को आत्मनिष्ठ कहा जाता है। मूलगुण भौतिक वस्तुओं के अनिवार्य लक्षण हैं, जो सदैव भौतिक पिण्डों के साथ-साथ पाये जाते हैं। जैसे — ठोसपन, विस्तार, आकृति आदि मूलगुणों के उदाहरण हैं। इसके विपरीत उपगुण द्रव्य के आकस्मिक लक्षण हैं, जो वस्तुओं में नहीं पाये जाते हैं। जैसे — रंग, गंध, स्वाद आदि उपगुणों के उदाहरण हैं।

1 He is a brother metaphysician with a rival theory of his own. (Appearance and Reality.)

मूलगुणों को दैशिक (Spatial) और शेष अन्य गुणों को उपगुण कहा जाता है। लॉक ने 'यथार्थ वस्तु' (Object as it is) और 'ज्ञात वस्तु' (Object as it is Known) में भेद किया है। वास्तव में यथार्थ वस्तु मूलगुण वाचक होती है। मूलगुणों का स्वरूप हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत उपगुण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर निर्भर होते हैं। वे एक प्रकार से ज्ञात गुण है। इस प्रकार मूल गुण वस्तुनिष्ठ (Objective) और उपगुण आत्मनिष्ठ (Subjective) होते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या उपगुण आत्मनिष्ठ हैं? ब्रैडले के अनुसार यद्यपि उपगुण एक परिस्थिति विशेष में ही ज्ञाता के समक्ष अभिव्यक्त होते हैं, तथापि इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि उपगुणों का उस परिस्थिति विशेष से पृथक् एवं स्वतंत्र रूप में अपना कोई अस्तित्व नहीं है। हम ऐसी वस्तुओं की कल्पना कर सकते हैं जिनकी प्रतीति हमें विशेष परिस्थिति में ही होती है, तथापि उसके आधार पर वस्तुओं के संवेद्य गुणों को आत्मनिष्ठ नहीं कहा जा सकता है। उपगुणों के संवेद्य स्वरूप के साथ-साथ उनका अपना एक असंवेद्य स्वरूप भी हो सकता है। यहाँ पर ब्रैडले यह सिद्ध करना चाहता है कि उपगुण केवल आत्मनिष्ठ ही नहीं हैं, वरन् वे वस्तुनिष्ठ भी हो सकते हैं। यह संभव है कि संवेद्य परिस्थितियों से स्वतंत्र रूप में रंग, स्वाद, गंध आदि उपगुणों का अपना कोई स्वत्व हो।

उपगुणों की वस्तुनिष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्रैडले उसमें अन्तर्विरोध की संभावना को व्यक्त करता है। उपगुणों का अपना एक परिस्थिति-निरपेक्ष स्वरूप भले ही हो, तथापि यह सच है कि वे एक परिस्थिति विशेष में ही जाने जा सकते हैं। अब एक समस्या यह है कि यदि उपगुणों का ज्ञान एक संवेद्य परिस्थिति में ही हो सकता है तो हम उपगुणों के परिस्थिति-विशेष से स्वतंत्र स्वरूप का समर्थन किस आधार पर कर सकते हैं? प्रश्न उठता है कि उपगुणों के संवेद्य परिस्थिति से स्वतंत्र और संवेद्य परिस्थिति-सापेक्ष स्वरूप में एकता कैसे स्थापित की जाय? दूसरे शब्दों में, यथार्थ वस्तु और ज्ञात वस्तु दोनों अभिन्न हैं, इसे तार्किक दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार तार्किक दृष्टि से उपगुणों को न तो आत्मनिष्ठ और न वस्तुनिष्ठ ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः उपगुणों के स्वरूप पर चिन्तन करने से मानव-बुद्धि वैचारिक अन्तर्विरोध से ग्रस्त हो जाती है। जो स्वरूपतः अंतर्विरोधग्रस्त है, उसे सत् नहीं कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि उपगुण सत् नहीं, बल्कि आभास मात्र हैं।

वस्तुवादियों के अनुसार रंग, स्वाद, गंध, ध्वनि आदि उपगुणों की प्राप्ति एक संवेद्य परिस्थिति में ही हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि उपगुण आत्मनिष्ठ हैं, अर्थात् वे वस्तुओं में नहीं पाये जाते हैं। इस मत का खण्डन करते हुए ब्रैडले कहता है कि वस्तुओं के अभाव में भी संवेदनाओं की प्राप्ति हो सकती है, जैसे — विभ्रम (Hallucination) की अवस्था में बिना किसी वस्तु के ही हमें वस्तु की संवेदना प्राप्त होती हुई प्रतीत होती है। इसके विपरीत संवेदनाओं के अभाव में भी वस्तुएँ पाई जा सकती हैं। जैसे — स्वप्न की मानसिक अवस्था में बिना संवेदनाओं के ही वस्तुएँ अनुभूत हो जाती हैं। अतः वस्तुओं और संवेदनाओं में कारण-कार्य संबंध को तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता है।¹

1 "We can have sensations without the object, and the object without the sensations, the one cannot possibly be a quality of the other," Appearance and Reality, p. 10.

उपगुणों के व्याघाती स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् ब्रैडले मूलगुणों के स्वरूप को भी विसंगतिपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास करता है। यदि मूलगुणों को जड़द्रव्य का वास्तविक लक्षण माना जाय तो इससे भौतिकवाद की पुष्टि होती है। किन्तु ब्रैडले का लक्ष्य भौतिकवाद का खण्डन करके आध्यात्मवाद की स्थापना करना है। वह मूलगुणों की वस्तुनिष्ठता का निराकरण करते हुए कहता है — क्या विस्तार, आकृति, ठोसपन आदि मूलगुणों को किसी ज्ञाता से स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से वस्तुनिष्ठ सिद्ध किया जा सकता है? ब्रैडले का दावा है कि मूलगुण भी उपगुणों के समान व्यक्ति-सापेक्ष एवं परिस्थिति-सापेक्ष रूप में ही ज्ञात होते हैं। उदाहरण के लिए विस्तार का अनुभव भी हमें इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। हम विस्तार को देखने के साथ-साथ उसका स्पर्श भी कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि विस्तार भी अनुभव-सापेक्ष है। यदि विस्तार को वस्तुनिष्ठ एवं अनुभव-निरपेक्ष माना जाय तो विस्तार के दो रूपों में द्वैत हो जाता है — अनुभव-निरपेक्ष रूप और अनुभव-सापेक्ष रूप। इस प्रकार हम विस्तार के अनुभव से स्वतंत्र और अनुभव-सापेक्ष इन दो रूपों के द्वैत में उलझ जाते हैं। हमें विस्तार के इन दोनों रूपों की एकता का ज्ञान नहीं हो सकता है। वास्तव में, विस्तार का अनुभव एवं परिस्थितियों से स्वतंत्र स्वरूप बोधगम्य नहीं हो सकता है क्योंकि उसके ज्ञान का माध्यम तो अनुभव ही हो सकता है। ब्रैडले के अनुसार, मूलगुणों के इन दोनों रूपों में एकता स्थापित करने का कोई आधार नहीं है। अतः विस्तार उसी अर्थ में आभास है, जिस अर्थ में रंग, गंध, ध्वनि आदि उपगुणों को आभास माना जा सकता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि मूलगुण और उपगुण के बीच में भेद करना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि मूलगुण और उपगुण में भेद करने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। वस्तुतः उपगुणों से पूर्णतया रहित विस्तार असंभव है। विस्तार का प्रत्यक्ष करते समय कोई न कोई उपगुण (जैसे - रंग, गंध, आदि) उसके साथ-साथ अवश्य अनुभूत होता है। वह कहता है — विस्तार की अवधारणा में किसी न किसी उपगुण का सम्मिलित होना आवश्यक है। बिना किसी उपगुण के विस्तार को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।¹

दूसरे शब्दों में, मूलगुणों और उपगुणों में साहचर्य पाया जाता है, क्योंकि रंगहीन विस्तार और विस्तारहीन रंग दोनों असंभव हैं। ये दोनों साथ-साथ दिखायी देते हैं। अतः विशुद्ध विस्तार (Pure Extension) एक अमूर्त (काल्पनिक) अवधारणा मात्र है। ब्रैडले के कहने का आशय यह है कि चूँकि मूलगुण और उपगुण दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं, इसलिए जिन कारणों से उपगुण आभास है, उन्हीं कारणों से मूलगुण भी आभास सिद्ध हो जाता है। स्पष्ट है कि ब्रैडले के अनुसार मूलगुण और उपगुण दोनों स्वरूपतः विसंगतिपूर्ण हैं, इसलिए दोनों आभास हैं।

यदि मूलगुणों एवं उपगुणों दोनों को एक दूसरे से भिन्न मान लिया जाय तो उनमें सम्बन्ध स्थापित करना तार्किक दृष्टि से असंभव हो जाता है। अतः मूलगुण और उपगुण के माध्यम से तत्त्व के स्वरूप का तर्कसंगत विवेचन नहीं किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि भौतिकवादियों ने मूलगुणों को अन्तिम रूप से सत्य माना है। इसके विपरीत, ब्रैडले मूलगुणों के अनुभव से स्वतंत्र और अनुभव-सापेक्ष इन दोनों रूपों में एकता को असंभव कह करके उन्हें

1 "Extension cannot be presented, or thought of except as one with a quality that is secondary", Ibid p. 14.

अंतर्विरोध ग्रस्त सिद्ध करने का प्रयास करता है। इस प्रकार मूलगुणों और उपगुणों को आभास सिद्ध करने के साथ ही भौतिकवाद या जड़वाद का खण्डन हो जाता है।

द्रव्य और गुण (Substantive and Adjective)

ब्रैडले के अनुसार सत् को किसी भी बौद्धिक कोटि के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है। मूलगुण और उपगुण की कोटि को आभास सिद्ध करने के बाद वह द्रव्य और गुण की कोटि को भी अन्तर्विरोध ग्रस्त सिद्ध करने का प्रयास करता है। अनेक विचारकों ने विश्व की विभिन्न इकाइयों का निरूपण करने के लिए द्रव्य और गुण की कोटि का सहारा लिया है। वे उसे द्रव्य और गुण में विभक्त कर देते हैं। प्रश्न उठता है कि द्रव्य और गुण में क्या सम्बन्ध है? यद्यपि व्यावहारिक जीवन में द्रव्य और गुण को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है, तथापि तात्त्विक दृष्टि से उसके स्वरूप पर चिन्तन करने से हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। इस प्रकार हम द्रव्य और गुण के अन्तर्विरोधों में उलझ जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि वस्तु का स्वरूप क्या है? क्या वस्तु का अभेद उसके किसी एक गुण से किया जा सकता है? ब्रैडले के अनुसार यह विकल्प असंभव है क्योंकि कोई भी वस्तु स्वरूपतः अपने किसी एक गुण से अभिन्न नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तु एक से अधिक गुणों का संघात है। उदाहरण के लिए, मेज भूरेपन, कठोरता, खुरदरापन इत्यादि गुणों का संघात है। उसे किसी एक गुण से अभिन्न नहीं माना जा सकता है। किन्तु वस्तु को इन सभी गुणों का पुंजमात्र भी नहीं कहा जा सकता है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी वस्तु की अपनी एक विशिष्टता होती है। वह एक इकाई या एकता (Unity) है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की सत्ता उसकी एकता में निहित है। यदि इस विकल्प को स्वीकार कर लिया जाय तो पुनः प्रश्न उठता है कि वस्तु की एकता से क्या तात्पर्य है? हम वस्तु की इस एकता को स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। ब्रैडले के अनुसार किसी वस्तु की एकता न तो उसके गुणों में अलग-अलग दिखाई पड़ती है और न इन गुणों के बाहर दिखाई पड़ती है। इस प्रकार वस्तु की एकता दुर्बोध और अस्पष्ट है। अतः किसी वस्तु की एकता की बात करना ही निरर्थक प्रतीत होता है।

यदि वस्तु की एकता का परित्याग करके यह कहा जाय कि वस्तु के विभिन्न गुण परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बन्धित हो करके वस्तु के अस्तित्व की संरचना करते हैं, तो भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है। यदि वस्तु की एकता के स्थान पर उसे विभिन्न गुणों का 'आन्तर सम्बन्ध' (Property in relation) कहा जाय तो पुनः प्रश्न उठता है कि सम्बन्ध क्या है? सम्बन्ध के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए वह कहता है कि सम्बन्ध का अभेद (तादात्म्य) किसी एक गुण से नहीं किया जा सकता है। किसी सम्बन्ध की स्थापना के लिए कम से कम दो गुणों या दो पदों का होना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि x . y से सम्बन्धित है (x is in relation to y), इस वाक्य में संयोजक 'है' (is) का क्या अर्थ है? इस वाक्य से इन दोनों गुणों की एकता अभिव्यक्त नहीं होती है क्योंकि यदि x और y दो गुण हैं तो वे परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते हैं। चूँकि सम्बन्ध दो पदों के बीच में होता है, इसलिए वह इन दोनों पदों को अपने से पूर्व अस्तित्व युक्त मान लेता है। यदि x और y ये दोनों पद (गुण)

सम्बन्ध से पहले अस्तित्वयुक्त हैं तो उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रश्न उठता है कि क्या सम्बन्ध को एक गुण के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है? ब्रैडले के अनुसार यदि सम्बन्ध को भी गुण मान लिया जाय तो समस्या हल होने के स्थान पर और अधिक उलझ जाती है। प्रत्येक निर्णय में विधेय पद गुणवाचक होता है। “यदि उद्देश्य (द्रव्य) में एक ऐसे विधेय (गुण) का आरोपण किया जाय जो उससे भिन्न है तो उसमें एक ऐसे विधेय की स्थापना की जाती है जो वह (उद्देश्य) नहीं है, और यदि उद्देश्य में एक ऐसे विधेय की स्थापना की जाय जो उससे (उद्देश्य से) अभिन्न हो तो आप उद्देश्य के बारे में कुछ नहीं कहते हैं।”¹ ब्रैडले ने इसे ‘विधेयन का उभयतोपाश’² कहा है। इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार सम्बन्ध को न तो पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और न सम्बन्ध को एक गुण के रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है।

क्या सम्बन्ध को गुणों या पदों से स्वतंत्र रूप में अस्तित्वयुक्त माना जा सकता है? यदि सम्बन्ध को गुणों से स्वतंत्र एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया जाय तो प्रश्न उठता है कि अन्य पदों से स्वतंत्र सम्बन्ध उनको कैसे सम्बन्धित कर सकता है? मान लिया कि x और y नामक दो पदों में R नामक सम्बन्ध है और R, X तथा Y से स्वतंत्र है। अब तीसरे पद R को अन्य दोनों पदों X और Y से परस्पर सम्बन्धित करने के लिए एक चतुर्थ पद की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि इस चतुर्थ पद को भी स्वतंत्र पदार्थ मान लिया जाय तो पुनः उसे सम्बन्धित करने के लिए एक अन्य पद की कल्पना करनी पड़ेगी। परन्तु इस क्रम में अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। अतः यदि सम्बन्ध को एक स्वतंत्र पदार्थ मान लिया जाय तो भी इस समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिल सकता है।

ब्रैडले के अनुसार, जो पद परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण हैं, उन्होंने अपने भावात्मक आधार को प्राप्त कर लिया है। जो पद परस्पर विसंगतिपूर्ण हैं, उन्हें अपने भावात्मक आधार को प्राप्त करना है। किन्तु जहाँ विभिन्न पदों में परस्पर सामञ्जस्य है, वहाँ भी उस मौलिक तत्त्व ने अपनी एकता का परित्याग करते हुए ही गुणों एवं सम्बन्धों का रूप धारण कर लिया है। अतः वस्तु को गुणों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के माध्यम से समझने का प्रयास करना युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार ब्रैडले यह सिद्ध करता है कि द्रव्य और गुण से सम्बन्धित कोई भी विकल्प युक्तिसंगत नहीं है। इस संदर्भ में केवल यही कहा जा सकता है कि द्रव्य-गुण के आधार पर तत्त्व के स्वरूप का निरूपण करना केवल तदर्थ और काम चलाऊ व्यवस्था मात्र है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता भले ही हो, परन्तु इसके तार्किक औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार द्रव्य और गुण के माध्यम से सत् के स्वरूप का विवेचन करने में अनेक समस्याएँ आती हैं। मानव-बुद्धि के द्वारा इन समस्याओं का कोई संतोषजनक समाधान नहीं मिल सकता है। निरोपेक्ष तत्त्व को ग्रहण करने की प्रक्रिया में विचार वस्तु की एकता को कई खण्डों में बाँट देता है। उसके बाद विचार पुनः इन विभक्त खण्डों में कृत्रिम एकता स्थापित करने का प्रयास करता है, किन्तु इस संपूर्ण प्रक्रिया का कोई तार्किक आधार नहीं है। अतः विचार की अन्य कोटियों के समान द्रव्य और गुण भी आभास हैं।

1 “If you predicate what is different, you ascribe to subject what it is not, and if you predicate what is not different, you say nothing at all.” Ibid, p. 17.

2 (Dilemma of predication).

सम्बन्ध और गुण (Relation and Quality)

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलगुण एवं उपगुण तथा द्रव्य एवं गुण की कोटि के माध्यम से तत्त्व को जानने का प्रयास सफल नहीं हो सकता है, क्योंकि उनके द्वारा तत्त्व को जानने का प्रयास करने पर मानव-बुद्धि विसंगतियों में फँस जाती है। इसी प्रकार सम्बन्ध और गुण के द्वारा भी तत्त्व के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। यद्यपि सम्बन्ध और गुण के माध्यम से सत्ता के स्वरूप का विश्लेषण करना व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हो सकता है, तथापि इसे सैद्धान्तिक आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता है। अतः सम्बन्ध और गुण के माध्यम से वास्तविक तत्त्व को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। सम्बन्ध और गुण के स्वरूप पर चाहे जिस दृष्टि से विचार किया जाय, हमारी बुद्धि अन्तर्विरोधों के कारण भ्रमित हो जाती है। सम्बन्ध और गुण के स्वरूप को लेकर वस्तुवादियों और प्रत्ययवादियों में गंभीर मतभेद रहा है। वस्तुवादियों के अनुसार गुणों की सत्ता सम्बन्धों से स्वतंत्र रूप में संभव है। इसके विपरीत प्रत्ययवादियों का दावा है कि सम्बन्धों से निरपेक्ष रूप में पदों अथवा गुणों की सत्ता संभव नहीं है। सम्बन्ध और गुण के स्वरूप को लेकर ब्रैडले विभिन्न विकल्पों पर विचार करने के उपरान्त इनमें से प्रत्येक विकल्प को अस्वीकार कर देता है। इस संदर्भ में अधोलिखित चार विकल्प विचारणीय हैं —

- (1) सम्बन्धों के अभाव में गुण असत् हैं।
- (2) सम्बन्धों के साथ-साथ भी गुण असत् हैं।
- (3) गुणों के अभाव में संबंध असत् हैं।
- (4) गुणों के साथ-साथ भी सम्बन्ध असत् हैं।

(1) संबंधों के अभाव में गुण असत् (कुछ नहीं) है (Qualities are nothing without relations) — ब्रैडले के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ज्ञाता की स्थिति और परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ गुणों में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रिय के संयोग की अवस्था में जो प्रकृति आनन्ददायक प्रतीत होती है, वही प्रकृति वियोग की दशा में दुःखद प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट है कि सुख और दुःख, हर्ष और विषाद आदि गुणों की प्रतीति बिना किसी द्रष्टा अथवा विषयी से संबंधित हुए अनुभूत नहीं हो सकती है। स्पष्ट है कि संबंधों के अभाव में गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती है। ब्रैडले की यह युक्ति मनोवैज्ञानिक है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से मनोवैज्ञानिक युक्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं हो सकता है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक युक्ति गुणों की सापेक्षता को सिद्ध करती है, तथापि जब तक इन गुणों की सापेक्षता को तार्किक आधार पर सिद्ध न कर दिया जाय तब तक उसके दार्शनिक महत्त्व को स्थापित नहीं किया जा सकता है।

ब्रैडले के अनुसार तार्किक दृष्टि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि संबंधों के अभाव में गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती है। वह कहता है — संबंधों के अभाव में अनेकता का प्रत्यय केवल शाब्दिक है जिसकी कोई सार्थकता नहीं हो सकती है।¹ इससे स्पष्ट है कि संबंधों के

1 "Diversity without relations seems a word without meaning." Ibid. p. 24.

माध्यम से ही अनेक इकाइयों की कोई सार्थकता हो सकती है।¹ यदि भेदों की सत्ता न हो तो गुणों की सत्ता भी नहीं हो सकती है। यदि भेदों की सत्ता है तो इसका निहितार्थ यह है कि संबंधों का भी अस्तित्व होगा। इससे स्पष्ट है कि गुणों की एकता संबंधों के बिना असंभव है।

यदि संबंधों के अभाव में गुणों की कल्पना की जाय तो अन्तर्विरोधों से नहीं बचा जा सकता है। मान लीजिए X और Y दो परस्पर भिन्न गुण हैं। ब्रैडले के अनुसार इन दोनों गुणों के बीच की भिन्नता कहीं न कहीं स्थित होनी चाहिए। यदि X तथा Y के बीच की भिन्नता इन दोनों गुणों से बाहर स्थित हो तो उनके बीच में संबंध स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यह कहना कि X नामक गुण Y नामक गुण से भिन्न हैं, उन्हें (X तथा Y को) निषेधात्मक रूप से सम्बन्ध कर देता है। यदि यह भिन्नता X एवं Y के अन्दर निहित है तो भिन्नता की यह समस्या इन गुणों के अन्दर भी उत्पन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप X नामक गुण के अन्दर एक तो X का अपना गुण होगा और दूसरा उसका अन्यत्वगुण (non-x-ness)। यही बात Y गुण के संदर्भ में भी लागू होती है, अर्थात् एक तो Y का अपना गुण है और दूसरा उसका अन्यत्वगुण होगा।

यदि भिन्नता को गुणों के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय तो इससे गुणों की आन्तरिक एकता विखंडित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर X एवं Y के पारस्परिक संबंध की समस्या उत्पन्न होगी तो दूसरी ओर प्रत्येक गुण का अपना स्वत्व (निजी अस्तित्व) होगा। इसके फलस्वरूप प्रत्येक गुण स्वरूपतः एक मूल इकाई होते हुए भी आन्तरिक रूप में दो इकाइयों में परिणत हो जाता है। इससे उस गुण की एकता विखंडित हो जाती है। ब्रैडले ने इसकी उपमा उस दीवार से दी है जो दो कमरों को पृथक् करने के साथ-साथ उन्हें जोड़ती भी है। इस प्रकार संबंधों के अभाव में भिन्नता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। चूँकि 'गुण' शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया जाता है, इसलिए गुणों की अनेकता से उनका पार्थक्य (अलग-अलग होना) सिद्ध होता है। पार्थक्य अथवा भिन्नता एक निषेधात्मक संबंध है। इस प्रकार ब्रैडले गुणों की विविधता और भिन्नता के आधार पर उनकी संबंध-सापेक्षता को सिद्ध करता है। अतः संबंधों के अभाव में गुण असत् हैं।

(2) सम्बन्धों के साथ-साथ भी गुण असत् हैं (Qualities with relations are nothing) — ब्रैडले के अनुसार, यदि सम्बन्धों के साथ-साथ गुणों की कल्पना की जाय तो गुण किसी न किसी रूप में संबंधों पर आश्रित होंगे। इससे गुणों की सापेक्षता सिद्ध हो जाती है। ब्रैडले के अनुसार चूँकि गुण और सम्बन्ध एक दूसरे से पृथक् इकाइयाँ हैं, इसलिए गुणों का अपना कुछ न कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। इस प्रकार एक तो गुणों का सम्बन्ध-सापेक्ष स्वरूप है और दूसरा उनका एक अपना स्वत्व (निजी स्वरूप) है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो गुणों की एकता भंग हो जाती है। इस प्रकार गुणों के अन्दर विविधता उत्पन्न हो जाती है।

मान लिया X एवं Y दो गुण हैं जो R नामक सम्बन्ध पर आश्रित हैं। इस दृष्टि से X, Y एवं R तीन इकाइयाँ होंगी। X तथा Y नामक गुणों के अन्दर एक तो इन गुणों का अपना एक स्वतन्त्र स्वरूप है, दूसरा इन गुणों का एक अपने से भिन्न स्वरूप भी है, जो इन गुणों के पारस्परिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। ब्रैडले के अनुसार, अब एक ओर तो X

1 "Their plurality gets for all its meaning through relations." Ibid, p. 22.

तथा Y के बीच आपसी सम्बन्ध की समस्या है और दूसरी ओर इन गुणों के स्वत्व एवं सम्बन्ध-सापेक्ष स्वरूप के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस समस्या का कोई भी समाधान मानव-बुद्धि के पास नहीं हो सकता है। अतः सम्बन्धों के साथ-साथ भी गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती है।

(3) गुणों के अभाव में सम्बन्ध असत् (कुछ नहीं) हैं (Relations without Qualities are nothing) — ब्रैडले के अनुसार, संबंधों की सत्ता के लिए कम से कम दो इकाइयों का होना अनिवार्य है। समस्त गुणों से निरपेक्ष रूप में संबंध एक अमूर्त अवधारणा मात्र है। प्रश्न उठता है कि संबंध जिन गुणों में पाया जाता है। क्या उन गुणों को प्रभावित करता है? यदि यह कहा जाय कि संबंध गुणों से स्वतंत्र होता है क्योंकि वह गुणों को प्रभावित नहीं करता है, तो पुनः हम एक दूसरी समस्या में उलझ जाते हैं। यदि संबंध गुणों को प्रभावित नहीं करता है तो उन्हें संबंधित कैसे करेगा? दूसरे शब्दों में, गुणों को विना प्रभावित किए हुए संबंध उन्हें संबंधित नहीं कर सकता है। यदि गुण संबंधों से असम्बद्ध हैं, तो इसका निहितार्थ यह होगा कि संबंध गुणों को संबंधित नहीं करते हैं। किन्तु ऐसा संबंध जो गुणों को संबंधित न करता हो, उसे संबंध कहना ही असंगत है।¹ दूसरे शब्दों में, पदों या गुणों से रहित संबंधों की अवधारणा काल्पनिक (असत्) है।

(4) गुणों के साथ-साथ संबंध असत् हैं (Relations with qualities are nothing) — यदि यह कहा जाय कि संबंध गुणों को प्रभावित करके उन्हें संबंधित एवं परिवर्तित करते हैं, तो पुनः प्रश्न उठता है कि संबंधों का इन गुणों से क्या संबंध हो सकता है? गुणों को संबंधित करने के लिए 'संबंध' को किसी न किसी रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रखना होगा, अर्थात् गुणों से पृथक् रूप में संबंधों के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा। यदि कोई संबंध गुणों को संबंधित या प्रभावित करता है तो उस संबंध की अपनी एक अलग सत्ता होगी। उदाहरण के लिए, यदि X एवं Y नामक गुणों में R नामक संबंध को स्वीकार किया जाय तो X एवं Y के समान संबंध (R) भी एक स्वतंत्र इकाई होगा। अब हमारे समक्ष X तथा Y को परस्पर संबंधित करने के साथ-साथ X एवं R तथा Y एवं R में संबंध स्थापित करने का प्रश्न उठता है। इस संबंध की व्याख्या करने के लिए हमें किन्हीं दो अन्य संबंधों का सहारा लेना पड़ेगा, जैसे — X एवं R को परस्पर संबंधित करने के लिए R₁ तथा Y एवं R को संबंधित करने के लिए R₂ का सहारा लेना पड़ेगा। किन्तु इस क्रम में अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकेगा। ब्रैडले के अनुसार ऐसी परिस्थिति में गुणों के साथ-साथ संबंधों को स्वीकार करने पर हमारी समस्या हल होने के स्थान पर अधिक जटिल होती चली जाती है। इस प्रकार हमारी बुद्धि भ्रमित होकर तार्किक विसंगति में उलझ जाती है। अतः संबंधों को गुणों के साथ-साथ स्वीकार करने पर भी संबंध और गुण के माध्यम से तत्त्व के स्वरूप की सुसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती है।

वस्तुतः गुण और संबंध परस्पर सापेक्ष हैं क्योंकि संबंध सदैव दो पदों की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार गुण भी संबंधों के सापेक्ष रूप में ही गुण कहे जाते हैं। अतः उन्हें एक दूसरे से पृथक् रूप में नहीं जाना जा सकता है। ब्रैडले संबंध और गुण के परिप्रेक्ष्य में पूर्वोक्त चारों विकल्पों को असंगत मानता है। इस प्रकार संबंधों एवं गुणों की कोटि भी तत्त्व के निरूपण में

असमर्थ है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि ब्रैडले यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि संबंधात्मक विचार केवल आभास हैं। बुद्धि की अन्य कोटियों के सदृश संबंध और गुण के आधार पर तत्त्व के स्वरूप का निरूपण करना भी एक तदर्थ एवं कामचलाऊ व्यवस्था मात्र है।

आत्मा की अवधारणा (Concept of Self)

दर्शनशास्त्र के अंतर्गत आत्मा के अस्तित्व को एक वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रायः दार्शनिकों ने आत्मा के अस्तित्व को संदेह से परे माना है, किन्तु ब्रैडले आत्मा को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करता है। वह आत्मा के स्वरूप से संबंधित विभिन्न संप्रत्ययों का विवेचन करके उन्हें विसंगतिपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास करता है। आत्मा की चाहे जिस अवधारणा को स्वीकार किया जाय, उसके बारे में अंतिम रूप से संतोषप्रद निष्कर्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता है। अतः आत्मा एक आभास है। ब्रैडले आत्मा के स्वरूप से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण संप्रत्ययों का विवेचन इस प्रकार करता है —

1. देह के रूप में आत्मा (देहात्मवाद) का निराकरण — यदि आत्मा को शरीर से अभिन्न मान लिया जाय (जैसा कि भारतीय चार्वाक एवं पाश्चात्य भौतिकवादी विचारक मानते हैं।)¹ तो क्या आत्मा को सत् कहा जा सकता है? ब्रैडले के अनुसार सभी लोग आत्मा और अनात्मा या चेतन और अचेतन में भेद करते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी 'मैं' (I) और 'मेरा जगत' में भेद करते हैं। इससे स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर को परस्पर अभिन्न नहीं माना जा सकता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहता है कि 'मैं शरीर हूँ', बल्कि सभी लोग यही कहते हैं कि 'यह मेरा शरीर है'। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर अभिन्न नहीं हैं। अतः आत्मा के स्वरूप की भौतिकवादी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

2. अनुभूतियों के पुंज के रूप में आत्मा का निराकरण — ह्यूम और उसके अनुयायियों ने आत्मा को परिवर्तनशील संस्कारों एवं प्रत्ययों का एक समूह मात्र मान लिया। इसी प्रकार विज्ञानवादी वीद्धों ने आत्मा की व्याख्या परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों के शाश्वत प्रवाह के रूप में की है। ब्रैडले के अनुसार, संस्कारों, प्रत्ययों और परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का यह समूह केवल विषय ही हो सकता है। अतः विषय रूप अनुभूतियों के पुंज का अनुभव करने के लिए कोई न कोई अनुभवकर्ता, अर्थात् विषयी अवश्य होना चाहिए। वस्तुतः सभी अनुभूतियाँ और अनुभूतियों के समूह अनात्मा के अन्तर्गत आते हैं। यदि बाह्य पर्यावरण के स्वरूप एवं संरचना में परिवर्तन हो जाता है तो अनुभूतियों के स्वरूप में भी परिवर्तन होना निश्चित है। अतः यदि आत्मा को अनुभूतियों का पुंज मान लिया जाय तो आत्मा और अनात्मा के बीच में कोई स्पष्ट सीमा रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती है। इस प्रकार अनुभूतियों के समूह को आत्मा कहना असंगत है। अनुभूतियों का समूह एक आभास मात्र है, क्योंकि यह विसंगतिपूर्ण है।

3. औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा का निराकरण — आत्मा की अवधारणा एक शाश्वत औसत व्यक्तित्व के रूप में की गई है। ब्रैडले के अनुसार औसत व्यक्तित्व (Constant average mass) भी अनात्मा से ही संबंधित हो सकता है। अतः इसके विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ लागू होती हैं जो अनुभूतियों के पुंज के रूप में आत्मा के विरुद्ध उठाई गई हैं।

1 'शरीर एव आत्मा, मरणम् एव अपवर्गः' — चार्वाक.

औसत व्यक्तित्व और आत्मा को परस्पर अभिन्न नहीं माना जा सकता है। प्रश्न यह है कि इस औसत व्यक्तित्व का ज्ञान कैसे हो सकता है? मनुष्य का औसत व्यक्तित्व गणितीय इकाइयों के समान स्थिर नहीं होता है, बल्कि परिवर्तनशील होता है। अतः मानव-व्यक्तित्व का सही-सही औसत निकालना कठिन और दुर्बोध है। मानव-व्यक्तित्व के परिवर्तनशील होने के कारण औसत व्यक्तित्व का ठीक-ठीक आकलन नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, औसत व्यक्तित्व का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं हो सकता है। अतः औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा की अवधारणा समीचीन नहीं है।

4. सारतत्त्व (Essence) के रूप में आत्मा का निराकरण — यह कहा जा सकता है कि आत्मा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का सारतत्त्व है। मनुष्य का सारतत्त्व उसकी विशिष्टता का द्योतक है जो उसे अन्य मनुष्यों से पृथक् करता है। प्रश्न उठता है कि सारतत्त्व क्या है? यदि सारतत्त्व को जीवन की अनुभूतियों से अभिन्न मान लिया जाय तो सारतत्त्व परिवर्तनशील सिद्ध हो जायेगा क्योंकि हमारी अनुभूतियाँ परिवर्तनशील होती हैं। ब्रैडले के अनुसार सारतत्त्व से तात्पर्य मनुष्य के अपरिवर्तनशील स्वरूप से है। अतः जो परिवर्तनशील है, उसे सारतत्त्व नहीं कहा जा सकता है। चूँकि मनुष्य की अनुभूतियाँ परिवर्तनशील होती हैं, इसलिए उन्हें सारतत्त्व से अभिन्न नहीं माना जा सकता है।¹ इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के अनुसार सारतत्त्व के लिए एकता और सातत्य का होना आवश्यक है। किन्तु सारतत्त्व की कल्पना न तो शारीरिक एकता के रूप में और न मानसिक एकता के रूप में की जा सकती है। किसी भी मनुष्य में जन्म से लेकर मृत्यु तक न तो शारीरिक एकता और न ही मानसिक एकता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की स्मृति सदैव प्रामाणिक नहीं होती है। कभी-कभी मनुष्य की स्मृति भ्रान्त हो जाती है। अतः स्मृति के आधार पर भी आत्मा की एकता और निरन्तरता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस प्रकार ब्रैडले यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि सारतत्त्व के रूप में आत्मा का संप्रत्यय सुसंगत नहीं है।

5. चिदणुओं के रूप में आत्मा का निराकरण — लाइबनिज के अनुसार, चिदणु समूह के अंतर्गत आत्मा एक सर्वाधिक सक्रिय चिदणु है। उल्लेखनीय है कि लाइबनिज के चिदणु स्वतंत्र, चेतन, पूर्ण एवं अनेक हैं। यदि सभी चिदणु चेतन हैं तो उनकी अनेकता का आधार निर्बल हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि सभी चिदणु स्वतंत्र हैं तो उन्हें परस्पर संबंधित कैसे किया जा सकता है? आत्मा की चिदणुवादी अवधारणा के अन्तर्गत आत्मा के स्थायी और परिवर्तनशील ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से पृथक् बने रहते हैं। इन दोनों पक्षों में परस्पर संबंध कैसे स्थापित किया जा सकता है? ब्रैडले के अनुसार आत्मा के स्थायी अर्थात् अपरिवर्तनशील और परिवर्तनशील दोनों पक्षों में कोई संबंध नहीं हो सकता है क्योंकि वे दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। किन्तु यदि ये दोनों पक्ष परस्पर असम्बद्ध हों तो अपरिवर्तनशील चिदणु के रूप में आत्मा की अवधारणा नहीं की जा सकती है। यदि आत्माओं की विविधता अर्थात् अनेकाल्पवाद को स्वीकार किया जाय तो जीवात्माओं में परस्पर संबंध की समस्या आती है। आत्माओं के सजातीय होने के कारण उन्हें परस्पर संबंधित मानना आवश्यक हो जाता है। इसके फलस्वरूप

1 "It you take an essence which can change, it is not a essence at all." Appearance and Reality, p. 68.

आत्माएँ परस्पर सापेक्ष सिद्ध हो जाती हैं। अतः उन्हें एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः ब्रैडले का निष्कर्ष यह है कि चिदणुओं के रूप में आत्मा को स्वीकार करने पर हम उसे सत् नहीं कह सकते हैं।

6. निम्न संबंधात्मक एवं संबंधात्मक चेतना के रूप में आत्मा का निराकरण — निम्न संबंधात्मक Infra-relational चेतना के रूप में आत्मा के स्वरूप का अनुशीलन करने पर प्रत्ययात्मकता का दोष आता है। निम्न संबंधात्मक चेतना के रूप में आत्मा स्वातिक्रमण की प्रवृत्ति से ग्रस्त है। यह अपने स्वरूप का अतिक्रमण करके एक संबंधात्मक (Relational) अनुभूति के रूप में परिणत होना चाहता है। स्वातिक्रमण की इस प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि आत्मा अपूर्ण, सीमित एवं परिच्छिन्न है। ब्रैडले के अनुसार संबंधात्मक चेतना के रूप में भी आत्मा को निरपेक्ष सत्ता नहीं कहा जा सकता है। संबंधात्मक चेतना के अन्तर्गत 'वह' (That) और 'क्या' (What) अर्थात् यथार्थ और आदर्श का भेद पाया जाता है। अतः 'वह' और 'क्या' के अन्तर्विरोध से ग्रस्त होने के कारण संबंधात्मक चेतना के रूप में आत्मा को सत् नहीं कहा जा सकता है।

7. आत्म-चैतन्य के रूप में आत्मा का निराकरण — यदि आत्मा को आत्म-चैतन्य के रूप में ग्रहण किया जाय तो भी विसंगतियों से नहीं बचा जा सकता है। इसके अंतर्गत आत्मा के दो पक्ष हैं — प्रथम, आत्मा का ज्ञाता रूप (Subject) और द्वितीय, आत्मा का ज्ञेय रूप (Object) अर्थात् विषय। चूँकि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते हैं, इसलिए उन्हें एक-दूसरे से पृथक् मानना पड़ेगा। अन्तर्वोध के आधार पर भी इन दोनों पक्षों में एकता स्थापित नहीं की जा सकती है। ब्रैडले के अनुसार इन दोनों पक्षों में एकता का अस्तित्व यदि पूर्ण संबंधात्मक स्तर पर माना जाय तो इसके स्वरूप को समझने का प्रयास करने पर आत्म-चैतन्य की समन्वित एकता अनेक खण्डों में विभक्त हो जाती है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर आत्मा में विद्यमान आत्मा और अनात्मा अथवा विषयी और विषय के भेद को समाप्त नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, यह भेद हमारी रुचियों पर निर्भर होता है। इसलिए इसकी निश्चित अवधारणा नहीं की जा सकती है। व्यावहारिक जीवन में जिसका निरीक्षण किया जाता है, उसे अनात्मा कहते हैं और जो निरीक्षणकर्ता (प्रेक्षक) है, उसे आत्मा कहा जाता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अतः इसे निरपेक्ष सत् के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

8. वैयक्तिक अनन्यता के रूप में आत्मा का निराकरण — वैयक्तिक अनन्यता के अन्तर्गत आत्मा अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी किसी न किसी रूप में अपनी अलग पहचान बनाए रखता है। इस दृष्टि से आत्मा एक अपरिवर्तनशील एकता है। ब्रैडले के अनुसार वैयक्तिक अनन्यता के रूप में इस अपरिवर्तनशील एकता को समझना असंभव है। तथाकथित वैयक्तिक अनन्यता व्यक्ति के प्रति किसी न किसी दृष्टिकोण से संबंधित होती है। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन होने के साथ ही साथ वैयक्तिक अनन्यता भी बदलती रहती है। इससे स्पष्ट है कि वैयक्तिक अनन्यता का कोई तार्किक आधार नहीं हो सकता है। तात्त्विक दृष्टि से वैयक्तिक अनन्यता की अवधारणा के अन्तर्गत आत्मा से संबंधित खंडित इकाइयों की अवधारणा का निषेध हो जाता है। हम इन विविक्त इकाइयों को अलग-अलग मान करके उनमें एकता की

परिकल्पना कर लेते हैं। अतः ऐसी एकता केवल निषेधात्मक दृष्टि से ही मूल्यवान् हो सकती है। चूँकि यह एकता स्मृति के लिए एक आधार प्रस्तुत करती है, इसलिए यह व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है। ब्रैडले के अनुसार ऐसी एकता व्यावहारिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु यह तार्किक दृष्टि से सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के आत्मा की एकता का समर्थन नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, परिवर्तनशील असमानताओं से सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी चीज काल से स्वतंत्र नहीं हो सकती है। इस प्रकार ब्रैडले का दावा है कि आत्मा के बारे में प्रचलित समस्त पाश्चात्य अवधारणा विसंगतिपूर्ण हैं। अतः आत्मा के चाहे जिस संप्रत्यय को स्वीकार किया जाय, इसे आभास से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

ब्रैडले ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आभास और सत्' (Appearance and Reality) के तीसरे अध्याय में विचार के संबंधात्मक स्वरूप का निराकरण करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अन्तर्विरोध से ग्रस्त होने के कारण समस्त वैचारिक कोटियाँ आभास हैं। हमारे संबंधात्मक अनुभव उपेक्षणीय हैं क्योंकि वे वास्तविक नहीं हैं। इसी प्रकार वह देश-काल, कारणता, संवृत्तिवाद और पारमार्थिक स्वलक्षणों के स्वरूप का विश्लेषण करके यह सिद्ध करता है कि ये सब संबंध की अपेक्षा रखते हैं। चूँकि संबंध और गुण आभास हैं, इसलिए उन पर आधारित ये समस्त कोटियाँ अन्तर्विरोध ग्रस्त हैं। अतः ये सभी आभास हैं। यहाँ तक कि ब्रैडले ने ईश्वर को भी एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया है क्योंकि ईश्वर भी संबंधों की अपेक्षा रखता है। चूँकि ईश्वर इस सृष्टि का रचयिता है, इसलिए वह किसी न किसी रूप में सृष्टि से संबंधित है। इस प्रकार ईश्वर भी संबंधों से युक्त हो जाता है। अतः ब्रैडले के दर्शन में ईश्वर संबंधों से ऊपर नहीं उठ पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रैडले का दर्शन खण्डन पक्ष पर विशेष बल देता है। वह समस्त वैचारिक कोटियों को अपने तर्क रूपी बाणों से अन्तर्विरोधी सिद्ध करके उन्हें ध्वस्त करने का प्रयास करता है। पाश्चात्य दर्शन में ब्रैडले के द्वारा प्रयुक्त खण्डन की यह द्वन्द्वात्मक प्रणाली महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार की प्रणाली का प्रयोग भारतीय दर्शन में माध्यमिक बौद्धों (शून्यवादियों) ने भी किया है। इसे द्वि-विभाजन (Dichotomy) की प्रणाली कहा जा सकता है। इस पद्धति का प्रयोग करके ब्रैडले यह दिखाना चाहता है कि तत्त्व के स्वरूप का तार्किक विश्लेषण करने से हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। इस प्रकार सभी बौद्धिक कोटियाँ आत्म-व्याघाती हैं। इसी के समान बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने विचार की चतुष्कोटियों के माध्यम से तत्त्वज्ञान को असंभव माना है। माध्यमिकों के अनुसार बौद्धिक कोटियों के द्वारा तत्त्व के स्वरूप का अनुशीलन करने से वह छिन्न-भिन्न हो जाता है।¹

ब्रैडले के समान नागार्जुन ने भी अपनी 'माध्यमिक कौरिका' में उत्पत्ति, जाति, कारण, कार्य आदि के स्वरूप में विरोध दिखाकर उनका खण्डन किया है। इस प्रकार माध्यमिकों की तर्क प्रणाली विश्लेषणात्मक एवं ध्वंसात्मक है क्योंकि यह किसी पक्ष का मण्डन नहीं करती है। किन्तु ब्रैडले का दर्शन केवल निषेधात्मक (ध्वंसात्मक) ही नहीं है। उसके अनुसार द्रव्य एवं गुण,

संबंध एवं गुण इत्यादि कोटियों के खण्डन के मूल में मण्डन छिपा हुआ है, अर्थात् उसके द्वारा किए गए ध्वंस के मूल में निर्माण निहित है। चूँकि विचार की विभिन्न कोटियाँ सम्बन्ध-सापेक्ष होने के कारण खण्डित हो जाती हैं, इसलिए परोक्षतः यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ संबंध नहीं है, वहाँ विरोध भी नहीं होगा। अतः जो असंबंधात्मक एवं अबाधित है उसे ही निरपेक्ष सत् कहा जा सकता है।¹ ब्रैडले की तार्किक प्रणाली के समान नागार्जुन के द्वारा अपनायी गई खण्डन प्रक्रिया के अन्तर्गत चार दृष्टियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः सत्, असत्, उभयात्मक (सत् और असत्), अनुभयात्मक (न सत् और न असत्) कहा जा सकता है। ब्रैडले के समान ही नागार्जुन भी उत्पत्ति, गति आदि के स्वरूप में अंतर्विरोध दिखाता है। उदाहरण के लिए, क्या दही, दूध से उत्पन्न हो सकता है? इसका खण्डन करते हुए वह कहता है कि — यही दही स्वतः उत्पन्न हुआ है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान है। किन्तु यह असंभव है क्योंकि कोई वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व कैसे हो सकती है? वह अपने से भिन्न दूसरी वस्तु से भी उत्पन्न नहीं हो सकती है क्योंकि यह असंभव दोषग्रस्त है। इसी प्रकार दही अपने से एवं अपने से भिन्न पदार्थ से भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि उसे न अपने से और न अन्य से उत्पन्न माना जाय तो वह अहेतुक होगा। अतः उत्पत्ति असंभव है।

निरपेक्ष सत् का स्वरूप (Nature of Absolute)

ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा विचार के माध्यम से निरपेक्ष सत् को जानने का प्रयास है। प्रत्येक सीमित इकाई में एक आंतरिक विसंगति पाई जाती है। सीमित होते हुए भी प्रत्येक वस्तु में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की एक 'अदम्य इच्छा-शक्ति' (Nisus for whole) पाई जाती है। इस प्रकार प्रत्येक सीमित वस्तु में यथार्थ एवं आदर्श का द्वैत पाया जाता है। ब्रैडले ने पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'वह' (That) और 'क्या' (What) का द्वैत कहा है। 'वह' वस्तु की वास्तविक स्थिति की ओर संकेत करता है। इसके विपरीत 'क्या' (What) वस्तु की आदर्श अवस्था का घोटक है। दूसरे शब्दों में, 'वह' (That) वस्तु की यथार्थ अवस्था और 'क्या' (What) वस्तु की उस अवस्था का घोटक है जो वह वस्तु होना चाहती है। इस प्रकार प्रत्येक सीमित इकाई अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक सामञ्जस्यपूर्ण अवस्था को प्राप्त करना चाहती है। इस सामञ्जस्यपूर्ण स्वरूप को निषेधात्मक दृष्टि से व्यक्त किया जा सकता है। यह आत्म-व्याघात से रहित अर्थात् अ-विरोध की अवस्था है।² इस अवस्था में प्रत्येक इकाई अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर अपनी समन्वयात्मक अवस्था को प्राप्त कर लेती है। उल्लेखनीय है कि ब्रैडले आभासों को आत्म-व्याघाती मानता है। किन्तु विसंगतिपूर्ण होते हुए आभास असत् नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं। आभासों का निरपेक्ष सत्ता के अन्तर्गत कहीं न कहीं स्थान अवश्य होना चाहिए।

¹ न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्याम् नाप्यहेतुतः।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन्।।

(माध्यमिका कारिका)।

² The Ultimate reality is such that it does not contradict itself.

इसका निहितार्थ यह है कि जो व्याघातों से रहित हो, उसे सत् कहा जा सकता है। विचार किसी भी आत्म-व्याघाती तत्त्व को सत् के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता है। अतः व्याघात से रहित होना अर्थात् 'अबाधितत्व' ही निरपेक्ष सत् की कसौटी है। ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक निषेधालक कथन का कुछ विध्यात्मक आधार होता है।¹

इस सिद्धान्त के आधार पर ब्रैडले सम्बन्ध-सापेक्ष प्राकृतिक जगत् को विसंगतियुक्त सिद्ध करके उसे आभास मान लेता है। चूँकि जो विसंगतिपूर्ण है वह आभास है, इसलिए जो विसंगतियों से रहित अर्थात् सामञ्जस्यपूर्ण है वह सत् है। ब्रैडले द्वारा प्रस्तुत अबाधितत्व की इस कसौटी के विरुद्ध अनेक आक्षेप प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार ब्रैडले के द्वारा प्रस्तुत अबाधितत्व (Non-Contradiction) की कसौटी अनुभव के द्वारा ही विकसित हुई है। अतः यह मानदण्ड अनुभव-सापेक्ष है। इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि अनुभव से विकसित होते हुए भी यह मानदण्ड अनुभव-निरपेक्ष हो जाता है। वस्तुतः ज्ञान भी स्वरूपतः अन्तर्विरोधों से रहित होता है। अतः ज्ञान स्वरूप अर्थात् चेतन सत्ता का एकमात्र निरपेक्ष मानदण्ड अबाधितत्व ही हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि क्या निरपेक्ष सत् के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अन्य मानदण्ड नहीं हो सकते हैं? ब्रैडले के अनुसार अनेक मानदण्डों को स्वीकार करने में एक समस्या यह आती है कि इन विभिन्न मानदण्डों में किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया जाय? प्रश्न उठता है कि ये विभिन्न मानदण्ड परस्पर सम्बन्धित हैं अथवा असम्बन्धित? यदि इन विभिन्न मानदण्डों को परस्पर सम्बन्धित मान लिया जाय तो ये सभी मानदण्ड एक सर्वसमावेशी सम्बद्धता के मानदण्ड के अन्तर्गत समावेशित हो जाते हैं। अतः हम पुनः एक अंतिम मानदण्ड को तर्कतः स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि इन मानदण्डों को परस्पर असम्बद्ध मान लिया जाय तो वे परस्पर एक-दूसरे के विपरीत होंगे और इस प्रकार उन्हें अंतिम मानदण्ड के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। ब्रैडले के अनुसार अनेकता विरोध की जननी है। जहाँ विरोध होगा, वहाँ विसंगति होगी। जहाँ विसंगति होगी, वहाँ किसी तत्त्व या मानदण्ड को निरपेक्ष (Absolute) नहीं माना जा सकता है।

चूँकि प्रत्येक आभास सम्बन्ध-सापेक्ष होने के कारण आत्म-व्याघाती होता है, इसलिए परोक्ष रूप से कहा जा सकता है कि निरपेक्ष सत् समस्त सम्बन्धों से रहित अर्थात् सम्बन्ध-निरपेक्ष एवं सर्व समावेशी है। इससे स्पष्ट है कि निरपेक्ष सत्ता विभक्त अथवा खंडित नहीं हो सकती है क्योंकि वह पूर्ण एवं असीम है। जो खंडित या विभक्त है, वह सीमित होगा। एक सीमित इकाई को सीमित करने वाली दूसरी इकाई भी सीमित होती है। अतः सीमित होने के कारण अनेक खण्डों में विभक्त इकाइयों परस्पर सापेक्ष होती है। ब्रैडले के अनुसार अनेकता को स्वीकार करने से सीमा में बँध जाना स्वाभाविक हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि निरपेक्ष सत् एक (अद्वितीय) ही हो सकता है, अनेक नहीं। चूँकि निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत समस्त सीमित इकाइयों समाविष्ट हो जाती हैं, इसलिए निरपेक्ष सत्ता को सर्वसमावेशी (All inclusive) कहा गया है। किन्तु निरपेक्ष सत् का यह एकत्व ऐसा नहीं है जो अनेकताओं से पूर्णतया शून्य हो। वस्तुतः परमसत् के अंतर्गत अनेकताएँ अर्थात् सीमित इकाइयों सामञ्जस्यपूर्ण रूप में विलीन हो जाती

हैं। इस बिन्दु पर ब्रैडले का मत अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अनेकता को मिथ्या कहा गया है।¹

ब्रैडले के अनुसार अनेकता मिथ्या नहीं है, बल्कि आभास है। आभासों का निरपेक्ष सत्ता के अन्तर्गत कहीं न कहीं स्थान अवश्य होना चाहिए। इसके विपरीत शंकराचार्य के दर्शन में ब्रह्म के अन्तर्गत अनेकता का कोई स्थान नहीं हो सकता है। उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य अपने ब्रह्म को 'एक' नहीं कहते हैं क्योंकि एक और अनेक परस्पर आपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। 'एक' कहने मात्र से अनेकता की व्यंजना हो जाती है। यही कारण है कि अद्वैती अपने दर्शन को 'एकतत्त्ववाद' न कह करके 'अद्वैतवाद' (Non-dualism) कहते हैं। अद्वैत का शाब्दिक अर्थ है — द्वैत का न होना। यह एक प्रकार से निषेधात्मक दृष्टि है। किन्तु ब्रैडले के दर्शन में अनेकता को आभास इसलिए कहा गया है क्योंकि यह सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत् के अंतर्गत अनेकता सामञ्जस्यपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार उसका अंतर्विरोध समाप्त हो जाता है क्योंकि निरपेक्ष सत् के अंतर्गत किसी प्रकार की विसंगति नहीं पाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि सामञ्जस्यपूर्णता को निरपेक्ष सत् की विध्यात्मक (Positive) कसौटी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके विपरीत जगत् की किसी भी वस्तु में सुसंगति नहीं पाई जाती है। अतः उन्हें आभास कहते हैं। ये आभास परम सत्ता के अन्तर्गत अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उनकी विसंगति सुसंगति में परिणत हो जाती है।²

ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत् एक सर्वसमावेशी तत्त्व है क्योंकि उसके अंतर्गत अनेकताएँ नष्ट नहीं होती हैं। ब्रैडले ने इसे एक व्यष्टि (Individual) कहा है। सभी सीमित इकाइयाँ निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत संशोधित अथवा परिमार्जित रूप में विद्यमान रहती हैं। यह पूर्ण इकाई उसका समन्वित रूप है। किन्तु इसका निहितार्थ यह नहीं है कि निरपेक्ष सत् की पूर्णता सीमित इकाइयों का समुच्चय मात्र है। दूसरे शब्दों में, निरपेक्ष सत् सीमित इकाइयों का संकलनमात्र नहीं है, बल्कि उससे अधिक है। यद्यपि निरपेक्ष सत् में व्यष्टित्व (Individuality) है, तथापि उसका व्यष्टित्व व्यक्तित्व (personality) से भिन्न है। इसीलिए ब्रैडले निरपेक्ष सत् में व्यक्तित्व का आरोपण नहीं करता है। निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत सीमित इकाइयाँ व्यक्ति (Person) से परे अति व्यक्ति (Super Person) हो जाती हैं।³

ब्रैडले की इन मान्यताओं से यह सिद्ध होता है कि निरपेक्ष सत् एकत्त्व एवं व्यक्तित्व से युक्त होने के साथ-साथ 'मूर्त सामान्य' (concrete universal) भी है। इससे स्पष्ट है कि हेगल के समान ब्रैडले भी अपने परम तत्त्व को मूर्त सामान्य मानता है। किन्तु उसका निरपेक्ष सत् प्लेटो के सामान्य के सदृश नहीं है। प्लेटो के अनुसार 'शुभ का प्रत्यय' विशेषों से परे है। इसके विपरीत ब्रैडले का निरपेक्ष सत् सामान्य होते हुए भी अनेकताओं में अन्तर्व्याप्त है। यह अनेक स्थूल एवं सीमित इकाइयों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। अतः इसे प्लेटो के सामान्यों के समान विशेषों से परे नहीं कहा जा सकता है। इस बिन्दु पर ब्रैडले हेगल के पर्याप्त निकट है

1 नेह नानाऽस्ति किञ्चन.

2 Appearance and Reality, p. 363.

3 Ibid, 531.

क्योंकि उसका परमसत् ऐसा सामान्य है जिसमें सभी विशेष इकाइयाँ समन्वित रूप में विलीन हो जाती हैं। अतः निरपेक्ष सत् की एकता वास्तविक है, अमूर्त नहीं। निरपेक्ष सत् ही सभी सीमित इकाइयों को परिपूर्णता प्रदान करता है। इससे स्पष्ट है कि सभी सीमित इकाइयाँ अपनी सत्ता के लिए निरपेक्ष सत् पर आश्रित होती हैं। निरपेक्ष सत् और सीमित इकाइयों में आन्तरिक सम्बन्ध है। जिन तत्त्वों में आन्तरिक सम्बन्ध होता है, वे एक-दूसरे से अवियोज्य (Inseparable) होते हैं।

प्रश्न उठता है कि सीमित इकाइयों में विसंगति का कारण क्या है? ब्रैडले के अनुसार इस विसंगति का कारण मनुष्य का खण्डित अथवा संकुचित दृष्टिकोण है। निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत सीमित इकाइयाँ खण्डित या विभाजित नहीं हो सकती हैं क्योंकि परमसत् अखण्ड, अनन्त, अविभाज्य और सर्वसमावेशी एकत्व है। ब्रैडले के इस सिद्धान्त के विपरीत बहुलवादी प्रत्ययवाद के समर्थक एक अन्य विचारक मैक्टागर्ट के अनुसार ईश्वर अनेक सीमित इकाइयों (जीवात्माओं) की समष्टि है। किन्तु ब्रैडले निरपेक्ष सत् को सीमित इकाइयों का समूह अथवा योग मात्र नहीं कहता है। उसका परमसत् सीमित इकाइयों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। यद्यपि उसमें अनेकता असत् नहीं हो जाती है, तथापि परमसत् के अन्तर्गत अनेकता का विरोध रूपी डंक टूट कर एक समन्वित एकता में रूपान्तरित हो जाता है।

ब्रैडले के पूर्व हेगल एवं ग्रीन ने अनुभववाद का निराकरण करके बुद्धिवादी मान्यताओं को स्थापित करने का प्रयास किया था। ब्रैडले ने अनुभूति को विशेष महत्त्व प्रदान किया। उसके अनुसार तत्त्व-ज्ञान का मूल आधार अनुभूति ही हो सकती है। परमतत्त्व के अन्तर्गत विविधताएँ परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हो जाती हैं। विरोध से रहित अनेकता सर्व समावेशी अनुभूति की एकता के अन्तर्गत ही संभव है। अतः ब्रैडले अपने निरपेक्ष तत्त्व को बौद्धिक कहने की अपेक्षा अनुभूति परक कहना अधिक युक्तिसंगत मानता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के दर्शन का निष्कर्ष हेगल के द्वारा स्थापित मान्यताओं से भिन्न है। उसके परमतत्त्व की अवधारणा के अंतर्गत सभी सम्बन्धों का पूर्ण रूप से अतिक्रमण हो जाता है। हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में सभी पूर्ववर्ती अवस्थाएँ निरपेक्ष प्रत्यय के अन्तर्गत समन्वित हो जाती हैं, परन्तु वे अपनी सापेक्षता को बनाए रखती हैं। हेगल से प्रभावित ब्रैडले के दर्शन में निरपेक्ष सत्ता के अन्तर्गत समस्त आभास अपनी अनेकता को बनाए रखते हुए उस निरपेक्ष अनुभूति में विलीन हो जाते हैं। यद्यपि ब्रैडले नव्य-हेगलवादी परंपरा का अनुगमन करते हुए निरपेक्षतावाद का प्रतिपादन करता है, तथापि उसके दर्शन का निहितार्थ हेगल के द्वारा स्थापित मान्यताओं से भिन्न है। वह हेगल की बौद्धिकता के विपरीत अनुभूति को विशेष महत्त्व देता है। चेतना ही वह माध्यम है जिसके द्वारा सत्ता अपने को अभिव्यक्त करती है। इससे स्पष्ट है कि चेतना की परिधि के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता है। टी० एच० ग्रीन के समान ब्रैडले भी काण्ट के पारमार्थिक स्वलक्षणों को अस्वीकार कर देता है। काण्ट पारमार्थिक स्वलक्षणों को चेतना की परिधि से बाहर मानता है। इसके विपरीत ब्रैडले निरपेक्ष अनुभूति से परे किसी अन्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। वस्तुतः ब्रैडले की निरपेक्ष अनुभूति-स्वरूप चेतन सत्ता समस्त सम्बन्धों का अतिक्रमण कर जाती है। अतः उसे समन्वयात्मक अनुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है। यह हेगल के द्वारा मोन्य समन्वयात्मक बुद्धि का विषय नहीं हो सकता है। इस प्रकार

ब्रैडले का परमसत् विषयी और विषय के द्वैत से परे एक अविभाज्य एवं अखण्ड चेतन एकता की अनुभूति है।

ब्रैडले का निरपेक्ष सत् पूर्ण है। उसमें विचार, भावना एवं संकल्प ये तीनों तत्त्व अपनी समग्र पूर्णता में अन्तर्निहित हैं। निरपेक्ष सत् से पृथक् रूप में विचार, भावना एवं संकल्प, ये तीनों अपनी पूर्णता के लिए एक-दूसरे पर निर्भर हैं। चूँकि परमसत् के अन्तर्गत सभी स्तरों के विरोध, अपूर्णताएँ एवं सापेक्षता समन्वित रूप में स्थित हैं, इसलिए परमसत् प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है। ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत हम बौद्धिक अनुशीलन से सम्बद्ध होते हैं। बौद्धिक संतोष ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक स्तर के सामंजस्य एवं समन्वय का व्यावहारिक जीवन के सामञ्जस्य एवं समन्वय से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। ब्रैडले के अनुसार जो सैद्धान्तिक दृष्टि से संतोषप्रद हो, यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यवहार में भी संतोष प्रदान करता हो। संसार में व्याप्त अशुभ, अशान्ति, दुःख, निराशा आदि का निरपेक्ष सत् के साथ सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? यद्यपि दुःख अशुभ है तथापि व्यावहारिक जीवन में हमें उसका अनुभव होता है। इसलिए जीवन में दुःख का निषेध नहीं किया जा सकता है।

ब्रैडले के अनुसार जीवन को दुःखमय कहना मनुष्य के निराशावादी दृष्टिकोण का द्योतक है। दुःख की अनुभूति, मानव-जीवन की असफलताएँ एवं अनैतिकता की प्रतीति मनुष्य के निराशावादी और संकुचित दृष्टिकोण के कारण होती है।¹ यदि व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सुख की मात्रा दुःख की अपेक्षा अधिक होती है। निरपेक्ष सत्ता के अन्तर्गत दुःख न केवल खो जाता है, बल्कि सुख की वृद्धि का कार्य करता है। भविष्य में सुख की वृद्धि के लिए दुःख का होना आवश्यक है। पूर्ण सत् के अन्तर्गत सुख एवं दुःख, सफलता एवं विफलता आदि द्वन्द्वों का इस प्रकार समन्वय हो जाता है कि उसका सत्यापन और तार्किक विवेचन करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। किन्तु इस प्रकार की पूर्णता बोधगम्य है क्योंकि निरपेक्ष सत् पूर्ण है। अतः इस प्रकार की सामञ्जस्यपूर्णता का उसमें अस्तित्व अवश्य होना चाहिए।² उसके अनुसार निरपेक्ष सत् की पूर्णता में सभी प्रकार के भेदों, विरोधों, अशुभ आदि का विलय भले ही हो जाय, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अंतर्वस्तु से रहित एक अवशेषमात्र है जिसे कुछ दार्शनिक स्वलक्षण वस्तु कहते हैं। निरपेक्ष सत् हमारी सभी कल्पनाओं से अधिक समृद्ध, पूर्ण और अवर्णनीय है। अतः वह हमारी वैचारिक कोटियों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं हो सकता है।

¹ ब्रैडले का यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के प्रथम आर्य सत्य 'सर्वं दुःखम्' से तुलनीय है। बौद्धों ने सांसारिक जीवन को दुःखमय कहा है। किन्तु निर्वाण के अंतर्गत दुःख को स्वीकार नहीं किया गया है। सुख और दुःख दोनों केवल सांस्कृतिक जीवन में हैं। ब्रैडले के अनुसार भी दुःख एक आभास है जो मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण के कारण है। इस प्रकार ब्रैडले निरपेक्ष सत् के अंतर्गत दुःख को सुख के उद्दीपक के रूप में स्वीकार करता है। वेदान्त के अनुसार विधि-निषेध, उचित-अनुचित, सुख-दुःख आदि की सत्ता केवल व्यावहारिक जीवन में है, पारमार्थिक जीवन इनसे परे होता है।

'निर्वैगुणियं विचरताम् को विधिः को निषेधः'.

² "But for all that such perfection in its general idea is intelligible and possible. And because the Absolute is perfect, this harmony must also exist." Ibid, p. 177.

ब्रैडले ने निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) और ईश्वर में स्पष्ट रूप से भेद किया है। ईश्वर धार्मिक आस्था का विषय है। धार्मिक आस्था के कारण ही मानव और ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित होता है। धार्मिक सम्प्रदायों के द्वारा मान्य ईश्वर सम्बन्ध-सापेक्ष होने के कारण सीमित हो जाता है। वस्तुतः धर्म के अन्तर्गत ईश्वर और मनुष्य में द्वैत पाया जाता है। जहाँ द्वैत (भेद) है, वहाँ सीमा है। जहाँ सीमा एवं भेद है, वहाँ विरोध है। चूँकि ईश्वर और मनुष्य दोनों सीमित हैं, इसलिए उनमें सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। ईश्वर और मनुष्य अथवा भगवान और भक्त दोनों दो ध्रुवों पर हैं। यदि ईश्वर सीमित न होता तो उसके साथ किसी अन्य इकाई का सम्बन्ध स्थापित न हो पाता क्योंकि जो अनन्त है उसमें सभी सीमित इकाइयाँ विलीन हो जाती हैं। वस्तुतः अनन्त सर्वसमावेशी होता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के अनुसार केवल सीमित सत्ताओं में ही सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। धार्मिक मान्यताएँ दार्शनिक (तार्किक) दृष्टि से अपर्याप्त होती हैं। यदि मनुष्य धार्मिक आस्था का सहारा न ले तो ईश्वर का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता है। ईश्वर मनुष्य के मन की कल्पना मात्र है। उसे निरपेक्ष सत् नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ब्रैडले के अनुसार ईश्वर भी एक आभासी सत्ता है। अतः उसे परम सत् नहीं कहा जा सकता है। जब तक मनुष्य अज्ञान से ग्रस्त रहता है, केवल उसी समय तक ईश्वर मनुष्य के लिए आराध्य और अस्तित्वयुक्त होता है। ब्रैडले के समान शंकराचार्य ने भी ईश्वर को परमसत् अर्थात् ब्रह्म नहीं माना है। शंकर के अनुसार सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की अवधारणा अध्यास से ग्रस्त है। उसमें सत् के साथ-साथ आभास भी सम्मिलित है। अतः ईश्वर परमसत् से निम्नस्तरीय है। उसमें जो सत्यांश है, वही अद्वैत-वेदान्त का परमार्थ (ब्रह्म) है। ईश्वर की अवधारणा ब्रह्म के तटस्थ लक्ष्य के आधार पर की गई है। अद्वैत-वेदान्ती स्वरूप लक्षण की दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। किन्तु इस दृष्टि-भेद से तात्त्विक भेद की सिद्धि नहीं होती है। उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदान्तियों का पारमार्थिक ब्रह्म अनेकता को सामञ्जस्यपूर्ण बनाने वाला एकत्व मात्र नहीं है (जैसा कि ब्रैडले के दर्शन में है)। एकता और अनेकता दोनों परस्पर सापेक्ष होने के कारण आभास मात्र है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले और शंकर परम तत्त्व के निरूपण में एक-दूसरे के निकट हैं, परन्तु इन दोनों विचारकों में सैद्धान्तिक दृष्टि से मौलिक मतभेद हैं। जहाँ शंकराचार्य के दर्शन में अनेकता या आभास व्यावहारिक सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि से अनेकता (आभासों) का ब्रह्म के अंतर्गत कोई स्थान नहीं है, वहीं इसके विपरीत ब्रैडले निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत आभासों को स्वीकार करता है। वह कहता है कि आभासों के अभाव में सत् असंभव है क्योंकि आभासों के अतिरिक्त निरपेक्ष सत् के पास कोई अन्य संपत्ति नहीं पाई जाती है। इसका निहितार्थ यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से निरपेक्ष सत् के अंतर्गत भले ही आभास हों, तथापि सत् के स्तर पर सभी विरोधों का समन्वय हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि शंकर के अनुसार आभास मिथ्या हैं, परन्तु ब्रैडले के अनुसार आभास असत् अथवा मिथ्या नहीं है। वे आभास इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि अन्तर्विरोधग्रस्त हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित विशुद्ध चैतन्य है, किन्तु ब्रैडले का सर्वसमावेशी परमसत् अपने में समस्त भेदों को समन्वित करके मूर्त सामान्य हो जाता है।

चूँकि सीमित इकाइयों के लिए तत्त्व के ज्ञान का एकमात्र आधार विचार है, इसलिए सम्बन्ध-सापेक्ष विचार के द्वारा सर्वसमावेशी एवं सम्बन्ध-निरपेक्ष परमतत्त्व को जानना असंभव है। मानव-बुद्धि केवल व्यावहारिक जगत् को ही जान सकती है। इस प्रकार ब्रैडले काष्ट के

समान बौद्धिक कोटियों के द्वारा तत्त्वज्ञान को असंभव मानता है। निरपेक्ष सत् का साक्षात्कार अति संबंधात्मक अनुभूति (Supra-relational experience) के द्वारा ही संभव है। यद्यपि विचार इस अनुभूति से रहित होता है, तथापि ब्रैडले ऐसी अनुभूति को सिद्धान्ततः संभव मानता है। वस्तुतः ब्रैडले हेगल और काण्ट के बीच का रास्ता अपनाता है। उसके अनुसार, यद्यपि विचार के द्वारा निरपेक्ष सत् का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है, तथापि उसका एक प्रतिबिम्ब (अलक) अवश्य मिल जाता है।

विचार और सत् (Thought and Reality)

चूँकि तत्त्वमीमांसा सत् को विचार के माध्यम से जानने का प्रयास है, इसलिए विचार के स्वरूप का निरूपण करना आवश्यक है। हेगल के अनुसार विचार और सत्ता दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके विपरीत ब्रैडले विचार के स्वरूप को सत्ता की प्रकृति से भिन्न मानता है। प्रत्येक सीमित इकाई स्वभावतः यथार्थ और आदर्श के द्वन्द्व से ग्रस्त होती है। उसमें 'असीमित' बीज रूप में निहित होता है। प्रत्येक सीमित इकाई में असीमित को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा पायी जाती है। इसी बात को ब्रैडले 'वह' और 'क्या' का द्वैत कहता है। विचार भी इस द्वैत से ग्रस्त होता है, अतः विचार आभास है।

ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक अस्तित्व-युक्त वस्तु में एक अविभाज्य एकता पायी जाती है। अतः यथार्थ वस्तु के अन्तर्गत 'वह' और 'क्या' अर्थात् 'अस्तित्व' और 'अन्तर्वस्तु' का भेद नहीं पाया जाता है। किन्तु वैचारिक दृष्टि से 'अस्तित्व' और 'अन्तर्वस्तु' में भेद किया जाता है। ब्रैडले विचार के अन्तर्गत 'वह' और 'क्या' इन दोनों पक्षों में स्वाभाविक रूप से भेद मानता है। यह विचार का स्वभाव है कि वह काल्पनिक या प्रत्ययात्मक होता है। विचार अस्तित्व (Existence) को अन्तर्वस्तु (Content) से अलग करके ही निर्णय करता है। चूँकि विचार प्रत्ययात्मक होता है और प्रत्यय केवल 'क्या' (What) से सम्बन्ध होता है। इसलिए वह (प्रत्यय) यथार्थ नहीं हो सकता है। प्रत्ययात्मकता अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के अलगाव में निहित है। किन्तु सत्ता के अन्तर्गत 'वह' और 'क्या' अवियोज्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि विचार और सत्ता की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न होती है।

ब्रैडले के दर्शन में एक प्रमुख समस्या यह है कि यदि विचार और सत्ता दोनों स्वभावतः एक-दूसरे से भिन्न हैं तो विचार के द्वारा सत्ता को कैसे जाना जा सकता है? यदि निरपेक्ष सत् विचार से परे है तो क्या विचार के द्वारा उसे जानने का प्रयास निरर्थक है? चूँकि विचार अपने स्तर पर कभी भी 'वह' और 'क्या' अर्थात् यथार्थ और आदर्श के द्वैत का अतिक्रमण नहीं कर सकता है, इसलिए उसे अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के लिए अपने यथार्थ स्वरूप से वंचित होना पड़ता है। इस प्रकार विचार को अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आत्महत्या करनी पड़ेगी।¹ ब्रैडले के अनुसार विचार अनुभव सपेक्ष होता है क्योंकि उसे अपने उपादान के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहना पड़ता है। केवल विचार के द्वारा किसी तथ्य को पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है क्योंकि विचार में साक्षात्कारित्व (Immediacy) का अभाव पाया जाता है। किसी वस्तु का साक्षात् बोध अनुभव के बिना नहीं हो सकता है। विचार

1 Thought must commit suicide in order to become a whole.

चाहे जितनी कुशलता से तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास क्यों न करे, वह उसे पूरी तरह प्रस्तुत नहीं कर सकता है। ब्रैडले चेतना के तीन स्तरों का उल्लेख करता है —

चेतना की प्रथम अवस्था अधो-सम्बन्धात्मक अव्यवहित अनुभूति से सम्बन्धित है। इस अवस्था में वस्तु मात्र की प्रतीति होती है। यह गुणों से शून्य वस्तुमात्र का ज्ञान है। इसे वस्तु की 'तद्गता' (Thatness) की प्रतीति कहा जा सकता है। इस अवस्था में बौद्धिक विश्लेषण का कार्य अभी प्रारंभ नहीं हुआ है। यह एक काल्पनिक अवस्था है जिसका ज्ञान बहुत कम लोगों को होता है। वास्तव में, किसी वस्तु के अस्तित्व की प्रतीति होते ही हम उसका विश्लेषण करना प्रारंभ कर देते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से इस अवस्था का अनुभव शायद ही कोई कर पाता है। यही कारण है कि ब्रैडले इसे एक काल्पनिक अवस्था कहता है। विशुद्ध संवेदना की इस अवस्था को ब्रैडले सम्बन्धपूर्ण अवस्था मानता है।

चेतना के विकास की द्वितीय अवस्था में विश्लेषण का कार्य प्रारंभ हो जाता है। हम वस्तु का विश्लेषण उसके गुणों में करना प्रारंभ कर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धात्मक चेतना का उदय होता है। ब्रैडले इसे ही विचार की अवस्था कहता है। इससे स्पष्ट है कि विचार स्वरूपतः विश्लेषणात्मक, विमर्शात्मक और सम्बन्ध-सापेक्ष होता है। इससे सिद्ध होता है कि विमर्शात्मकता और विश्लेषणीयता विचार की प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। इसके फलस्वरूप विचार अखण्ड और अविभाज्य सत्ता की एकता का विश्लेषण करके उसे अस्तित्व और अन्तर्वस्तु में विभक्त कर देता है। यह विचार का स्वभाव है कि वह किसी तथ्य को ग्रहण करने के लिए सर्वप्रथम उसकी अविभाज्य एकता का विश्लेषण करके उसे अनेक खण्डों में विभक्त कर देता है। किन्तु विचार का कार्य यहीं पर समाप्त नहीं होता है। विचार इन विभक्त खण्डों को सम्बन्धों के आधार पर पुनः जोड़ने का प्रयास करता है। किन्तु विचार जिन सम्बन्धों के द्वारा विभक्त खण्डों को जोड़ने का प्रयास करता है, वे विचार की अपनी कृत्रिम रचना हैं। इस प्रकार विचार के द्वारा सृजित सम्बन्ध एवं खण्ड दोनों ही वास्तविक नहीं हैं। ब्रैडले के अनुसार विचार के द्वारा ज्ञात ये कृत्रिम तत्त्व व्यावहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हों, परन्तु उनके द्वारा सत्ता का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। चूँकि परमसत् समस्त सम्बन्धों से निरपेक्ष है, इसलिए पदों और सम्बन्धों से युक्त विचार के द्वारा उसे पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। अतः मनुष्य विचार के स्तर पर पूर्ण संतुष्ट नहीं हो सकता है। ब्रैडले के अनुसार विचार सत्ता की अभिव्यक्ति प्रत्ययों के माध्यम से ही कर सकता है। प्रत्यय सामान्य होते हैं। इसके विपरीत सत्ता के अंतर्गत सामान्य एवं विशेष दोनों का समावेश होता है। अतः विचार अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता है। विचार सत्ता को तभी अभिव्यक्त कर सकता है, जब उसमें साक्षात्कारित्व का समावेश हो। किन्तु ऐसा होने पर विचार को अपने वास्तविक स्वरूप का परित्याग करना पड़ेगा। इस अवस्था में विचार अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विचार, विचार नहीं रह जाता है। इस संदर्भ में ब्रैडले का यह कथन प्रसिद्ध है — 'विचार संबंधात्मक और विमर्शात्मक होता है और यदि उसका यह स्वभाव समाप्त हो जाय तो उसने निश्चित ही आत्महत्या कर ली है और यदि उसका स्वभाव वैसा ही रह जाय तो फिर प्रश्न है कि उसमें अव्यवहित ज्ञान (अनुभूति) का समावेश कैसे किया जाय?'¹ शंकर और ब्रैडले दोनों

1 "Thought is relational and discursive, and if it ceases to be this, it commits suicide and yet, if it remains this, how does it contain immediate presentation?"
— Appearance and Reality, p. 150.

ही तर्क के द्वारा पारमार्थिक सत्ता के ज्ञान को संभव नहीं मानते हैं। वे तत्त्व-साक्षात्कार के लिए अपरोक्षानुभूति का सहारा लेते हैं। शंकराचार्य के दर्शन में अपरोक्षानुभूति के अन्तर्गत विचार को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत ब्रैडले के दर्शन में विचार को पूर्णता प्राप्त करने के लिए आलस्य करनी पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले निरपेक्ष सत् के साक्षात्कार के लिए विचार की असमर्थता को विचार का दोष मानते हैं। किन्तु शंकर के अनुसार 'वह' (That) एवं 'क्या' (What) का अलगाव तर्कशास्त्र का अनिवार्य दोष नहीं है। शंकर तर्क और श्रुति पर आधारित अपरोक्षानुभूति (दैवी-प्रकाशना) को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं।

निर्णय का स्वरूप (Nature of Judgement)

ब्रैडले के अनुसार विचार के द्वारा सत्ता की अभिव्यक्ति 'निर्णय' (Judgement) के माध्यम से होती है। निर्णय के दो पक्ष हैं— उद्देश्य और विधेय। किसी निर्णय का उद्देश्य पद अस्तित्ववाचक और विधेय पद विचार के माध्यम से प्रस्तुत तत्त्व की अन्तर्वस्तु (Content) को अभिव्यक्त करता है। उद्देश्य पद के द्वारा निर्दिष्ट अस्तित्व के अन्तर्गत 'वह' और 'क्या' दोनों संश्लिष्ट और अवियोज्य रूप में होते हैं। किन्तु विधेय पद केवल 'क्या' (What) अर्थात् अन्तर्वस्तु को निर्दिष्ट करता है। अतः निर्णयात्मक विचार के लिए यह असंभव है कि वह अस्तित्व के अन्तर्गत समाविष्ट 'वह' एवं 'क्या' के अवियोज्य स्वरूप को केवल 'क्या' (अन्तर्वस्तु) के माध्यम से अभिव्यक्त करे। यद्यपि विचार सत्ता को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है, तथापि वह अपनी इस द्वैत-ग्रस्त प्रकृति के कारण सफल नहीं हो सकता है। सत्ता के अन्तर्गत विधेय इस प्रकार नहीं रहते हैं कि उन्हें अस्तित्व से पृथक् किया जाय। किन्तु निर्णयात्मक विचार की सत्ता उद्देश्य से विधेय के पार्थक्य पर निर्भर है। निर्णय सत्ता में एक विशेषण जोड़ देता है। यह विशेषण एक प्रत्यय होता है। ब्रैडले के अनुसार निर्णय दो ऐसे पक्षों 'क्या' और 'वह' का पुनर्मिलन है जो अस्थायी रूप से पृथक् हो गए थे। परन्तु विचार की प्रत्ययात्मकता इन दोनों पक्षों के अलगाव से संबंधित है।¹

इससे स्पष्ट है कि विचार के द्वारा सत्ता की संश्लिष्ट एकता को पहले खण्डों में विभक्त किया जाता है। उसके बाद संबंधों के आधार पर इन विभक्त खण्डों को पुनः संश्लिष्ट करने का प्रयास किया जाता है। किन्तु संबंधों के आधार पर विचार के द्वारा प्रस्तुत सत्ता का यह चित्र कृत्रिम है। अतः विचार सत्ता के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होता है। वस्तुतः पूर्ण सत्ता (तत्त्व) को ग्रहण करने के लिए विचार को अपनी अपूर्णता का परित्याग करना पड़ेगा। किन्तु विडम्बना यह है कि इस अपूर्णता का परित्याग करने के बाद विचार अपनी संज्ञा से ही वंचित हो जाता है, अर्थात् अपने सीमित, अपूर्ण और द्वैतग्रस्त स्वरूप का परित्याग कर देने के बाद विचार, विचार नहीं रह जाता है। परन्तु ब्रैडले काण्ट के समान अज्ञेयवादी नहीं है। विचार भले ही सत्ता के स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रस्तुत न कर सके, फिर भी विचार के द्वारा उसकी एक झलक अवश्य प्रस्तुत कर सकता है। अतः ब्रैडले पूर्णतः अज्ञेयवादी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले काण्ट के अज्ञेयवाद और हेगल के 'सर्वज्ञेयवाद' से बचने का प्रयास करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह

1 Judgement is essentially the re-union of two sides 'What' and 'that' provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thought's ideality consists. Ibid, p. 145.

काण्ट और हेगल के मतों में समन्वय करने का प्रयास करता है। इसके फलस्वरूप वह सर्वज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद के बीच का मार्ग (मध्यममार्ग) अपनाता है। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने विचार (बुद्धि-विकल्प) और सत्ता (परमार्थ) में पूर्ण रूप से द्वैत स्थापित किया है। इसके विपरीत हेगल विचार और सत्ता को एक मान लेता है। ब्रैडले इन दोनों अतियों के बीच का मार्ग अपनाता है। उसके अनुसार यद्यपि विचार और सत्ता में अभेद नहीं है, तथापि विचार इतना अक्षम नहीं है कि वह सत्ता का एक सामान्य चित्र भी न प्रस्तुत कर सके।

विचार के स्तर पर मनुष्य संबंधों के जाल में उलझ जाता है। इस अवस्था में एक बार उलझ जाने के बाद मनुष्य का पुनः पहली अवस्था (अधो-संबंधात्मक) में आना असंभव हो जाता है। अतः वह अपने बौद्धिक स्तर का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है। पूर्ण अनुभूति की अवस्था में मनुष्य को अपने वैचारिक (बौद्धिक) स्तर का बलिदान करना पड़ता है। चेतना की यह अति-संबंधात्मक अवस्था विचार के पूर्वस्तर की अनुभूतियों से मौलिक रूप में भिन्न है। ब्रैडले के इस सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुए मेड्ज ने कहा है कि मनुष्य अपनी साक्षात् अनुभूतियों की शुद्ध और सरल अवस्था का परित्याग करके वैचारिक स्तर (संबंधात्मक अवस्था) पर आने का अपराध कर बैठता है। पूर्ण अनुभूति के स्तर को प्राप्त कर लेने पर ही वह संबंध-सापेक्ष वैचारिक स्तर के कुचक्र से मुक्त हो सकता है।¹ किन्तु पूर्ण अनुभूति की इस अवस्था में अपूर्ण अनुभूतियों एवं आभासों का नाश नहीं होता है। उनकी परस्पर विसंगति एवं संबंध-सापेक्षता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार वे एक समग्र अनुभूति के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त करके सामञ्जस्यपूर्ण हो जाती हैं। यही कारण है कि ब्रैडले निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत पूर्ण सत्य, पूर्ण शुभ एवं पूर्ण सौन्दर्य का समावेश करते हुए भी असत्य एवं भ्रम, अशुभ एवं असौन्दर्य (कुरूपता) को किसी न किसी रूप में स्थान प्रदान करता है। यदि निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत असत्य, अशुभ एवं कुरूपता को स्थान न दिया जाय तो वे कहाँ रहेंगे? यदि इन विद्रूपताओं एवं अशुभ को निरपेक्ष सत् से पृथक् माना जाय तो द्वैतवाद से नहीं बचा जा सकता है। इसके फलस्वरूप निरपेक्ष सत् की पूर्णता का दावा ही खोखला हो जायेगा। अतः ब्रैडले निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत ही अशुभ को भी स्थान देता है। किन्तु निरपेक्ष सत् में विलीन हो जाने पर अशुभ का अशुभत्व समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में वह शुभ की अभिवृद्धि का कार्य करता है। अशुभ की प्रतीति मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण के कारण होती है। ब्रैडले के समक्ष एक समस्या यह है कि एक ही निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं? एक ही सत् शुभ एवं अशुभ, सत्य एवं भ्रम दोनों का अधिष्ठान कैसे हो सकता है? इस समस्या का समाधान करने के लिए ब्रैडले ने सत्य एवं भ्रम की व्याख्या की है।

सत्य एवं भ्रम (Truth and Error)

सत्यता और असत्यता निर्णयों की विशेषताएँ हैं। यदि किसी निर्णय के उद्देश्य के साथ उसकी अन्तर्वस्तु एक सुसंगतिपूर्ण विधेय का विधान करती है तो उसे सत्य निर्णय कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि किसी निर्णय के उद्देश्य एवं विधेय में सामञ्जस्य हो तो उसे सत्य निर्णय कहा जाता है। इसके विपरीत यदि किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय में सामञ्जस्य का अभाव होता है तो उसे असत्य निर्णय कहते हैं। प्रत्येक निर्णय का विधेय पद परिवर्तनशील

होता है। निर्णय के परिवर्तनशील होने के कारण सत्य भी निरन्तर एक गतिशील प्रक्रिया बन जाता है। ब्रैडले के अनुसार किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय पदों में पूर्ण सामञ्जस्य का अभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए, इस निर्णय को लिया जा सकता है — 'गुलाब लाल है।' यदि कोई व्यक्ति उद्यान में खिले हुए गुलाब के फूल को देखकर यह कहता है कि 'गुलाब लाल है' तो यह एक सत्य निर्णय होगा। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि 'गुलाब सफेद या पीला है' तो यह निर्णय असत्य होगा। ब्रैडले की दृष्टि से विचार किया जाय तो गुलाब की लालिमा भी निरपेक्ष सत् के अंतर्गत किसी न किसी रूप में समाहित है। विचार के द्वारा उद्देश्य और विधेय में संबंध स्थापित करने के कारण उसे एक निर्णय का रूप दिया गया है। इस निर्णय के उद्देश्य और विधेय में सामञ्जस्य है, अतः यह एक सत्य निर्णय होगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सफेदी, पीलापन इत्यादि का निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत अभाव है। यदि 'गुलाब सफेद है' इस निर्णय का प्रयोग एक संकुचित संदर्भ में करते हैं तो यह निर्णय असत्य होगा, क्योंकि उसके उद्देश्य और विधेय में सुसंगति का अभाव है। यदि इस निर्णय का प्रयोग इस सीमित क्षेत्र (जैसे सामने के बाग वाले गुलाब) से हटकर निरपेक्ष सत्ता के संदर्भ में करते हैं तो यह निर्णय असत्य नहीं हो सकता है। इसी कारण ब्रैडले असत्य निर्णय को-आंशिक सत्य कहता है। जो निर्णय एक सीमित संदर्भ में सत्य है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सभी संदर्भों में सत्य हो। इसी कारण ब्रैडले सत्य निर्णयों को भी केवल आंशिक रूप से सत्य कहता है। अतः कोई निर्णय न तो निरपेक्ष रूप से सत्य हो सकता है और न निरपेक्ष रूप से नुतिपूर्ण हो सकता है। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक जीवन में कोई निर्णय न तो पूर्ण सत्य और न पूर्ण असत्य हो सकता है। प्रत्येक निर्णय सापेक्षिक रूप से ही सत्य हो सकता है।

ब्रैडले सत्यता के सुसंगति सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। किन्तु सुसंगति कोई स्थिर निकाय (System) नहीं है, अपितु यह एक गतिशील निकाय है। उसके अनुसार निर्णय एक जाति (Genus) है। ज्ञान और विश्वास निर्णय की उपजातियाँ (Species) हैं। प्रत्येक निर्णय अस्तित्व और अन्तर्वस्तु, जो विचार के द्वारा एक-दूसरे से अलग कर दिए जाते हैं, का पुनर्मिलन है। किन्तु कोई भी निर्णय सत्य को उसकी समग्रता में व्यक्त नहीं कर पाता है। किसी निर्णय के विधेयों की संख्या चाहे जितनी बढ़ा दी जाय, वे कभी भी उद्देश्य के समान नहीं हो सकते हैं। अतः प्रत्येक निर्णय सापेक्षिक सत्य को ही व्यक्त कर सकता है। इसके द्वारा पूर्ण सत्य का विधान नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से भ्रम (Error) ही एक सापेक्ष सत्य है। यह केवल इसलिए असत्य है क्योंकि सापेक्ष तथा अपूर्ण छोड़ दिया गया है। ब्रैडले के अनुसार निर्णयों की एक व्यवस्था के अन्तर्गत सत्य आंतरिक सामञ्जस्य एवं भ्रम आंतरिक विसंगति का प्रतीक है। यदि हमारे ज्ञान में एक निश्चित मात्रा में सुसंगति न हो तो हमारे चिन्तन और ज्ञान की प्रक्रिया ही प्रारम्भ नहीं हो सकती है। ब्रैडले निर्णयों के समान तथ्यों को भी प्रत्ययात्मक मानता है। जो तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं होते और जो अस्तित्व में अंतर्वस्तु के अलगाव को प्रदर्शित नहीं करते हैं, वे कठिनाई से ही यथार्थ प्रतीत होते हैं। सत्य के द्वारा प्रत्ययात्मकता के इस दोष रूपी रोग को दूर करने की प्रक्रिया एक प्रकार की होमियोपैथिक चिकित्सा है।¹ कहने का आशय यह है कि इस दोष को पूरी तरह दूर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विचार के द्वारा सत्ता को एक बार

1 "Truth as we have seen is the effort to heal this disease as it were homeopathetically." Ibid, p. 146.

विभक्त कर देने के बाद, जब उन विभक्त खण्डों को पुनः जोड़ने का प्रयास किया जाता है तो साक्षात्कारित्व (अव्यवहित अनुभूति) की उपेक्षा हो जाती है। विमर्शात्मक और संबंधात्मक विचार साक्षात् अनुभूति से रहित होने के कारण किसी चीज को अव्यवहित रूप से जानने का साधन नहीं हो सकता है। किन्तु 'वह' और 'क्या' के पूर्ण ऐक्य की प्रक्रिया अव्यवहित अनुभूति के अभाव में संभव नहीं है। अतः इस दोष (रोग) को पूरी तरह दूर नहीं किया जा सकता है।

ब्रैडले के अनुसार भ्रम को न तो सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है। चूँकि इसमें सामञ्जस्य का अभाव पाया जाता है, इसलिए यह सत् नहीं है। किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसकी तथ्यात्मक प्रतीति से इनकार नहीं किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से किसी वस्तु को सत् अथवा असत् ही कहा जा सकता है। उनके बीच की अवस्था को हम तर्कतः स्वीकार नहीं कर सकते हैं¹। ब्रैडले के अनुसार भ्रम का परम निरपेक्ष सत् में कोई स्थान नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रम विसंगतिपूर्ण होता है। निरपेक्ष सत् किसी प्रकार की विसंगति को स्वीकार नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि किसी सीमित इकाई में भी भ्रम की कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि प्रत्येक सीमित इकाई निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत ही अस्तित्वान होती है।²

इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के अनुसार भ्रम एक मिथ्या आभास है। किन्तु वह निरपेक्ष सत्य और निरपेक्ष भ्रम दोनों को असंभव मानता है। सत्य और भ्रम दोनों में मात्रागत भेद पाया जाता है। यद्यपि सत्य और भ्रम दोनों आभास हैं, तथापि दोनों में कुछ मौलिक अन्तर हैं। जब किसी आभास की अन्तर्वस्तु किसी ऐसे अस्तित्व से संबंधित हो जाती है, जो उसे अपने एक विशेषण के रूप में स्वीकार कर लेती है तो वह सत्य निर्णय कहा जाता है। इसके विपरीत, जब किसी आभास की अन्तर्वस्तु एक ऐसे अस्तित्व से जुड़ जाती है जिसके साथ उसकी विसंगति पायी जाती है, तो उसे त्रुटिपूर्ण या असत्य निर्णय कहते हैं। किन्तु पूर्ण भ्रम असंभव है। प्रत्येक भ्रम अपूर्ण सत्य है। उसे असत्य केवल इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह आंशिक और अपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले भ्रम को पूर्ण रूप से असत् नहीं मानता है। उसका निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत कोई न कोई स्थान अवश्य होता है। निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत समस्त आभासों के व्याघात सामञ्जस्यपूर्णता में परिणत हो जाते हैं। किन्तु मनुष्य की अपूर्णता, संकुचित दृष्टिकोण एवं अल्पज्ञता के कारण निरपेक्ष सत् को पूर्णरूप से जानना संभव नहीं है। भ्रम की प्रतीति का कारण मनुष्य का संकुचित दृष्टिकोण है। निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत आभा एवं भ्रम अशुभ आदि किस प्रकार विलीन होकर सामञ्जस्यपूर्ण हो जाते हैं? यह सब परमसत् में कैसे घटित होता है? सीमित विचार के लिए इसे जानना संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, असत्य, भ्रम, अशुभ, अ-सौन्दर्य आदि आभास परम सत् से बाहर स्थित नहीं हो सकते हैं। किन्तु ये सब निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत कैसे समाविष्ट हैं, इसका सत्यापन और ज्ञान नहीं हो सकता है।

1 इसी प्रकार की आपत्ति विशिष्टाद्वैतवादियों एवं नैयायिकों ने अद्वैत वेदान्त में प्रयुक्त मिथ्यात्व के विरुद्ध भी उठाई है। मिथ्यात्व की अवधारणा को 'मध्यम परिहार नियम' (Law of excluded middle) के विरुद्ध माना गया है।

2 Error has no home, it has no place in existence and yet for all that, it exists; Ibid. p. 165.

सत् और सत्यता की मात्राएँ

ब्रैडले के अनुसार कोई भी निर्णय पूर्ण रूप से सत्य नहीं होता है। प्रत्येक सत्य निर्णय आंशिक रूप से सत्य होता है जिन्हें हम असत्य निर्णय कहते हैं, वे भी पूर्णतया असत्य नहीं होते हैं। किन्तु सभी निर्णय न तो समान मात्रा में सत्य होते हैं और न असत्य होते हैं। प्रत्येक निर्णय अपनी सुसंगति के अनुपात में ही सत्य हो सकता है, अर्थात् वह जितना अधिक सुसंगत होगा, उसकी सत्यता की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। निर्णयों के उद्देश्य में हम कोई न कोई गुण उसकी विशेषता (विशेषण) के रूप में आरोपित करते हैं। इस प्रकार निर्णयों के उद्देश्य आभासी होते हैं। वे आभास इसलिए हैं क्योंकि वे पूर्ण नहीं हैं। किन्तु सभी आभास समान रूप से अपूर्ण नहीं होते हैं। कुछ आभास कम अपूर्ण तो कुछ आभास अधिक अपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार कुछ आभासों में अधिक सामञ्जस्य तो कुछ आभासों में कम सामञ्जस्य पाया जाता है। आभासों में जितनी अधिक मात्रा में सुसंगति होती है, उनमें उतनी ही अधिक मात्रा में यथार्थता पायी जाती है।

ब्रैडले के दर्शन में ईश्वर और जीव दोनों को आभास माना गया है। इस प्रकार न केवल जीव, बल्कि ईश्वर भी निरपेक्ष सत् नहीं है। किन्तु ईश्वर की व्यापकता जीव की व्यापकता से अधिक है। अतः ईश्वर की सत्ता अथवा यथार्थता जीव की सत्ता या यथार्थता से अधिक है। इसी प्रकार जीव एवं अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ दोनों अपूर्ण एवं सीमित होने के कारण आभास हैं। किन्तु जीवात्माओं की सुसंगति भौतिक पदार्थों की सुसंगति से अधिक है। अतः जीवों की तात्त्विकता प्राकृतिक वस्तुओं की तात्त्विकता से अधिक होती है। इस प्रकार ब्रैडले आभासों की तात्त्विकता में मात्रा-भेद का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार “दो आभासों में से जो अधिक व्यापक अथवा अधिक समन्वयात्मक है, वह अपेक्षाकृत अधिक तात्त्विक (यथार्थ) होता है। सत् के लक्षणों से अधिक युक्त होना और अपने अन्तर्गत सत् की अधिक मात्रा रखना, ये दोनों एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं।”¹

इस प्रकार ब्रैडले समस्त सीमित सत्ताओं को निरपेक्ष सत् का आभास मानता है। यद्यपि सभी आभास अपूर्ण और असत्य हैं, तथापि वे सब समान रूप से न तो अपूर्ण हैं और न समान रूप से असत्य हैं।

प्रश्न उठता है कि इन अपूर्णताओं को कैसे दूर किया जाय? अपूर्णताओं को दूर करने के लिए आभासों में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। ब्रैडले का यह सिद्धान्त विचार और अनुभूति से संबंधित है। विचार प्रत्ययात्मक है, किन्तु वह प्रत्ययात्मकता के दोष का निराकरण करके एक परिपूर्ण अनुभूति में रूपान्तरित हो सकता है। निरपेक्ष सत् को अभिव्यक्त करने वाली सभी अनुभूतियाँ समान स्तरीय नहीं होती हैं। बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक अनुभूतियों में सत्ता की मात्रा का भेद पाया जाता है। इन अनुभूतियों की इस श्रृंखला में सभी अनुभूतियाँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। इन्हें क्रमशः ऊँचा स्थान प्राप्त होता है। किन्तु

1 Of two given appearances the one more wide or more harmonious is more real.. To possess more the character of reality and to contain within one self a greater amount of the real or two expressions for the same thing." Ibid, p. 322 & 323.

पूर्वोक्त इन सभी अनुभूतियों में विषयी (अनुभवकर्ता) और विषय (अनुभवगम्य) का भेद विद्यमान है। यह द्वैत इन अनुभूतियों की एक प्रमुख विशेषता है। ये अनुभूतियाँ अपने स्तर पर इस द्वैत का समर्पण नहीं कर सकती हैं। किन्तु ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत्ता एक सर्वव्यापी अद्वैत है। उसमें द्वैत का सर्वथा अभाव है। वास्तव में, जहाँ भेद (द्वैत) है, वहाँ निरपेक्ष सत्ता के सामञ्जस्यपूर्ण रूप की व्यंजना नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि सर्वाधिक विकसित अनुभूतियाँ भी निरपेक्ष पूर्णता के स्तर को नहीं प्राप्त कर सकती हैं। इन अनुभूतियों में आंशिकता है, मात्रागत भेद है। इस प्रकार ब्रैडले सत्य की मात्राओं का विधान करता है। किन्तु निरपेक्ष सत् में सत्य की मात्राएँ नहीं हो सकती हैं। यदि निरपेक्ष सत् में सत्यता की मात्राएँ मानी जाएँ तो सत्ता की सम्पूर्णता नष्ट हो जाती है। चूँकि निरपेक्ष सत् पूर्ण है और पूर्ण में सब कुछ समाविष्ट है, इसलिए उसमें आंशिकता या मात्राभेद नहीं हो सकता है। वस्तुतः निरपेक्ष सत् सर्वसमावेशी अनुभूति है। अतः उसके अन्तर्गत सत्य की मात्राओं का सिद्धान्त संभव नहीं है।

ब्रैडले के अनुसार विचार की लघु इकाई निर्णय है। चिन्तन की प्रक्रिया में विचार अस्तित्व से उसकी अन्तर्वस्तु को अलग करके स्वयं केवल 'क्या' (What) अर्थात् अन्तर्वस्तु पक्ष पर ही बल देता है। स्वभावतः इसके अन्तर्गत 'वह' (That) पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। यही कारण है कि विचार की प्रस्तुति अपूर्ण होती है। किसी निर्णय का संयोजक पद उस निर्णय के उद्देश्य और विधेय के अभेद को व्यक्त करता है। किन्तु किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय में अभेद नहीं हो सकता है। ब्रैडले के अनुसार निर्णय का उद्देश्य पद अस्तित्ववाची होता है, जिसके अन्तर्गत 'वह' तथा 'क्या' परस्पर अवियोज्य रूप से पाये जाते हैं। इसके विपरीत, स्वभावतः विचार की सत्ता एक विशिष्ट इकाई के रूप में संश्लिष्ट 'वह' और 'क्या' के पार्थक्य पर निर्भर है। उद्देश्य के अन्तर्गत 'वह' तथा 'क्या' परस्पर समन्वित रूप में स्थित होते हैं। किन्तु निर्णय का विधेय केवल 'क्या' (अन्तर्वस्तु) है। ब्रैडले के अनुसार किसी निर्णय के विधेयों की संख्या चाहे जितनी कर दी जाय, विधेय कभी भी उद्देश्य को पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। विचार केवल सामान्य प्रत्ययात्मक पक्ष को ही अभिव्यक्त कर सकता है, परन्तु उद्देश्य के अन्तर्गत 'वह' तथा 'क्या' परस्पर संश्लिष्ट एवं विशिष्ट रूप में रहते हैं। विचार इस एकता को खंडित करके जो स्वरूपतः विशिष्ट है, उसे सामान्य बना देता है। इस प्रकार विचार तात्त्विक एकता की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है। इसीलिए ब्रैडले कहता है कि किसी निर्णय में विधेयों की संख्या चाहे जितनी बढ़ा दी जाय, वे उद्देश्य के बराबर नहीं हो पाते हैं। इस प्रकार उद्देश्य एवं विधेय का अन्तर कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है। वे एक-दूसरे का स्थान नहीं ले सकते हैं। ब्रैडले सत्यता की मात्राओं के संबंध में कुछ सामान्य मान्यताओं की स्थापना करने का प्रयास करता है।

उसके अनुसार देश और काल में क्रमशः अधिक विस्तृत एवं दीर्घकालीन अवधि तक रहने वाली इकाइयाँ अपेक्षाकृत अल्प-विस्तृत और अल्पकालिक इकाइयों की अपेक्षा अधिक सत्य होती हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक जगत् के अन्तर्गत जो वस्तुएँ परिवर्तनशील, संशोधनीय और नाशवान हैं, उनकी अपेक्षा अपरिवर्तनशील, असंशोधनीय एवं नित्य वस्तुएँ अधिक सत् हैं। संसार में जो वस्तुएँ आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी एवं प्रभावोत्पादक हैं, वे पराश्रित एवं निष्प्रभावी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत् हैं। इस दृष्टि से वह वर्कले के 'सत्ता दृश्यता' है।

सिद्धान्त का खण्डन करता है। ब्रैडले के अनुसार कोई भी दृश्य वस्तु स्वतंत्र और स्वावलम्बी नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अनुभव सापेक्ष होती है। उसके अन्दर प्रत्ययात्मकता और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। अतः जो अनुभव-सापेक्ष है, उसे निरपेक्ष सत् नहीं कहा जा सकता है। इस क्रम में हेगल के प्रसिद्ध सिद्धान्त "सत्ता बोध है और बोध ही सत् है" का भी निराकरण हो जाता है। चूँकि प्रत्येक विचार अनुभव-सापेक्ष होता है और प्रत्यक्ष अनुभूति अर्थात् अधो-संबंधात्मक अनुभूति को सत् नहीं कहा जा सकता है, इसलिए प्रत्यक्ष-सापेक्ष विचार भी निरपेक्ष सत् नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि विचार प्रत्यक्ष-सापेक्ष नहीं है, तो ऐसा विचार जो केवल प्रत्ययात्मक हो, अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के अलगाव पर निर्भर होता है। इसके परिणामस्वरूप विचार निरपेक्ष सत् के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होगा।

ब्रैडले के द्वारा प्रतिपादित सत् और सत्यता की मात्राओं के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि कोई निर्णय अपनी सुसंगति के अनुपात में ही सत्य या असत्य हो सकता है। अतः पूर्ण सुसंगति कभी भी विचार के द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकती है क्योंकि ज्ञाता सदैव सुसंगत निकाय के बाहर रहेगा। यदि एक ऐसी पूर्ण सुसंगति की कल्पना की जाय जिसके अन्तर्गत ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के त्रिपुटी का लय हो जाय तो वह अनुभूति से अभिन्न होगी।¹ इससे स्पष्ट है कि या तो सुसंगति सापेक्ष और अपूर्ण सत्य का विधान करती है अथवा पूर्णता को प्राप्त होने पर अपने नाम से ही वंचित हो जाती है। सत्यता की मात्राओं का सिद्धान्त भी असंगत है, क्योंकि यदि यह कहा जाय कि कोई निर्णय अमुक मात्रा में सत्य है तो इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह निर्णय अमुक मात्रा में असत्य भी है, अर्थात् वह सत्य होने के साथ-साथ नुतिपूर्ण भी है। यहाँ पर आंशिक सत्य (Partial Truth) और सत्य के अंश (Part of truth) को एक मान लेने की भूल की जाती है। वास्तव में, जो सत्य का अंश है, उसे असत्य नहीं कहा जा सकता है।

आभास और सत् (Appearance and Reality)

पाश्चात्य दर्शन के प्रारंभिक काल से ही आभास और सत् के बीच किसी न किसी रूप में भेद किया गया है। पार्मेनाइडीज ने सत् (Being) और परिवर्तनशील जगत् अर्थात् आभास में भेद किया है। इसी प्रकार हेराक्लाइट्स संभूति (Becoming) को सत् और स्थिरता को आभास मानता है। पार्मेनाइडीज और हेराक्लाइट्स दोनों विचारकों में तत्त्व के स्वरूप को लेकर भले ही मतभेद हो, परन्तु वे दोनों सत् का ज्ञान बुद्धि से और आभास का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव से मानते हैं। आगे चलकर प्लेटो ने प्रत्यय जगत् एवं वस्तु जगत् में भेद किया। इसी प्रकार स्पिनोजा ने नित्य दृष्टि और अनित्य दृष्टि के रूप में सत्ता (द्रव्य) के दो रूपों का उल्लेख किया है। आधुनिक दर्शन में व्यवहार और परमार्थ के बीच स्पष्ट भेद करने का श्रेय काण्ट को जाता है। काण्ट ने पारमार्थिक स्वलक्षणों और व्यावहारिक जगत् में भेद करते हुए परमार्थ को अज्ञेय माना। उसके अनुसार प्राकृतिक जगत् आभास मात्र है। परमार्थ का ज्ञान इन्द्रियानुभव और बुद्धि-विकल्पों से परे है। किन्तु हेगल ने काण्ट के अज्ञेयवाद को स्वीकार नहीं किया। उसने त्रिक-नियम (Triadic Law) के आधार पर सत् (Being) को पक्ष, असत्, (Nothing) को विपक्ष और

1 Doctrine of the criterion, R.D. Ranadey, included in Problems of Depth Epistemology, p. 57.

संभूति (Becoming) को समन्वय कहा है। हेगल के अनुसार सत् को समझने के लिए उसके विपक्षी सारतत्त्व (essence) की आवश्यकता है। हेगलीय दृष्टि से सत् आभास है क्योंकि यह व्यक्त गुण है। किन्तु सत् एवं सारतत्त्व दोनों एक ही समन्वयात्मक तत्त्व अन्तर्बोध (Notion) के अन्तर्गत सम्मिलित हो जाते हैं। वास्तव में, हेगल के दर्शन में व्यवहार (आभास) एवं परमार्थ (सत्) अथवा प्रकृति और प्रत्यय में कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों एक ही समन्वयात्मक सत्ता के अन्तर्गत निहित हैं। ब्रैडले हेगलीय प्रत्ययवाद की परम्परा में एक ऐसा दार्शनिक है जिसने आभास और सत् से संबंधित इन समस्त दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह आवश्यक नहीं है कि जो हम देखते हैं, वह सत् हो। वह अपने आभास संबंधी सिद्धान्त के लिए काण्ट का ऋणी है क्योंकि काण्ट के दर्शन की मान्यता है कि जो बौद्धिक कोटियों से ग्राह्य है, वह व्यवहार या आभास है। हमारे ज्ञान की सीमा व्यावहारिक जगत् तक ही है। हमें परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु उसके बारे में सोचा जा सकता है। ब्रैडले काण्ट के इस दर्शन की मान्यता को किसी न किसी रूप में अपनाता है। वह बौद्धिक कोटियों के द्वारा ग्राह्य द्रव्य एवं गुण, संबंध एवं गुण, आत्मा, कारणता आदि को आभास सिद्ध करने का प्रयास करता है क्योंकि वे अन्तर्विरोध ग्रस्त हैं। काण्ट के समान ब्रैडले भी यह स्वीकार करता है कि आभास असत् नहीं है। हेगल ने तो आभास को भी निरपेक्ष प्रत्यय (परमतत्त्व) के विकास की एक पूर्व अवस्था मान लिया है। इस प्रकार आभास और सत् में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। हेगल की इस मान्यता से भी ब्रैडले प्रभावित हैं। ब्रैडले के अनुसार आभास आत्म-व्याघाती होता है। इसके विपरीत सत् सामञ्जस्यपूर्ण होता है। जिसका स्वरूप तर्कतः विसंगतिपूर्ण न हो, वह सत् है। ब्रैडले के अनुसार आभासों की प्रतीति का कारण मनुष्य का संबंध-सापेक्ष और संकुचित दृष्टिकोण है। प्रश्न यह उठता है कि आभास और सत् में क्या संबंध है?

ब्रैडले के अनुसार आभास और सत् के संबंध की व्याख्या नहीं की जा सकती है। चूँकि सत् के अन्तर्गत सभी आभासों की विशिष्ट प्रकृति एवं अन्तर्विरोधी स्वरूप समाप्त हो जाता है, इसलिए निरपेक्ष सत् की एकात्मक अनुभूति हो जाने पर आभासों का पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता है। यहाँ तक की सत् का साक्षात्कार हो जाने पर ज्ञाता आत्मा का भी निरपेक्ष सत् से पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा स्वयं एक आभास है। इससे स्पष्ट है कि निरपेक्ष सत् और आभास के पारस्परिक संबंध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती है। कोई भी आभास भ्रामक नहीं होता है। यद्यपि प्रत्येक आभास वास्तविक है, तथापि कोई भी आभास पूर्ण नहीं है। अपूर्ण होने के कारण आभासों में सत् की मात्रा का भेद पाया जाता है। प्रत्येक आभास समान रूप से अपूर्ण नहीं है। कुछ आभास अधिक पूर्ण हैं और कुछ आभास कम पूर्ण हैं। जो आभास पूर्णता के अधिक निकट हैं, वे उसी अनुपात में अधिक सत् हैं। इसके विपरीत, जो आभास तत्त्व की सामञ्जस्यपूर्ण एकता के कम निकट हैं, उन्हें अल्प मात्रा में ही सत् कहा जा सकता है। इसके विपरीत निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का मात्रा भेद नहीं पाया जाता है क्योंकि वह एक सामञ्जस्यपूर्ण एकता एवं निरपेक्ष अनुभूति है। सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं ये तीनों निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत अपनी परिपूर्णता में अन्तर्निहित हैं।

ब्रैडले के अनुसार सत् स्वरूपतः 'वह' और 'क्या' अर्थात् अस्तित्व एवं अन्तर्वस्तु की सामञ्जस्यपूर्ण एकता है। इसके विपरीत, आभास के अन्तर्गत 'वह' और 'क्या' में विसंगति पायी जाती है। अब समस्या यह है कि इन दोनों में संबंध की अवधारणा कैसे की जाय? यद्यपि सत् एवं आभास दोनों के स्वभाव एक-दूसरे के विपरीत हैं, तथापि आभासों का सत् से पृथक् रूप में अस्तित्व नहीं हो सकता है। आभासों का प्रत्येक अंश निरपेक्ष सत् की पूर्णता और एकता में योगदान करता है। यदि उसे आभासों से वंचित कर दिया जाय तो निरपेक्ष सत् निरर्थक अथवा अर्थहीन हो जाता है। अतः प्रत्येक आभास निरपेक्ष सत् के लिए महत्त्वपूर्ण होता है।¹

ब्रैडले निरपेक्ष सत् को प्रत्येक आभास में अन्तर्व्याप्ति मानता है। इस दृष्टि से आभास और सत् में विशेष और सामान्य का समन्वय है। किन्तु विशेष और सामान्य परस्पर आश्रित होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सत् और आभास परस्पर आश्रित हैं। ब्रैडले के अनुसार आभासों का परस्पर विरोधी स्वरूप सत् के अन्तर्गत नहीं रहता है। उल्लेखनीय है कि ब्रैडले सत् को आभासों का समूह मात्र नहीं मानता है। उसके अनुसार कोई आभास अथवा उनका समूह निरपेक्ष सत् के समान नहीं हो सकता है। यद्यपि निरपेक्ष सत् प्रत्येक आभास में विद्यमान है, यह सर्वत्र उपस्थित है, तथापि प्रत्येक आभास में इसकी अभिव्यक्ति विभिन्न मात्राओं में है।²

एक ओर तो ब्रैडले यह कहता है, 'आभासों के अतिरिक्त निरपेक्ष सत् के पास कोई अन्य संपत्ति नहीं पायी जाती है।' दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि, 'आभासों की पूँजी के ऊपर निरपेक्ष सत् को दिवालिया ही कहा जायेगा।' एक ओर तो वह यह कहता है कि सत् एवं आभास परस्पर आश्रित हैं, परन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि सत् आभासों का समूहमात्र नहीं है। निरपेक्ष तत्त्व सर्वव्यापी है। वास्तव में, ब्रैडले की इस कठिनाई का कारण निरपेक्ष तत्त्व के निरूपण में विचार और भाषा की असमर्थता है। नागार्जुन, शंकराचार्य, काण्ट आदि दार्शनिकों के समान ब्रैडले भी निरपेक्ष सत्ता के स्वरूप को समस्त वैचारिक कोटियों और भाषित मानदण्डों से परे मानता है। यही कारण है कि वह आभास एवं सत् के संबंध की तार्किक व्याख्या के लिए मानव-बुद्धि को अपर्याप्त मानता है। उसके कहने का निहितार्थ यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत भले ही आभासों की सत्ता को माना जाय, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत् के स्तर पर सभी विरोधों एवं विसंगतियों का समन्वय हो जाता है। सत् के अभाव में कोई भी वस्तु आभासित नहीं हो सकती है। किन्तु वह यह भी कहता है कि आभासों के अभाव में सत् असंभव है। आभासों से परे किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं हो सकता है। इसीलिए वह हेगल के समान अपने परमतत्त्व को मूर्त सामान्य मानता है। इस बिन्दु पर ब्रैडले का मत अद्वैत वेदान्त से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त निरपेक्ष ब्रह्म के अन्तर्गत अनेकता की सत्ता को नहीं मानता है, परन्तु ब्रैडले के दर्शन में आभास निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। इस प्रकार जहाँ ब्रैडले का तत्त्व मूर्त सामान्य है, वहीं अद्वैत का परमार्थ समस्त भेदों से रहित पूर्ण अभेद और विशुद्ध सामान्य है।

1 In the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole — Ibid, p. 404.

2 Absolute is present in, and in a sense it is alike each of its special appearances, though present every where again in different value and degrees. Ibid, p. 405.

अति संबंधात्मक अव्यवहितता प्रत्येक आभास में समान रूप से अन्तर्व्याप्त नहीं है, किन्तु उसके अंतर्गत किसी आभास की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। किसी भी आभास का अस्तित्व निरपेक्ष सत् में विलीन होकर नष्ट नहीं हो जाता है क्योंकि निरपेक्ष सत् की एकता में प्रत्येक आभास का योग है। इस दृष्टि से सत् के लिए प्रत्येक आभास अनिवार्य है। यही कारण है कि ब्रैडले सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, सत्य एवं भ्रम आदि को आभास मानते हुए भी उन्हें निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत स्थान देता है। यदि तर्कबुद्धि (विचार) का अतिक्रमण हो जाय तो सभी विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों का शमन हो जाता है। एतदर्थ, हमें संसार की घटनाओं की व्याख्या करने के लिए अपने सीमित एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोण का अतिक्रमण करना पड़ेगा। ब्रैडले के अनुसार भ्रम, अशुभ, कुरूपता, दुःख आदि मानव-जीवन के निषेधात्मक पक्ष मनुष्य के सीमित दृष्टिकोण के परिणाम हैं। ब्रैडले कहता है कि मनुष्य की प्रत्येक अनुभूति का एक सुखात्मक स्वर होता है। मानव-जीवन में व्याप्त निराशा, दुःख आदि विद्रूपताएँ इन निषेधात्मक अनुभूतियों को सीमित एवं खण्डित रूप से ग्रहण करने के कारण प्रतीत होती हैं। वास्तव में, व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो दुःख, सुख के उद्दीपन का कार्य करता है। इस प्रकार प्रत्येक सीमित इकाई (आभास) निरपेक्ष सत् की ओर संकेत करती है। किन्तु इनमें से कोई भी इकाई इतनी मूल्यवान नहीं है कि उसके द्वारा अन्य आभासों की सम्यक् व्याख्या की जा सके। एक जीवात्मा के रूप में मनुष्य स्वयं आभास है। अतः उसके लिए यह जानना संभव नहीं है कि सीमित इकाइयाँ निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत किस प्रकार समन्वित है?

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रैडले अपने दोनों पूर्ववर्ती दार्शनिकों, काण्ट एवं हेगल की दार्शनिक मान्यताओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। ब्रैडले न तो पूर्णरूप से अज्ञेयवादी है (जैसा कि काण्ट) और न सर्वज्ञेयवादी (जैसा कि हेगल है)। वह काण्ट के समान कहता है कि विचार अर्थात् बौद्धिक कोटियों के द्वारा निरपेक्ष सत् के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। किन्तु इसका निहितार्थ यह नहीं है कि तत्त्व पूर्णतः अज्ञेय है। यद्यपि विचार और सत् स्वरूपतः एक-दूसरे से भिन्न हैं, तथापि विचार के द्वारा निरपेक्ष तत्त्व का एक चित्र (झलक) अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से ब्रैडले एक मध्यममार्गी दार्शनिक है, जो काण्ट के अज्ञेयवाद और हेगल के सर्वज्ञेयवाद के बीच का मार्ग अपनाता है।

द्वन्द्व-न्याय (Dialectic)

ब्रैडले आभासों के अन्तर्विरोधी स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए द्वन्द्व-न्याय का प्रयोग करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत वह यह प्रदर्शित करता है कि विचार संबंधात्मक एवं विमर्शात्मक होता है। अतः संबंध-निरपेक्ष सत् को विचार के द्वारा पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। वैचारिक स्तर पर तत्त्व-साक्षात्कार असंभव है क्योंकि निरपेक्ष अनुभूतिस्वरूप परमसत् को अनुभूति के स्तर पर ही जाना जा सकता है। तत्त्व का साक्षात्कार तात्त्विक स्तर की अनुभूति के द्वारा ही किया जा सकता है।¹ किन्तु यह विचार के द्वारा संबंधात्मक स्तर पर संभव

1 "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के अनुसार आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में विषयी एवं विषय का भेद समाप्त हो जाता है। इसे त्रिपुटीलय भी कहा जाता है। यद्यपि ब्रैडले व्यावहारिक जीवन में ऐसी अनुभूति का दावा नहीं करता है, तथापि वह ऐसी अनुभूतियों को सिद्धान्ततः स्वीकार करता है।

नहीं है। यदि संबंध-सापेक्ष विचार के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करने का प्रयास किया जाय तो विचार को आलस्य करनी पड़ेगी। काण्ट के द्वन्द्व-न्याय में बौद्धिक कोटियों के द्वारा पारमार्थिक स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि वे प्रतिभान (Intuition) से रहित होते हैं। अतः बुद्धि के द्वारा परमार्थ को नहीं जाना जा सकता है। इसके विपरीत, हेगल के दर्शन में द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत विचार के विकास के द्वारा संभूति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। पक्ष और विपक्ष के परस्पर विरोध का समन्वय संभूति में होता है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप विकसित विचार पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अतः हेगल पूर्ण बोध और पूर्ण सत् दोनों को अभिन्न मान लेता है। हेगल विचार के अन्तर्विरोधों को विचार के द्वारा दूर करने का प्रयास करता है। इसलिए कुछ आलोचकों ने हेगल के दर्शन में विचार के अन्तर्विरोधों को विचार के द्वारा शमन करने को समचिकित्सा (Homeopathy) कहा है। इसके विपरीत ब्रैडले के दर्शन में विचार के द्वारा वैचारिक स्तर पर अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि अपने अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेने पर विचार समाप्त हो जाता है अर्थात् पूर्णत्व की अवस्था में विचार, विचार नहीं रह जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि ब्रैडले के द्वन्द्व न्याय में विचार को पूर्ण विफलता नहीं मिलती है। इस दृष्टि से वह काण्ट के अज्ञेयवाद से बचने का प्रयास करता है।

इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के द्वन्द्वन्याय में काण्ट एवं हेगल की दार्शनिक पद्धति के समन्वय का प्रयास किया गया है। उसके द्वन्द्व न्याय का एक निषेधालक पक्ष भी है जो उसके दर्शन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका लक्ष्य यह दिखाना है कि वैचारिक कोटियों के द्वारा निरपेक्ष सत् की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। उसने 'आभास और सत्' के 'आभास' खण्ड में अपने द्वन्द्व न्याय के ध्वंसात्मक पक्ष का प्रयोग करते हुए माध्यमिक बौद्धों के चतुष्कोटिक न्याय के समान बुद्धि की समस्त कोटियों के अन्तर्विरोधी स्वरूप को उद्घाटित किया है। किन्तु वह अपने पूर्वोक्त ग्रंथ के 'सत्' खण्ड में द्वन्द्व न्याय के विध्यात्मक पक्ष की ओर संकेत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक निषेधालक कथन किसी न किसी भावात्मक (Positive) आधार पर टिका होता है। चूँकि आभास अन्तर्विरोधग्रस्त होता है, इसलिए इससे यह तर्कित होता है कि सत् वह है जो अन्तर्विरोधों से रहित अर्थात् सामञ्जस्यपूर्ण हो। शंकराचार्य के समान ब्रैडले भी सत् और आभास के संबंध की बौद्धिक व्याख्या करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करता है। यह समस्या शंकराचार्य के दर्शन के संदर्भ में भी उठती है। प्रश्न उठता है कि सत् ब्रह्म और मिथ्या जगत् में क्या संबंध है? शंकर के अनुसार यह प्रश्न ही असंगत है। सत् ब्रह्म और मिथ्या जगत् में कोई संबंध नहीं हो सकता है।¹ संबंध की स्थापना दो सत् इकाइयों में ही की जा सकती है। जो ब्रह्म से भिन्न है, वह मिथ्या है (ब्रह्म भिन्न सर्वमिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्)। इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म को सत् और समस्त आभासों को मिथ्या घोषित करके शंकराचार्य इस कठिनाई से बचने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। अतः इसे अनन्यत्व संबंध कहा जा सकता है। इसके विपरीत, ब्रैडले आभासों को वास्तविक मान लेने के कारण इस कठिनाई से बच नहीं पाता है। वह आभास और

सत् के संबंध की व्याख्या के लिए आलंकारिक भाषा एवं अनेक रूपकों का प्रयोग करता है। यद्यपि वह यह दावा करता है कि निरपेक्ष तत्त्व के अन्तर्गत सभी विरोधों, विसंगतियों एवं सीमाओं का समन्वय हो जाता है, तथापि ब्रैडले यह व्याख्या नहीं कर पाता है कि निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत यह सब घटित कैसे होता है? वस्तुतः ब्रैडले के द्वारा निरपेक्ष सत् और आभासों के पारस्परिक संबंध के सम्यक् व्याख्या न कर पाना स्वाभाविक है। सीमित और अपूर्ण विचारों के द्वारा सीमा और भूमा के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करने की विफलता मानव-जीवन का कटु यथार्थ है।

ब्रैडले के दर्शन का मूल्यांकन

ब्रैडले नव्य-हेगलवादी परम्परा के एक महान् विचारक हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में उनके दर्शन को पर्याप्त महत्त्व और ख्याति प्राप्त हुई। किन्तु समकालिक पाश्चात्य दर्शन के मंच पर रसेल और मूर जैसे वस्तुवादी दार्शनिकों के आगमन से ब्रैडले एवं निरपेक्षतावादी दर्शन की महत्ता का हास प्रारंभ होने लगा। ब्रैडले की मृत्यु के बाद कुछ आलोचकों ने उनके दर्शन की कटु आलोचना की। सीमित मानव के पास निरपेक्ष सत् को जानने का कोई मानदण्ड नहीं हो सकता है। यदि ब्रैडले के दर्शन की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय कि प्रत्येक सीमित इकाई 'वह' और 'क्या' अथवा यथार्थ एवं आदर्श के द्वैत से ग्रस्त होती है तो मनुष्य को निरपेक्ष सत् का ज्ञान नहीं हो सकता है। ब्रैडले के दर्शन की आलोचना करते हुए ऑर० डब्ल्यू० चर्च ने कहा है कि कोई भी सीमित व्यक्ति सम्बन्धों के द्वारा ही किसी प्रत्यय के विषय में चिन्तन कर सकता है। अतः कोई प्रत्यय संबंधों से रहित नहीं हो सकता है। किन्तु ब्रैडले का निरपेक्ष सत् समस्त संबंधों से रहित है। अतः विचारशील मनुष्य एक सीमित व्यक्ति होने के कारण तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।¹ चर्च के कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रैडले का दर्शन भी काण्ट के अज्ञेयवाद की ओर ले जाता है। इसी प्रकार कार (Carr) ने अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख² में कहा है कि यदि सीमित व्यक्ति के पास निरपेक्ष तत्त्व को जानने का निश्चित मानदण्ड हो, तो भी वह निश्चित रूप से यह दावा नहीं कर सकता है कि उसके द्वारा ग्राह्य मानदण्ड तत्त्वज्ञान के लिए प्रयुक्त हो सकता है। वस्तुतः आनुभविक पद्धति से निरपेक्ष और पारमार्थिक तत्त्व के ज्ञान का दावा करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता है। वास्तव में, आज तक ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि किसी सीमित व्यक्ति को अनुभव के आधार पर तत्त्वज्ञान हुआ हो। अतः यदि निरपेक्ष सत् के स्वरूप का अनुशीलन करने का प्रतिमान अनुभव-सापेक्ष हो तो उसे व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। एक ओर तो ब्रैडले का दावा है कि परमतत्त्व को सैद्धांतिक दृष्टि से साक्षात् अनुभूति के द्वारा जाना जा सकता है, परन्तु दूसरी ओर वह विचार, अर्थात् तार्किक युक्ति के द्वारा निरपेक्ष सत् के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयास करता है। ब्रैडले स्वयं भी यह स्वीकार करता है कि विश्लेषणात्मक विधि पर आधारित विचार तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। अतः ब्रैडले का विचार के द्वारा निरपेक्ष सत् को जानने का प्रयास निरर्थक सिद्ध हो जाता है। उसके द्वारा प्रयुक्त सत्यता की कसौटी किसी आभास पर लागू नहीं हो

1 Bradley's Dialectic, R.W. Church, p. 155.

2 Apperance and Reality, H.W. Carr, proceedings of the Aristotelian Society, Vol.II, No. 3.

सकती है, क्योंकि प्रत्येक आभास 'वह' और 'क्या' के द्वैत से ग्रस्त होने के कारण अन्तर्विरोधों का शिकार हो जाता है। सत्य की कसौटी 'व्याघात से रहित होना' अर्थात् अवाधितत्त्व (Non-contradiction) है। जो आभास स्वरूपतः व्याघाती हैं, उनका ज्ञान अव्याघाती कसौटी के द्वारा कैसे हो सकता है? इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के द्वारा प्रयुक्त सत्यता की कसौटी सार्थक ढंग से व्याघातों की सत्यता की व्याख्या नहीं कर पाती है।¹

यद्यपि ब्रैडले यह दावा करते हैं कि निरपेक्ष सत् आभासों के समूह के अतिरिक्त एक सत्ता है जो सभी आभासों में अन्तर्व्याप्त है, तथापि वे यह स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि आभासों के समूह से परे निरपेक्ष सत् क्या है? वह निरपेक्ष सत् को सामञ्जस्यपूर्ण एवं निरपेक्ष अनुभूति कहता है। वस्तुतः ये दोनों संप्रत्यय मूल्यात्मक हैं। प्रत्येक मूल्यात्मक प्रत्यय का संबंध मनुष्य की वैचारिक संरचना और जीवन से होता है। अतः इन संप्रत्ययों का प्रयोग निरपेक्ष सत् के संदर्भ में नहीं किया जा सकता है। वैचारिक संप्रत्ययों का प्रयोग निरपेक्ष तत्त्व को संबंधात्मक बना देता है। अतः ब्रैडले निरपेक्ष तत्त्व की कसौटी का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर पाता है। उसके अनुसार निरपेक्ष तत्त्व के अन्तर्गत समस्त आभास सामञ्जस्यपूर्ण होकर विलीन हो जाते हैं। यद्यपि आभास सत् में विलीन हो जाते हैं, तथापि उनका नाश नहीं होता है। हीरालाल हालदार के अनुसार निरपेक्ष सत् के अन्तर्गत यह सब कैसे घटित होता है? ब्रैडले इस रहस्यात्मक प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर पाता है।²

ब्रैडले का यह कहना भी सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है कि सीमित होने के कारण मानव व्यक्तित्व अनिवार्यतः अन्तर्विरोधग्रस्त हो जाता है। मानव-व्यक्तित्व में विरोध के साथ-साथ सामञ्जस्य और एकरूपता भी पायी जाती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अनिवार्यतः व्याघाती होगा। कुछ संदर्भों में मानव-व्यक्तित्व को भले ही विसंगतिपूर्ण माना जाय, परन्तु सभी संदर्भों में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः वैचारिक विश्लेषण के आधार पर निरपेक्ष सत् के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। अतः ब्रैडले काण्ट के अज्ञेयवाद से बचने का प्रयास करते हुए भी अपने मौलिक रूप में उससे बच नहीं पाता है।

ब्रैडले के अनुसार ईश्वर भी एक आभास है। ईश्वर मनुष्य की धार्मिक कल्पना की उपज है। कुछ आलोचकों ने ब्रैडले के इसी तर्क का प्रयोग करते हुए कहा है कि ब्रैडले का निरपेक्ष सत् स्वयं ब्रैडले की बौद्धिक कल्पना मात्र है। प्रश्न यह है कि सीमित विचारों के द्वारा ब्रैडले निरपेक्ष सत् की कल्पना कैसे कर सकता है? जब तक कोई सीमित व्यक्ति निरपेक्ष सत् में विलीन नहीं हो जाता है, तब तक तत्त्वज्ञान का दावा नहीं किया जा सकता है। ब्रैडले विचार को निरपेक्ष अनुभूति से रहित मानता है। वह केवल निरपेक्ष अनुभूति की सैद्धान्तिक संभावना व्यक्त करता है। किन्तु विडम्बना यह है कि मनुष्य के पास बौद्धिक कोटियों के अतिरिक्त तत्त्व को जानने का अन्य कोई साधन नहीं हो सकता है। अतः निरपेक्ष तत्त्व के स्वरूप की व्याख्या ब्रैडले के मन की काल्पनिक उपज और अस्थिपंजर मात्र है, जीवन्त तत्त्व नहीं। पुनश्च, ब्रैडले ने जिस रूप में ईश्वर की कल्पना किया है, उसे धर्म का ईश्वर भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ब्रैडले का ईश्वर न तो ज्ञाता है और न कर्ता है। अन्य आभासों की अपेक्षा वह अधिक पूर्ण भले

1 Mind, Vol. XIV, p. 216 पर देखिए, H.W. Knox की टिप्पणी.

2 New-Hegelianism, H.L. Haldar, p. 249.

ही हो, परन्तु वह निरेपक्ष तत्त्व से निम्न स्तरीय है। इस प्रकार ईश्वर में निरेपक्ष पूर्णता का अभाव है। इससे स्पष्ट है कि ब्रैडले के दर्शन में धर्म का स्थान सर्वोच्च नहीं है। उसका ईश्वर धर्मपरायण व्यक्ति के हृदय को संतुष्ट नहीं कर सकता है। धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को ही एकमात्र परमतत्त्व और निरेपक्षपूर्णता से युक्त मानता है। इसीलिए प्रिंगल पैटिसन ने ब्रैडले की आलोचना करते हुए कहा कि ब्रैडले का निरेपक्ष सत् मनुष्य की धार्मिक आकांक्षाओं के साथ न्याय नहीं करता है। इस प्रकार ब्रैडले-दर्शन के समीक्षकों ने उसके निरेपक्षतावाद (Absolutism) को दार्शनिक अनुशीलन के क्षेत्र में असफलता के एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

समकालीन दर्शन में ब्रैडले की तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध कैम्ब्रिज से विद्रोह का विगुल बज गया। प्रत्ययवादी विचारधारा के विरुद्ध आंदोलन के प्रणेता के रूप में रसल और मूर दर्शन के मंच पर आये। उनके अनुसार ब्रैडले के विचार एक भ्रामक तर्कशास्त्र पर आधारित हैं। वह अपने द्वन्द्वन्याय में संबंधों और गुणों की उपेक्षा कर देता है क्योंकि ब्रैडले उनके महत्त्व को न समझ सका। इसी दोषपूर्ण पद्धति के आधार पर ब्रैडले ने आभास और सत् में भेद किया। विश्लेषी दार्शनिकों के अनुसार हेगल से लेकर ब्रैडले तक के विचारों में संयोजक (Copula) 'है' (is) का प्रयोग ठीक-ठीक न समझा जा सका। 'है' शब्द का अर्थ उसके विभिन्न संदर्भों के सापेक्ष रूप में अलग-अलग होता है, जैसे — 'गुलाब लाल है' में 'है' शब्द विधेय की क्रिया सम्पन्न करता है क्योंकि उसके द्वारा 'लाल' नामक गुण का आरोपण 'गुलाब' नामक उद्देश्य में किया गया है। इसी प्रकार '7' और '15' का योग '12' होता है, में 'है' पद उद्देश्य (7+5) और विधेय (12) के समीकरण को अभिव्यक्त करता है। ब्रैडले 'है' पद की अनेकार्थता की उपेक्षा करता है। उदाहरण के लिए 'आभास सत् में है' इस वाक्य में यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वह 'है' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करना चाहता है? क्या आभास को सत् का विधेय कहा जा सकता है? क्या आभास सत् से अभिन्न हो जाता है? क्या आभास सत् के अन्तर्गत अस्तित्वयुक्त है? इत्यादि में से ब्रैडले ने किस अर्थ में 'है' पद का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है।

हम देख चुके हैं कि पाश्चात्य विचारधारा का प्रादुर्भाव प्राचीन ग्रीक विचारकों की प्रकृतिवादी एवं बुद्धिवादी प्रवृत्ति से होता है। ब्रैडले भी इस परम्परा का अनुसरण करते हुए बौद्धिक विश्लेषण को सामान्य-अनुभव की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। उसके अनुसार जो सामान्य अनुभव के अन्तर्गत है, वह आभास है। मानव-बुद्धि ही इन आभासों के अन्तर्विरोधी स्वभाव को स्पष्ट करती है। किन्तु इन आभासों की जननी भी मानव-बुद्धि ही है। दूसरे शब्दों में, बुद्धि ही इन आभासों को उत्पन्न करती है और बुद्धि ही उनके अन्तर्विरोधों को उद्घाटित भी करती है। मूर के अनुसार यह ब्रैडले के दर्शन का एक अन्तर्विरोध है। इस अन्तर्विरोध का कारण ब्रैडले के द्वारा सहज बुद्धि (Common sense) की उपेक्षा करना है। आगे चलकर तार्किक भाववादियों ने तत्त्वमीमांसा का निराकरण मूलतः ब्रैडले की तत्त्वमीमांसा को ही ध्यान में रखकर किया। इस प्रकार ब्रैडले इंग्लैंड की प्रत्ययवादी परम्परा के दार्शनिकों में अंतिम कड़ी हैं। उनकी मृत्यु (1924) के बाद इंग्लैंड से प्रत्ययवाद का अन्त हो जाता है। प्रत्ययवाद को तिलाञ्जलि देने के बाद आंग्ल दर्शन पुनः सहज भाव से वस्तुवाद और अनुभववाद को अपना लेता है। ब्रैडले के युग में उनकी प्रतिभा एवं उनके तात्त्विक चिन्तन की इतनी प्रतिष्ठा थी कि

उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे। ब्रैडले की दार्शनिक प्रतिभा, बौद्धिक क्षमता और उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए रूडोल्फ मेट्ज़ ने कहा, “इंग्लैण्ड में जितने भी अत्यधिक साहसी एवं मौलिक विचारक पैदा हुए हैं, उनमें से ब्रैडले एक प्रमुख स्तम्भ हैं। संभवतः आधुनिक आंग्ल विचारधारा के अन्तर्गत ब्रैडले का स्थान सर्वोच्च है।”¹

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रैडले न केवल एक प्रखर प्रत्ययवादी और महान तत्त्वमीमांसक थे, बल्कि समकालिक पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा के विकास में उनका परोक्ष रूप से महान योगदान रहा है। तार्किक भाववादियों ने भले ही तत्त्वमीमांसा के निराकरण करने का प्रयास किया हो, तथापि किसी न किसी रूप में तत्त्वमीमांसीय चिन्तन आज भी प्रचलित है। अतः आज भी ब्रैडले के इस कथन की प्रासंगिकता बनी हुई है कि “तत्त्वमीमांसीय चिन्तन मनुष्य की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है।”

अमेरिकी अर्थक्रियावाद और विलियम जेम्स (American Pragmatism And William James)

सांस्कृतिक दृष्टि से अमेरिकी विचारक आंचलिक (स्थानीय) संदर्भों में चिन्तन के अभ्यस्त रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न राज्य भले ही एक राजनीतिक एवं आर्थिक संरचना (ढाँचे) से परस्पर जुड़े हों, परन्तु देश में अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान रही हैं। ये विभिन्न प्रकार की आंचलिक संस्कृतियाँ अमेरिकी विरासत को एक विशिष्टता प्रदान करती हैं। अमेरिकी दर्शन के एक इतिहासकार एच० डब्ल्यू शनाइडर ने कहा है कि इस बहुलता के कारण ही अमेरिका में कोई भी विदेशी पूर्णतः विजातीय नहीं होता है। उसकी संस्कृति का अमेरिका की संस्कृति पर कुछ प्रभाव पहले से ही विद्यमान होता है।¹ इससे स्पष्ट है कि अमेरिकी चिन्तन में विविध विचारधाराओं का समिश्रण हुआ है। उत्तर-पूर्व में स्थित न्यू इंग्लैण्ड का दर्शन विशुद्धतावाद, प्लेटोवाद और परात्परवादी भाववाद की विचारधारा से ओत-प्रोत है। इसी प्रकार अमेरिका में जैक्सन का उत्कट (उग्र) लोकतन्त्र, दक्षिण-पश्चिम के कृषिपरक आदर्श, पापुलिस्ट आन्दोलन,² प्रकृतिवाद, समाज का विकासवादी दर्शन, परिकल्पनात्मक जीवविज्ञान, उत्कट अनुभववाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद इत्यादि विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से अमेरिका के प्रबोधकाल से दार्शनिक चिन्तन का उद्भव माना जा सकता है। यह युग धार्मिक एवं वैचारिक स्वतंत्रता का संदेश देता है। किन्तु इस युग में मनुष्य की तर्कबुद्धि एवं दार्शनिक चिन्तन का कोई सुव्यवस्थित निरूपण नहीं मिलता है। इस काल का अमेरिकी जीवन-दर्शन जहाँ एक ओर यूरोपीय विचारधारा एवं मनोवेग (Impulse) से प्रभावित है, वहीं दूसरी ओर अमेरिका में अनेक सुधारात्मक एवं प्रेरणाप्रद राजनीतिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रयोग हुए, जिनमें प्रायः समस्त विश्व ने भाग लिया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और अमेरिका की बढ़ती हुई राजनीतिक प्रतिष्ठा ने अमेरिकी जनता एवं विचारकों

1. History of American Philosophy, Introduction, p.2 (देखिये अमेरिकी दर्शन का इतिहास, (अनुवादक), ओम प्रकाश दीपक, (विषय प्रवेश में पृ० सं० 2)।
2. अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अर्थतन्त्र पर सार्वजनिक नियंत्रण और आर्थिक समानता के समर्थकों के द्वारा संचालित आन्दोलन।

में आशावाद एवं देश-प्रेम का संचार किया। इन सभी परिस्थितियों और विचारधाराओं का विवेचन करना प्रस्तुत संदर्भ में संभव नहीं है। किन्तु अमेरिका की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित करने वाले वे विचार महत्त्वपूर्ण हैं जिनका जीवन्त प्रभाव अमेरिकी बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क पर दीर्घकाल से रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में आन्तरिक संकट से मुक्त होने के बाद अमेरिका के विचारकों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक एवं आर्थिक संकट, स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की गंभीर समस्याएँ ऐसी नहीं हैं जिनका कोई स्थायी तथा यान्त्रिक समाधान खोजा जा सके। प्रत्येक युग की परिस्थितियों के संदर्भ में इन समस्याओं का अध्ययन और समाधान अलग-अलग ढंग से खोजना पड़ सकता है। व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों प्रकार की समास्याएँ धैर्य और शान्तिपूर्ण उपायों से ही हल की जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, विदेश नीति, शिक्षा, समाज और राजनीति के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण प्रायः अर्थक्रियावादी (व्यावहारिक) एवं उपोगितावादी रहा है। ज्ञान, मूल्य एवं नैतिकता से सम्बन्धित अमेरिका का दार्शनिक चिन्तन प्रायः अर्थक्रियावादी है। इस विचारधारा के विकास में सी०एस० पियर्स, विलियम जेम्स, जॉन डिवी आदि का योगदान उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जोसिया रायस, जान लुई, जॉर्ज सान्टयाना इत्यादि भले ही अर्थक्रियावादी नहीं थे, परन्तु उन्होंने अमेरिका में दर्शनशास्त्र की शिक्षा के प्रचार-प्रसार में राष्ट्रव्यापी अभिरुचि उत्पन्न करने का स्तुत्य प्रयास किया।

अर्थक्रियावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की प्रमुख विशेषता तार्किकता (Rationality) है। डेकार्ट से लेकर लॉक, काण्ट एवं नव्य हेगलवाद पर्यन्त दार्शनिकों ने तार्किक युक्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इन युक्तियों के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना की गयी। सत्य के अनुसंधान की इस कसौटी को कुछ अमेरिकी दार्शनिकों ने चुनौती दी है। उनके अनुसार केवल तर्कबुद्धि एवं बौद्धिक युक्तियों के द्वारा जीवन एवं जगत् की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है। जर्मन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट की 'क्रिटीक आफ् प्योर रीजन' का निष्कर्ष अज्ञेयवादी है। इस ग्रन्थ में काण्ट ने स्वयं शुद्ध बुद्धि (प्रज्ञा) के स्वरूप एवं व्यापारों का मूल्यांकन किया है। यह ग्रन्थ बुद्धि-प्रधान है। किन्तु मनुष्य अज्ञेयवाद मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता है। इसलिए काण्ट कहते हैं—“मैंने आस्था (Faith) को स्थान देने के लिए प्रज्ञा (Reason) की आलोचना किया।” मनुष्य की नैतिक चेतना और संकल्प-स्वातंत्र्य से सिद्ध होता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है। काण्ट की 'द्वितीय समालोचना' (The Critique of Practical Reason) में संकल्प की स्वतंत्रता को विशेष महत्त्व मिला। काण्ट

का यह मत—‘जो ज्ञान से परे है वह आस्था या श्रद्धा का विषय है’, एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। नैतिक जीवन क्रियाशील जीवन है। कोई भी नैतिक कर्म संकल्प के बिना नहीं हो सकता है। यद्यपि काण्ट ने तत्त्वमीमांसा के रूप में दर्शनशास्त्र को असंभव माना है, तथापि काण्ट के बाद दर्शन के क्षेत्र में तत्त्वमीमांसा का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। हेगल एवं नव्य हेगलवादियों के दर्शन में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को एक साथ संयुक्त करने (जोड़ने) का प्रयास किया गया। हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद में बुद्धिवाद अपने चरमोत्कर्ष पर विराजमान है। वस्तुतः प्लेटो से लेकर नव्य हेगलवाद तक दार्शनिक समस्याओं की व्याख्या बौद्धिक एवं सैद्धांतिक आधार पर की गयी। इस दृष्टि से जो सिद्धान्ततः असंगत है वह असत्य या आभास है। इसके विपरीत जो सैद्धांतिक (तार्किक) दृष्टि से सुसंगत है वह सत्य है।

आधुनिक युग की अमेरिकी विचारधारा में इस प्रकार के अतिशय बुद्धिवाद एवं निरपेक्षतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। यहाँ बुद्धि एवं आचरण (कर्म) के बीच में विवाद को लेकर पर्याप्त चिन्तन हुआ। इसके फलस्वरूप अमेरिका में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाली दार्शनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे अर्थक्रियावाद या संव्यवहारवाद (Pragmatism) के नाम से जाना जाता है। दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से जो स्थान भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद का, चीन में कन्फ्यूसियसवाद का, जर्मनी में प्रत्ययवाद का, इंग्लैण्ड में अनुभववाद का और फ्रांस में अस्तित्ववाद का है, वही स्थान और महत्त्व अमेरिका में अर्थक्रियावाद का है। यद्यपि वहाँ पर भी अनेक विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं, तथापि अर्थक्रियावाद अमेरिका की एक प्रमुख पहचान है। इस दृष्टि से मनुष्य को सिद्धांतों की रक्षा के लिए व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी मूल्यों का परित्याग नहीं कर सकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन के लिए उपयोगी क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण मानता है। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सिद्धांतों की उपेक्षा कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि अर्थक्रियावाद का लक्ष्य मानव जीवन को कोरी सैद्धांतिक एवं बौद्धिक उलझनों से दूर रख करके उसे सुखमय, आनन्दमय एवं सफल बनाना है। अतः अर्थक्रियावाद के अनुसार दर्शनशास्त्र हमारे भविष्य सम्बन्धी कार्यों की सफलता के लिए एक कार्य योजना प्रस्तुत करता है।

अमेरिका में इस विचारधारा को एक दार्शनिक विधा के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सी०एस० पियर्स (1839-1914) को है। इसे एक व्यवस्थित दर्शन का स्वरूप प्रदान करने में विलियम जेम्स (1842-1910) एवं जॉन डिवी (1859-1952) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु अमेरिका के बाहर अर्थक्रियावाद का अधिक प्रचार-प्रसार न हो सका। इंग्लैण्ड में इस विचारधारा के पोषक एफ०सी०एस० शिलर (1864-1937) रहे हैं। उन्होंने अर्थक्रियावाद को ‘मानववाद’ (Humanism) के रूप में विकसित किया है। शिलर ने अर्थक्रियावाद को तार्किक

आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया। विलियम जेम्स के अनुसार 'अर्थक्रियावाद' को एक विचारधारा (Ideology) के रूप में सबसे पहले पियर्स ने स्थापित किया। किन्तु जॉन डिवी का मत इससे भिन्न है। उन्होंने लिखा है कि स्वयं पियर्स यह स्वीकार करते हैं कि अर्थक्रियावाद का आधार काण्ट की 'प्रथम आलोचना' (The Critique of Pure Reason) है क्योंकि सैद्धांतिक बुद्धि अज्ञेयवाद की ओर ले जाती है। इसलिए काण्ट को व्यावहारिक बुद्धि की आवश्यकता हुई। इन विवादों के बावजूद यह निश्चित है कि अमेरिका में अर्थक्रियावाद को एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में पियर्स ने स्थापित एवं विकसित किया।

(अ)

चार्ल्स सैन्डर्स पियर्स (1839-1914) (C.S. Pierce)

पियर्स अपने समय में प्रचलित दार्शनिक विचारधाराओं से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार आध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों अस्पष्ट एवं अनिश्चित दार्शनिक प्रवृत्तियाँ हैं। वस्तुतः किसी भी विचारधारा की सार्थकता व्यवहार में उसके अनुरूप आचरण करने पर निर्भर होती है। यथार्थ प्रयोग के द्वारा परीक्षण करने के बाद ही कोई चिन्तन स्पष्ट और निश्चित अर्थ से युक्त हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक विचार (वाक्य) का अर्थ उसके प्रयोग पर निर्भर होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रयोग के बिना कोई विचार सार्थक नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए 'कठोर' (Hard) शब्द को लिया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि 'कठोर' शब्द का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शब्दकोश का सहारा लेने से कोई लाभ नहीं हो सकता है। इसका अर्थ जानने के लिए यह देखना आवश्यक होगा कि 'कठोर' शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है। हमें प्रयोग करके यह दिखाना पड़ेगा कि हम जिसे कठोर कहते हैं (जैसे पत्थर का टुकड़ा) यदि इसे किसी चीज़ से खिरोँचा जाय तो उस पर खिरोँचने का कोई निशान (चिह्न) नहीं बनेगा। यदि हम उसमें अपनी उँगली अथवा कलम चुभोना (घुसाना) चाहें तो उस पर वह उस प्रकार नहीं घुसेगी जैसा कि वह किसी रूई के गढ़े में घुस जाती है। अतः 'कठोर' शब्द का प्रयोग किसी क्रिया विशेष के होने या न होने पर निर्भर है। इससे स्पष्ट है कि किसी शब्द का अर्थ उसके क्रियात्मक प्रयोग पर निर्भर होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिस संप्रत्यय के सम्बन्ध में कोई सार्थक प्रयोग या क्रिया न हो सके वह संप्रत्यय निरर्थक है।¹

1. How to make our ideas clear, Popular Science Monthly, January, 1878.

विश्वास का स्वरूप (Nature of Belief)

पियर्स ने मानव-जीवन को प्रभावित करने वाले कारकों में संशय (Doubt) और विश्वास (Belief) को महत्वपूर्ण माना है। मानव-चिन्तन का लक्ष्य किसी न किसी विश्वास की स्थापना करना है। विश्वास की स्थापना का प्रारम्भ संशय से होता है। यदि किसी विषय में संशय न हो तो चिन्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ नहीं हो सकता है। चिन्तन की क्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक विश्वास स्थापित न हो जाय। पियर्स ने चिन्तन की इस प्रक्रिया को अन्वेषण-प्रक्रिया या गवेषणा (Process of Inquiry) कहा है। दूसरे शब्दों में "चिन्तन की प्रक्रिया अन्वेषणात्मक होती है। इसका प्रारम्भ संशय से और समापन विश्वास से होता है।" इस प्रकार मानव-चिन्तन का लक्ष्य विश्वास की स्थापना करना है। पियर्स के अनुसार विश्वास की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

- (1) विश्वास वह है जिसकी हमें जानकारी होती है।
- (2) विश्वास संशय का निषेध करता है।
- (3) विश्वास कोई न कोई कर्म करने से सम्बन्धित नियम का द्योतक है। वस्तुतः विश्वास कर्म करने की एक आदत है। यह चेतना की कोई क्षणिक अवस्था नहीं है। किन्तु प्रथम एवं द्वितीय विशेषताएँ विश्वास के लिए अनिवार्य नहीं हैं। संशय विश्वास का प्रतिपक्ष (विरोधी) होते हुए भी उसके (विश्वास के) लिए अनिवार्य नहीं है। संशय का निराकरण कुछ अन्य उपायों से भी किया जा सकता है। विश्वास का सार तत्त्व आदतों की स्थापना करना होता है। यह आदत कर्म करने से सम्बन्धित होती है, अर्थात् यह कर्म करने की आदत है। इससे सिद्ध होता है कि विश्वास कर्म-सापेक्ष होता है। वस्तुतः विश्वासों के विभिन्न प्रकार उनके आधार पर किये जाने वाले कर्मों पर आधारित होते हैं। अतः विश्वास कोई बौद्धिक संप्रत्यय नहीं, बल्कि एक क्रियामूलक अवधारणा है।

विश्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध सत्य (Truth) से है। मनुष्य स्वभावतः दीर्घकाल तक संशय की मनःस्थिति में नहीं रह सकता है। इस संशयग्रस्त मनःस्थिति से मुक्त होने के लिए वह विश्वास की स्थापना करना चाहता है। विश्वास की मानसिक अवस्था में मनुष्य का मन सन्तुष्ट एवं शान्त रहता है। यहाँ तक कि असत्य विश्वास भी मन को शान्त एवं सन्तुष्ट बनाये रखता है, बशर्ते विश्वास करने वाला व्यक्ति समझता हो कि उसका विश्वास सत्य है। यदि विश्वास करने वाला व्यक्ति (Believer) अपने विश्वास को सत्य न मानता हो तो वह अपने विश्वास को विश्वास नहीं कह सकता है। जब तक कोई विश्वास स्थापित नहीं हो जाता है, तब तक अन्वेषण प्रक्रिया का अन्त नहीं हो सकता है। अपने एक महत्वपूर्ण लेख (The Fixation of Belief) में पियर्स ने विश्वास की स्थापना के लिए चार विधियों का उल्लेख किया है; जो अधोलिखित हैं—

1. Belief is an antithesis of doubt. अर्थात् विश्वास संशय का प्रतिपक्ष (विरोधी) है।

(1) दृढ़ता की विधि (The Method of Tenacity)—इसके अन्तर्गत मनुष्य अपने विचारों के प्रति आग्रह करता है। वह अपने विचारों में स्थिर एवं विश्वासों पर दृढ़ रहता है। ऐसा व्यक्ति वैचारिक संकीर्णता से ग्रस्त होता है। सामाजिक सम्बन्धों से युक्त मानव सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं की सदैव उपेक्षा नहीं कर सकता है। यदि समाज के द्वारा व्यक्ति के विश्वासों की लगातार आलोचना की जाती है तो उसे अपने विश्वासों पर पुनर्विचार करना पड़ता है। प्रायः ऐसा विश्वास मनुष्य की व्यक्तिगत प्रतिबद्धता से सम्बन्धित होता है। इसका अन्य व्यक्तियों के विश्वासों से सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाता है। अतः इस प्रकार के विश्वासों का निराकरण उनके स्वरूप में ही निहित होता है।

(2) अधिकारिता विधि (The Method of Authority)—यह विधि किसी व्यक्ति के निजी विश्वासों तक सीमित नहीं है। ऐसे विश्वासों के साथ सामाजिक सहमति रहती है। अतः समाज के अन्य व्यक्तियों के द्वारा इसका निराकरण करने की संभावना बहुत कम होती है। हमारे अधिकांश सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक विश्वास इसी कोटि में सम्मिलित हैं। किन्तु विभिन्न प्रकार के धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक एवं सामाजिक विश्वासों में पारस्परिक टकराव, मतभेद एवं विरोध हो सकता है।

(3) प्रागनुभविक विधि (Apriori Method)—यह विधि पूर्वोक्त दोनों विधियों से भिन्न है। इसके अन्तर्गत न तो व्यक्तिगत हठधर्मिता और न किसी आधिकारिक संस्था का दबाव रहता है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रायः इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि के अनुसार जो बुद्धिग्राह्य है, वही विश्वास करने के योग्य है। किन्तु पियर्स ने इस विधि की प्रामाणिकता को अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं किया है। यदि यह विधि उपयुक्त होती तो दार्शनिकों में अधिक मतभेद न होता। इस विधि में व्यक्तिगत संकीर्णता विद्यमान होती है। यही कारण है कि कोई सिद्धान्त एक विचारक को तर्कसंगत प्रतीत होता है, जबकि दूसरे विचारकों को असंगत प्रतीत होता है। अतः इस विधि के द्वारा स्थापित विश्वास भी सुदृढ़ नहीं हो सकते हैं।

(4) वैज्ञानिक विधि (Scientific Method)—पियर्स ने इस विधि को विश्वासों के प्रामाण्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधि के रूप में स्वीकार किया है। यह तथ्यात्मक निरीक्षण एवं परीक्षण की विधि है। यद्यपि प्रयोग एवं निरीक्षण में भी त्रुटियाँ हो सकती हैं, तथापि उनका निराकरण किया जा सकता है। किसी एक प्रयोग को अन्तिम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। इस विधि की उपयुक्तता यह है कि इसमें वास्तविक तथ्यों पर आधारित प्रयोगों के द्वारा दुराग्रहों और व्यक्तिगत सनक पर आधारित विश्वासों का निराकरण हो जाता है। प्रयोगों पर आधारित विश्वासों की सत्यता पर सर्वसम्मति होना आवश्यक होता है, जो विश्वास सभी अनुसंधानकर्ताओं के द्वारा अनिवार्य रूप से स्वीकार किया जाता है, वही सत्य है।

पियर्स के अनुसार किसी विश्वास की स्थापना का अर्थ सत्य का अनुसंधान करना है। इस दृष्टि से सत्य की खोज केवल क्रियात्मक प्रयोगों से ही हो सकती है। वैज्ञानिक विधि में भी क्रियात्मकता को विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार पियर्स ने संप्रत्ययों के अर्थ-निरूपण एवं विश्वासों की सत्यता के निर्धारण में क्रिया एवं प्रयोग को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत

पियर्स की ज्ञानमीमांसा में बुद्धिवादी एवं प्रज्ञावादी ज्ञान-सिद्धान्त का निराकरण किया गया है। वे किसी रहस्यात्मक शक्ति एवं प्रज्ञा के साक्षात्कारित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। मनुष्य में इस प्रकार की शक्ति का अभाव है। मनुष्य के तथाकथित प्रातिभ एवं रहस्यात्मक ज्ञान बाह्य तथ्यों के आधार पर परिकल्पित कर लिये जाते हैं। प्रत्येक ज्ञान तर्कबुद्धि, प्रयोग एवं अनुभव से निर्धारित होता है। रहस्यात्मक एवं प्रज्ञात्मक ज्ञान के पक्ष में कोई ऐसा साक्ष्य नहीं दिया जा सकता है जो क्रियात्मक प्रयोगों पर आधारित हो। दो व्यक्तियों के प्रातिभज्ञान एक-दूसरे के विरुद्ध हो सकते हैं। इन विरोधों का परिहार किसी प्रज्ञात्मक ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता है। कोई ज्ञान स्वयंसिद्ध एवं स्वयं प्रकाश नहीं हो सकता है। प्रत्येक ज्ञान सापेक्ष, अर्थात् ज्ञान की अन्य परिस्थितियों पर आश्रित होता है।

पियर्स के अनुसार विचार एक 'संकेत' (Sign) है। विचार के द्वारा एक बाह्य विषय की सत्ता का निर्देश किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि पियर्स विचार से भिन्न और स्वतंत्र रूप में संकेतित वस्तु की सत्ता को मानते हैं। इस प्रकार पियर्स का मत वस्तुवादी है। यदि विचार को संकेत माना जाय तो यह प्रश्न उठता है कि यह किसका संकेत है? इसकी अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। इनमें से किसी भी व्याख्या को अन्तिम रूप से सत्य एवं निश्चित नहीं माना जा सकता है। प्रत्येक व्याख्या में कुछ न कुछ असत्यता की संभावना विद्यमान होती है। पियर्स के इस मत को 'असत्य संभाव्यतावाद' (Fallibilism) के नाम से जाना जाता है।

पियर्स के अनुसार पूर्ण अज्ञेयवाद एक आत्म-व्याघाती अवधारणा है। यह संभव है कि हम अनेक तथ्यों को न जानते हों, परन्तु इसका निहितार्थ यह नहीं है कि हम उनहें भविष्य में भी नहीं जान सकेंगे। अन्वेषण-प्रक्रिया की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। जो आज अज्ञात एवं अनिर्धारित है, हो सकता है कि वह भविष्य में निर्धारित हो जाय। अतः अज्ञेयवाद एक मिथ्या दृष्टिकोण पर आधारित विचारधारा है।

अर्थक्रियावाद के अनुसार सत्य आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता है क्योंकि सत्य वस्तुनिष्ठ एवं सर्वमान्य होता है। उसे स्वेच्छाचारी एवं काल्पनिक नहीं हो सकता है। स्वप्न की घटनाएँ भले ही काल्पनिक हों, परन्तु मेरे द्वारा स्वप्न का देखा जाना वास्तविक है। इससे स्पष्ट है कि पियर्स आत्मनिष्ठतावादी नहीं है। इसी

प्रकार वह नामवादी भी नहीं है। नामवाद के अनुसार केवल विशेष वस्तुएँ ही सत् हैं। सभी सामान्य प्रत्यय शाब्दिक या नाम मात्र हैं। उदाहरण के लिए, केवल मेज ही वास्तविक है। 'मेजत्व' (Tableness) केवल एक शब्द अथवा नाम है। इस मत का खण्डन करते हुए पियर्स ने कहा है कि यदि सामान्यों के अस्तित्व को न माना जाय तो क्रियात्मक विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता है क्योंकि क्रियात्मक विधि के प्रयोग के लिए नियमों का होना आवश्यक होगा और नियम सामान्य होते हैं। अतः सामान्यों की सत्ता काल्पनिक नहीं हो सकती है। वैध ज्ञान का विषय अस्तित्वयुक्त होता है क्योंकि जिसका अस्तित्व न हो वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। पियर्स सामान्यों को भी ज्ञान का विषय (ज्ञेय) मानता है। अतः सामान्यों के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थक्रियावाद के अन्तर्गत ज्ञान को क्रिया-सापेक्ष माना गया है। ज्ञान की सार्थकता का आकलन क्रियात्मक अवधारणाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। यदि विश्व में सामान्य नियमों को वास्तविक न माना जाय तो सफल क्रियात्मक प्रयोग संभव नहीं हो सकता है। उल्लेखनीय है कि बिना प्रयोग के अर्थयुक्त शब्दों को संभव नहीं माना जा सकता है और बिना भाषा के अर्थपूर्ण हुए कोई ज्ञान नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि पियर्स सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धान्त का समर्थक है।

पियर्स की तत्त्वमीमांसा

पियर्स ने तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र की तीन प्रमुख विधाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें क्रमशः संवृत्तिशास्त्र (Phenomenology), मूल्यमीमांसा (Axiology) और तत्त्वशास्त्र (Metaphysics) कहा जाता है।

(i) संवृत्तिशास्त्र के अन्तर्गत प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों को तीन प्रकार का माना गया है। इसे 'त्रिवर्ग प्रेम' (Love of Three Classes) के नाम से जाना जाता है। प्रथम वर्ग में आनन्द, दुःख, रंग, ध्वनि, गंध आदि अनुभूतियाँ सम्मिलित हैं। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत विशेष देश-काल में घटित होने वाली घटनाएँ आती हैं। संभावनाएँ किसी देश-काल में घटित होने वाली घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि वास्तविक वस्तुस्थितियाँ हैं। तीसरे वर्ग में सामान्य नियम आते हैं। ये नियम भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं, व्यक्तियों और वस्तुओं पर लागू होते हैं।

(ii) मूल्यमीमांसा के अन्तर्गत सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं तर्कशास्त्र सम्मिलित हैं। पियर्स के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र और नीतिशास्त्र भावनाओं से अधिक सम्बन्धित हैं। पियर्स ने इन शास्त्रों की अधिक व्याख्या नहीं की है। किन्तु उसने तर्कशास्त्र की विस्तृत व्याख्या की है। पियर्स के अनुसार तर्कपद्धति के तीन भेद हैं जिन्हें क्रमशः निगमन (Deduction), आगमन (Induction) और परिकल्पना (Abduction) पद्धति कहा गया है। निगमन के अन्तर्गत सामान्य नियमों के आधार पर विशेष के बारे में निष्कर्ष स्थापित किया जाता है। इसके विपरीत आगमन में

विशेष-विशेष तथ्यों एवं घटनाओं के उदाहरणों के आधार पर उनमें निहित सामान्य नियमों की खोज की जाती है। एबडक्शन या काल्पनिक विधि में कल्पना की सहायता से नये विचारों की प्राक्कल्पना के आधार पर तर्क किया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में इसी तर्क के आधार पर नये-नये अनुसंधान किये जाते हैं। कल्पना आगमन का मार्गदर्शन करती हैं। आगमन से कल्पना को विषय वस्तु मिलती है।

पियर्स के अनुसार तत्त्वमीमांसीय चिन्तन उपयोगितापरक नहीं होता है। पियर्स सत्यता और उपयोगिता को परस्पर अभिन्न नहीं मानता है। सत्य का उपयोगी होना अनिवार्य नहीं है। सत्य की स्थापना वैज्ञानिक प्रयोगों से होती है। वैज्ञानिक प्रयोग वस्तुनिष्ठ होते हैं। दर्शनशास्त्र तटस्थ एवं निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक पद्धति से सत्य का अनुसंधान करता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र धर्म की अपेक्षा निष्पक्ष और पूर्वाग्रहों से रहित होना है। जो दार्शनिक सम्प्रदाय पूर्वाग्रहों एवं पूर्व मान्यताओं पर आधारित हैं वे त्याज्य हैं। आध्यात्मवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद इसी प्रकार के दर्शनशास्त्र हैं। ये स्वयं को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर पाते हैं। पियर्स ने अपनी तत्त्वमीमांसा को समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त करने का प्रयास किया है। विश्व के स्वरूप की व्याख्या शाश्वत एवं स्थिर नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती है। यान्त्रिक एवं स्थिर नियमों पर आधारित विश्व की व्याख्या में नवीनता एवं परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है। हेगल और उसके अनुयायियों ने विश्व की व्याख्या भले ही गत्यात्मक एवं द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर की है, परन्तु उसमें नवीनता और मौलिकता का अभाव है। पियर्स ने आकस्मिक परिवर्तन को विशेष महत्त्व दिया है। वह आकस्मिकता के साथ-साथ शक्ति और विकासोन्मुख नियमों को महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके अनुसार सभी नियम आकस्मिकता (Tychism) से उत्पन्न होते हैं। ये नियम परिवर्तित, परिवर्धित एवं विकसित होते रहते हैं।

पियर्स के अनुसार विश्व की एकतत्त्ववादी व्याख्या तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यह व्याख्या विश्व की गतिशीलता, नवीनता और विविधता के अनुकूल नहीं है। वह जड़ और चेतन के द्वैत को नहीं मानता है। दोनों में वास्तविक भेद नहीं पाया जाता है। जड़ पदार्थ मन का ही स्थिरीकरण है। विकास के नियमों के कारण जड़ एवं चेतन में निरन्तरता पायी जाती है। इसके अतिरिक्त पियर्स विकास के सिद्धान्त को जगत् की व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण मानता है। विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत कोई सत्य शाश्वत नहीं हो सकता है। यदि शाश्वत और स्थिर सत्य को न स्वीकार किया जाय तो प्रत्येक नियम के असत्य होने की संभावना बनी रहती है। वस्तुतः सभी नियम विकास पर आधारित हैं, परन्तु विकास नियमों पर आधारित नहीं होता है। विकास-प्रक्रिया के अन्तर्गत ही नियमों का उद्भव एवं विकास होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि नियम परिवर्तित होते रहते हैं।

पियर्स ने तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत धर्म (Religion) और विज्ञान में समन्वय

स्थापित करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार धर्म एवं विज्ञान परस्पर विरोधी हैं। यदि इन दोनों में समन्वय स्थापित हो जाय तो ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया जा सकता है। तार्किक दृष्टि से ईश्वर का संप्रत्यय भले ही अनिश्चित हो, तथापि प्रेम के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व की अवधारणा को क्रियात्मक स्वरूप एवं अर्थ प्रदान किया जा सकता है। इसके तात्त्विक ज्ञान हेतु शाश्वत साधना और अनुसंधान अपेक्षित है।

पियर्स का अर्थ-सिद्धान्त (Theory of Meaning)

पियर्स का अर्थ सिद्धान्त 'संव्यवहार' अथवा अर्थक्रियाकारित्व पर निर्भर है, जिसके अर्थ का निरूपण किया जाता है। वह एक चिह्न (Sign) है। इसका सम्बन्ध विश्वास से होता है। विश्वास एक विशेष पद्धति से कार्य करने का संकल्प है। जब हम किसी कर्म को स्वेच्छा से बार-बार करते हैं, अर्थात् स्वेच्छा से किसी कर्म की पुनरावृत्ति अनेक बार होने से उस कर्म को करने की आदत (Habit) पड़ जाती है। इस प्रकार हमारे विश्वासों की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से आदतों के रूप में होती है। प्रत्येक आदत की सार्थकता व्यावहारिक कार्यों में निहित होती है। किसी भी संप्रत्यय एवं तर्कवाक्य के अर्थ-निरूपण का आधार व्यवहार में प्रवृत्त होना है। अर्थ के इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संप्रत्यय अथवा भाव का अर्थ उसकी उन क्रियाओं पर आधारित होता है, जिनमें वे फलीभूत होती हैं, अर्थात् जिनके आधार पर वे कर्म में प्रवृत्त करते हैं। पियर्स के समय में अर्थ के अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:-

(1) अर्थ किसी संप्रत्यय का सारतत्त्व है

(2) अर्थ का निर्देशात्मक सिद्धान्त

(3) अर्थ का प्रतिमामूलक सिद्धान्त

पियर्स के अनुसार अर्थ के ये सिद्धान्त किसी न किसी रूप में अर्थ की खोज संज्ञानात्मक उपकरणों में करने का प्रयास करते हैं। पियर्स ने अर्थ के क्रियात्मक सिद्धान्त (The Operational Theory of Meaning) का प्रतिपादन किया है। हम जिसे अर्थ कहते हैं वह न तो कोई सारतत्त्व है, न वस्तु है और न प्रतिमा है। वस्तुतः हम चिह्नों के अर्थ का विवेचन करते हैं। किन्तु सभी चिह्न अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। वे अपने अर्थ सिद्धान्त को बौद्धिक संप्रत्यय तक ही सीमित कर देते हैं।

पियर्स ने अर्थ-निरूपण की प्रक्रिया के चार सोपानों का उल्लेख किया है :-

(1) सोपाधिक अंश (Hypothetical Part)—किसी चिह्न (Sign) को अर्थ प्रदान करते समय सबसे पहले यही अंश प्रारम्भ होता है। हमारे मन में यही भाव उत्पन्न होता है कि 'यदि ऐसा किया जाय तो ऐसा होगा। जैसे—'यदि किसी कठोर चीज को खिरोँचा जाय तो उस पर खिरोँच का निशान नहीं पड़ेगा।'

(2) क्रियात्मक अंश (Operational Part)—इस स्तर पर प्रश्नगत चिह्न पर प्रयोग करने का विचार मन में उत्पन्न होता है।

(3) पूर्व सूचना देने का अंश (Predictive Part)—इस स्तर पर प्रयोगों के अनुमानित परिणामों के बारे में कुछ भाव हमारे मन में उठते हैं।

(4) अनुभवमूलक अंश (Expertertial Part)—इस सोपान में प्रत्येक क्रिया के अनुमानित परिणामों का ज्ञान होता है। जैसे, किसी कठोर चीज पर दबाने से प्रतिरोध का अनुभव होना।

इससे स्पष्ट है कि पियर्स के अनुसार किसी चिह्न का अर्थ पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होता है। यह अर्थ-सिद्धान्त का लक्ष्य भी नहीं है कि किसी चिह्न के अर्थ का निर्धारण सुनिश्चित रूप में किया जाय। किसी शब्द का अर्थ उसकी प्रयोगात्मक या क्रियात्मक स्थिति से उत्पन्न होता है, उसके निश्चित प्रयोग से नहीं। किसी संप्रत्यय के अर्थ-बोध के लिए क्रियाओं के संभाव्य परिणामों पर विचार किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि किसी क्रिया के संभावित फल पर विचार करने से अर्थ का ज्ञान स्पष्ट होता है।

पियर्स के अनुसार किसी भाव से उत्पन्न क्रिया का फल भविष्य से सम्बन्ध रखता है। वाक्य के अर्थ का निर्धारण भूतकालिक ज्ञान से सम्बन्धित होने के साथ-साथ भविष्य से सम्बन्धित क्रियात्मक परिणामों से अधिक सम्बन्धित होता है। पियर्स ने किसी संप्रत्यय के अर्थ का निरूपण करने के लिए व्यवहार में पड़ने वाले उसके प्रभावों पर विशेष बल दिया है। उसने इसे 'व्यावहारिक क्रिया परिणाम' (Practical Bearing) कहा है। अतः उसे अर्थक्रियावाद का प्रवर्तक कहा जाता है।

किन्तु अर्थ के निर्धारण की भी एक सीमा है। वह प्रत्येक संप्रत्यय के अर्थ का निर्धारण करने का प्रयास नहीं करता है। उसका लक्ष्य केवल बौद्धिक संप्रत्ययों के अर्थ का निर्धारण करना था। यहाँ बौद्धिक संप्रत्ययों से आशय उन भावों से है जो वैचारिक दृष्टि से प्रासंगिक हों। जिस संप्रत्यय (भाव) से कोई क्रिया (प्रवृत्ति) जाग्रत न हो, अर्थात् जो भाव प्रवृत्ति सामर्थ्य से रहित हों, उनके अर्थ का निर्धारण करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से व्यक्तिवाचक नामों (Proper Names) एवं विशिष्ट वस्तुओं को निर्दिष्ट करने वाले शब्दों के अर्थ का निरूपण नहीं हो सकता है क्योंकि उनसे कोई क्रिया एवं फल (परिणाम) उत्पन्न नहीं हो सकता है। उनमें 'व्यावहारिक क्रिया-परिणाम' (Practical Bearing) का अभाव पाया जाता है। इस मान्यता के फलस्वरूप उसका अर्थ-सिद्धान्त व्यक्ति-केन्द्रित हो जाता है क्योंकि किसी संप्रत्यय से जिस प्रकार के क्रियात्मक परिणामों का भव्य व्यक्ति के मन में उत्पन्न होता है, उसी के अनुरूप उस अवधारणा अथवा भाव का अर्थ-निर्धारण भी होता है। यह अर्थ-बोध प्रत्येक व्यक्ति में अपने-अपने ढंग से अलग-अलग रूप में होता है। अतः अर्थ का कोई एक सामान्य या सर्वगत स्वरूप नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में दो व्यक्तियों के मध्य

किसी एक संप्रत्यय के बारे में वार्तालाप करना असंभव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि पियर्स का अर्थ सिद्धान्त संतोषप्रद नहीं है।

किन्तु पियर्स के अर्थ-सिद्धान्त का दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यही सिद्धान्त विलियम जेम्स के अर्थक्रियावाद का मूल आधार है। इसके अतिरिक्त अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त पर भी इसका प्रभाव उपलक्षित होता है। किन्तु पियर्स का अर्थ-सिद्धान्त 'व्यावहारिक क्रिया-परिणाम' के सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाता है। प्रश्न उठता है कि क्या किसी संप्रत्यय पर विचार करने से उसके सभी क्रियापरिणाम स्पष्ट हो जाते हैं ? इसकी व्याख्या करने के लिए पियर्स यह कहते हैं कि प्रत्येक संप्रत्यय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है। इसके परिणामस्वरूप दो व्यक्ति किसी विषय पर बातचीत नहीं कर सकते हैं। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि पियर्स का अर्थ-सिद्धान्त व्यक्ति-केन्द्रित हो जाता है। किन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी पियर्स के दार्शनिक विचार आशवादी हैं। किसी संप्रत्यय (भाव) के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए शाश्वत प्रयास एवं अनुसंधान करना आवश्यक है क्योंकि किसी क्रिया का परिणाम उसके अनुसंधान एवं शाश्वत क्रियाफल पर विचार करने से ही जाना जा सकता है। इस प्रकार सभी अनुसंधानकर्ताओं के वैज्ञानिक प्रयोगों का फल ही वास्तविक सत्यता का द्योतक है।



(ब)

विलियम जेम्स का अर्थक्रियावाद

विलियम जेम्स (1842-1910) अमेरिका के एक प्रसिद्ध विचारक थे। उन्होंने हावर्ड विश्वविद्यालय से चिकित्साशास्त्र (Medical Science) और जीव विज्ञान में शिक्षा प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यूरोपीय देशों में, विशेष रूप से फ्रांस एवं स्विट्जरलैण्ड में भी शिक्षा ग्रहण किया। सन् 1872 ई० में जेम्स को हावर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया गया। विलियम जेम्स ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपने मौलिक सिद्धांतों की खोज की और अमेरिका में सर्वप्रथम मनोविज्ञान की प्रयोगशाला स्थापित की। हावर्ड विश्वविद्यालय में उनके शोधपरक लेख मनोविज्ञान के साथ-साथ दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी प्रकाशित होते रहे। उनके अनुसार दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध मानव-जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से है। उन्होंने अपने दर्शन में उन्हीं दार्शनिक समस्याओं पर अधिक बल दिया है जो मानव-जीवन से सार्थक रूप में सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से व्यक्तिगत अनुभव एवं विश्वास का कोरे सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।

उल्लेखनीय है कि विलियम जेम्स ने शरीररचना विज्ञान (Physiology) एवं मनोविज्ञान (Psychology) के अध्ययन का कार्य किया, परन्तु कालान्तर में उनकी अभिरुचि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में विकसित हुई। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उनको आकर्षित करने का श्रेय सी०एस० पियर्स के द्वारा लिखे गये दार्शनिक निबन्धों को है। पियर्स के द्वारा लिखे गये दार्शनिक निबन्धों से उन्हें महती प्रेरणा प्राप्त हुई। कुछ समालोचकों का कहना है कि विलियम जेम्स को दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में सक्रिय होने के लिए बीस वर्षों तक दर्शनशास्त्र की साधना (स्वाध्याय) करनी पड़ी। उन्होंने अपने युग में प्रचलित दार्शनिक विचारों को आत्मसात् करके गिपफर्ड व्याख्यानमाला में स्वयं को एक सशक्त वक्ता के रूप में प्रस्तुत किया। उनका प्रवचन या व्याख्यान 1902 ई० में 'धार्मिक अनुभूति की विविधताएँ या प्रकार' (Varieties of Religious Experiences) के रूप में प्रकाशित हुआ। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने 1907 ई० में उन्हें व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। इस संदर्भ में विलियम जेम्स के द्वारा प्रस्तुत आठ व्याख्यानों का प्रकाशन 'अर्थक्रियावाद' या 'संव्यवहारवाद' (Pragmatism) के नाम से किया गया। प्रायः अधिकांश अमेरिकी विद्वानों ने इन व्याख्यानों को ही अर्थक्रियावाद की संज्ञा प्रदान किया।

जेम्स का दर्शनशास्त्र अर्थक्रियावाद के नाम से विख्यात है। उनके अनुसार विज्ञानों की विभिन्न विधाएँ एवं शाखाएँ यथार्थ तत्त्व के बारे में किसी निरपेक्ष अथवा अन्तिम सत्य का प्रतिपादन नहीं कर सकती हैं। प्रायः सभी विज्ञान सत्ता के स्वरूप का अध्ययन करने के लिए सोपान मात्र हैं। नवीन तथ्यों एवं खोजों के आलोक में वैज्ञानिक सिद्धांतों के स्वरूप में संशोधन, परिमार्जन एवं परिवर्तन होता रहता है। उसने हेगल एवं नव्य हेगलवाद के विरोध में एक नवीन दार्शनिक विचारधारा की स्थापना करने का प्रयास किया। उसके अनुसार निरपेक्ष प्रत्ययवाद के द्वारा की गयी सृष्टि की आध्यात्मवादी और बुद्धिवादी व्याख्या तर्कसंगत नहीं है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद एवं बुद्धिवाद का प्रभाव अमेरिकी दार्शनिकों पर भी था। इस विचारधारा के प्रतिनिधि दार्शनिक के रूप में हारवर्ड विश्वविद्यालय में जोसिया रायस थे। जोसिया रायस (Josiah Rayce) जेम्स के समकालीन थे। वे हेगल के प्रत्ययवाद के समर्थक थे। निरपेक्ष प्रत्ययवाद के अनुसार ब्रह्माण्ड (Universe) में विकास की प्रक्रिया का संचालन द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार होता रहता है। इसमें नवीनता, स्वतंत्रता एवं मौलिकता का कोई स्थान नहीं है। इस मत का खण्डन करते हुए विलियम जेम्स ने कहा है कि हेगल का निरपेक्ष प्रत्ययवाद तर्कबुद्धि की अनिवार्यता से जकड़ा हुआ है। इसमें मानव-स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद और सर्वबुद्धिवाद में मानव-संकल्पों एवं भावनाओं की नितान्त उपेक्षा की गयी है। किन्तु दर्शनशास्त्र को कोरे सिद्धांतों एवं अमूर्त चिन्तन तक सीमित नहीं किया जा सकता है। दर्शनशास्त्र मानव-जीवन एवं उसकी समस्याओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि भौतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में हमारी अनेक मान्यताएँ तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं, फिर भी हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। वास्तव में नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में हमारी अनेक मान्यताएँ हमारे जीवन एवं आचरण को प्रभावित करती हैं। यदि निरपेक्ष प्रत्ययवाद एवं बुद्धिवाद जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी मान्यताओं का खण्डन करता है तो हमें दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उसकी उपेक्षा करना पड़ेगा। हमें बुद्धिवाद का परित्याग भले ही करना पड़े, परन्तु जीवन की आवश्यकताओं से जुड़े हुए प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

बुद्धिवादी दार्शनिक पद्धति तर्कप्रधान है। उसके अन्तर्गत जब तक किसी सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष में तार्किक युक्तियाँ न दी जा सकें तब तक उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। किन्तु जेम्स ने बुद्धिवादियों के इन तर्कों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवादी मनोविज्ञान का खण्डन करके अनुभववादी मनोविज्ञान की स्थापना किया। उसके अनुसार संकल्प की स्वतंत्रता, ईश्वर की सत्ता आदि से सम्बन्धित समस्याएँ तर्कबुद्धि से परे हैं। उनके संदर्भ में तार्किक समाधान प्रस्तुत करना मनुष्य के लिए संभव ही नहीं है क्योंकि उनके पक्ष एवं विपक्ष दोनों संदर्भों में तार्किक युक्तियाँ दी जा सकती हैं। किन्तु हम उनका

तार्किक समाधान प्रस्तुत करने की प्रत्याशा में निष्क्रिय होकर शान्त नहीं रह सकते हैं। वस्तुतः इन समस्याओं के तार्किक (विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक) समाधान की कोई संभावना प्रतीत नहीं होती है। उनके व्यावहारिक समाधान की ही संभावना है। यदि मानव-बुद्धि विभिन्न परस्पर विरोधी विकल्पों में से कोई निर्णय न ले सके तो हमें अपनी सहज प्रवृत्तियों, संकल्पों एवं आस्था के आधार पर विभिन्न विकल्पों के बीच में से किसी विकल्प के चयन का निर्णय लेना चाहिए। धार्मिक अनुभूति से सम्बन्धित एवं प्रादुर्भूत समस्याओं के तार्किक समाधान की खोज करना असंगत (बेतुका) है। अतः हमें तार्किक समाधान एवं सैद्धांतिक बहस में उलझने के स्थान पर दार्शनिक एवं धार्मिक समस्याओं का व्यावहारिक समाधान खोजने का प्रयास करना चाहिए। यही जीवन के लिए उपयोगी दर्शनशास्त्र हो सकता है। इसीलिए अर्थक्रियावाद को मानव-जीवन और उसकी समस्याओं का दर्शन कहा जाता है। यह एक प्रकार का रचनात्मक एवं परिवर्तनशील दार्शनिक सिद्धांत है।

जेम्स के अनुसार अर्थक्रियावाद एक जीवनोपयोगी दार्शनिक दृष्टि है। इसका आधार व्यावहारिक परिणाम है। इस संदर्भ में जेम्स के विचार पियर्स से प्रभावित हैं। यदि किसी विचारधारा से व्यक्ति के आचार-व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो वह विचारधारा वास्तव में कोई मूल्य (महत्त्व) नहीं रखती है। विचारों, आदर्शों एवं सिद्धांतों के व्यावहारिक परिणाम उसकी उपयोगिता को निर्धारित करते हैं। प्रत्येक विचार हमारे भावी जीवन को व्यवस्थित एवं सुखमय बनाने की कार्ययोजना (Programme) है। विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक जीवन नीरस, अनुपयोगी एवं अरुचिकर होता है। इस प्रकार अर्थक्रियावाद एक उपयोगितावादी दार्शनिक पद्धति एवं जीवनदर्शन है।

जेम्स ने अर्थक्रियावाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि कोई विचार पूर्ण रूप से व्यक्ति-केन्द्रित हो जाय और उसका कोई वस्तुनिष्ठ स्वरूप न हो तो वह उपयोगिता से रहित हो जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी व्यक्ति का विचार अन्य व्यक्तियों के विचारों से नितान्त भिन्न न हो। किसी विचार की उपयोगिता के लिए उसका अन्य विचारों से समन्वय होना आवश्यक है। इस सामंजस्य के लिए वस्तुनिष्ठता आवश्यक है। जेम्स के अर्थक्रियावाद की पहचान उसके सत्यता के सिद्धान्त से है। उसके अनुसार निरपेक्ष एवं स्थिर सत्य की खोज करने का प्रयास निरर्थक है। सत्य सदैव देश-काल, परिस्थिति एवं संस्कृति-सापेक्ष होता है। इस दृष्टि से सत्य कोई स्थिर, नित्य और स्वयं साध्य चीज़ नहीं है, बल्कि गतिशील, अस्थायी एवं साधन मात्र है। किसी भी सत्य को अन्तिम अथवा निरपेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु जेम्स का अर्थक्रियावाद केवल सत्यता के सिद्धान्त तक ही सीमित नहीं है। उसने इसका प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप में किया। उसने धर्म (Religion) के क्षेत्र में ईश्वर, आत्मा की अमरता, स्वतंत्रता आदि संप्रत्ययों की भी उपयोगितावादी

व्याख्या किया। इसी प्रकार नैतिक मूल्यों, सौन्दर्यशास्त्र, शुभत्व, अर्थात् सत्य, शिव एवं सुन्दर की अर्थक्रियावादी व्याख्या की गयी है।

जेम्स के कुछ दार्शनिक सिद्धान्त पियर्स के मत से भिन्न हैं। वे पियर्स के इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं कि केवल उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय जिन पर वैज्ञानिक सहमत हों। जेम्स का दावा है कि वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चिन्तन को मानवीय कारकों से रहित नहीं माना जा सकता है। उल्लेखनीय है कि विलियम जेम्स प्राचीन सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करते हैं। हमें प्राचीन तथ्यों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ नवीन तथ्यों की ओर उन्मुख होना चाहिए। किन्तु मनुष्य के जीवन में ऐसे बहुत कम तथ्य सामने आते हैं जो हमारे जीवन में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर सकें। यह अवश्य है कि कभी-कभी कुछ नवीन तथ्यों की खोज पुराने सिद्धान्तों को प्रकम्पित कर देती है। इस संदर्भ में जेम्स ने 'रेडियम' की खोज करने का एक उदाहरण दिया है। रेडियम की खोज होने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि 'शक्ति के संरक्षण' का प्राचीन सिद्धान्त निरस्त होने वाला है क्योंकि रेडियम अपनी जेब से अनिश्चित रूप से ऊष्मा प्रदान कर रहा था। किन्तु रैम्से ने यह सुझाव दिया कि संभव है कि रेडियम से प्राप्त होने वाली ऊर्जा परमाणुओं में पहले से स्थित 'संभाव्य शक्ति' हो।¹

जेम्स के द्वारा दिये गये इस उदाहरण का निहितार्थ यह है कि पुराने विचारों में थोड़ा सा परिमार्जन एवं परिवर्तन कराने से शक्ति के संरक्षण का नियम सुरक्षित हो गया। इससे स्पष्ट है कि नवीन तथ्यों से प्राचीन सिद्धान्तों का परिमार्जन और सुरक्षा की जा सकती है। नवीन प्रत्यक्ष रेडियम की खोज के समान होते हैं जो पुराने 'शक्ति-संरक्षण के नियम' को थोड़ा सा विकसित कर देते हैं, परन्तु उसे पूर्ण रूप से समाप्त नहीं करते हैं। यदि रेडियम के व्यवहार की व्याख्या न करनी हो तो प्राचीन सिद्धान्त (शक्ति-संरक्षण का नियम) अन्य अनुभवों की व्याख्या करने में अब भी सक्षम हैं। अतः जेम्स प्राचीन व्यवहारों, विश्वासों एवं सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं करते हैं। नवीन विचारों को प्राचीन विचारों की अपेक्षा अच्छा भले ही कहा जाय, परन्तु हम प्राचीन (पूर्ववर्ती) विचारों को सर्वथा निरस्त नहीं कर सकते हैं। नवीन सिद्धान्तों अथवा तथ्यों की खोज को तुलनात्मक दृष्टि से उच्च कोटि का कहा जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा कुछ अन्य तथ्यों की व्याख्या अच्छी तरह की जा सकती है। इस दृष्टि से विलियम जेम्स का अर्थक्रियावाद समन्वयवादी है।

1. "The mere sight of Radium paying heat indefinitely out of its own pocket seemed to violate that conservation xxxxxxxxxx If the radiation from it were nothing, but an escape of unsuspected. Potential energy pre-existent inside of the atoms, the principle of conservation could be saved." (Pragmatism, p. 63)

अर्थक्रियावाद का मनोवैज्ञानिक आधार (The Psychological Ground of Pragmatism)

विलियम जेम्स ने परम्परागत बुद्धिवादी मनोविज्ञान को स्वीकार नहीं किया। बुद्धिवादी मनोविज्ञान के अनुसार समस्त मानसिक क्रियाओं का अधिष्ठान एक नित्य आत्मा है। इसके विपरीत जेम्स ने मनुष्य एवं जीवात्मा की व्याख्या जीवविज्ञान (Biology) और शरीररचना विज्ञान (Physiology) के आधार पर किया। उसके अनुसार आत्मा कोई नित्य, स्थिर एवं अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है। यह एक परिवर्तनशील एवं विकासशील प्रक्रिया है। आत्मा की उत्पत्ति शरीर के विकास का परिणाम है। यदि प्राकृतिक शरीर बाह्य पर्यावरण (Environment) के साथ समायोजन (Adjustment) करने में सफल नहीं होता है तो इसे सफ़ल बनाने के लिए उसे अपने अन्दर से आत्मा या मन को उत्पन्न करना पड़ता है। जिस वस्तु के अन्दर संघर्ष करने की जितनी ही अधिक क्षमता होती है, वह उतना ही अधिक बाह्य पर्यावरण के साथ अभियोजन करके अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सक्षम होती है। उसके अनुसार आत्मा कोई स्थिर इकाई नहीं है, बल्कि क्रियाशील, परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक (Dynamic) है। कालिक परिवर्तन के साथ-साथ शरीर और आत्मा में भी परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से आत्मा एक शाश्वत रूप से परिवर्तनशील एवं विकासशील प्रक्रिया है। विलियम जेम्स के द्वारा की गयी जीवात्मा के स्वरूप की यह व्याख्या अनुभववादी मनोविज्ञान, शरीररचना विज्ञान एवं जीव विज्ञान से प्रभावित है। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में जेम्स को अनुभववादी एवं प्रायोगिक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) का प्रवर्तक कहा जाता है।

किन्तु जेम्स का प्रायोगिक मनोविज्ञान परम्परागत अनुभववाद से भिन्न है। परम्परागत अनुभववादियों (लॉक, बर्कले और ह्यूम) ने संवेदनाओं को स्वरूपतः परमाणविक (Atomic) माना है। यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद है। उनके अनुसार हमारा अनुभव परमाणविक संवेदनों का संघात है। इन संवेदनों में परस्पर बाह्य सम्बन्ध होता है। ये संवेदन साहचर्य नियम से परस्पर सम्बद्ध होकर बाह्य विषयों की रचना करते हैं। किन्तु जेम्स अनुभव की व्याख्या इससे भिन्न रूप में करते हैं। वे चेतना की एक शाश्वत एवं अविच्छिन्न धारा को स्वीकार करते हैं। विभिन्न संवेदनओं की पारस्परिक पृथक्ता और विविक्तता मानव-मस्तिष्क के द्वारा किये गये अमूर्तीकरण (Abstraction) का परिणाम है।

इसके अतिरिक्त जेम्स परम्परागत अनुभववादियों के इस मत को भी स्वीकार नहीं करते हैं कि आत्मा (मन) निष्क्रिय होता है। इसके विपरीत जेम्स ने आत्मा को सक्रिय (Active) और चयनात्मक (Selective) माना है। आत्मा की विविध अवस्थाएँ जीवन-संघर्ष में व्यक्ति के कल्याण को सिद्ध करने के विविध प्रयासों को अभिव्यक्त करती हैं। जेम्स के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, बल्कि संकल्पवान्

है। वह आत्मा के क्रियात्मक पक्ष पर बल देने के कारण उसे संकल्पस्वरूप मानता है। इस दृष्टि से 'ज्ञान' (Knowledge) भी एक प्रक्रिया है। ज्ञान जीवन में सफलता प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। ज्ञान कोई साध्य मूल्य नहीं है। यह जीवन को सुखमय, सफल एवं आनन्दमय बनाने का एक साधन है। इस प्रकार जेम्स के प्रायोगिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आत्मा से सम्बन्धित प्रचलित पारम्परिक मान्यताओं को निरस्त कर दिया गया। वह न तो आत्मा को आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में और न उसे देश-काल से परे विशुद्ध समाकल्पन की संश्लेषणात्मक एकता (जैसा कि काण्ट ने माना है) के रूप में स्वीकार करता है। इसके विपरीत जेम्स के अनुसार आत्मा शाश्वत रूप से परिवर्तनशील एवं कालिक प्रक्रिया है।

उल्लेखनीय है कि ह्यूम और भारतीय दर्शन में योगाचार विज्ञानवादियों ने आत्मा को परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों, संस्कारों एवं प्रत्ययों का पुञ्ज कहा है। किन्तु विलियम जेम्स का मत इससे भी भिन्न है। उसने ह्यूम के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का निराकरण किया है। जेम्स ने आत्मा को स्वतंत्र एवं विविक्त संवेदनों, संस्कारों और प्रत्ययों के साहचर्य अथवा समुच्चय के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार आत्मा चेतना का एक अजस्र प्रवाह (Constant Flux of Consciousness) है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जेम्स जीवात्मा के चयनात्मक स्वरूप पर विशेष बल देता है।¹ उसके अनुसार बाह्य जगत् में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जो हमारे ज्ञान के विषय हो सकती हैं। किन्तु हम केवल उन्हीं विषयों को जानते हैं, जिनमें हमारी अभिरुचि (Interest) होती है। बाह्य जगत् की अनेक अनुभूतियों में से हमारी आत्मा केवल उन्हीं विषयों की अनुभूतियों को ग्रहण करती है जिसकी उसे आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, हम केवल उन्हीं विषयों को अनुभव करते हैं, ग्रहण करते हैं, जिनका हम अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार चयन करते हैं। बाह्य जगत् की अनेक ध्वनियाँ, वस्तुएँ, गन्ध, रूप, रस (स्वाद) आदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं आत्मा के समक्ष उपस्थित होने पर भी हम उन्हें इसलिए नहीं जान पाते हैं क्योंकि उनमें हमारी अभिरुचि नहीं होती है। हमारी आत्मा ज्ञान के विषय के रूप में उनका चयन ही नहीं करती है। अतः हमारा अनुभव वही है जिसके प्रति हमारी अभिरुचि हो एवं जिसकी ओर ध्यान देने तथा जिनका चयन करने के लिए हम सहमत हों। यदि इस प्रकार की चयनात्मक अभिरुचि न हो तो हमारे अनुभव में अराजकता उत्पन्न हो जाती है। परम्परागत अनुभववादियों ने आत्मा के इस सक्रिय और चयनात्मक पक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

1. The Principles of Psychology, p. 284.

जेम्स के अनुसार प्रत्यक्ष का कार्य बाह्य जगत् को अभिव्यक्त करना नहीं है, बल्कि यह (प्रत्यक्ष) बाह्य जगत् के प्रति एक प्रतिक्रिया है। प्रत्यक्ष के द्वारा हम बाह्य जगत् को परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं। इसके फलस्वरूप हम स्वयं भी परिवर्तित हो जाते हैं। प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि सभी संज्ञान (Cognition) चयनात्मक होते हैं। संज्ञानों के इस चयनात्मक स्वरूप के कारण हम किसी विषय का प्रत्यक्ष करते समय उस वस्तु के किसी एक पक्ष (Aspect) का चयन करके उसे ही वस्तु का एक मात्र 'पक्ष' (पहलू) मान लेते हैं। चेतना की चयनात्मक प्रवृत्ति तर्कशास्त्र के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। हम एक ही प्रकार के आधार वाक्यों से अपनी अभिरुचि के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं। चेतना की यह चयनात्मक प्रक्रिया सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि क्षेत्रों में भी दिखायी पड़ती है।

जेम्स के द्वारा प्रतिपादित 'संवेगों का सिद्धान्त' (Theory of Emotions) आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में चर्चा का विषय रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक परिवर्तन की चेतना ही संवेग है। प्रत्यक्ष और संवेगों के बीच में शारीरिक परिवर्तन आते हैं। हम सबसे पहले किसी विषय (जैसे-शेर) का प्रत्यक्ष करते हैं। उसके बाद शारीरिक परिवर्तन या क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, अर्थात् हम भागते हैं और भागने के कारण भयभीत होते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और शारीरिक परिवर्तन के बाद भय नामक संवेग उत्पन्न होता है। जेम्स का संवेग-सिद्धान्त परम्परागत मनोविज्ञान की इस मान्यता से भिन्न है, जिसके अनुसार सबसे पहले हमें 'संवेग के कारण' का प्रत्यक्ष होता है। उसके बाद हमारे मन में संवेग (भय) की उत्पत्ति होती है। इन संवेगों के कारण शारीरिक परिवर्तन होते हैं। किन्तु जेम्स का संवेग-सिद्धान्त इस परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत है। जेम्स का मत यह है कि हम भयभीत होने के कारण नहीं भागते हैं, बल्कि भागने के कारण भयभीत होते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, शारीरिक परिवर्तन एवं संवेग की अभिव्यक्ति इस क्रम में होती है—

- (1) किसी विषय, जैसे साँप का प्रत्यक्षीकरण।
- (2) उसके बाद भागने की शारीरिक क्रिया।
- (3) भय नामक संवेग से ग्रस्त होना।

जेम्स का यह सिद्धान्त परम्परागत मनोविज्ञान से भिन्न है। इसे मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'जेम्स-लैंग का सिद्धान्त' कहा जाता है।

जेम्स का उत्कट अनुभववाद (Radical Empiricism)

जेम्स ने ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से उत्कट अनुभववाद का प्रतिपादन किया है। उत्कट अनुभववाद निरपेक्ष प्रत्ययवाद और बुद्धिवाद का विरोधी सिद्धान्त है। जेम्स के अनुसार बुद्धिवाद को न तो ज्ञानमीमांसीय और न तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है। तत्त्व का स्वरूप न तो बौद्धिक है और न उसे बुद्धि के द्वारा जाना ही जा सकता है। मानव-बुद्धि ज्ञान-प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि अमूर्तीकरण का साधन है। बुद्धि ज्ञान का स्रोत नहीं है, बल्कि व्यावहारिक अभियोजन (Adjustment) का उपकरण मात्र है। मानव-बुद्धि संकल्प के अधीन है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जेम्स जगत् को गतिशील एवं परिवर्तनशील मानते हैं। यदि हेगल के समान सत्ता को बौद्धिक माना जाय तो इससे एक 'स्थिर ब्रह्माण्ड' (Block Universe) का सृजन होगा जो बुद्धि के यांत्रिक नियमों से संचालित होगा। जेम्स के अनुसार वैज्ञानिक नियम प्राक्कल्पनाएँ हैं, जिन्हें कभी भी अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विज्ञान के नियम परिवर्तनशील, गतिशील, विकासशील एवं अस्थायी होते हैं। इस प्रकार वे अनिवार्य नहीं, बल्कि आपातिक होते हैं। जेम्स वैज्ञानिक नियमों को सम्प्रत्ययात्मक आशुलिपियाँ (Conceptual Shorthand) कहता है। उनकी व्यावहारिक उपयोगिता भले ही है, परन्तु उनमें संशोधन, परिमार्जन एवं परिवर्तन होता रहता है।

जेम्स का 'उत्कट अनुभववाद' परम्परागत अनुभववाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है। परम्परागत अनुभवादियों ने 'अनुभव' शब्द का प्रयोग अत्यन्त संकुचित अर्थ में किया है। इसे केवल इन्द्रियानुभव तक सीमित कर दिया गया है। जेम्स का 'उत्कट अनुभववाद' केवल 'इन्द्रियानुभव' तक सीमित नहीं है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार का अनुभव सम्मिलित हो जाता है। इसके अन्तर्गत सौन्दर्यात्मक-बोध, संवेगात्मक अनुभूतियाँ, नैतिक मूल्यों का बोध, धार्मिक अनुभूतियाँ आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। परम्परागत अनुभववाद की आलोचना करते हुए जेम्स ने कहा है कि इसकी भूल यह है कि यहाँ अनुभव के विषय के रूप में केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आने वाले विषयों को ही सम्मिलित किया गया है। परम्परागत अनुभववादी उन सम्बन्धों की उपेक्षा कर देते हैं जिनके साथ-साथ विषयों का ज्ञान होता है। इस भूल के कारण ही लॉक ने द्रव्य, गुण, विकार आदि कोटियों को अनुभव से पृथक् रूप में प्रस्तुत किया।

उत्कट अनुभववाद के अनतर्गत 'अनुभव को एक शाश्वत-प्रवाह' माना गया है, जिसकी प्रत्येक कड़ी पूर्ववर्ती और परवर्ती कड़ियों से जुड़ी हुई है। कोई भी अनुभव अन्य अनुभवों से विविक्त एवं पृथक् नहीं है। परम्परागत अनुभववादी दार्शनिक 'अनुभव' के इस स्वरूप को न समझने की भूल करते हैं। जेम्स उत्कट अनुभववाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उत्कट अनुभववाद के तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं, जो अधोलिखित हैं :—

(1) उत्कट अनुभववाद एक पूर्वमान्यता (Postulate) है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन के विषय अनिवार्य रूप से अनुभव पर आधारित हैं। दार्शनिकों में केवल उन्हीं विषयों पर विवाद हो सकता है, जिन्हें अनुभव-सापेक्ष रूप में परिभाषित किया जा सके। जिस विषय की व्याख्या अनुभव के द्वारा न की जा सके अथवा जिसका अनुभव से कोई सम्बन्ध न हो, उसकी दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में कोई प्रासंगिकता नहीं हो सकती है। इस पूर्वमान्यता से न केवल दार्शनिक चिन्तन की विषय वस्तु निर्धारित होती है, बल्कि दार्शनिक चिन्तन की सीमा भी निर्धारित हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि दार्शनिक चिन्तन की विषय-वस्तु एवं सीमा दोनों अनुभव के अन्तर्गत हैं।¹

(2) उत्कट अनुभववाद का तथ्यात्मक कथन (Statement of Fact) यह है कि वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध भी हमारे साक्षात् अनुभव के विषय उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार स्वयं वस्तुएँ हमारे अनुभव के विषय बनती हैं। यह बात संयोजन एवं वियोजन इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों पर लागू होती है।²

उल्लेखनीय है कि बुद्धिवादियों ने विभिन्न अनुभूतियों (प्रत्यक्षों) में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अतीन्द्रिय बुद्धि-विकल्पो एवं अनुभवातीत (Transcendental) सम्बन्धों का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार परम्परागत अनुभववादियों ने परस्पर विविक्त एवं अस्त-व्यस्त (विच्छिन्न) अनुभूतियों में पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए साहचर्य के नियम (Law of Association) की परिकल्पना किया। इसके विपरीत जेम्स ने इस प्रकार के कृत्रिम सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया।

विलियम जेम्स ने इस बिन्दु पर बल दिया है कि अनुभव एक प्रवाह है जिसमें प्रत्येक भाग एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। विभिन्न विषयों का अनुभव स्वरूपतः एक-दूसरे से विविक्त (अलग-अलग) नहीं होता है। यह अवश्य है कि हम अपनी सुविधानुसार अपने व्यावहारिक प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उस अजस्र प्रवाह से इकाइयों को पृथक् करके सोचते हैं। किन्तु इन इकाइयों का हमारे

1. "The Postulate is that only things that shall be debatable among Philosophers shall be things definable in terms drawn from experience."
2. "The statement of fact is that the relation between things conjunctive as well as disjunctive, are just as much matters of direct particular experience, neither more nor less, than the things themselves." (Essays in Radical Empiricism, p. XI)

अनुभव में सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है क्योंकि वे एक-दूसरे से संलग्न होती हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए जेम्स कहते हैं कि हमारे प्रत्येक अनुभूति के साथ एक झालर या झब्बा (Finge) लगा होता है जिससे वे एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं।

(3) उत्कट अनुभववाद का अन्तिम नियम एक सामान्य निष्कर्ष (General Conclusion) यह है कि हमारे अनुभवों के विभिन्न अंश ऐसे सम्बन्धों के द्वारा परस्पर इस प्रकार संलग्न हैं जो स्वयं अनुभव के अभिन्न अंग हैं। इसके लिए किसी अतीन्द्रिय सम्बन्ध को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।¹ इस दृष्टि से अनुभव अपने आप में पर्याप्त है। यदि अनुभव को उसकी समग्रता में देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे किसी अनुभवातीत सम्बन्ध पर आश्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन अनुभवगम्य वस्तुओं को परस्पर संयुक्त रखने वाले सम्बन्ध भी अनुभव के विषय हैं। इस प्रकार आनुभविक तथ्यों के द्वारा ही वैचारिक व्याख्या संभव है। इसके लिए किसी अनुभवातीत सम्बन्ध को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अनुभव स्वरूपतः न तो भौतिक होता है और न मानसिक होता है। इसी प्रकार अनुभव न तो वस्तुनिष्ठ होता है और न आत्मनिष्ठ। अनुभव का स्वरूप उसके देखने के ढंग पर निर्भर होता है। अनुभव अपने आप में तटस्थ होता है। यदि उसे (अनुभव को) आत्मा से सम्बन्धित करके देखा जाय तो वह आत्मनिष्ठ होगा। इसी प्रकार यदि उसे वस्तुओं से सम्बन्धित करके देखा जाय तो वह वस्तुनिष्ठ होगा। इस दृष्टि से जेम्स अनुभव की तटस्थता के सिद्धान्त (Neutralism) का प्रतिपादन करता है। इसका निहितार्थ यह है कि अनुभव मानसिक या भौतिक कुछ भी हो सकता है। यह इस पर निर्भर है कि अनुभव का किस परिप्रेक्ष्य में प्रयोग किया जाता है। इसे एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट करना उपयोगी होगा। जिस प्रकार यदि दो सरल रेखाएँ एक ही बिन्दु पर काटती हैं तो वह बिन्दु दोनों रेखाओं में उभयनिष्ठ (Common) होती है, उसी प्रकार एक ही वस्तु मानसिक और भौतिक दोनों होती है। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो वह अनुभव भौतिक होता है, परन्तु जब हम उस वस्तु का स्मरण करते हैं तो वह अनुभव मानसिक होता है। जेम्स के अनुसार विशुद्ध अनुभव जीवन का एक अजस्र (शाश्वत) प्रवाह है। इस प्रकार का अनुभव वर्तमान समय में नवजात शिशुओं एवं अर्द्धनिद्रित व्यक्तियों के अनुभव के समान भले ही अनिश्चित हो, परन्तु बाद में यही अनुभव निश्चित एवं सविकल्प हो जाता है। यह अनुभव प्रारम्भ में अभिन्न एवं समरूप प्रतीत होता है, परन्तु बाद में विकसित होकर विविक्त एवं विषम रूप हो जाता है। इस प्रकार के विशुद्ध अनुभव को जेम्स ने संवेदना (Feelings) कहा है। इसकी तुलना मीमांसा दर्शन में आचार्य कुमारिल भट्ट के

1. The general conclusion is that therefore the parts of experience hold together next to next by relations that are themselves parts of experience. (Essays in Radical Empirism, P. XII)

‘आलोचन’ अथवा निर्विकल्प प्रत्यक्ष से की जा सकती है। आलोचन भी अपनी प्रथम अवस्था में निर्विकल्पक होता है जो बालकों एवं मूकों (‘मूंगा’) की अनुभूतियों के समान होता है।¹ किन्तु जेम्स एवं मीमांसकों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी दृष्टि एक-दूसरे से भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों पर आश्रित है। जेम्स का उत्कट अनुभववाद जीव विज्ञान एवं शरीर रचना विज्ञान की मान्यताओं पर आधारित है, किन्तु कुमारिल का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। कुमारिल प्रत्यक्ष में बुद्धि की भूमिका को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत जेम्स समस्त सम्बन्धों को अनुभव के अन्तर्गत सम्मिलित कर लेता है। वह ‘अनुभव’ को स्वयं में पर्याप्त (Self Sufficiency of Experience) मानता है।

जेम्स के तटस्थ अनुभववाद में द्वैतवाद का निराकरण हो जाता है। वह आत्मा और अनात्मा के बीच में प्रचलित द्वैत को स्वीकार नहीं करता है। वस्तुओं एवं विचारों में कतिपय सर्वगत विशेषताएँ पायी जाती हैं। जिस प्रकार वस्तुएँ सुन्दर, रुचिकर, सामान्य और विशेष होती हैं। जिस प्रकार वस्तुएँ ठंडी, गर्म एवं असुन्दर होती हैं, उसी प्रकार भावनाओं को भी शीतल, उष्ण, सुन्दर, असुन्दर (खराब) आदि कहा जा सकता है। वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध अपरिवर्तनीय एवं कठोर होते हैं। किन्तु विचारों के बीच में पारस्परिक सम्बन्ध परिवर्तनीय होते हैं। जेम्स के अनुसार भौतिक और मानसिक वस्तुओं में भेद उनके आन्तरिक स्वभाव के कारण नहीं, बल्कि उनके विन्यास (Arrangement) के कारण प्रतीत होता है।

हमारी अनुभूतियों का मूल स्रोत क्या है ? वे हमारी आत्मा में कैसे उत्पन्न होती हैं ? जेम्स के अनुसार इन प्रश्नों पर विचार करने से कोई लाभ नहीं है। अतः हमें इस विवाद में नहीं उलझना चाहिए। इस बिन्दु पर जेम्स का मत ह्यूम के मत के समान प्रतीत होता है। उल्लेखनीय है कि ह्यूम भी संस्कारों (Impressions) एवं संवेदनों के स्रोत के विवाद में नहीं उलझता है। उसके अनुसार हमारा साक्षात् सम्पर्क केवल संवेदनों, संस्कारों एवं प्रत्ययों से ही होता है। हमें उनके मूल स्रोत का ज्ञान नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के समान जेम्स भी संवृत्तिवादी (Phenomenalist) दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है। जेम्स के तटस्थतावाद की तुलना रसल के तटस्थ एकतत्त्ववाद (Neutral Monism) से की जा सकती है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जेम्स के ‘तटस्थ अनुभव’ (Neutral Experience) के स्थान पर रसल ने ‘तटस्थ इकाइयों’ (Neutral Entities) का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जेम्स उत्कट अनुभववादी, प्रकृतिवादी, और बहुलवादी होते हुए भी भौतिकवादी (जड़वादी) एवं द्वैतवादी नहीं है। उसके अनुसार चेतना कोई वस्तु सत् इकाई नहीं, बल्कि जानने की एक क्रिया (Function of Knowing) है। जेम्स के अनुसार सत्ता अनुभूति का विषय है। यह

1. अस्ति ह्यालोचनम् ज्ञानं प्रथमम् निर्विकल्पकं।

बालमूकविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्।।

कोई अनुभवातीत तत्त्व नहीं है। सत् मानव-निर्मित है जिसका निर्माण विभिन्न लोगों की अपनी-अपनी अभिरुचि एवं प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में होता है। सत् की संरचना किन-किन तत्त्वों से हुई है, इसे जानने का न तो कोई साधन है और न इसे जानना उपयोगी एवं आवश्यक है। सत् का कोई एक शाश्वत एवं स्थिर स्वरूप नहीं हो सकता है। इसलिए इसके स्वरूप का पहले से निर्धारण नहीं हो सकता है। यह गतिशील एवं शाश्वत रूप से परिवर्तन है। जेम्स सत्ता की अनेकता या बहुलवाद (Pluralism) में विश्वास करता है। हमारे प्रयोजन एवं उपयोगिता से पृथक् रूप में कोई सत्ता नहीं हो सकती है। सत्ता की तात्त्विक संरचना उसकी उपयोगिता पर आधारित है। इस दृष्टि से सत्ता देश-काल, अनुभव एवं परिस्थिति सापेक्ष है। जेम्स सत्ता के बौद्धिक स्वरूप का खण्डन करता है। इस प्रकार वह हेगेलीय प्रत्ययवाद और सर्वबुद्धिवाद (Panpsychism) का खण्डन करके आमूल अनुभववाद का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार हेगल का ब्रह्माण्ड एक रिक्त ब्रह्माण्ड (Block Universe) है। अतः वह त्याज्य है।

उल्लेखनीय है कि जेम्स का उत्कट अनुभववाद निरपेक्ष प्रत्ययवादियों के द्वारा मान्य सर्वसमावेशी एवं सर्वव्यापक अनुभव से भिन्न है। प्रत्ययवादियों की सर्वव्यापक अनुभूति सर्वसमावेशी होने के कारण एकतत्त्ववादी सत्ता (Monistic Reality) की स्थापना करती है। इसके विपरीत जेम्स का 'अनुभव' बहुलवादी है क्योंकि हमारे समस्त अनुभवों का कोई एक सामान्य उपादान नहीं हो सकता है। अनुभवों के विभिन्न विषयों के अनुरूप ही हमारे अनुभवों के अनेक उपादान भी होंगे। इस प्रकार हमारा अनुभव अनेक प्रकार की संवेद्य वस्तुओं का सामूहिक नाम है।¹ अपने इस बहुलतावादी (Pluralistic) दृष्टिकोण को जेम्स ने पच्चीकारी का दर्शन (Mosaic Philosophy) कहा है।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जेम्स की ज्ञानमीमांसा बुद्धिवाद के विरुद्ध है। उनका उत्कट अनुभववाद व्यावहारिक दृष्टि पर आधारित है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध अर्थक्रियावाद (Pragmatism) से है। वह अनुभव की व्याख्या अत्यन्त विस्तृत अर्थ में करता है। दार्शनिक अनुशीलन के विषय केवल वे विषय ही हो सकते हैं जो अनुभव के विषय हों। कोई भी सत्ता अनुभव में ही ज्ञात होती है। ज्ञान, सत्य एवं मूल्य मानव-निर्मित होते हैं। उनकी सर्जना प्रायः लोग अपनी-अपनी अभिरुचि एवं प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। ज्ञान, मूल्य, एवं सत् की यथार्थता अथवा अयथार्थता उनकी उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होती है। इस दृष्टि से जेम्स की ज्ञानमीमांसा अथवा उत्कट अनुभववाद का सम्बन्ध स्वभावतः अर्थक्रियावाद, अर्थात् ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता से है।

1. Experience is also a collective name for all these sensible things. (Essays in Radical Empiricism, pp. 26-27.)

सत्यता का अर्थक्रियावादी सिद्धान्त (Pragmatic Theory of Truth)

अर्थक्रियावादी दर्शन की एक विशिष्ट पहचान और लोकप्रियता विशेष रूप से उसके सत्यता के सिद्धान्त के कारण है। विलियम जेम्स के अनुसार किसी विश्वास अथवा विचार की सत्यता की परीक्षा करने के लिए यह देखना चाहिए कि उसके सत्य होने से हमारे व्यावहारिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। विलियम जेम्स ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित सत्यता के परम्परागत सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया। सत्यता के संवादिता एवं सुसंगति सिद्धांतों का दोष यह है कि उन्हें ज्ञान, सत्य और सत्ता का निकष (कसौटी) मानने पर ज्ञान का विकास अवरुद्ध हो जाता है। 'संवादिता सिद्धान्त' (Correspondence Theory) के अनुसार कोई प्रत्यय तभी सत्य हो सकता है, जब वह यथार्थ सत्ता के अनुरूप हो। जिस प्रत्यय के अनुरूप बाह्य जगत् में कुछ उपलब्ध न हो, वह प्रत्यय असत्य है। इसी आधार पर प्रामाणिक प्रत्यक्ष (यथा वस्तु तथा ज्ञान) और भ्रान्त प्रत्यक्ष (यथा वस्तु अन्यथा ज्ञान) में भेद किया जाता है। जेम्स के अनुसार यह सिद्धान्त सत्यता की व्याख्या अत्यन्त संकीर्ण रूप में करता है। इसका प्रयोग सत्यता की व्याख्या करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में नहीं किया जा सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में कुछ सिद्धांतों पर सत्यता का संवादिता सिद्धान्त लागू नहीं होता है, तथापि वे सत्य हैं। जैसे, विद्युत की शक्ति का प्रत्यय अनुभव जगत् में स्थित किसी वस्तु का संवादी भले ही नहीं है, अर्थात् किसी वस्तु के अनुरूप भले ही नहीं है तथापि वह सत्य है। इसके अतिरिक्त एक अन्य समस्या यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि वही विचार सत्य है जिसके अनुरूप बाह्य जगत् में कोई तथ्य हो तो इसका निहितार्थ यह होगा कि हमने उस विचार के प्रयोग की सीमा निर्धारित कर दी है। इसे स्वीकार करने पर ज्ञान के क्षेत्र में विकास एवं परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। इस प्रकार सत्य का स्वरूप स्थिर, अपरिवर्तनशील और पूर्ण रूप से निर्धारित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप ज्ञान एवं विज्ञान के विकास का मार्ग बाधित हो जाता है। अतः जेम्स ने सत्यता की व्याख्या एवं कसौटी के रूप में संवाद सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है।

इसी प्रकार सत्यता का संसक्तता अथवा सुसंगति सिद्धान्त (Coherence Theory Truth) भी सत्यता की प्रकृति एवं कसौटी की व्याख्या नहीं कर सकता है। इसके अनुसार कोई संप्रत्यय अथवा विश्वास तभी सत्य हो सकता है जब वह पूर्वमान्य एवं पहले से स्थापित विश्वासों के साथ सामंजस्य रखता हो, अर्थात् उनके विरुद्ध न हो। इस दृष्टि से एक व्यवस्था या तन्त्र के अन्तर्गत सत्य विश्वासों का एक निकाय (समूह) स्थापित हो जाता है। इस निकाय के अन्तर्गत ही व्यक्ति नये विश्वासों या विचारों को सत्य या असत्य कह सकता है। यदि कोई विश्वास उस निकाय के अन्य विश्वासों से असंगत प्रतीत होता है तो उसे सत्य

नहीं कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए जेम्स कहता है कि यदि सुसंगति को सत्यता की कसौटी माना जाय तो ऐसा विश्वास एवं विचार जो सर्वथा नवीन और मौलिक हो, उसे असत्य मान लिया जायेगा, क्योंकि नवीन होने के कारण वह पूर्वमान्य विश्वासों के निकाय (System of Beliefs) के अन्तर्गत असंगत सिद्ध हो जायेगा। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त वैचारिक प्रगति के मार्ग में बाधक है क्योंकि इसमें भी नवीनता एवं मौलिकता का कोई स्थान नहीं हो सकता है। विज्ञान के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि सर्वथा नवीन सिद्धान्त पूर्व स्थापित मान्यताओं एवं विश्वासों से सुसंगत नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कॉपरनिकस ने पहली बार यह दावा किया कि 'ब्रह्माण्ड का केन्द्र सूर्य है' (Heliocentric Theory) तो यह विचार पूर्वस्थापित विश्वास कि 'ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी है' (Geocentric Theory) से सुसंगत नहीं था। अतः अपने इस सिद्धान्त के कारण उसे दण्डित होना पड़ा। इसलिए जेम्स ने सत्यता की उपयुक्त कसौटी के रूप में सुसंगति सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया। उसने सत्यता के इन सिद्धान्तों में निहित गुण-दोष का मूल्यांकन करके उनके सकारात्मक (Positive) पक्षों को ग्रहण करके एवं उनके दोषों को दूर करके सत्यता के अर्थक्रियावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जेम्स के अनुसार वे विश्वास एवं विचार ही सत्य हो सकते हैं जो अनुभव के विभिन्न पक्षों के अनुरूप यह निदर्शन कर सकें कि वे सत्ता के अनुरूप हैं।

उल्लेखनीय है कि पियर्स ने सत्यता के स्वरूप की व्याख्या संवादिता-सिद्धान्त के आधार पर और सत्यता के निकष (कसौटी) की व्याख्या उपयोगिता के आधार पर किया था। इससे स्पष्ट है कि किसी विश्वास की सत्यता का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक परिणाम के आधार पर होना चाहिए। किन्तु जेम्स ने किसी विश्वास की उपयोगिता और उसकी सत्यता को अभिन्न मान लिया। ज्ञान का प्रामाण्य उसके बाह्य वस्तु के संवादी (अनुरूप) होने पर निर्भर नहीं है, बल्कि बाह्य परिस्थितियों (पर्यावरण) के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने अथवा जीवन में व्यावहारिक कार्यकुशलता या सुकार्यता (Practical Efficiency) में निहित है। इस दृष्टि से ज्ञान हमारे भविष्य सम्बन्धी कार्यों को सिद्ध करने के लिए एक कार्ययोजना प्रस्तुत करता है यदि हम उसकी सहायता से अपने जीवन को सुखमय एवं आनन्दमय बनाने में सफल हो जाते हैं तो वह ज्ञान सत्य है। इससे सिद्ध होता है कि किसी ज्ञान की सत्यता उसके किसी बाह्य वस्तु के प्रतिबिम्ब होने पर निर्भर नहीं है, बल्कि यह विचारों अथवा भावों की सुकार्यता (Efficiency) अथवा क्रियाशीलता (Workability) का परिणाम है, अर्थात् वह प्रत्यय शुभ एवं सत्य है जो फलोत्पादक है।¹ इसी कारण जेम्स ने सत्यता (Truthfulness) और उपयोगिता (Usefulness) को परस्पर समानार्थक रूप में प्रयुक्त

1. An Idea is true, if it works. (James)

किया।

जेम्स के अनुसार ज्ञान जीवन में सफलता प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। वह ज्ञान की आदर्शवादी व्याख्या, जिसके अनुसार ज्ञान सद्गुण है¹, ज्ञान स्वयं साध्य है और ज्ञान के सदृश इस लोक में कुछ पवित्र नहीं है², को स्वीकार नहीं करता है। जेम्स के अनुसार ज्ञान अपने आप में मूल्यवान नहीं है। यह केवल एक साधन मूल्य है। सच्चा ज्ञान वही है जो बाह्य परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में हमारी सहायता करता है। इस प्रकार ज्ञान हमारे भविष्य सम्बन्धी कार्यों की एक योजना है। अतः ज्ञान अनुदर्शी या भूतोन्मुखी (Retrospective) नहीं, बल्कि अग्रदर्शी या भविष्योन्मुखी (Prospective) होता है। वस्तुतः जेम्स ने ज्ञान की जैविक व्याख्या प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग जीवन के किसी न किसी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी जीवन में कार्य-कुशलता एवं व्यावहारिक सफलता अर्जित करने का साधन एवं उपकरण मात्र है। यह बाह्य पर्यावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में उपयोगी होता है। अतः ज्ञान अनुदर्शी नहीं है, बल्कि अग्रदर्शी है।

जेम्स कहते हैं कि सत्य एक मानव-निर्मित गुण है। इसका प्रयोग ज्ञान के एक विशेषण के रूप में किया गया है। जिस प्रकार कोई वस्तु भारी अथवा हल्की, लम्बी अथवा छोटी कही जाती है, उसी प्रकार ज्ञान और विश्वास को उसकी उपयोगिता के अनुसार सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है। यह स्वास्थ्य (Health), वैभव या धन (Wealth) और शक्ति (Strength) के समान मानव के द्वारा निर्मित एवं मानव-मूल्यांकन का परिणाम है।³ मानव-मूल्यांकन का अर्थ यह है कि किसी ज्ञान की उपयोगिता का व्यावहारिक सत्यापन किया जाय। यदि कोई ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से लाभदायक अथवा फलप्रद है तो उसे सत्य ज्ञान कहा जाता है। इस दृष्टि से सत्यता किसी ज्ञान का स्थिर, नित्य एवं अपरिवर्तनशील गुण नहीं है। प्रत्येक ज्ञान की सत्यता एक परिणाम-सापेक्ष घटना है। प्रत्येक ज्ञान का महत्त्व देश-काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति सापेक्ष होता है।

जेम्स के द्वारा की गयी ज्ञान की इस जैविक व्याख्या से सिद्ध होता है कि कोई भी ज्ञान और मूल्य सार्वभौमिक और निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं होता है। वह सापेक्षिक रूप से सत्य एवं परिवर्तनशील होता है। इसकी पुष्टि वैज्ञानिक सिद्धांतों की सत्यता के परीक्षण से होती है। उन्हें अन्तिम एवं निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं कहा जा सकता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या कोई ज्ञान अनिवार्य और सार्वभौम रूप से सत्य नहीं हो सकता है? विलियम जेम्स अनिवार्य

1. Knowledge is Virtue. (Socrates)

2. "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (श्रीमद्भगवद्गीता, 5/38)

3. "Truth is made as health, wealth and strength are made in the course of experience."

एवं सार्वभौमिक सत्य की संभावना को स्वीकार करते हैं। वे भी ह्यूम के समान प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों के ज्ञान को अनिवार्य मानते हैं। ऐसा ज्ञान बौद्धिक अमूर्तीकरण पर आधारित होता है। जहाँ तक हमारा ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है, उसे अनिवार्य और सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।¹ किन्तु कुछ अर्थक्रियावादी दार्शनिक अनिवार्य सत्य की संभावना का निराकरण करते हैं।

शिलर के अनुसार गणितीय और तर्कशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तियाँ भी अनुभव-सापेक्ष होती हैं। उनकी सत्यता अनुभव के विशेष तथ्यों पर आधारित होती है। उदाहरण के लिए, दो शेरों और दो मेमनों (Lambs) को एक साथ रखा जाय तो केवल दो शेर ही बचेंगे। इसी प्रकार यह कथन कि त्रिभुज में तीन कोण होते हैं, द्रष्टा द्वारा त्रिभुज के विशेष अर्थ पर निर्भर है।² शिलर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कोई भी कथन निरपेक्ष, सार्वभौमिक और अनिवार्य सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। जान डिवी ने भी शाश्वत और अनिवार्य सत्य की संभावना का निराकरण किया है। वह मानव-चिन्तन के किसी सुनिश्चित ढाँचे को नहीं मानता है। समस्त चिन्तन प्रायोगिक है। विशुद्ध चिन्तन (अमूर्तीकरण) जैसा कि गणितीय सम्बन्धों के बारे में कहा जाता है, केवल एक प्रतीकात्मक व्यापार है। उनके सम्बन्ध में प्रयुक्त प्रतीक अनुभव के विशेष तथ्यों से अमूर्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। वे अमूर्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा इस तरीके से प्राप्त किये जाते हैं कि वे मानो वे प्रागुनुभविक और सार्वभौम हों। शिलर के समान डिवी भी स्वयंसिद्धियों को पूर्वमान्यताओं और नियमों के समान मानता है, जिसका पालन करने से हमेशा सफलता प्राप्त होती है। इससे सिद्ध होता है कि अर्थक्रियावादियों के अनुसार ज्ञान के किसी क्षेत्र को पूर्णतया निश्चित, अनिवार्य और सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता है। यहाँ निश्चितता का स्थान प्रायिकता ले लेती है। वैज्ञानिक नियम भी केवल प्रायिक होते हैं सार्वभौमिक, अनिवार्य और निश्चायक नहीं।

(i) सत्य और उपयोगिता—सत्य और उपयोगिता के सम्बन्ध को लेकर अर्थक्रियावादियों में पर्याप्त मतभेद है। पूर्ववर्ती अर्थक्रियावादियों के अनुसार उपयोगिता सत्य का निकष है। उपयोगिता और सत्य एक नहीं है। भारतीय नैयायिकों के अनुसार यह ज्ञान का स्वभाव है कि वह बाह्य विषय का संवादी होता है। भारतीय नैयायिक संवादिता को ज्ञान का स्वरूप मानते हुए भी पियर्स के समान अर्थक्रियावादी-सामर्थ्य या व्यावहारिक कुशलता को सत्य का निकष स्वीकार करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि अर्थक्रियावादी हमारे प्रत्ययों और उसके संवादी संज्ञानात्मक अनुभवों के बीच सहमति से संतुष्ट नहीं हैं। वे उसकी

1. Pragmatism, p. 218.

2. स्टडीज इन ह्यूमनिज्म, शिलर, पृ. 9।

व्यावहारिक कुशलता और फलप्रदता पर विशेष बल देते हैं। उदाहरण के लिए, जल के प्रत्यय का सत्यापन इसका दूर से प्रत्यक्ष करके करके किया जाता है तथा साथ ही साथ इसका स्पर्श करने और पीने से कुछ संतोषजनक अनुभव भी प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्रकार के अनुभवों के द्वारा इसका सत्यापन सत्य का निकष है। किन्तु इससे सत्य के स्वरूप की संरचना नहीं की जा सकती है। इसके विपरीत जेम्स 'सत्यता' और 'उपयोगिता' को परस्पर अभिन्न मानता है। वह कहता है—“तुम या तो यह कह सकते हो कि ‘यह उपयोगी है’ क्योंकि ‘यह सत्य है’ अथवा ‘यह सत्य है’ क्योंकि ‘यह उपयोगी है’। ‘यह उपयोगी है’ क्योंकि ‘यह सत्य’ है अथवा ‘यह सत्य है’ क्योंकि ‘यह उपयोगी है’। इन दोनों का अर्थ ठीक समान है।”

शिलर के अनुसार सत्य की परिभाषा उपयोगिता के अर्थ में नहीं दी जा सकती है। सत्य और उपयोगिता परस्पर अभिन्न नहीं हैं। हाँ, यह अवश्य है शिलर 'सत्यता' और 'उपयोगिता' इन दोनों संप्रत्ययों में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। उपयोगिता के अभाव में सत्य की सृष्टि नहीं हो सकती है। इस प्रकार उपयोगिता को सत्य का तार्किक अस्तित्व (Ratio Essendi) कहा गया है, अर्थात् उपयोगिता सत्य का जनक है, किन्तु इसे सत्य का स्वरूप नहीं कहा जा सकता है।²

सत्य और प्रयोग अथवा अर्थक्रियाकारित्व के बीच में घनिष्ठ सम्बन्ध मानने के कारण अर्थक्रियावादी 'सत्य' (Truth) और 'शिव' या 'शुभ' (Good) के बीच में कोटिगत भेद (Distinction of Category) नहीं मानते हैं। जो कुछ शुभ, कल्याणकारी और मानव-जीवन के लिए उपयोगी है अथवा अर्थक्रियासामर्थ्य का संवर्धक और पोषक है वही सत्य और मूल्यवान है। किसी ज्ञान अथवा विश्वास के सत्य होने का दावा एक मूल्यात्मक दावा है। 'कोई ज्ञान सत्य है', का अर्थ होगा कि यह उपयोगी और कल्याणकारी है।

(ii) भ्रम का स्वरूप—भ्रम या त्रुटि (Error) का सिद्धान्त भी सत्य की अवधारणा से सम्बन्धित है। शिलर के अनुसार त्रुटि का सिद्धान्त सत्यता सम्बन्धी सिद्धांतों की आधारशिला है। अर्थक्रियावादी विचारक निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) की संभावना का निराकरण करने के साथ-साथ निरपेक्ष (पूर्ण) भ्रम का भी निषेध करते हैं। भ्रम का संप्रत्यय अज्ञान (Ignorance) के संप्रत्यय से भिन्न है। अज्ञान, एक प्रकार की निष्क्रियता है जिसकी प्रकृति तटस्थ होती है किन्तु भ्रम क्रियाशीलता से रहित नहीं होता है। यह हमें पथ-भ्रष्ट करके कुमार्ग की ओर ले जाता है। शिलर भ्रम को संज्ञान का निषेधात्मक मूल्य (Negative Value) कहता है। यह अपने उद्देश्य (प्रयोजन) को प्राप्त करने में हमारे ज्ञान की असफलता को सूचित करता है। अतः यह अकल्याणकारी और अनुपयोगी होता है। भ्रम आत्म-व्याघात

1. प्रेगमेटिज्म (Pragmatism), पृ. 204।

2. लाजिक फॉर यूज, शिलर (Logic for Use), पृ. 157-159।

से भी भिन्न है क्योंकि आत्म-व्याघात के दूर हो जाने पर वह अर्थहीन हो जाता है, जबकि भ्रम गलत अर्थ की ओर प्रवर्तित करता है।¹ यह उल्लेखनीय है कि भ्रम कोई अमूर्त संप्रत्यय नहीं है, अर्थात् अर्थक्रियावादी भ्रम के अमूर्तीकरण के पक्ष में नहीं हैं। भ्रम की व्याख्या उसके संदर्भ विशेष से स्वतन्त्र रूप में नहीं की जा सकती है। जो. दार्शनिक भ्रम की इस प्रकृति से परिचित नहीं हैं वे भ्रम के विरोधाभास में उलझ जाते हैं। किन्तु अर्थक्रियावादियों के लिए भ्रम कोई विशेष समस्या नहीं है। चूँकि वे सत्य अथवा भ्रम को निरपेक्ष अर्थ में नहीं ग्रहण करते हैं, इसलिए वही संज्ञान किसी विशेष संदर्भ और व्यक्ति के मनोवांछित प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण सत्य हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि भ्रम की व्याख्या उसके सन्दर्भ से पृथक् रूप में नहीं की जा सकती है।

जेम्स के दर्शन का मूल्यांकन

जेम्स ने अर्थक्रियावाद को एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में स्थापित किया। एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में अर्थक्रियावाद न केवल आधुनिक और तकनीकी प्रगति के परिप्रेक्ष्य में लोकप्रिय है, बल्कि अमेरिका की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप भी है। कुछ दार्शनिकों (जैसे—जान डिवी) के अनुसार लोकतंत्र और शिक्षा (Democracy and Education) के लिए यही एक मात्र उपयुक्त दार्शनिक चिन्तन एवं प्रणाली हो सकती है। किन्तु जेम्स ने जिस रूप में अर्थक्रियावादी जीवन-दर्शन की व्याख्या की है, उसके विरुद्ध अनेक आक्षेप उठाये गये हैं।

कुछ आलोचकों के अनुसार जेम्स ने ज्ञान के स्वरूप की एक जैविक व्याख्या की है। यदि इसे मान लिया जाय तो मानव-ज्ञान और पशुओं की सहज प्रवृत्तियाँ अथवा ज्ञान (यद्यपि इसे ज्ञान कहना तर्कसंगत नहीं है) समान स्तरीय सिद्ध हो जाता है। जेम्स का यह मत कि ज्ञान का अर्थ बाह्य विषयों को प्रकाशित करना नहीं, बल्कि हमारे भविष्य के कार्यों की एक योजना प्रस्तुत करना है, समस्त मानव-ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करने में असमर्थ है। यदि किसी ज्ञान की वैधता अथवा सत्यता का निकष (कसौटी) किसी कार्य में सफलता प्राप्त करना, अर्थात् सुकार्यता (Workability) को माना जाय तो प्रत्येक कार्य को व्यक्ति-सापेक्ष मानना पड़ेगा। व्यक्ति ही यह निर्धारित कर सकता है कि अमुक विचार, विश्वास एवं ज्ञान उनके लिए उपयोगी हो सकता है अथवा नहीं हो सकता है। इसका निहितार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए हर एक परिस्थिति में सत्य पृथक्-पृथक् होगा। इसके फलस्वरूप सत्य आत्म-केन्द्रित हो जाता है।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए जेम्स ने कहा है कि विचारों या भावों की सुकार्यता (Workability) का निर्धारण देश-काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति की दृष्टि

से किया जाता है। अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। सत्य का व्यक्ति-केन्द्रित होना इस अर्थ में नहीं है कि मनुष्य की अभिरुचि और प्रयोजन प्रत्येक समय बदलता रहता है। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि कोई विचार किसी विशेष परिस्थिति एवं संदर्भ में ही उपयोगी हो सकता है। यदि किसी विचार का उस विशेष परिस्थिति में अभियोजन (Adjustment) संभव होता है तभी उस विचार को उपयोगी कहा जा सकता है। अतः एक विशेष परिस्थिति एवं संदर्भ में व्यावहारिक अभियोजन संभव होने पर कोई विचार अन्य व्यक्तियों के लिए भी उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से विचार की सत्यता को व्यक्ति-केन्द्रित नहीं कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जेम्स यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में बौद्धिकता (Rationality) का एक स्थायी मनोभाव (Sentiment) अन्तर्निहित होता है। यह मनोभाव मनुष्य को विवेक-रहित निर्णय लेने से रोकता है। अतः व्यक्ति में निहित बौद्धिक दृष्टिकोण ही किसी विचार की उपयोगिता का मार्गदर्शक होता है। किसी विचार की सुकार्यता (Workability) का तात्पर्य यह नहीं है कि उसे सत्य कहने का अर्थ मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति और अन्य व्यक्तियों के हितों की हानि हो। कुछ समालोचकों ने जेम्स के इस मत को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला एवं प्रगतिवादी या समुन्नयवादी (Melioristic) कहा है।

वस्तुतः जेम्स के सत्यता सम्बन्धी मत की लोकप्रियता का कारण उसकी व्यावहारिक उपयोगिता है। जेम्स का योगदान यह है कि उसने दर्शनशास्त्र को व्यावहारिक मूल्यों और जीवन-दर्शन से जोड़ने का प्रयास किया। उसका सत्यता सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त है। उसका मत इस वैज्ञानिक दृष्टि से सुसंगत है कि सत्य परिवर्तनशील, विकासशील तथा उन्नयनशील होता है। जेम्स ने एक ओर आधुनिकता (Modernity) एवं वैज्ञानिक दृष्टि की रक्षा की तो दूसरी ओर सुकार्यता के आधार पर धर्म (Religion) की व्याख्या की। इस प्रकार उन्होंने विज्ञान (Science) और धर्म (Religion) में समन्वय करने का प्रयास किया।

कुछ दार्शनिकों एवं समालोचकों ने विलियम जेम्स के अर्थक्रियावाद की कटु आलोचना किया है। जेम्स ने पियर्स के वैज्ञानिक सिद्धान्त को उपयोगितावाद में रूपान्तरित करके उसे निर्बल बना दिया। सत्यता की व्याख्या उपयोगिता के अर्थ में करना अथवा दोनों को एक मान लेना असंगत है। यह कहना कि 'अमुक चीज उपयोगी नहीं है, परन्तु सत्य है, आत्म-व्याधाती नहीं है। कोई चीज अनुपयोगी होते हुए भी सत्य हो सकती है। यह कहना कि अमुक प्रतिज्ञाप्ति सत्य और उपयोगी दोनों हैं, पुनर्कथन मात्र नहीं है। यदि सत्यता और उपयोगिता को एकार्थक (अभिन्न) माना जाय तो यह कथन—'सत्य उपयोगी होता है', विश्लेषणात्मक होगा। इसके फलस्वरूप इसके आधार पर किसी यथार्थ सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकती है। वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है कि जो कथन सत्य हों, वे उपयोगी भी होंगे। इसी प्रकार कोई असत्य विश्वास उपयोगी (लाभप्रद) हो सकता

है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के ऐसे अनेक विश्वास हैं जिनके परिणामों की उपयोगिता के आधार पर उनकी सत्यता का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सभी विश्वासों के समस्त परिणामों को सही-सही जानना संभव नहीं होता है। इसके अतिरिक्त एक समस्या यह है कि यदि कोई विश्वास एक व्यक्ति के लिए उपयोगी है तो वह उसके लिए सत्य होगा, परन्तु वही विश्वास अन्य व्यक्ति के लिए हानिकारक हो सकता है। अतः उसके लिए असत्य होगा। इससे सत्यता का स्वरूप अनिश्चित और कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हो सकता है। अतः सत्यता का अर्थक्रियावादी सिद्धान्त अतार्किक है।

इसके अतिरिक्त किसी विश्वास की उपयोगिता उसकी सत्यता का कारण नहीं हो सकती है। यदि इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया जाय तो वे परस्पर विरोधी विश्वासों को भी सत्य कहा जा सकता है, बशर्ते वे हमारे जीवन के लिए उपयोगी हों। इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए जी०ई० मूर ने कहा है कि बहुत से सत्य कथन केवल सूचनात्मक होते हैं। उनकी जीवन में कोई उपयोगिता नहीं होती है। इसी प्रकार अनेक उपयोगी संप्रत्ययों को सत्य नहीं कहा जा सकता है। अतः यदि 'उपयोगिता' को 'सत्यता की कसौटी' अथवा 'सत्य का अर्थ' माना जाय तो अनेक उपयोगी प्रत्यय सत्य नहीं हो सकते हैं और अनेक सत्य प्रत्यय उपयोगी नहीं हो सकते हैं। यह मनुष्य की सामान्य बुद्धि के प्रतिकूल है।¹ इसके अतिरिक्त यदि उपयोगिता को एक मात्र सत्य का पर्यायवाची माना जाय तो सत्य की अवधारणा आत्मनिष्ठ हो जाती है क्योंकि जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए उपयोगी है, वही वस्तु दूसरों के लिए अनुपयोगी हो सकती है। यह प्रकारान्तर से प्रोटागोरस के प्रसिद्ध सूत्र 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है, की ओर वापस लौट आना होगा। यद्यपि जेम्स ने इन आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया है, तथापि जेम्स के समालोचकों ने इसे तार्किक दृष्टि से सन्तोषप्रद नहीं माना है।

रसेल ने जेम्स की आलोचना करते हुए कहा है कि अर्थक्रियावाद धार्मिक विश्वास के साथ न्याय नहीं करता है। जेम्स ने ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय पूर्णतया लौकिक युक्तियों के आधार पर किया है। उदाहरण के लिए, यदि ईश्वर की प्राक्कल्पना सन्तोषजनक ढंग से कार्य करती है तो वह सत्य है। दुर्भाग्य से यह युक्ति केवल ऐहिक (लौकिक) निष्कर्ष ही प्रदान करती है। जैसे-ईश्वर में विश्वास सत्य है क्योंकि यह उपयोगी है। किन्तु धर्म इस मान्यता पर आधारित कि वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है।² व्यावहारिक उपयोगिता के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करना, अतार्किक, स्वेच्छाचारी और अविश्वसनीय है। वस्तुतः कोई व्यक्ति उपयोगिता एवं अनुपयोगिता के आधार पर धार्मिक नहीं

1. विलियम जेम्स का अर्थक्रियावाद (William James's Pragmatism, Proceedings of Aristotelian Society, p. 107.)
2. Philosophical Essays, Russell, Ch. 5.

होता है। धर्म के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति एक प्रकार की प्रतिबद्धता पायी जाती है।

उपयोगितावादी सत्यता की कसौटी और स्वरूप एकांगी है। वस्तुतः व्याघात से रहित होना अथवा सुसंगति, बाह्य सत्ता से संवाद और उपयोगिता ये तीनों विशेषताएँ किसी न किसी रूप में सत्य से सम्बन्धित होती हैं। इन तीनों सिद्धान्तों को एक साथ समायोजित करके सत्यता के स्वरूप और निकष पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस दृष्टि से सत्यता के परम्परागत सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान की सत्यता के लिए बाह्य जगत् की सत्ता मानना आवश्यक है। इसके विरुद्ध प्रचलित आक्षेप यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं को ज्ञान से स्वतंत्र माना जाय तो यह नहीं कहा जा सकता है कि हमारा ज्ञान उनके अनुरूप है अथवा नहीं है। जो हमारे ज्ञान से स्वतंत्र तथा बाहर है उसे कैसे जाना जाय ? किन्तु इससे अधिक से अधिक यह सिद्ध होता है कि संवाद सिद्धान्त के द्वारा सत्यता का परीक्षण करना संभव नहीं है। चाहे जगत् को तथ्यों की समग्रता (योग) कहा जाय अथवा वस्तुओं की समग्रता कहा जाय, परन्तु ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और सार्वजनीनता के लिए किसी न किसी बाह्य सत्ता का होना आवश्यक है। इसी आधार पर ज्ञान और कल्पना, प्रमा और अप्रमा इत्यादि में अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। अतः संवादिता को सत्य का स्वरूप मानना आवश्यक है। किन्तु किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का परीक्षण एक निकाय के अन्तर्गत उसकी अन्य विश्वासों या प्रतिज्ञप्तियों से सामञ्जस्य एवं व्यावहारिक उपयोगिता तथा सुकार्यता को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। इस दृष्टि से संवादिता को सत्य का स्वरूप और सुसंगति एवं अर्थक्रियाकारित्व को सत्य के निकष के रूप में स्वीकार करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जेम्स के द्वारा प्रतिपादित सत्यता का अर्थक्रियावादी सिद्धान्त भले ही एकांगी हो, परन्तु इससे सत्य ज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता अर्थक्रियाकारित्व और प्रवृत्ति सामर्थ्य अवश्य उद्घाटित होती है। उल्लेखनीय है कि जेम्स के पूर्ववर्ती अर्थक्रियावादियों (जैसे-पियर्स) ने उपयोगिता को सत्यता के निकष (कसौटी) के रूप में ही स्वीकार किया था और सत्यता के स्वरूप की व्याख्या संवादिता के आधार पर की गयी थी। इसी प्रकार भारतीय दर्शन में नैयायिकों ने संवादिता को ज्ञान का स्वरूप और व्यावहारिक कार्यकुशलता (सुकार्यता) अथवा प्रवृत्तिसामर्थ्य को सत्य के निकष के रूप में स्वीकार किया है। पियर्स का मत नैयायिकों के सत्यता-सिद्धान्त से साम्य रखता है। किन्तु आगे चलकर जेम्स ने सत्यता और उपयोगिता को एकार्थक एवं अभिन्न मान लिया।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी जेम्स ने अर्थक्रियावाद को एक व्यवस्थित दार्शनिक प्रणाली का स्वरूप प्रदान किया। उसने दार्शनिक चिन्तन को काल्पनिक जगत् से हटाकर यथार्थ-जगत् में स्थापित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उसने अर्थक्रियावाद को एक दार्शनिक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। यह तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के समाधान की एक पद्धति भी है। यदि विभिन्न

प्रकार के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों, जैसे—भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद के समर्थकों के जीवन में कोई व्यावहारिक अन्तर नहीं है तो व्यावहारिक दृष्टि से उनके पारस्परिक विवादों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। जब तक कोई विचारधारा मनुष्य की जीवन-शैली को प्रभावित नहीं करती हैं और मनुष्य के द्वारा अनुमोदित न हो तब तक सामाजिक जीवन में उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त दार्शनिक चिन्तन एवं ब्रह्माण्ड का केन्द्र मनुष्य है। दूसरे शब्दों में, 'मनुष्य सृष्टि का सिरमौर है।' अतः अर्थक्रियावाद समसामयिक युग का एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। विलयम जेम्स ने इसे वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य प्रयास किया।



(स)

जान डिवी (1859-1952)

दार्शनिक और शिक्षा विशेषज्ञ डिवी के दार्शनिक चिन्तन, विशेष रूप से शिक्षा-दर्शन (Philosophy of Education) का प्रभाव अमेरिका के साथ-साथ उसके बाहर के देशों में भी प्रचारित एवं प्रसारित हुआ। उन्होंने अर्थक्रियावाद को बहुआयामी बनाकर उसका प्रयोग जीवन के अनेक क्षेत्रों में किया। उनके प्रयोगवाद ने मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्म, दर्शन एवं विज्ञान को प्रभावित किया। वे अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में दर्शन के अध्यापक रहे। शिकागो में अध्ययन करते हुए उनका ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ। इसके फलस्वरूप उन्होंने 1896 ई० में एक प्रयोगशाला विद्यालय (Laboratory School) खोल दिया। इस प्रयोगशाला का लक्ष्य दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र को विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समान प्रयोगशालाओं से सम्बन्धित करना था।

उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों में दर्शनशास्त्र की पुनर्संरचना (Reconstruction in Philosophy), निश्चितता की खोज (The Quest for Certainty), अनुभव एवं प्रकृति (Experience and Nature), तर्कशास्त्र : अन्वेषण का सिद्धान्त (Logic : The Theory of Inquiry), मूल्यांकन का सिद्धान्त (Theory of Evaluation), लोकतंत्र और शिक्षा (Democracy and Education) आदि प्रमुख हैं।

डिवी का उपकरणवाद (Instrumentalism of Dewey)

जान डिवी ने अर्थक्रियावाद को उपकरणवाद में परिणत करके उसे एक नया आयाम देने का प्रयास किया। उन्होंने इस विचारधारा का प्रयोग शिक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि क्षेत्रों में करने का प्रयास किया। उनका योगदान शिक्षाशास्त्र एवं मूल्यशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावकारी है। इस दृष्टि से उनके दो प्रमुख सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं; जिन्हें क्रमशः उपकरणवाद और प्रकृतिवाद के नाम से जाना जाता है।

डिवी के अनुसार 'अनुभव' कोई अमूर्त चीज नहीं है। जीव और पर्यावरण की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनुभव की उत्पत्ति होती है। अनुभव

का सम्बन्ध जीवन की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, दुःख, सुख, पीड़ा, वेदना आदि से है। हमें जिस वस्तु की साक्षात् प्रतीति होती है, वह हमारे अनुभव के अन्तर्गत सम्मिलित हो जाती है। आनुभविक दृष्टि से वस्तुएँ सुन्दर, स्थिर, सुखद, कष्टप्रद, भव्य, भयानक आदि रूपों में प्रतीत हो सकती हैं। यही वस्तुओं का आन्तरिक स्वरूप है। जिस प्रकार वस्तुओं में रूप, रंग, स्पर्श, घ्राण, शब्द, स्वाद आदि वस्तुनिष्ठ गुण पाये जाते हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त गुण भी पाये जाते हैं।¹ इस प्रकार सभी वस्तुएँ अपने आन्तरिक स्वभाव से युक्त होते हुए भी जगत् की अन्य वस्तुओं से इस प्रकार सम्बन्धित होती हैं कि हमारा ज्ञान संश्लेषणात्मक और सर्वसमावेशी होता है। जेम्स के समान डिवी ने भी ज्ञान की जैविक व्याख्या की है। ज्ञान बाह्य पर्यावरण से समायोजन स्थापित करने का एक उपकरण है। डिवी ने ज्ञान के स्वरूप की मौलिक व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार जब किसी प्राणी के सामने कोई विषय उपस्थित हो जाता है तो उसके समक्ष एक व्यावहारिक समस्या यह होती है कि हम उसके प्रति किस प्रकार व्यवहार करें। इस व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए उसके मन में जो विचार हो उसे ही ज्ञान कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि डिवी के अनुसार, 'ज्ञान किसी परिस्थिति का विमर्शात्मक अथवा बौद्धिक अवबोध है।' ("Knowledge is a reflective or intellectual grasp of a situation.")

यद्यपि ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से होती है, तथापि ज्ञान और अनुभव परस्पर अभिन्न नहीं हैं। ज्ञान के विपरीत अनुभव किसी परिस्थिति का अनुचिन्तन (विमर्श) से रहित (Non-Reflective) अवबोध है। (Experience is a non-reflective dealing with a situation.) जैसे किसी चीज का स्वाद लेना, किसी व्यक्ति से प्रेम करना, किसी सुमधुर संगीत की प्रशंसा करना आदि। डिवी के अनुसार जब किसी प्राणी के सामने कोई समस्या आती है तो उसके विचार के दो भाग हो जाते हैं :— पहला विशुद्ध तथ्य और दूसरा समस्या से सम्बन्धित मन में उत्पन्न विचार। मन में उत्पन्न समस्या से सम्बन्धित प्रस्ताव तथ्य और उद्देश्य के बीच में निहित अन्तर को कम करना चाहता है। इस प्रकार का प्रस्ताव (विचार) ही वह उपकरण है जो विशुद्ध तथ्यों के स्वरूप को इस प्रकार परिमार्जित कर देता है कि समस्या का समाधान अपने आप हो जाता है।

डिवी के अनुसार ज्ञान कर्म करने के लिए एक उपकरण है (Knowledge is an instrument for action)। ऐसा ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है और ऐसा विचार कोई विचार नहीं है, जिसमें क्रियात्मकता न हो, अर्थात् क्रिया व्यवहार से विमुख (उदासीन) विचार निरर्थक एवं निर्मूल्य है। मनुष्य का प्रत्येक अनुभव और विचार प्रयोजनमूलक है। डिवी के उपकरणवाद में विचार का आश्रय एवं क्षेत्र अनुभव है। यहाँ तक कि यदि हम अनुभव से परे किसी तत्त्व के स्वरूप पर विचार करते हैं

1. एक्सपीरियन्स एण्ड नेचर (Experience and Nature) ज्ञान डिवी, पृ० 16।

तो उस विचार का आधार भी अनुभव से सम्बन्धित होता है। मानव-ज्ञान (विचार) जैविक आवश्यकताओं से स्वतंत्र नहीं होता है। प्रत्येक ज्ञान किसी न किसी समस्या के समाधान के लिए एक प्रस्ताव के समान होता है। उसे सत्य तभी कहा जा सकता है, जब उस ज्ञान (विचार) के द्वारा सम्बन्धित समस्या का समाधान हो जाय। यदि कोई विचार अथवा विश्वास किसी समस्या के समाधान के लिए अपनी शक्ति को प्रमाणित कर देता है तो उस विचार का औचित्य सिद्ध हो जाता है। डिवी ने इसे औचित्यपूर्ण स्वीकार्यता (कथनीयता) कहा है। इससे स्पष्ट है कि जिस विचार में कथनीय होने का औचित्य है वही सत्य हो सकता है। किन्तु इस औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसके प्रयोगों, क्रियाओं और परिणामों का लाभप्रद होना आवश्यक नहीं है। जैसे—यदि किसी परिस्थिति में यह समस्या उत्पन्न हो कि अमुक पदार्थ विषैला है अथवा नहीं ? यदि इस समस्या को हल करने के लिए कोई व्यक्ति उस पदार्थ को खाने के परिणामस्वरूप मर जाता है तो इस समस्या का समाधान हो जायेगा कि अमुक पदार्थ विषैला है भले ही उस पदार्थ को खाने का परिणाम (खाने वाले व्यक्ति की मृत्यु) लाभप्रद न रहा हो। 'अमुक पदार्थ विषैला है' की स्वीकारोक्ति सिद्ध हो जाती है।

किसी परिस्थिति में किसी विचार की स्वीकारोक्ति अथवा अस्वीकार्यता सिद्ध होने से पहले कोई भी विचार सत्य अथवा असत्य नहीं होता है। इस आधार पर डिवी यह स्थापित करना चाहते हैं कि सत्यता एवं असत्यता ज्ञान या विचार का अर्जित (बाह्य) गुण है, अर्थात् सत्यता अथवा असत्यता किसी ज्ञान की आन्तरिक अथवा जन्मजात विशेषताएँ नहीं हैं। उसने सत्यता की व्याख्या गवेषणा या अन्वेषण (Inquiry) के सापेक्ष रूप में की है। उसके अनुसार प्रत्येक अन्वेषण संशय एवं अनिश्चितता की अनुभूति से प्रारम्भ होता है। संशय स्वसंकल्पित नहीं होता है, अर्थात् कोई व्यक्ति जानबूझकर स्वेच्छा से संशय नहीं करता है। संशय की अनुभूति किसी परिस्थिति विशेष में पड़ने से हमारे मन में उत्पन्न होती है। इससे स्पष्ट है कि अन्वेषण-प्रक्रिया सदैव समस्यामूलक स्थिति में ही आरम्भ होती है। इसका उद्देश्य सन्देह एवं अनिश्चितता को दूर करना है। डिवी कहते हैं कि "हमारा प्रत्यय (Idea) अथवा विचार एक प्रकार का ड्राफ्ट (Draft) है, जिसके द्वारा हम इस प्रकार कार्य करते हैं कि वस्तुओं के अन्दर एक व्यवस्था स्थापित हो जाती है। यदि हमारे ड्राफ्ट को सम्मानित (स्वीकार) किया जाता है या यदि हम अपने विचारों के अनुसार कार्य करने से किसी परिस्थिति में समायोजन (सामञ्जस्य) स्थापित करने में सफल हो जाते हैं तो हमारा विचार सत्य है।" ¹ इस दृष्टि से हमारे विचार एक प्रकार के उपकरण (Tools) हैं।

इसके अतिरिक्त डिवी मानव-ज्ञान को अभिप्रायात्मक (Intentional) मानते हैं क्योंकि कोई ज्ञान निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है। मानव-ज्ञान अनिवार्यतः किसी

न किसी प्रयोजन की ओर उन्मुख होता है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि डिवी के अनुसार ज्ञान का उद्भव किसी न किसी समस्या के समाधान के लिए होता है। यह (ज्ञान) हमारे व्यावहारिक जीवन की समस्याओं से संघर्ष करने का एक क्रियात्मक उपकरण प्रदान करता है। इसे डिवी ने ज्ञानार्जन की क्रिया कहा है। इसका प्रयोजन समस्त संशयों एवं अनिश्चितता से मुक्त होना है।

डिवी के उपकरणवाद का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष 'प्रायोगिक अनुभववाद' (Experimental Empiricism) है। डिवी के अनुसार किसी वस्तु के भौतिक गुणों की उत्पत्ति उसके विभिन्न प्रयोगों के फलस्वरूप होती है। विभिन्न वस्तुओं में पायी जाने वाली भौतिक विशेषताएँ उनके आन्तरिक गुण नहीं हैं। जब तक किसी वस्तु के ऊपर कुछ अभिप्रायात्मक क्रिया न की जाय तब तक हमें इस वस्तु के गुणों का अनुभव नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए—यह कहा जाता है कि हाइड्रोजन गैस रंगहीन, गन्धहीन, स्वादहीन तथा ज्वलनशील होती है। वस्तु के अन्दर ये गुण तभी उत्पन्न होते हैं जब उस पर कुछ प्रयोजनपूर्ण क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। हमें इन गुणों का ज्ञान न तो बुद्धि से होता है और न अनुभव से होता है। इनका ज्ञान सोद्देश्य प्रयोग से होता है। इसीलिए डिवी के अनुभववाद को प्रायोगिक अनुभववाद कहा जाता है।

डिवी के अनुसार समस्त ज्ञान क्रिया-व्यवहारों में निहित है। यहाँ तक कि विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक ज्ञान (जैसे गणितीय ज्ञान) या आकारिक ज्ञान (Formal Knowledge) की भी व्यावहारिक उपयोगिता है। यदि इस प्रकार के ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता न हो तो वे काल्पनिक हो जायेंगे। किन्तु कोरे काल्पनिक विचार निरर्थक होते हैं। इस प्रकार डिवी ने विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक ज्ञान की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इस प्रकार के सैद्धांतिक विचार वास्तविक क्रियात्मक व्यवहार के प्रतीकात्मक प्रतिबिम्ब हैं। वस्तुतः उपकरणवाद एक नवीन दार्शनिक दृष्टि है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की जैविक आवश्यकताओं एवं व्यवहार को संयुक्त करके पुनः संगठित करने का प्रयास किया गया है। किन्तु इस प्रकार का दार्शनिक चिन्तन सभी प्रकार की समस्याओं का एक साथ समाधान नहीं प्रस्तुत करता है। इसके परिणामस्वरूप विचारों में तदर्थता को स्वीकार करना पड़ेगा। एक विशेष परिस्थिति में विशिष्ट प्रकार की समस्या के समाधान के लिए विशेष प्रकार के विचार एवं ज्ञान उपयोगी होते हैं। इस तरह के विचार शाश्वत रूप से क्रियाशील एवं नवीन होते हैं। इस प्रकार विचारों में शाश्वत रूप से परिवर्तनशीलता पायी जाती है।

डिवी का उपकरणवाद दार्शनिक चिन्तन को समाज से जोड़ने का प्रयास करता है। यह सिद्धान्त जिन परिस्थितियों एवं संदर्भों में दार्शनिक चिन्तन का प्रयोग करता है, वे सामाजिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं। डिवी ने उपकरणवाद का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में किया। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-दर्शन (Philosophy of Education) में 'करके सीखो' (Learning by Doing) का सिद्धान्त प्रसिद्ध

है। केवल तथ्यात्मक सूचनाओं का समूह शिक्षा के लिए लाभप्रद नहीं हो सकता है क्योंकि बालक अत्यधिक सूचनाओं को आत्मसात् नहीं कर सकता है। उनके सीखने की व्यावहारिक पद्धति यह है कि जब उसे समस्याग्रस्त परिस्थितियाँ दी जायँ तो वह उन समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास करेगा। इसके परिणामस्वरूप वह करके सीखेगा। इस प्रकार वह किसी विचार को प्रयोग के द्वारा सरलतापूर्वक आत्मसात् कर सकता है। डिवी के अनुसार शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। समाज-निरपेक्ष और सामाजिक दायित्व से उदासीन रूप में शिक्षा का कोई मूल्य नहीं हो सकता है। विद्यालय भी एक विशेष प्रकार का समाज है, जहाँ से बालक में विकास तथा रचनात्मकता दोनों आती है। स्कूलों की स्थापना सामाजिक कुशलता (Social Efficiency) के लिए की गयी है। शिक्षा वर्तमान जीवन के लिए है, न कि किसी भविष्य के जीवन की तैयारी के लिए। "वस्तुतः शिक्षा उन सभी शक्तियों के विकास के लिए है, जिनके द्वारा मनुष्य में अपने वातावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी समस्त शक्तियों के विकास की क्षमता उत्पन्न होती हो।" डिवी ने शिक्षा-प्रक्रिया के दो पक्षों का उल्लेख किया है—

पहला मनोविज्ञान और दूसरा समाज। मनोविज्ञान के द्वारा बालक की अभिरुचियों तथा अन्तःप्रवृत्तियों के अध्ययन में सहायता मिलती है। सामाजिक जीवन की कुशलता (लोककल्याण) ही शिक्षा की प्रेरणा देती है। मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षा समाजोन्मुख होनी चाहिए। शिक्षा सकारण की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। वास्तव में सामाजिक कल्याण में सहभागी होने के कारण ही बुद्धि का विकास होता है। हमारे अनुभव में संशोधन एवं परिवर्द्धन होता रहता है। यही अनुभव शिक्षा का आधार है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है। अतः प्रजातंत्र पर आधारित शिक्षा ही आदर्श हो सकती है।

डिवी के अनुसार धर्म यथार्थ के धरातल एवं प्रायोगिक कारकों से रहित है। अतः उसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता है। कुछ विचारकों ने धर्म (Religion) को आत्मा की उड़ान तथा असीम से साक्षात्कार की सहज अनुभूति कहा है। किन्तु इसका निर्धारण करने की कोई वास्तविक एवं प्रायोगिक कसौटी नहीं है। धर्म की उपयोगिता का कोई वस्तुनिष्ठ मानदण्ड नहीं है। अतः डिवी अपने शिक्षा-दर्शन में धर्म की परिचर्चा पर बहुत बल नहीं देते हैं।

इसके अतिरिक्त डिवी का दार्शनिक चिन्तन डार्विन के विकासवाद से प्रभावित है। वह कहता है कि किसी ज्ञान की सार्थकता इस पर निर्भर है कि वह हमारे व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को हल करने में कितना उपयोगी एवं सक्षम है। डिवी ने तथ्यात्मक निर्णयों को व्यावहारिक निर्णयों में परिणत करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए किसी वस्तु (जैसे-कुर्सी) का ज्ञान होने पर सामान्यतया यही कहा जाता है कि हमें एक तथ्य के रूप में कुर्सी का ज्ञान हो

रहा है। किन्तु प्रायोगिक दृष्टि से हम कुर्सी के गुणों की गणना करके उसे नहीं जानते हैं, बल्कि उस प्रयोजन के साथ सम्बन्धित करके जानते हैं जो उस वस्तु के कुर्सी होने की सार्थकता बताती है। इस प्रकार किसी विचारधारा एवं ज्ञान का औचित्य क्रियाओं पर एवं उसका प्रामाण्य परिणामों पर निर्भर होता है। इस प्रकार डिवी का प्रयोगवाद, व्यावहारिकतावाद (Operationalism) से सम्बन्धित हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक सत्य विचार उपयोगी होता है और उपयोगी विचार भी आधारभूत सत्य होता है। इससे स्पष्ट है कि सत्य का परीक्षण आवश्यक है एवं उसे उपयोगी भी होना चाहिए।

डिवी का प्रकृतिवाद

परम्परागत रूप से प्रकृति का तात्पर्य विषय जगत् अथवा तथ्यात्मक वस्तुओं के समूह से है। यह (प्रकृति) शब्द अनेकार्थक होने के कारण अत्यन्त जटिल है। इसका एक अर्थ उन गुणों से है जो जीवन को विकास और क्रमशः प्रगति की ओर ले जाते हैं। किन्तु इसका प्रयोग प्रायः 'समस्त विश्व' एवं उसकी क्रियाओं के लिए किया जाता है। प्रकृतिवादियों का दृष्टिकोण यांत्रिक एवं भौतिकवादी है। दार्शनिक दृष्टि से प्राकृतिक जगत् के स्वरूप को लेकर वस्तुवादियों एवं प्रत्ययवादियों में गंभीर विवाद रहा है। वस्तुवादियों एवं परम्परागत अनुभववादियों ने प्रकृति को ज्ञान एवं चेतना से स्वतंत्र रूप में परिभाषित किया है। इसके विपरीत प्रत्ययवादियों ने प्रकृति को चेतना एवं ज्ञान पर आश्रित बना दिया। इस प्रकार वस्तुवाद और प्रत्ययवाद ये दोनों विचारधाराएँ ज्ञाता और ज्ञेय के विवाद में उलझ गयीं। जान डिवी ने इन दोनों विचारधाराओं की समीक्षा किया। उसके अनुसार अनुभव तथा प्रकृति को एक-दूसरे से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता है। अनुभव और प्रकृति परस्पर वियोज्य नहीं हैं, बल्कि दोनों साथ-साथ रहते हैं। अनुभव प्रकृति का ही होता है। हम जो कुछ भी जानते हैं वह अनुभव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। डिवी ने 'अनुभव' (Experience) शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। इसके अन्तर्गत इन्द्रियानुभव के साथ-साथ जिन वस्तुओं के अनुभूत होने की संभावना हो, भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार अनुभव के अन्तर्गत इन्द्रियानुभव के साथ-साथ अन्य शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। डिवी ने सौन्दर्य-बोध, जादू, मिथक, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना, साहित्यिक संवेदनशीलता आदि की व्याख्या अनुभव के ही विभिन्न आयामों के रूप में की है। इससे स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष गोचर जगत् से लेकर चिन्तन, कल्पना, अनुमान आदि साधनों से ज्ञात विषय भी अनुभव से ही प्राप्त होते हैं।

डिवी ने प्रकृति का अर्थ विषयवस्तुओं के समूह के रूप में किया है और विषयवस्तु के समूह की व्याख्या 'जो घटित होता है' के रूप में किया है। 'जो घटित होता है' का प्रयोग गत्यात्मकता को व्यंजित करने के लिए किया गया है।

विषयवस्तु के किसी सारतत्त्व (Essence) की खोज करना निरर्थक प्रयास है। 'जो घटित होता है', उसका कोई एक स्थिर और निश्चित अर्थ नहीं होता है। 'जो घटित होता है', उसे किसी निश्चित एवं स्थिर सार तत्त्व से युक्त द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। डिवी के अनुसार यदि कोई निश्चित सारतत्त्व होता तो उसके अनुभवों की विविधता की व्याख्या न होती। अनुभूत विषय (प्रकृति) एक ऐसी घटना है जिसमें कोई न कोई अर्थ सम्पन्न हो जाता है। एक ही विषय का अनुभव भिन्न-भिन्न देश-काल एवं परिस्थिति में अलग-अलग लोगों को पृथक्-पृथक् रूप में होता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय वस्तु अर्थ से युक्त घटित अनुभव है। इसे स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण उल्लेखनीय है—'कागज के एक टुकड़े' का प्रयोग संदर्भों के अनुसार अनेक अर्थों में किया जा सकता है। 'जैसे—इसका प्रयोग 'जिस पर लिखा जा सके', 'जिसे जलाने के कार्य में प्रयुक्त किया जा सके', 'जो किसी सम्पत्ति का दस्तावेज हो', इत्यादि। कहने का निहितार्थ यह है कि संदर्भों के अनुसार इसका अनुभव अलग-अलग अर्थों में हो सकता है। किसी भी वस्तु का अर्थ अनुभव से स्वतंत्र रूप में नहीं हो सकता है।

डिवी के अनुसार परम्परागत दार्शनिकों की भूल यह है कि उन्होंने सारतत्त्व को शश्वत मान करके उसे एक द्रव्य का रूप प्रदान किया। उसके अर्थ को संदर्भों से पृथक् करके उसे नित्यता प्रदान कर दी गयी। यह एक प्रकार का पूर्वाग्रह एवं पक्षपात है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन अनुभव की इन समस्त विधाओं एवं अर्थों की भिन्नताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। दार्शनिक चिंतन प्राचीन अनुभूतियों के आधार पर नवीन संरचना करने में निहित है। यही विधा वैज्ञानिक अनुसंधानों की भी होती है। बौद्धिक प्रगति (ज्ञान-विज्ञान एवं वैचारिक प्रगति) का अर्थ नवीन संप्रत्ययात्मक एवं व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी संरचनाओं को प्रस्तुत करता है। प्रकृतिवाद वैचारिक प्रगति की व्याख्या बहुत ही सरल ढंग से प्रस्तुत करता है। जड़पदार्थ (Matter), जीवात्मा तथा जीवन की व्याख्या अनुभव और प्रकृति के स्वरूप एवं संदर्भ पर आश्रित है। 'जो हमारे अनुभव में घटित हो रहा है', उससे 'संदर्भ विशेष में कौन सा अर्थ घटित हुआ', यह मान्यता प्रकृतिवाद पर आधारित है।

डिवी का दावा है कि परम्परागत दर्शन में जिन सिद्धान्तों की व्याख्या आध्यात्मिक एवं तात्त्विक परिप्रेक्ष्य में की गयी है, उनकी व्याख्या प्रकृतिवाद के आधार पर अधिक तर्कसंगत आधार पर की जा सकती है। मनुष्य अपने भविष्य का निर्माता स्वयं है। इसके लिए किसी चमत्कारिक एवं अवैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हमारे अनुभव में प्राप्त नवीन अर्थों के अनुरूप ही भविष्य का निर्माण होता है। इस प्रकार डिवी का प्रकृतिवाद 'समुन्नयनवादी (Melloristic)' है।

डिवी के दर्शन का मूल्यांकन

डिवी का दर्शन के क्षेत्र में प्रमुख योगदान उनका उपकरणवाद है। इसके अन्तर्गत सत्य, शुभ और सुन्दरता को प्रवाह रूप माना गया है। सत्य-शिव और सुन्दर के संप्रत्यय अपरिवर्तनशील और स्थिर नहीं, बल्कि वे क्रियाशील व्यवहारों, परिस्थितियों आदि से सामञ्जस्य पर निर्भर हैं। यदि किसी विचार से व्यवहार में सफलता मिलती है तो वह सत्य है। जो ज्ञान या विचार एक परिस्थिति में उपयोगी है, हो सकता है कि वह नवीन समस्याओं एवं संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में उपयोगी न हो। इससे स्पष्ट है कि किसी विचार की सत्यता, शुभत्व (उसका कल्याणकारी होना) और किसी चीज का सौन्दर्य किसी न किसी देश-काल, परिस्थिति और समाज एवं सांस्कृतिक परिवेश में ही संभव है। डिवी के उपकरणवाद में साध्य नहीं, बल्कि साधन महत्त्वपूर्ण है। उपकरण अथवा निमित्त (Instrument) वह वस्तु है जो किसी दूसरे के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त हो तथा उसे सफल बनाने में सहायक हो। इस दृष्टि से 'कला, कला के लिए' (Art for the Sake of Art) और 'ज्ञान, ज्ञान के लिए' (Knowledge for the Sake of Knowledge) का सिद्धान्त, अर्थात् कला एवं ज्ञान की स्वयं साध्यता (अपने आप में साध्य होना) का आदर्श डिवी स्वीकार नहीं करते हैं। सत्य की उत्पत्ति प्रयोगों के द्वारा ही हो सकती है। ज्ञान और विचार के प्रयोगों पर ही समाज की प्रगति निर्भर है। यहाँ तक कि औद्योगिक विकास से लेकर राजनीतिक एवं आर्थिक विकास पर्यन्त इन सबका कारण प्रयोग है। उनकी आस्था प्रजातंत्र में बहुत गहरी है क्योंकि यह परिवर्तन पर आधारित स्थायी शासन व्यवस्था है। देश-काल एवं परिस्थिति के सापेक्ष रूप में प्रजातंत्र के अन्तर्गत अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप शासन-व्यवस्था बदलती रहती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अमेरिकी अर्थक्रियावाद में सर्वोच्च सत्ता के विचार से लेकर शाश्वत नियमों, निरपेक्ष आदर्श अथवा निरपेक्ष शुभ आदि परीक्षण एवं मूल्यांकन के विषय हो जाते हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसा करने पर परम सत् एवं निरपेक्ष शुभ अथवा मूल्य से सम्बन्धित चिन्तन एवं उसे प्राप्त करने के नैतिक प्रयत्नों का क्या महत्त्व हो सकता है? अर्थक्रियावाद की दृष्टि से ये मान्यताएँ परम्परागत दार्शनिकों के पूर्वग्रहों पर आधारित हैं। यदि हम यह मान लें कि परम्परागत दार्शनिकों के पूर्वग्रहों पर आधारित है। यदि हम यह मान लें कि पारमेनाइडीज का सत् सिद्धान्त (Doctrine of Being) हेराक्लाइटस के संभूति सिद्धान्त (Doctrine of Becoming) को समाप्त या निरस्त कर देता है तो पूर्वोक्त आपत्तियों को महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। परन्तु आज के इस बदलते हुए परिवेश में न तो भूण्डल को स्वकेन्द्रित माना जा सकता है और न ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी को माना जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि किसी परिवर्तन के अधिष्ठान के रूप में किसी स्थिर सत्ता एवं निरपेक्ष मूल्य को मानने के पक्ष में नहीं है। ज्ञान, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नवीन संभावनाओं, परिवर्तनों एवं

संशोधनों पर बल दिया जा रहा है। आज परिवर्तन पतन का द्योतक नहीं, बल्कि प्रगति, विकास एवं उत्थान का सूचक है। हमें आज की बदलती हुई परिस्थितियों में काल्पनिक आदर्शों को छोड़कर उच्चतम सामाजिक एवं नैतिक लक्ष्यों को प्राप्त करना है। दर्शनशास्त्र लोककल्याण के इस प्रयत्न में मानव जाति की सहायता कर सकता है।

यद्यपि डिवी जैसे अर्थक्रियावादियों ने लोकतंत्र एवं मानवतावाद की दार्शनिक आधारशिला के रूप में अर्थक्रियावाद (Pragmatism) का प्रतिपादन किया, तथापि यह दर्शन कुछ दोषों से ग्रस्त है, जिसकी प्रतिरक्षा करना कठिन हो जाता है। डिवी ने साधन को विशेष महत्त्व दिया। किन्तु समस्या यह है कि क्या बिना साध्य का ज्ञान हुए, अर्थात् बिना उद्देश्य के साधन का प्रयोग संभव है ? यह सत्य है कि साधन भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, परन्तु साध्य के बिना उनके महत्त्व का बोध नहीं हो सकता है। अतः साध्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। प्रयोग भले ही महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु प्रत्येक सत्य का निर्धारण केवल प्रयोग के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

डिवी के दर्शन का एक अन्य दोष यह है कि वह ज्ञान एवं कला को केवल साधन मूल्य मान लेता है। किन्तु कला, कला के लिए भी होती है तथा कभी-कभी इसे साधन भी मानना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञान के भी अनेक स्तर (Levels) होते हैं। ज्ञान के सभी स्तरों को केवल साधन मूल्य नहीं कहा जा सकता है। तत्त्वज्ञान, दार्शनिक चिन्तन की गुत्थियाँ, नक्षत्रों, ग्रहों आदि के अध्ययन की जिज्ञासा न तो किसी प्रयोग पर आधारित है और न इनका सामान्य जीवन में सदैव उपयोग ही होता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की कलाएँ अपनी उत्कृष्टता के कारण आनन्द देती हैं। प्रकृति के मनोरम दृश्य, उदान्त, सौन्दर्य आदि के मूल्यांकन एवं दर्शन में किसी प्रकार की प्रयोजनता दिखायी नहीं पड़ती है। उनकी उपयोगिता न होने पर भी वे आह्लादक (Delightful) होते हैं। उनसे आनन्द का सृजन होता है। वे किसी बाह्य-प्रयोजन एवं प्रयोग के कारण मूल्यवान नहीं हैं। अतः वे स्वयं साध्य हैं। डिवी ने अपने अर्थक्रियावाद में इन मूल्यों की स्वयं साध्यता की उपेक्षा कर दिया है।

डिवी की आलोचना करते हुए बिल ड्यूरान्ट ने कहा है कि वह लोकतंत्र के दोषों को जानते हुए भी इसे एक सर्वोत्तम शासन-प्रणाली के रूप में मान लेता है क्योंकि व्यक्ति के विकास की संभावनाएँ इसी शासन प्रणाली में उत्पन्न हो सकती हैं। डिवी बहुसंख्यावादी, प्रयोगवादी और उपयोगितावादी है। यह सत्य है कि लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली एकाधिकारवादी शासन-पद्धति की अपेक्षा अधिक अच्छी राज्य-व्यवस्था है; परन्तु लोकतांत्रिक पद्धति परिवर्तनशील होने के साथ-साथ अनेक अवगुणों से ग्रस्त है। यदि लोकतंत्र परिवर्तनशील राज्य-व्यवस्था है तो इसे ही एक मात्र स्थायी शासन-पद्धति के रूप में क्यों स्वीकार किया जाय ? इस प्रश्न का डिवी के पास कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है।

इसी प्रकार डिवी ने धर्म (Religion) की भी प्रयोगवादी व्याख्या करने का अनौचित्यपूर्ण प्रयास किया। अनेक स्वार्थहीन एवं धर्मपरायण महापुरुषों ने अपनी धार्मिक एवं दार्शनिक प्रतिबद्धता के कारण आत्म-बलिदान कर दिया। भूमा (असीम) की खोज और अपरोक्षानुभूति से तत्त्व साक्षात्कार सदैव मानव-जिज्ञासा के केन्द्र रहे हैं।

यद्यपि डिवी का उपकरणवाद एकांगी है, तथापि इससे उनके दार्शनिक अवदान का महत्त्व नहीं घटता है। उन्होंने साधनों के महत्त्व, परिवर्तनशील सत्य, ज्ञान एवं विचार के प्रयोग का दर्शन, कला की उपयोगिता, योजना-पद्धति आदि पर बल देकर लोकतंत्र, विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि क्षेत्रों में शिक्षा के उपयोग को एक नया जीवन प्रदान किया।



(द)

एफ०सी०एस० शिलर

(F.C.S. Schiller :1859-1952)

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अर्थक्रियावाद को एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में लोकप्रियता अमेरिका में भले ही मिली हो, परन्तु अमेरिका से बाहर इसका अधिक प्रचार-प्रसार न हो सका। इंग्लैण्ड में इस विचारधारा के प्रतिनिधि दार्शनिक शिलर हैं। उनका विशेष योगदान तर्कशास्त्र के क्षेत्र में है। उन्होंने परम्परागत आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) का खण्डन करके 'प्रयोग के लिए तर्कशास्त्र' की स्थापना किया। उनका तर्कशास्त्र व्यावहारिक एवं मानव-जीवन की मूर्त सामान्यों से सम्बन्धित है। उन्होंने अपने तर्कशास्त्र के आधार पर सत्यता सम्बन्धी परम्परागत सिद्धांतों का खण्डन करके अपने अर्थक्रियावाद की स्थापना किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अर्थक्रियावाद को मानववाद (Humanism) से सम्बन्धित करने का प्रयास किया। उनके द्वारा लिखे गये दार्शनिक ग्रन्थों में आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic), मानववाद (Humanism), मानववाद का अध्ययन (Studies in Humanism) एवं प्रासंगिक तर्कशास्त्र (Logic for Use) उल्लेखनीय हैं।

तर्कशास्त्र—शिलर ने तर्कशास्त्र की जैविक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत किया। उसके अनुसार तर्कशास्त्र और तार्किक युक्तियाँ हमारे भविष्य सम्बन्धी क्रियाकलापों एवं परिणामों की एक पूर्व योजना प्रस्तुत करती हैं। हमें तर्क के द्वारा अपने भविष्य की कार्ययोजना का आकलन हो जाता है। हम अपने विचारों को एक वास्तविक परिस्थिति में रखकर ही उस पर चिन्तन करते हैं। इस दृष्टि से तर्कशास्त्र एक अनुभवमूलक विज्ञान (Empirical Science) है। परम्परागत आकारिक तर्कशास्त्र जो काल्पनिक बुद्धि-विलास पर आधारित है, मानव-जीवन के लिए निरर्थक है। तर्क (Reasoning) हमारे जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए एक प्रायोगिक उपकरण है। हमारे अनुभव परस्पर सम्बद्ध होते हैं और उनका स्वरूप संश्लेषणात्मक होता है। किन्तु प्रागनुभविक सिद्धान्त मानव-जीवन के लिए आवश्यक है क्योंकि उनके अभाव में हम अपने भविष्य की कार्ययोजना के बारे में कोई अनुमान नहीं कर सकते हैं। शिलर ने इन प्रागनुभविक सिद्धांतों

को ज्ञानमीमांसीय नहीं, बल्कि उन्हें जैविक माना है।¹

पूर्वमान्यताएँ (Postulates) और स्वयंसिद्धियाँ (Axioms) परीक्षण के बाद ही उपयोगी और अनिवार्य सिद्ध होती हैं। किन्तु, ऐसी बहुत कम पूर्वमान्यताएँ हैं जो वैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा पूर्ण रूप से परीक्षित एवं सत्यापित हों। अधिकांश स्वयंसिद्धियाँ अस्थायी होती हैं। उन्हें तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक कि वे भविष्य की घटनाओं के बारे में अनुमान करने एवं उनका नियंत्रण करने में उपयोगी हों। तर्कशास्त्र के लिए इसी प्रकार के प्राथमिक नियम आवश्यक हैं। अनुभव की उपेक्षा करके प्रागनुभविक नियमों के आधार पर स्थापित किया गया आकारिक तर्कशास्त्र शब्दाडम्बर मात्र बनकर रह जाता है। जिस प्रकार विभिन्न जीवों के अंगों की उत्पत्ति व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए हुई है उसी प्रकार परामर्श या निर्णयों (Judgements) की उत्पत्ति भी किसी न किसी समस्या के समाधान के लिए होती है। जब मनुष्य के जीवन में कोई समस्या आती है तो वह उस समस्या का हल खोजने के लिए अनेक वैकल्पिक उपायों पर विचार करता है। इस विचार-विमर्श की अन्तिम परिणति निर्णय के रूप में होती है। इस प्रकार निर्णय भी एक वैयक्तिक क्रिया (Personal Act) है। हमारे निर्णय सदैव अस्थायी एवं प्रायोगिक होते हैं। इस प्रकार शिलर ने निर्णय की भी एक जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है।

इसी प्रकार अनुमान (Inference) की उत्पत्ति भी व्यावहारिक परिस्थितियों में होती है। जब तक मनुष्य अपने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयत्नशील नहीं होता है, तब तक अनुमान की प्रक्रिया का उद्भव और विकास नहीं हो सकता है। इस प्रकार निर्णय के समान अनुमान भी प्रायोगिक और प्रयोजनमूलक होता है। इसका प्रयोजन अनुभव का नियंत्रण करना है। शिलर के अनुसार सम्पूर्ण विचार-प्रक्रिया का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक प्रयोगों के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। हमारी सम्पूर्ण तर्कप्रक्रिया परिकल्पनात्मक एवं प्रायोगिक होती है। किसी युक्ति के आधारवाक्यों की सत्यता के बारे में हम पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सकते हैं। यदि आधारवाक्य ही पूर्णतया निश्चित नहीं है तो निष्कर्ष के पूर्ण निश्चित और अनिवार्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। शिलर का दावा है कि आकारिक तर्कशास्त्र पूर्ण अनिवार्यता का लक्ष्य रखता है, परन्तु इसे कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। हमारी युक्तियों को उपयोगी होने के लिए प्रामाणिक होना आवश्यक नहीं है। कोई ज्ञान भले ही अत्यधिक निश्चयात्मक एवं प्रायिक हो, परन्तु वह कभी भी निरपेक्ष रूप से सत्य एवं निरपेक्ष निश्चितता से युक्त नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से अर्थक्रियावादी तर्कशास्त्र समस्त चिन्तन को प्रायोगिक, परिकल्पनात्मक एवं आगमनात्मक बना देता है।

शिलर का मानववाद (Schiller's Humanism)

शिलर के अनुसार यदि अर्थक्रियावाद के विरुद्ध उठाये गये समस्त भ्रामक आक्षेपों को दूर कर दिया जाय तो यह मानववादी जीवन-दर्शन के रूप में उपयोगी हो सकता है। यह आक्षेप कि अर्थक्रियावाद विशुद्ध बुद्धि (Pure Reason), अर्थात् विशुद्ध रूप से सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुरूप नहीं है, असंगत है, क्योंकि विशुद्ध बुद्धि की मान्यता ही भ्रामक है। बुद्धि का विकास मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित क्रियाओं को सरल बनाने के लिए हुआ है। मानव-जीवन के क्रियाकलापों अथवा आचार-संहिता (Code of Conduct) से स्वतंत्र रूप में बुद्धि की भूमिका नहीं हो सकती है। स्वयं बुद्धि का विकास मानव-जीवन की एक जैविक आवश्यकता है। अतः परम्परागत दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत मान्य बुद्धि की भूमिका एवं दार्शनिक चिंतन में संशोधन की आवश्यकता है। दार्शनिक चिंतन संप्रयोजन एवं जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिए। चिन्तन के लिए चिन्तन, अर्थात् केवल दार्शनिक चिंतन एक मानसिक क्रीड़ा अथवा बुद्धि-विलास से अधिक कुछ नहीं है। इसे दार्शनिक उपलब्धि की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। यदि मानव-जीवन का कोई प्रयोजन न हो तो चिन्तन की आवश्यकता ही नहीं हो सकती है। हम केवल उन्हीं विषयों पर स्वभावतः चिन्तन करते हैं जो हमारे जीवन के प्रयोजन को सिद्ध करने में सहायक हों।

वस्तुतः शिलर के दार्शनिक विचार विलियम जेम्स के अर्थक्रियावाद में निहित 'आत्मनिष्ठतावाद' (Subjectivism) से प्रभावित हैं। वे जेम्स के सत्य एवं सत् से सम्बन्धित विचार से भी प्रभावित हैं। उन्होंने जेम्स के आत्मनिष्ठतावाद को मानववाद में परिणत करने का प्रयास किया। शिलर ने जेम्स के इस मत को स्वीकार किया कि सत्य एवं सत् का कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं हो सकता है। यह मानव-निर्मित गुण है। किन्तु वे सत्यता की परिभाषा एवं निकष के लिए सुकार्यता (Workability) को नहीं मानते हैं। कोई भी सार्थक विचार संप्रयोजन होता है। विचार का औचित्य एवं महत्त्व उसकी उपयोगिता पर आश्रित होता है। उन्होंने इस बिन्दु पर विशेष बल दिया कि कोई विचार तटस्थ नहीं होता है, बल्कि साभिप्राय होता है। विचार अनिवार्यतः मानव-जीवन से सम्बन्धित होता है और यह मनुष्य की अभिरुचियों पर निर्भर होता है। विचारशीलता एक मात्र मनुष्य की ही विशेषता है। इसका मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह मनुष्य की अभिरुचियों पर निर्भर है। अतः विचार मानव-जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता है। यह मानव-जीवन से स्वतंत्र, अर्थात् "विचार, विचार के लिए" नहीं हो सकता है। यदि कोई विचारधारा मानव-जीवन के प्रयोजन की उपेक्षा करती है तो वह कृत्रिम, नीरस एवं काल्पनिक हो जाती है। इस संदर्भ में शिलर ने हेगल के निरपेक्ष प्रत्ययवाद की कटु आलोचना किया है। हेगल ने निरपेक्ष सत्ता के निरूपण के लिए अनेक नीरस, तटस्थ एवं प्रभावहीन बौद्धिक कोटियों की परिकल्पना किया। हेगल के द्वारा परिकल्पित ये बौद्धिक कोटियाँ निष्प्राण,

निष्फल और निष्प्रभावी हैं क्योंकि उनके केन्द्र में मनुष्य नहीं है। इस प्रकार हेगल ने विचार का अमानवीकरण (Dehumanisation) कर दिया।

इससे स्पष्ट है कि शिलर विचारों के अमानवीकरण एवं तटस्थता के विरोधी हैं। प्रत्येक विचार मनुष्य की व्यक्तिगत अभिरुचि से प्रभावित होता है और इन अभिरुचियों से ही विचारों का चयन होता है। इन विचारों का कोई अर्थ पहले से निर्धारित नहीं होता है। इन्हें मानव के द्वारा अर्थ प्रदान किया जाता है। विचारों को अर्थ प्रदान करने में मनुष्य के प्रयोजनों एवं क्रियाव्यवहारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारे क्रियाव्यवहार वस्तुस्थिति को प्रभावित करते हैं। इन क्रियाव्यवहारों से उत्पन्न परिवर्तन एवं प्रभाव सामाजिक होते हैं क्योंकि मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण का प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप किसी मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण अन्य लोगों के आचार-विचार एवं मत को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार शिलर के अनुसार मनुष्य एक निष्पक्ष और तटस्थ द्रष्टा की भाँति सत्ता का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः समस्त विचार एवं मूल्य मानव-सापेक्ष हैं।

उल्लेखनीय है कि जेम्स के विपरीत शिलर ने सत्यता और उपयोगिता को परस्पर अभिन्न नहीं माना है। किन्तु वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सत्यता और उपयोगिता में घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि उपयोगिता से ही सत्यता की उत्पत्ति होती है। किसी विचार की सत्यता का उद्भव और विकास उसकी उपयोगिता पर आश्रित होता है। जो व्यावहारिक दृष्टि से मानव-जीवन के लिए मूल्यवान और उपयोगी है, वही सत्य हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि सत्य मानव-निर्मित और मानव-मूल्यांकन का परिणाम है। उसके इस मत को सत्यता का 'उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है।

अन्य अर्थक्रियावादियों के समान शिलर भी यह मानते हैं कि कोई विचार शाश्वत एवं निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकता है। जेम्स ने कुछ गणितीय एवं तार्किक नियमों को आकरिक सत्य के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु शिलर इससे असहमति व्यक्त करते हैं। शिलर के अनुसार यह मनुष्य की अपनी परिस्थिति एवं दृष्टि पर निर्भर करता है कि किसी विचार (कथन) की सत्यता को किस रूप में लिया जाय। उदाहरण के लिए शिलर के द्वारा दिया गया यह दृष्टान्त उल्लेखनीय है। यदि '2 + 2' को अलग-अलग वस्तुओं (इकाइयों) के रूप में जोड़ा जाय तो उनका योग चार (4) हो सकता है। किन्तु यदि दो बूँद जल और दो बूँद जल को जोड़ा जाय अथवा दो शेरों और दो मेमनों (Lambs) को एक साथ संयुक्त किया जाय तो यह अनिवार्य नहीं है कि वे चार बूँद जल अथवा चार जानवर ही होंगे। उन्हें एक बूँद जल या दो शेर (जैसी भी स्थिति हो) के रूप में समाहित किया जा सकता है। इस प्रकार शिलर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सत्य पूर्ण

रूप से मानवीय मूल्यांकन एवं मानवीय अर्थों पर आश्रित होता है।

शिलर के अर्थक्रियावाद को 'मानववाद' इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह मानववाद को अर्थक्रियावाद से भी अधिक मौलिक मानता है। समस्त विचार, ज्ञान, विज्ञान, मूल्य, संस्कृति आदि मानव-सापेक्ष, मानव-निर्मित एवं मानव-मूल्यांकन के परिणाम हैं। बाह्य जगत्, सभ्यता, संस्कृति आदि का कोई महत्त्व तभी हो सकता है, जब ये सब मानव के द्वारा प्रदत्त अर्थों पर निर्भर हों। उसका मानववादी दर्शन प्रत्ययवाद, यथार्थवाद, संवृत्तिवाद आदि के विवादों से दूर है। यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि सत्ता का स्वरूप मानव-सम्बन्धों एवं उसके द्वारा प्रदत्त अर्थों पर निर्भर होता है, तथापि वह प्रत्ययवादी नहीं है। शिलर के अनुसार 'कुछ अवश्य है', जिससे मानव-विचार सम्बन्धित होते हैं। इस दृष्टि से शिलर का मानववाद व्यक्तिवादी नहीं है। यह सोफिस्टो के 'होमो मेन्सुरा' (Homo Mensura), अर्थात् 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है', से भिन्न है। उसके अनुसार सत्यता का उद्भव उपयोगिता से होता है। उसके अनुसार वही विचार उपयोगी होता है जिसे सामाजिक सहमति प्राप्त हो। जो विचार समाज में विरोध, संघर्ष एवं विसंगति पैदा करते हैं वे समाज के लिए अनुपयोगी होते हैं। ऐसे विचारों को सत्य एवं शुभ नहीं कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि किसी विचार की उपयोगिता, सार्थकता और मूल्य सामाजिक सहमति पर आधारित होता है। अतः शिलर का मानववाद अहंमात्रवादी (Solipsistic) और व्यक्ति-केन्द्रित नहीं है।

अर्थक्रियावाद का मूल्यांकन

अर्थक्रियावाद बीसवीं शताब्दी की एक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचारधारा है। इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए इटली के एक विचारक पैपनी ने इसकी उपमा एक कोरीडोर से दी है जिसमें अनेक कमरों के लिए कई दरवाजे खुलते हैं। यह कोरीडोर (Coridore) अर्थात् गलियारा (बरामदा) व्यवहारिकता है। प्रत्येक दार्शनिक चाहे वह प्रत्ययवादी हो अथवा वस्तुवादी हो, चाहे अध्यात्मवादी हो अथवा भौतिकवादी, उसे इस कोरीडोर, अर्थात् अर्थक्रियावाद से होकर गुजरना पड़ता है। पैपनी के कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय भले ही एक-दूसरे से भिन्न मत रखते हों, परन्तु उन सबको व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ता है। अर्थक्रियावाद एक व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। यहाँ तक कि अमूर्त विचारों का अर्थ भी उनके व्यावहारिक अर्थ पर निर्भर है।

अर्थक्रियावाद प्रथम दृष्ट्या अत्यन्त प्रभवोत्पादक एवं लोकप्रिय प्रतीत होता है। यह आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के पर्याप्त अनुकूल है। किन्तु अर्थक्रियावादियों ने दर्शनशास्त्र को विज्ञान की सीमा में बाँधने का प्रयास किया। वे ज्ञान की जैविक व्याख्या करके मानव-ज्ञान को पाशविक प्रवृत्तियों के समकक्ष कर देते हैं। अर्थक्रियावादी ज्ञान को साध्य मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे ज्ञान को जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए एक साधन मात्र मानते हैं। किन्तु ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अनेक शोध और खोज मनुष्य की सहज जिज्ञासा के परिणाम रहे हैं। अनेक दार्शनिकों, तत्त्वज्ञानियों और वैज्ञानिकों ने सत्य और ज्ञान की खोज के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। संभवतः अपने सिद्धान्तों की खोज करते समय उन्हें अपने सिद्धान्तों की उपयोगिता का ज्ञान ही न रहा हो। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान और सत्य की खोज स्वयं साध्य है। अतः यह अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य का प्रत्येक विचार व्यावहारिक प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही संचालित हो। अर्थक्रियावादियों ने मानव में अन्तर्निहित ज्ञान की जिज्ञासा की ओर ध्यान नहीं दिया।

अर्थक्रियावादियों ने प्रत्येक ज्ञान को व्यक्तिगत अभिरुचि, प्रेरणा और चयन पर आश्रित बना दिया। इसके फलस्वरूप निर्व्यक्तिक ज्ञान (Impersonal Knowledge) की संभावना ही समाप्त हो जाती है। अर्थक्रियावादियों का ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण एकांगी है। वे केवल ज्ञान की जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक पक्ष को ही सम्पूर्ण ज्ञान समझने की भूल करते हैं। इसके परिणामस्वरूप ज्ञान के आन्तरिक स्वरूप एवं ज्ञान की स्वयं साध्यता की उपेक्षा हो जाती है। इसके अतिरिक्त अर्थक्रियावादियों का यह मत कि प्रत्येक ज्ञान अग्रदर्शी (Prospective) होता है, इसकी विसंगति को स्पष्ट करता है। इसका निहितार्थ यह है कि कोई ज्ञान भूतोन्मुख (Retrospective) नहीं हो सकता है। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो पुरातात्विक और ऐतिहासिक साक्ष्यों की उपयोगिता क्षीण हो जाती है। एक अन्य समस्या यह है कि यदि समस्त ज्ञान भविष्योन्मुख है तो उसका सत्यापन कैसे किया जा सकता है ? यदि किसी ज्ञान का सत्यापन न किया जाय तो क्या उसे स्वीकार करना युक्तिसंगत होगा ? अर्थक्रियावाद के अन्तर्गत इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है।

अर्थक्रियावाद के अन्तर्गत सार्वभौम ज्ञान एवं सर्वव्यापी तर्कवाक्यों (Universal Propositions) की सत्यता को स्थापित करना कठिन प्रतीत होता है। किसी सामान्य कथन की सत्यता को स्थापित करने के लिए अनेक विशिष्ट कथनों का परीक्षण करना होगा। किन्तु असंख्य कथनों का परीक्षण करना मनुष्य के लिए

संभव नहीं है। इसी प्रकार सामान्य कथनों के अर्थ का निर्धारण करना भी कठिन होगा क्योंकि सामान्य कथनों के अर्थ का निर्धारण करने के लिए हमें समस्त विशिष्ट तर्कवाक्यों के अर्थ का निर्धारण करना होगा, जो संभव नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः समस्त तथ्यों एवं घटनाओं का अनुभव करना किसी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। किन्तु यदि सामान्य नियमों की स्थापना न की जा सके तो किसी भी विज्ञान (Science) की स्थापना करना तार्किक दृष्टि से असंभव होगा क्योंकि प्रत्येक विज्ञान कम से कम एक सर्वव्यापी कथन अथवा सामान्य नियम की अपेक्षा रखता है। इससे स्पष्ट है कि केवल अर्थक्रियावाद के आधार पर विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की स्थापना नहीं की जा सकती है।

अर्थक्रियावाद के विरुद्ध यह आक्षेप उठाया जाता है कि उसके दार्शनिक सिद्धांतों में कोई तार्किक बल नहीं है। वे किसी भी दार्शनिक समस्या पर गम्भीर अनुशीलन नहीं करते हैं। वे प्रायः लोकप्रिय एवं सतही चिन्तन के अभ्यस्त प्रतीत होते हैं। काण्ट, हेगल और ब्रैडले जैसे दार्शनिकों की सुदृढ़ दार्शनिक पद्धति की तुलना में जेम्स, डिवी, शिलर आदि के द्वारा प्रतिपादित युक्तियाँ अर्थक्रियावाद की स्थापना करने के लिए अत्यन्त निर्बल हैं, क्योंकि वे बलात् थोपी गयी प्रतीत होती हैं। अर्थक्रियावादी वैज्ञानिक पद्धति (जैसे आगमनात्मक विधि) के आधार पर अपने सिद्धांतों की स्थापना करने का प्रयास करते हैं। किन्तु वैज्ञानिक विधियों की अपनी एक सीमा होती है। इन विधियों के आधार पर समस्त अनुभूतियों, जीवन-मूल्यों आदि की व्याख्या नहीं की जा सकती है। जेम्स ने आत्मा के स्थायी स्वरूप का निराकरण किया। किन्तु वे यह भूल गये कि एक स्थिर, नित्य और परिवर्तनशील आत्मा के बिना परिवर्तनशील मानव-अनुभूतियों के प्रवाह एवं व्यक्तित्व की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती है। वस्तुतः जेम्स के द्वारा की गयी आत्मा की व्याख्या मनोवैज्ञानिक है, न कि तार्किक। उसके अनुसार आत्मा मानसिक क्रियाओं और अनुभूतियों का एक शाश्वत प्रवाह (Constant Flux) है। यहाँ पर यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या बिना किसी स्थायी आत्मा के स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, वैयक्तिक अनन्यता (Personal Identity) की व्याख्या की जा सकती है? अर्थक्रियावादी न तो इस प्रश्न का तार्किक उत्तर दे पाते हैं और इसका युक्तिसंगत उत्तर देना आवश्यक भी नहीं समझते हैं। वे केवल यह कहकर संतुष्ट होना चाहते हैं कि सिद्धांतों की रक्षा के लिए जीवन के आनन्दमय पक्षों का परित्याग नहीं किया जा सकता है। निश्चित रूप से अर्थक्रियावादियों के द्वारा दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर देने के स्थान पर प्रश्नों को ही निरस्त कर दिया जाता है। यह दार्शनिक चिन्तन की स्वस्थ परम्परा के अनुरूप नहीं है।

अर्थक्रियावादियों का धार्मिक दृष्टिकोण भी अत्यन्त सतही है। वे ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कोई गहन दृष्टि और तार्किक युक्ति नहीं प्रस्तुत करते हैं। वे ईश्वर के अस्तित्व की उपयोगितावादी व्याख्या करके उसे मानव के स्वार्थ-पूर्ति का साधन मूल्य बना देते हैं। इस प्रकार अर्थक्रियावादी धार्मिक श्रद्धा एवं धार्मिक प्रतिबद्धता के प्रति न्याय नहीं करते हैं। धर्म के अन्तर्गत ईश्वर को एक सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वयं साध्य माना गया है। अर्थक्रियावादी इसकी उपेक्षा कर देते हैं। व्यावहारिक उपयोगिता अथवा लाभ एवं हानि के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास अतार्किक, अविश्वसनीय, गैर-धार्मिक (Non-Religious) और धर्म की गलत समझ पर आधारित है। यह एक प्रकार से धर्म का व्यापारीकरण (Commercialisation) है।

अर्थक्रियावादियों ने किसी निरपेक्ष मूल्य को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल नहीं दिया। उनके अनुसार प्रत्येक मूल्य किसी न किसी देश-काल, व्यक्ति, परिस्थिति एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इस दृष्टि से 'सुकार्यता' (Workability) ही मूल्य का समुचित प्रतिमान (Paradigm) है। अर्थक्रियावाद अमेरिका की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्कृति का मुख्य आधार है। इस विचारधारा ने अमेरिकी प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था एवं विश्व के विभिन्न देशों के प्रति अमेरिका के राजनीतिक दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। अमेरिका की उपयोगितावादी एवं मूल्य-सापेक्ष दृष्टि के कारण समान परिस्थितियों के होते हुए भी उसका भिन्न-भिन्न देशों के प्रति पृथक्-पृथक् व्यवहार रहा है। अमेरिका प्रायः विश्व के विकासशील देशों की सहायता और रक्षा, युद्ध, आक्रमण, आर्थिक सम्बन्ध आदि अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए करता है। इस विचारधारा का पोषक अमेरिका विश्व के बदलते हुए परिवेश में न केवल अपना आर्थिक साम्राज्य, बल्कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को भी स्थापित कर रहा है क्योंकि बिना सांस्कृतिक साम्राज्य के आर्थिक साम्राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता है। अर्थक्रियावादी मूल्यव्यवस्था पर आधारित सांस्कृतिक साम्राज्य अवसरवादी और भोगवादी संस्कृति को प्रोत्साहित कर रहा है।

अर्थक्रियावाद के विरुद्ध उठायी गयी इन आपत्तियों के बावजूद यह बीसवीं शताब्दी का एक लोकप्रिय एवं व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। इसने विश्व के विचारकों का ध्यान काल्पनिक और अमूर्त चिन्तन से हटाकर लौकिक जगत् एवं मानव-जीवन की मूर्त समस्याओं (व्यावहारिक मूल्यों) की ओर आकर्षित किया। इन दार्शनिकों ने मूल्यों की वैज्ञानिक और व्यावहारिक व्याख्या किया। इस विचारधारा का उद्भव और विकास भले ही अमेरिका में हुआ, परन्तु अब अर्थक्रियावाद केवल अमेरिका तक ही सीमित नहीं है, समसामयिक युग में प्रायः

विश्व के अधिकांश देशों की राष्ट्रीय संस्कृतियाँ अमेरिका के व्यावहारिक आदर्शों और जीवन-मूल्यों से प्रभावित हो रही हैं। अर्थक्रियावाद पर आधारित प्रयोगवाद, उपकरणवाद, मानववाद और उपयोगितावाद का प्रभाव राजनीति, तकनीकी शिक्षा, व्यापार आदि क्षेत्रों में उपलक्षित हो रहा है। इसके फलस्वरूप आज सम्पूर्ण विश्व में राजनीति न केवल चिन्तन का विषय, बल्कि व्यवहार का विषय बन गयी है। विश्व के प्रगतिशील देशों में स्वतंत्रता, समानता, विश्व-बन्धुत्व और न्याय जैसे मूल्यों का लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत (व्यवहार और सिद्धांत दोनों ही दृष्टियों से) प्रयोग किया जा रहा है। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक हेराल्ड लास्की ने अर्थक्रियावाद से प्रभावित होकर प्रजातांत्रिक मूल्यों (जैसे—स्वतंत्रता, समानता, दायित्व, विधि आदि) की व्याख्या किया है। इस प्रकार अर्थक्रियावाद ने विभिन्न देशों के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन, दर्शन, व्यवहार और सिद्धांत को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसके कारण उदारवारी विचारों का महत्त्व बढ़ रहा है। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि अर्थक्रियावाद सैद्धांतिक एवं तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है, तथापि यह विचारधारा दर्शनशास्त्र को मानव के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित करने में सफल रही है।



सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Aaron, Richard, I. John Locke, Oxford, The Clarendon Press, 1971.
2. Ambrose, Elice; (ed.) Essays in Analysis, London, 1966.
3. Ayer, A.J.; The Problem of Knowledge, Penguin Books, 1956.
4. Barlingay, S.S.; A Critical Survey of Western Philosophy, Macmillan India Ltd., 1980 (Reprint of 1987)
5. Barnet, John; Early Greek Philosophy; Adam and Charles Ltd., London, 1948.
6. Bogomolov, A.S. History of Ancient Philosophy, Progress Publishers, Moscow, 1985.
7. Bird, Graham; Kant's Theory of Knowledge, Routledge & Kegan Paul, London, 1962.
8. Bradley, F.H.; Apperance and Reality, Oxford, 1892.
9. Bradley, F.H.; Essays on Truth & Reality, Oxford 1914.
10. Caird, Edward, The Critical Philosophy of Kant, Vol. I & II, Glasgow, James Maclenose & Sons; 1889 (Reprint 1968).
11. Carr, H.W.; Leibnitz, London, Ernest Bern, 1929.
12. Calkins, M.W., The Persistent Problems of Philosophy, New York, Macmillan 1907 (Reprinted in 1921).
13. Copaleston, Frederick, A History of Philosophy, Vol. I & II, Burns otes and Wasburne, Ltd.; London 1959.
14. Conner, D.J.O. (Ed.), A Critical History of Western Philosophy. The Free Press of Glencoe, London 1964.
15. Durrent, Will; The Story of Philosophy, London (Reprint 1961).
16. Dutta, D.M. Chief Currents of Contemporary Philosophy, The University of Calcutta (Third Edn.) 1970.
17. Frazer, A.C. Berkley, London, William Blackwood & Sons, 1881 (Reprinted 1890)
18. Flackenberg, Richard, History of Modern Philosophy, Progressive Publishers, Calcutta, 1977.
19. Haspers, John, An Introduction to Philosophical Analysis, Prentice Hall, 1967.
20. Hamlyn, D.W., Theory of Knowledge, Macmillan, London, 1972.
21. Harries, Errol, E. Fundamentals of Philosophy, Allen & Unwin; London, 1969.

22. Haldane, E.S. and Simson, F.H. (Trans) Hegel's Lecture on the History of Philosophy, Routledge & Kegan Paul, London, 1955.
23. Haldar, Hiralal, New-Hegelianism.
24. Locke, John, An Essay Concerning Human Understanding (Collection), Encyclopedia Britannica, Chicago 1952.
25. Luce, A.A; Berkley & Melebranche, Oxford, The Clarendon Press 1934.
26. Metz, R; Hundred Years of British Philosophy, London.
27. Morris, C.R.; Locke, Berkley & Hume, Lowers Brydure, 1968.
28. Mukerjee, A.C; The nature of self, Indian Press Allahabad (IInd Edn.).
29. Mukerjee, A.C., Self, Thought & Reality, Indian Press Allahabad. 1970 (IInd Edn.).
30. Naess, A; Scepticism, Routledge & Kegan Paul; London, 1968.
- Pandey, Sangam Lal; (ed.) Problems of Depth Epistemology, R.N. Kaul Library of Philosophy, University of Allahabad, 1987.
- Pandey, Sangam Lal (ed.) Perennials of Comparative Philosophy. Darsan Peeth, Allahabad 1988.
33. Parkinson, G.H.R. (ed.) Leibnitz's Philosophical Writings (Trans) by Marry Morris and G.H.R. Parkinson), London, J.M. Dent & Sons. 1973.
34. Pollock, John, L; Knowledge & Justification; Princeton University Press : New Jersey 1974.
35. Latta, Robert (Trans.) Leibnitz, The Monadology and other Philosophical Writings, Oxford Clarendon Press, 1898. (Reprint 1972).
36. Locke, John; An Essay Concerning Human Understanding (Collection) Encyclopedia Britannica, Chicago, 1952.
37. Kauffman, W. (Ed.) Philosophic Classics, Prentice Hall, 1964.
38. Korner, S; Kant, London, Pelican Books 1955, (Reprint 1960).
39. Paton, H.J. Kant's Metaphysics of Experience, Vol. II, George Allen & Unwin, London 1936.
40. Russell, B; A History of Western Philosophy George Allen & Unwin, London 1960.
41. Russell, B.; A Critical Exposition of Philosophy of Leibnitz.

42. Raju, P.T.; Introduction to Comparative Philosophy, Motilal Banarasidas, Delhi, 1992.
43. Ross, W.D. (Trans) Aristotle's Metaphysics, Book I & IV (Encyclopedia Britannica 1952).
44. Ryle, G. Dilemmas, Cambridge University Press 1954.
45. Ryle, G. The Concept of Mind, Hutchison; London 1949.
46. Smith, N.K.; The Philosophy of David Hume; A Critical Survey of its Origine and Central Doctrines, New York, Macmillan 1941.
47. Smith, N.K.; (Trans.) Immanuel Kant's Critique of Pure Reason, London, Macmillan 1929 (Reprint 1970).
48. Smith, N.K.; New Studies in the Philosophy of Descarts, London, Macmillan, 1963.
49. Singh, R.L.; An Inquiry Concerning Reason in Kant & Shankaracharya, Chugh Publication, Allahabad, 1978.
50. Stace W.T.; A Critical History of Greek Philosophy, Macmillan and Company Ltd., London, 1960.
51. Strawson P.F.; Bounds of Sense, Methuen & Company, London (Reprint 1978).
52. Thilly, Frank, A History of Philosophy, Central Publishing House Allahabad, 1985.
53. Warnock, G.J. (Ed.) Principles of Human Knowledge & Three Dialogues between Hyles and Philonous, London, Collins 1962.
54. Wolfson; H.A., The Philosophy of Spinoza, Cambridge University Press, 1934 (IIInd Edition, 1948).
55. Zeller, E; Outlines of Greek Philosophy, Routledge & Kegan Paul, New York, 1955.

हिन्दी माध्यम की पुस्तकें

56. डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी; दार्शनिक चिन्तन, सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद 1996
57. दयाकृष्ण; ज्ञानमीमांसा; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1972
58. दयाकृष्ण (संपादक) पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, (खण्ड दो), राजस्थान हिन्दी अकादमी, जयपुर, 1990 (द्वितीय संस्करण)।
59. प्रो० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, दार्शनिक समस्याएँ; तत्त्वमीमांसा (पाश्चात्य सन्दर्भ), हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1997।
60. प्रो० संगमलाल पाण्डेय, काण्ट का दर्शन (द्वितीय संस्करण) दर्शनपीठ, इलाहाबाद 1982

434/पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

61. प्रो० संगम जाल पाण्डेय, आधुनिक दर्शन की भूमिका (द्वितीय संस्करण) दर्शनपीठ, इलाहाबाद, 1973
62. प्रो० सभाजीत मिश्र, काण्ट का दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1988
63. एस. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन (खण्ड -2), राजपाल एन्ड सन्स, संस्करण 1989

Journals

64. Proceedings of Aristotelian Society, Volume III, No. 3
65. Mind, N.S.; Volume XIV.

अनुक्रमणिका

(महत्वपूर्ण शब्दों और नामों की अनुक्रमणी)

अ

आ

अतिईश्वरवाद 218
 अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र 264, 265
 अतीन्द्रिय निगमन पद्धति 251, 273
 अतीन्द्रिय भ्रम 278, 284
 अतीन्द्रिय विस्थापन दोष 237, 277
 अदृश्यों का अभेद 162
 अद्वैत वेदान्त 40, 79, 107, 131, 135,
 155, 199, 268, 277, 283, 298, 357
 अध्यास 268
 अधिकार 313, 328
 अन्तर्वोध 205, 206, 218, 219 323
 अन्तर्क्रियावाद 122, 169-171
 अनवस्था दोष 128, 278, 295, 298
 अनुभववाद 177-244
 अपोहवाद 204 (टि I)
 अमूर्त प्रत्यय
 अरस्तू 8, 12, 13, 14, 40, 41, 47, 48,
 52-71, 99, 100, 104, 161, 269, 311,
 382,
 अरिस्तोक्लीज (देखिए प्लेटो); 222
 अर्डमन 335
 अर्थ-सिद्धान्त 206
 अलेक्जेंडर, सै० 236
 अबाधितत्त्व 356
 अशुभ 30, 84
 अहंभात्रवाद 213, 215
 अहं-केन्द्रित विषम स्थिति 222
 अज्ञान 15, — ज्ञानोत्पन्न 107
 अज्ञेयवाद 279-283, 301

आइन्सटीन 263
 आकार 59-62
 — विशुद्ध (ईश्वर) 63-65
 आगमन 56, 108, 109, 177, 228
 आगमनात्मक युक्ति 300
 आगस्टाइन, सन्त 82-90 135, 168
 आजानिक प्रत्यय (देखिए जन्मजात प्रत्यय)
 179-182
 आत्मा 2, 7, 43-48, 87, 88, 98, 108,
 123, 219
 — की अमरता 46-48
 — का निराकरण 234-238
 — आवागमन-सिद्धान्त 2, 7
 आर्किमिडिज सम्प्रदाय 2, 44
 आभास 341, 343
 आध्यात्मवाद 215
 आनुभाविक भ्रम 285
 आयोनिक सम्प्रदाय I
 आरनॉल्ड, ग्यूलिंक्स 170
 आरम्भिक विधेयता का दोष 222
 आलोचनावाद 248-253
 आस्था (श्रद्धा) 301
 इ
 इतरेतराश्रय दोष 298
 इन्द्रियानुभव 172-244
 इन्द्रिय-प्रदत्त
 इलियाई विचारधारा 3.4
 ई
 ईश्वर 37, 38, 39, 40, 4, 63-65, 83,
 126-128, 139, 65, 217, 360

436/पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

— का निराकरण 238-239

— और शुभ का प्रत्यय 37-40

ईश्वरमीमांसा 94-97

ईश्वर-प्रेमोन्मत्त 193

उ

उत्पत्तिव्यतिक्रम दोष 251

उदयनाचार्य 298

उभयतोपाश-विधेयन का 347

ऋग्वेद 9

ऋत 9

ए

एक्विनास, थामस 47, 94, 168

एखार्ट, मीस्टर 101, 103

एन्सेल्म 91-92, 127

एनॉक्विगोरस 7, 8, 9

एनिसेरीज 72

एनैक्विमेनीज I

एनैक्विमेन्डर I

एपिरन (Apiron) I

एपीक्यूरस 72-73

एम्पेडॉक्लीज 6, 321

एम्ब्रोस 82

एरान, आर० आई० 19

एरिजेना 90

एयर, ए० जे० 120, 202

एरिस्टिपस 72

ऐ

ऐकान्तिक विशिष्टता का दोष 222

ओ

ओकम का उस्तरा 101

क

कार्टेसियन मेथड 117

कठोपनिषद् 45

कडवर्थ, राल्फ 178

कणाद 60

काण्ट 4, 46, 54, 128, 132, 232, 371,

245-305, 314, 373

कार्नाप रुडोल्फ 125

कनिंघम 340

कापरनिकस 104, 272

कापरनिकसी क्रान्ति 250, 272

काम्पते, आगस्ट

कार 374

कारण 37, 230

कारणता 57-58, 229, 231

काल 4, 98, 259-264

कालकिन्स 127

कालरिज 336

कार्लाइल 336

क्वाइन 258

किर्केगार्ड, सोरेन 331

केपलर 104

केम्पानेला, थामस 108

केयर्ड, एडवर्ड 130, 237 247, 262, 278.

297, 305, 336, 338

कोटि - दोष 135

कोपलेस्टन, एफ. 100, 325

ग

गति की सापेक्षता का सिद्धान्त 263

ग्राइस 258

गीता (श्रीमद् भगवद् गीता) 67, 149, 172

ग्रीन, टी. एच. 215, 237, 277, 278.

304, 335, 337, 338, 339, 358

गुण 185

— मूल 15

— उपगुण 185

— का निराकरण 209, 210

गेटे 306

गैनिलो 92, 129

गैसेन्डी 130, 178

गौड़पाद 213 (टि2)

च

चक्रक दोष 119

चर्च, आर. डब्ल्यू. 374

चरिष्णुता

चिदणुवाद 137, 160, 163, 165,

ज

जड़ता 162 — स्थूल 162

— सूक्ष्म 162

छ

छान्दोग्योपनिषद् 4

ज

जगत् 88

जन्मजात प्रत्यय 179-182

ज्यामिति 203, 261, 303

जार्जियस 11, 35, 239

जानसन, सैमुअल 214

जीवाग्नि (Logos) 44, 106, 383

जेनो 4

जेनोफेनीज 3

जेम्स, वि० 236

जेलर 39, 80

जैन 199

जोखिम, एच. एच. 153

ट

टालमी 104, 272

ड

डायोजिनीज 73

डिमाक्रिटस 6, 10

डेकार्ट 46, 92, 106, 114-136, 178, 198

त

तर्कान्तभूतगणितवाद (Logicism) 257
(I टि)

तर्कभाष 287, 289

तत्त्वमीमांसा 52, 55

तृतीय पुरुष का दोष 41

तार्किक भाववाद 125, 241

त्रिक् नियम 311, 322, 330

थ

थिली, फ्रैंक 134

थेलीज, I

द

दर्शनशास्त्र 331, 194

द्रव्य 47, 53-54, 56, 120

— जड़ 59, 60, 61, 62, 89, 138

— का निराकरण 233-234

द्रव्य और गुण 346

दृश्यता 213

दृष्टिसृष्टिवाद 215

द्वन्द्व-न्याय 70, 319, 320-324, 333, 372

दान्ते 100

दार्शनिक राजा 23, 49-51

दिग्नाग

द्विधा निषेध 374

दुर्जनतोषन्याय 210

देश 6, 98, 259-264

दैवी प्रकाशना

दैवी स्फुल्लिंग 48; 65

ध

धर्म दर्शन 330-331

न

नाउस (Nous) 7, 9, 78-79

नागार्जुन 371

438/पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास

नामवाद 101, 112, 206, 207

निकोलस 106, 107

निगमन 16, 17, 56, 115

निगमनात्मक तर्कशास्त्र 71

निर्णय 363

नित्यता

निमित्तेश्वरवाद

निष्क्रमण 7879

निषेध 321

— द्विधा 323

— मूर्त 321, 322

नियतिवाद 149, 154

नीतिशास्त्र 6, 11, 18, 328

नेपोलियन 313

नैतिक दर्शन 65, 6

नैयायिक 6, 33, 196, 274

न्याययुक्ति 286

— निरपेक्ष 286

— हेतुफलाश्रित 286

— वैकल्पिक 286

न्यूटन 104, 247, 262

न्यूटनीय भौतिकी 303

प

परिवर्तन-सिद्धान्त 5

प्रत्यय 183

प्रत्यय-सिद्धान्त 27

प्रत्ययवाद 212

— अतीन्द्रिय 250

— आलनिष्ठ 212, 215

— निरपेक्ष 315-319

— वस्तुनिष्ठ 130, 131

— ईश्वरनिष्ठ 215

प्रत्यय सत्तामूलक तर्क 127-130

प्रत्यक्ष 24, 120, 159, 187

— निर्विकल्प 251

प्रतिनिधित्ववाद 121, 186

— का निराकरण 210-212

प्रतिबिम्बवाद 34, 42

प्रतिभान 115, 119, 153, 190, 279

प्रकृति की एकरूपता 231

प्रयोजनमूलक युक्ति 217

प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णय 166,

295, 297

प्राडिकस 11

प्रकृतिवादी दोष 276

पेरिक्लीज I

प्रोटागोरस 10, 11, 20, 24, 239

पाइथागोरस 2, 8, 44

पाइथोगोरसीय समाज 2

पार्फेरी 80

पार्मेनाइडीज 3, 5, 10, 369

पायरो 74, 239

प्रिंगल पैटिसन 376

पिरोवाद 239

पुरोधानवाद 188, 211

पूर्व स्थापित सामंजस्य का नियम 163-165.

167

प्रेम और घृणा 6

पेटन, एच. जे. 280, 304

पेरी, आर. बी. 222

प्लॉटिनस 5, 77-80, 82, 89 141, 311,

317

प्लेटो 8, 12, 13, 14, 22-51

फ

फाइलो 76-77

फालकेनबर्ग, आर. 211

फिक्टे 304, 305, 307-309

फिन्डले 326

फिशर, कुनो. 144

फीड्स 35

फीडो 44

फ्रेजर, ए. सी. 205 (I टि)

ब

बर्कले 43, 18, 202, 233, 249 262

बर्नियर 178 (I टि)

बर्नेट 37

बपतिस्मा 83

ब्रांड, सी. डी. 153

बहुदेववाद 15

बिस्मार्क 334

बीथोबिन 313

बुद्धिवाद 312

बुद्धि-विकल्प 265

ब्रूनो, जी. 107

बेकन, फ्रान्सिस 56, 108-109, 115

बेकन, रोजर 101, 103

बेन 231

बेयले, पियरे 156

ब्रैडले 332, 335, 338, 347-377

बोसॉके 231, 335, 339

बौद्धिक अन्तर्दृष्टि 24

बौद्धिक प्रेम 143

बौद्ध विज्ञानवादी 213, 214, 219, 277, 283

— माध्यमिक 354

भ

भट्टाचार्य, शिबजीवन 126

भ्रम 364

भ्रम का तर्कशास्त्र 285

भूततत्त्व 195

भौतिक धार्मिक युक्ति 299-302

म

मध्वाचार्य 317

मध्यमपरिहार-नियम 321

मन-देह सम्बन्ध 168-175

मनोविज्ञान 200, 202, 328, 338

मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद 206, 244

मशीन में प्रेत का पूर्वाग्रह 136

मार्क्स 5, 326, 327, 334

मार्टिन लूथर किंग 94, 105

मानवतावाद 12

मानवशास्त्र 327

मैक्टागार्ट 325, 337, 358

मिल, जे. एस. 54, 231, 33

मुकर्जी, ए. सी. 205, 221, 237

मूर, जी. ई. 188, 189, 216, 221, 376

मेगारी सम्प्रदाय 73-74

मेट्ज, आर. 364, 377

मेण्डेलसान, मोजेज 246

मेलब्रॉन्श 170, 173

मेलिसस 3

मैकियावेली 105, 334

य

यहोवा 75

याकोबी 281

यूक्लिड 73, 180

योहन डान्स स्काट्स 100

र

रसल, बी. 99, 132, 16, 175, 200, 232.

242, 335, 376

रहस्यवाद 312

राइल 120, 135

440/पाश्चात्य दर्शन का उदभव और विकास

रामानुजाचार्य 122, 141, 309, 317
रीड, थामस 244
रीनहोल्ड 306
रूसो 245, 246
रेनन 52

ल

ल्यूसिपस 6
लाइबनिज 155-176, 222, 252, 261, 262, 311
लॉक 178-202, 248
लक्षण 40
— तटस्थ 40
— स्वरूप 40
लाइसियम 52
लीशियम स्कूल 11

व

वर्डस्वर्थ 313
व्याघात 294, 321, 375
वार्नाक, जी. जे. 214
वाल्टेयर 246
वासबेल 236
विकास 120, 145-14, 194
विकासवाद 61-63
विजडम 133
विधिशास्त्र 328
विन्सी, लियोनार्डो, डी. 103
विप्रतिषेध 287, 288, 289
विलडूरेन्ट 15, 22, 64
विलियम, ओकम 101
विवेकपूर्णता 116, 123
विश्वास 25-26
विस्तार 171-172
विलियम जेम्स

विश्लेषण 253
— अतीन्द्रिय 253
— अधिरचनात्मक 253
विशुद्ध ज्ञाता 253, 276-279
व्यक्ति सिद्धान्त 174
वैभाषिक 178, 201
वैराग्यवाद 66
वैशेषिक 6, 33, 54, 211

श

शंकराचार्य 4, 28, 40, 140, 146, 154, 213 (टि 3), 263, 278, 28, 304, 305, 317, 357, 360, 362, 371, 373
शक्ति-संरक्षण का नियम 134, 163
शास्त्रीय युग 93
शुभ 19, 21, 22, 32, 40, 66, 78
— का प्रत्यय 35-37, 38-40, 357
शुल्ज, एफ. ए. 247, 262
शेलिंग 304, 309-312, 316, 325
शोपेनहावर 247, 281, 304, 331, 333

स

सत्य 28, 35
सत्यता की कसौटी
— संवाद 201
सद्गुण 18-21, 40, 50
— दार्शनिक 50
— परम्परागत 50, 67, 68
समान्तरवाद 172-173
सादृश्य-नियम 161
सारतत्त्व 322
सादृश्यानुमान 300
सर्वेश्वरवाद (गत्यात्मक) 78, 136, 155
सर्वगत कल्याण 339
सहभागिता-सिद्धान्त 34, 42

सामान्य 27-35
 — अमूर्त 199
 — मूर्त 318, 357
 सार्वभौम विज्ञान 2
 स्टर्लिंग 336
 स्ट्रासन 174, 258, 264
 स्वलक्षण वस्तुएँ 282, 303, 359. 30
 स्टेस I, 42, 80
 स्टोइक 74
 स्पिनोजा 43, 107, 136-155, 177, 311,
 321, 369
 स्वर्णिम माध्यम का सिद्धान्त 66
 सिकन्दर 75
 सिगवर्ट 231
 सुकरात 15-21, 22, 28-29
 सुखवाद 11
 सुन्दरं 28, 35
 सेलर्स, रायबुड 70
 सौन्दर्यशास्त्र 330
 सौत्रान्तिक 187
 सोफिस्ट 9, 10, 12, 13, 15, 16, 18
 सिम्प्योसियम 35
 संभूति 5
 संवृत्तिवाद 213, 244
 संवृत्तिशास्त्रीय विधि 120
 संविदा 358
 संशयवाद 74, 239-242
 संख्या 2, 274
 सांख्य 63, 134, 142, 274, 30, 309
 साहचर्य-नियम 226-227
 सृष्टि वैज्ञानिक तर्क 93, 130, 167, 197,
 298

सृष्टिमीमांसा 97
 संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय 253,
 259

ह

ह्यूम 5, 129, 130, 132, 196, 200, 219,
 223-244, 245, 252, 302
 हास्पर्स; जान 201
 हाब्स 111, 115, 178
 ह्वाइटहेड, ए. एन. 43, 201
 हितलर 334
 हिप्पियस 28-29
 हिलबर्ट 303
 हुसर्ल 110, 135
 हेगल 5, 43, 54, 130, 144, 147, 281,
 312-335, 336, 303, 358, 369, 373
 हेजेसियस 72
 हेराक्लाइट्स 5, 10, 44
 होमर I
 हीरालाल हालदार 340, 375

ज्ञ

ज्ञान 12, 18-21, 107, 152-153
 — का स्वरूप 189
 — का वर्गीकरण 229
 — का पारदर्शिता सिद्धान्त 188
 ज्ञानमीमांसा 18-21
 — प्लेटो की 23-27, 55
 — ईश्वरवादी 85-87
 — लॉक की 182
 — ह्यूम 224-226
 ज्ञानमीमांसीय एकतत्त्ववाद 189, 211
 ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद 187, 211
 ज्ञान की सीमाएँ 193-194







YASHVAN T

प्रस्तुत ग्रन्थ 'पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास' पाश्चात्य विचारधारा की प्राचीनता, वैज्ञानिकता, शैक्षणिकता और जीवन के लिए उसकी उपयोगिता का आलोचनार्थक विवेचन प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके अन्तर्गत सुकरात-पूर्व एवं सुकरातोत्तर ग्रीक दर्शन, मध्यकालीन दर्शन और आधुनिक दर्शन का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक का एकादश अध्यायों में विभाजन पाश्चात्य चिन्तन की विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। कहीं-कहीं पर पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांतों की संक्षिप्त तुलना भारतीय दार्शनिक मतों से की गयी है ताकि भारतीय दर्शन के सापेक्ष रूप में पाश्चात्य दार्शनिक संस्कृति का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सके। विभिन्न युगों में पाश्चात्य विचारकों ने जीवन और जगत् से सम्बन्धित समस्याओं को किस परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया है? पुनश्च जिन तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और मूलमीमांसीय समस्याओं को प्राचीन ग्रीक विचारकों ने मौलिक रूप में उठाया किस प्रकार वे समस्याएँ मध्यकालीन और आधुनिक युग के दार्शनिकों को प्रभावित करती रही हैं? पाश्चात्य दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास प्राचीन ग्रीक दर्शन, कला और साहित्य से प्रस्फुटित होकर नव्य प्लेटोवाद एवं मध्यकालीन दर्शन से होता हुआ और उसे भी अपने में समेटे हुए किस प्रकार दर्शन आधुनिक युग के दार्शनिक अनुशीलन में विकसित हुआ? इत्यादि प्रश्नों के आलोक में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है। इसके अतिरिक्त पुस्तक की भूमिका में पाश्चात्य दर्शन के बारे में प्रचलित कुछ भ्रान्त धारणाओं का भी निराकरण किया गया है। आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी भाषी पाठकों के लिए रुचिकर और उपयोगी होगी।

मूल्य रु० 150/-

प्रकाशक

अनुशीलन प्रकाशन

13 ई/11 ए, राजीव नगर, इलाहाबाद - 211 004